चरणानुयोग [द्वितीय खण्ड]
[चारित्राचार, तपाचार एव वीर्याचार वर्णन]

☐ सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन :

☐ प्रथम संस्करण :
वीर निर्वाण सवत् २५१६
विक्रमाब्द २०४६
ई० सन् १६६० जनवरी

☐ सेवा सहयोग मण्डल :
१-महासती श्री दर्शनप्रभा जी
२-महासती श्री चारूशीला जी
३-महासती श्री योगसाधना जी
४-महासती श्री उत्तमसाधना जी
५-महासती श्री अपूर्वसाधना जी
६-महासती श्री विरागसाधना जी

☐ प्रकाशक :
बलदेवभाई डोसाभाई पटेल
प्रमुख
आगम अनुयोग ट्रस्ट
१५, स्थानकवासी जैन सोसायटी
नारायणपुरा क्रासिंग के पास,
अहमदाबाद-३८० ०१३

☐ ट्रस्ट मण्डल :
१-श्री बलदेवभाई डोसाभाई पटेल
२-श्री हिम्मतलाल शामलदास शाह
३ श्री बलवन्तलाल शान्तीलाल शाह
४-श्री नवनीतलाल चुन्नीलाल पटेल
५-श्री रमणलाल माणिकलाल शाह
६-श्री विजयराज बी० जैन
७-श्री अजयराज के० मेहता

☐ मुद्रण निर्देशन एव व्यवस्था
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
ए-७, अवागढ हाउस,
२०८/२, एम० जी० रोड,
आगरा-२८२ ००२
के लिए विकास प्रिंटर्स, आगरा

☐ सम्पर्क सूत्र :
श्री वर्धमान महावीर केन्द्र
सब्जी मण्डी के सामने
आबू पर्वत-३०७ ५०१ (राजस्थान)

☐ मूल्य : एक सौ पचास रुपया मात्र
रु० १५०) मात्र

Published in Memory of Rev. Gurudeva Fateh-Pratap
Agam Anuyoga Pub No 5

CHARAṆĀNUYOGA

(SECOND VOLUME)
[with APPENDICES]

[An authentic compilation of Religious Rituals in Jain Agams, Original texts with Hindi Translation]

Chief - Editor :
Agam Ratnakar, Anuyoga Pravartak
Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'

Colligator :
Shri Vinaymuniji 'Vagish'

Editors :
Mahasati Shri Muktiprabhaji M. A, Ph D.
Mahasati Shri Divyaprabhaji M A, Ph. D.

Assistant Editors :
Mahasati Shri Anupamaji, M A.
Mahasati Shri Bhavyasadhnaji
Mahasati Shri Virtisadhnaji, B A.

Special Advisor :
Pandit Shri Dalsukhbhai Malvaniya

Publishers :
AGAM ANUYOGA TRUST
AHMEDABAD-380 013

CHARANĀNUYOGA (Second Volume)

[Charitrachara, Tapachara, Viryachara]
[Conducive Conduct, Penancial Conduct, Energetic Conduct]

☐ All rights reserved with the Publishers

☐ **First Edition :**
Vir Nirvana Samvat 2516
January, 1990

☐ **Working Co-operators**

1 Mahasati Shri Darshanprabhaji
2 Mahasati Shri Charusheelaji
3 Mahasati Shri Yogsadhnaji
4 Mahasati Shri Uttamsadhnaji
5. Mahasati Shri Apurvasadhnaji
6. Mahasati Shri Viragsadhnaji

☐ **Publishers :**
Baldevbhai Dosabhai Patel
President
Agam Anuyoga Trust
15th, Sthanakvasi Jain Society
Near Narayanpura Crossing
Ahmedabad-380 013

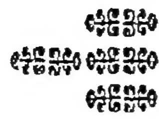
☐ **Trustees :**

1 Shri Baldevbhai Dosabhai Patel
2. Shri Himmatlal Shamaldas Shah
3. Shri Balwantlal Shantilal Shah
4 Shri Navnitlal Chunilal Patel
5 Shri Ramanlal Maneklal Shah
6. Shri Vijayraj B Jain
7 Shri Ajayraj K Mehta

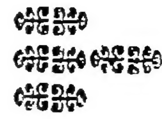
☐ **Printing Guidance and Management ·**
Srichand Surana 'Saras'
A-7, Avagarh House,
208/2, M. G Road.
AGRA-282 002
at
Vikas Printers, Agra

☐ **Contact ·**
Shri Vardhman Mahavir Kendra
Opp Subzi Mandi,
Mount Abu-307 501
(Rajasthan-India)

☐ **Price : Rs 150/- only**
(Rupees One Hundred Fifty only)



समर्पण





पंचाचार की निर्मल साधना

जिनके जीवन-पुष्प में पराग की भांति
सतत प्रवाहित रही

आगम - वाणी के प्रति जो
आजन्म सचेतन श्रद्धावान् रही

उन जिनशासनचन्द्रिका परम श्रद्धेया

परम पूज्या महासती उज्ज्वलकुमारी जी म० के प्रति

सविनय - सभक्ति - समर्पित

लाल भवन
जयपुर
ज्ञान पचमी वि० स० २०४६

—साध्वी मुक्तिप्रभा
—साध्वी दिव्यप्रभा

प्रकाशकीय

भारतीय सस्कृति का सर्वमान्य सूत्र है—आचार प्रथमो धर्म —आचार प्रथम धर्म है। जैन परम्परा मे "आयारो पढमो अंगो"—आचार प्रथम अग है। अग का अर्थ धर्मशास्त्र तो हैं ही, किन्तु व्यापक अर्थ मे लेवें तो—जीवन का मुख्य अग भी है। भारतीय आगमो मे मानवता का जितना महत्व कहा है उससे भी कही अधिक महत्व साधक जीवन मे आचार धर्म का कहा है।

प्राचीन जैन परम्परा मे "आचार" के लिए "चरण" शब्द का प्रयोग होता था। चरण याने चारित्र। मनुष्य के आचार धर्म की मर्यादा, संयम-साधना का व्यवस्थित मार्ग—चरण है।

जैन श्रुत ज्ञान—शास्त्रो को चार अनुयोगो मे विभक्त किया गया है—(१) चरणानुयोग, (२) धर्मकथानुयोग, (३) गणितानुयोग एव (४) द्रव्यानुयोग। इनमे धर्मकथानुयोग तथा गणितानुयोग का प्रकाशन हम कर चुके हैं। चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव विशाल ग्रन्थ हैं। चरणानुयोग का विषय बहुत विस्तृत है अत पाठको की सुविधा के लिए दो भागो मे प्रकाशित किया जा रहा है। द्रव्यानुयोग मूल पाठ का सम्पादन कार्य भी पूज्य गुरुदेव श्री कन्हैयालालजी महाराज सा "कमल" सम्पन्न कर चुके हैं। अब उसका अनुवाद एव परिशिष्ट आदि कार्य शेष है।

चरणानुयोग का प्रथम भाग पाठको की सेवा मे पहुँच चुका है। अब द्वितीय भाग (सम्पूर्ण चरणानुयोग) प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है, साथ ही हम अपने लक्ष्य को अब बहुत शीघ्र सम्पन्न कर सकेंगे इसका विश्वास पाठको को दिलाता हूँ।

अनुयोग सम्पादन-प्रकाशन कार्य मे गुरुदेव श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" ने अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया है। ऐसे जीवन-दानी श्रुत उपासक सन्त के प्रति आभार व्यक्त करना मात्र एक औपचारिकता होगी, आने वाली पीढिया युग-युग तक उनका उपकार स्मरण कर श्रुत का बहुमान करेंगी यही उनके प्रति सच्ची कृतज्ञता होगी।

स्थानकवासी जैन समाज के प्रख्यात तत्वचिन्तक आत्मार्थी पू० मोहनऋषिजी म० सा०, विदुषी सुशिष्या जिनशासन चन्द्रिका महासती उज्ज्वल कुमारीजी की सुशिष्या डा० महासतीजी मुक्तिप्रभाजी, डा० महासतीजी दिव्यप्रभाजी तथा उनकी श्रुताभ्यासी शिष्याओ की सेवायें इस कार्य मे समर्पित हैं—यह हम सब का अहोभाग्य है। उनकी अनवरत श्रुत सेवा से यह विशाल कार्य शीघ्र सम्पन्न हो सका है।

जैन दर्शन के विख्यात विद्वान श्री दलसुख भाई मालवणिया भारतीय प्राच्य विद्याओ के प्रतिनिधि विद्वान हैं, उनका आत्मीय सहयोग अनुयोग प्रकाशन कार्य मे प्रारम्भ से ही रहा है। उन्होंने अत्यधिक उदारता व नि.स्वार्थ भावना से इस कार्य मे मार्गदर्शन किया, सहयोग दिया, समय-समय पर अपना मूल्यवान परामर्श भी दिया अत उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है।

इसी के साथ एक भूल का सशोधन भी कर देना चाहते है, गणितानुयोग के प्रकाशन के समय जैन गणित शास्त्र सम्बन्धी अनेक दुर्लभ चित्र व आकृतियाँ हमे पूज्य आचार्यश्री विजययशोदेव सूरि जी महाराज की कृपा से प्राप्त हुई थी। आचार्यश्री ने अपने गम्भीर आगम ज्ञान व चित्रकला सम्बन्धी तलस्पर्शी अनुभव ज्ञान के आधार पर आगमगत विषयो को स्पष्ट करने हेतु वे महत्वपूर्ण चित्र तैयार करवाये थे तथा हमारी मांग पर बडी ही उदारता व सद्‌भावना के साथ प्रकाशन हेतु हमे प्रदान किये। यद्यपि उन चित्रो मे से बहुत कम चित्र हमने उपयोग मे लिये, तथा वे भी गुजराती मे होने के कारण हिन्दी भाषी जनता के लिए हिन्दी मे उनके रेखाचित्र तैयार करवाकर प्रकाशित किये। हिन्दी रेखा चित्रकार उनमे अकित नाम संकेत को स्पष्ट करना भूल गये तथा आचार्यश्री का आदरपूर्वक स्मरण उल्लेख नहीं कर सके, इसके लिए हम आचार्यश्री से क्षमा चाहते हैं। अस्तु, हम आचार्यश्री की इस उदारता व सद्‌भावना के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं एवं भविष्य मे उनके स्नेह-सौजन्य सहकार की भावना रखते हैं।

जैनधर्म, दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० सागरमलजी जैन ने सर्वथा निस्पृह भावना पूर्वक ग्रन्थ की महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिख कर अनुग्रहीत किया है, हम उनके आभारी रहेगे।

दुरूह आगम कार्य को प्रेस की दृष्टि से व्यवस्थित कर सुन्दर शुद्ध मुद्रण के लिए जैन दर्शन के अनुभवी विद्वान श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' के हम आभारी हैं जिन्होने पूर्व दोनो अनुयोगो की भाँति इस ग्रन्थ के मुद्रण मे भी पूर्ण सद्‌भावना के साथ सहयोग किया है।

ट्रस्ट के सहयोगी सदस्य मण्डल के भी हम आभारी हैं जिनके आर्थिक अनुदान से इतना विशाल व्ययसाध्य कार्य हम सम्पन्न करने में समर्थ हुए हैं।

इस प्रसग पर हम आगम अनुयोग प्रकाशन परिषद् साडेराव के मान्य कार्यकर्ताओ का भी साभार स्मरण करते हैं जिन्होने इस अति दुरूह कार्य के प्रारम्भ मे अति उत्साहपूर्वक कदम वढाया और हमारे लिए कार्यशैली का मार्ग प्रशस्त किया। आगम अनुयोग ट्रस्ट अहमदावाद को उनका सहयोग बराबर मिलता रहा है और भविष्य मे भी मिलता रहेगा ऐसा विश्वास है। आगम वाणी के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान लिमडी सम्प्रदाय के श्री भास्कर मुनिजी म० ने प्रकाशित अनुयोग ग्रन्थो के प्रचार-प्रसार मे विशेष अभिरुचिपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह एक आदर्श और अनुकरणीय—स्मरणीय रहेगा।

प्रेस कापी करने का विशाल कार्य श्री राजेन्द्र मेहता शाहपुरा वाले ने श्रद्धा भक्ति एव विवेकपूर्वक किया है इसलिए ट्रस्ट की ओर से उनका हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

हमारे ट्रस्ट के मन्त्री अनुभवी एव सेवाभावी श्री हिम्मत भाई शामलदास शाह अब काफी वृद्ध हो गये हैं, फिर भी समय-समय पर वे अपने अनुभव आदि का लाभ दे रहे हैं। हमारे कार्य कुशल सहयोगी श्री जयन्ती भाई चन्दुलाल सघवी एव अन्य सभी सहयोगी जनो का स्मरण करते हुए भावना करते हैं—श्रुत ज्ञान की अमर ज्योति सबके जीवन को प्रकाशमय करे।

विनीत

बलदेवभाई डोसाभाई पटेल

अध्यक्ष

आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदावाद



सम्पादकीय

—मुनिश्री कन्हैयालाल 'कमल'

"चरण" प्रवृत्ति एवं पुरुषार्थ का प्रतीक है। "चरण" में मर्यादा एवं सम्यक् विवेक का योग होने पर वह आचरण (आङ्—मर्यादाया) कहलाता है। आचरण अर्थात् आचार-धर्म।

चरणानुयोग का अर्थ होता है आचार धर्म सम्बन्धी नियमावली, मर्यादा आदि की व्याख्या एव संग्रह।

प्रस्तुत चरणानुयोग ग्रन्थ अपनी इसी अभिधा मे सार्थक है।

जैन साहित्य मे "अनुयोग" के दो रूप मिलते हैं।

१. अनुयोग-व्याख्या

२. अनुयोग वर्गीकरण

किसी भी पद आदि की व्याख्या करने, उसका हार्द समझने/समझाने के लिए १ उपक्रम, २ निक्षेप ३. अनुगम और ४. नय—इन चार शैलियो का आश्रय लिया जाता है। **अनुयोजनमनुयोग**—(अणुजोअणमणुओगो) सूत्र का अर्थ के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसकी उपयुक्त व्याख्या करना इसका नाम है—अनुयोग व्याख्या (जम्बू० वृत्ति)

अनुयोग-वर्गीकरण का अथ है—अभिधेय (विषय) की दृष्टि से शास्त्रो का वर्गीकरण करना। जैसे अमुक-अमुक आगम, अमुक अध्ययन, अमुक गाथा—अमुक विषय की है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से वर्गीकरण करके आगमो का गम्भीर अर्थ समझने की शैली—अनुयोग वर्गीकरण पद्धति है।

प्राचीन आचार्यों ने आगमो के गम्भीर अर्थ को सरलता पूर्वक समझाने के लिए आगमो का चार अनुयोगो मे वर्गीकरण किया है।

१—चरणानुयोग—आचार सम्बन्धी आगम

२—धर्मकथानुयोग—उपदेशप्रद कथा एवं दृष्टान्त सम्बन्धी आगम

३—गणितानुयोग—चन्द्र-सूर्य-अन्तरिक्ष विज्ञान तथा भू-ज्ञान के गणित विषयक आगम।

४—द्रव्यानुयोग—जीव, अजीव आदि नव तत्वो की व्याख्या करने वाले आगम।

अनुयोग वर्गीकरण के लाभ

यद्यपि अनुयोग वर्गीकरण पद्धति आगमो के उत्तरकालीन चिन्तक आचार्यों की देन है, किन्तु यह आगम पाठी, श्रुताभ्यासी मुमुक्षु के लिए बहुत उपयोगी है। आज के युग मे तो इस पद्धति की अत्यधिक उपयोगिता है।

विशाल आगम साहित्य का अध्ययन कर पाना सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। इसलिए जब जिस विषय का अनुसन्धान करना हो, तब तद्विषयक आगम पाठ का अनुशीलन करके जिज्ञासा का समाधान करना—यह तभी सम्भव है, जब अनुयोग पद्धति से सम्पादित आगमो का शुद्ध संस्करण उपलब्ध हो।

अनुयोग पद्धति से आगमो का स्वाध्याय करने पर अनेक जटिल विषय स्वयं समाहित हो जाते हैं, जैसे—

१. आगमो का किस प्रकार विस्तार हुआ है—यह स्पष्ट हो जाता है।

२ कौन-सा पाठ आगम सकलन काल के पश्चात प्रविष्ट हुआ है?

३. आगम पाठो में आगम लेखन से पूर्व तथा पश्चात वाचना भेद के कारण तथा देश-काल के व्यवधान के कारण लिपिक काल में क्या अन्तर पड़ा है?

४ कौन-सा आगम पाठ स्व-मत का है, कौन-सा परमत की मान्यता वाला है? तथा भ्रांतिवश परमत मान्यता वाला कौन-सा पाठ आगम में सकलित हो गया है।

इस प्रकार अनेक प्रश्नो के समाधान इस शैली से प्राप्त हो जाते हैं जिनका आधुनिक शोध छात्रो/प्राच्य

विद्या के अनुसन्धाता विद्वानो के लिए बहुत महत्व है।

अनुयोग कार्य का प्रारम्भ—

लगभग आज से ५० वर्ष पूर्व मेरे मन मे अनुयोग-वर्गीकरण पद्धति से आगमो का सकलन करने की भावना जगी थी। श्री दलसुख भाई मालवणिया ने उस समय मुझे मार्ग दर्शन किया, प्रेरणा दी और नि स्वार्थ/निस्पृह भाव से आत्मिक सहयोग दिया। उनकी प्रेरणा व सहयोग का सम्बल पाकर मेरा सकल्प दृढ होता गया और मैं इस श्रुत-सेवा में जुट गया। आज के अनुयोग ग्रन्थ उसी बीज के मधुर फल हैं।

सर्वप्रथम गणितानुयोग का कार्य स्वर्गीय गुरुदेव श्री फतेहचन्दजी म सा के सान्निध्य मे प्रारम्भ किया था। किन्तु उसका प्रकाशन उनके स्वर्गवास के बाद हुआ।

कुछ समय बाद धर्मकथानुयोग का सम्पादन प्रारम्भ किया। वह दो भागो मे परिपूर्ण हुआ। तब तक गणितानुयोग का पूर्व सस्करण समाप्त हो चुका था तथा अनेक स्थानो से माँग आती रहती थी। इस कारण धर्मकथानुयोग के बाद पुन गणितानुयोग का सशोधन प्रारम्भ किया, सशोधन क्या, लगभग ५० प्रतिशत नया सम्पादन ही हो गया। उसका प्रकाशन पूर्ण होने के बाद चरणानुयोग का यह सकलन प्रस्तुत है।

कहावत है "श्रेयांसि बहु विघ्नानि" शुभ व उत्तम कार्य मे अनेक विघ्न आते हैं। विघ्न-बाधाएँ हमारी दृढता व धीरता, सकल्प शक्ति व कार्य के प्रति निष्ठा की परीक्षा हैं। मेरे जीवन मे भी ऐसी परीक्षाएँ अनेक बार हुई हैं। अनेक बार शरीर अस्वस्थ हुआ, कठिन बीमारियाँ आईं। सहयोगी भी कभी मिले, कभी नही, किन्तु मैं अपने कार्य मे जुटा रहा।

सम्पादन मे सेवाभावी विनय मुनि "वागीश" भी मेरे साथ सहयोगी बने, वे आज भी शारीरिक सेवा के साथ-साथ मानसिक दृष्टि से भी मुझे परम साता पहुँचा रहे है और अनुयोग सम्पादन में भी सम्पूर्ण जागरूकता के साथ सहयोग कर रहे हैं।

खम्भात सम्प्रदाय के आचार्य प्रवर श्री काति ऋषि जी म ने मुझ पर अनुग्रह करके व्याकरणाचार्य श्रीमहेन्द्र ऋषि जी म को श्रुत-सेवा में सहयोग करने के लिए भेजा था अत मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

सम्पादकीय सहयोग—

सौभाग्य से इस श्रमसाध्य महाकार्य में आगमज्ञ श्री तिलोक मुनिजी का अप्रत्याशित सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है।

इनकी अनन्य श्रुत भक्ति और सयम साधना देखकर ऐसा कौन होगा जो प्रभावित न हो, श्रमण जीवन की वास्तविक श्रमनिष्ठा आपकी रग-रग में समाहित है। आपका चिन्तन और आपके सुझाव मौलिक होते हैं।

गत सात वर्षों से विदुषी महासती डा० मुक्तिप्रभाजी, डा० दिव्यप्रभाजी एवं उनकी साक्षर शिष्या परिवार का ऐसा अनुपम सुयोग मिला कि अनुयोग का कार्य आगे बढता गया। मुझे अतीव प्रसन्नता है कि महासती मुक्तिप्रभाजी आदि विदुषी श्रमणियो ने इस कार्य में तन्मय होकर जो सहयोग किया है उसका उपकार आगम अभ्यासी जन युग-युग तक स्मरण करेंगे। इनकी रत्नत्रय साधना सर्वदा सफल हो, यही मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

अनुयोग सम्पादन कार्य में प्रारम्भ में तो अनेक बाधाएँ आईं। जैसे आगम के शुद्ध सस्करण की प्रतियो का अभाव, प्राप्त पाठो में क्रम भग और विशेषकर "जाव" शब्द का अनपेक्षित/अनावश्यक प्रयोग। फिर भी धीरे-धीरे जैसे आगम सम्पादन कार्य मे प्रगति हुई वसे-वैसे कठिनाइयाँ भी दूर हुईं। महावीर जैन विद्यालय बम्बई, जैन विश्व भारती लाडनूं तथा आगम प्रकाशन समिति ब्यावर आदि आगम प्रकाशन सस्थाओ का यह उपकार ही मानना चाहिए कि आज आगमो के सुन्दर उपयोगी सस्करण उपलब्ध हैं, और अधिकाश पूर्वापेक्षा शुद्ध सुसम्पादित हैं। यद्यपि आज भी उक्त सस्थाओ के निदेशकों की आगम सम्पादन शैली पूर्ण वैज्ञानिक या जैसी चाहिए वैसी नही है। लिपि दोष, लेखक के मतिभ्रम व वाचना भेद आदि कारणो से आगमो के पाठो मे अनेक स्थानो पर व्युत्क्रम दिखाई देते हैं। पाठ-भेद तो हैं ही, "जाव" शब्द कही अनावश्यक जोड दिया है जिससे अर्थ वैपरीत्य भी हो जाता है, कही लगाया नही है और कही पूरा पाठ देकर भी "जाव" लगा दिया गया है। प्राचीन प्रतियो मे इस प्रकार के लेखन-दोष रह गये हैं जिससे आगम का उपयुक्त अर्थ करने व प्राचीन पाठ परम्परा का बोध कराने मे कठिनाई होती है। विद्वान सम्पादको को इस ओर ध्यान देना चाहिए था। प्राचीन प्रतियो मे उपलब्ध पाठ ज्यो का त्यो रख देना—अडिग श्रुत श्रद्धा का रूप नह[illegible] [illegible]ारी श्रुत-भक्ति श्रुत को
[illegible]स्थत एव शुद्ध [illegible] [illegible]त करने मे है। कभी-
[illegible]क पाठ का मि[illegible] [illegible] उपयुक्त-पाठ निर्धारण
[illegible]ई दिन व[illegible] [illegible]ी ल[illegible] हैं किन्तु
[illegible] सन्धाता [illegible] प्रस्तुत
[illegible]ज इस प्र[illegible] आव-

श्यकता है। अस्तु,

मैं अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण, विद्वान सहयोगी की कमी के कारण, तथा परिपूर्ण साहित्य की अनुपलब्धि तथा समय के अभाव के कारण जैसा सशोधित शुद्ध पाठ देना चाहता था वह नही दे सका, फिर भी मैंने प्रयास किया है कि पाठ शुद्ध रहे, लम्बे-लम्बे समास पद जिनका उच्चारण दुरूह होता है, तथा उच्चारण करते समय अनेक आगम पाठी भी उच्चारण-दोष से ग्रस्त हो जाते हैं। वैसे दुरूह पाठों को सुगम रूप मे प्रस्तुत कर छोटे-छोटे पद बनाकर दिया जाये व ठीक उनके सामने ही उनका अर्थ दिया जाय जिससे अर्थबोध सुगम हो। यद्यपि जिस संस्करण का मूल पाठ लिया है हिन्दी अनुवाद भी प्राय उन्ही का लिया है फिर भी अपनी जागरूकता बरती है। अनेक स्थानों पर उचित सशोधन भी किया है। उपर्युक्त तीन संस्थानों के अलावा आगमोदय समिति रतलाम तथा सुत्तागमे (पुप्फभिक्खु जी) के पाठ भी उपयोगी हुए हैं। पूज्य अमोलक ऋषि जी म० एव आचार्य श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित अनूदित आगमो का भी यथावश्यक उपयोग किया है।

मैं उक्त आगमो के सम्पादक विद्वानो व श्रद्धेय मुनिवरो के प्रति आभारी हूँ। प्रकाशन सस्थाएँ भी उपकारक हैं। उनका सहयोग कृतज्ञ भाव से स्वीकारना हमारा कर्त्तव्य है।

अब प्रस्तुत ग्रन्थ चरणानुयोग के विषय मे भी कुछ कहना चाहता हूँ।

चरणानुयोग—

आगमो का सार आचार है—**अंगाण किं सारो? आयारो!** —आचाराग आगम तो अंगो का सारभूत आगम है ही, किन्तु आचार—अर्थात् "चारित्र" यह आगम का, श्रुत का सार है। **ज्ञानस्य फलं विरतिः**—ज्ञान का फल विरति है। श्रुत का सार चारित्र है। अत. चारित्र सम्बन्धी विवरण आगमों मे यत्र-तत्र बहुत अधिक मात्रा मे मिलता है। यूँ भी कहा जा सकता है कि "चारित्र" का विषय सबसे विशाल तथा व्यापक है। धर्मकथानुयोग के समान चरणानुयोग भी वर्णन की दृष्टि से विस्तृत है। अत इसकी सामग्री अनुमान से अधिक हो गई है। इसलिए इसे दो भागों मे विभक्त किया गया है।

"आचार" के प्रमुख पांच विभाग हैं - १ ज्ञानाचार, २. दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४. तपाचार, ५ वीर्याचार। वर्णन की दृष्टि से चारित्राचार सबसे विशाल है। प्रस्तुत भाग में ज्ञानाचार एवं दर्शनाचार का वर्णन तो २०४ पृष्ठों मे ही आ गया है। चारित्राचार का वर्णन प्रथम भाग के ५१० पृष्ठ तथा द्वितीय भाग के २५६ पृष्ठ यो सर्व ७६६ पृष्ठ में आया है। तपाचार का विषय ११४ पृष्ठो मे समाया है किन्तु वीर्याचार का विषय ६२ पृष्ठों में ही सम्पादित हो गया है।

मैंने इस बात का भी ध्यान रखा है कि जो विषय आगमों में अनेक स्थानो पर आया है, वहाँ एक आगम का पाठ मूल मे देकर बाकी आगम पाठ तुलना के लिए टिप्पणियों में दिये जायें। जिससे तुलनात्मक दृष्टि से पढने वालों को उपयोगी हों। अनेक पाठो के अर्थ में भ्रान्ति होती है, वहाँ टीका, भाष्य आदि का सहारा लेकर पाठ का अर्थ भी स्पष्ट किया गया है, व्याख्या का अन्तर भी दर्शाया है। कुछ पाठो की पूर्ति के लिए वृत्ति, चूर्णि, भाष्य आदि का भी उपयोग किया है।

इस प्रकार पूरी सावधानी बरती है कि जो विषय जहाँ है, वह अपने आप मे परिपूर्ण हो, इसलिए उसके समान, पूरक तथा भाव स्पष्ट करने वाले अन्य आगमों के पाठ भी अंकित किये हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आगम ज्ञान के प्रति रुचि, श्रद्धा व भक्ति रखने वाले पाठकों को यह चरणानुयोग, उनकी जिज्ञासा को तृप्त करेगा, ज्ञान की वृद्धि करेगा तथा श्रुत भक्ति को और अधिक सुदृढ बनायेगा।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की विस्तृत प्रस्तावना लिखने का दायित्व जैन समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान डा० सागरमल जी जैन ने सर्वथा निस्पृह भावना के साथ वहन किया है। वे जैन आचार शास्त्र के मर्मज्ञ हैं और बहुश्रुत हैं। प्रस्तावना मे उन्होंने सभी विषयो पर तुलनात्मक दृष्टि से उनके विचार किया है जो पाठकों के लिए उपयोगी होगा। मैं प्रति कृतज्ञता का भाव रखता हूँ।

दोनो भाग की शब्द सूची तथा विषय सूची बनाने का श्रेय सम्पादन कला निष्णात श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' ने किया है। उनका सहयोग उल्लेखनीय रहेगा। ग्रन्थ के सुन्दर व शुद्ध मुद्रण में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अन्त में इस महान कार्य मे प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग देने वाले सभी सहयोगी जनों के प्रति हार्दिक भाव से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

श्री हिम्मतलालजी प्रेमचन्दजी साकरिया साडेराव
श्री कोरसीभाई हीरजीभाई चेरिटेवल ट्रस्ट, वम्वई
श्री जयसुखभाई रामजीभाई कादावाड़ी, वम्बई
श्री चिमनलाल गिरधरलाल कादावाडी, बम्बई
श्री मेघजी भाई थोभण हस्ते मणीलाल वीरचन्द कादावाडी, वम्बई
श्री प्रिमलाल मोहनलाल दफ्तरी कादावाडी, वम्वई
मैसर्स सिलमोहन एण्ड कम्पनी, वम्बई (टाइपराइटर हेतु) हस्ते रमणीकलाल धानेरा
श्री नरोत्तमदास मोहनलाल, बम्बई
श्री रतीलाल विट्ठलदास गोसलिया माधवनगर (महा)
श्री वाडीलाल जेठालाल शाह बाल्केश्वर, बम्बई
श्री जैन सस्कृति कला केन्द्र, मरीन लाइन, बम्बई
आचार्य यशोदेव सुरीश्वरदेव महाराज की प्रेरणा से, श्री मेघजी खिमजी तथा श्रीमती लक्ष्मी वेन मेघजी खिमजी बम्बई
श्री हरखराजजी दौलतराजजी धारीवाल, हैदराबाद
श्री लादूसिहजी गाग एडवोकेट शाहपुरा, (राजस्थान)
श्री एस० एन० भीकमचन्दजी सुखाणी लालवाजार, सिकन्द्रावाद
श्री ताराचन्द गुलाबचन्द बम्बई
श्री गिरधरलाल मंछाचन्द झवेरी धानेरावाला, बम्बई
श्री पुखराजजी कावडिया सादडी मारवाड़ (वम्बई)
श्रीमती भूरीबाई भवरलालजी कोठारी, सेमा (मेवाड) हस्ते सागरमल मदनलाल रमेशचन्द्र बम्बई
श्री प्रेमराजजी चोरडिया मदनगंज, अजमेर
श्री चुन्नीलालजी वागरेचा, वालाघाट
श्री रसिकलाल हीरालाल झवेरी, बम्बई
श्री सूरजमल कनकमल, मदनगज
श्री मागीलालजी सोलकी, सादडी वाले, पूना
श्री प्रवीणभाई के० मेहता, बम्बई
श्री सज्जनराजजी कटारिया, सिकन्द्रावाद
श्री वाबूलालजी काकरिया, हैदराबाद
श्री भरतभाई जे० शाह, अहमदाबाद
श्री सोहनराजजी चोथमलजी सचेती (सोजत वाले) सुरगाणा
श्री गुलशनरायजी जैन, दिल्ली
श्री चम्पालालजी हरखचन्दजी कोठारी, बम्बई
श्री नगराजजी चन्दनमलजी मेहता, सादडी वाले, बम्बई
श्री जयन्ती भाई के० पटेल साणंद वाले, अहमदाबाद
श्री छोटालाल धनजी भाई दोमडिया, बम्बई
श्रीमती शान्तावेन कान्तीलालजी गांधी, बम्बई
श्री प्रभुदास रामजी भाई सेठ, बम्बई
श्री लालभाई दलपतिभाई चेरिटेबल ट्रस्ट, अहमदाबाद
श्री लालचन्दजी भवरलालजी सचेती
श्रीमती लतावेन विमलचन्दजी कोठारी, बम्बई
श्रीमती कमलाबेन मूलचन्दजी गुगले, अहमदनगर
श्रीमती लीलावेन पोपटलाल वोरा, इचलकरजी
श्री जे० डी० जैन, गाजियाबाद
श्री शान्तीलालजी सचेती, मदनगज
श्री लक्ष्मीचन्दजी तालेडा, जयपुर
श्री पुखराजजी लूंकड, बम्बई





श्रीमान पुखराजजी लूँकड़, बम्बई

आप वर्तमान में अ. भा. श्वे स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष हैं। समाज सगठन एव विकास की दिशा में आपने बहुमुखी योजनाएँ प्रारम्भ की है। आप स्वभाव से विनम्र, मिलनसार और समन्वय वृत्ति प्रधान है।

महासती मुक्तिप्रभाजी की सुशिष्या महासती श्री अनुपमा जी एव अपूर्व साधना जी के वर्षीतप पारणे के अवसर पर जोधपुर श्री संघ की ओर से ६१ वर्षीतप पारणो का अभूतपूर्व आयोजन हुआ। जिसकी अध्यक्षता श्रीमान पुखराजजी लूकड़ ने की। इसी अवसर पर आपने "चरणानुयोग" (प्रथम भाग) का विमोचन किया और आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद को २१ हजार की सहयोग राशि प्रदान की।





श्रीमान लक्ष्मीचन्दजी तालेड़ा

आप ब्यावर के प्रसिद्ध श्रावक श्री स्वरूपचन्द जी तालेडा के सुपुत्र हैं। आप अनेक धार्मिक तथा सामाजिक सस्थाओं में सक्रिय सहयोग करते रहते हैं। साधु सन्तो की सेवा में भी तन-मन-धन से तत्पर रहते है।

स्वर्गीय जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज के प्रति आपके परिवार की अनन्य आस्था रही है। वर्तमान में आपका जयपुर में "ओसवाल केमिकल्स (प्रा.) लि., जयपुर" के नाम से औद्योगिक प्रतिष्ठान है।



श्री हिम्मतलालजी प्रेमचन्दजी साकरिया साडेराव
श्री कोरसीभाई हीरजीभाई चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई
श्री जयसुखभाई रामजीभाई कादावाड़ी, बम्बई
श्री चिमनलाल गिरधरलाल कादावाडी, बम्बई
श्री मेघजी भाई थोभण हस्ते मणीलाल वीरचन्द कादावाडी, बम्बई
श्री प्रितमलाल मोहनलाल दफ्तरी कादावाडी, बम्बई
मैसर्स सिलमोहन एण्ड कम्पनी, बम्बई (टाइपराइटर हेतु) हस्ते रमणीकलाल धानेरा
श्री नरोत्तमदास मोहनलाल, बम्बई
श्री रतीलाल विट्ठलदास गोसलिया माधवनगर (महा)
श्री वाडीलाल जेठालाल शाह वाल्केश्वर, बम्बई
श्री जैन संस्कृति कला केन्द्र, मरीन लाइन, बम्बई
आचार्य यशोदेव सुरीश्वरदेव महाराज की प्रेरणा से, श्री मेघजी खिमजी तथा श्रीमती लक्ष्मी बेन मेघजी खिमजी बम्बई
श्री हरखराजजी दौलतराजजी धारीवाल, हैदराबाद
श्री लादूसिंहजी गाग एडवोकेट शाहपुरा, (राजस्थान)
श्री एस० एन० भीकमचन्दजी सुखाणी लालबाजार, सिकन्द्राबाद
श्री ताराचन्द गुलाबचन्द बम्बई
श्री गिरधरलाल मंछाचन्द झवेरी धानेरावाला, बम्बई
श्री पुखराजजी कावडिया सादडी मारवाड़ (बम्बई)
श्रीमती भूरीबाई भवरलालजी कोठारी, सेमा (मेवाड) हस्ते सागरमल मदनलाल रमेशचन्द्र बम्बई
श्री प्रेमराजजी चोरडिया मदनगंज, अजमेर
श्री चुन्नीलालजी वागरेचा, बालाघाट
श्री रसिकलाल हीरालाल झवेरी, बम्बई
श्री सूरजमल कनकमल, मदनगज
श्री मागीलालजी सोलकी, सादडी वाले,
श्री प्रवीणभाई के० मेहता, बम्बई
श्री सज्जनराजजी कटारिया, सिकन्द्राबाद
श्री बाबूलालजी काकरिया, हैदराबाद
श्री भरतभाई जे० शाह, अहमदाबाद
श्री सोहनराजजी चोथमलजी सचेती (सोजत) सुरगाणा
श्री गुलशनरायजी जैन, दिल्ली
श्री चम्पालालजी हरखचन्दजी कोठारी, बम्
श्री नगराजजी चन्दनमलजी मेहता, सादडी
श्री जयन्ती भाई के० पटेल साणंद वाले, अह
श्री छोटालाल धनजी भाई दोमडिया, बम्ब
श्रीमती शान्ताबेन कान्तीलालजी गांधी, ब
श्री प्रभुदास रामजी भाई सेठ, बम्बई
श्री लालभाई दलपतिभाई चेरिटेबल ट्रस्ट,
श्री लालचन्दजी भवरलालजी सचेती
श्रीमती लताबेन विमलचन्दजी कोठारी,
श्रीमती कमलाबेन मूलचन्दजी गुगले, अह
श्रीमती लीलाबेन पोपटलाल बोरा, इचल
श्री जे० डी० जैन, गाजियाबाद
श्री शान्तीलालजी सचेती, मदनगज
श्री लक्ष्मीचन्दजी तालेडा, जयपुर
श्री पुखराजजी लूंकड, बम्बई



प्रस्तावना

सदाचरण : एक बौद्धिक विमर्श

—प्रो० सागरमल जैन

मानव प्रकृति

मनुष्य विश्व मे श्रेष्ठतम प्राणी है, उससे श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नही है। फिर भी मानव-अस्तित्व जटिल (Complex), विरोधाभासपूर्ण (Paradoxical) और बहु-आयामी (Multi-dimensional) है। मनुष्य मात्र जैविक संरचना नही है, उसमे विवेकात्मक चेतना भी है। शरीर और चेतना यह हमारे अस्तित्व के मुख्य दो पक्ष हैं। शरीर से वासना और चेतना से विवेक का प्रस्फुटन होता है। मनुष्य की यह विवशता है कि उसे वासना और विवेक के इन दो स्तरो पर जीवन जीना होता है। उसके सामने शरीर अपनी माँग प्रस्तुत करता है, तो विवेक अपनी माँग प्रस्तुत करता है। एक ओर उसे दैहिक आवश्यकताओ की पूर्ति करनी होती है, तो दूसरी ओर विवेक द्वारा निर्धारित जीवन जीने के कुछ आदर्शों का परिपालन भी करना होता है। वासना और विवेक के सघर्ष को झेलना यही मानव की नियति है। यद्यपि जीवन जीने के लिए शारीरिक माँगो को पूर्णत ठुकराया नही जा सकता है, किन्तु एक विवेकशील प्राणी के रूप मे मनुष्य का यह दायित्व बनता है कि वह अन्ध वासनाचालित जीवन से ऊपर उठे। वासनात्मक आवेगो से मुक्ति पाना, यही मानव जीवन का लक्ष्य है। जहाँ पशु का जीवन-व्यवहार पूर्णतः जैविक-वासनाओ से नियन्त्रित होता है, वहाँ मनुष्य की यह विशेषता है कि वह विवेक तत्व के द्वारा अपने वासनात्मक जीवन पर भी नियन्त्रण कर सकता है और इसी मे मानवीय आत्मा मे अनुस्यूत स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है। पशु का जीवन व्यवहार पूर्णत प्रकृति के अन्धयान्त्रिक नियमो से चालित होता है, अत वह परतन्त्र है, जबकि मनुष्य प्रकृति के यान्त्रिक नियमो से ऊपर उठकर जीवन जीने की क्षमता रखता है, अत उसमे स्वतन्त्रता या मुक्त होने की सम्भावना भी है। यही कारण है कि जहाँ पशु जीवन मे विकास और पतन की सम्भावनाएँ अत्यन्त सीमित होती हैं, वहाँ मनुष्य मे विकास और पतन की अनन्त सम्भावनाएँ है। वह विकास की दिशा मे आगे बढे तो देवत्व से ऊपर उठ सकता है और पतन की दिशा मे नीचे गिरे तो पशु से भी नीचे गिर सकता है। इसे जैन धर्म की भाषा मे कहे तो मनुष्य ही विश्व मे ऐसा प्राणी है, जो एक ओर आध्यात्मिक पतन के द्वारा नारकीय जीवन के निम्नतम स्तर (सप्तम नरक) को प्राप्त कर सकता है, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक विकास के द्वारा मुक्ति के परम साध्य को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की इस आध्यात्मिक विकास यात्रा को धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है।

मानव की विकास यात्रा का सोपान : धर्म

सामान्यतया आचार और व्यवहार के कुछ विधि-विधानो के परिपालन को धर्म कहा जाता है। धर्म हमे यह बताता है कि यह करो और यह मत करो, किन्तु आचार के इन बाह्य नियमो के परिपालन मात्र को धर्म मान लेना भी एक भ्रान्ति ही है। आचार और व्यवहार के बाह्य नियम धर्म का शरीर तो अवश्य हैं, किन्तु वे धर्म की आत्मा नही है। धर्म की आत्मा तो उस विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि अथवा समतारूपी साध्य की उपलब्धि मे निहित होती है, जो आचार और व्यवहार के इन स्थूल नियमो का मूल हार्द है। यही विवेकपूर्ण जीवन-दृष्टि ही आचार-व्यवहार की उन मर्यादाओ एव विधि-निषेधो की सृजक है, जो वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे समता और शान्ति के सस्थापक हैं और जिन्हे सामान्यतया धर्म या सदाचार के नाम से जाना जाता है।

वैदिक एवं श्रमण धर्म-परम्पराएँ और उनका वैशिष्ट्य

भारतीय धर्मों को मुख्य रूप से वैदिक और श्रमण इन दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है। इस विभाजन का मूल आधार उनकी प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक जीवन दृष्टियाँ है, जो क्रमश वासना और भावावेग जनित जैविक मूल्यो एवं विवेक-जनित आध्यात्मिक मूल्यो पर आधारित हैं। सामान्यतया वैदिक धर्म को प्रवृत्तिमूलक और श्रमण धर्मों को निवृत्तिमूलक कहा जाता है। यद्यपि आज वैदिक और श्रमण धर्मों की विविध जीवित परम्पराओ के बीच प्रवृत्ति और निवृत्ति के इन आधारो पर कोई विभाजक रेखा खीच पाना कठिन है क्योकि आज किसी भी धर्म-परम्परा या धर्म-सम्प्रदाय को पूर्ण रूप से प्रवृत्तिमूलक या निवृत्तिमूलक नही कहा जा सकता है। जहाँ एक ओर वैदिक धर्म मे औपनिषदिक चिन्तन के काल मे ही निवृत्तिमूलक तत्व प्रविष्ट होने लगे और वैदिक कर्म-काण्ड, इहलौकिकवाद एव भोगवादी जीवनदृष्टि समालोचना का विषय बनी, वही दूसरी ओर श्रमण परम्पराओ मे भी धर्म-संघो की स्थापना के साथ ही सघ और

समाज व्यवस्था के रूप मे कुछ प्रवृत्तिमूलक अवधारणाओ को स्वीकार किया गया और इस प्रकार लोककल्याण के पावन उद्देश्य को लेकर दोनो परम्पराएँ एक-दूसरे के निकट आ गयी।

जैन जीवन-दृष्टि

जैन धर्म की आचार परम्परा मे यद्यपि निवृत्तिमूलक जीवन-दृष्टि प्रधान रही है, परन्तु उसमें सामाजिक और ऐहिक जीवन-मूल्यो की पूर्ण उपेक्षा की गई हो, यह नही कहा जा सकता। उसमे भी जैविक एव सामाजिक जीवन-मूल्यो को समुचित स्थान मिला हैं। फिर भी इतना निश्चित है कि जैन धर्म मे जो प्रवृत्ति-मूलक तत्व प्रविष्ट हुए हैं, उनके पीछे भी मूल लक्ष्य तो निवृत्ति या संन्यास ही है। निवृत्तिमूलक धर्म से यहाँ हमारा तात्पर्य उस धर्म से है जो सासारिक जीवन और ऐन्द्रिक विषय-भोगो को गर्हणीय मानता है और जीवन के चरम लक्ष्य के रूप मे सन्यास और निर्वाण को स्वीकृत करता है। आज भी ये श्रमण परम्पराएँ निर्वाण को ही परमसाध्य स्वीकृत करती हैं। आज सन्यास और निर्वाण को जीवन का साध्य मानने वाले श्रमण धर्मों मे मुख्य रूप से जैन और बौद्ध धर्म ही जीवित हैं। यद्यपि आजीवक आदि कुछ अन्य श्रमण परम्पराएँ भी थी, जो या तो काल के गर्भ मे समाहित हो गयी हैं या वृहद् हिन्दू धर्म का ही एक अग वन गयी हैं। अब उनका पृथक् अस्तित्व नही पाया जाता है।

जहाँ तक जैन धर्म का प्रश्न है, परम्परागत दृष्टि से यह इस कालचक्र मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित माना जाता है। ऋषभदेव प्राग् ऐतिहासिक काल के तीर्थंकर हैं। दुर्भाग्य से आज हमारे पास उनके सम्बन्ध मे बहुत अधिक ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नही हैं। वैदिक साहित्य मे उल्लिखित ऋषभ की कुछ स्तुतियो और वातरसना मुनियो के उल्लेख से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक युग मे भी कोई श्रमण या संन्यास-मार्गी परम्परा प्रचलित थी जो सासारिक विषय-भोगो से निवृत्ति पर और तप तथा ध्यान साधना की पद्धति पर वल देती थी। इसी निवृत्तिमार्गी परम्परा का अग्रिम विकास एक ओर वैदिक धारा के साथ समन्वय एव समायोजन करते हुए औपनिषदिक धारा के रूप मे तथा दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप मे यात्रा करते हुए जैन (निर्ग्रन्थ), बौद्ध एवं आजीवक आदि अन्य श्रमण परम्पराओं के रूप मे हुआ।

आज यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि कोई भी धर्म-परम्परा पूर्ण रूप से निवृत्तिप्रधान या प्रवृत्तिप्रधान होकर जीवित रह सकती है। वस्तुत निवृत्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे ऐकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यावहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा जब तक शरीर के साथ योजित होकर जीवन जीती है, तब तक एकान्त प्रवृत्ति और एकान्त निवृत्ति की बात करना समुचित नहीं है। यद्यपि जैन परम्परा को हम निवृत्तिमार्गी परम्परा कहते हैं, किन्तु उसे भी एकान्त रूप से निवृत्ति-प्रधान मानना, एक भ्रान्ति ही होगी। यद्यपि जैन धर्म के आचार ग्रन्थो मे प्रमुख रूप से निवृत्ति मार्ग की चर्चा देखी जाती है, किन्तु उनमें भी अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जहाँ निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच एक सन्तुलन बनाने का प्रयास किया गया है। अत जो विचारक जैन धर्म को एकान्त रूप से निवृत्तिपरक मानकर उसके धर्म-ग्रन्थों मे उपलब्ध सामाजिक और व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुत अज्ञान में ही जीते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि जैन आचार्यों ने तप और त्याग पर अधिक वल दिया है, किन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि व्यक्ति अपनी वासनाओ से ऊपर उठे। जैन-आचार्यों ने जितना भी उपदेशात्मक और वैराग्य-प्रधान साहित्य निर्मित किया है, उसका लक्ष्य मनुष्य को वासनात्मक जीवन से ऊपर उठाकर उसका आध्यात्मिक विकास करना है। उनकी दृष्टि मे धर्म और साधना व्यक्ति के आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए है और अध्यात्म का अर्थ है वासनाओं पर विवेक का शासन। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई धर्म या साधना-पद्धति जैविक और सामाजिक जीवन-मूल्यो की पूर्णत उपेक्षा नही कर सकती है, क्योकि यही वह आधारभूमि है जहाँ से आध्यात्मिक विकास यात्रा आरम्भ की जा मकती हैं। जैनो के अनुसार धर्म और अध्यात्म का कल्पवृक्ष समाज और जीवन के आगन मे ही विकसित होता है। धार्मिक होने के लिए सामाजिक होना आवश्यक है। जैन धर्म मे जिनकल्प और स्थविर कल्प के रूप मे जिन दो आचार मार्गों का प्रतिपादन है, उनमे स्थविर-कल्प, जो जन-साधारण के लिए है, समाज-जीवन या सघीय-जीवन में रहकर ही साधना करने की अनुशसा करता है।

वस्तुत समाज-जीवन या सघीय-जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुमेल है। समाज-जीवन भी त्याग के वल पर ही खडा होता है। जब व्यापक हितो के लिये क्षुद्र स्वार्थों के विसर्जन की भावना बलवती होती है, तभी समाज खडा होता है। अतः समाज-जीवन या संघीय-जीवन मे सर्जन और विसर्जन तथा राग और विराग का सुन्दर समन्वय है। जिसे आज हम "धर्म" कहते हैं वह भी पूर्णत निजी या वैयक्तिक साधना नही है। उसमें व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ स्वस्थ समाज का निर्माण भी अनुस्यूत है।

जैन आगमों मे धर्म का स्वरूप

धर्म की विभिन्न व्याख्याएँ और परिभाषाएँ दी गई हैं। पूर्व-पश्चिम के विद्वानो ने धर्म को विविध रूपो मे देखने और समझाने का प्रयत्न किया है। सामान्यतया आचार और विचार की एक विशिष्ट प्रणाली को धर्म कहा जाता है, किन्तु जहाँ तक जैन-परम्परा का प्रश्न है, उसमे धर्म को एक स्व-स्वरूप की उपलब्धि

के अथवा आध्यात्मिक विकास के साधन के रूप मे माना गया है। जैनाचार्यों ने धर्म की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं, उनमे एक परिभाषा "वत्युसहावो धम्मो" के रूप मे की है।[1] जब हम यह कहते हैं कि आग का धर्म उष्णता और जल का धर्म शीतलता है तो यहाँ धर्म से तात्पर्य उनके स्वभाव से ही होता है। यद्यपि वस्तु-स्वभाव के रूप मे धर्म की यह परिभाषा सत्य और प्रामाणिक है, किन्तु इससे धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध मे हमे कोई स्पष्ट दिशा निर्देश नही मिलता है। वस्तुत जब हम धर्म की व्याख्या वस्तु-स्वभाव के रूप मे करते हैं, तो हमारे सामने मूल प्रश्न मनुष्य के मूल स्वभाव के सम्बन्ध मे ही उत्पन्न होता है। मनुष्य एक चेतन प्राणी है और एक चेतन प्राणी के रूप मे उसका धर्म या स्वभाव चैत्तसिक समत्व की उपलब्धि है। यहाँ चैत्तसिक समत्व का तात्पर्य विभिन्न अनुकूल एवं प्रतिकूल अनुभूतियो मे चेतना के स्तर पर अविचलित रहना है। दूसरे शब्दो मे समत्व का अर्थ ज्ञाता द्रष्टा भाव मे स्थित रहना है। वस्तुत यह राग और द्वेष के तत्व हमारी चेतना के समत्व को विचलित करते हैं अत. राग-द्वेषजन्य विक्षोभों से रहित चेतना की समभाव मे अवस्थिति ही उसका स्व-स्वभाव है और यही धर्म है।

वैयक्तिक धर्म समता

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र मे आत्म स्वभाव की चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया गया है कि आत्मा क्या है और उसका साध्य या लक्ष्य क्या है? जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध मे अपने उत्तर मे कहा है कि आत्मा समत्व रूप है और उस समत्व को प्राप्त कर लेना यही उसका लक्ष्य है।[2] आचाराग सूत्र मे इसी दृष्टिकोण के आधार पर धर्म को समता के रूप में परिभाषित किया गया है। उसमे कहा गया है कि "आर्यजनो ने समभाव मे धर्म कहा है।"[3] वस्तुत' समभाव के रूप मे धर्म की यह परिभाषा धर्म की स्वभावपरक परिभाषा से भिन्न नही है। मानवीय एवं प्राणी प्रकृति यही है कि वह सदैव ही तनावो से रहित समत्व की स्थिति को पाना चाहता है। अत यह कहा जा सकता है कि वे सभी तथ्य, जो चेतना के इस समत्व को भंग करते हैं, विकार, विभाव या अधर्म हैं, इसके विपरीत जीवन व्यवहार के वे सब तत्व जिनसे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समता की स्थापना होती है धर्म कहे जा सकते हैं। जब हम धर्म को वैयक्तिक दृष्टि से परिभाषित करना चाहते हैं तब उसे निश्चय ही समभाव के रूप मे परिभाषित करना होगा। संक्षेप मे कहे तो समता धर्म है और ममता अधर्म या पाप है, क्योकि समता के द्वारा आत्मा समाधि या शान्ति की स्थिति मे होती है यही उसकी अविकारी अवस्था या स्वभाव दशा है जबकि ममता के कारण वह तनाव एवं मानसिक असन्तुलन से ग्रस्त होती है, अत ममता विकारी अवस्था या विभाव-दशा है।

सामाजिक धर्म . अहिंसा

वैयक्तिक ममता के ये तत्व, जब बाह्य रूप मे अभिव्यक्त होकर हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं, तो वे हिंसा और सघर्ष को जन्म देते हैं। ममता के कारण आधिपत्य, संग्रह और शोषण की वृत्तियो का उदय होता है। व्यक्ति अपने और पराये की दीवारें खीचता है जिससे परिणामत समाज-जीवन मे सघर्ष और हिंसा का जन्म होता है और इन्ही सघर्षों और हिंसक व्यवहारो के कारण सामाजिक जीवन का समत्व या सामाजिक शान्ति भंग हो जाती है। आचाराग सूत्र मे इसी सामाजिक जीवन-व्यवहार के दृष्टिकोण के आधार पर धर्म की एक दूसरी परिभाषा भी दी गई है, उसमे कहा गया है कि "भूतकाल मे जो अर्हत् हुए हैं, वर्तमान मे है अथवा भविष्य मे होगे वे सब यह प्रज्ञापित करते हैं, व्याख्यायित करते हैं कि किसी प्राण, भूत, जीव या सत्व को पीड़ा नही देनी चाहिए, उनका घात नही करना चाहिए, उनकी हिंसा नही करनी चाहिए। यही शाश्वत, शुद्ध एव नित्य धर्म है।[4]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जैन आचार शास्त्रीय ग्रन्थो मे वैयक्तिक दृष्टि से समता और सामाजिक दृष्टि से अहिंसा को धर्म कहा गया है।

धर्म सदाचार या सद्गुण के रूप में

प्रकारान्तर से अर्धमागधी और शौरसेनी जैन आगम मे क्षमा, सरलता, निर्लोभता, सत्यता, सयम आदि को भी धर्म के रूप मे

---

१ धम्मो वत्थु सहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रणयत्तय च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥
—वारस्स अणुवेक्खा (कार्त्तिकेय) ४७८

२ आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे। —व्याख्याप्रज्ञप्ति १/९

३ समयाए धम्मे आरिएहिं पवेइए। —आचाराग १/५/३/१५७ (च०, पृ ३०)

४ से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पणा जे य आगमेस्सा अरहता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासेंति, एव पण्णवेंति, एव परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, णं अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्देवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते, समेच्च लोग खेतन्नेहिं पवेदिते।
—आचाराग १/४/१/१३१-१३२ (च०, पृ. ३३)
—सूत्रकृताग २/१/६८० (च० पृ. २१६)

परिभाषित किया गया है।

(१) आचाराग मे क्षमा आदि सद्गुणो को धर्म कहा गया है।[1]

(२) स्थानाग मे क्षमा, अलोभ, सरलता, मृदुलता, लघुत्व, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास आदि जो धर्म के दस रूप प्रतिपादित किये गये हैं।[2]

(३) कार्तिकेयानुप्रेक्षा मे भी क्षमादि दस सद्गुणो को दसविध धर्म के रूप मे परिभाषित किया गया है।[3]

वस्तुत यह धर्म की सद्गुणपरक या नैतिक परिभाषा है। वे सभी सद्गुण जो सामाजिक समता को बनाए रखते हैं सामाजिक समत्व के सस्थापन की दृष्टि से धर्म कहे गये हैं। क्षमादि इन सद्गुणो की विशेपता यह कि ये वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही जीवन में समत्व या शान्ति-संस्थापन करते हैं।

वस्तुत धर्म की इस व्याख्या को सक्षेप मे हम यह कहकर प्रकट कर सकते हैं कि सद्गुण का आचरण या सदाचरण ही धर्म है और दुर्गुण का आचरण या दुराचरण ही अधर्म है। इस प्रकार जैन आचार्यों ने धर्म और नीति अथवा धर्म और सद्गुण मे तादात्म्य स्थापित किया है, उनके अनुसार धर्म और अनैतिक जीवन-सहगामी नही हो सकते। पाश्चात्य विचारक ब्रेडले के अनुसार भी वह धर्म जो अनैतिकता का सहगामी है, वस्तुतः धर्म नही, अधर्म ही है।

धर्म जिनाज्ञा का पालन

आचाराग मे धर्म की एक अन्य परिभाषा हमे इस रूप में मिलती है कि आज्ञा पालन मे धर्म है। तीर्थंकर या वीतराग पुरुषो के आदेशो का पालन ही धर्म है। आचाराग मे महावीर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मानवो के लिये मेरा निर्देश है कि मेरी आज्ञा का पालन करना ही धर्म है।[4] यहाँ आज्ञा पालन का तात्पर्य सद्गुणो को जीवन मे अपनाना है। यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। आचाराग मे उपलब्ध धर्म की यह परिभाषा हमे मीमासा दर्शन मे उपलब्ध धर्म की उस परिभापा की स्मृति दिला देती है जहाँ धर्म को चोदना (प्रेरणा) लक्षण कहकर परिभाषित किया गया है[5] और जिसके अनुसार वेद-विहित विधानो के पालन को धर्म कहा गया है।

धर्म सामाजिक-दायित्व का निर्वहन

स्थानाग सूत्र में धर्म की व्याख्या के एक अन्य सन्दर्भ मे राष्ट्र-धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, कुल-धर्म, गणधर्म आदि का भी उल्लेख हुआ है।[6]

यहाँ धर्म का तात्पर्य राष्ट्र, ग्राम, नगर, कुल, गण आदि के प्रति हमारे जो कर्तव्य या दायित्व हैं, उनके परिपालन से है। इन धर्मों के प्रतिपादन का उद्देश्य व्यक्ति को अच्छा नागरिक बनाना है, ताकि सामाजिक और पारिवारिक जीवन के सघर्पों और तनावों को कम किया जा सके तथा वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन मे भी शान्ति और समता की स्थापना की जा सके।

धर्म की विविध परिभाषाओ मे पारस्परिक सामजस्य

जैन परम्परा मे उपलब्ध धर्म की इन विविध परिभाषाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आचार्यों ने धर्म को कभी भी रूढि या विशिष्ट प्रकार के कर्म-काण्डो के परिपालन के रूप मे नही देखा है। उनकी दृष्टि मे धार्मिक साधना का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के चैतसिक जीवन मे उपस्थित पाशविक वासनाओ एव उन कषायजन्य आवेगो का परिशोधन कर उसकी आध्यात्मिक चेतना को समत्व, शान्ति या समाधि की दिशा मे अग्रसर करना है। यद्यपि जैन धर्म मे साधना और उपासना की विशिष्ट पद्धतियाँ अनुशासित है फिर भी उन सबका तात्पर्य व्यक्ति की प्रसुप्त चेतना को जागृत कर उसे अपनी आध्यात्मिक दुर्वलताओ का बोध कराना है तथा यह दिखाना है कि उसकी आवेगजन्य तनावपूर्ण

---

१ आचारांग, १/६१५।

२ दसविहे समण धम्मे पण्णत्ते, तं जहा—
खति, मुत्ति, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, सजमे, तवे, चियाए, बंभचेरवासे। —स्थानाग १०/७१२ (च. पृ ३१)
ज्ञातव्य है कि आचारांग १/६/५, समवायांग १०/१, बारस्स अणुवेक्खा, तत्वार्थ ६/६ आदि मे भी इनका उल्लेख है यद्यपि आचारांग और स्थानांग की सूची में कुछ नाम भेद है। वैदिक परम्परा में मनुस्मृति १०/६३, ६/६२; महाभारत आदिपर्व, ६५/ ५ मे भी कुछ नामभेद के साथ इनके उल्लेख हैं। श्रीमद्भागवत (४/४६) मे धर्म को पत्नियो एवं पुत्रों के रूप मे इन सद्गुणो का उल्लेख है।

बारस्सअणुवेक्खा (कार्तिकेय) ४७८।

४ आणाए मामग धम्म—एस उत्तरवादे इह माणवाण वियाहिए। —आचाराग १/६/२/१८५ (च. पृ ६०)

५ मीमासा सूत्र, १/१/२।

६ दसविहे धम्मे पण्णत्ते, त जहा—
गामधम्मे, नयरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे।
—स्थानांग, १०/७६० (च. पृ. ३१)

चैत्तसिक स्थिति के कारण क्या हैं ? और उन कारणो का निराकरण कर किस प्रकार आध्यात्मिक शुद्ध स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है ? जब स्थानाग सूत्र मे धर्म का क्षमा आदि सद्गुणो से जो तादात्म्य बनाया गया है, तो उसका तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति इन गुणो को अपने जीवन में अपनाकर चैत्तसिक समत्व या शान्ति का अनुभव करता हुआ अपनी आध्यात्मिक विकास-यात्रा या स्व-स्वरूप की उपलब्धि की दिशा नें आगे बढ सके।

वस्तुत इन सद्गुणो की साधना का तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति की वासनाएँ और मानसिक तनाव कम हो और वह अपनी शुद्ध, स्वाभाविक तनावरहित एवं शान्त आत्मदशा की अनुभूति कर सके। यदि हम संक्षेप मे कहे तो जैन दृष्टि से धर्म विभाव से स्वभाव की ओर यात्रा है। कषाय और दुर्गुण या दुष्प्रवृत्तियाँ मनुष्य की विभाव दशा अथवा पर-परिणति की सूचक हैं, क्योकि ये पर के निमित्त से होती हैं। इनकी उपस्थिति मे व्यक्ति मानसिक तनावो से युक्त होकर जीवन जीता हैं तथा उसकी आध्यात्मिक शान्ति और आध्यात्मिक समता भंग हो जाती है। अत कषायो के निराकरण के द्वारा व्यक्ति की खोई हुई आध्यात्मिक शक्ति को पुन प्राप्त करना अथवा समत्व दशा या स्व-स्वभाव मे स्थित होना यही धर्म का मूल उद्देश्य है। कोई भी धार्मिक साधना पद्धति या आराधना विधि यदि उसे विभाव से स्वभाव की ओर, ममता से समता की ओर, मानसिक आवेगो और तनावो से आध्यात्मिक शान्ति की ओर ले जाती है तो वह सार्थक कही जा सकती है, अन्यथा वह निरर्थक होती हैं। क्योकि जो आचरण वैयक्तिक या सामाजिक समता को भग करता है वह धर्म नही अधर्म ही है। इसके विपरीत जो आचरण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे समता या शान्ति लाता है, वह धर्म है।

जब हम धर्म को वीतराग प्रभु के प्रति अनन्य आस्था या उनके आदेशो के पालन के रूप मे देखते हैं तो भी वह समत्व सस्थापन रूप अपने उस मूल स्वरूप से भिन्न नही होता है। वस्तुत वे सभी साधक जो बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से अग्रिम कक्षाओ मे स्थित नहीं हैं, अथवा जिनको धर्म और अधर्म की सम्यक् समझ नही है, उनके लिए उपादेय यही है कि वे उन लोगो के जीवन और उपदेशो का अनुसरण करें, जिन्होने मानसिक आवेगो, वासनाओ और कषायो से अर्थात् विभाव दशा से ऊपर उठकर आध्यात्मिक समता अथवा वीतराग दशा का अनुभव किया है। जिस प्रकार दैहिक विकृतियो से छुटकारा पाने के लिये वैद्य के आदेशो और निर्देशो का पालन उपयोगी है, उसी प्रकार आध्यात्मिक कमियो से छुटकारा पाने के लिए वीतराग प्रभु के आदेशो और जीवनादर्शों का अनुसरण करना आवश्यक है, क्योकि धर्म साधना भी चैत्तसिक विकृतियो की चिकित्सा ही है। यदि व्यक्ति स्वय इतना समर्थ है कि वह अपनी विकृति (रोग) को स्वय जानकर चिकित्सा द्वारा उस विकृति का उपशमन या निरसन कर सकता है, तो उसे अधिकार है कि वह अपना मार्ग स्वय बनाये और उस पर चले, उसे गुरु, मार्गदर्शक या धर्मोपदेष्टा की आवश्यकता नही है, उसके लिए यह जरूरी नही है कि वह दूसरे के उपदेशो और आदेशो का पालन करे। ऐसा साधक स्वयं-सम्बुद्ध या प्रत्येक-बुद्ध होता हैं। किन्तु सभी व्यक्तियो मे ऐसी सामर्थ्य नही होती है कि वे अपनी आध्यात्मिक विकृतियो को स्वय जानकर उनके कारणो का निदान और निराकरण कर सकें। ऐसे साधको के लिए गुरु, तीर्थंकर अथवा वीतराग पुरुष के आदेश और निर्देश का पालन आवश्यक है। ऐसे ही लोगो को लक्ष्य मे रखकर आगम मे यह कहा गया है कि तीर्थंकर के आदेशो का पालन ही धर्म है।

यद्यपि जैन धर्म इस अर्थ मे अनीश्वरवादी धर्म है क्योकि वह विश्व के सृष्टा और नियन्ता के अर्थ मे ईश्वर को स्वीकार नही करता है। अत उसकी आस्था का केन्द्र और मार्ग निर्देशक विश्व-नियन्ता ईश्वर नही, अपितु वह वीतराग परमात्मा है, जिसने अपनी साधना के द्वारा राग-द्वेषजन्य आवेगो एवं आत्म-विकारो पर विजय प्राप्त कर समभावयुक्त शुद्धात्म-दशा, परम-शान्ति या समाधि को उपलब्ध कर लिया है। जैनधर्म मे तीर्थंकर के आदेशो का पालन या उसके प्रति श्रद्धा या भक्ति का प्रदर्शन इसलिये नही किया जाता है कि वह प्रसन्न होकर हमे दु.ख या अपूर्णता से मुक्ति दिलायेगा अथवा सकट की घडी मे हमारी सहायता के लिए दौडा हुआ चला आयेगा, अपितु इसलिए किया जाता है कि उसके माध्यम से हम अपने शुद्ध स्वरूप का बोध कर सकें। उसके आदेशो का पालन इसलिए करना है कि सुयोग्य चिकित्सक की भाँति उसके निर्देशो का पालन करने से या उसके जीवनादर्शों का अनुसरण करने से हम आत्म-विकारो का उपशमन कर शुद्धात्मदशा को प्राप्त कर सकेंगे।

अत धर्म को चाहे वस्तु स्वभाव के रूप मे परिभाषित किया जाये, चाहे समता या अहिंसा के रूप मे परिभाषित किया जाये, चाहे हम उसे जिन-आज्ञा-पालन के रूप मे व्याख्यायित करें, उसका मूल हार्द यही है कि वह विभाव से स्वभाव की ओर यात्रा है। वह आत्मशुद्धि अर्थात् वासना परिष्कार की दिशा मे सम्यक् सचरण है। अत: धर्म और सदाचरण भिन्न नही है। यही कारण है कि स्थानांग की टीका मे आचार्य अभयदेव ने और प्रवचनसार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र को भी धर्म का लक्षण माना है।[1]

जैनाचार्यो ने आगम साहित्य की विषय वस्तु का जिन चार

---

१ (अ) स्थानांग टीका ४/३/३२० (ब) प्रवचनसार, १/७

अनुयोगो मे विभाजन किया है, उनमे चरणकरणानुयोग ही ऐसा है जिसका सीधा सम्बन्ध धर्म साधना से है। धर्म मात्र ज्ञान नही है अपितु जीवन शैली है। वह जानने की नही जीने की वस्तु है। धर्म वह है जो जिया जाता है। अत धर्म सदाचरण या सम्यक्चारित्र का पालन है।

धर्म रत्नत्रय की साधना

सामान्यतया जैन परम्परा मे सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय के नाम से अभिहित किया गया है।

दिगम्बर परम्परा मे आचार्य कार्तिकेय ने अपने ग्रन्थ "बारस्स अणुवेक्खा" (४७८) मे रत्नत्रय की साधना को धर्म कहा है। वस्तुत रत्नत्रय की साधना से भिन्न धर्म कुछ नही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारे अस्तित्व का मूल केन्द्र चेतना है और चेतना के तीन पक्ष हैं—ज्ञान, भाव (अनुभूति) और सकल्प। वस्तुत रत्नत्रय की साधना अन्य कुछ नही, अपितु चेतना के इन तीनो पक्षो का परिशोधन है। क्योकि सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र क्रमश वस्तु के यथार्थ स्वरूप का वोध कराकर ज्ञेय के प्रति हमारी आसक्ति या राग भाव को जुडने नही देता है और हमे ज्ञाता-द्रष्टा भाव या समभाव मे स्थित रखता है। इस प्रकार हमारी चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्ज्ञान, भावात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्दर्शन और सकल्पात्मक पक्ष के परिशोधन का उपाय सम्यक्चारित्र है। अत रत्नत्रय की साधना भी अपने ही शुद्ध स्वरूप की साधना है, क्योकि वह स्व-स्वरूप मे अवस्थिति के द्वारा समभाव और वीतराग की उपलब्धि का कारण है।

जैन साधना का लक्ष्य मोक्ष

सामान्यतया यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि व्यक्ति धर्म या सदाचार का पालन क्यो करे? पाश्चात्य नीतिशास्त्र मे इस प्रश्न का उत्तर मात्र सामाजिक व्यवस्था के आधार पर दिया जाता है। लेकिन जैन परम्परा सदाचार और दुराचार के परिणामो को केवल इहलौकिक सामाजिक कल्याण या अकल्याण तक सीमित नही मानती है। यद्यपि इसका तात्पर्य यह भी नही है कि जैन धर्म में धर्म साधना या नैतिक जीवन का सम्बन्ध मात्र पारलौकिक जीवन से माना गया है। जैन धर्म के अनुसार धर्म साधना न तो इहलौकिक जीवन के लिए होती है और न पारलौकिक जीवन के लिए होती है, अपितु वह व्यक्ति की विकृतियो या दुष्प्रवृत्तियो के परिशोधन के द्वारा आध्यात्मिक विकास के लिए होती है। सामान्यतया जैन आगमो मे धार्मिक और नैतिक जीवन का सार सर्व दु खो का अन्त और भव-परम्परा की समाप्ति माना गया है और इसलिये कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि जैन धर्म मे धार्मिक और नैतिक साधना के लक्ष्य मोक्ष का सम्बन्ध पारलौकिक जीवन से है। लेकिन यह एक भ्रान्त धारणा ही होगी। मोक्ष दु ख-विमुक्ति और आत्मोपलब्धि है जो इसी जीवन मे प्राप्तव्य है।

मोक्ष समत्व का सस्थापन

जैनो की यह स्पष्ट मान्यता है कि दु ख-विमुक्ति पारलौकिक जीवन का तथ्य न होकर ऐहिक जीवन का ही तथ्य है। वस्तुत धर्म साधना और सदाचरण का लक्ष्य जीवन मे तनावरहित, समत्वपूर्ण, शान्त आत्मदशा को प्राप्त करना है। जैसाकि हम पूर्व मे कह चुके हैं कि व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के अनुसार समत्व या समभाव की प्राप्ति ही आत्मा का लक्ष्य है।

वस्तुत मनुष्य का जीवन अन्तर्द्वन्द्वो से युक्त है। मानव जीवन मे हम तीन प्रकार के सघर्ष पाते हैं—प्रथम मनोवृत्तियो का आन्तरिक संघर्ष। यह सघर्ष दो वासनाओ के मध्य अथवा वासना और वौद्धिक आदर्शों के बीच होता है। आधुनिक मनोविज्ञान इसे वासनात्मक अह (Id) और आदर्शात्मक अहं (Super ego) का सघर्ष कहता है। जिसे हम वासना और नैतिक आध्यात्मिक आदर्शों का सघर्ष भी कह सकते हैं। वस्तुत यही सघर्ष व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति को भंग कर तनाव उत्पन्न करता है। दूसरे प्रकार का संघर्ष व्यक्ति की आन्तरिक आकाक्षाओ (इच्छाओ) और बाह्य परिस्थितियो के बीच होता है। आन्तरिक आकाक्षाएँ और उनकी पूर्ति के बाह्य साधनो के मध्य यह सघर्ष चलता है। यह सघर्ष, व्यक्ति और उसके भौतिक परिवेश, व्यक्ति और व्यक्ति अथवा व्यक्ति और समाज के मध्य होता है। आकाक्षाएँ या वासनाएँ जहाँ व्यक्ति की आन्तरिक शान्ति को भग करती हैं वही उनकी पूर्ति के प्रयत्न बाह्य सामाजिक जीवन की शान्ति को भंग करते हैं। इस प्रकार यह सघर्ष अन्तर और बाह्य दोनो ही प्रकार की शान्ति को भंग करता है। तीसरे प्रकार का सघर्ष बाह्य परिवेश में होने वाला संघर्ष है, जो विविध समाजो और राष्ट्रो के मध्य होता है। प्रत्येक समाज और राष्ट्र अपनी अस्मिता के लिए इस प्रकार के संघर्ष को जन्म देता है। यद्यपि यह सघर्ष बाह्य होते हुए भी व्यक्ति से जुडा हुआ ही है, क्योकि व्यक्ति किसी न किसी स्तर पर समाज से जुडा हुआ ही होता है। इन संघर्षों को समाप्त करके वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे समत्व और शान्ति की स्थापना करना ही धर्म का लक्ष्य रहा है।

यहाँ हमे यह समझ लेना चाहिये कि सघर्ष या समत्व के विचलन जीवन मे घटित होते रहते हैं, फिर भी वे हमारा स्वभाव नही हैं। अस्तित्व के लिए भी संघर्ष करना होता है किन्तु जीवन का लक्ष्य संघर्ष या तनाव नही, अपितु सघर्ष या तनाव (Tension) का निराकरण है। अत सघर्ष व्यक्ति और समाज की वैभाविक-दशा (विकृत दशा) के सूचक हैं, जवकि

विभाव से स्वभाव की ओर, सघर्ष से शान्ति की ओर, तनाव से समाधि (तनाव-मुक्ति) की ओर अथवा ममत्व से समत्व की ओर यात्रा करना यही धार्मिक साधना और नैतिक आचरण का लक्ष्य है।

मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है और विवेकशील प्राणी के रूप मे उसका आचरण सदैव ही लक्ष्योन्मुख होता है। समाधि, शान्ति अथवा समत्व को लक्ष्य बनाकर जो आचरण किया जाता है वही आचरण नैतिक और धार्मिक जीवन का सूचक होता है। जैन परम्परा मे जो मोक्ष को दु खो के आत्यन्तिक अभाव की अवस्था कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति तनावो से मुक्त हो, क्योकि तनाव या चैत्तसिक अशान्ति ही वास्तविक दु ख है। वस्तुत सामाजिक जीवन मे जो अशान्ति और सघर्ष देखे जाते हैं उनका भी मूलभूत कारण व्यक्ति की आतरिक वासनाएँ और आकाक्षाएँ ही होती हैं। जिनकी पूर्ति के लिये व्यक्ति न केवल अपने को दु खी बनाता है अपितु अपने स.थियो को अथवा सामाजिक जीवन को भी दु खी या तनाव-युक्त बनाता है। अत मोक्ष जिसे सामान्यतया वैयक्तिक साधना का लक्ष्य माना जाता है वह सामाजिक शाति का भी आधार होता है। स्थितप्रज्ञ या वीतराग पुरुषो का जीवन वैयक्तिक और सामाजिक दोनो स्तरो पर संघर्ष की स्थिति मे नही होता है। अत जो लोग धर्म साधना या नैतिकता के लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण को मात्र वैयक्तिक मानते हैं, उनकी यह धारणा उचित नही है। धर्म और नैतिकता वैयक्तिक होने के साथ-साथ सामाजिक भी है। अत धार्मिक और नैतिक साधना का लक्ष्य वैयक्तिक और सामाजिक दोनो स्तरो पर समत्व का संस्थापन करना है। अत जैन धर्म मे हमे धर्म की जो परिभाषाएँ समत्व और अहिंसा के रूप मे मिलती है वे मात्र वैयक्तिक जीवन एव साधना से सम्बन्धित नही हैं। जब हम समता को धर्म कहते है तो वह समत्व व्यक्ति और समाज दोनो का है। वैयक्तिक समता के बिना सामाजिक समता सम्भव नही है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे से इस प्रकार जुडे हुए हैं कि उन्हे चाहे अलग-अलग देखें और जानें, किन्तु उन्हे कभी भी अलग-अलग किया नही जा सकता।

मोक्ष · आत्म पूर्णता

नैतिक जीवन का साध्य केवल समत्व का सस्थापन ही नहीं है, वरन् इससे भी अधिक है, और वह है आत्मपूर्णता की दिशा मे प्रगति। क्योकि जब तक अपूर्णता है, समत्व के विचलन की सम्भावनाएँ भी हैं। अपूर्णता की अवस्था मे सदैव ही चाह (Want) उपस्थित रहती है और जब तक कोई भी चाह बनी हुई है, समत्व नही हो सकता। कामना, वासना और चाह सभी असन्तुलन की सूचक हैं, उनकी उपस्थिति मे समत्व सम्भव नही होता। समत्व तो पूर्ण निष्काम एवं अनासक्त जीवन मे सम्भव है। जब तक अपूर्णता है, कामना है, और जब तक कामना है, समत्व नही है। अत. पूर्ण समत्व के लिए आत्मपूर्णता आवश्यक है। हमारे व्यावहारिक जीवन में भी हमारा प्रयत्न चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्षो के विकास के निमित्त होता है। अन्तश्चेतना सदैव ही इस दिशा मे प्रयत्नशील रहती है कि हम अपनी ही चेतना के इन तीनो पक्षो की देश-कालगत सीमाओ का अतिक्रमण कर सकें। व्यक्ति अपनी ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और सकल्पात्मक क्षमताओ की पूर्णता चाहता है। सीमितता और अपूर्णता का बोध व्यक्ति के मन की एक कसक है और वह सदैव ही इस कसक से छुटकारा पाना चाहता है। उसकी सीमितता और अपूर्णता जीवन की वह प्यास है, जो पूर्णता के जल से परिशान्त होना चाहती है। जब तक आत्मपूर्णता को प्राप्त नही कर लिया जाता, तब तक पूर्ण समत्व नही होता, और जब तक पूर्ण समत्व नही होता, आध्यात्मिक पूर्णता भी सम्भव नही होती। आध्यात्मिक पूर्णता, आत्मपूर्णता और पूर्ण समत्व एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं। काण्ट ने नैतिक विकास की दृष्टि से आत्मा की अमरता को अनिवार्य माना है। नैतिक पूर्णता भी आत्मपूर्णता की अवस्था मे ही सम्भव है। यह पूर्णता या अनन्त तक प्रगति, केवल इस मान्यता पर निर्भर है कि व्यक्तित्व मे उस पूर्णता को प्राप्त करने की क्षमता है और उस अनन्तता या पूर्णता तक पहुँचने के लिए उसकी स्थिरता भी अनन्त है। दूसरे शब्दो मे आत्मा अमर है। काण्ट ने अनन्त की दिशा मे नैतिक प्रगति के लिए आत्मा की अमरता पर बल दिया, लेकिन अरबन ने प्रगति को भी नैतिकता की एक स्वतन्त्र मान्यता कहा है। यदि नैतिक प्रगति की सम्भावना को स्वीकार नही किया जायेगा, तो नैतिक जीवन का महान उद्देश्य समाप्त हो जायेगा और नैतिकता पारस्परिक सम्बन्धो की एक कहानी मात्र रहेगी।

पाश्चात्य जगत मे नैतिक प्रगति का तात्पर्य मात्र सामाजिक सम्बन्धो एवं सामाजिक जीवन की प्रगति है; जबकि भारतीय दर्शन मे नैतिक प्रगति से तात्पर्य, व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास है। मोक्ष, निर्वाण या परमात्मा की उपलब्धि के रूप मे नैतिक पूर्णता की प्राप्ति को सम्भव मानना नैतिक जीवन की दृष्टि से अति आवश्यक है। यदि आत्मपूर्णता या परमश्रेय की प्राप्ति सम्भव नहीं है, तो सदाचरण, नैतिक जीवन और नैतिक प्रगति का कोई अर्थ नही रहेगा। नैतिक प्रगति के अन्तिम चरण के रूप मे आध्यात्मिक पूर्णता या आत्मपूर्णता आवश्यक है।

वस्तुत हमारी चेतना में अपनी अपूर्णता का जो बोध है, वह स्वय ही हमारे अन्तस् मे निहित पूर्णता का संकेत है। हमे अपनी अपूर्णता का स्पष्ट बोध है, लेकिन यह अपूर्णता का स्पष्ट बोध बिना पूर्णता के या बिना प्रत्यय के सम्भव नही। यदि

हमारी चेतना या आत्मा, अनन्त या पूर्ण न हो तो हमे अपनी अपूर्णता का वोध भी नही हो सकता। ब्रेडले का कथन है कि चेतना अनन्त है, क्योकि वह अनुभव करती है कि उसकी क्षमताएँ सात एवं सीमित हैं। लेकिन सीमा या अपूर्णता को जानने के लिए असीम एव पूर्ण होना आवश्यक है। जब हमारी चेतना यह ज्ञान रखती है कि वह सात सीमित या अपूर्ण है तो उसका यह सीमित होने का ज्ञान स्वयं इस सीमा को पार कर जाता है। इस प्रकार ब्रेडले भी आत्मा (Self) मे निहित पूर्णता का सकेत करते हैं।[1] आत्मा पूर्ण है, यह बात भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिए नयी नही हैं, लेकिन इस आत्मपूर्णता का अर्थ यह नही कि हम पूर्ण हैं। पूर्णता हमारी क्षमता (Capacity) है, योग्यता (Ablity) नही। पूर्णता के प्रकाश मे हमे अपनी अपूर्णता का वोध होता है। अपूर्णता का वोध पूर्णता की उपस्थिति का संकेत अवश्य है, लेकिन वह पूर्णता की उपलब्धि नही है। जैसे दूध मे प्रतीत होने वाली स्निग्धता उसमे निहित मक्खन की सूचक अवश्य है, लेकिन मक्खन की उपलब्धि नही है। जैसे दूध मे निहित मक्खन को पाने के लिए प्रयत्न आवश्यक है वैसे आत्मा (Self) मे निहित पूर्णता की उपलब्धि के लिए प्रयत्न आवश्यक है। नैतिकता या सदाचरण उसी सम्यक् प्रयत्न का सूचक है, जिसके माध्यम से हम उस पूर्णता को उपलब्ध कर सकते हैं। हैडफील्ड लिखते हैं कि "हम जो कुछ हैं वही हमारा "स्व" (Self) नही है, वरन हमारा "स्व" वह है जो कि हम हो सकते हैं।[2] हमारी सम्भावनाओ मे ही हमारी सत्ता अभिव्यक्त होती है और इसी अर्थ मे आत्मपूर्णता हमारा साध्य भी है। जैसे एक वालक मे निहित समग्र क्षमताएँ जहाँ एक ओर उसकी सत्ता मे निहित हैं वही दूसरी ओर उसका साध्य हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मपूर्णता हमारा साध्य है। यदि हम आत्मपूर्णता को नैतिक जीवन या धर्म साधना का परम साध्य मानते हैं, तो हमे यह भी स्पष्ट करना होगा कि आत्मपूर्णता का तात्पर्य क्या है ? आत्मपूर्णता का तात्पर्य आत्मोपलब्धि ही है, वह स्व मे "स्व" को पाना है। लेकिन जिस आत्मा या "स्व" को उपलब्ध करना है वह सीमित या अपूर्ण आत्मा नही, वरन् ऐसी आत्मा है जो समग्र वासनाओ, सकल्पो एवं सघर्षों से ऊपर है, विशुद्ध द्रष्टा एवं साक्षी स्वरूप है। हमारी शुद्ध सत्ता हमारे ज्ञान, भाव और संकल्प सभी का आधार होते हुए भी सभी से ऊपर एक निर्विकल्प, वीतराग, साक्षी आत्म-सत्ता की स्थिति है। इसी स्थिति की उपलब्धि को पूर्णात्मा का साक्षात्कार, परम आत्मा की उपलब्धि कहा जाता है। पाश्चात्य दर्शन मे पूर्णता के दो अर्थ रहे हैं—एक अर्थ मे वह चेतना के ज्ञान, भाव और सकल्प के मध्य साग सन्तुलन है तो दूसरी ओर वह वैयक्तिक सीमाओ और सीमितताओ से ऊपर उठना है, ताकि समाज के अन्य घटको और हमारे बीच का द्वैत समाप्त हो सके और व्यक्ति एक महापुरुष के रूप मे समाज का मार्गदर्शन कर सके। ब्रेडले का कथन है कि "मैं अपने को नैतिक रूप से अभिव्यक्त तभी करता हूँ, जब मेरी आत्मा मेरी निजी आत्मा नही रह जाती, जब मेरा सकल्प अन्य लोगो के संकल्प से भिन्न नही रह जाता और जब मैं दूसरो के ससार मे केवल अपने को पाता हूँ। आत्मानुभूति का अर्थ है। असीम व अनन्त हो जाना, अपने व पराये के अन्तर को मिटा देना।"[3] यह है पराभौतिक स्तर पर आत्मानुभूति का अर्थ। म नैवैज्ञानिक स्तर पर आत्मानुभूति का अर्थ होगा हमारी सम्पूर्ण बौद्धिक, नैतिक एव कलात्मक योग्यताओ तथा क्षमताओ की अभिव्यक्ति। यदि हम अपनी कामनाओ एव उद्देश्यो को एक साथ रखकर देखें तो सभी विशेष उद्देश्य कुछ सामान्य और व्यापक उद्देश्यो के अन्तर्गत आ जाते हैं जो परस्पर मिलकर एक समन्वयात्मक समुच्च्य वन जाते हैं। इसी समन्वयात्मक समुच्चय मे हमारी आत्मा पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होती हैं।[4]

भारतीय परम्परा मे पूर्णता का अर्थ थोडा भिन्न है। पाश्चात्य परम्परा मे आत्मा (Self) का अर्थ व्यक्तित्व है और जव हम पाश्चात्य परम्परा मे आत्मपूर्णता की वात कहते हैं तो उसका तात्पर्य है व्यक्तित्व की पूर्णता। व्यक्तित्व का तात्पर्य है शरीर और चेतना। लेकिन अधिकाश भारतीय दर्शन आत्मा को तात्विक "सत्" के रूप मे लेते हैं। अत भारतीय चिन्तन के अनुसार आत्मपूर्णता का अर्थ अपनी तात्विक सत्यता की अथवा परमार्थ की उपलब्धि है। यो भारतीय परम्परा में आत्मपूर्णता का अर्थ आत्मा की ज्ञानात्मक, भावात्मक और सकल्पात्मक शक्तियो की पूर्णता भी मान्य है। भारतीय चिन्तन और विशेप रूप से जैन चिन्तन के अनुसार मनुष्य के ज्ञान, भाव और संकल्प का अनन्त ज्ञान, अनन्त सौख्य (आनन्द) और अनन्त शक्ति के रूप मे अभिव्यक्त हो जाना ही आत्मपूर्णता है। यही वह अवस्था है जिसमे आत्मा परमात्मा वन जाता है। आत्मा की शक्तियों का अनावरण एव पूर्ण अभिव्यक्ति, यही परमात्म-तत्व की प्राप्ति है, और यही आत्मपूर्णता है।

---

१ देखें - Ethical Studies, chapter II
उद्धृत जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ ४१२।
२ Psychology and Morals, p 183.
३ Ethical Studies p 11 ४ Ibid p 11

मोक्ष : आत्म-साक्षात्कार

आत्म पूर्णता "पर" या पूर्व-अनुपस्थित वस्तु की उपलब्धि नही वरन् आत्मोपलब्धि ही है। यह एक ऐसी उपलब्धि है, जिसमे पाना कुछ भी नही, वरन् सव कुछ खो देना है। यह पूर्ण रिक्तता एवं शून्यता है। सब कुछ खो देने पर सब कुछ पा लिया जाता है। पूर्ण रिक्तता पूर्णता बनकर प्रकट हो जाती है। भौतिक स्तर पर "पर" को पाकर "स्व" को खोते हैं लेकिन आध्यात्मिक जीवन मे "पर" को खोकर "स्व" को पा जाते है। जैन-दर्शन मे इसे यह कहकर प्रकट किया गया है कि जितनी पर-परिणति या पुद्गल-परिणति है उतना ही आत्म विस्मरण है, "स्व" को खोना है और जितना पर-परिणति या पुद्गल-परिणति का अभाव है उतना ही आत्मरमण या "स्व" की उपलब्धि है। हमारी जितनी "पर" मे आसक्ति होती है, उतने ही हम "स्व" से दूर होते हैं। इसके विपरीत 'पर" में आसक्ति का जितना अभाव होता है, उतना ही हम "स्व" या आत्मा के समीप होते हैं। जितनी मात्रा मे वासनाएँ, अहकार और चित्त-विकल्प कम होते हैं, उतनी ही मात्रा मे हमे आत्मोपलब्धि या आत्मसाक्षात्कार होता है। जब चेतना मे इनका पूर्ण अभाव हो जाता है, तो आत्मसाक्षात्कार आत्मपूर्णता के रूप मे प्रकट हो जाता है।

जैन नैतिकता का साध्य भी आत्मोपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि "मोक्षकामी को आत्मा को जानना चाहिए, आत्मा पर ही श्रद्धा करना चाहिए और आत्मा की ही अनुभूति (अनुचरितव्य) करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, प्रत्याख्यान (त्याग), संवर (सयम) और योग सब अपने आपको पाने के साधन हैं। क्योकि यही आत्मा ज्ञान मे है, दर्शन मे है, चारित्र मे है, त्याग मे है, सवर मे है और योग मे है।"[1] आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक क्रियाएँ आत्मोपलब्धि ही हैं। व्यवहारनय से जिन्हे ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा गया है निश्चयनय से वह आत्मा ही है। इस प्रकार नैतिक जीवन का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार या आत्मलाभ है।

साध्य, साधक और साधना का पारस्परिक सम्बन्ध

जैन धर्म मे साध्य और साधक मे अभेद माना गया है। समयसार टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि परद्रव्य का परिहार और शुद्ध आत्मतत्व की उपलब्धि ही सिद्धि है।[2] आचार्य हेमचन्द्र साध्य और साधक मे अभेद बताते हुए लिखते हैं कि कषायो और इन्द्रियो से पराजित आत्मा ही संसार है और उनको विजित करने वाला आत्मा ही प्रवुद्ध पुरुषो द्वारा मोक्ष कहा जाता है।[3] अध्यात्मतत्वालोक मे मुनि न्यायविजयजी कहते हैं कि आत्मा ही ससार है और आत्मा ही मोक्ष हैं। जहाँ तक आत्मा कषाय और इन्द्रियो के वशीभूत है, संसार है, और उनको ही जब अपने वशीभूत कर लेता है मोक्ष कहा जाता है।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म का साध्य अर्थात् मोक्ष और साधक दोनो ही आत्मा की दो अवस्थाएँ (पर्याय) हैं। दोनो में मौलिक अन्तर यही है कि आत्मा जब तक विषय और कषायो के वशीभूत होता है तब तक बन्धन मे होता है और जब उन पर विजय लाभ कर लेता है तब वही मुक्त बन जाता है। आत्मा की वासनाओ के मल से युक्त अवस्था ही उसका बन्धन कही जाती है और विशुद्ध आत्म तत्व की अवस्था ही मुक्ति कही जाती है। इसी प्रकार आसक्ति को बन्धन और अनासक्ति को मुक्ति मानना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

जैन धर्म मे साध्य और साधक दोनो में अन्तर केवल इस बात को लेकर है कि आत्मा की विभाव दशा ही साधक की अवस्था है और आत्मा की स्वभाव दशा ही सिद्धावस्था है। जैन साधना का लक्ष्य अथवा आदर्श कोई बाह्य तत्व नही, वह तो साधक का अपना ही निजरूप है। उसकी ही अपनी पूर्णता की अवस्था है। साधक का आदर्श उसके बाहर नही वरन् उसके अन्दर ही है। साधक को उसे पाना भी नहीं है, क्योकि पाया तो वह जाता है जो व्यक्ति मे अपने मे नही हो अथवा अपने से बाह्य हो। धर्म साधना का साध्य बाह्य उपलब्धि नही, आन्तरिक उपलब्धि है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वह अपना ही अनावरण है, अपने आपको उघाड़ना है, अपने निज गुणो का पूर्ण प्रकटन है। यहाँ भी हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा के निज गुण या स्व लक्षण तो सदैव ही उसमे उपस्थित हैं, साधक को केवल उन्हे प्रकटित करना है। हमारी क्षमताएँ साधक अवस्था और सिद्ध अवस्था मे वही हैं। साधक और सिद्ध अवस्था मे अन्तर क्षमताओ का नही, वरन् क्षमताओ को योग्यताओ मे बदल देने का है। जैसे बीज वृक्ष के रूप मे विकसित होता है वैसे ही मुक्तावस्था मे आत्मा के निज गुण पूर्ण रूप मे प्रकटित हो जाते हैं। साधक आत्मा के ज्ञान, भाव (अनुभूति) और सकल्प के तत्व ही मोक्ष की अवस्था मे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति के रूप मे प्रकट हो जाते हैं। वह आत्मा जो

---

१ समयसार १५-१८ एवं उसकी आत्मख्याति टीका।
२ समयसार, आत्मख्याति टीका ३०५।
३ योगशास्त्र (हेमचन्द्र) ४/५।
४ अध्यात्मतत्त्वालोक, ४/६।

कषाय और राग-द्वेष से युक्त है और इनसे युक्त होने के कारण वद्ध, सीमित और अपूर्ण है, वही आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति को प्रकट कर मुक्त एव पूर्ण वन जाता है। उपाध्याय अमर मुनिजी के शब्दो मे जैन साधना के स्व मे स्व को उपलव्ध करना है, निज में निज की शोध करना है अनन्त में पूर्णरूपेण रममाण होना है—आत्मा के वाहर एक कण में भी साधक की उन्मुखता नही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा में तात्विक दृष्टि से साध्य और साधक दोनो एक ही हैं। यद्यपि पर्यायार्थिक दृष्टि या व्यवहारनय से उसमें भेद माना गया है। आत्मा की स्वभाव पर्याय या स्वभाव की ओर आना यही साधना है।

साधना पथ और साध्य

जिस प्रकार साधक और साध्य में अभेद माना गया है, उसी प्रकार साधना मार्ग और साध्य में भी अभेद है। जीवात्मा अपने ज्ञान, अनुभूति और सकल्प के रूप में साधक कहा जाता है, उसके यही ज्ञान, अनुभूति और सकल्प सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना पथ वन जाते हैं और वे ही जव अपनी पूर्णता को प्रकट कर लेते हैं तो सिद्ध वन जाते हैं। जैन धर्म के अनुसार सम्यक् ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक्-तप क्रमश अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सौख्य और अनन्त शक्ति की उपलव्धि कर लेते हैं तो यही अवस्था सिद्धि वन जाती है। आत्मा का ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् ज्ञान की साधना के द्वारा अनन्त ज्ञान को प्रकट कर लेता है, आत्मा का अनुभूत्यात्मक पक्ष सम्यक्-दर्शन की साधना के द्वारा अनन्त-दर्शन की उपलव्धि कर लेता है, आत्मा का सकल्पात्मक पक्ष सम्यक् चारित्र की साधना के द्वारा अनन्त सौख्य की उपलव्धि कर लेता है और आत्मा की क्रियाशक्ति सम्यक्-तप की साधना के द्वारा अनन्त शक्ति को उपलव्ध कर लेती है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि जो साधक चेतना का स्वरूप है वही सम्यक् वन कर साधना पथ वन जाता है और उसी की पूर्णता साध्य होती है। इस प्रकार साधक, साधना पथ और साध्य सभी आत्मा की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

आत्मा की विभाव दशा अर्थात् उसकी विषय-वासनाओ में आसक्ति या रागभाव उसका वन्धन है, अपने इस रागभाव, आसक्ति या ममता को तोडने का जो प्रयास है, वही साधना है और उस आसक्ति, ममत्व या रागभाव का टूट जाना ही मुक्ति है। यही आत्मा का परमात्मा वन जाना है। जैन साधको ने आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—

(१) वहिरात्मा,
(२) अन्तरात्मा, और
(३) परमात्मा।

सन्त आनन्दघन जी कहते हैं—

त्रिविध सकल तनुधर गत आतमा,
वहिरातम अघरूप सुज्ञानी।
बीजो अन्तर आतमा तीसरो,
परमातम अविच्छेद सुज्ञानी॥

विषय-भोगो मे उलझा हुआ आत्मा वहिरात्मा है। संसार के विषय-भोगो में उदासीन साधक अन्तरात्मा है और जिसने अपनी विषय-वासनाओ पर विजय प्राप्त कर ली है, जो विषय-विकार से रहित अनन्त चतुष्टय से युक्त होकर ज्ञाता-द्रष्टा भाव मे स्थित है, वह परमात्मा है।

आत्मा और परमात्मा में सम्बन्ध

जैन धर्म मे आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर कहा गया है—

"अप्पा सो परमप्पा"।

आत्मा ही परमात्मा है।

प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक चेतनसत्ता परमात्मस्वरूप है।

मोह और ममता और तद्जनित कर्मवर्गणाओ के कोहरे मे हमारा वह परमात्म-स्वरूप छुप गया है। जैसे वादलो के आवरण मे सूर्य का प्रकाशपुज छिप जाता है और अन्धकार घिर जाता है, उसी प्रकार मोह-ममता और राग-द्वेषरूपी कर्मवर्गणाओ के आवरण से आत्मा का अनन्त आनन्द स्वरूप तिरोहित हो जाता है और जीव दु ख और पीडा से भर जाता है।

आत्मा और परमात्मा मे स्वरूपत कोई भेद नही है। धान और चावल एक ही है, अन्तर मात्र इतना है कि एक आवरण (छिलके) सहित है और दूसरा निरावरण (छिलके-रहित)। इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक ही है, फर्क केवल कर्म रूप आवरण का है।

जिस प्रकार धान के सुमधुर भात का आस्वादन तभी प्राप्त हो सकता है जव उसका छिलका उतार दिया जावे, उसी प्रकार अपने ही परमात्म स्वरूप की अनुभूति तभी सम्भव हैं जव हम अपनी चेतना से मोह-ममता और राग-द्वेष की खोल को उतार फैंके। छिलके-सहित धान के समान मोह-ममता की खोल मे जकडी हुई चेतना आत्मा है और छिलके-रहित शुद्ध शुभ्र चावल के रूप मे निरावरण शुद्ध चेतना परमात्मा है। कहा है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोय सिद्ध होय।
कर्म मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय॥

मोह-ममता रूपी परदे को हटाकर उस पार रहे हुए अपने ही परमात्मस्वरूप का दर्शन सम्भव है। हमे प्रयत्न परमात्मा को पाने का नही, इस परदे को हटाने का करना है, परमात्मा तो उपस्थित है ही। हमारी गलती यही है कि हम परमात्म स्वरूप को प्राप्त करना तो चाहते हैं, किन्तु इस आवरण को हटाने का प्रयास नही करते। हमारे प्रयत्नो की दिशा यदि सही हो तो

अपने मे ही निहित परमात्मा दर्शन दूर नही है। हमारा दुर्भाग्य तो यही है कि आज स्वामी का दास बना हुआ है। हमे अपनी हस्ती का अहसास ही नही है। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

इन्सा की बदबख्ती अन्दाज से बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर बंदा नजर आता है॥

जैनदर्शन मे वीतराग का जीवनादर्श

जैन-दर्शन मे नैतिक जीवन या साधना का परमसाध्य वीतरागता की प्राप्ति रहा है। जैन-दर्शन मे वीतराग एवं अरिहन्त (अर्हत्) इसी जीवनादर्श के प्रतीक हैं। वीतराग की जीवन-शैली क्या होती है, इसका वर्णन जैनागमो मे यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। संक्षेप मे उन आधारो पर उसे इस प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। जैनागमो मे आदर्श पुरुष के लक्षण बताते हुए कहा गया है "जो ममत्व एव अहंकार से रहित है, जिसके चित्त मे कोई आसक्ति नही है और जिसने अभिमान का त्याग कर दिया है, जो प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखता है। जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान और निन्दा-प्रशंसा मे समभाव रखता हैं। जिसे न इस लोक की और न परलोक की कोई अपेक्षा है, किसी के द्वारा चन्दन का लेप करने पर और किसी के द्वारा वसूले के छीलने पर, जिसके मन मे लेप करने वाले पर राग-भाव और वसूले के छीलने वाले पर द्वेष-भाव नही होता, जो खाने मे और अनशन व्रत करने मे समभाव रखता है, वही महापुरुष है।"[1] जिस प्रकार अग्नि से शुद्ध किया हुआ सोना निर्मल होता है, उसी प्रकार जो राग-द्वेष और भय आदि से रहित है, वह निर्मल है। जिस प्रकार कमल कीचड एवं पानी मे उत्पन्न होकर भी उसमे लिप्त नही होता उसी प्रकार जो ससार के काम-भोगो मे लिप्त नही होता, भाव से सदैव ही विरत रहता है, उस विरतात्मा, अनासक्त पुरुष को इन्द्रियो के शब्दादि विषय भी मन मे राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नही करते। जो विषय रागी व्यक्तियो को दुःख देते है, वे वीतरागी के लिए दुःख के कारण नही होते हैं। वह राग, द्वेष और मोह के अध्यवसायो को दोषरूप जानकर सदैव उनके प्रति जागृत रहता हुआ माध्यस्थभाव रखता है। किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प नही करता हुआ तृष्णा का प्रहाण कर देता है। वीतराग पुरुष राग-द्वेष और मोह का प्रहाण कर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म का क्षय कर कृतकृत्य हो जाता है। इस प्रकार मोह, अन्तराय और आस्रवो से रहित वीतराग सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होता है। वह शुक्लध्यान और सुसमाधि सहित होता है और आयु का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।"[2]

धर्मसाधना का स्वरूप

धर्म के स्वरूप एवं साध्य की इस चर्चा के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम इस प्रश्न पर भी विचार करें कि धर्म साधना क्या है? धर्म को जीवन मे किस प्रकार जीया जा सकता है? क्योकि धर्म साधना का तात्पर्य धर्म को जीवन मे जीना है। धर्म जीवन जीने की एक कला है और उससे अलग होकर उसका न तो कोई अर्थ है और न कोई मूल्य ही। धर्म के स्वरूप की चर्चा मे हमने जो कुछ निष्कर्ष रूप मे पाया था वह यह कि "समता धर्म है और ममता अधर्म है।" इसके साथ हमने यह भी देखा कि मनुष्य की व्यक्तिगत या सामाजिक जो भी पीडाएं हैं दुःख हैं वे सब उसकी ममत्वबुद्धि, रागभाव और आसक्ति के परिणाम हैं। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'ममता दुःख का मूल है और समता सुख का मूल"। जीवन मे ममता जितनी छूटेगी और समता जितनी प्रकटित होगी, उतना ही दुःख कम होगा और व्यक्ति आनन्द का अनुभव करेगा। ममता और तृष्णा को छोड़ने से ही जीवन में समता और सुख को पाया जा सकता है और दूसरे शब्दो मे कहे तो धर्म को जीवन मे जीया जा सकता है। किन्तु ममता या रागभाव का छूटना या छोड़ना अत्यन्त दुरूह या कठिन कार्य है। जन्म-जन्मान्तरो के सस्कारो के कारण हमारे जीवन मे ममता और तृष्णा के तत्व इतनी गहराई तक पैठे हुए हैं कि उन्हे निकाल पाना सहज नही है। वीतराग, अनासक्ति या वीततृष्ण होने की बात कही तो बड़ी सरलता से जा सकती है, किन्तु जीवन मे उसकी साधना करना अत्यन्त कठिन है। अनेक बार यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि कोई व्यक्ति वीतराग, वीततृष्ण या अनासक्त होकर कैसे जीवन जी सकेगा? जब जीवन मे ममता नही होगी, अपनेपन का बोध नही होगा, चाह नहीं होगी तो व्यक्ति को जीवन जीने का कौन सा आकर्षण रह जायेगा। ममता और चाह (तृष्णा) वस्तुतः हमारे जीवन व्यवहार के प्रेरक तत्व हैं। व्यक्ति किसी के लिए भी जो कुछ करता है, वह अपने ममत्व या रागभाव के कारण करता है, चाहे वह राग प्रशस्त हो या अप्रशस्त अथवा वह फिर अपनी किसी इच्छा (तृष्णा) की पूर्ति के लिए करता है। यदि राग और तृष्णा के ये दोनो तत्व जीवन से निकल जायें तो जीवन नीरस और निष्क्रिय हो जायेगा क्योकि राग या ममता के कारण जीवन मे रस है और चाह के कारण सक्रियता। किन्तु यह दृष्टिकोण पूर्णतः सत्य नही है। आसक्ति, ममत्व या तृष्णा के अभाव मे भी कर्तव्य भाव और विवेक-युक्त करुणा के आधार पर जीवन जिया जा सकता है। यह सत्य है कि अनासक्त होकर मात्र कर्तव्यबोध या

१-२ उत्तराध्ययन, १९/९०-९३, ३२/१०६-११०, २०-२१, २७-२८।

निष्काम भाव से जीवन जीना कुछ विरले लोगो के लिए सम्भव हो सकता है, जनसामान्य के लिए यह सम्भव नही है। किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि ममता, आसक्ति या तृष्णा ही सभी दुखो की जड है, ससार के सारे सघर्षों का कारण है। उसे छोडे या उस पर नियन्त्रण किये बिना न तो व्यक्तिगत जीवन मे और न सामाजिक जीवन मे सुख-शान्ति आ सकती है। यही मानव-जीवन का विरोधाभास है। एक ओर ममत्व और कामना (चाह) सरस एवं सक्रिय जीवन के अनिवार्य तत्व हैं तो दूसरी ओर वे ही दुख और सघर्ष के कारण भी हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओ मे जीवन को जो दुखमय कहा गया है उसका कारण यही है। ममत्व और कामना (तृष्णा) के बिना जीवन चलता नही है और जब तक ये उपस्थित हैं जीवन मे सुख-शान्ति सम्भव नही है।

चाहे एक बार हम इस बात को मान भी लें कि जीवन मे पूर्णतया अनासक्ति या निर्ममत्व लादा नहीं जा सकता, किन्तु साथ ही हमे यह भी मानना ही होगा कि यदि हम अपने जीवन को और मानव समाज को दुख और पीडाओ से ऊपर उठाना चाहते हैं, तो ममता और कामना के त्याग अथवा उन पर नियन्त्रण के अतिरिक्त, अन्य कोई विकल्प भी नही है। जीवन मे जब तक ममता की गाठ टूटती नही है, आसक्ति छूटती नही है, कामना (तृष्णा) समाप्त नहीं होती है, तब तक आत्मिक शान्ति और सुख सम्भव नही है। यदि हमे सुख और शान्ति की अपेक्षा है, तो निश्चित रूप से आसक्ति और ममता की गाँठ को खोलना होगा और जीवन मे समभाव और अनासक्ति (निष्कामता) को लाना होगा।

कर्मकाण्ड धर्मसाधना का लक्ष्य नहीं

सामान्यतया धर्म-साधना का सम्बन्ध कुछ विधि-विधानो, क्रियाकाण्डो, आचार-व्यवहार के विधि-निषेधो के साथ जोडा जाता है। हमसे कहा जाता है—'यह करो, और यह मत करो'। किन्तु हमे यह स्मरण रखना है कि ये बाह्य कर्मकाण्ड धार्मिक साधना के मूल तत्व नही हैं। यद्यपि मेरे कहने का यह तात्पर्य भी नही है कि धार्मिक जीवन मे इनकी कोई उपयोगिता या सार्थकता नहीं है। आचार, व्यवहार या कर्मकाण्ड धार्मिक जीवन के सदैव से ही आवश्यक अंग रहे हैं और सदैव रहेंगे। किन्तु हमे एक बात का स्मरण रखना होगा कि यदि हमारे इन धार्मिक कहे जाने वाले क्रियाकाण्डो, विधि-विधानो या आचार-नियमो से हमारी आसक्ति या ममता छूटती नहीं है, चाह और चिन्ता मे कमी होती नहीं है, जीवन मे विवेक एव आनन्द का प्रस्फुटन नही होता है, तो ये सब निरर्थक हैं, उनका कोई मूल्य नही है। इनकी कोई उपादेयता नही। ये क्रियाकाड साधन हैं, और साधनो का मूल्य तभी तक है जब तक वे साध्य की उपलब्धि मे सहायक होते हैं। आइये, परखें और देखें कि जैन धर्म मे धर्म साधना के उपाय कौन से हैं और इनकी मूल्यवत्ता क्या है ?

त्रिविध साधना-मार्ग

जैन दर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना मार्ग प्रस्तुत करता है। तत्वार्थ सूत्र के प्रारम्भ मे ही कहा है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है।[1] उत्तराध्ययन सूत्र मे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्-तप ऐसे चतुर्विध मोक्ष मार्ग का भी विधान है।[2] परवर्ती जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र मे किया है और इसलिए परवर्ती साहित्य मे इसी त्रिविध साधना मार्ग का विधान मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार एव नियमसार मे, आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे त्रिविध साधना पथ का विधान किया है।

त्रिविध साधना मार्ग ही क्यो ?

यह प्रश्न उठ सकता है कि त्रिविध साधना मार्ग का ही विधान क्यो किया गया है ? वस्तुतः त्रिविध साधना मार्ग के विधान मे पूर्ववर्ती ऋषियो एव आचार्यों की गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं—ज्ञान, भाव और संकल्प। जीवन का साध्य चेतना के इन तीनो पक्षो के परिष्कार मे माना गया है। अत यह आवश्यक ही था कि इन तीनो पक्षो के परिष्कार के लिए त्रिविध साधना पथ का विधान किया जाये। चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यक् बनाने के लिए एवं उसके सही विकास के लिए सम्यक्दर्शन या श्रद्धा (भाव) की साधना का विधान किया गया। इसी प्रकार ज्ञानात्मक पक्ष के लिए ज्ञान का और संकल्पात्मक पक्ष के लिए सम्यक् चारित्र का विधान है। इस प्रकार हम देखते है कि त्रिविध साधना-पथ के विधान के पीछे जैनो की एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं—बौद्ध दर्शन मे शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप मे और गीता मे ज्ञानयोग, भक्तियोग एव कर्मयोग के रूप मे भी त्रिविध साधना मार्ग के उल्लेख हैं।

पाश्चात्य चिन्तन मे त्रिविध साधना-पथ

पाश्चात्य परम्परा[3] मे तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं—

(१) स्वय को जानो

(२) स्वय को स्वीकार करो

---

१ तत्वार्थसूत्र, १/१।

२ उत्तराध्ययन सूत्र २८/२।

३ साइकोलाजी एण्ड मारल्स, पृ० १८०।

(३) स्वयं ही बन जाओ

पाश्चात्य चिन्तन के ये तीन नैतिक आदेश जैन परम्परा के सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के त्रिविध साधनामार्ग के समकक्ष ही हैं। आत्मज्ञान मे ज्ञान का तत्व, आत्म-स्वीकृति मे श्रद्धा का तत्व और आत्म-निर्माण मे चारित्र का तत्त्व स्वीकृत ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग के विधान मे जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परायें ही नही, पाश्चात्य विचारक भी एकमत हैं। तुलनात्मक रूप मे उन्हे निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	गीता	उपनिषद	पाश्चात्य दर्शन
सम्यग्ज्ञान	श्रद्धा, चित्त, समाधि	ज्ञान, परिप्रश्न	मनन	Know thyself
सम्यग्दर्शन	प्रज्ञा	श्रद्धा, प्रणिपात	श्रवण	Accept thyself
सम्यक्चारित्र	शील, वीर्य	कर्म, सेवा	निदिध्यासन	Be thyself

साधना-त्रय परस्पर सम्बन्ध

जैन आचार्यों ने नैतिक साधना के लिए इन तीनो साधना-मार्गों को एक साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार नैतिक साधना की पूर्णता त्रिविध साधनापथ के समग्र परिपालन मे ही सम्भव है। जैन विचारक तीनो के समवेत से ही मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार न अकेला ज्ञान, न अकेला कर्म और न अकेली भक्ति मुक्ति देने मे समर्थ है जबकि कुछ भारतीय विचारको ने इनमे से किसी एक को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं, लेकिन जैन-दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता मे नही पडते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना मे ही मोक्ष सिद्धि सम्भव है। इनमे से किसी एक के अभाव मे मोक्ष या समत्वरूपी साध्य की प्राप्ति सम्भव नही। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नही होता और जिसमे ज्ञान नही है उसका आचरण सम्यक् नही होता और सम्यक् आचरण के अभाव मे आसक्ति से मुक्त नही हुआ जाता है और जो आसक्ति से मुक्त नही उसका निर्वाण या मोक्ष नही होता।[1] इस प्रकार शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देता है कि निर्वाण या आत्मपूर्णता की प्राप्ति के लिए इन तीनो की समवेत रूप मे आवश्यकता है। वस्तुत साध्य के रूप मे जिस पूर्णता को स्वीकार किया गया है वह चेतना के किसी एक पक्ष की पूर्णता नही वरन् तीनो पक्षो की पूर्णता है और इसके लिए साधना के तीनो पक्ष आवश्यक हैं।

यद्यपि धर्म-साधना के लिए सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र या शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा श्रद्धा, ज्ञान और कर्म तीनो आवश्यक हैं, लेकिन साधना की दृष्टि से इनमे एक पूर्वापरता का क्रम भी है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध

ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर ज्ञानमीमासा की दृष्टि से जैन विचारणा मे काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक मानते हैं तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनो का यौगपत्य (समानान्तरता) स्वीकार किया हैं। यद्यपि आचार-मीमासा की दृष्टि से दर्शन की प्राथमिकता ही प्रबल रही है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नही होता।[2] इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गयी है। तत्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने भी अपने ग्रन्थ मे दर्शन को ज्ञान और चारित्र के पहले स्थान दिया है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द दर्शन-पाहुड मे कहते हैं कि धर्म (साधनामार्ग) दर्शन-प्रधान है।[4]

लेकिन दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी है जिनमे ज्ञान को प्रथम माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे, उसी अध्याय मे मोक्ष मार्ग की विवेचना मे जो क्रम है उसमे ज्ञान का स्थान प्रथम है।[5] वस्तुत साधनात्मक जीवन की दृष्टि से भी ज्ञान और दर्शन मे किसे प्राथमिक माना जाय, यह निर्णय करना सहज नही है। इस विवाद के मूल मे यह तथ्य है कि श्रद्धावादी दृष्टिकोण सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देता है, जबकि ज्ञानवादी दृष्टिकोण श्रद्धा के सम्यक् होने के लिए ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करता है। वस्तुत इस विवाद मे कोई ऐकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा। यहाँ समन्वयवादी दृष्टिकोण ही संगत होगा। नवतत्वप्रकरण मे ऐसा ही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है जहाँ दोनो को एक दूसरे का पूर्वापर बताया है। कहा है कि जो जीवादि नव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है, लेकिन अगली पक्ति मे ही ज्ञानाभाव मे केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गई है और कहा गया है कि जो वस्तुतत्व को स्वत. नही जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व हो जाता है।[6]

---

१ उत्तराध्ययन, २८/३०।

२ उत्तराध्ययन, २८/३०।

३ तत्त्वार्थ. १/१।

४ दर्शनपाहुड २।

५ उत्तराध्ययन, २८/२।

६ नवतत्त्वप्रकरण, उद्धृत आत्म-साधना संग्रह (मोतीलाल माण्डोत) पृ. १५१।

हम अपने दृष्टिकोण से इनमे से किसे प्रथम स्थान दें, इसका निर्णय करने के पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ का निश्चय कर लेना जरूरी है। दर्शन शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) यथार्थ दृष्टिकोण, (२) श्रद्धा और (३) अनुभूति। इसमे अनुभूतिपरक अर्थ का सम्बन्ध तो ज्ञानमीमासा है और उस सन्दर्भ में वह ज्ञान का पूर्ववर्ती है। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो साधना-मार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव मे यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हो, तो भी वे सम्यक् नही कहे जा सकते। वह तो सायोगिक प्रसग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रान्त भी हो सकता है। जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और क्या उसका आचरण करेगा? दूसरी ओर यदि हम सम्यग्दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात ही होगा। क्योकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है, उसमें कहा गया है कि ज्ञान से पदार्थ (तत्व) स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे।[1] व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमे जो स्थायित्व होता है वह ज्ञानाभाव मे प्राप्त हुई श्रद्धा से नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव मे जो श्रद्धा होती है, उसमे संशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नही वरन् अन्धश्रद्धा ही हो सकती है। जिन-प्रणीत तत्वो मे भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एव तार्किक परीक्षण के पश्चात ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्व है, लेकिन वह ज्ञानप्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कहा है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करे, तर्क से तत्व का विश्लेषण करे।[२] इस प्रकार मेरी मान्यता के अनुसार यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ मे सम्यग्दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जबकि श्रद्धापरक अर्थ मे उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध

चारित्र और ज्ञान दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जैन-विचारणा मे कोई विवाद नही है। चारित्र की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन को प्राथमिकता प्रदान की गई है। चारित्र साधना मार्ग में गति है, जब ज्ञान साधना पथ का बोध है और दर्शन यह विश्वास जाग्रत करता है कि वह पथ उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जाने वाला है। सामान्य पथिक भी यदि पथ के ज्ञान एव इस दृढ विश्वास के अभाव मे कि वह पथ उसके वांछित लक्ष्य को जाता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता तो फिर आध्यात्मिक साधना मार्ग का पथिक बिना ज्ञान और आस्था (श्रद्धा) के कैसे आगे बढ सकता है? उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है कि ज्ञान से (यथार्थ साधना मार्ग को) जाने, दर्शन के द्वारा उस पर विश्वास करे और चारित्र से उस साधना मार्ग पर आचरण करता हुआ तप से अपनी आत्मा का परिशोधन करे।[3]

यद्यपि लक्ष्य को पाने के लिए चारित्र रूप प्रयास आवश्यक है, लेकिन प्रयास को लक्ष्योन्मुख और सम्यक् होना चाहिए। मात्र अन्धे प्रयासो से लक्ष्य प्राप्त नही होता। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ नही है तो ज्ञान यथार्थ नही होगा और ज्ञान के यथार्थ नही होने पर चारित्र या आचरण भी यथार्थ नही होगा। इसलिए जैन आगमो मे चारित्र से दर्शन (श्रद्धा) की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव मे सम्यक्चारित्र नही होता।[४]

भक्त परिज्ञा मे कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नही है, क्योकि जो दर्शन मे युक्त है वह ससार मे अधिक परिभ्रमण नही करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति ससार से मुक्त नही होता। कदाचित् चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जावे, लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नही होता।[५]

वस्तुत दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण का सही दिशा-निर्देश करता है। आचार्य भद्रबाहु आचारागनिर्युक्ति मे कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते है।[6] सन्त आनन्दघन दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्तजिन के स्तवन में कहते हैं—

> शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,
> छार (राख) पर लीपणु तेह जाणो रे।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्वापरता

जैन विचारको ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही रखा है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है कि जो जीव और जीव के स्वरूप को नही जानता, ऐसा जीव और अजीव के विषय मे

---

१ उद्धृत, आत्मसाधना संग्रह, पृ. १५१।
२ उत्तराध्ययन, २३/२५।
३ उत्तराध्ययन, २८/३५।
४ वही, २८/२९।
५ भक्तपरिज्ञा, ६५-६६।
६ आचारांगनिर्युक्ति, २२१।

अज्ञानी साधक क्या धर्म (सयम) का आचरण करेगा ?[1] उत्तराध्ययनसूत्र मे भी यही कहा है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव मे सदाचरण नही होता ।[2] इस प्रकार जैन दर्शन ज्ञान को चारित्र से पूर्व मानता है। जैन दार्शनिक यह तो स्वीकार करते हैं कि सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है, फिर भी वे यह स्वीकार नही करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान आचरण का पूर्ववर्ती अवश्य है, यह भी स्वीकार किया गया है कि ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् नही हो सकता ।[3] लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या ज्ञान ही मोक्ष का मूल हेतु है ?

साधना-त्रय में ज्ञान का स्थान

जैनाचार्य अमृतचन्द्रसूरि ज्ञान की चारित्र से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा स्पर्श कर लेते हैं। वे अपनी समयसार टीका मे लिखते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियो मे अन्तरग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि की उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है। क्योकि अज्ञान तो बन्ध का हेतु है, जबकि ज्ञानी मे अज्ञान का सद्‌भाव न होने से वाह्य व्रत, नियम, सदाचरण, तप आदि की अनुपस्थिति होने पर भी मोक्ष का सद्‌भाव है ।[4] आचार्य शकर भी यह मानते हैं कि एक ही कार्य ज्ञान के अभाव मे बन्धन का हेतु और ज्ञान की उपस्थिति मे मोक्ष का हेतु होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्म नही ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है ।[5] आचार्य अमृतचन्द्र भी ज्ञान को त्रिविध साधनो मे प्रमुख मानते हैं। उनकी दृष्टि मे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी ज्ञान के ही रूप हैं। वे लिखते हैं कि मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। जीवादि तत्वो के यथार्थ श्रद्धान रूप से तो जो ज्ञान है वह तो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान-स्वभाव मे ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि के त्याग-स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार ज्ञान ही परमार्थत मोक्ष का कारण है ।[6]

यहाँ पर आचार्य दर्शन और चारित्र को ज्ञान के अन्य दो पक्षो के रूप मे सिद्ध कर मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु सिद्ध करते हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन और चारित्र भी ज्ञानात्मक है, ज्ञान की ये पर्यायें है। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य मात्र ज्ञान की उपस्थिति मे मोक्ष के सद्‌भाव की कल्पना करते हैं, फिर भी वे अन्तरग चारित्र की उपस्थिति से इन्कार नही करते हैं। अन्तरग चारित्र तो कषाय आदि के क्षय के रूप मे सभी साधको मे उपस्थित होता है। साधक और साध्य विवेचन मे हम देखते हैं कि साधक आत्मा पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञानमय ही है और वही ज्ञानमय आत्मा उसका साध्य है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावमय आत्मा ही मोक्ष का उपादान कारण है। क्योकि जो ज्ञान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है ।[7] अत मोक्ष का हेतु ज्ञान ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार जैन-आचार्यों ने साधन त्रय मे ज्ञान को अत्यधिक महत्व दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र का उपर्युक्त दृष्टिकोण तो जैनदर्शन को शकर के निकट खडा कर देता है। फिर भी यह मानना कि जैन-दृष्टि मे ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन हैं, जैन विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। यद्यपि जैन साधना मे ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का प्राथमिक एव अनिवार्य कारण है, फिर भी वह एकमात्र कारण नही माना जा सकता। ज्ञानाभाव मे मुक्ति सम्भव नही है, किन्तु मात्र ज्ञान से भी मुक्ति सम्भव नही है। जैन-आचार्यों ने ज्ञान को मुक्ति का अनिवार्य कारण स्वीकार करते हुए यह बताया कि श्रद्धा और चारित्र का आदर्शोन्मुख एवं सम्यक् होने के लिए ज्ञान महत्वपूर्ण तथ्य है, सम्यग्ज्ञान के अभाव मे श्रद्धा अन्धश्रद्धा होगी और चारित्र या सदाचरण एक ऐसी कागजी मुद्रा के समान होगा, जिसका चाहे बाह्य मूल्य हो, लेकिन आन्तरिक मूल्य शून्य ही है। आचार्य कुन्दकुन्द, जो ज्ञानवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे भी स्पष्ट कहते हैं कि कोरे ज्ञान से निर्वाण नही होता यदि श्रद्धा न हो और केवल श्रद्धा से भी निर्वाण नही होता यदि संयम (सदाचरण) न हो ।[8]

जैन-दार्शनिक शंकर के समान न तो यह स्वीकार करते हैं कि मात्र ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, न रामानुज प्रभृति भक्ति मार्ग के आचार्यों के समान यह स्वीकार करते हैं कि मात्र भक्ति से मुक्ति होती है। उन्हे मीमासा दर्शन की यह मान्यता भी ग्राह्य नही है कि मात्र कर्म से मुक्ति हो सकती है। वे तो श्रद्धा-समन्वित ज्ञान और कर्म दोनो से मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं।

---

१ दशवैकालिक, ४/१२।
२ उत्तराध्ययन, २८/३०।
३ व्यवहारभाष्य, ७/२१७।
४ समयसार टीका, १५३।
५ गीता (शां०) अ. ५ पीठिका।
६ समयसार टीका, १५५।
७ आचारांग, जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया, त पडुच्च पडिसंखाए। १/५/५
८ प्रवचनसार, चारित्राधिकार, ३।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध भी ऐकान्तिक नही—जैन विचारणा के अनुसार साधन-त्रय मे एक क्रम तो माना गया है यद्यपि इस क्रम को भी ऐकान्तिक रूप मे स्वीकार करना उसकी स्याद्वाद की धारणा का अतिक्रमण ही होगा। क्योकि जहाँ आचरण के सम्यक् होने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन आवश्यक हैं वही दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान एव दर्शन की उपलब्धि के पूर्व भी आचरण का सम्यक् होना आवश्यक है। जैनदर्शन के अनुसार जब तक तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायें समाप्त नही होती, तब तक सम्यक्-दर्शन और ज्ञान भी प्राप्त नही होता। आचार्य शकर ने भी ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व वैराग्य का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार सदाचरण और संयम के तत्व सम्यक्-दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि के पूर्ववर्ती भी सिद्ध होते हैं। दूसरे, इस क्रम या पूर्वापरता के आधार पर भी साधन त्रय मे किसी एक को श्रेष्ठ मानना और दूसरे को गौण मानना जैनदर्शन को स्वीकृत नही है। वस्तुत साधन-त्रय मानवीय चेतना के तीन पक्षो के रूप मे ही साधना-मार्ग का निर्माण करते हैं। धार्मिक चेतना के इन तीन पक्षो मे जैसी पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध रहा है, वैसी ही पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध मानवीय तीनो पक्षो मे है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोग से मुक्ति

साधना-मार्ग मे ज्ञान और क्रिया (विहित आचरण) के श्रेष्ठत्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक युग मे जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है वहाँ औपनिषदिक युग मे ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। भारतीय चिन्तको के समक्ष प्राचीन समय से ही यह समस्या रही है कि ज्ञान और क्रिया के बीच साधना का यथार्थ तत्व क्या है? जैन-परम्परा ने प्रारम्भ से ही साधना-मार्ग मे ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती युग में जब श्रमण परम्परा देहदण्डन परक तप-साधना मे और वैदिक परम्परा यज्ञयागपरक क्रिया-काण्डों मे ही साधना की इतिश्री मानकर साधना के मात्र आचरणात्मक पक्ष पर बल देने लगी थी, तो उन्होने उसे ज्ञान से समन्वित करने का प्रयास किया था। महावीर और उनके बाद जैन-विचारको ने भी ज्ञान और आचरण दोनो से समन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया। जैन-विचारको का यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं साख्य परम्पराओ की समीक्षा करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कहा गया कि कुछ विचारक मानते है कि पाप का त्याग किए बिना ही मात्र आर्यतत्व (यथार्थता) को जानकर ही आत्मा सभी दुखो से छूट जाती है—लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धात मे विश्वास करने वाले ये विचारक सयम का आचरण नही करते हुए केवल वचनो से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।[1] सूत्रकृताग में कहा है कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रो का जानकार हो अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो यदि उसका आचरण अच्छा नही है तो वह अपने कर्मों के कारण दुखी ही होगा।[2] अनेक भाषाओ एव शास्त्रो का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नही होता। मन्त्रादि विद्या भी उसे कैसे बचा सकती है? असद् आचरण मे अनुरक्त अपने आप को पण्डित मानने वाले लोग वस्तुत मूर्ख ही है।[3] आवश्यकनिर्युक्ति मे ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विस्तृत रूप मे है। उसके कुछ अश इस समस्या का हल खोजने मे हमारे सहायक हो सकेंगे। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि "आचरणविहीन अनेक शास्त्रो के ज्ञाता भी ससार समुद्र से पार नही होते। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से, बिना आचरण के कोई मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव मे जहाज को इच्छित किनारे पर नही पहुँचा सकता वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप-संयम रूप सदाचरण के अभाव मे मोक्ष प्राप्त नही कर सकता।"[4] मात्र जान लेने से कार्य-सिद्धि नही होती। तैरना जानते हुए भी कोई कायचेष्टा नही करे तो डूब जाता है, वैसे ही शास्त्रो को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नही करता, वह डूब जाता है।[5] जसे चन्दन ढोने वाला चन्दन से लाभान्वित नही होता, मात्र भार-वाहक ही बना रहता है वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नही होता।[6] ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक-प्रसिद्ध अंध-पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जैसे वन मे दावानल लगने पर पगु उसे देखते हुए भी गति के अभाव मे जल मरता है और अन्धा सम्यग् मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है वैसे ही आचरणविहीन ज्ञान पगु के समान है और ज्ञानचक्षुविहीन आचरण अन्धे के समान है। आचरणविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन आचरण दोनो निरर्थक हैं और संसार रूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता, अकेला अन्धा तथा अकेला पगु इच्छित साध्य तक

१ उत्तराध्ययन, ६/९-१०।
२ सूत्रकृतांग, २/१/७।
३ उत्तराध्ययन, ६/११।
४ आवश्यकनिर्युक्ति, ९५-९७।
५ वही, ११५१-५४।
६ आवश्यकनिर्युक्ति, १००।

नही पहुँचते, वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नही होती, वरन् दोनो के सहयोग से मुक्ति होती है।[1] व्याख्या प्रज्ञप्ति मे ज्ञान और क्रिया मे से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या विचारणा कहा गया है।[2] महावीर ने साधक की दृष्टि से ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध की एक चतुर्भंगी का कथन इसी सन्दर्भ मे किया है—

(१) कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र-सम्पन्न नहीं हैं।

(२) कुछ व्यक्ति चारित्र सम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं।

(३) कुछ व्यक्ति न ज्ञान सम्पन्न हैं, न चारित्र सम्पन्न हैं।

(४) कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न भी हैं और चारित्र-सम्पन्न भी हैं।

महावीर ने इनमे से सच्चा साधक उसे ही कहा जो ज्ञान और क्रिया, श्रुत और शील दोनो से सम्पन्न है। इसी को स्पष्ट करने के लिए निम्न रूपक भी दिया जाता है।

(१) कुछ मुद्रायें ऐसी होती हैं जिनमे धातु भी खोटी है मुद्राकन भी ठीक नही है।

(२) कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमे धातु तो शुद्ध है लेकिन मुद्राकन ठीक नही है।

(३) कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिनमे धातु अशुद्ध है लेकिन मुद्राकन ठीक है।

(४) कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिनमे धातु भी शुद्ध है और मुद्राकन भी ठीक है।

बाजार मे वही मुद्रा ग्राह्य होती है जिसमे धातु भी शुद्ध होती है और मुद्राकन भी ठीक होता है। इसी प्रकार सच्चा साधक वही होता है जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो और चारित्र सम्पन्न भी हो। इस प्रकार जैन-विचारणा यह बताती है कि ज्ञान और क्रिया दोनो ही नैतिक साधना के लिए आवश्यक हैं। ज्ञान और चारित्र दोनो की समवेत साधना से ही दुःख का क्षय होता है। क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनो ही एकान्त है और एकान्त होने के कारण जैन दर्शन की अनेकान्तवादी विचारणा के अनुकूल नही हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैन परम्परा मे साधन-त्रय के समवेत मे ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है जबकि वैदिक परम्परा मे ज्ञान-निष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनो ही अलग-अलग मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं और इन आधारो पर वैदिक परम्परा मे स्वतन्त्र सम्प्रदायो का उदय भी हुआ है। वैदिक परम्परा मे प्रारम्भ से ही कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग की धाराएँ अलग-अलग रूप मे प्रवाहित होती रही हैं। भागवत सम्प्रदाय के उदय के साथ भक्तिमार्ग एक नई निष्ठा के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार वेदो का कर्ममार्ग, उपनिषदो का ज्ञान-मार्ग और भागवत सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग तथा इनके साथ-साथ ही योग सम्प्रदाय का ध्यान-मार्ग सभी एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप मे मोक्ष मार्ग समझे जाते रहे है। सम्भवत गीता एक ऐसी रचना अवश्य है जो इन सभी साधना विधियों को स्वीकार करती है। यद्यपि गीताकार ने इन विभिन्न धाराओ को समेटने का प्रयत्न तो किया, लेकिन वह उनको समन्वित नही कर पाया। यही कारण था कि परवर्ती टीकाकारो ने अपने पूर्व-सस्कारो के कारण गीता को इनमे से किसी एक साधना-मार्ग का प्रतिपादन बताने का प्रयास किया और गीता मे निर्देशित साधना के दूसरे मार्गों को गौण बताया। शकर ने ज्ञान को, रामानुज ने भक्ति को, तिलक ने कर्म को गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय माना।

लेकिन जैन-विचारको ने इस त्रिविध साधना-पथ को समवेत रूप मे ही मोक्ष का कारण माना और यह बताया कि ये तीनो एक-दूसरे से अलग होकर नही, वरन् समवेत रूप मे ही मोक्ष को प्राप्त करा सकते हैं। उसने तीनो को समान माना और उनमे से किसी को भी एक के अधीन बनाने का प्रयास नही किया। हमे इस भ्राति से बचना होगा कि श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये स्वतन्त्र रूप मे नैतिक पूर्णता के मार्ग हो सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व और नैतिक साध्य एक पूर्णता है और उसे समवेत रूप मे ही पाया जा सकता है।

बौद्ध परम्परा और जैन परम्परा दोनो ही एकागी दृष्टिकोण नही रखते है। बौद्ध-परम्परा मे शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य को समवेत रूप मे ही निर्वाण का कारण माना गया है। इस प्रकार बौद्ध और जैन परम्पराएँ न केवल अपने साधन-मार्ग के प्रतिपादन मे, वरन्- साधनत्रय के बलाबल के विषय में भी समान दृष्टिकोण रखती हैं।

वस्तुतः नैतिक साध्य का स्वरूप और मानवीय प्रकृति, दोनो ही यह बताते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग अपने समवेत रूप मे ही नैतिक पूर्णता की प्राप्ति करा सकता है। यहाँ इस त्रिविध साधना-पथ का मानवीय प्रकृति और नैतिक साध्य से क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्ट कर लेना उपयुक्त होगा।

मानवीय प्रकृति और त्रिविध साधना-पथ

मानवीय चेतना के तीन कार्य है—(१) जानना, (२) अनुभव करना और (३) संकल्प करना। हमारी चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष न केवल जानना चाहता है, वरन् वह सत्य को ही जानना

---

७ आवश्यकनिर्युक्ति, १०१-१०२।

२ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ८/१०/४१।

चाहता है। ज्ञानात्मक चेतना निरन्तर सत्य की खोज मे रहती है। अत जिस विधि से हमारी ज्ञानात्मक चेतना सत्य को उपलब्ध कर सके उसे ही सम्यक् ज्ञान कहा गया है। सम्यक् ज्ञान चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सत्य की उपलब्धि की दिशा मे ले जाता है। चेतना का दूसरा पक्ष अनुभूति के रूप मे आनन्द की खोज करता है। सम्यग्दर्शन चेतना मे राग-द्वेषात्मक जो तनाव हैं, उन्हें समाप्त कर उसे आनन्द प्रदान करता है। चेतना का तीसरा सकल्पात्मक पक्ष शक्ति की उपलब्धि और कल्याण की क्रियान्विति चाहता है। सम्यक्चारित्र सकल्प को कल्याण के मार्ग मे नियोजित कर शिव की उपलब्धि करता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र का यह त्रिविध साधना-पथ चेतना के तीनो पक्षो को सही दिशा मे निर्देशित कर उनके वाछित लक्ष्य सत्, सुन्दर और शिव अथवा अनन्त ज्ञान, आनन्द और शक्ति की उपलब्धि कराता है। वस्तुत जीवन के साध्य को उपलब्ध करा देना ही इस त्रिविध साधना-पथ का कार्य है। जीवन का साध्य अनन्त एवं पूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द और अनत शक्ति की उपलब्धि है, जिसे त्रिविध साधना-पथ के तीनो अगो के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सम्यक्-ज्ञान की दिशा मे नियोजित कर ज्ञान की पूर्णता को, चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यग्दर्शन मे नियोजित कर अक्षय आनन्द की और चेतना के संकल्पात्मक पक्ष को सम्यक्चारित्र मे नियोजित कर अनन्त शक्ति की उपलब्धि की जा सकती है। वस्तुत जैन आचार दर्शन मे साध्य, साधक और साधना पथ तीनो मे अभेद माना गया है। ज्ञान, अनुभूति और सकल्पमय चेतना साधक है और यही चेतना के तीनो पक्ष सम्यक् दिशा मे नियोजित होने पर साधना-पथ कहलाते है और इन तीनो पक्षो की पूर्णता ही साध्य है। साधक, साध्य और साधना-पथ भिन्न-भिन्न नहीं, वरन चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उनमे अभेद माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार मे और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे इस अभेद को अत्यन्त मार्मिक शब्दो मे स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार मे कहते हैं कि यह आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।[1] आचार्य हेमचन्द्र इसी अभेद को स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र मे कहते हैं कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, क्योकि आत्मा इसी रूप मे शरीर मे स्थित है।[2] आचार्य ने यह कहकर कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप मे शरीर मे स्थित है, मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रकृति को ही स्पष्ट किया है। ज्ञान, चेतना और सकल्प तीनो सम्यक् होकर साधना-पथ का निर्माण कर देते हैं और यही पूर्ण होकर साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में साधक, साधना-पथ और साध्य मे अभेद है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

धर्म साधना के तीन मुख्य अग हैं—भक्ति, ज्ञान और कर्म। जैन परम्परा में इन्हें ही क्रमश सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र कहा गया है। इनमे सबसे पहले हम सम्यक्-दर्शन के स्वरूप पर विचार करेंगे। वस्तुत सम्यक्-दर्शन शब्द सम्यक् और दर्शन इन दो शब्दो से मिलकर बना है जिसका सीधा और सरल अर्थ है सही ढग से या अच्छी प्रकार से देखना। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अच्छी प्रकार से देखने का क्या तात्पर्य है? अच्छी प्रकार से देखने का एक तात्पर्य तो यह है कि विकार रहित दृष्टि से देखना। आँख की विकृति हमारी चक्षु इन्द्रिय के बोध को विकृत कर देती है यथा—पीलिया का रोगी सफेद वस्तु को भी पीली देखता है, ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन मे राग-द्वेष हमारी दृष्टि को विकृत कर देते हैं, उनकी उपस्थिति के कारण हम सत्य का उसके यथार्थ रूप मे दर्शन नही कर पाते हैं, जिस पर हमारा राग होता है उसके दोष नही दिखाई देते हैं और जिससे द्वेष होता है, उसके गुण दिखाई नही देते है। राग-द्वेष आँख पर चढे रगीन चश्मो के समान हैं जो सत्य को विकृत करके प्रस्तुत करते हैं। अत सामान्य रूप से सम्यक् दर्शन का अर्थ है—राग और द्वेष अर्थात् पूर्वाग्रह के घेरे से ऊपर उठकर सत्य का दर्शन करना। राग और द्वेष के कारण ही आग्रह और मतान्धता पनपती है और वही हमारे सत्य के बोध को रगीन या दूषित बना देती है। अत आग्रह और मतान्धता से रहित दृष्टि ही सम्यक्-दृष्टि है। सत्य के पास उन्मुक्त भाव से जाना होता है तभी सत्य के दर्शन होते हैं। जब तक हम राग-द्वेष, मतान्धता, आग्रह आदि से ऊपर उठकर सत्य को देखने का प्रयत्न नही करते हैं तब तक सत्य का यथार्थ स्वरूप हमारे सामने प्रकट नही होता है। अत आग्रह और पक्षपात से रहित दृष्टि ही सम्यक्दर्शन है।

जैन परम्परा मे सम्यक्दर्शन शब्द तत्व श्रद्धा तथा देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा के अर्थ मे भी रूढ है। लेकिन हमे यह समझ लेना चाहिए कि जब तक दृष्टि दूषित है तब तक श्रद्धा सम्यक् नही हो सकती है। दृष्टि के निर्दोष और निर्विकार होने पर सत्य का यथार्थ रूप मे दर्शन होगा और उस यथार्थ बोध पर जो श्रद्धा या आस्था होगी वही सम्यक् श्रद्धा होगी।

सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ उसका परवर्ती अर्थ है और भक्ति मार्ग के प्रभाव से जैन धर्म मे आया है। मूल अर्थ तो दृष्टिपरक ही है। लेकिन श्रद्धापरक अर्थ भी साधना के लिए कम महत्वपूर्ण नही है। यथार्थत: आत्म-बोध और अपनी विकृ-

१ समयसार, २७७।

२ योगशास्त्र, ४/१।

तियो को समझने के दो ही रास्ते है । या तो हम स्वय आग्रह, मतान्धता और राग-द्वेष के घेरे से उपर उठकर तटस्थ भाव से उनके द्रष्टा बनें, स्वयं अपने मे झाके और अपने को देखें अथवा फिर जिसने वीतराग दृष्टि से सत्य को देखा है उसके वचनो पर विश्वास करें। वीतराग के वचनो पर विश्वास या श्रद्धा—यह सम्यक् दर्शन का दूसरा अर्थ है। जिस प्रकार हमे अपनी बीमारी को समझने के लिए दो ही मार्ग होते है, एक तो जीवन के पूर्वापर अनुभवो की तुलना के द्वारा स्वय यह निश्चय करें कि हमारे स्वास्थ्य मे कोई विकृति है या फिर जो डाक्टर या विशेषज्ञ है उनकी बात पर विश्वास करें। उसी प्रकार जीवन के सत्य का या तो स्वयं अनुभव करें या फिर जिन्होने उसे जाना है उनके वचनो पर विश्वास करें। अत सम्यक् दर्शन का यह दूसरा अर्थ हमे यह बताता है कि यदि हम स्वयं जीवन के सत्य को और अपनी विकृतियो को समझने मे सक्षम नही हैं तो हमे वीतराग के वचनो पर श्रद्धा रखकर उन्हे जान लेना चाहिए। क्योकि एक बात निश्चित है कि जो रोग को रोग के रूप मे जान लेता है वही रोग की चिकित्सा करवाता है, और वही रोग से मुक्त होता है।

वस्तुत. आध्यात्मिक विकृतियो को जानने के लिए हमे तटस्थ भाव से अपने अन्दर झाकना होता है, अपनी वृत्तियो को देखना होता है यही सम्यक् दर्शन है। वस्तुत. कोई व्यक्ति सम्यक्दृष्टि है या नही—इसकी पहचान उसका बाह्य जीवन नही है अपितु इसकी पहचान है कि वह अपनी विकृतियो को, अपनी कषायो को और अपनी राग-द्वेष की वृत्तियो को कितना और किस रूप मे जान पाया है। वस्तुत. अपनी वृत्तियो का द्रष्टा ही सम्यक् द्रष्टा है। सम्यक् दर्शन अपने आपका दर्शन है। अपनी वृत्तियो का और अपनी भावनाओ का दर्शन है। वह अपने आपको पढना और देखना है। वस्तुत मैं सम्यक्दृष्टि हूँ या नही—इसकी पहचान इतनी ही है कि मैं अपनी मनोवृत्तियो को और कमियो को कहाँ तक और कितना जान पाया हूँ। क्या मैं यह देख पाया हूँ कि मुझमे क्रोध, मान, माया और लोभ के तत्व अथवा राग-द्वेष के भाव कहाँ तक छिपे बैठे हैं।

वस्तुत द्रष्टा या साक्षी भाव ही एक ऐसी अवस्था है जो हमे आध्यात्मिक विकृतियो से मुक्त कर सकती है। सम्यक्-दर्शन को साधना का मूल आधार कहने का तात्पर्य यही है कि जब तक व्यक्ति को अपनी वासनाओ और विकारो का बोध नही होगा तब तक उनके प्रति उसके हृदय मे एक ग्लानि उत्पन्न नही होगी और तब तक उनसे छुटकारा भी सम्भव नही है। क्योकि मनोविकृतियाँ तभी पनपती है जबकि हम उनके द्रष्टा नही बनते हैं। आचाराग सूत्र मे कहा गया है कि 'सम्यक्द्रष्टा कोई पाप नही करता।'[1] किन्तु यह बात हमारे सामने कुछ उलझन भी पैदा कर देती है, क्योकि शास्त्रो मे अविरत सम्यक्दृष्टि का भी उल्लेख है। अविरत सम्यक्-दृष्टि वह है जो अपने विषय वासनाओ या मनोविकृतियो को जानकर भी उनसे अपने को मुक्त नही कर पाता है। वैसे यह एक अनुभाविक तथ्य भी है कि सत्य को जानकर भी अनेक बार उसका आचरण सम्भव नही होता। महाभारत मे दुर्योधन कहता है—"मैं धर्म को जानता हूँ किन्तु उसका आचरण नही कर पाता हूँ, मैं अधर्म को भी जानता हूँ किन्तु उससे छुटकारा नही पा सकता हूँ।"[2] किन्तु यहाँ हमे यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा जानना केवल औपचारिक जानना है। क्या कोई विष को विष के रूप मे जानते हुए भी उसका भक्षण कर सकता है? वस्तुत बुराई को बुराई के रूप मे जानते हुए भी उसमे लिप्त रहना, कम से कम उसका सही रूप मे जानना तो नही कहा जा सकता, वह उस सत्य के प्रति हमारी निष्ठा का सूचक तो किसी भी स्थिति में नही माना जा सकता। यदि हम सत्य के प्रति निष्ठावान हैं, तो उसे हमारे जीवन व्यवहार मे अभिव्यक्त होना ही चाहिए।

वैसे जो आगम मे यह कहा गया है कि सम्यक्दृष्टि कोई पाप नही करता—उसका भी अपना एक अर्थ है। देखना और करना—ये दोनो ही मन की ही प्रवृत्तिया हैं और दोनो एक साथ सम्भव नही हैं। जिस समय मैं अपनी दुष्प्रवृत्तियो या अपने विषय-विकारो या वासनाओ का द्रष्टा होता हूँ, उसी समय मैं उनका कर्ता नही रह सकता हूँ। इस बात को एक सामान्य उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए, हम क्रोधित हैं। यदि उसी समय हम उस क्रोध के भाव को देखने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दें, उसके कारणो का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दें, तो निश्चित ही हमारा क्रोध समाप्त हो जायेगा। क्रोध को देखना और क्रोध करना, यह एक साथ सम्भव नही है। जब भी व्यक्ति अपने मनोभावो का द्रष्टा बनता है उस समय वह उनका कर्ता नही रह जाता है। जब भी हम वासनाओ मे होते हैं, आवेश मे होते हैं तब हम द्रष्टा भाव मे नही होते हैं, अप्रमत्त नही होते हैं, आत्मचेतन नही होते हैं, और जब आत्मचेतन होते हैं, द्रष्टा होते हैं, तो क्रोधादि विकारो के कर्ता नही होते। आत्मचेतन होना, द्रष्टा होना, अप्रमत्त होना, निष्पाप

---

१ सम्मत्तदसी न करेइ पाव—आचाराग १/३/२।

२ जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
महाभारत, उद्धृत, नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, डा. संगमलाल पाण्डेय, द्वितीय संस्करण, पृ. ३२१।

होना है। यही सम्यक् दर्शन है। जीवन मे जब इस प्रकार का द्रष्टाभाव आता है, तो वासनाएँ, विकार और आवेश अपने आप दूर होने लगते हैं। व्यक्ति निष्पाप और निर्विकार बनने लगता है। आवेश और तनाव शान्त होने लगते हैं और जीवन मे शाति और आनन्द प्रकट हो जाते हैं।

सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ और साधना के क्षेत्र मे उसकी आवश्यकता

यदि हम सम्यक् दर्शन को तत्वश्रद्धान या देव-गुरु धर्म के प्रति श्रद्धा के अर्थ के रूप मे लें तो भी साधना के क्षेत्र मे उसकी उपयोगिता स्पष्ट है। साधना के क्षेत्र मे श्रद्धा या आस्था के सम्बल के बिना प्रगति सम्भव नही है। व्यक्ति अपने गन्तव्य नगर के मार्ग को जानता हो किन्तु यदि उसे यह विश्वास न हो कि यही मार्ग उसे गन्तव्य तक पहुँचाएगा तो सम्भव है कि वह अपने पथ से विचलित हो जाये। आज हमारे जीवन के सारे व्यवहार और पारस्परिक सम्बन्ध आस्था के बल पर ही टिके हुए हैं। यदि मनुष्य समाज मे पारस्परिक आस्था और विश्वास न हो तो उसके अनेक दुष्परिणाम होते है। परिवार मे पारस्परिक विश्वास न रहने पर परिवार भंग हो जाता है। समाज मे पारस्परिक विश्वास न रहने पर समाज-जीवन भग हो जाता है। यदि समाज के सदस्यो मे पारस्परिक अविश्वास का भाव हो तो न केवल समाज टूटता है, अपितु उसमे पारस्परिक सघर्ष और हिंसा की दावाग्नि भी भडक उठती है। आज विश्व के राष्ट्रो मे पारस्परिक विश्वास का अभाव ही हमारी विध्वंसक अस्त्रो के दौड़ का मूलभूत कारण है। आज मानव समाज मे जो भी भय और आतंक का वातावरण बना हुआ है। उसका मूल कारण भी परस्पर एक दूसरे के प्रति विश्वास का अभाव ही है। आस्था की औषधि मनुष्य के तनाव और भय को दूर कर सकती है।

धार्मिक साधना के क्षेत्र मे आस्था के अनेक रूप दृष्टिगत होते हैं। मुख्यत. हम तीन प्रकार की आस्थाओ की चर्चा करना चाहेगे।

एक आस्था अपने आपके प्रति होती है।

दूसरी आस्था अपने सहयोगियो एव सघ के सदस्यों के प्रति होती है।

तीसरी आस्था परमात्मा के प्रति।

पहली आस्था जो आवश्यक है वह अपने प्रति होनी चाहिए। यदि हम अपने प्रति और अपनी क्षमताओ के प्रति आस्थावान नही हैं तो सम्भवत हम जीवन मे कुछ भी नही कर पायेंगे। आत्मविश्वास ही एक ऐसा सम्बल है, जो मनुष्य को कठिनाइयो मे साहस देता है और उसको सफलता के मार्ग पर आगे बढाता है। जिस व्यक्ति मे आत्मविश्वास नही होगा वह पग-पग पर खिन्न होगा, निराश होगा और इस प्रकार न केवल अपनी प्रगति से वचित रहेगा अपितु निराशा और अविश्वास के कारण उसका स्वय का जीवन भी अशात और विपादपूर्ण बन जाएगा। मन की क्षमता और शाति के लिए अपने आपके प्रति आस्था व विश्वास का होना आवश्यक है। निराशा से मुक्ति के लिए आस्था आवश्यक है क्योकि आस्था से आत्मशक्ति का प्रकटन होता है। आस्था के कारण ही आत्मा की अनन्त शक्ति का अहसास होता है।

जहाँ तक सामाजिक शाति और सद्‌भाव का प्रश्न है, वहाँ समाज मे पारस्परिक विश्वास व सद्‌भाव का होना आवश्यक है। यदि समाज के सदस्यों मे या इससे आगे बढकर कहे कि मानव समाज में परस्पर सद्‌भाव व आस्था नही होगी, यदि प्रत्येक मनुष्य मे निहित मानवीय गुणो के प्रति हमारा विश्वास नही जागेगा तो निश्चित ही अनावश्यक भय तथा आतक से ग्रस्त होंगे। जैन चिन्तको के अनुसार व्यक्ति में अपने आपके प्रति आस्था और समाज के प्रति वात्सल्यभाव का होना आवश्यक है। ये दोनो सम्यक्‌दर्शन के अंग माने गये हैं।

जहाँ तक परमात्मा के प्रति श्रद्धा या आस्था का प्रश्न है। जैन धर्म मे इसे वीतराग-देव के प्रति श्रद्धा के रूप मे अभिव्यक्त किया गया है। यद्यपि जैनधर्म को अनीश्वरवादी कहा जाता है और इसी आधार पर कभी-कभी यह भी मान लिया जाता है कि उसमे श्रद्धा या भक्ति का कोई स्थान ही नहीं है। किन्तु यह एक भ्रात धारणा ही है। चाहे जैन विचारक ससार के सृष्टा और नियामक के रूप मे किसी ईश्वर को न मानते हो, किन्तु आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में परमात्मस्वरूप मानकर वे उसके प्रति आस्था एवं श्रद्धा को अवश्य मानते हैं।

पुन. किसी पराशक्ति या परानियम के प्रति आस्था को भी उन्होंने जीवन मे आवश्यक माना है। इसे वे कर्म का नियम कहते हैं। उनके अनुसार यही एक ऐसा नियम है जो मनुष्य को दुःख और निराशा के क्षणो मे शाति प्रदान कर सकता है और व्यक्ति मे आशा की एक किरण प्रदान कर सकता है। क्योकि इसमे होनहार के साथ पुरुषार्थ को भी स्थान दिया गया है। यह मानता है कि भूत हमारे हाथ से निकल गया, किन्तु अपने भविष्य के निर्माता तो हम स्वय ही हैं। एक परानियमक के रूप मे कर्म सिद्धान मे जैनो की आस्था अटूट है और वही उन्हे दुःख और पीडा के क्षणो मे समभाव और शाति का सम्बल प्रदान करती है। एक जैन कवि कहता है—

रे जीव साहस आदरो, मत थावो तुम दीन।
सुख-दुःख आपद-सम्पदा, पूरब करम अधीन॥

कर्म नियम के प्रति यह अटूट आस्था ही एक ऐसा तत्व है जो हमारी समता को विचलित होने से बचा सकता है। इसी बात को एक अन्य रूप मे इस प्रकार कहा गया है—

ज्ञानी देखी ज्ञान में निश्चय वर्ते सोय।
जो जो पुदगल फरसना निश्चय फरसे सोय ॥

अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु ने जो अपने भावी के ज्ञान मे जान लिया है वह भवितव्यता घटित होती ही है। ऐसी स्थिति में हमे सुख हो या दुःख अपने मन की समता को विचलित नही होने देना चाहिए।

आस्था चाहे वह परानियम के प्रति हो या पराशक्ति के प्रति, निश्चित ही वह दुर्भाग्यपूर्ण क्षणो मे मनुष्य को एक शाति और शक्ति प्रदान करती है। जिन धर्मों मे ईश्वर के प्रति आस्था या श्रद्धा को आवश्यक माना गया है वे सभी यही उपदेश देते हैं कि व्यर्थ की दुश्चिन्ताओ और तनावो से तभी बचा जा सकता है जब वह अपनी समस्त इच्छाओ और आकाक्षाओ को ईश्वर के प्रति समर्पित कर दे और अपने को उस दैवी योजना का एक अग मानकर अपना जीवन-व्यवहार चलाये। जिस प्रकार एक छोटा बालक अपने माता-पिता की शरण मे समस्त भारी दुःख और चिन्ताओ से स्वय को मुक्त अनुभव करता है और आनन्द से जीवन व्यतीत करता है उसी प्रकार एक सच्चा साधक ईश्वर, कर्म नियम या प्रकृति की व्यवस्था—चाहे हम उसे कुछ भी कहे—पर अटल विश्वास रखकर अपने मन की शाति को बनाये रख सकता है। भक्ति और श्रद्धा का जो महत्व है वह इसलिए कि उसके माध्यम से हम एक निश्चिन्त और शांत जीवन जी सकते हैं। जीवन मे जो कुछ अच्छा या बुरा घटित होता है, सम्पदा और विपदा आती है, उसे प्रभु इच्छा या कर्म नियम की अटल व्यवस्था के रूप मे स्वीकार कर हम अपने मन की शाति को बनाये रख सकते हैं। मेरी दृष्टि मे श्रद्धा और भक्ति की साधना के क्षेत्र मे यही उपयोगिता है कि वह हमे आकाक्षाओ से, विक्षोभो से, तनावो से और अशान्त मनोदशाओ से मुक्त करके समता, समाधि और शान्ति प्रदान करती है।

फिर भी हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि इस श्रद्धा और भक्ति का अर्थ अन्धश्रद्धा या अन्धविश्वास नही है। वह मात्र विपदा के क्षणो में आत्म सन्तोष के लिए है। कर्म सिद्धात या ईश्वर के प्रति समर्पण का यह अर्थ भी नही है कि हम जीवन मे प्रयत्न या पुरुषार्थ को छोडकर भाग्यवादी और निष्कर्मण्य बन जायें। हमे स्पष्ट रूप से इस बात को विश्वास मे रखना होगा कि हम अपने नियामक हैं। कर्तव्य को करना यह हमारा दायित्व है। जैन धर्म मे आस्था और विश्वास का अर्थ कर्तव्य-विमुख होना नही है। जिस प्रकार समुद्र मे भटकते हुए जहाज के लिए स्वयं कुछ न करके भी प्रकाश-स्तम्भ एक त्राणदाता होता है। उसी प्रकार दुःख के सागर मे उतराते हम पामर प्राणियो के लिए वीतराग प्रभु हमारे लिए कुछ नही करता हुआ भी त्राणदाता होता है। वह एक प्रकाश-स्तम्भ है, मार्गदर्शक है, आदर्श है, जिसके आलोक मे हम अपनी यात्रा कर सकते है। किन्तु यह नही भूलना चाहिए कि यात्रा स्वय हमे करनी है। विष्णु पुराण मे कहा गया है कि—

स्वधर्मकर्मविमुख कृष्णकृष्णेति वादिन ।
ते हरिद्वेषिणो मूढ़ा धर्मार्थं जन्म यद्धरे ॥[1]

जो लोग अपने कर्तव्य को छोड बैठते हैं और केवल कृष्ण कृष्ण कहकर भगवान् का नाम जपते हैं वे वस्तुत. भगवान के शत्रु और पापी हैं। क्योकि धर्म की रक्षा के लिए तो स्वय भगवान ने भी जन्म लिया था। भक्ति मे त्याग कर्म-फल का करना है, कर्म (कर्तव्य) का नही। बाइबिल मे भी कहा गया है कि हर कोई जो ईशा ईशा पुकारता है स्वर्ग के राज्य मे प्रवेश नही कर पायेगा अपितु वह पायेगा जो परमपिता की इच्छा के अनुसार काम करता है। (बाइबिल जोन २-९-११)।

महावीर ने कहा है कि एक मेरा नाम स्मरण करता है, दूसरा मेरी आज्ञाओ का पालन करता है। उनमे जो मेरी आज्ञाओ का पालन करता है, वही सच्चे रूप मे मेरी उपासना करता है।[2]

वस्तुत श्रद्धा या भक्ति आवश्यक तो है किन्तु वह कर्तव्य-विमुखता की सूचक नही है। जिस प्रकार अपने पथ पर यह दृढ आस्था रखकर कि यह मुझे अपने गन्तव्य तक पहुँचायेगा, कोई व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। उसी प्रकार आस्था का सम्बल लेकर जो व्यक्ति जीवन मे कर्तव्य करता है वही जीवन मे अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। सन्त आनन्दघन ने स्पष्ट रूप से कहा है—

शुद्ध श्रद्धा विना सर्व किरिया करी,
छार पर लीपनो तेह जानो रे ॥

जिस प्रकार राख पर लीपना निरर्थक होता है उसी प्रकार श्रद्धा के अभाव मे धर्मक्रियाओ का कोई अर्थ नही है। किन्तु यह भी स्मरण रखना होगा कि आचरण के अभाव मे मात्र श्रद्धा का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता है।

जैन दर्शन मे भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं—

अजकुलगत केशरी लहे रे निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहे रे आतम शक्ति संभाल ॥

जिस प्रकार भेड-बकरियो के साथ पला हुआ सिंह का बच्चा

---

१ उद्धृत, भगवद्गीता (राधाकृष्णन्) भूमिका पृ. ७१।
२ आवश्यकवृत्ति पृ. ६६१-६६२, उद्धृत, अनुत्तरौपपातिकदशा भूमिका, पृ. २४।

वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकर के गुण-कीर्तन या स्तवन के द्वारा निज मे जिनत्व का बोध कर लेता है, स्वयं मे निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है।

जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान की स्तुति हमारी प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जागृत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। मात्र यही नही, वह हमे उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी देती है। जैन विचारको ने स्वीकार किया है कि भगवान की स्तुति के माध्यम से व्यक्ति अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि इसमे प्रयत्न व्यक्ति का ही होता है लेकिन साधना के आदर्श उन महापुरुषो का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त आवश्यक होता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा गया है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शनविशुद्धि होती है। उसका दृष्टिकोण सम्यक् बनता है और परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक विकास की दिशा मे आगे बढ सकता है।[1] यद्यपि जैन धर्म मे यह माना गया है कि भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है, तथापि इसका कारण परमात्मा की कृपा नही वरन् व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है। आवश्यकनिर्युक्ति में जैनाचार्य भद्रबाहु ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि भगवान के नामस्मरण से पाप क्षीण होते हैं।[2] आचार्य विनयचन्द्र भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं—

पाप-पराल को पुंज बन्यो अति, मानो मेरू आकारो।
ते तुम नाम हुताशन सेती, सहज ही प्रजलत सारो॥

हे प्रभु आपकी नामरूपी अग्नि मे इतनी शक्ति है कि उससे मेरू समान पाप समूह भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। किन्तु यह प्रभाव प्रभु के नाम का नही अपितु साधक की आत्मिक शक्ति का है। जैसे मालिक के जागने पर चोर भाग जाते हैं, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप के ध्यान से आत्म-चेतना या स्वशक्ति का भान होता है और पाप रूपी चोर भाग जाते हैं।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप एव स्थान

बन्धन या दु ख के कारणो की विवेचना मे लगभग सभी विचारको ने अज्ञान को एक प्रमुख तत्व माना है और इसलिए दु ख विमुक्ति के उपायो मे ज्ञान को प्रमुखता दी गई है। बन्धन या दु ख के कारण इस अज्ञान को मोह के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। वस्तुत अज्ञान के कारण अनात्म या पर मे आत्म-बुद्धि या अपनेपन का भाव उत्पन्न होता है, राग या ममता का सृजन होता है और यही समस्त दु खो एवं बुराइयो की जड है अत आसक्ति, राग या अनात्म मे आत्म-बुद्धि को समाप्त करने के लिए ज्ञान आवश्यक है। जैन परम्परा मे ऐसे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और ऐसे ज्ञान की प्रक्रिया को भेद-विज्ञान कहा गया है। वस्तुत भेद विज्ञान वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा साधक आत्म और अनात्म मे या स्व या पर मे भेद स्थापित करता है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार की टीका मे कहा है कि जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे सभी इसी भेद विज्ञान से हुए हैं और जो कोई बन्धन मे हैं वे सभी इसी भेद-विज्ञान मे अभाव के कारण हैं।[3] आत्मज्ञान भारतीय और पाश्चात्य सभी चिन्तको का मूलभूत उद्देश्य रहा है। अपने और पराये या स्व और पर मे भेद स्थापित कर लेना यही आसक्ति और ममत्व को तोडने का एकमात्र उपाय है। यद्यपि यह कहना तो सहज है कि "स्व" को स्व के रूप मे और पर के रूप में जानो, किन्तु यही साधना की सबसे कठिन प्रक्रिया भी है।

स्व को जानना तो अपने आप मे एक दार्शनिक समस्या है, क्योकि जो भी जाना जायेगा वह तो पर ही होगा। जानना हमेशा पर का ही हो सकता है। स्व तो वह है जो जानता है, ज्ञाता है। जो जानने वाला या ज्ञाता है वह ज्ञेय अर्थात् ज्ञान का विषय नही हो सकता। जिस प्रकार आँख समस्त विश्व को देख सकती है, लेकिन स्वय अपने आपको नही देख पाती है, नट स्वय अपने कन्धे पर नही चढ पाता है, उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा स्वयं को नही जान सकता। ज्ञाता जिसे भी जानेगा वह तो ज्ञान का विषय होने से उससे भिन्न होगा। इसीलिए उपनिषद् मे ऋषि को कहना पडा था कि "विज्ञाता को कैसे जाना जावेगा, जिससे सब कुछ जाना जाता है उसे कैसे जाना जाये।[4] वास्तविकता तो यह है कि जो सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है, जो स्वयं जानने वाला है उसे कैसे जाना जा सकता है। मैं जिस भाति पर को जान सकता हूँ उसी भाति स्वय को नहीं जान सकता। इसीलिए आत्मज्ञान जैसी सहज घटना भी दुरूह होती है। वस्तुत आत्मज्ञान वह ज्ञान नही है जिससे हम परिचित हैं। सामान्यज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का जानने वाला और जो कुछ जाना जाता है उसका भेद बना रहता है जबकि आत्मज्ञान मे यह भेद सम्भव ही नही। उसमे जो जानता है और जिसको जाना जाता है वे दोनो अलग-अलग नही होते। वस्तुत आत्मज्ञान की प्रक्रिया एक निषेधात्मक प्रक्रिया है उसमे हम इस बात से प्रारम्भ करते हैं कि मैं क्या नही हूँ। "पर" से या जो ज्ञान का विषय है उससे अपनी भिन्नता स्थापित करते जाना यही आत्मज्ञान की प्रक्रिया है। इसे ही भेद-विज्ञान कहा गया है।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र, २९/९।
२ आवश्यकनिर्युक्ति १०७६।
३ समयसार टीका १३१।
४ बृहदारण्यक २/४/१४।

अन्य दर्शनो मे इसे आत्म-अनात्म विवेक के नाम से जाना जा सकता है।

आचार्य कुन्दकुन्द समयसार मे इस भेद-विज्ञान की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— रूप आत्मा नही है क्योंकि वह कुछ नही जानता अत रूप अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

वर्ण आत्मा नही है क्योकि वह कुछ नही जानता अत वर्ण अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

गन्ध आत्मा नही है क्योकि वह कुछ नही जानता अतः गन्ध अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

रस आत्मा नही है क्योकि वह कुछ नही जानता अत रस अन्य है और आत्मा अन्य है. ऐसा जिन कहते है।

स्पर्श आत्मा नही है क्योकि वह कुछ नही जानता अत स्पर्श अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

कर्म आत्मा नही है, क्योकि कर्म कुछ नही जानते अत कर्म अन्य है और आत्मा अन्य है, ऐसा जिन कहते हैं।

अध्यवसाय आत्मा नही है क्योकि अध्यवसाय कुछ नही जानते (मनोभाव भी किसी ज्ञायक के द्वारा जाने जाते हैं वे स्वतः कुछ नही जानते, यथा—क्रोध के भाव को जानने वाला ज्ञायक उससे भिन्न है) अत अध्यवसाय अन्य है और आत्मा अन्य है।

अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप की दृष्टि से आत्मा न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है। अपने शुद्ध स्वरूप मे वह इनका कारण और कर्ता भी नही है।[1]

वस्तुत आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञाता स्वरूप में अवस्थित होता है, तो संसार के समस्त पदार्थ ही नही, वरन् उसकी अपनी चित्तवृत्तियाँ और मनोभाव भी उसे "पर" (स्व से भिन्न) प्रतीत होते हैं। जब वह "पर" को पर के रूप मे जान लेता है और उनसे अपनी पृथकता का बोध कर लेता है तव उसकी ममता या रागभाव समाप्त हो जाता है और वह अपने शुद्ध ज्ञायक स्व रूप को जानकर उसमे अवस्थित हो जाता है, यही वह अवसर होता है जब मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है, क्योकि जिसने पर को पर के रूप मे जान लिया है तो उसके लिए ममत्व या राग के लिए कोई स्थान नही रहता है। राग के गिर जाने पर वीतरागता का प्रकटन होता है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

भेदविज्ञान की इस प्रक्रिया मे आत्मा सबसे पहले वस्तुओ एव पदार्थों से अपनी भिन्नता का बोध करता है। चाहे अनुभूति के स्तर पर इनसे भिन्नता स्थापित कर पाना कठिन हो किन्तु ज्ञान के स्तर पर यह कार्य कठिन नही है। क्योकि यहाँ तादात्म्य नही रहता है अत पृथकता का बोध सुस्पष्ट रूप से होता है। किन्तु इसके बाद क्रमश उसे शरीर से, मनोवृत्तियो से एव स्वयं के रागादिक भावो से अपनी भिन्नता का बोध करना होता है, जो अपेक्षाकृत रूप से कठिन और कठिनतर है, क्योकि यहाँ इनके और हमारे बीच तादात्म्य का बोध बना रहता है फिर भी हमे यह जान लेना होगा कि जो कुछ पर के निमित्त से है वह हमारा स्वरूप नही है। हमारे रागादि भाव भी पर के निमित्त से हो हैं। अत वे हममे होते हुए भी हमारा निजस्वरूप नही हो सकते हैं। यद्यपि वे आत्मा मे होते हैं फिर भी आत्मा से भिन्न हैं, क्योकि उसका निजरूप नही है। जैसे गरम पानी मे रही हुई उष्णता, उसमे रहते हुए भी उसका स्वरूप नही है, क्योकि वह अग्नि के सयोग के कारण है वैसे ही रागादि भाव आत्मा मे होते हुए भी उसका अपना स्वरूप नही हैं। यह स्व-स्वरूप का बोध ही जैन साधना का सार है जिसकी विधि है भेदविज्ञान अर्थात् जो स्व से भिन्न है उसे (पर) के रूप मे जानकर उसमे रही हुई तादात्म्यता के बोध को तोड देना। ममता बन्धन शिथिल हो जाता है। वस्तुत जब साधक इस भेदविज्ञान के द्वारा यह जान लेता है कि पर क्या है तो उस पर के प्रति उसका अपनेपन का भाव भी समाप्त हो जाता है। वस्तुत जो कुछ भी पर है, अपने से भिन्न है वह सब सायोगिक है अर्थात् संयोगवश ही हमे मिला है। जो संयोगवश मिला है, उसका वियोग भी अनिवार्य है, जिसका वियोग होना है वह हमारे लिए दु.ख का कारण ही है। इसीलिए बौद्ध परम्परा मे भी कहा गया है जो अनात्म है अर्थात् पराया है वह अनित्य है, अर्थात् उसका वियोग या नाश अपरिहार्य है और जिसका वियोग या नाश अपरिहार्य है वह दुःख रूप ही है।[2] वस्तुत हमारा बन्धन और दु.ख इसीलिए हैं कि हम पहले अनात्म मे आत्मबुद्धि स्थापित करते हैं फिर उसके वियोग या नाश से अथवा नाश की सम्भावना से दुःखी होते हैं। जैसाकि हम पूर्व मे भी स्पष्ट कर चुके हैं दुःख या पीडा वही तक है जहाँ तक पर मे आत्मभाव है। हमारे जीवन का एक सामान्य अनुभव है कि हम प्रतिदिन अनेको को मरता हुआ देखते हैं या सुनते हैं, किन्तु उनकी मृत्यु हमारे हृदय को विचलित नही करती, हम सामान्यतया दुःखी नही होते, क्योकि उन पर हमारा कोई राग-भाव या ममत्व बुद्धि नही है, किन्तु जहा भी राग भाव जुड

१ समयसार, ३९२-४०३, नियमसार ७८-८१।

२ देखें—सयुत्तनिकाय, ३४/१/१/१; ३४/१/१/४; ३४/१/१/१२।

जाता है, ममत्वबुद्धि स्थापित हो जाती है, हम किसी को अपना मानने लगते हैं वहीं पर उसकी मृत्यु या वियोग हमे सताता है। अत दु ख की निवृत्ति का कोई उपाय हो सकता है तो वह यही कि ससार की वस्तुओ या व्यक्तियो के प्रति हमारा रागभाव समाप्त हो और यह राग-भाव समाप्त हो सकता है, जबकि हम सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्म-अनात्म के विवेक को प्राप्त कर सकते हैं। सम्यग्ज्ञान क्या है इसे स्पष्ट करते हुए जैनागमो मे कहा गया है—

एगो मे सासओ अप्पा णाणदंसण संजुओ।
सेसा मे बहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अर्थात् मैं ज्ञाताद्रष्टारूप अकेला आत्मा हूँ। शेष सभी मुझसे भिन्न हैं और सायोगिक हैं।[1]

हमे यह स्मरण रखना होगा कि हमारी जो भी सासारिक उपलब्धिया हैं, चाहे वह धनसम्पदा के रूप मे हो या पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि परिवार के रूप मे हो वह सभी केवल सयोगजन्य उपलब्धियाँ हैं। व्यक्ति के लिए पत्नी सबसे निकट होती हैं, अन्यतमा होती है, किन्तु हम जानते हैं कि वह केवल एक सायोगिक उपलब्धि है। दो प्राणी कही किसी परिस्थिति के कारण या संयोग के वश एक दूसरे के निकट आ जाते हैं, औ' एक दूसरे को अपना मान लेते हैं, यही अपनापन या ममता ही ससार है जो उसे बन्धन, दु ख तथा दुश्चिन्ताओ से जकड लेता है, वह उसके लिए अच्छा-बुरा क्या-क्या नही करता। वस्तुत सम्यग्ज्ञान का अर्थ है जीवन और जगत के यथार्थ स्वरूप को पहचानना। वस्तुत हम सम्यग्ज्ञान के अभाव मे अनित्य को नित्य मान बैठते हैं, पराये को अपना मान बैठते हैं और इसी कारण फिर दु खी होते हैं। हमारे यहाँ सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी की एक स्पष्ट पहचान बतायी गई है, कहा गया है कि—

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तरसूं न्यारा रहे, ज्यो धाय खिलावे बाल ॥

हम सब यह अच्छी तरह जानते हैं कि एक कर्तव्यनिष्ठ नर्स किसी बच्चे का लालन-पालन उसकी माँ की अपेक्षा भी बहुत अच्छी प्रकार से करती हैं, एक कर्तव्यनिष्ठ डाक्टर किसी व्यक्ति के जीवन को बचाने के लिए उसके पारिवारिक जनो की अपेक्षा अच्छी प्रकार से उस रोगी की परिचर्या करता है किन्तु नर्स और डाक्टर दोनो ही क्रमश. बालक और रोगी की पीडा और मृत्यु से उतने विचलित नही होते, जितने कि उनके पारिवारिक जन होते हैं। ऐसा क्यो होता है? इसका कारण स्पष्ट है, पारिवारिकजनो के प्रति हमारे मन मे एक ममत्वभाव होता है, एक अपनापन होता है, रागात्मकता होती है जबकि नर्स और डाक्टर के मन मे निरपेक्षता का भाव होता है। वे जो कुछ भी करते हैं कर्तव्यबुद्धि से करते हैं। एक ही काम एक व्यक्ति कर्तव्यबुद्धि से करता है, एक ममत्वबुद्धि से। जो ममत्वबुद्धि से करता है, वह विचलित होता है, दु खी होता है किन्तु जो कर्तव्यबुद्धि से करता है वह निरपेक्ष बना रहता है, तटस्थ बना रहता है। वस्तुत सम्यग्ज्ञान का मतलब है कि हम ससार मे जो कुछ भी करें, जैसा भी जीयें, वह सब कर्तव्यबुद्धि से करें और जीयें, ममत्वबुद्धि से नही, जो सासारिक उपलब्धिया हैं और जो सासारिक पीडायें और दु ख हैं, उनके प्रति हमारा निरपेक्षभाव रहे, हम उन्हे मात्र परिस्थिति जन्य समझें। सुख-दु ख, सयोग-वियोग मान-अपमान, प्रशंसा और निन्दा —ये सब सासारिक जीवन के अनिवार्य तत्व हैं। कोई भी इनसे बच नही पाता, ज्ञानी और अज्ञानी दोनो के ही जीवन मे सब तरह की परिस्थितियाँ आती हैं, अन्तर यही है कि ज्ञानी उन्हें जीवन की यथार्थता मानकर सम [illegible] से अर्थात् अपने चित्त की समता को नही खोते हुए उनका वेदन करता है, जबकि अज्ञानी उनमे विचलित हो जाता है, उनके कारण दु खी होता है। कहा भी है—

सुख दु ख आपद सम्पदा, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से, मूरख भुगते रोय ॥

वस्तुत सम्यग्ज्ञान का अर्थ है जीवन की अनुकूल एव प्रतिकूल स्थितियो मे अविचलित भाव से या समभाव से जीना। जब ज्ञान के द्वारा जीवन और जगत् के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है तो अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मे मन का समभाव साधता है। ज्ञान के द्वारा मन मे निराकुलता जगे, मन तनावो से मुक्त हो यही साधना के क्षेत्र मे ज्ञान की उपयोगिता है।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप

निश्चय दृष्टि से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है। मानसिक या चैत्तसिक जीवन में, समत्व की उपलब्धि चारित्र का पारमार्थिक या नैश्चयिक पक्ष है। वस्तुत चारित्र का यह पक्ष आत्म-रमण की स्थिति है। नैश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था मे ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था मे होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गये हैं। चेतना मे जब राग, द्वेष, कषाय और वासनाओ की अग्नि पूरी तरह शात हो जाती, तभी सच्चे नैतिक एव धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और [illegible] [illegible]ार मोक्ष का कारण होता है। अप्रमत्त चेतना [illegible] चारित्र का आधार है, राग, द्वेष, कषाय, वि[illegible] [illegible]लस्य और निद्रा से रहित अवस्था है। साधक [illegible] [illegible]क क्रिया

1 चन्दावेज्झय पइण्णयं १६०।

के सम्पादन मे आत्मजाग्रत होता है तब उसका आचरण बाह्य आवेगो और वासनाओ से चलित नही होता और तभी वह सच्चे अर्थों मे नैश्चयिक चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। वस्तुत ज्ञाता-द्रष्टा बनकर जीवन जीना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है।

व्यावहारिक सम्यक्-चारित्र का अर्थ आत्मनियन्त्रण या सयम है। पूर्व मे मानव प्रकृति की चर्चा करते हुए हमने इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था कि मनुष्य और पशु मे यदि कोई अन्तर है तो वह यह कि मनुष्य मे आत्मनियन्त्रण या सयम की सामर्थ्य होती है, जबकि पशु मे उस सामर्थ्य का अभाव होता है। पशु विशुद्ध रूप से एक प्राकृतिक जीवन जीता है, उसका समस्त व्यवहार प्रकृति के नियमो के अनुसार संचालित होता है। भूखा होने पर वह खाद्य सामग्री को प्राप्त करता है और उसका उपभोग करता है, किन्तु भूख के अभाव मे वह उपलब्ध खाद्य सामग्री को छूना तक नही है। इसके विपरीत मनुष्य ने प्रकृति से विमुख होकर जीवन जीने की एक शैली विकसित कर ली है। भूख से पीडित होकर एव खाद्य सामग्री के उपलब्ध होने पर भी वह खाने से इन्कार कर सकता है, तो दूसरी ओर वह पेट भरा होने पर भी अपनी प्रिय खाद्य सामग्री के लिए व्याकुल हो सकता है वह उसका उपभोग कर लेता है। मनुष्य मे एक ओर वासना की तीव्रता है तो दूसरी ओर सयम की क्षमता भी है। वस्तुत यह संयम उसकी साधना का मूल तत्त्व है। यह संयम ही उसे पशुत्व से ऊपर उठाकर देवत्व तक पहुँचाता है जबकि संयम के अभाव मे पशु से भी नीचे उतर जाता है एक दरिंदा या राक्षस बन जाता है। यह सयम साधना ही जैन धर्म और जैनाचार का मूल तत्व है। सदाचार या सम्यक् चारित्र के स्वरूप की विस्तृत चर्चा के पूर्व हमे सदाचार या दुराचार के मूलभूत दार्शनिक प्रश्नो की चर्चा करनी होगी।

जैन आचार शास्त्र की प्रमुख समस्याएं

जैन आचार के प्रमुख प्रश्नो मे सबसे प्रथम प्रश्न यह है कि जैनधर्म में सदाचार-दुराचार का आधार क्या है। वह कौनसा मानदण्ड है, जिसके आधार पर किसी कर्म को सदाचार या दुराचार की संज्ञा देते हैं। इसके साथ आचारशास्त्र की दूसरी समस्या यह कि क्या कोई भी कर्म या आचार निरपेक्ष रूप से सदाचार या दुराचार बना रहा है अथवा देश, काल और परिस्थिति के आधार पर उसमे परिवर्तन होता है। तीसरा इसी से जुड़ा हुआ उत्सर्ग मार्ग और अपवाद मार्ग का प्रश्न है। आगे हम इन्ही प्रश्नो पर चर्चा करेंगे।

जैन दर्शन में नैतिक प्रतिमानों का अनेकान्तवाद[1]

वस्तुतः मनुष्यो की नीति-सम्बन्धी अवधारणाओ मापदण्डो या प्रतिमानो की विविधता ही नैतिक निर्णयो की भिन्नता का कारण मानी जा सकती है। जब भी हम किसी आचरण का नैतिक मूल्यांकन करते हैं तो हमारे सामने नीति सम्बन्धी कोई मापदण्ड, प्रतिमान या मानक (Standard) अवश्य होता है, जिसके आधार पर हम व्यक्ति के चरित्र, आचरण अथवा कर्म का नैतिक मूल्याकन (Moral valuation) करते हैं। विभिन्न देश, काल, समाज और सस्कृतियो मे ये नैतिक मापदण्ड या प्रतिमान अलग-अलग रहे हैं और समय-समय पर इनमे परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन ग्रीक सस्कृति मे जहाँ साहस और न्याय को नैतिकता का प्रतिमान माना जाता था, वही परवर्ती ईसाई सस्कृति मे सहनशीलता और त्याग को नैतिकता का प्रतिमान माना जाने लगा। यह एक वास्तविकता है कि नैतिक प्रतिमान या नैतिकता के मापदण्ड अनेक रहे हैं तथा विभिन्न व्यक्ति और विभिन्न समाज अलग-अलग नैतिक प्रतिमानो का उपयोग करते रहे है। मात्र यही नही, एक ही व्यक्ति अपने जीवन मे भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न नैतिक प्रतिमानो का उपयोग करता है। नैतिक प्रतिमान के इस प्रश्न पर न केवल जनसाधारण मे अपितु नीतिवेत्ताओ मे भी गहन मतभेद है।

नैतिक प्रतिमानो (Moral Standards) की इस विविधता और परिवर्तनशीलता को लेकर अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। क्या कोई ऐसा सार्वभौम नैतिक प्रतिमान सम्भव है, जिसे सार्वलौकिक और सार्वकालिक मान्यता प्राप्त हो? यद्यपि अनेक नीतिवेत्ताओ ने अपने नैतिक प्रतिमान को सार्वलौकिक, सार्वकालीन एवं सार्वजनीन सिद्ध करने का दावा अवश्य किया है, किन्तु जब वे ही आपस मे एकमत नही है तो फिर उनके इस दावे को कैसे मान्य किया जा सकता है? नीतिशास्त्र के इतिहास की नियमवादी परम्परा मे कबीले के बाह्य नियमो की अवधारणा से लेकर अन्तरात्मा के आदेश तक तथा साध्यवादी परम्परा मे स्थूल स्वार्थमूलक सुखवाद से प्रारम्भ करके बुद्धिवाद, पूर्णतावाद और मूल्यवाद तक अनेक नैतिक प्रतिमान प्रस्तुत किये गये हैं।

यदि हम नैतिक मूल्याकन का आधार नैतिक आवेगो (Moral Sentiments) को स्वीकार करते हैं तो नैतिक मूल्याकन मे एकरूपता सम्भव नहीं होगी, क्योकि व्यक्तिनिष्ठ नैतिक आवेगो मे विविधता स्वाभाविक है। नैतिक आवेगो की इस विविधता को समकालीन विचारक एडवर्ड वेस्टरमार्क ने स्वयं

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखें—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भाग १, अध्याय ५, पृ. ११६-१७४।

स्वीकार किया है। उनके अनुसार इस विविधता का कारण व्यक्तियों के परिवेश, धर्म और विश्वासो मे पायी जाने वाली भिन्नता है। जो विचारक कर्म के नैतिक औचित्य एवं अनौचित्य के निर्धारण के लिए विधानवादी प्रतिमान अपनाते हैं और जाति, समाज, राज्य या धर्म द्वारा प्रस्तुत विधि-निषेध (यह करो और यह मत करो) की नियमावलियो को नैतिक प्रतिमान स्वीकार करते हैं उनमें भी प्रथम तो इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद है कि जाति (समाज), राज्य शासन और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत अनेक नियमावलियों मे से किसे स्वीकार किया जाये? पुन प्रत्येक जाति, राज्य और धर्मग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत ये नियमावलियाँ भी अलग-अलग हैं। इस प्रकार वाह्य विधानवाद नैतिक प्रतिमान का कोई एक सिद्धात प्रस्तुत कर पाने मे असमर्थ है। समकालीन अनुमोदनात्मक सिद्धात (Approbative Theories) जो नैतिक प्रतिमान को वैयक्तिक, रुचि-सापेक्ष अथवा सामाजिक एव धार्मिक अनुमोदन पर निर्भर मानते हैं, किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान का दावा करने मे असमर्थ हैं। व्यक्तियो का रुचिवैविध्य और सामाजिक आदर्शों मे पायी जाने वाली भिन्नताएँ सुस्पष्ट ही हैं। धार्मिक अनुशसा भी अलग-अलग होती है। एक धर्म जिन कर्मों का अनुमोदन करता है और उन्हे नैतिक ठहराता है, दूसरा धर्म उन्ही कर्मों को निषिद्ध और अनैतिक ठहराता है। वैदिक धर्म और इस्लाम जहाँ पशुवलि को वैध मानते हैं, वही जैन, वैष्णव और वौद्ध धर्म उसे अनैतिक और अवैध मानते हैं। निष्कर्ष यही है कि वे सभी सिद्धात किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान का दावा करने मे असमर्थ हैं, जो नैतिकता की कसौटी, वैयक्तिक रुचि, सामाजिक अनुमोदन अथवा धर्मशास्त्र की अनुशसा को मानते हैं।

अन्त प्रज्ञावाद अथवा सरल शब्दो मे कहें तो अन्तरात्मा के अनुमोदन का सिद्धात भी किसी एक नैतिक प्रतिमान को दे पाने मे असमर्थ है। यद्यपि यह कहा जाता है कि अन्तरात्मा के निर्णय सरल, सहज और अपरोक्ष होते हैं, फिर भी अनुभव यही वताता है कि अन्तरात्मा के निर्णयो मे एकरूपता नही होती। प्रथम तो स्वयं अन्त प्रज्ञावादी ही इस सम्वन्ध मे एकमत नहीं हैं कि इस अन्तःप्रज्ञा की प्रकृति क्या है, यह वौद्धिक है या भावनापरक। पुन यह मानना कि सभी की अन्तरात्मा एक-सी है, ठीक नही है, क्योकि अन्तरात्मा की संरचना और उसके निर्णय भी व्यक्ति के सस्कारो पर आधारित होते हैं। पशुवलि के सम्बन्ध मे मुस्लिम एवं जैन परिवारो मे संस्कारित व्यक्तियो के अन्तरात्मा के निर्णय एक समान नही होंगे। अन्तरात्मा कोई सरल तथ्य नही है, जैसाकि अन्त प्रज्ञावाद मानता है, अपितु यह विवेकात्मक चेतना के विकास, पारिवारिक एव सामाजिक संस्कारों तथा परिवेशजन्य तथ्यो द्वारा निर्मित एक जटिल रचना है और ये तीनो वातें हमारी अन्तरात्मा को और उसके निर्णयो को प्रभावित करती हैं।

इसी प्रकार साध्यवादी सिद्धात भी किसी सार्वभौम नैतिक मानदण्ड का दावा नहीं कर सके हैं। सर्वप्रथम तो उनमे इस प्रश्न को लेकर ही मतभेद है कि मानव जीवन का साध्य क्या हो सकता है? मानवतावादी विचारक, जो मानवीय गुण के विकास को ही नैतिकता की कसौटी मानते हैं इस वात पर परस्पर सहमत नही है कि आत्म-चेतना, विवेकशीलता और सयम मे किसे सर्वोच्च मानवीय गुण माना जाए। समकालीन मानवतावादियो मे जहाँ वारनर फिटे आत्मचेतनता को प्रमुख मानते हैं, वहाँ सी० वी० गर्नेट और इस्राइल लेविन विवेकशीलता को तथा इरविंग वविट आत्मसयम को प्रमुख नैतिक गुण मानते हैं। साध्यवादी परम्परा के सामने यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण रहा है कि मानवीय चेतना के ज्ञानात्मक, अनुभूत्यात्मक और संकल्पात्मक पक्ष मे से किसकी सन्तुष्टि को सर्वाधिक महत्व दिया जाए। इस सन्दर्भ मे सुखवाद और बुद्धिवाद का विवाद तो सुप्रसिद्ध ही है। सुखवाद जहाँ मनुष्य के अनुभूत्यात्मक (वासनात्मक पक्ष की सन्तुष्टि को मानव-जीवन का साध्य घोषित करता है; वहाँ वुद्धिवाद भावना निरपेक्ष बुद्धि के आदेशो के परिपालन मे ही नैतिक कर्तव्य की पूर्णता देखता है। इस प्रकार सुखवाद और बुद्धिवाद के नैतिक प्रतिमान एक दूसरे से भिन्न हैं। इसका मूल कारण दोनो की मूल्यदृष्टि की भिन्नता है, एक भोगवाद का समर्थक है, तो दूसरा वैराग्यवाद का। मात्र यही नही, सुखवादी विचारक भी "कौन-सा सुख साध्य है?" इस प्रश्न पर एकमत नही है? कोई वैयक्तिक सुख को साध्य वताता है तो कोई समष्टि सुख को अथवा अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख को। पुन यह सुख, ऐन्द्रिक सुख हो या मानसिक सुख हो अथवा आध्यात्मिक आनन्द हो, इस प्रश्न पर भी मतभेद है। वैराग्यवादी परम्पराएँ भी सुख को साध्य मानती हैं, किन्तु वे जिस सुख की वात करती हैं वह सुख वस्तुगत नही है, वह इच्छा, आसक्ति या तृष्णा के समाप्त होने पर चेतना की निर्द्वन्द्व, तनावरहित, समाधिपूर्ण अवस्था है। इस प्रकार सुख को साध्य मानने के प्रश्न पर उनमे आम सहमति होते हुए भी उनके नैतिक प्रतिमान भिन्न-भिन्न ही होंगे, क्योकि सुख की प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं।

यद्यपि पूर्णतावाद आत्मोपलब्धि को साध्य मानकर सुखवाद और बुद्धिवाद के वीच समन्वय साधने का प्रयत्न अवश्य करता है, किन्तु वह इस प्रयास मे सफल हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। पुन वह भी किसी एक सार्वभौम नैतिक प्रतिमान को प्रस्तुत कर सकता है, यह मानना भ्रातिपूर्ण है; क्योकि व्यक्तियो के हित न केवल भिन्न-भिन्न है, अपितु परस्पर विरोधी भी हैं।

रोगी का कल्याण और डाक्टर का कल्याण एक नही है, श्रमिक का कल्याण उसके स्वामी के कल्याण से पृथक ही है, किसी सार्वभौम शुभ (Universal good) की बात कितनी ही आकर्षक क्यो न हो, वह भ्राति ही है। वैयक्तिक हितो के योग के अतिरिक्त सामान्य हित (Common good) मात्र अमूर्त कल्पना है। न केवल व्यक्तियो के हित या शुभ अलग-अलग होगे अपितु दो भिन्न परिस्थितियो मे एक व्यक्ति के हित भी पृथक्-पृथक् होगे। एक ही व्यक्ति दो भिन्न-भिन्न स्थितियो मे दाता और याचक दोनो हो सकता है, किन्तु क्या दोनो स्थितियो मे उसका हित समान होगा ? समाज मे एक का हित दूसरे के हित का बाधक हो सकता है। मात्र यही नही, हमारा एक हित हमारे ही दूसरे हित मे बाधक हो सकता है। रसनेन्द्रिय या यौन वासना सन्तुष्टि के हित और स्वास्थ्य-सम्बन्धी हित (Good) सहगामी हो, यह आवश्यक नही है। वस्तुत यह धारणा कि मनुष्य का या मनुष्यो का कोई सामान्य शुभ है अपने आपमे यथार्थ है, जिसे हम सामान्य शुभ कहना चाहते है वह विभिन्न शुभो का एक ऐसा स्कन्ध है, जिसमे न केवल भिन्न-भिन्न शुभो की पृथक्-पृथक् सत्ता है, अपितु वे एक दूसरे के विरोध मे भी खड़े हुए हैं। शुभ एक नही, अनेक हैं और उनमे पारस्परिक विरोध भी है। क्या आत्मलाभ और आत्मत्याग के बीच कोई विरोध नही है ? यदि पूर्णतावादी निम्न आत्मा (Lower Self) के त्याग द्वारा उच्चात्मा (Higher Self) के लाभ की बात कहते हैं तो वे जीवन के इन दो पक्षो मे विरोध स्वीकार करते हैं। पुन निम्नात्मा भी हमारी आत्मा है और यदि हम उसके निषेध की बात स्वीकार करते हैं तो हमे पूर्णतावाद के सिद्धात को छोडकर प्रकारान्तर से बुद्धिवाद या वैराग्यवाद को ही स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार वैयक्तिक आत्मा और सामाजिक आत्मा का अथवा स्वार्थ और परार्थ का अन्तर्विरोध, भी समाप्त नही किया जा सकता है, इसीलिए मूल्यवाद किसी एक मूल्य की बात न कहकर "मूल्यो" या "मूल्य-विश्व" की बात करता है। मूल्यो की विपुलता के इस सिद्धात मे नैतिक प्रतिमान की विविधता स्वभावतया ही होगी, क्योकि प्रत्येक मूल्य का मूल्याकन किसी दृष्टि विशेष के आधार पर ही होगा। चूंकि मनुष्यो की जीवन दृष्टियाँ या मूल्यदृष्टियाँ विविध हैं, अत उन पर आधारित नैतिक प्रतिमान भी विविध ही होगे। पुनः, मूल्यवाद मे मूल्यो के तारतम्य को लेकर सदैव ही विवाद रहा है। एक दृष्टि से जो सर्वोच्च मूल्य लगता है, वही दूसरी दृष्टि से निम्न मूल्य हो सकता है। मनुष्य की जीवनदृष्टि या मूल्यदृष्टि का निर्माण भी स्वयं उसके सस्कारो एव परिवेशजन्य तथ्यो से प्रभावित होता है, अत. मूल्यवाद नैतिक प्रतिमान के सन्दर्भ मे विविधता की धारणा को ही पुष्ट करता है।

इस प्रकार हम देखते है कि नैतिक प्रतिमान के प्रश्न पर न केवल विविध दृष्टिकोणो से विचार हुआ है, अपितु उसका प्रत्येक सिद्धात स्वयं भी इतने अन्तर्विरोधो से युक्त है कि वह एक सार्वभौम नैतिक मापदण्ड होने का दावा करने मे असमर्थ है। आज भी इस सम्बन्ध मे किसी सर्वमान्य सिद्धांत का अभाव है।

वस्तुत नैतिक मानदण्डो की यह विविधता स्वाभाविक ही है और जो लोग किसी एक सर्वमान्य नैतिक प्रतिमान की बात करते हैं वे कल्पनालोक मे ही विचरण करते हैं। नैतिक प्रतिमानो की इस विविधता के कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो नैतिकता और अनैतिकता का यह प्रश्न उस मनुष्य के सन्दर्भ मे है जिसकी प्रकृति बहुआयामी (Multi dimensional) और अन्तर्विरोधो से परिपूर्ण है। मनुष्य केवल चेतनसत्ता नही है, अपितु चेतनायुक्त शरीर है, वह केवल व्यक्ति नही है, अपितु समाज मे जीने वाला व्यक्ति है। उसके अस्तित्व मे वासना और विवेक तथा वैयक्तिकता और सामाजिकता के तत्व समाहित हैं। यहाँ हमे यह भी समझ लेना है कि वासना और विवेक मे तथा व्यक्ति और समाज मे स्वभावत संगति (Harmony) नही है। वे स्वभावत एक-दूसरे के विरोध मे है। मनोवैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि "इड" (वासना-तत्व) और "सुपर-ईगो" (आदर्श तत्व) मानवीय चेतना के समक्ष प्रतिपक्षी के रूप मे ही उपस्थित होते हैं। उसमे समर्पण और शासन की दो विरोधी मूल प्रवृत्तियाँ एक साथ काम करती हैं। एक ओर वह अपनी अस्मिता को बचाये रखना चाहता है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व को व्यापक बनाना चाहता है समाज के साथ जुडना चाहता है। ऐसे बहुआयामी एवं अन्तर्विरोधो से युक्त सत्ता के शुभ या हित एक नही, अनेक होगे और जब मनुष्य के शुभ या हित (good) ही विविध हैं तो फिर नैतिक प्रतिमान भी विविध ही होगे। किसी परम शुभ (Ultimate good) की कल्पना परम सत्ता (Ultimate reality) के प्रसग मे चाहे सही भी हो, किन्तु मानवीय अस्तित्व के प्रसग मे सही नही है। मनुष्य को मनुष्य मानकर चलना होगा—ईश्वर मानकर नही, और एक मनुष्य के रूप मे उसके हित या साध्य विविध ही होंगे। साथ ही हितो या साध्यो की यह विविधता नैतिक प्रतिमानो की अनेकता को ही सूचित करेगी।

नैतिक प्रतिमान का आधार व्यक्ति की जीवन-दृष्टि या मूल्य-दृष्टि होगी, किन्तु व्यक्ति की मूल्य-दृष्टि या जीवन-दृष्टि व्यक्तियो के बौद्धिक विकास, सस्कार एव पर्यावरण के आधार पर ही निर्मित होती है। व्यक्तियो के बौद्धिक विकास, पर्यावरण और संस्कारों मे भिन्नताएँ स्वाभाविक हैं, अत. उनकी मूल्य-दृष्टियाँ अलग-अलग होगी और यदि मूल्य-दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न होगी तो नैतिक प्रतिमान भी विविध होंगे। यह एक आनुभविक तथ्य है कि विविध दृष्टिकोणो के आधार पर एक ही घटना का

नैतिक मूल्याकन अलग-अलग होता है। उदाहरण के रूप मे, परिवार-नियोजन की धारणा जनसख्या के बाहुल्य वाले देशों की दृष्टि से चाहे उचित हो, किन्तु अल्प जनसख्या वाले देशो एव जातियो की दृष्टियो से अनुचित होगी। राष्ट्रवाद अपनी प्रजाति की अस्मिता की दृष्टि से चाहे अच्छा हो, किन्तु सम्पूर्ण मानवता की दृष्टि से अनुचित है। हम भारतीय ही एक ओर जातिवाद एव सम्प्रदायवाद को कोसते हैं तो दूसरी ओर भारतीयता के नाम पर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। क्या हम यहाँ दोहरे मापदण्ड का उपयोग नही कर रहे हैं? स्वतन्त्रता की बात को ही लें। क्या स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुशासन सहगामी होकर चल सकते है? आपातकाल को ही लीजिये, वैयक्तिक स्वतन्त्रता के हनन की दृष्टि से या नौकरशाही के हावी होने की दृष्टि से हम उसकी आलोचना कर सकते हैं किन्तु अनुशासन बनाये रखने और अराजकता को समाप्त करने की दृष्टि से उसे उचित ठहराया जा सकता है। वस्तुत उचितता और अनुचितता का मूल्याकन किसी एक दृष्टिकोण के आधार पर न होकर विविध दृष्टिकोणो के आधार पर होता है, जो एक दृष्टिकोण या अपेक्षा से नैतिक हो सकता है, वही दूसरे दृष्टिकोण या अपेक्षा से अनुचित हो सकता है, जो एक परिस्थिति मे उचित हो सकता है, वही दूसरी परिस्थिति में अनुचित हो सकता है। जो एक व्यक्ति के लिए उचित है, वही दूसरे के लिए अनुचित हो सकता है। एक स्थूल शरीर वाले व्यक्ति के लिए स्निग्ध पदार्थों का सेवन अनुचित है, किन्तु कृशकाय व्यक्ति के लिए उचित है। अत हम कह सकते हैं कि नैतिक मूल्याकन के विविध दृष्टिकोण हैं और इन विविध दृष्टिकोणो के आधार पर विविध नैतिक प्रतिमान बनते हैं, जो एक ही घटना का अलग-अलग नैतिक मूल्याकन करते हैं।

नैतिक मूल्याकन परिस्थिति-सापेक्ष एवं दृष्टि-सापेक्ष मूल्याकन हैं, अत उनकी सार्वभौम सत्यता का दावा करना भी व्यर्थ है। किसी दृष्टि-विशेष या अपेक्षा-विशेष के आधार पर ही वे सत्य होते हैं। संक्षेप मे, सभी नैतिक प्रतिमान मूल्य-दृष्टि-सापेक्ष हैं और मूल्य-दृष्टि स्वय व्यक्तियो के बौद्धिक विकास, संस्कार तथा सास्कृतिक, सामाजिक एवं भौतिक पर्यावरण पर निर्भर करती है और चूंकि व्यक्तियो के बौद्धिक विकास, सस्कार तथा सास्कृतिक, सामाजिक एव भौतिक पर्यावरण मे विविधता और परिवर्तनशीलता है, अत नैतिक प्रतिमानो मे विविधता या अनेकता स्वाभाविक ही है।

वैयक्तिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान सामाजिक शुभ की दृष्टि से प्रस्तुत नैतिक प्रतिमान से भिन्न होगा। इसी प्रकार वासना पर आधारित नैतिक प्रतिमान विवेक पर आधारित नैतिक प्रतिमान से अलग होगा। राष्ट्रवाद से प्रभावित व्यक्ति की नैतिक कसौटी अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थक व्यक्ति की नैतिक कसौटी से पृथक् होगी। पूंजीवाद और साम्यवाद के नैतिक मानदण्ड भिन्न-भिन्न ही रहेंगे। अत हमे नैतिक मानदण्डो की अनेकता को स्वीकार करते हुए यह मानना होगा कि प्रत्येक नैतिक मानदण्ड अपने उस दृष्टिकोण के आधार पर ही सत्य है।

कुछ लोग यहाँ किसी परम शुभ की अवधारणा के आधार पर किसी एक नैतिक प्रतिमान का दावा कर सकते हैं, किन्तु वह परम शुभ या तो इन विभिन्न शुभो या हितो को अपने मे अन्तर्निहित करेगा, या इनसे पृथक् होगा, यदि वह इन भिन्न-भिन्न मानवीय शुभो को अपने मे अन्तर्निहित करेगा तो वह भी नैतिक प्रतिमानो की अनेकता को स्वीकार करेगा, और यदि वह इन मानवीय शुभो से पृथक् होगा तो नीतिशास्त्र के लिए व्यर्थ ही होगा, क्योकि नीतिशास्त्र का पूरा सन्दर्भ मानव-सन्दर्भ है। नैतिक प्रतिमान का प्रश्न तभी तक महत्वपूर्ण है जब तक मनुष्य मनुष्य है, यदि मनुष्य मनुष्य के स्तर से ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त कर लेता है या मनुष्य के स्तर से नीचे उतरकर पशु बन जाता है तो उसके लिए नैतिकता या अनैतिकता का कोई अर्थ ही नही रह जाता है और ऐसे यथार्थ मनुष्य के लिए नैतिकता के प्रतिमान अनेक ही होगे। नैतिक प्रतिमानो के सन्दर्भ मे यही अनेकान्तदृष्टि सम्यग्दृष्टि होगी। इसे हम नैतिक प्रतिमानों का अनेकान्तवाद कह सकते हैं।

जैन दर्शन में सदाचार का मानदण्ड

फिर भी मूल प्रश्न यह है कि जैन दर्शन का चरम साध्य क्या है? जैन दर्शन अपने चरम साध्य के बारे मे स्पष्ट है। उसके अनुसार व्यक्ति का चरम साध्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति है, वह यह मानता है कि जो आचरण निर्वाण या मोक्ष की दिशा मे जाता है वही सदाचार की कोटि मे आता है। दूसरे शब्दो मे जो आचरण मुक्ति का कारण है वह सदाचार है, और जो आचरण बन्धन का कारण है, वह दुराचार है। किन्तु यहाँ पर हमें यह भी स्पष्ट करना होगा कि उसका मोक्ष अथवा निर्वाण से क्या तात्पर्य है। जैन धर्म के अनुसार निर्वाण या मोक्ष स्वभाव-दशा एव आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। वस्तुतः हमारा जो निज स्वरूप है उसे प्राप्त कर लेना अथवा हमारी बीजरूप क्षमताओ को विकसित कर आत्मपूर्णता की प्राप्ति ही मोक्ष है। उसकी पारम्परिक शब्दावली मे परभाव से हटकर स्वभाव मे स्थित हो जाना ही मोक्ष है। यही कारण था कि जैन दार्शनिको ने धर्म की एक विलक्षण एव महत्वपूर्ण परिभाषा दी है। उनके अनुसार धर्म वह है जो वस्तु का निज स्वभाव है (वत्थुसहावो धम्मो)। व्यक्ति का धर्म या साध्य वही हो सकता है जो उसकी चेतना या आत्मा का निज स्वभाव है और जो हमारा निज स्वभाव है उसी को पा लेना ही मुक्ति है। अत उस स्वभाव

दशा की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचरण कहा जा सकता हैं।

पुनः प्रश्न यह उठता है कि हमारा स्वभाव क्या है ? व्याख्याप्रज्ञप्ति मे गौतम ने भगवान महावीर के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित किया था। वे पूछते हैं, "भन्ते ! आत्मा का निज स्वरूप क्या है और आत्मा का साध्य क्या है ?" महावीर ने उनके इन प्रश्नो का जो उत्तर दिया था वही आज भी समस्त जैन आचारदर्शन मे किसी कर्म के नैतिक मूल्याकन का आधार है। महावीर ने कहा था, "आत्मा समत्व स्वरूप है और उस समत्व स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का साध्य है।" दूसरे शब्दो मे समता स्वभाव है और विषमता विभाव है। और जो विभाव से स्वभाव की दिशा मे अथवा विषमता से समता की दिशा मे ले जाता है वही धर्म है, नैतिकता है, सदाचार है। अर्थात् विषमता से समता की ओर ले जाने वाला आचरण ही सदाचार है। संक्षेप मे जैन धर्म के अनुसार सदाचार या दुराचार के मानदण्ड समता एवं विषमता अथवा स्वभाव एवं विभाव के तत्व हैं। स्वभाव से फलित होने वाला आचरण सदाचार है और विभाव या परभाव से फलित होने वाला आचरण दुराचार है।

यहाँ हमे समता के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से समता का अर्थ परभाव से हटकर शुद्ध स्वभाव दशा मे स्थित हो जाना है, किन्तु अपनी विविध अभिव्यक्तियों की दृष्टि से विभिन्न स्थितियो मे इसे विभिन्न नामो से पुकारा जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से समता या स्वभाव का अर्थ राग-द्वेष से ऊपर उठकर वीतरागता या अनासक्त भाव की उपलब्धि है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक समत्व का अर्थ है—समस्त इच्छाओ, आकाक्षाओ से रहित मन की शात एव विक्षोभ (तनाव) रहित अवस्था। यही समत्व जब हमारे सामुदायिक या सामाजिक जीवन मे फलित होता है तो इसे हम अहिंसा के नाम से अभिहित करते हैं। वैचारिक दृष्टि से इसे हम अनाग्रह या अनेकान्त दृष्टि कहते हैं। जब हम इसी समत्व के आर्थिक पक्ष से विचार करते हैं तो अपरिग्रह के नाम से जानते है। साम्यवाद एवं न्यासी-सिद्धात इसी अपरिग्रह वृत्ति की आधुनिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह समत्व ही मानसिक क्षेत्र मे अनासक्ति या वीतरागता के रूप मे, सामाजिक क्षेत्र मे अहिंसा के रूप मे, वैचारिकता के क्षेत्र मे अनाग्रह या अनेकान्त के रूप मे और आर्थिक क्षेत्र मे अपरिग्रह के रूप मे अभिव्यक्त होता है। अत. जैन धर्म के अनुसार समत्व निर्विवाद रूप से सदाचार का मानदण्ड स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु "समत्व" को सदाचार का मानदण्ड स्वीकार करते हुए भी हमे उसके विविध पहलुओ पर विचार तो करना ही होगा क्योकि सदाचार का सम्बन्ध अपने साध्य के साथ-साथ उन साधनो से भी होता है जिसके द्वारा हम उसे पाना चाहते हैं और जिस रूप मे वह हमारे व्यवहार मे और सामुदायिक जीवन मे प्रकट होता है।

जहाँ तक व्यक्ति के चैतसिक या आन्तरिक समत्व का प्रश्न है हमे उसे वीतराग मनोदशा या अनासक्त चित्तवृत्ति की साधना मान सकते हैं। फिर भी समत्व की साधना का यह रूप हमारे वैयक्तिक एव आन्तरिक जीवन से अधिक सम्बन्धित है। यह व्यक्ति की मनोदशा का परिचायक है। यह ठीक है कि व्यक्ति की मनोदशा का प्रभाव उसके आचरण पर भी होता है और हम व्यक्ति के आचरण का मूल्याकन करते समय उसके इस आन्तरिक पक्ष पर विचार भी करते हैं किन्तु फिर भी यह सदाचार या दुराचार का प्रश्न हमारे व्यवहार के बाह्य पक्ष एव सामुदायिक के साथ अधिक जुडा है। जब भी हम सदाचार एव दुराचार के किसी मानदण्ड की बात करते हैं, तो हमारी दृष्टि व्यक्ति के आचरण के बाह्य पक्ष पर अथवा उस आचरण का दूसरो पर क्या प्रभाव या परिणाम होता है, इस बात पर अधिक होती है। सदाचार या दुराचार का प्रश्न केवल कर्ता के आन्तरिक मनोभावो या वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित नही है वह आचरण के बाह्य प्रारूप तथा हमारे सामाजिक जीवन मे इसके आचरण परिणामो पर विचार करता है। यहाँ हमे सदाचार और दुराचार की व्याख्या के लिए कोई ऐसी कसौटी खोजनी होगी जो आचार के बाह्य पक्ष अथवा हमारे व्यवहार के सामाजिक पक्ष को भी अपने मे समेट सके। सामान्यतया भारतीय चिन्तन मे इस सम्बन्ध मे एक सर्वमान्य दृष्टिकोण यह है कि परोपकार ही पुण्य है और परपीडा ही पाप है। तुलसीदास ने इसे निम्न शब्दो मे प्रकट किया है—

"परहित सरिस धरम नहिं भाई,
पर-पीडा सम नहिं अधमाई।"

अर्थात् वह आचरण जो दूसरो के लिए कल्याणकारी या हितकारी है सदाचार है, पुण्य है, और जो दूसरो के लिए अकल्याणकारी है, अहितकर है, वही पाप है, दुराचार है। जैन धर्म मे सदाचार के एक ऐसे ही मानदण्ड की चर्चा हमे आचाराग सूत्र मे उपलब्ध होती हैं। वहाँ कहा गया है "भूतकाल मे जितने अर्हत् हो गये है वर्तमान काल मे जितने अर्हत् हैं और भविष्य मे जितने अर्हत् होंगे वे सभी यह उपदेश करते हैं कि सभी प्राणी सभी भूतो, सभी जीवो और सभी सत्वो को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नही देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है।" किन्तु मात्र दूसरे की हिंसा नहीं करने के अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष का या दूसरो के हित साधन को ही सदाचार की कसौटी नही माना जा सकता है। ऐसी अवस्थाएँ सम्भव हैं कि जब मेरे असत्य सम्भाषण एवं अनैतिक आचरण के द्वारा दूसरो का हित-

साधन होता हो, अथवा कम से कम किसी का अहित न होता हो, किन्तु क्या ऐसे आचरण को सदाचार कहने का साहस कर सकेंगे ? क्या वेश्यावृत्ति के माध्यम से अपार धनराशि को एकत्रित कर उसे लोकहित के लिए व्यय करने मात्र से कोई स्त्री सदाचारी की कोटि मे आ सकेगी ? अथवा यौन वासना की सन्तुष्टि के वे रूप जिसमे किसी भी दूसरे प्राणी की हिंसा नही होती है, दुराचार की कोटि मे नही आयेंगे ? सूत्रकृताग मे सदाचारिता का एक ऐसा ही दावा अन्यतीर्थियो द्वारा प्रस्तुत भी किया गया था, जिसे महावीर ने अमान्य कर दिया था। क्या हम उस व्यक्ति को जो डाके डालकर उस सम्पत्ति को गरीबों मे वितरित कर देता है, सदाचारी मान सकेंगे। एक चोर और एक सन्त दोनो ही व्यक्ति को सम्पत्ति के पाश से मुक्त करते हैं फिर भी दोनो समान कोटि के नही माने जाते। वस्तुत सदाचार या दुराचार का निर्णय केवल एक ही आधार पर नही होता है। उसमे आचरण का प्रेरक आन्तरिक पक्ष अर्थात् उसकी मनोदशा और आचरण का वाह्य परिणाम अर्थात् सामाजिक जीवन पर उसका प्रभाव दोनो ही विचारणीय हैं। आचार की शुभाशुभता विचार पर, और विचार या मनोभावो की शुभाशुभता स्वय व्यवहार पर निर्भर करती है। सदाचार या दुराचार का मानदण्ड तो ऐसा होना चाहिए जो इन दोनो को समाविष्ट कर सके।

साधारणतया जैन धर्म सदाचार का मानदण्ड अहिंसा को स्वीकार करता है, किन्तु यहाँ हमे यह विचार करना होगा कि क्या केवल किसी को दुख या पीडा नही देना या किसी की हत्या नहीं करना मात्र ही अहिंसा है ? यदि अहिंसा की मात्र इतनी ही व्याख्या है तो फिर यह सदाचार और दुराचार का मानदण्ड नहीं बन सकती। जबकि जैन आचार्यों ने सदैव ही उसे सदाचार का एकमात्र आधार प्रस्तुत किया है। आचार्य अमृत चन्द्र ने कहा है कि अनृतवचन, स्तेय, मैथुन, परिग्रह आदि पापों के जो भिन्न-भिन्न नाम दिये गये वे तो केवल शिष्यबोध के लिए हैं। मूलत तो वे सब हिंसा ही हैं। वस्तुत जैन आचार्यों ने अहिंसा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य मे विचारा है। वह आन्तरिक भी है और वाह्य भी। उसके सम्बन्ध व्यक्ति से भी हैं और समाज से भी। इसे जैन परम्परा मे स्व की हिंसा और पर की हिंसा ऐसे दो भागो मे वाटा गया है। जब वह हमारे स्व-स्वरूप या स्वभाव दशा का घात करती है तो स्व-हिंसा है और जब वह दूसरों के हितो को चोट पहुँचाती है, वह पर की हिंसा है। स्व की हिंसा के रूप मे वह आन्तरिक पाप है तो पर की हिंसा के रूप मे वह सामाजिक पाप। किन्तु उसके ये दोनो रूप दुराचार की कोटि मे ही आते हैं। अत अपने इस व्यापक अर्थ मे हिंसा को दुराचार की और अहिंसा को सदाचार की कसौटी माना जा सकता है।

जैन दर्शन मे सदाचार और दुराचार की सापेक्षता और निरपेक्षता का प्रश्न

पश्चिम की तरह भारत मे भी नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्षो पर काफी गहन विचार हुआ है। नैतिक कर्मों की अपवादात्मकता और निरपवादिता की चर्चा के स्वर वेदो, स्मृति ग्रन्थो और पौराणिक साहित्य मे काफी जोरों से सुनाई देते हैं।[1] जैन विचारणा के अनुसार, नैतिकता को एकान्तिक रूप से न तो सापेक्ष कहा जा सकता है और न निरपेक्ष। यदि वह सापेक्ष है तो इसीलिए कि वह निरपेक्ष भी है।[2] निरपेक्ष के अभाव मे सापेक्ष सच्चा नही है। वह निरपेक्ष इसलिए है कि वह सापेक्षता से ऊपर भी है। नैतिकता की सापेक्षता एव निरपेक्षता के प्रश्न का एकान्तिक हल जैन विचारणा प्रस्तुत नही करती। वह नैतिकता को सापेक्ष मानते हुए भी उसमे निरपेक्षता के सामान्य तत्व की अवधारणा करती है। वह सापेक्षिक नैतिकता की उस कमजोरी को स्पष्ट रूप से जानती थी कि उसमे नैतिक आदर्श के रूप मे जिस सामान्य तत्व की आवश्यकता होती है, उसका अभाव होता है। सापेक्ष नैतिकता आचरण के तथ्यो को प्रस्तुत करती है, लेकिन आचरण के आदर्श को नही। यही कारण है कि जैन विचारणा ने भी इस समस्या के निराकरण के लिए वही समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया था, जिसे स्पेन्सर और डिवी ने अपनी दार्शनिक पृष्ठभूमि के नवीन सन्दर्भों मे वर्तमान युग में प्रस्तुत किया है।

इस प्रश्न पर गहराई से विचार करना आवश्यक है कि जैन नैतिकता किस अर्थ मे सापेक्ष है और किस अर्थ मे निरपेक्ष है। जैन तत्व ज्ञान अनेकान्त-सिद्धांत को आधार मानकर चलता है। उसके अनुसार, सत् अनन्त धर्मात्मक है, अत सत् सम्बन्धी प्राप्त सारा ज्ञान आंशिक ही होगा, पूर्ण नहीं होगा। हम सब जो नैतिकता के क्षेत्र मे आते हैं अथवा जो उसके आचरण में लगे हुए हैं, पूर्ण नहीं हैं। हमे अपनी अपूर्णता का स्पष्ट बोध है। अत हम जो भी जानेंगे वह अपूर्ण ही होगा, सान्त होगा, समक्ष होगा, और इसलिए आंशिक एव सापेक्ष होगा। और यदि ज्ञान ही सापेक्ष होगा तो हमारे नैतिक निर्णय भी, जो हम अपने प्राप्त ज्ञान के आधार पर देते हैं, सापेक्ष ही होगे। इस प्रकार अनेकात की धारणा से नैतिक निर्णयो की सापेक्षता निष्पन्न होती है।

---

१ देखिए, गीतारहस्य, अध्याय २, कर्मजिज्ञासा।

२ स्वयम्भूस्तोत्र, १०३।

आचरण के जिन तथ्यो को हम शुभ-अशुभ अथवा पुण्य-पाप के नाम से सम्बोधित करते हैं, उनके सन्दर्भ मे साधारण व्यक्ति द्वारा दिये गये निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। हमारे निर्णयो के देने मे कम से कम कर्ता के प्रयोजन एव कर्म के परिणाम के पक्ष तो उपस्थित होते ही हैं। दूसरे व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध मे दिये गये हमारे अधिकाश निर्णय परिणाम-सापेक्ष होते हैं। जबकि हमारे अपने आचरण सम्बन्धी निर्णय प्रयोजन-सापेक्ष होते हैं। किसी भी व्यक्ति को न तो पूर्णतया यह ज्ञान होता है कि कर्ता का प्रयोजन क्या था और न यह ज्ञान होता है कि उसके कर्मों का दूसरो पर क्या परिणाम हुआ। अत जनसाधारण के नैतिक निर्णय हमेशा अपूर्ण ही होगे।

दूसरी ओर यह सारा जगत ही अपेक्षाओ से युक्त है, क्योकि जगत की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। ऐसे जगत मे आचरित नैतिकता निरपेक्ष नही हो सकती। सभी कर्म देश, काल अथवा व्यक्ति से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए निरपेक्ष नही हो सकते। बाह्य जागतिक परिस्थितियाँ और कर्म के पीछे वैयक्तिक प्रयोजन भी आचरण को सापेक्ष बना देते है।

जैन दृष्टिकोण

एक ही प्रकार से आचरित कर्म एक स्थिति मे नैतिक होता है और भिन्न स्थिति मे अनैतिक हो जाता है। एक ही कर्म एक के लिए नैतिक हो सकता है, दूसरे के लिए अनैतिक। जैन विचारधारा आचरित कर्मों की नैतिक सापेक्षता को स्वीकार करती है। प्राचीनतम जैन आगम आचाराग सूत्र मे कहा गया है कि जो आचरित कर्म आस्रव या बन्धन के कारण हैं वे भी मोक्ष के हेतु हो जाते हैं और जो मोक्ष के हेतु हैं, वे भी बन्धन के हेतु हो जाते हैं।[1] इस प्रकार कोई भी अनैतिक कर्म विशेष परिस्थिति मे नैतिक बन जाता है और कोई भी नैतिक कर्म विशेष परिस्थिति मे अनैतिक बन सकता है।

न केवल साधक की मन स्थिति, जिसे जैन परिभाषा मे "भाव" कहते है, आचरण के कर्मों का मूल्याकन करती है, और उसके साथ-साथ जैन विचारको ने द्रव्य, क्षेत्र और काल को भी कर्मों की नैतिकता और अनैतिकता का निर्धारक तत्व स्वीकार किया है। उत्तराध्ययन चूर्णि मे कहा है, "तीर्थंकर देश और काल के अनुरूप धर्म का उपदेश करते हैं।"[2] आचार्य आत्माराम जी महाराज लिखते हैं कि बन्ध और निर्जरा (कर्मों की अनैतिकता और नैतिकता) मे भावो की प्रमुखता है, परन्तु भावो के साथ स्थान और क्रिया का भी मूल्य है।[3] आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ 'अष्टकप्रकरण' की टीका मे आचार्य जिनेश्वर ने चरकसहिता का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका आशय यह है कि देश, काल और रोगादि के कारण मानव जीवन मे कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है जब अकार्य कार्य बन जाता है, विधान निषेध की कोटि मे चला जाता है और निषेध विधान की कोटि मे चला जाता है। इस प्रकार जैन नैतिकता मे स्थान (देश), समय (काल), मन स्थिति (भाव) और व्यक्ति इन चार आपेक्षिकताओ का नैतिक मूल्यो के निर्धारण मे प्रमुख महत्व है। आचरण के कर्म इन्ही चारो के आधार पर नैतिक और अनैतिक बनते रहते हैं। संक्षेप मे, एकान्त रूप से न तो कोई आचरण, कर्म या क्रिया नैतिक है और न अनैतिक, वरन् देशकालगत बाह्य परिस्थितियाँ और द्रव्य तथा भावगत परिस्थितियाँ उन्हे वैसा बना देती हैं। इस प्रकार जैन नैतिकता व्यक्ति के कर्तव्यो के सम्बन्ध मे अनेकान्तवादी या सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाती है। वह यह भी स्वीकार करती है कि सामान्य स्थिति में कुल देवो का पूजन अथवा दानादि कार्य, जो एक गृहस्थ के नैतिक कर्तव्य हैं, वे ही एक साधु या संन्यासी के लिए अकर्तव्य होते हैं—अनैतिक एव अनाचरणीय होते हैं। कर्तव्याकर्तव्य मीमासा मे जैन विचारणा किसी भी ऐकान्तिक दृष्टिकोण को स्वीकार नही करती। आचार्य हरिभद्र लिखते हैं कि सर्वज्ञ तीर्थंकर देवो ने न किसी बात के लिए एकान्त विधान किया है और न एकान्त निषेध ही किया है, उनका एक ही आदेश है कि जो कुछ भी कार्य तुम कर रहे हो उसे सत्यभूत होकर करो, उसे पूरी प्रामाणिकता के साथ करते रहो।[4] आचार्य उमास्वाति का कथन है, "नैतिक, अनैतिक, विधि (कर्तव्य), निषेध (अकर्तव्य), अथवा आचरणीय (कल्प), अनाचरणीय (अकल्प) एकान्त रूप से नियत नही हैं। देश, काल, व्यक्ति अवस्था उपघात और विशुद्ध मन स्थिति के आधार पर अनाचरणीय आचरणीय बन जाता है और आचरणीय अनाचरणीय।"[5]

उपाध्याय अमरमुनिजी जैन दर्शन की अनेकान्तदृष्टि के आधार पर जैन नैतिकता के सापेक्षित दृष्टिकोण को स्पष्ट करते

---

१ आचारांग, १/४/२/१३०, देखिए—श्री अमर भारती, मई १६६४, पृ. १५।

२ उत्तराध्ययनचूर्णि, २३।

३ आचारांग, हिन्दी टीका, पृ ३७८।

४ उपदेशपद, ७७६।

५ प्रशमरति-प्रकरण (उमास्वाति), १४६, तुलना कीजिए—ब्रह्मसूत्र (शा०), ३/१/२५; गीता (शा) ३/३५ तथा १८/४७-४८।

हुए लिखते हैं कि त्रिभुवनोदर विवरवर्ती समस्त असंख्येय भाव अपने आपमे न तो मोक्ष का कारण हैं और न ससार का कारण हैं, माधक की अपनी अन्त स्थिति ही उन्हे अच्छे और बुरे का रूप दे देती है।[1] अतः एकान्त रूप मे न कोई आचरण शुभ होता है और न कोई अशुभ। इसे स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं कि "कुछ विचारक जीवन मे उत्सर्ग (नैतिकता की निरपेक्ष या निरपवाद स्थिति) को पकडकर चलना चाहते हैं, जीवन मे अपवाद का सर्वथा अपलाप करते है। उनकी दृष्टि मे अपवाद (नैतिकता का मापेक्षित दृष्टिकोण) धर्म नही, अपितु एक महत्तर पाप है। दूसरी ओर, कुछ साधक वे हैं जो उत्सर्ग को भूलकर केवल अपवाद का सहारा लेकर ही चलना चाहते हैं। ये दोनों विचार एकागी होने से उपादेय की कोटि मे नही आ सकते। जैन धर्म की साधना एकान्त की नही, अनेकान्त की स्वस्थ और सुन्दर साधना है।[2] उसके दर्शन कक्ष मे मोक्ष के हेतुओ की कोई बँधी-बँधायी नियत रूपरेखा नही है, कोई इयत्ता नही है।[3] अत यह स्पष्ट है कि जैन दर्शन को अनेकान्तवादी विचारपद्धति के आधार पर सापेक्षिक नैतिकता की धारणा मान्य है। यद्यपि उसका यह सापेक्ष दृष्टिकोण निरपेक्ष दृष्टिकोण का विरोधी नही है। जैन नैतिकता मे एक पक्ष निरपेक्ष नैतिकता का भी है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा।

वस्तुत नीति की सापेक्षता और निरपेक्षता का यह प्रश्न अति प्राचीनकाल से एक विवादास्पद विषय रहा है। महाभारत, स्मृति ग्रन्थ एव ग्रीक दार्शनिक साहित्य मे इस सम्बन्ध मे पर्याप्त चिन्तन हुआ है और आज तक विचारक इस प्रश्न को सुलझाने मे लगे हुए हैं। वर्तमान युग मे समाज-वैज्ञानिक सापेक्षतावाद, मनोवैज्ञानिक सापेक्षतावाद और तार्किक भाववादी सापेक्षतावाद आदि चिन्तन धाराएँ नीति को सापेक्ष मानती हैं। उनके अनुसार, नैतिक मानदण्ड और नैतिक मूल्याकन मापेक्ष हैं। वे यह मानते हैं कि किसी कर्म की नैतिकता देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के परिवर्तित होने से परिवर्तित हो सकती है, अर्थात् जो कर्म एक देश मे नैतिक माना जाता है वही दूसरे देश मे अनैतिक माना जा सकता है, जो आचार किसी युग मे नैतिक माना जाता था वही दूसरे युग मे अनैतिक माना जा सकता है, इसी प्रकार जो कर्म एक व्यक्ति के लिए एक परिस्थिति मे नैतिक हो सकता है वही दूसरी परिस्थिति मे अनैतिक हो सकता है। दूसरे शब्दो मे, नैतिक नियम, नैतिक मूल्याकन और नैतिक निर्णय सापेक्ष हैं। देश, काल, ममाज, व्यक्ति और परिस्थिति के तथ्य उन्हे प्रभावित करते हैं। चाहे हम नैतिक मानदण्ड और नैतिक निर्णय को समाज-सापेक्ष माने या उन्हे वैयक्तिक मनोभावो की अभिव्यक्ति कहे, उनकी सापेक्षिकता मे कोई अन्तर नही होता है। सक्षेप मे, सापेक्षतावादियो के अनुसार नैतिक नियम सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वजनिक नही हैं। जबकि निरपेक्षतावादियो का कहना है कि 'नैतिक मानक और नैतिक नियम अपरिवर्तनीय, सार्वकालिक, सार्वदेशिक, सार्वजनिक और अपरिवर्तनीय हैं, अर्थात् नैतिकता और अनैतिकता के बीच एक ऐसी कठोर विभाजक रेखा है जो अनुल्लंघनीय है, नैतिक कभी भी अनैतिक नहीं हो सकता और अनैतिक कभी भी नैतिक नही हो सकता। नैतिक नियम देश, काल, समाज, व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष हैं। वे शाश्वत सत्य हैं। नैतिक जीवन मे अपवाद और आपद्धर्म के लिए कोई स्थान नही है।'

वस्तुत नीति के सन्दर्भ मे एकान्त सापेक्षवाद और एकान्त निरपेक्षवाद दोनो ही उचित नही है। वे आशिक सत्य तो हैं लेकिन नीति के सम्पूर्ण स्वरूप को स्पष्ट कर पाने मे समर्थ नही है। दोनो की अपनी कुछ कमिया हैं।

नीति मे सापेक्षता और निरपेक्षता दोनो का क्या और किस रूप मे स्थान है, यह जानने के लिए हमे नीति के विविध पक्षो को समझ लेना होगा। सर्वप्रथम नीति का एक वाह्य पक्ष होता है और दूसरा आतरिक पक्ष होता है, अर्थात् एक ओर आचरण होता है तो दूसरी ओर आचरण की प्रेरक और निर्देशक चेतना होती है। एक ओर नैतिक आदर्श या साध्य होता है और दूसरी ओर उस साध्य की प्राप्ति के साधन या नियम होते हैं। इसी प्रकार हमारे नैतिक निर्णय भी दो प्रका के होते है - एक वे जिन्हें हम स्वयं के सन्दर्भ मे देते हैं, दूसरे वे जिन्हे हम दूसरो के सम्बन्ध मे देते है। माथ ही ऐसे अनेक सिद्धात होते हैं जिनके आधार पर नैतिक निर्णय दिये जाते हैं।

जहाँ तक नैतिकता के बाह्य पक्ष, अर्थात् आचरण या कर्म का सम्बन्ध है, वह निरपेक्ष नही हो सकता, सर्वप्रथम तो व्यक्ति जिस विश्व मे आचरण करता है वह आपेक्षिकता से युक्त है। जो कर्म हम करते हैं और उसके जो परिणाम निष्पन्न होते हैं वे मुख्यत हमारे सकल्प पर निर्भर न होकर उन परिस्थितियों पर निर्भर होते हैं जिनमे हम जीवन जीते हैं। वाह्य जगत पर व्यक्ति की इच्छाएँ नही अपितु परिस्थितियाँ शासन करती हैं। पुन चाहे मानवीय संकल्प को स्वतन्त्र मान भी लिया जाये किन्तु मानवीय आचरण को स्वतन्त्र नही माना जा सकता है, वह

---

१ श्री अमरभारती, मई १९६४, पृ. १५।
२ श्री अमरभारती, फरवरी १९६५, पृ ५।
३ वही, मार्च १९६५, पृ २८।

आन्तरिक और वाह्य परिस्थितियो पर निर्भर होता है। अतः मानवीय कर्म का सम्पादन और उनके निष्पन्न परिणाम दोनो ही देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर होंगे। कोई भी कर्म देश, काल, व्यक्ति, समाज और परिस्थिति से निरपेक्ष नही होगा। हमने देखा कि भारतीय चिन्तन की जैन, वौद्ध और वैदिक परम्पराएँ इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करती हैं कि कर्म की नैतिकता निरपेक्ष नही है। पुन नैतिक मूल्याकन और नैतिक निर्णय उन सिद्धातो और परिस्थितियो पर निर्भर करते हैं जिनमे वे दिये जाते हैं। सर्वप्रथम तो नैतिक मूल्याकन व्यक्ति और परिस्थिति से निरपेक्ष होकर नही किया जा सकता, क्योकि व्यक्ति जिस समाज मे जीवन जीता है वह विविधताओ से युक्त है। समाज मे व्यक्ति की अपनी योग्यताओ एव क्षमताओ के आधार पर एक निश्चित स्थिति होती हैं, उसी स्थिति के अनुसार उसके कर्तव्य एवं दायित्व होते हैं, अत. वैयक्तिक दायित्वो और कर्तव्यो मे विविधता होती है। गीता का वर्णाश्रम धर्म का सिद्धात और ब्रेडले का 'मेरा स्थान और उसके कर्तव्य' का सिद्धात एक सापेक्षित नैतिकता की धारणा को प्रस्तुत करते हैं। अतः हमे सामाजिक सन्दर्भ मे आचरण का मूल्याकन सापेक्ष रूप मे ही करना होगा। विश्व मे ऐसा कोई एक सर्वमान्य सिद्धात नही है जो हमारे निर्णयो का आधार वन सके। कुछ प्रसगो मे हम अपने नैतिक निर्णय निष्पन्न कर्म-परिणाम पर देते है, तो कुछ प्रसंगो मे कर्म के वाछित या अग्रावलोकित परिणाम पर, और कभी कर्म के प्रेरक के आधार पर भी नैतिक निर्णय दिये जाते है। अत कर्म के वाह्य स्वरूप और उसके सन्दर्भ मे होने वाले नैतिक मूल्याकन तथा नैतिक निर्णय निरपेक्ष नही हो सकते, उन्हे सापेक्ष ही मानना होगा। पुन. कर्म या आचरण किसी आदर्श या लक्ष्य का साधन होता है और साधन अनेक हो सकते है। लक्ष्य या आदर्श एक होने पर भी उसकी प्राप्ति के लिए साधनो को अपनी स्थिति के अनुसार अनेक मार्ग सुझाये जा सकते है अत आचरण की विविधता एक स्वाभाविक तथ्य है। दो भिन्न सन्दर्भो मे परस्पर विपरीत दिखाई देने वाले मार्ग भी अपने लक्ष्य की अपेक्षा से उचित माने जा सकते हैं। पुन, जव हम दूसरे व्यक्तियो के आचरण पर कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो हमारे सामने कर्म का वाह्य स्वरूप ही होता है। अत दूसरे व्यक्तियो के आचरण के सम्बन्ध मे हमारे मूल्याकन और निर्णय सापेक्ष ही हो सकते हैं। हम उसके मनोभावो के प्रत्यक्ष द्रष्टा नही होते हैं और इसलिए उसके आचरण के मूल्याकन मे हमको निरपेक्ष निर्णय देने का कोई अधिकार ही नही होता है, क्योकि हमारा निर्णय केवल घटित परिणामो पर ही होता है। अत यह निश्चय ही सत्य है कि कर्म के वाह्य पक्ष या व्यावहारिक पक्ष की नैतिकता और उसके सन्दर्भ मे दिये जाने वाले नैतिक निर्णय दोनो ही सापेक्ष होगे। नीति और नैतिक आचरण को परिस्थिति निरपेक्ष मानने वाले नैतिक सिद्धात शून्य मे विचरण करते हैं और नीति के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट कर पाने मे समर्थ नही होते है।

किन्तु नीति को एकान्त रूप से सापेक्ष मानना भी खतरे से खाली नही है। (१) सर्वप्रथम, नैतिक सापेक्षतावाद व्यक्ति और समाज की विविधता पर तो दृष्टि डालता हैं किन्तु उस विविधता मे अनुस्यूत एकता की उपेक्षा करता है। वह दैशिक, कालिक, सामाजिक और वैयक्तिक असमानता को ही एकमात्र सत्य मानता है।

(२) दूसरे, वह साध्य या आदर्श की अपेक्षा साधनो पर अधिक वल देता है, जवकि साधनो का मूल्य स्वयं उस साध्य पर आश्रित होता है, जिसके वे साधन है।

(३) तीसरे, सापेक्षतावाद कर्म के वाह्य स्वरूप को ही उसका सर्वस्व मान लेता है, उनके आन्तरिक पक्ष या कर्म के मानस-पक्ष की उपेक्षा करता है जवकि कर्म की प्रेरक भावना का भी नैतिक दृष्टि से समान मूल्य है।

(४) चौथे, नैतिक सापेक्षतावाद संकल्पस्वातन्त्र्य के सिद्धात के विरोध मे जाता है। यदि नीति के निर्धारक तत्व वाह्य हैं तो फिर हमारी संकल्प की स्वतन्त्रता का कोई अधिक महत्व नही रहता है। सापेक्षतावाद के अनुसार नीति का नियामक तत्व देशकालगत परिस्थितियाँ एवं सामाजिक तथ्य है, वैयक्तिक चेतना नही। किन्तु ऐसी स्थिति मे संकल्पस्वातन्त्र्य का क्या अर्थ रह जायेगा, यह विचारणीय है। सकल्प को सापेक्ष मानने का अर्थ उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करना हैं।

(५) पाँचवें, नीति के सन्दर्भ में सापेक्षतावाद हमे अनिवार्यतः आत्मनिष्ठावाद की ओर ले जाता है। लेकिन आत्मनिष्ठावाद मे आकर नैतिक नियम अपना समस्त स्थायित्व और वस्तुगत आधार खो देते हैं। नैतिक जीवन में समरूपता और वस्तुनिष्ठता का अभाव होता है तथा नैतिकता का ढाचा अस्तव्यस्त हो जाता है।

(६) छठे, हम यह भी कह सकते है कि सापेक्षतावाद मे नैतिकता का शरीर तो वचा रहता है किन्तु प्राण चले जाते है, उसमे विषय सामग्री तो रहती है किन्तु आकार नही होता है, क्योकि निरपेक्षता नैतिकता की आत्मा है।

(७) सापेक्षतावाद मे नैतिक मानव की एकरूपता समाप्त हो जाती है, एक सार्वभौम मानदण्ड का अभाव होता है. अत नैतिक निर्णय देने में व्यक्ति को वैसी ही कठिनाई अनुभव होती है जैसी उस ग्राहक को होती है जिसे प्रत्येक दुकान पर भिन्न-भिन्न माप मिलते हो। पुन, नैतिक परिस्थिति स्वयं एक ऐसा जटिल तथ्य है जिसमे जनसाधारण के लिए विना किसी स्पष्ट सार्वभौम निर्देशक सिद्धात के यह तय कर पाना कठिन है कि

उस परिस्थिति मे क्या नैतिक है और क्या अनैतिक ? अत नीति मे किसी निरपेक्ष तत्त्व की अवधारणा करना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ मे जान हिवी का दृष्टिकोण अधिक संगतपूर्ण जान पडता है।1 वे परिस्थितियाँ जिनमे नैतिक आदर्शों की सिद्धि की जाती है, सदैव परिवर्तनशील हैं और नैतिक नियमो, नैतिक कर्तव्यो और नैतिक मूल्याकनो के लिए इन परिवर्तनशील परिस्थितियो के साथ समायोजन करना आवश्यक होता है। किन्तु यह मान लेना मूर्खतापूर्ण ही होगा कि नैतिक सिद्धात इतने सापेक्षिक हैं कि किसी सामाजिक स्थिति मे उनमे कोई नियामक शक्ति ही नही होती। शुभ की विषयवस्तु बदल सकती है किन्तु शुभ का आकार नही, दूसरे शब्दो मे, नैतिकता का शरीर परिवर्तनशील है किन्तु नैतिकता की आत्मा नही। नैतिकता का विशेष स्वरूप समय समय पर वैसे-वैसे बदलता रहता है जैसे-जैसे सामाजिक या सास्कृतिक स्तर पर अन्य परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, किन्तु नैतिकता का सामान्य स्वरूप स्थिर रहता है। नैतिक नियमो मे अपवाद या आपद्धर्म का निश्चित ही स्थान है और अनेक स्थितियो मे अपवाद-मार्ग का आचरण ही नैतिक होता है। फिर भी हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि अपवाद कभी भी सामान्य नियम का स्थान नही ले पाते है। निरपेक्षतावाद के सन्दर्भ मे यह एक भ्राति है कि वह सभी नैतिक नियमो को निरपेक्ष मानता है। निरपेक्षतावाद भी सभी नियमो की सार्वभौमिकता सिद्ध नही करता, वह केवल मौलिक नियमो की सार्वभौमिकता ही सिद्ध करता है।

वस्तुत नीति की वास्तविक प्रकृति को समझने के लिए निरपेक्षतावाद और सापेक्षतावाद दोनो ही अपेक्षित हैं। नीति का कौन सा पक्ष सापेक्ष होता है और कौन सा पक्ष निरपेक्ष इसे निम्नाकित रूप मे समझा जा सकता है। (१) सकल्प की नैतिकता निरपेक्ष होती है और आचरण की नैतिकता सापेक्ष होती है। हिंसा का संकल्प कभी नैतिक नहीं होता यद्यपि हिंसा का कर्म सदैव अनैतिक हो, यह आवश्यक नही। नीति में जब संकल्प की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया जाता है तो फिर हमे यह कहने का अधिकार नही रहता कि सकल्प सापेक्ष है, अत संकल्प की नैतिकता सापेक्ष नही हो सकती। दूसरे शब्दो मे, कर्म का जो मानसिक पक्ष है, बौद्धिक पक्ष है, वह निरपेक्ष हो सकता है किन्तु कर्म का जो व्यावहारिक पक्ष है, आचरणात्मक पक्ष है, वह सापेक्ष है। अर्थात् मनोमूलक नीति निरपेक्ष होगी और आचरणमूलक नीति सापेक्ष होगी। संकल्प का क्षेत्र, प्रज्ञा का क्षेत्र, एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ चेतना या प्रज्ञा ही सर्वोच्च शासक है। अन्तस् मे व्यक्ति स्वय अपना शासक है, वहाँ परिस्थितियो या समाज का शासन नही है, अत इस क्षेत्र मे नीति की निरपेक्षता सम्भव है। अनासक्त कर्म का दर्शन इसी सिद्धात पर स्थित है क्योकि अनेक स्थितियो मे कर्म का वाह्यात्मक रूप कर्ता के मनोभावो का यथार्थ परिचायक नही होता अत. यह माना जा सकता है कि मनोवृत्यात्मक या भावनात्मक नीति निरपेक्ष होगी किन्तु आचरणात्मक या व्यवहारात्मक नीति सापेक्ष होगी। यही कारण है कि जैन दर्शन मे नैश्चयिक नैतिकता को निरपेक्ष और व्यावहारिक नैतिकता को सापेक्ष माना गया है। (२) दूसरे, साध्यात्मक नीति या नैतिक आदर्श निरपेक्ष होता है किन्तु साधनापरक नीति सापेक्ष होती है। दूसरे शब्दो मे, जो सर्वोच्च शुभ है वह निरपेक्ष है किन्तु उस सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के जो नियम या मार्ग हैं वे सापेक्ष हैं। क्योकि एक ही साध्य की प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं। पुन., वैयक्तिक रुचियो, क्षमताओं और स्थितियो की भिन्नता के आधार पर सभी के लिए समान नियमो का प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अत साध्यपरक नीति को या नैतिक साध्य को निरपेक्ष और साधनापरक नीति को सापेक्ष मानना ही एक यथार्थ दृष्टिकोण हो सकता है। (३) तीसरे, नैतिक नियमो मे कुछ नियम मौलिक होते हैं और कुछ नियम उन मौलिक नियमो के सहायक होते हैं, उदाहरणार्थ, भारतीय परम्परा मे सामान्य धर्म और विशेष धर्म (वर्णाश्रम धर्म) ऐसा वर्गीकरण हमे मिलता है। जैन परम्परा मे भी एक ऐसा ही वर्गीकरण मूलगुण और उत्तरगुण नाम से है। यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि साधारणतया सामान्य या मूलभूत नियम ही निरपेक्ष एव अपरिवर्तनीय माने जा सकते हैं, विशेष नियम तो सापेक्ष एवं परिवर्तनीय ही होते हैं। यद्यपि हमे यह मानने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि अनेक स्थितियो मे सामान्य नियमो के भी अपवाद हो सकते हैं और वे नैतिक भी हो सकते हैं, फिर भी यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि अपवाद को कभी नियम का स्थान नही दिया जा सकता। यहाँ एक बात जो विचारणीय है वह यह कि मौलिक नियमो की निरपेक्षता भी उनकी अपरिवर्तनशीलता या उनके स्थायित्व के आधार पर ही है, साध्य की अपेक्षा से तो वे भी सापेक्ष हो सकते हैं।

जो नैतिक विचारधाराएँ मात्र निरपेक्षतावाद को स्वीकार करती हैं वे यथार्थ की भूमिका को भूलकर मात्र आदर्श की ओर देखती हैं। वे नैतिक आदर्श को तो प्रस्तुत कर देती हैं किन्तु उस मार्ग का निर्धारण करने मे सफल नही हो पाती जो उस साध्य एवं आदर्श तक ले जाता है, क्योकि, नैतिक आचरण एव व्यवहार तो परिस्थिति सापेक्ष होता है। नैतिकता एक लक्ष्योन्मुख गति है। लेकिन यदि उस गति मे व्यक्ति की दृष्टि मात्र

---

1 Contemporary Ethical Theories (T. E. Hill) p 163.

उस यथार्थ भूमिका तक हो, जिसमे वह खडा है, सीमित है तो वह कभी भी लक्ष्य तक नही पहुँच सकता, वह पथभ्रष्ट हो सकता है। दूसरी ओर वह व्यक्ति, जो गन्तव्य की ओर तो देख रहा है किन्तु उस मार्ग को नही देख रहा है जिसमे वह गति कर रहा है, मार्ग मे वह ठोकर खाता है और कण्टको से अपने को पद विद्ध कर लेता है। जिस प्रकार चलने के उपक्रम मे हमारा काम न तो मात्र सामने देखने से चलता है और न मात्र नीचे देखने से ही, उसी प्रकार नैतिक प्रगति मे हमारा काम न तो मात्र निरपेक्ष दृष्टि से चलता है और न मात्र सापेक्ष दृष्टि से चलता है। निरपेक्षतावाद उस स्थिति की उपेक्षा कर देता है जिसमे व्यक्ति खडा है, जबकि सापेक्षतावाद उस आदर्श या साध्य की उपेक्षा करता है जो कि गन्तव्य है। इसी प्रकार निरपेक्षतावाद सामाजिक नीति की उपेक्षा कर मात्र वैयक्तिक नीति पर बल देता है, किन्तु व्यक्ति समाजनिरपेक्ष होकर नही जी सकता। पुन. निरपेक्षवादी नीति मे साध्य की सिद्धि ही प्रमुख होती है, किन्तु वह साधन उपेक्षित बना रहता है जिसके बिना साध्य की सिद्धि सम्भव नही है। अत सम्यक् नैतिक जीवन के लिए नीति मे सापेक्ष और निरपेक्ष दोनो तत्वो की अवधारणा को स्वीकार करना आवश्यक है।"[1]

उत्सर्ग और अपवाद की समस्या[2]

जैन नैतिक विचारणा मे नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष दोनो रूप स्वीकृत हैं। लेकिन उसमे भी निरपेक्षता दो भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त है। प्रथम प्रकार की निरपेक्षता वह है जिसमे आचार के सामान्य या मौलिक नियमों को निरपेक्ष माना जाता है और विशेष नियमो को सापेक्ष माना जाता है, जैसे अहिंसा सामान्य या सार्वभौम नियम है, लेकिन फलाहार विशेष नियम है। जैन परिभाषा मे कहे तो श्रमण के मूलगुण सामान्य नियम हैं और इस प्रकार निरपेक्ष है, जबकि उत्तरगुण विशेष नियम हैं, सापेक्ष हैं। आचार के सामान्य नियम देशकालगत विभेद मे भी अपनी मूलभूत दृष्टि के आधार पर निरपेक्ष प्रतीत होते हैं। लेकिन इस प्रकार की निरपेक्षता वस्तुत. सापेक्ष ही है। आचरण के जिन नियमो का विधि और निषेध जिस सामान्य दशा मे किया गया है, उसकी अपेक्षा से आचरण के वे नियम उसी रूप मे आचरणीय हैं। व्यक्ति सामान्य स्थिति मे उन नियमो के परिपालन मे किसी अपवाद या छूट की अपेक्षा नही कर सकता। यहाँ पर भी सामान्य दशा का विचार व्यक्ति एव उसकी देशकालगत बाह्य परिस्थितियो के सन्दर्भ मे किया गया है, अर्थात् यदि व्यक्ति स्वस्थ है और देशकालगत परिस्थितियाँ भी वे ही हैं जिनको ध्यान मे रखकर विधि या निषेध किया गया है, तो व्यक्ति को उन नियमो तथा कर्तव्यो का पालन भी तदनुरूप करना होगा। जैन परिभाषा मे इसे "उत्सर्ग-मार्ग" कहा जाता है, जिसमे साधक को नैतिक आचरण शास्त्रो मे प्रतिपादित रूप मे ही करना होता है। उत्सर्ग नैतिक विधि-निषेधो का सामान्य कथन है। जैसे मन, वचन, काय से हिंसा न करना, न करवाना, न करने वाले का समर्थन करना। लेकिन जब इन्ही सामान्य विधि-निषेधो को किन्ही विशेष परिस्थितियो मे शिथिल कर दिया जाता है, तब नैतिक आचरण की उस अवस्था को "अपवाद-मार्ग" कहा जाता है। उत्सर्ग मार्ग अपवाद-मार्ग की अपेक्षा से सापेक्ष है, लेकिन जिस परिस्थितिगत सामान्यता के तत्व को स्वीकार कर उत्सर्ग-मार्ग का निरूपण किया जाता है, उस सामान्यता के तत्व की दृष्टि से निरपेक्ष ही होता है। अपवाद की अवस्था मे सामान्य नियम का भंग हो जाने से उसकी मान्यता खण्डित नही हो जाती, उसकी सामान्यता या सार्वभौमिकता समाप्त नही हो जाती। मान लीजिए, हम किसी निरपराध प्राणी की जान बचाने के लिए असत्य बोलते हैं, इससे सत्य बोलने का सामान्य नियम खण्डित नही हो जाता। अपवाद न तो कभी मौलिक नियम बन सकता है, न अपवाद के कारण उत्सर्ग की सामान्यता या सार्वभौमिकता ही खण्डित होती है। उत्सर्ग-मार्ग को निरपेक्ष कहने का प्रयोजन यही होता है कि वह मौलिक होता है, यद्यपि उन मौलिक नियमो पर आधारित बहुत से विशेष नियम हो सकते हैं। उत्सर्ग-मार्ग अपवाद-मार्ग का बाध नही करता है, वह तो मात्र इतना ही बताता है कि अपवाद सामान्य नियम नही बन सकता। डा० श्रीचन्द के शब्दो मे, "निरपेक्षवाद (उत्सर्ग-मार्ग) सभी नियमो की सार्वभौमिकता सिद्ध नही करना चाहता, परन्तु केवल सभी मौलिक नियमो की सार्वभौमिकता सिद्ध करना चाहता है।"[1] उत्सर्ग की निरपेक्षता देश, काल एव व्यक्तिगत परिस्थितियो के अन्दर ही होती है, उससे बाहर नही। उत्सर्ग और अपवाद नैतिक आचरण की विशेष पद्धतियाँ हैं। लेकिन दोनो ही किसी एक नैतिक लक्ष्य के लिए है, इसलिए दोनों नैतिक हैं। जैसे, दो मार्ग यदि एक ही नगर तक पहुँचाते हो, तो दोनो ही मार्ग होंगे, अमार्ग नहीं, वैसे ही अपवादात्मक नैतिकता का सापेक्ष स्वरूप और उत्सर्गात्मक नैतिकता का निरपेक्ष स्वरूप दोनो ही नैतिकता के स्वरूप हैं और कोई भी अनैतिक नही है।

---

१ देखें—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृ. ७७-७८।
२ वही पृ. ६७-६९।
१ नीतिशास्त्र का परिचय, डा. श्रीचन्द, पृ. १२२।

लेकिन नैतिक निरपेक्षता का एक रूप और है, जिसमें वह सदैव ही देश, काल एवं व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठी होती है। नैतिकता का वह निरपेक्ष रूप अन्य कुछ नहीं, स्वयं 'नैतिक आदर्श" ही है। नैतिकता का लक्ष्य एक ऐसा निरपेक्ष तथ्य है जो सारे नैतिक आचरणों के मूल्यांकन का आधार है। नैतिक आचरण की शुभाशुभता का अंकन इसी पर आधारित है। कोई भी आचरण, चाहे वह उत्सर्ग-मार्ग से हो या अपवाद-मार्ग से, हमें उस लक्ष्य की ओर ले जाता है जो शुभ है। इसके विपरीत जो भी आचरण इस नैतिक आदर्श से विमुख करता है, वह अशुभ है, अनैतिक है। नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद नामक दोनों मार्ग इसी की अपेक्षा से सापेक्ष हैं और इसी के मार्ग होने से निरपेक्ष भी, क्योंकि मार्ग के रूप में किसी स्थिति तक इससे अभिन्न भी होते हैं और यही अभिन्नता उनको निरपेक्षता का यथार्थ तत्व प्रदान करती है। लक्ष्यरूपी नैतिक चेतना के सामान्य तत्व के आधार पर ही नैतिक जीवन के उत्सर्ग और अपवाद दोनों मार्गों का विधान है। लक्ष्यात्मक नैतिक चेतना ही उनका निरपेक्ष तत्व है, जबकि आचरण का साधनात्मक मार्ग सापेक्ष तथ्य है। लक्ष्य या नैतिक आदर्श नैतिकता की आत्मा है और बाह्य आचरण उसका शरीर है। अपनी आत्मा के रूप में नैतिकता निरपेक्ष है, लेकिन अपने शरीर के रूप में वह सदैव सापेक्ष है। इस प्रकार जैन दर्शन में नैतिकता के दोनों ही पक्ष स्वीकृत हैं। वस्तुतः नैतिक जीवन की सम्यक् प्रगति के लिए दोनों ही आवश्यक हैं। जैसे लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यात्रा और पड़ाव दोनों आवश्यक हैं वैसे ही नैतिक जीवन के लिए भी दोनों पक्ष आवश्यक हैं। कोई भी एक दृष्टिकोण समुचित और सर्वांगीण नहीं कहा जा सकता। समकालीन नैतिक चिन्तन में भी जैन दर्शन के इसी दृष्टिकोण का समर्थन मिलता है।

सदाचार और दुराचार का निर्धारण कैसे हो ?

(अ) गीतार्थ का आदेश

सापेक्ष नैतिकता में जनसाधारण के द्वारा कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करना सरल नहीं है। अतः जैन नैतिकता में सामान्य व्यक्ति के मार्गदर्शन के रूप में "गीतार्थ" की योजना की गई है। गीतार्थ वह आदर्श व्यक्ति है जिसका आचरण जनसाधारण के लिए प्रमाण होता है। गीता के आचारदर्शन में भी जन-साधारण के लिए मार्गदर्शन के रूप में श्रेष्ठजन के आचार को ही प्रमाण माना गया है। गीता स्पष्ट रूप में कहती है कि श्रेष्ठ या आत्मज्ञानी पुरुष जिस प्रकार आचरण करता है, साधारण मनुष्य भी उसी के अनुरूप आचरण करते हैं। वह आचरण के जिस प्रारूप को प्रामाणिक मानकर अंगीकार करता है लोग भी उसी का अनुकरण करते हैं।[1] महाभारत में भी कहा है कि महाजन जिन मार्ग से गये हों वही धर्म मार्ग है।[2] यही बात जैनागम उत्तराध्ययन में इस प्रकार कही गई है, "बुद्धिमान आचार्यों (आर्यजन) के द्वारा जिस धार्मिक व्यवहार का आचरण किया गया है उसे ही प्रामाणिक मानकर तदनुरूप आचरण करने वाला व्यक्ति कभी भी निन्दित नहीं होता है।"[3] पाश्चात्य विचारक ब्रैडले के अनुसार भी नैतिक आचार की शुभाशुभता का निश्चय आदर्श व्यक्ति के चरित्र के आधार पर किया जा सकता है।[4]

उपाध्याय अमर मुनि[5] के अनुसार जैन विचारणा नैतिक मर्यादाओं को न तो इतनी कठोर ही बनाती है कि व्यक्ति उनके अन्दर स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण न कर सके, न ही इतनी अधिक लचीली कि व्यक्ति इच्छानुसार उन्हें मोड़ दे। जैन विचारणा में नैतिक मर्यादाएँ दुर्ग के खण्डहर जैसी नहीं हैं जिसमें विचरण की पूर्ण स्वतन्त्रता तो होती है, लेकिन शत्रु के प्रविष्ट होने का सदा भय बना रहता है। वह तो सुदृढ चार दीवारियों से युक्त उस दुर्ग के समान है जिसके अन्दर व्यक्ति को विचरण की स्वतन्त्रता है और विशेष परिस्थितियों में वह उससे बाहर भी आ-जा सकता है लेकिन शर्त यही है कि ऐसी प्रत्येक स्थिति में उसे दुर्ग के द्वारपाल की अनुज्ञा लेनी होगी। जैन विचारणा के अनुसार नैतिकता के इस दुर्ग का द्वारपाल वह "गीतार्थ" है जो देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समुचित रूप में समझकर सामान्य व्यक्ति को अपवाद के क्षेत्र में प्रविष्ट होने की अनुज्ञा देता है। अपवाद की अवस्था के सम्बन्ध में निर्णय देने का एवं यथा-परिस्थिति अपवाद मार्ग में आचरण करने अथवा दूसरे को कराने का समस्त उत्तरदायित्व "गीतार्थ" पर ही रहता है। गीतार्थ वह व्यक्ति होता है जो नैतिक विधि-निषेध के आचारांगादि आचारसंहिता का तथा निशीथ आदि छेदसूत्रों का मर्मज्ञ हो एवं स्व-प्रज्ञा से देश, काल एवं वैयक्तिक परिस्थितियों को समझने में समर्थ हो। गीतार्थ वह है जिसे कर्तव्य और अकर्तव्य के लक्षणों का यथार्थ ज्ञान है,[6] जो आय-व्यय, कारण-अकारण, अगाढ (रोगी, वृद्ध) अनागाढ, वस्तु-अवस्तु, युक्त-अयुक्त, समर्थ-असमर्थ, यतना-अयतना का सम्यग्ज्ञान रखता है, साथ ही समस्त कर्तव्य कर्म के परिणामों को भी जानता है,

---

१ गीता, ३/२१।
२ महाभारत, वनपर्व, ३१२/११५।
३ उत्तराध्ययन, १/४२।
४ एथिकल स्टडीज, पृ १६६, २२६।
५ देखें— श्री अमर भारती १९६४ में क्रमश प्रकाशित उत्सर्ग और अपवाद पर उपाध्याय अमरमुनिजी के लेख।
६ अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ३, पृ. ६०२।

वही विधिवान गीतार्थ है।[1]

(ब) मार्गदर्शक रूप मे शास्त्र

यद्यपि जैन विचारणा के अनुसार परिस्थिति विशेष मे कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण "गीतार्थ" करता है, तथापि गीतार्थ भी व्यक्ति है, अत उसके निर्णयो मे भी मनपरतावाद की सम्भावना रहती है। उसके निर्णयो को वस्तुनिष्ठता प्रदान करने के लिए उसके मार्ग-निर्देशक के रूप मे शास्त्र है। सापेक्ष नैतिकता को वस्तुगत आधार देने के लिए ही शास्त्र को भी स्थान दिया गया। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि कार्य-अकार्य की व्यवस्था देने में शास्त्र प्रमाण है।[2] लेकिन यदि शास्त्र को ही कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय का आधार बनाया गया, तो नैतिक सापेक्षता पूरी तरह सुरक्षित नही रह सकती। परिस्थितियाँ इतनी भिन्न भिन्न होती हैं कि उन सभी परिस्थितियो के सन्दर्भों सहित आचार-नियमो का विधान शास्त्र मे उपलब्ध नही हो सकता। परिस्थितियाँ सतत परिवर्तनशील है, जबकि शास्त्र अपरिवर्तनशील होता है। अत शास्त्र को भी सभी परिस्थितियो के कर्तव्याकर्तव्य का निर्णायक या आधार नही बनाया जा सकता। फिर शास्त्र (श्रुतियाँ) भी भिन्न-भिन्न हैं और परस्पर भिन्न नियम भी प्रस्तुत करते है, अत वे भी प्रामाणिक नही हो सकते।[3] इस प्रकार सापेक्ष नैतिकता मे कर्तव्याकर्तव्य के निश्चय की समस्या रहती है, शास्त्र के आधार पर उसका पूर्ण समाधान सम्भव नही है।

(स) निष्पक्ष बौद्धिक प्रज्ञा ही अन्तिम निर्णायक

इस समस्या के समाधान मे हमे जैन दृष्टिकोण की एक विशेषता देखने को मिलती है। वह न तो एकान्त रूप मे शास्त्र को ही सारे विधि-निषेध का आधार बनाता है, न व्यक्ति को ही, उसके अनुसार शास्त्र मार्गदर्शक है, लेकिन अन्तिम निर्णायक नही। अन्तिम निर्णायक व्यक्ति का राग और वासनाओ से रहित निष्पक्ष विवेक ही है। किसी परिस्थिति विशेष मे व्यक्ति का क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इसका निर्णय शास्त्र को मार्गदर्शक मानकर स्वयं व्यक्ति को ही लेना होता है।

आचारशास्त्र का कार्य है व्यक्ति के सम्मुख सामान्य और अपवादात्मक स्थितियो मे आचार का स्वरूप प्रस्तुत करना। लेकिन परिस्थिति का निश्चय तो व्यक्ति को ही करना होता है। शास्त्र आदेश नही, निर्देश देता है। यही दृष्टिकोण गीता का भी है।[4] गीतोक्त शास्त्रप्रामाण्य भी इस तत्व का पोषक है। लेकिन शास्त्र का प्रमाण मात्र जानने की वस्तु है, जिसके द्वारा निर्णय लिया जा सकता है। निर्णय करने का अधिकार तो व्यक्ति के पास ही सुरक्षित है। प्रस्तुत श्लोक का 'ज्ञात्वा" शब्द स्वयं ही इस तथ्य को स्पष्ट करता है। पाश्चात्य आचार-दर्शन मे भी यह दृष्टिकोण स्वीकृत रहा है। पाश्चत्य फलवादी विचारक जान डिवी लिखते हैं कि नैतिक सिद्धातो का उपयोग आदेश के रूप मे नही है, वरन् उस साधन के रुप मे है जिसके आधार पर विशेष परिस्थिति मे कर्तव्य का विश्लेषण किया जा सके। नैतिक सिद्धातो का कार्य उन दृष्टिकोणो और पद्धतियो को प्रस्तुत कर देना है जो व्यक्ति को इस योग्य बना सके कि जिस विशेष परिस्थिति मे वह है, उसमे शुभ और अशुभ का विश्लेषण कर सके।[5] इस प्रकार अन्तिम रुप मे तो व्यक्ति की निष्पक्ष प्रज्ञा ही कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण मे आधार बनती है। जहाँ तक सापेक्ष नैतिकता को मनपरतावाद के ऐकान्तिक दोषो से बचाने का प्रश्न है, जैन दार्शनिको ने उसके लिए "गीतार्थ" (आदर्श व्यक्ति) एवं "शास्त्र" के वस्तुनिष्ठ आधार भी प्रस्तुत किये है, यद्यपि इनका अन्तिम स्रोत निष्पक्ष प्रज्ञा ही मानी गयी।

आचार-प्रज्ञप्ति

जैन आचार्यों ने सदाचरण या सम्यक् चारित्र का विवेचन एव वर्गीकरण विविध आधारो पर किया है। चूँकि प्रस्तुत ग्रन्थ मे प्राचीन परम्परा के अनुसार आचार का विवेचन—(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार के रूप मे हुआ है (स्थानाग ५/२/४३३)। अतः हमने भी इसे उसी रूप मे उनका विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यहाँ ज्ञान, दर्शन आदि का अन्तर्भाव आचार मे इसलिए किया गया है कि ज्ञान और दर्शन मात्र जानने तथा आस्था रखने के विषय नही है। वे जीवन में जीने के लिए हैं। उनका आचरण करना होता है। ज्ञान, दर्शन आदि का यही आचरणात्मक पक्ष ज्ञानाचार, दर्शनाचार कहा जाता है। इसी प्रकार आराधना की चर्चा के प्रसग मे भी ज्ञान आराधना, दर्शन आराधना और चारित्र आराधना की चर्चा हुई है। इसी प्रकार तपाराधना का उल्लेख भी जैन साहित्य मे हुआ है। इसका तात्पर्य भी यही है कि उनकी साधना की जानी चाहिए। यह साधना की प्रक्रिया ही आचार कही जाती है इसे हम ज्ञान, दर्शन आदि का व्यवहार पक्ष भी कह सकते हैं।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य, ९५१।

२ गीता, १६/२४।

३ महाभारत, वनपर्व, ३१२/११५।

४ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ —गीता, १६/२४

५ कन्टेम्पररि एथिकल थ्योरीज, पृ. १६३।

ज्ञान और ज्ञानाचार

आगम साहित्य में पाँच प्रकार के आचारो की चर्चा के प्रसंग मे सर्वप्रथम ज्ञानाचार का विवेचन हुआ है। ज्ञानाचार शब्द ज्ञान + आचार से मिलकर बना है। ज्ञान के साथ आचार शब्द का प्रयोग सामान्यतया विचित्र सा लगता है। जब हम त्रिविध साधना मार्ग मे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को अलग-अलग करते हैं तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से खड़ा हो जाता है कि यदि ज्ञान चारित्र से भिन्न है तो ज्ञान को आचार कैसे माना जाये। सामान्यतया जानना और करना दो भिन्न स्थितियाँ हैं अत इन्हें अलग-अलग ही मानना चाहिये। मेरी दृष्टि मे जैनाचार्य जब ज्ञानाचार की चर्चा करते हैं तो उनका तात्पर्य ज्ञान से न होकर ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया से होता है। ज्ञान प्राप्त कैसे किया जाये यह तथ्य मुख्यतया आचार पक्ष से सम्बन्धित है और इसी आधार पर ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया (Process) को ज्ञानाचार कहा गया है।

ज्ञान-प्राप्ति का उद्देश्य

जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य को स्पष्ट किया है। ज्ञान-प्राप्ति के चार उद्देश्य बताये गये हैं—(१) मुझे श्रुत (आगम-ज्ञान) प्राप्त होगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए, (२) मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए, और (३) मैं धर्म मे स्थित होऊँगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए, और (४) मैं धर्म मे स्थित होकर दूसरो को उसमे स्थिर करूँगा इसलिए अध्ययन करना चाहिए।[1] वस्तुत इस प्रसंग मे "ज्ञान ज्ञान के लिए" (Knowledge for Knowledge's sake) इस सिद्धात को न मानकर ज्ञान को चित्तविशुद्धि और सदाचरण या धर्म मार्ग मे स्थिरता प्राप्त करने के एक साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ज्ञान स्वय साध्य न होकर एक साधन है। ज्ञानी होने का उद्देश्य है चित्तसमाधि को प्राप्त करना और धर्म मार्ग और सदाचार में स्थित होना। इस प्रकार ज्ञान का भी एक प्रायोगिक पक्ष है। ज्ञान का यह प्रायोगिक पक्ष ही ज्ञानाचार है।

ज्ञानाचार की विषयवस्तु

इस चरणानुयोग नामक प्रस्तुत सकलनात्मक ग्रन्थ मे ज्ञानाचार की चर्चा करते हुए उसे पूर्वोक्त आठ ज्ञान आचारो मे विभक्त किया गया है। सर्वप्रथम हम इस ग्रन्थ मे ज्ञानाचार के अन्तर्गत किन-किन मुख्य विषयों का संकलन हुआ है, इसका सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना चाहेंगे। इस ग्रंथ मे प्रथम काल ज्ञानाचार के अन्तर्गत स्वाध्याय या ज्ञान साधना के लिए उपयुक्त और अनुपयुक्त काल की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि साधक को किस समय अध्ययन करना चाहिए और किस समय नही। इसके साथ ही दैशिक एवं कालिक उन विशेष परिस्थितियो का चिन्तन किया गया है जिनके उपस्थित हो जाने पर अध्ययन या स्वाध्याय करने का वर्जन किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय विनय ज्ञानाचार के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति के लिए विनय की क्या आवश्यकता है, अविनय के क्या दुष्परिणाम होते हैं, इसकी चर्चा की गई है। साथ ही यह बताया गया है कि आचार्य और शिष्य के पारस्परिक कर्तव्य क्या हैं? इसी के अन्तर्गत आचार्य की विनय प्रतिपत्ति और शिष्य की विनय प्रतिपत्ति का विवेचन किया गया है। इसके साथ ही विनय के स्वरूप और उसके भेद प्रभेदो का विस्तृत चित्रण किया गया है। ज्ञानाचार की इस चर्चा के प्रसंग मे विनय-ज्ञानाचार पर प्रस्तुत ग्रथ मे सर्वाधिक चर्चा उपलब्ध होती है। कारण यह है कि आगम साहित्य में इस विषय पर विशद विवरण उपलब्ध होता है। गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्धो की चर्चा के बाद इसमे विनय के प्रकार, उसके स्वरूप, उसकी उपमाएँ, अविनीत और सुविनीत का अन्तर आदि की चर्चा हुई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि अविनीत और सुविनीत आचार-व्यवहार का स्वय उस पर तथा संघ पर क्या प्रभाव होता है? इसी प्रसग मे शिक्षा प्राप्ति के अयोग्य व्यक्तियो और शिक्षा प्राप्ति मे बाधक कारणो की चर्चा की गई है। अन्त मे गुरु आचार्य और वरिष्ठ मुनि (रात्निक) की अवहेलना (आशातना) या उपेक्षा का क्या परिणाम होता है इसकी चर्चा की गई है तथा आचार्य आदि के अविनय या अवहेलना (आशातना) करने पर निश्चित प्रायश्चित्तो का विधान किया गया है।

तृतीय बहुमान ज्ञानाचार के अन्तर्गत आचार्य की महिमा, आचार्य की सेवा या फल और आचार्यों के विविध प्रकारो का विस्तार से उल्लेख हुआ है। उसके पश्चात् आचार्य अथवा गुरु की उपासना कैसे करनी चाहिए, उसकी सेवा-शुश्रूषा का क्या फल होता है यह बताया गया है। इसी के प्रसग मे गुरु के सान्निध्य मे रहने अर्थात् गुरुकुल मे निवास करने के महत्व की चर्चा की गई है। उसके पश्चात् शिष्य द्वारा गुरु से प्रश्न करने और गुरु के द्वारा उनके उत्तर देने की विधि का उल्लेख हुआ है। इसी प्रसग मे यह भी बताया गया है कि उत्तर देते समय गुरु को शिष्य से सत्य को नही छिपाना चाहिए। इसी चर्चा के प्रसग मे बहुश्रुत (ज्ञानी) के प्रकारो की चर्चा की गई है। बहुश्रुत की यह चर्चा उत्तराध्ययन ११वें अध्याय मे भी विस्तार से उपलब्ध है, जिसका यहाँ संकलन किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रथ मे कालाचार, विनयाचार, बहुमानाचार का विस्तृत

---

१ दशवैकालिक ९/४/७-८, (च. पृ. ५५)।

विवरण सकलन किया गया है। लेकिन ज्ञानाचार के शेष उपधानाचार, अनिन्हवाचार, व्यंजन ज्ञानाचार, अर्थज्ञानाचार, तदुभय ज्ञानाचार की सक्षिप्त चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि इन विषयो की भी विस्तृत चर्चा आगमिक व्याख्या साहित्य मे उपलब्ध हो जाती है। चूंकि प्रस्तुत ग्रंथ मे आगमों से ही विषयो का संकलन किया गया है अतः आगमो मे ही उनका विस्तृत विवेचन उपलब्ध नही होने से अनुयोग के कर्ता ने इनका यहाँ संक्षेप मे ही उल्लेख किया है। आगे हम इन सवकी चर्चा करेंगे।

आचाराग की टीका मे शीलाक ने आठ प्रकार के ज्ञानाचारो का उल्लेख किया हैं—(१) कालाचार, (२) विनयाचार, (३) बहुमानाचार, (४) उपधानाचार, (५) अनिन्हवाचार, (६) व्यंजनाचार, (७) अर्थाचार और (८) उभयाचार।[1] वस्तुतः इन आठ ज्ञानाचारो मे मुख्य रूप से ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया का ही विवेचन किया गया है।

(१) कालाचार[2]

कालाचार मे ज्ञान-प्राप्ति के उपयुक्त समय का विचार किया गया है। जैन परम्परा यह मानती है कि प्रथम वय से लेकर अन्तिम वय तक अर्थात् वाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक ज्ञान की साधना की जा सकती है। दूसरे शब्दो मे ज्ञान-प्राप्ति की साधना जीवन पर्यन्त चल सकती है। जैन आचार्यों ने इस सम्बन्ध मे भी विस्तार से चर्चा की है कि स्वाध्याय और ज्ञानार्जन के लिए उपयुक्त समय कौन-सा है? सामान्यतया तो सभी कालो को ज्ञान-प्राप्ति के योग्य माना गया है, फिर भी मुख्य रूप से दिवस और रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहरो को स्वाध्याय के लिए अधिक उपयुक्त काल माना गया है। इन्हे क्रमश पूर्वान्हि, अपराम्ह, प्रदोष और प्रत्यूष कहा गया है। स्वाध्याय के या ज्ञानार्जन के लिए निषिद्ध समय की चर्चा करते हुए यह वताया गया है कि सूर्योदय का काल, सूर्यास्त का काल, मध्यान्ह और अर्ध रात्रि का काल, ये चार काल अथवा चार संध्याएँ स्वाध्याय के लिए उपयुक्त नही है। इसी प्रकार से स्थानाग मे भी उन सभी स्थितियो का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है जिनमे स्वाध्याय नही की जानी चाहिए। इसी प्रकार जैन आचार्यों ने इस सम्वन्ध मे भी विस्तार से चर्चा की है कितनी दीक्षा-पर्याय वाले व्यक्ति को किस आगम का अध्ययन कराया जाना चाहिये। अध्ययन के लिए उपयुक्त वय, समय और साधनात्मक परिपक्वता का विचार ही कालाचार है।

(२) विनयाचार[3]

विनयाचार मे इस तथ्य की विस्तार से चर्चा की गई है कि गुरु शिष्य का सम्बन्ध कैसा होना चाहिये और शिष्य को गुरु या आचार्य के प्रति कैसे व्यवहार करना चाहिए। दुर्भाग्य से आज जव शिक्षा एक व्यवसाय वन गया है उसमे विनय का स्थान गौण हो गया है। आज तो ज्ञान के लिए गुरु का होना भी वहुत महत्वपूर्ण नही रह गया है। किन्तु जव ज्ञान गुरु-मुख से ही उपलब्ध होता था तव यह अपरिहार्य था कि शिष्य का गुरु के प्रति आदर या श्रद्धा भाव रहे क्योकि आचार्य या गुरु की प्रसन्नता पर ही ज्ञान की उपलब्धि सम्भव थी। इस चर्चा के प्रसंग मे जैन आगमो मे आचार्य का स्वरूप और उसके विभिन्न भेद विस्तार से उल्लिखित हैं। इसी प्रसंग मे यह भी वताया गया है कि आचार्य, उपाध्याय, गुरु और सहयोगी साधको की सेवा का क्या फल मिलता है। उसमे यह वताया गया है कि तथारूप अर्थात् गुण सम्पन्न आचार्य की पर्युपासना करने से धर्म श्रवण का लाभ मिलता है। धर्म श्रवण से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान से विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होने पर व्यक्ति हेय का परित्याग करता है उसके फलस्वरूप अनाश्रव की प्राप्ति होती है। अनाश्रव से तप का विकास होता हैं, तप से निर्जरा या कर्म नाश होता है और जिससे अन्त में अयोग अवस्था या मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसी प्रसग मे यह भी वताया गया है कि साधक के लिए गुरुकुलवास अर्थात् गुरु के सान्निध्य मे रहने की क्या उपयोगिता है। यह स्पष्ट है कि गुरु के सान्निध्य मे रहने से एक ओर व्यक्ति का हृदय शकाओ से आक्रांत नही होता है, क्योकि शका होने पर उसके समाधान के लिए गुरु का सान्निध्य वना रहता है। दूसरी ओर उसके चारित्र का भी अनुरक्षण होता है क्योकि गुरु का सान्निध्य होने पर वह सहज रूप से चारित्र के दोषो को सेवन मे अग्रसर नही हो पाता है। इसी प्रसंग मे इस तथ्य की चर्चा भी उपलब्ध होती है कि गुरु को शिष्य से सत्य को नही छिपाना चाहिए। अपसिद्धांत का आश्रय लेकर आगम-पाठ को तोड-मरोड कर व्याख्या नही करनी चाहिए और न स्वयं अपने ज्ञान का अहंकार प्रदर्शित करना चाहिए। उसे प्राज्ञ और साधक प्रश्नकर्ता या श्रोता की उपेक्षा या परिहास भी नही करनी चाहिए। इस प्रकार से आचार्य को शिष्य की शंकाओ का किस प्रकार समाधान करना चाहिए, इसकी भी विस्तार से चर्चा की गई है। दूसरे शब्दो मे शिष्य के साथ-साथ गुरु के

---

१ आचारांग टीका, १/१/७, (च पृ. ५५)।
२ च. पृ. ६२-६८।
३ च. पृ. ७०-६६।

दायित्व बोध को भी स्पष्ट किया गया है। इसी प्रसग मे उत्तराध्ययन ११वें अध्याय के आधार पर कौन व्यक्ति श्रद्धा के योग्य बहुश्रुत हो सकता है, इसकी विवेचना की गई है। उत्तराध्ययन के प्रथम एवं ग्यारहवें अध्याय मे तथा दशवैकालिक के नवें अध्याय मे विनीत-अविनीत लक्षणो की विस्तृत चर्चा है। इसी प्रकार सुयोग्य शिष्य को कैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए, इस प्रसंग मे दशाश्रुतस्कन्ध मे ३३ आशतनाओ का उल्लेख है। अनुयोगकर्ता ने इन सभी तथ्यो को प्रस्तुत कृति मे सकलित कर दिया है।

उपधानाचार

जैन परम्परा मे ज्ञान साधना को तप साधना के साथ जोडा गया है, जिसे उनकी पारम्परिक भाषा मे उपधान कहा जाता है। प्राचीन काल से ही हमें इस तथ्य के सकेत उपलब्ध होते हैं कि किस आगम का अध्ययन करते समय शिष्य को किस प्रकार का तप करना चाहिए। इस प्रकार जहाँ एक ओर जैनाचार्यों ने ज्ञान-साधना और तप-साधना को परस्पर जोडा है वहाँ आगम साहित्य मे ऐसे भी प्रसग हैं जहाँ नवदीक्षित एव अध्ययनशील शिष्य के लिए कठोर एव दीर्घकालिक तपो का निषेध किया गया है।

अनिन्हवाचार

अनिन्हवाचार का सामान्य अर्थ है कि सत्य सिद्धात और अपने विद्या-गुरु के नाम को छिपाना नही चाहिये। सामान्यतया व्यक्ति अपने आप को बहुश्रुत या विद्वान सिद्ध करने के लिए अपने ज्ञानदाता गुरुजनो की उपेक्षा करता है और उनका नामादि नही बताता है। यह प्रसग विशेष रूप से उस समय उपस्थित होता है जब शिष्य और गुरु मे मतभेद उपस्थित हो जाता है और वह अपने गुरु से पृथक होकर और स्वय अपने ही नाम से सिद्धात का प्रचार करता है। निन्हव शब्द का अर्थ सत्य को छिपाना है। अनेक बार व्यक्ति सत्य को जानते हुए भी अपनी चारित्रिक कमजोरियो के कारण या अपनी सुविधा के लिए उसे तोड-मरोडकर व्याख्यायित करता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सामान्यतया सुविधावाद शिथिलाचारी व्यक्तियो मे पायी जाती है। वस्तुत अनिन्हवाचार का तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को अपने अहकार के पोषण के लिये अथवा अपनी कमजोरियो को छिपाने के लिये सत्य को विकृत नही करना चाहिये। वस्तुत. यह एक प्रकार से ज्ञान के क्षेत्र मे प्रामाणिक बने रहने की शिक्षा है। जैनधर्म मे आगम-पाठों को अपनी सुविधा के लिए तोड-मरोड कर व्याख्या करना समीचीन नही माना गया है।

व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार

व्यञ्जनाचार का तात्पर्य शब्दो के उच्चारण की शुद्धता को बनाये रखना है। यह पाठ-शुद्धि की साधना है। आगम ग्रन्थो में आये हुए स्वर और व्यञ्जन का अन्यथा उच्चारण नही करना यही व्यंजनाचार है, क्योकि उच्चारणभेद से पाठभेद और पाठभेद होने से अर्थभेद होने की सम्भावना बनी रहती है। अत उस युग मे जब सम्पूर्ण ज्ञान श्रुत-परम्परा से संचित रहता था तब व्यजनाचार का अपने आप मे महत्वपूर्ण स्थान था। वस्तुतः यह ग्रन्थ के मूलपाठ को यथावत् सुरक्षित रखने की एक शैक्षिक प्रणाली थी, जो कि आगम पाठो को यथावत् एवं प्रामाणिक बनाये रखने के लिए आवश्यक थी।

इसी प्रकार आगम मे आये हुए प्रत्येक शब्द का उसके सन्दर्भ के अनुकूल सही अर्थ करना अर्थाचार है। सामान्यतया प्रत्येक भाषा मे और विशेष रूप से प्राकृत भाषा मे एक ही शब्द विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। जैसे—"सुह" शब्द "सुख" और "शुभ" दोनो का वाचक है या "सत्य" शब्द शास्त्र और शस्त्र दोनो का वाचक है। अतः आगमिक पाठो के अर्थ निर्धारण करने मे प्रमाणिकता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक माना गया कि अध्ययन मे शुद्ध उच्चारण और सम्यक अर्थ का प्रतिपादन आवश्यक है। शब्द के उच्चारण और अर्थ निर्धारण की संयुक्त प्रक्रिया तदुभयाचार कही जाती है।

ज्ञानार्जन के क्षेत्र मे और उसके प्रतिपादन के क्षेत्र मे किस प्रकार की सावधानी अपेक्षित है इसकी चर्चा सूत्रकृताग मे उपलब्ध होती है। उसमे कहा गया है कि शास्ता के प्रति श्रद्धा रखते हुये श्रमण को न तो आगम का अन्यथा उच्चारण करना चाहिये और न आगम के अर्थ को छिपाना या दूषित करना चाहिये। गुरु से जिस प्रकार सूत्रार्थ की व्याख्या सुनी हैं उसे गुरु के निर्देशपूर्वक यथावत प्रतिपादन करना चाहिए। क्योकि सूत्र के अशुद्ध उच्चारण से अर्थभेद होता है। अर्थभेद से क्रिया भेद होता है, क्रियाभेद से सम्यक् आचार के अभाव मे निर्जरा नही होती और निर्जरा के नही होने से मोक्ष भी नही होता। इस प्रकार आगम-पाठ की उच्चारण-शुद्धता और उनके प्रसगानुसार सम्यक् अर्थ का प्रतिपादन ज्ञानार्जन प्रक्रिया की एक आवश्यक शर्त है।

स्वाध्याय

जैन परम्परा मे स्वाध्याय को ज्ञान-साधना का अनिवार्य अंग माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे मुनि की दैनिक चर्या का विवेचन करते हुये दिन और रात्रि के आठ पहरो में चार प्रहर स्वाध्याय के लिए, दो प्रहर ध्यान के लिए एक प्रहर शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए और एक प्रहर निद्रा के लिए निश्चित किया गया है। इससे जैन साधना के क्षेत्र मे ज्ञान की उपासना का कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह स्पष्ट हो जाता है। जैन आगमो मे और परवर्ती ग्रन्थो मे स्वाध्याय के लिए अनुपयुक्त काल और स्थान की भी चर्चा की गई है, जिसका

विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत चरणानुयोग ग्रन्थ मे हुआ है। अत इस भूमिका मे हम इसकी विशेष चर्चा नही करेंगे। जहाँ तक स्वाध्याय के स्वरूप का प्रश्न है यह एक विचारणीय प्रश्न है। सामान्यतया स्वाध्याय के निम्न पाच अग माने गये हैं—

(१) वाचना—मूल ग्रन्थ एवं उसके अर्थ का पठन-पाठन।

(२) पृच्छना—ग्रन्थ के पठन मे उपस्थित शकाओ का समाधान प्राप्त करना।

(३) परिवर्तना—पठित ग्रन्थो की आवृत्ति करना या उनका पुन. पठन करना।

(४) अनुप्रेक्षा—पठित विषयो के सम्बन्ध मे विशेष रूप से चिन्तन करना। स्वाध्याय का यह पक्ष चिन्तन या विमर्श की महत्ता को स्पष्ट करता है।

(५) धर्मकथा—प्रवचन करना या उपदेश देना। वस्तुत स्वाध्याय का यह अंग इस बात का सकेत करता है कि प्राप्त ज्ञान का वितरण भी ज्ञान-साधना का एक आवश्यक अंग है।

किन्तु मेरी दृष्टि मे यह सब स्वाध्याय का एक बाह्य रूप ही है। जैनो की पारम्परिक शब्दावली मे इसे द्रव्य-स्वाध्याय भी कह सकते हैं। स्वाध्याय का वास्तविक अर्थ क्या है? वह स्वयं तो उस शब्द की व्युत्पत्ति मे ही छिपा हुआ है। स्वाध्याय शब्द स्व+अध्याय से बना है। अध्याय शब्द अध्ययन, पठन एवं मनन का वाचक है। यदि इस दृष्टि से हम इसका अर्थ करें तो इसका एक अर्थ होगा "स्व" अर्थात् स्वयं का अध्ययन। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि स्वयं के अध्ययन से क्या तात्पर्य और साधना के क्षेत्र मे इसकी क्या उपयोगिता है? "आत्मान विद्धि" यह उपनिषदो का महत्वपूर्ण उद्‌घोष है। जैन परम्परा मे आचाराग आत्मज्ञान की प्राथमिकता को प्रतिपादित करता है। "के अहं आसी" "मैं कौन हूँ" यह उपनिषदो और जैन आगमो का मूल हार्द है, किन्तु हमे यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि वह अमूर्त आत्म तत्व जो समस्त ज्ञान प्रक्रिया का आधार है, वह ज्ञान का विषय नही बनाया जा सकता, जो ज्ञान का विषय बन सकती हैं वे हैं व्यक्ति की अनुभूतियाँ और भावनाएँ। व्यक्ति अपनी अनुभूतियो, वृत्तियो, वासनाओ और मनोदशाओ का ज्ञाता हो सकता है। इनका ज्ञाता होना या इनको जानने का प्रयत्न करना ही स्वाध्याय का मूल अर्थ है। स्वाध्याय का तात्पर्य है अपने अन्दर झाकना, स्व की वृत्तियो और वासनाओ को देखना, अपनी मनोदशाओ को पढना। जहाँ तक जैन साधना का प्रश्न है आचाराग मे साधक को बार-बार यह कहा जाता है कि तू देख या द्रष्टा बन। निश्चित रूप से आध्यात्मिक विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी वासनाओ, मनोवृत्तियो और मनोभावो को जाने क्योकि दुर्वासनाओ और दुर्भावनाओ और दुष्प्रवृत्तियो का निराकरण तभी सम्भव है. जबकि व्यक्ति उन्हे उस रूप में जाने। जो व्यक्ति अपनी बीमारी और विकृति को जानता है वही चिकित्सा के माध्यम से उसका निवारण कर सकता है। अत स्व के अध्ययन का तात्पर्य है व्यक्ति अपनी मनोदशाओ और वृत्तियो को जानकर उनका निराकरण करे। जैनागमो मे इस आत्मा के अध्ययन को स्वाध्याय नही कह कर ध्यान कहा गया है जो स्वाध्याय के बाद की अवस्था है। स्वाध्याय को आत्मज्ञान, चित्त की एकाग्रता (ध्यान) आदि का साधन माना है और आत्मानुभूति की प्रक्रिया को ध्यान कहा है।

हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि चाहे शास्त्र का अध्ययन हो या अपनी वृत्तियो और वासनाओ का अध्ययन। सभी का लक्ष्य हमारे मनोविकारो और वासनाओ का परिशोधन है और आत्म-शोधन की इस प्रक्रिया मे ज्ञान मात्र "ज्ञान" न रहकर "ज्ञानाचार" बन जाता है।

जैनाचार्यों ने इन तथ्यो की विस्तारपूर्वक चर्चा की है कि कौन व्यक्ति शिक्षा प्रदान करने के अयोग्य है। बृहत् कल्पसूत्र (४/६) मे नपुंसक (पण्डक), कामुक (वातिक) और क्लीव (हीन भावना से ग्रसित व्यक्ति) को शिक्षा प्रदान करने के अयोग्य कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र (११/५) मे उन कारणो का भी विश्लेषण किया गया है जिनकी उपस्थिति मे ज्ञान प्राप्ति सम्भव नही है। ये कारण पाँच माने गये हैं—(१) मान (अहकार), (२) क्रोध, (३) प्रमाद (अनुत्साह), (४) रोग और (५) आलस्य। इस प्रकार जैनागमो मे ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया के रूप मे ज्ञानाचार का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। ज्ञानाचार वस्तुत, ज्ञान का प्रयोगात्मक या व्यावहारिक पक्ष है। वह ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया है।

दर्शनाचार

जिस प्रकार ज्ञान को एक आचार अर्थात् साधना की एक विशेष प्रक्रिया माना गया है उसी प्रकार दर्शन को भी साधना की एक प्रक्रिया के रूप मे स्वीकार किया गया है। जैसा कि हम पूर्व मे सकेत कर चुके हैं जैन परम्परा मे दर्शन शब्द ऐन्द्रिक अनुभूति, आध्यात्मिक अनुभूति, आत्मसाक्षात्कार, दृष्टिकोण-विशेष, दार्शनिक-सिद्धात-विशेष, दार्शनिक अथवा तत्त्वमीमासीय अवधारणाओ के प्रति आस्था, तथा देव, गुरु, धर्म के प्रति आस्था, इन विविध अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। किन्तु जब हम दर्शन शब्द का प्रयोग दर्शनाचार के रूप मे करते हैं तो यहाँ हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया विशेष या साधना विशेष से होता हैं जिसके द्वारा व्यक्ति सम्यक्-दृष्टिकोण को प्राप्त करता है। अत. हमे दर्शनाचार की विवेचना करते हुए सर्वप्रथम उन तथ्यो पर विचार करना होगा, जिनके द्वारा व्यक्ति का दृष्टिकोण दूषित होता है और फिर उन तथ्यो पर विचार करना होगा, जिससे

व्यक्ति की दृष्टि या श्रद्धा सम्यक् बनती है। क्योंकि दर्शनाचार का तात्पर्य है, व्यक्ति को मिथ्या मान्यताओं से छुटकारा दिलाकर सम्यक् मान्यताओं के प्रति सुस्थिर करना।

जैन परम्परा मे अयथार्थ मान्यताओं के रूप मे मिथ्या दर्शन की चर्चा करते हुए विपरीत मान्यताओं के साथ-साथ आग्रह, अभिनिवेश, एकात आदि को भी मिथ्यात्व की कोटि मे माना गया है। वस्तुत जैनदर्शन सत्य को अपने सम्पूर्ण रूप मे देखने का प्रयत्न करता है। यद्यपि वह यह मानता है कि "अनतधर्मात्मक वस्तु" के सम्पूर्ण पक्षों का बोध सीमित मानवीय ज्ञान के द्वारा सम्भव नही है। अत अपने ज्ञान की सीमाओं को जानते हुए, दूसरे दृष्टिकोणों या सम्भावनाओं को पूर्णत असत्य कहकर नही नकारना, यथार्थ या सम्यक् दृष्टिकोण का आवश्यक अग माना गया है। यह स्पष्ट है कि ऐकातिक दृष्टिकोण या हमारे पूर्वाग्रह अथवा दुरभिनिवेश सत्य को समझने में बाधक होते हैं अत सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के लिये आवश्यक यह है कि व्यक्ति अपने को दुरभिनिवेश और पूर्वाग्रहों से मुक्त रखे। पाश्चात्य दार्शनिक देकार्त ने भी इस तथ्य की विशेष रूप से चर्चा की है। क्योकि जब तक व्यक्ति दुराग्रहो से और पूर्वाभिनिवेश से मुक्त नहीं होता तब तक दृष्टि निर्मल नहीं होती और जब तक दृष्टि निर्मल नही होती तब तक वह सत्य को यथार्थ रूप मे नही समझ पाता। जब तक व्यक्ति की दृष्टि पर राग और द्वेष रूपी रंगीन चश्मा चढा हुआ है, वह पूर्वाग्रह और दुरभिनिवेशो से मुक्त नही है, तब तक उसके लिये सत्य का दर्शन सम्भव नही है। अत दर्शन-विशुद्धि के लिए अपने पूर्वाग्रह और दुरभिनिवेश को छोडना होगा।

जैनागमो और विशेष रूप से सूत्रकृताग मे उन ऐकातिक मिथ्या धारणाओं का उल्लेख है जिन्हे मुख्यतः क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद से वर्गीकृत किया गया है किन्तु इसके अतिरिक्त ईश्वरकर्तृत्ववाद, एकत्ववाद, अण्डे से सृष्टि की उत्पत्ति, नियतिवाद, भौतिकवाद या भोगवाद आदि का भी उल्लेख एव खण्डन जैनागमो मे देखा जाता है। सम्यक्-दर्शन के जिन पाँच लक्षणो की चर्चा हमे जैन आगम साहित्य मे मिलती है उनमे समत्व का स्थान पहला है। समभाव, अनासक्ति, पाप कर्मों के प्रति भय, दूसरे प्राणियो को आत्मवत् समझकर उनके प्रति वैसा ही व्यवहार करना जैसा कि अपने प्रति चाहते हैं और आस्तिक्य या श्रद्धा ये पाँच सम्यक् दर्शन के लक्षण माने गये हैं। इनमे भी समत्व और अनासक्ति प्रमुख तत्त्व है, समत्व से प्राणियो को आत्मवत् मानने का बोध उत्पन्न होता है, जो अनुकम्पा का कारण बनता है, साथ ही समत्व की साधना से सासारिक अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो मे चित्त की अविचलता बनी रहती है। यही वास्तविक रूप मे दृष्टिकोण की विशुद्धि का आधार है। पुन अनासक्ति का तत्व वैराग्य और पापकर्म से विरति का कारण बनता है, क्योंकि आसक्ति या राग का तत्व ही हमे ससार से जोडता है और अशुभाचरण का कारण होता है।

किन्तु इन सबके अतिरिक्त जैन चिन्तकों ने सम्यक् दर्शन की उपलब्धि के लिये क्रोध, अहकार (मान), कपटवृत्ति (माया) और लोभ के तीव्रतम आवेगो अर्थात् अनन्तानुबधी कषायो का उपशमन आवश्यक माना है। जब तक इन तीव्रतम कषायो का उपशमन नही होता है तब तक सम्यक्-दर्शन की उपलब्धि और उसका टिकाव सम्भव नही होता है।

अतः दर्शनाचार की साधना का अर्थ है सदैव ही यह प्रयत्न करना या सजगता रखना कि कषायो या वासनाओं के आवेश हमारी अन्तरात्मा की आवाज या आत्मानुभूति को दबा न लें। किन्तु प्रत्येक साधक के लिए यह सम्भव नही होता है कि वह अपने दृष्टिकोण को पूर्वाग्रहो, राग-द्वेषजन्य दुरभिनिवेशो एव कषायो के तीव्रतम आवेगो से मुक्त कर सकें। जैन धर्म मे साधना का मुख्य लक्ष्य वीतराग-दशा या समत्व (सामायिक) की उपलब्धि माना गया है। अत. यदि हम सम्यक दर्शन का अर्थ रागद्वेष से ऊपर उठकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए वीतराग दृष्टि की प्राप्ति को माने तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ऐसी वीतराग दृष्टि का निर्माण तो साधना के अन्त मे होता है। जबकि सम्यक् दर्शन को साधना का प्रारम्भिक एव आवश्यक चरण माना गया है। इस समस्या के समाधान के लिए जैन आचार्यों ने यह व्यवस्था दी कि जब तक व्यक्ति स्वय दुराग्रहो और दुरभिनिवेश से मुक्त होकर वीतराग जीवन-दृष्टि को उपलब्ध नही कर पाया है तब तक उसके लिये यही उचित है कि वह वीतराग के वचनो के प्रति आस्तिक्य-बुद्धि या श्रद्धाभाव रखे। रोगी को रोग से मुक्त होने के लिए दो ही विकल्प होते हैं, या तो वह स्वय अपनी बीमारी को समझ कर और उसके निराकरण का प्रयत्न करे। किन्तु यदि वह स्वय इस क्षेत्र मे अपने को असमर्थ अनुभव करता है तो उसके लिए वैद्य का सहारा लेना, उसके आदेशो को मानना और तदनुरूप व्यवहार करना अत्यावश्यक होता है। यही बात आध्यात्मिक सन्दर्भ मे भी है। या तो व्यक्ति स्वय अपनी आध्यात्मिक विकृतियो को या अपूर्णताओं को समझे और उन्हे स्वयं ही दूर करने का प्रयत्न करे। आध्यात्मिक विकृति से यहाँ हमारा तात्पर्य राग-द्वेष और कषायो से मुक्त होना है। यदि व्यक्ति इतना समर्थ नही है कि वह सजग होकर अपनी वासनात्मक वृत्तियो या चित्त की विकृतियो को देख सके और उनसे ऊपर उठ सके, तो उसके लिए दूसरा उपाय यही है कि प्रबुद्ध-आत्माओं के उपदेशों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके तदनुरूप साधना करे।

यही साधना के क्षेत्र मे श्रद्धा या आस्तिक्य-बुद्धि का स्थान होता है। यही दर्शनाचार है।

तत्वार्थ सूत्र मे सम्यक्-दर्शन के दो रूप माने गये हैं (१) निसर्गज और (२) अभिगमज।[1] इसी को उत्तराध्ययन सूत्र मे निसर्गरुचि-सम्यक्त्व और उपदेशरुचि-सम्यक्त्व कहकर व्याख्यायित किया गया है।[2] निसर्गरुचि सम्यक्त्व का मतलब है कि बिना परोपदेश के स्वय ही अपनी कषायो और वासनाओ की मन्दता के कारण सत्य का यथार्थ रूप मे दर्शन कर लेना। व्यक्ति के जीवन मे कभी-कभी ऐसे अवसर उपलब्ध हो जाते हैं जब स्वाभाविक रूप से ही उसकी कषायो और वासनाओ का आवेग कम हो जाता है और व्यक्ति सत्य का दर्शन या अनुभूति करने लगता है। वह अपनी कषायो की तरतमता के आधार पर निश्चित रूप से अपनी आत्मिक विकृतियो या कमजोरियो को जान लेता है। इसे एक अन्य उदाहरण से इस प्रकार समझा जा सकता है एक पाण्डुरोग से ग्रस्त व्यक्ति रक्त मे पीलेपन की मात्रा के तरतमता के कारण जब वह जान लेता है कि उसकी दृष्टि मे कही दोष है, तो वह उसकी चिकित्सा या निवारण का प्रयत्न करता है। किन्तु सभी लोगो मे इतनी वैचारिक परिपक्वता नही होती है कि वे अपनी विकृतियो को सम्यक् प्रकार से जान भी नही पाते हैं। उनके लिए यही उचित होता है कि वे चिकित्सक की सलाह मानें और तदनुरूप अपनी बीमारी को दूर करने का प्रयत्न करें।

उत्तराध्ययन सूत्र मे सम्यक्त्व के प्रकारो के सन्दर्भ मे दस प्रकार की सम्यक्त्व रुचि का विवरण मिलता है।[3] हमने यहाँ उनमे से केवल दो निसर्ग रुचि और उपदेश रुचि का विवेचन किया है। उपदेश रुचि का तात्पर्य है दूसरो के माध्यम से सत्य के स्वरूप को सुनकर आस्था या विश्वास रखना। इन रुचियो मे आज्ञारुचि, क्रियारुचि भी महत्वपूर्ण है। वरिष्ठजनो की अथवा वीतराग की आज्ञा के पालन को ही धर्म साधना का सर्वस्व समझना यही आज्ञा-रुचि-सम्यक्त्व है। इसी प्रकार अभिगम-रुचि सम्यक्त्व का तात्पर्य है बुद्धि पूर्वक सत्य को समझकर उस पर श्रद्धा करना।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति की रुचि और आस्था का केन्द्र धार्मिक विधि-विधानो या धार्मिक क्रिया-काण्डो का सम्पादन होता है उसे क्रियारुचि सम्यक्त्व कहा जाता है। इनमे हम देखते हैं कि जहाँ निसर्गरुचि और अभिगम रुचि मे समझपूर्वक आस्था होती है वहाँ उपदेशरुचि, आज्ञारुचि और क्रिया-रुचि मे विवेक के स्थान पर आस्था का पक्ष अधिक महत्वपूर्ण होता है। दर्शनाचार की चर्चा के प्रसंग मे उसके विविध रूपो की विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नही है। फिर भी हम यदि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से विचार करें तो जैन धर्म में सम्यक्-दर्शन शब्द के अर्थ का जो विकास हुआ है उसमे आगे चलकर सत्य की अनुभूति अथवा पूर्वाग्रहो से मुक्त दृष्टि की अपेक्षा क्रमश आस्था और श्रद्धा का तत्व प्रधान होता गया और अन्त मे वह देव, गुरु और धर्म या शास्त्र के प्रति श्रद्धा का वाचक बन गया, किन्तु प्रारम्भ मे यह स्थिति नही थी, दर्शन शब्द आत्मानुभूति या द्रष्टाभाव का वाचक था। उसके पश्चात भी सम्यक् दर्शन मे श्रद्धा का स्थान होते हुए भी वह श्रद्धा तात्विक मान्यताओ के सन्दर्भ मे थी; व्यक्ति विशेष के प्रति नही।

प्राचीन ग्रन्थो मे आत्मा के अस्तित्व, आत्मा की नित्यता, आत्मा का कर्तृत्व एव भोक्तृत्व, आत्मा की मुक्ति की सम्भावना और मुक्ति के मार्ग को स्वीकार करना ही सम्यक्-दर्शन माना गया, किन्तु जब हम आगमो मे सम्यक्-दर्शन के आठ अगो और पाँच अतिचारो की चर्चा को देखते हैं तो निश्चित ही हमे धार्मिक आस्थाओ के प्रति श्रद्धा को दृढ करने के प्रयत्न दिखाई देते हैं। इसी प्रसग मे उत्तराध्ययन सूत्र मे सम्यक्त्व के आठ प्रभावना अंगो की चर्चा हुई है। यहाँ प्रभावना का तात्पर्य लोगो को जिन धर्म के प्रति आकर्षित करना और उसमे उनकी श्रद्धा को दृढ़ बनाना है। यह आठ प्रभावना अग निम्न हैं[4]—

(१) जिन प्रवचन के प्रति सन्देह से रहित होना।

(२) फलाकांक्षा अथवा अन्य धर्म और दर्शन की आकाक्षा से रहित होना।

(३) जिनधर्म के प्रति आलोचक दृष्टि का अभाव।

(४) मूर्खतापूर्ण अन्ध विश्वासो से मुक्ति।

(५) अपनी श्रद्धा को सबल बनाने का प्रयत्न।

(६) धर्म मार्ग से विचलित लोगो को पुन. स्थिर करना।

(७) स्वधर्मी बन्धुओ के प्रति वात्सल्य भाव अर्थात् उनके सुख-दु ख मे सहभागी बनना।

(८) जिनधर्म की प्रभावना या प्रसार का प्रयत्न करना।

इस प्रकार यहाँ हम स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि जहाँ सम्यक्-दर्शन के मूल मे पूर्वाग्रहो से रहित और समभाव से युक्त होने या साक्षी भाव मे स्थित रहने की बात मुख्य थी। वही आगे चलकर धार्मिक अभिनिवेश और आस्था की पुष्टि के प्रयत्न प्रमुख होते गये। दर्शन आत्म-दर्शन से तत्त्वदर्शन और फिर श्रद्धाभाव बन गया।

इसी प्रकार जब दर्शन के पाँच अतिचारो की चर्चा हुई तो

---

१ तत्वार्थ. १/३।

३ उत्तराध्ययन २८, गा. १६-२७।

२ उत्तराध्ययन २८/१६, स्थानांग २/१/५६।

४ उत्तराध्ययन २८/३१।

उसमें भी जिनवचन के प्रति शंका करने, अन्य मत की आकांक्षा या इच्छा करने, अन्य धर्मावलम्बियों के साथ सम्पर्क रखने और उनकी प्रशंसा करने का निषेध कर दिया गया। क्योंकि ये ही ऐसे आधार थे जिनके द्वारा किसी व्यक्ति की जिनधर्म के प्रति आस्था को सुरक्षित रखा जा सकता था। यद्यपि ये तथ्य सम्यक्-दर्शन के मूल अर्थ के साथ संगति नहीं रखते हैं क्योंकि सम्यक् दर्शन का मूल तात्पर्य तो सत्य-निष्ठा या निष्पक्ष दृष्टि से सत्यान्वेषण का प्रयास करना है। जहाँ सम्यक्-दर्शन के अतिचारों की चर्चा के प्रसंग में संशय को एक अतिचार माना गया है और उसकी गणना "हेय" तत्व में की गई है। वहीं आचारांग में संशय को ज्ञान का आवश्यक साधन माना गया है। उसमें कहा गया है कि "जो संशय का परिज्ञाता होता है, वह संसार का परिज्ञाता होता है।"[1] वस्तुतः यहाँ संशय को ज्ञान की प्राप्ति में बाधक न मानकर, ज्ञान के विकास का कारण माना गया है। यहाँ संशय व्यक्ति की जिज्ञासावृत्ति का सूचक है। क्योंकि जिज्ञासा वृत्ति के अभाव में ज्ञान का विकास नहीं होता है। इसी प्रकार जहाँ सम्यक्-दर्शन के अतिचारों के रूप में अन्य मत की प्रशंसा करना और उनके अनुयायियों के साथ सम्पर्क रखना अनुचित माना गया है, वहाँ सूत्रकृतांग में उन व्यक्तियों की आलोचना की गई है, जो अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मत की निन्दा करते हैं[2]। मात्र यही नहीं सूत्रकृतांग में तो असितदेवल, नमि, रामपुत्र, बाहुक, पाराशर, द्वैपायन आदि को जिन-प्रवचन सम्मत माना गया है।[3] उत्तराध्ययन में भी अन्यलिंग सिद्धों का उल्लेख है ही। ऋषिभाषित में नारद, याज्ञवल्क्य, आरुणि, उद्दालक, मंखलिगोसाल संजय (वेयट्ठिपुट) सारिपुत्र, महाकाश्यप आदि को अर्हतमहर्षि का सम्मानित पद दिया गया है।[4] इस प्रकार इन दोनों दृष्टिकोणों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है और जो इस बात का भी सूचक है जो सम्यक् दर्शन शब्द किसी युग में आग्रहमुक्त दृष्टि से सत्यान्वेषण या आत्मानुभूति का परिचायक था, वही आगे चलकर एक परम्परा विशेष की मान्यताओं से बद्धमूल होने लगा। यद्यपि सूत्रकृतांग में भी हमें अन्य मतों की समालोचना उपलब्ध होती है किन्तु वे समालोचनाएँ मूलतः या तो एकांतिक और अयुक्तिसंगत मान्यताओं के प्रति हैं, या फिर शिथिलाचारी या स्वच्छंद प्रवृत्ति के लिए हैं। जहाँ सूत्रकृतांग में मुख्यतया पंचमहाभूतवादी, ईश्वर-कर्तृत्ववादी, आत्माद्वैतवादी, नियतिवादी आदि अवधारणाओं की समालोचना प्रस्तुत की गई है, वहाँ आचारांग में आत्मवाद, लोकवाद, क्रियावाद और कर्मवाद की स्थापना की गई है। वस्तुतः, प्रारम्भ में जैन परम्परा में सम्यग्-दर्शन का तात्पर्य आत्मानुभूति या साक्षीभाव था। उसके पश्चात् आत्मा और लोक के अस्तित्व को स्वीकार कर आत्मा को अपने कर्मानुसार फल प्राप्ति के रूप में विविध योनियों में जन्म लेने वाला स्वीकार करना माना गया। षट्द्रव्यों और नौ तत्वों के प्रति आस्था को सम्यक् दर्शन कहा गया है, फिर जिन और जिन आगमों के प्रति आस्था को ही सम्यक् दर्शन कहा गया है। यही आगे चलकर देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा वाचक बना। इस समस्त चर्चा से यह भी सिद्ध होता है कि दर्शन शब्द मात्र विश्वास का प्रतीक न होकर विश्वास के अनुरूप जीवन जीने का सूचक है और इसी अर्थ में वह दर्शनाचार बन जाता है।

दर्शनाचार प्रस्तुत कृति में

दर्शनाचार का प्रारम्भ दर्शन के स्वरूप की चर्चा से किया गया है। इसमें सम्यक्-दर्शन के लक्षण एवं प्रकार, सम्यक्-दर्शन का फल, उसकी प्राप्ति के लिए अनुकूल आयु, काल एवं दिशाएँ जैसी महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा के साथ-साथ सम्यक्त्व की प्रभावना के आठ अंग, रुचि के आधार पर सम्यक्त्व के दस प्रकारों की चर्चा भी प्रसंगानुसार मिलती है, जिनका संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में इन महत्वपूर्ण चर्चाओं के अतिरिक्त बोधि की सुलभता एवं दुर्लभता के पाँच कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसंग में तीन प्रकार के दुर्बोध्य तथा तीन प्रकार के सुबोध्य जीवों का वर्णन करते हुए सुलभबोधि और दुर्लभबोधि के लक्षणों एवं उनके अन्तर को स्पष्ट किया गया है। साथ ही बोधिलाभ में बाधक एवं साधक हेतुओं का विस्तृत विवरण भी उपलब्ध होता है। श्रद्धालु और अश्रद्धालु के अन्तर को स्पष्ट करते हुए अंत में यह बताया गया है कि सम्यक्-दृष्टि का समस्त ज्ञान एवं आचार भी सम्यक् रूप में परिणत हो जाता है।

इसी प्रसंग में सम्यग्दर्शी श्रमण के परीषहजय अर्थात् साधना मार्ग में सफलता तथा असम्यग्दर्शी श्रमण के परीषह-पराजय अर्थात् साधना के क्षेत्र में विफलता की चर्चा की गई है। पुनः सम्यक्त्व-पराक्रम अर्थात् सम्यक्त्व साधना के अंगों की उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्याय के आधार पर चर्चा की गई है। इसके साथ ही संवेग, निर्वेद आदि की चर्चा भी की गई है। इसमें चार प्रकार की श्रद्धा और सम्यक्त्व के पाँच अतिचारों का भी विशद विवेचन उपलब्ध है। इसी प्रसंग में अनुस्रोत और

---

१ आचारांग १/५/१/१४६।
२ सूत्रकृतांग १/१/२/२३।
३ वही १/३/४/१-४
४ ऋषिभाषित एक अध्ययन (डा. सागरमल जैन) पृ. १७-१८

प्रतिस्रोत जैसे महत्वपूर्ण विषयो की चर्चा के साथ-साथ अस्थिरात्मा कैसा होता है, यह भी विभिन्न उपमाओ से वताया गया है। साधुता से पतित श्रमण की दशा का वर्णन करते हुए सयम साधना मे रत रहने वालो को सुखी तथा उससे पतित होने वालो को दु खी कहा गया है तथा श्रमणो को सयम मे स्थिर रहने का सदेश दिया गया है। मिथ्यादर्शन पर विजय पाने से क्या लाभ होता है इस पर भी प्रकाश डाला गया है। चार अन्यतीर्थियो की श्रद्धा का निरसन करते हुए क्रमश [1]तज्जीव तत्शरीरवाद, पंच महाभूतवाद, ईश्वरकारणिकवाद तथा नियतिवाद की समालोचना की गई है। मिथ्यादृष्टियो की इस चर्चा के प्रसग मे सूत्रकृताग मे उल्लेखित सृष्टि की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धातो, आत्म अकर्तावाद, एकात्मवाद, आत्मषष्ठवाद और पंचमहाभूत के अतिरिक्त अवतारवाद, लोकवाद एव पंच-स्कन्धवाद की भी समीक्षा की गई है। किन्तु इसके साथ-साथ सूत्रकृताग मे यह भी वताया गया है कि जो अपने मत की प्रशसा एवं अन्य मत की निन्दा करते हैं वे ससार मे परिभ्रमण करते हैं। इस गाथा मे हमे जैन दर्शन की अनेकान्तवादी या सहिष्णुवादी दृष्टि के दर्शन होते हैं। मिथ्यात्व की इस चर्चा के प्रसग मे मिथ्यादर्शन के भेद-प्रभेदो की चर्चा के साथ-साथ मोहमूढ या मिथ्यादृष्टि की दुर्दशा पर भी चर्चा की गई है। उसमे ही प्रसंगानुसार विवाद या शास्त्रार्थ के छह प्रकारो तथा विपरीत प्ररूपणा के प्रायश्चित्त का विधान भी उपलब्ध होता है। अन्यतीर्थियो के चार सिद्धातो यथा—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद तथा अज्ञानवाद की विस्तृत चर्चा भी हम जैनागमो मे पाते हैं। यहाँ सूत्रकृताग के आधार पर इन चारो ही प्रकार के सिद्धातो के स्वरूप की चर्चा की गई है और इनके एकातवादी रूपो को समझाने का भी प्रयास किया गया है। इसी चर्चा मे श्वेतकमल को पाने मे सफल नि स्पृह भिक्षु का उल्लेख किया गया है एव एकात दृष्टि के निषेध पर वल दिया गया हैं। साथ ही पार्श्वापत्यो अर्थात् शिथिलाचारियो की प्रशसा, उनसे संसर्ग आदि के प्रायश्चित्त की क्या व्यवस्था है इसका उल्लेख हुआ है।

अन्य तीर्थियो की मोक्ष अवधारणा और उन अवधारणाओ के परित्याग पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। चर्चा के इस प्रसंग मे निर्वाण ही साध्य है, ऐसा वताया गया है। मोक्ष मार्ग मे अप्रमत्त भाव से गमन करने के उपदेश के साथ यह भी कहा गया है कि निर्वाण का मूल सम्यक्दर्शन है। प्रधान मोक्षमार्ग की चर्चा करते हुए गुरु और वृद्धो की सेवा, स्वाध्याय, एकान्तवास आदि उसके महत्वपूर्ण उपाय वताये गये हैं। अन्त मे इसमे सन्मार्ग और उन्मार्ग के स्वरूप का चित्रण किया गया है।

चारित्राचार—चारित्राचार के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थ मे निम्न विषयो का सकलन किया गया है—

सर्वप्रथम चरणविधि के महत्व का प्रतिपादन किया है। इसके पश्चात् संवर की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति कब, किस वय मे और किस प्रकार होती है इसकी चर्चा की गई है। तदनन्तर आश्रव और संवर के स्वरूप का कथन किया गया है। पाँच संवर द्वारो पर प्रकाश डालते हुए यह वताया गया है कि अविरति और विरति से जीव किस प्रकार गुरुता और लघुता को प्राप्त होता है। उसी क्रम मे दस प्रकार के असंवर दस प्रकार के संवर की चर्चा करते हुए यह वताया गया है कि सवर करने वाला ही महायज्ञ का कर्ता है। इसके पश्चात् दस प्रकार की असमाधि और दस प्रकार की समाधि तथा असवृत और संवृत अणगार के ससार परिभ्रमण की चर्चा के साथ-साथ चारित्र सम्पन्नता के फल की भी चर्चा की गयी हैं। तदन्तर चारित्राचार मे पाँच महाव्रतो की विस्तृत विवेचना उपलब्ध होती है।

प्रथम महाव्रत के रूप मे अहिंसा के स्वरूप और उसकी आराधना का वर्णन किया गया है। प्रसंगानुसार प्रथम महाव्रत की प्रतिज्ञा का स्वरूप, अहिंसा के साठ नाम, भगवती अहिंसा की आठ उपमाएँ एवं अहिंसा के स्वरूप के प्ररूपक और पालक विभिन्न प्रकार के साधको की चर्चा है। इसके पश्चात् अहिंसा के आधार के रूप मे आत्मवत् दृष्टि जैसे महत्वपूर्ण विषय का विवेचन मिलता है।

हिंसा के निषेध के लिये प्रथमतः छह जीवनिकायों का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् इन जीवनिकायो की हिंसा नही करने की प्रतिज्ञा पर वल डाला गया है। षड्जीवनिकाय मे प्रथम पृथ्वीकाय, जीवो की चर्चा करते हुये पृथ्वीकाय जीवो की वेदना को मनुष्य की वेदना के समान वताकर उनकी हिंसा का निषेध किया गया है।

इसी तरह का विवरण अप्कायिक जीवो, तेजसकायिक जीवो, वायुकायिक जीवो, वनस्पतिकायिक जीवो तथा त्रसकायिक जीवो के सम्वन्ध मे भी दिया गया है। इसी प्रसग मे आर्य-अनार्य वचनो के स्वरूप, वालजीवो का पुन-पुनः मरण प्राप्त करना, अयतना का निषेध तथा छ. जीवनिकाय की हिंसा के परिणामो पर भी प्रकाश डाला गया है। चारित्राचार के इसी सन्दर्भ मे षड्जीवनिकाय की हिंसा के प्रायश्चित्त पर भी व्यापक चर्चा मिलती है। इसमे सचित्त (हरे) वृक्ष के मूल मे मलमूत्र आदि का विसर्जन करना, सचित्त वृक्ष पर चढ़ना, प्राणियो को वाँधना आदि के प्रायश्चित्तो की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। प्रायश्चित्त विधान को लेकर हमने इसी भूमिका मे अन्यत्र विचार किया है।

सदोष चिकित्सा का निषेध करने के क्रम मे गृहस्थ से नख, दात, ओष्ठ आदि रंगवाना, फोडे, व्रण आदि की शल्य चिकित्सा करवाना, वैयावृत्य (सेवा) करवाना, गृहस्थकृत चिकित्सा की

---

1 देखें—सूत्रकृतांग १/३/४/१-४।

अनुमोदना, लीख, कृमि आदि निकालने की अनुमोदना का निषेध किया गया है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनी द्वारा परस्पर चिकित्सा करने सम्बन्धी प्रायश्चित्त की चर्चा प्रसंग में निम्न बातों पर प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है। जैसे निर्ग्रन्थ द्वारा निर्ग्रन्थी के पैरो आदि की साज-सज्जा, निर्ग्रन्थी द्वारा निर्ग्रन्थ के पैरो आदि की साज-सज्जा (परिकर्म), निर्ग्रन्थ द्वारा निर्ग्रन्थी के व्रणो एवं गण्डादि की चिकित्सा करना, निर्ग्रन्थी द्वारा निर्ग्रन्थ के व्रणो एवं गण्डादि की चिकित्सा, निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी द्वारा परस्पर एक दूसरे के कृमि निकालना आदि के प्रायश्चित्त का विधान जैनागमो मे उपलब्ध है। इसी तरह के प्रायश्चित्त अन्यतीर्थिक या गृहस्थ द्वारा चिकित्सा करवाने तथा उनकी चिकित्सा करने के सम्बन्ध मे भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे अहिंसा नामक प्रथम महाव्रत के परिशिष्टाक के अन्तर्गत प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ, आरम्भ-सारम्भ-समारम्भ तथा अनारम्भ-असारम्भ और असमारम्भ के सात-सात प्रकारो, प्राण सूक्ष्म, पनक सूक्ष्म, बीज सूक्ष्म, हरित सूक्ष्म, पुष्प सूक्ष्म, अण्ड सूक्ष्म, लयन सूक्ष्म (बिल) तथा स्नेह सूक्ष्म आदि आठ सूक्ष्मो की चर्चा और उनकी हिंसा का निषेध, दस प्रकार के असयम तथा दस प्रकार के सयम का निरूपण किया गया है। साथ ही पाप-श्रमण का स्वरूप, अन्यतीर्थिको का स्थविरो के साथ पृथ्वीकायिक हिंसा विषयक विवाद जैसे महत्वपूर्ण विषय का भी संकलन किया गया है।

द्वितीय सत्य महाव्रत की चर्चा करते हुए मृषावाद विरमण महाव्रत की प्रतिज्ञा एवं उसकी पाँच भावनाओ की चर्चा है। तदनन्तर सत्य वचन की महिमा, सत्य वचन की छ उपमाएं, अवक्तव्य तथा वक्तव्य सत्य, सत्य वचन का फल और मृषावाद के प्रायश्चित्तो का वर्णन किया गया है। इसी प्रसंग में नही बोलने योग्य छ प्रकार के वचनो का निषेध किया गया है।

तृतीय अस्तेय महाव्रत का प्रतिपादन करते हुए उसकी प्रतिज्ञा, उसकी पाँच भावनाएँ, दत्त अनुज्ञात सवर के आराधक, दत्त अनुज्ञात सवर के फल, अन्य भी साधना के उपकरण एवं स्थान का उपयोग हेतु ग्रहण के विधि-निषेध की चर्चा है। इसके पश्चात् यह कहा गया है कि राज्य परिवर्तन या राजा के वंश विच्छेद या पराजित होने पर परिवर्तन की स्थिति मे नये राजा की अनुमति पूर्वक ही वहाँ विहार एव स्थान (अवग्रह) आदि का उपयोग कल्पनीय होता है। अन्त मे अदत्तादान के प्रायश्चित्त का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। इसमे किसी अन्य श्रमण के शिष्य या आचार्य के अपहरण का भी प्रायश्चित्त बताया गया है।

परिशिष्ट मे तृतीय अदत्तादान महाव्रत की पाँच भावनाओ की चर्चा के साथ अन्यतीर्थिको के अदत्तादान सम्बन्धी आक्षेपो का निराकरण किया गया है।

चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत की चर्चा मे ब्रह्मचर्य का स्वरूप, उसकी प्रतिज्ञा, मैथुन विरमणव्रत की पाँच भावनाएँ ब्रह्मचर्य महिमा, उसकी सैंतीस उपमाएँ, उसके खण्डित होने पर सभी महाव्रतों का खण्डित हो जाना, ब्रह्मचर्य साधना की अनुकूल एव प्रतिकूल स्थितियाँ, ब्रह्मचर्य की आराधना का फल, ब्रह्मचर्य की साधना के अनुकूल वय, प्रहर, जैसे विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ब्रह्मचर्य की निर्विघ्न साधना सम्बन्धी निर्देशों के साथ विविक्त शयनासन के सेवन का सुपरिणाम तथा स्त्री के साथ आसन पर बैठने, उसकी इन्द्रियो के अवलोकन करने तथा वासनाजन्य शब्दो के उच्चारण का निषेध किया गया है। इसी प्रकार पूर्व अनुभूत भोगों के स्मरण का निषेध, विकारवर्धक आहार करने का निषेध, अधिक आहार करने का निषेध, विभूषा का निषेध, शब्दादि विषयो मे आसक्ति का निषेध तथा वेश्याओ के निवास सम्बन्धी मार्ग मे आवागमन का निषेध किया गया है। इसी चर्चा मे ब्रह्मचर्य के अठारह प्रकारो का निरूपण भी स्पष्ट रूप से किया गया है। ब्रह्मचर्य का पालन क्यो किया जाये, इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि यह अधर्म का मूल है तथा इसके पालन से स्त्रियो के सम्पर्क से होने वाले भव-भ्रमण जन्य रोग नही होते हैं। ब्रह्मचर्य की इसी चर्चा मे शारीरिक साज-सज्जा, काम-क्रिया आदि का निषेध किया गया है।

भिक्षु-भिक्षुणी का परस्पर अथवा किसी गृहस्थ से चिकित्सा करवाना या व्रण, गण्डादि की चिकित्सा करवाना एव कृमि निकालने जैसे चिकित्सा के उपायो का सहारा लेने पर उनके प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

परिकर्मकरण (साज-सज्जा) की चर्चा के प्रसग मे शरीर-परिकर्म, पाद-परिकर्म, नख-परिकर्म, जघा-परिकर्म, ओष्ठ-परिकर्म, उत्तरोष्ठ-रोम-राजि (दाढी) परिकर्म, दन्त-परिकर्म, चक्षु-परिकर्म, अक्षिपत्र-परिकर्म, रोम-परिकर्म, केश-परिकर्म आदि की चर्चा है। इसी प्रसग में स्वय परिकर्म करने अथवा परस्पर अन्यतीर्थिकों एव गृहस्थो से परिकर्म कराने सम्बन्धी प्रायश्चित्तों पर भी प्रकाश डाला गया है।

आगमिक सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जैन परम्परा मे ब्रह्मचर्य की सुरक्षा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसलिए मैथुन के सकल्प से अपने भिन्नलिंगी के स्पर्श और स्पर्शसुख के आस्वादन का निषेध किया गया है। इसी प्रकार मैथुन सेवन के संकल्प से गुह्य अगो के प्रक्षालन आदि का भी निषेध किया गया। इसी प्रकार मैथुन सेवन के लिए प्रार्थना करने, वस्त्र हटाने, वासना सम्बन्धी अगो का संचालन करने, उन्हे सजाने सवारने, हस्तकर्म से वीर्यपात करने आदि का न केवल निषेध

किया गया बल्कि इनके लिए चातुर्मासिक परिहारस्थान आदि कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी की गई है। इसी प्रकार किसी भिक्षु, भिक्षुणी अथवा स्त्री-पुरुष को आकर्षित करने अथवा उसे मैथुन सेवन के लिये सहमत करने हेतु वस्त्र पात्र आदि भिक्षु-जीवन के उपकरणों अथवा आभूषण, माला आदि को रखने पर भी जैन आचार्यों ने प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। इसी प्रकार मैथुन-सेवन के उद्देश्य से कलह करके अपने साथियो को अलग कर देना, पत्र लिखना, पत्र लिखवाना अथवा पत्र लिखने के उद्देश्य से बाहर जाना भी प्रायश्चित्त योग्य अपराध माना गया है। इसी सन्दर्भ मे वशीकरण, पौष्टिक आहार का सेवन आदि को भी निषिद्ध और प्रायश्चित्त योग्य अपराध माना गया है।

पंच महाव्रतो की चर्चा करते समय पंचम अपरिग्रह महाव्रत सम्बन्धी विवेचन का प्रारम्भ अपरिग्रह महाव्रत की प्रतिज्ञा से होता है। इसके पश्चात् अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाओ का वर्णन कर पाँचों इन्द्रियों के संयम का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वस्तुत: परिग्रह का मूल कारण इन्द्रियो की अपने विषयो की भोगाकाक्षा ही है। अत इस भोगाकाक्षा पर विजय पाने में ही अपरिग्रह की साधना सम्भव है। साधुओं को किन वस्तुओं का सचय कल्प्य नही है इसकी चर्चा के प्रसग मे प्राचीन काल के कुछ मिष्ठानो का भी उल्लेख हुआ है, विशेष रूप मे सक्कुलि (तिलपापडी) वेढिम (वेष्टिम जलेबी) का उल्लेख है। इसी प्रसंग मे अपरिग्रही श्रमण की उपमा कमल पत्र से दी गई है, जिस प्रकार कमल पत्र जल मे रहकर भी इससे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार श्रमण को भी, देह रक्षण के निमित्त जो आहारादि किया जाता है, उसमे निर्लिप्त भाव से रहना चाहिये। इसी प्रसंग मे यह भी बताया गया है कि हिंसा का मूल कारण आसक्ति या परिग्रह ही है। जो परिग्रह मे आसक्त होता है वही हिंसक होता है और वही बाल या मूर्ख कहा गया है। वस्तुतः अनासक्ति ही साधना का मूलतत्व है और वही मुक्ति का आधार भी है। इसी प्रसंग मे प्रस्तुत चरणानुयोग नामक कृति मे आसक्ति के निषेध पर विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि जब तक इन्द्रियाँ हैं, उनके विषयो का ग्रहण होगा ही, यह सम्भव नही है कि इन्द्रियाँ अपने विषयो की अनुभूति न करें, आँख की उपस्थिति मे रूप दिखाई देगा ही, श्रवणेन्द्रिय की उपस्थिति मे शब्द सुनाई देगा ही। आवश्यकता इस बात की है कि साधक उन ऐन्द्रिक अनुभूतियो मे अपनी आसक्ति को न जोडें और मन के अनुकूल और प्रतिकूल दोनो ही प्रकार की अनुभूतियो मे साक्षी भाव से रहे।

इस चर्चा के अन्त मे यह उल्लेख है कि जो भिक्षु आसक्त होकर इन्द्रियो के विषयो के पीछे भागता है, वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

परिग्रह की चर्चा के पश्चात् प्रस्तुत कृति में रात्रि भोजन निषेध और उसमे होने वाले दोषो का विवरण है। इसी सन्दर्भ मे रात्रि मे अशनादि ग्रहण करने, उनका भोग करने या उन्हे सचित करके रखने मे विविध प्रायश्चित्तो के विधान की चर्चा है।

चारित्राचार की इस विवेचना के अन्त मे पंच समितियों और तीन गुप्तियो का वर्णन है। जहाँ समितियाँ आचार के विधि-पक्ष को प्रस्तुत करती है, वहाँ गुप्तियाँ निषेध पक्ष को प्रस्तुत करती है। समिति यह बताती है कि साधक को अपना जीवन व्यवहार किस प्रकार सचालित करना चाहिये, जिसके फलस्वरूप वह अपने आपको कर्म-बन्धन से मुक्त रख सके, जबकि गुप्तियो का मुख्य उद्देश्य मन-वाणी की प्रवृत्तियो का नियन्त्रण या संयम करना है।

प्रस्तुत कृति मे मुख्य रूप से एषणा समिति अर्थात् भिक्षा ग्रहण करने सम्बन्धी नियमो का विस्तार से विवेचन है। यह सत्य है कि जैन परम्परा मे आहार-शुद्धि के सन्दर्भ मे विशेष सतर्कता रखी गयी है। इसमे दो ही दृष्टियाँ प्रमुख हैं—प्रथम भिक्षु-भिक्षुणियो का जीवन समाज पर भाररूप न हो। दूसरे यह कि वे हिंसा के दोष के भागी न बनें। इस सम्बन्ध मे अधिकाश विधि-निषेध इन्ही दोनो सिद्धातो के आधार पर हुए हैं। यद्यपि इस संकलन मे एषणा समिति का विवेचन अधिक विस्तार से हुआ है, किन्तु अन्य समितियो की उपेक्षा भी नही हुई है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि स्थानाग एव उत्तराध्ययन मे पच समितियो और तीन गुप्तियो को मिलाकर आठो का समितियो के रूप मे उल्लेख हुआ है अर्थात् गुप्तियो को भी समिति के अन्तर्गत ही वर्गीकृत कर लिया गया है, जबकि समवायाग मे इनका उल्लेख अष्ट प्रवचनमाता के रूप में हुआ है। विस्तार भय से हम इस सबकी चर्चा मे नही जाना चाहते हैं। विस्तार से जानने के इच्छुक विद्वान इन्हे प्रस्तुत कृति से अथवा मेरे ग्रन्थ "जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनो का तुलनात्मक अध्ययन" भाग २ के "श्रमणाचार" नामक अध्ययन मे देख सकते हैं।

ईर्या समिति

ईर्या समिति के वर्णन मे उसके स्वरूप और भेदो का कथन है। भगवती सूत्र मे वर्णित प्रासुक विहार का तात्पर्य बताया गया है गमनागमन से सापरायिक क्रिया और इरियावही क्रिया का सम्बन्ध संवृत-असंवृत अणगार से किया गया है।

विषम मार्ग मे एवं प्राणियो आदि से अवरुद्ध मार्ग मे न जाना, रात्रि मे विहार न करना, अनार्य क्षेत्रो मे नही विचरना आदि विषयो का वर्णन है। अकारण अनार्य क्षेत्र मे विचरने का प्रायश्चित्त विधान करके साथ ही चोर आदि के उपद्रव होने का विशद वर्णन किया गया है।

गृहस्थ से उपधि नही उठवाना, रास्ते मे चलते समय वार्ता-

लाप न करना, किसी के मार्ग पूछने पर या पशु-पक्षी आदि के विषय मे पूछने पर मौन रहना, आस-पास के दर्शनीय स्थल देखने मे चित्त न लगाना आदि मार्ग सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विश्लेषण हैं। मार्ग मे छोटी या बडी नदियो को पैदल या नाव द्वारा विवेक से पार करने का भी निर्देश किया गया है।

भाषा समिति

जैनाचार्यों ने समितियों मे भाषा समिति का पालन अति कठिन कहा है अत इसके पालन मे विवेक की अत्यधिक आवश्यकता है। आचाराग और दशवैकालिक सूत्र के आधार से यह समझाया गया है कि कब वचन प्रयोग करना और कब न करना, किस प्रकार करना और किस प्रकार न करना।

इस प्रकरण के प्रारम्भ मे भाषा के प्रकारो का कथन करके उनका स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र के आधार से बताया गया है। सावद्य भाषा, निश्चय भाषा आदि भाषाओ का निषेध एवं प्रज्ञापक आदि भाषाओ का विधान किया है।

दान सम्बन्धी भाषा के सावद्य निर्वद्य की चर्चा एवं उसमे साधु को तटस्थ रहने का विवेक कर्मबन्ध से बचने के लिए अधिकरणी भाषा का विवेक, संखडी एव नदी आदि को देखकर बोलने का विवेक बताकर भाषा सम्बन्धी अनेक प्रायश्चित्तो का विधान किया है।

एषणा समिति

इस प्रकरण के अन्दर (१) पिंडेषणा, (२) पाणेषणा, (३) शय्येषणा, (४) वस्त्रैषणा, (५) पात्रैषणा, (६) रजोहरणैषणा एवं (७) पादप्रोछणैषणा आदि विभाग हैं।

(१) पिंडेषणा मे मधुकरी वृत्ति, मृगचर्या, कापोतवृत्ति, अदीनवृत्ति आदि से एषणाओ का महत्व और उपमायुक्त चौभंगिया हैं।

आहार, विगय, एषणा, भिक्षा, गोचरचर्या आदि के भेदो का निरूपण है। तदनन्तर गवेषण विधि और गवेषण की योग्यता का कथन करके पारिवारिक जनो के यहाँ भिक्षार्थ जाने या न जाने का स्पष्टीकरण किया गया है।

भिक्षाचर्या के घरो का, उनमे प्रवेश करने का तथा अन्य विधानो का सूचन, उद्गम, उत्पादना एव एषणा दोषो का अलग-अलग विस्तृत वर्णन, निर्दोष आहार ग्रहण करने का विवेक एवं निर्दोष विधि से उसे खाना इत्यादि एषणा समिति के महत्वपूर्ण अगो का कथन है। पूर्वाचार्यो ने बताया है कि समुद्र को पार करने के समान गवेषणा है और कीचड आदि से युक्त किनारे को पार करने के समान परिभोगेषणा है। आहार करने के ६ कारण और नहीं करने के ६ कारणो को ध्यान मे रखते हुए राग द्वेष रहित होकर उचित विधि से विवेक पूर्वक उदर-पूर्ति के लिए आहार किया जाता है।

एषणा के प्रमुख ४७ दोषो के स्पष्टीकरण के साथ शय्यातर पिंड, राजपिंड आदि की विस्तृत चर्चा हुई है।

(२) पाणेषणा के वर्णन मे अनेक प्रकार के अचित्त जलो का वर्णन है। आगमो मे अचित्त जलो की सख्या निश्चित नही की गई है किन्तु कुछ नाम उदाहरण के रूप मे कहकर अन्य अनेक अचित्त जलो के होने की एव ग्रहण करने की सूचना की गई है। आगमो मे आये जलो के नामो का स्पष्टार्थ करके कल्पनीय-अकल्पनीय जलो को विभाजित किया गया है, साथ ही साथ शुद्धोदक और गर्म जल की चर्चा कर उनका अन्तर भी स्पष्ट किया है।

ठाणाग सूत्र और पर्युषणा कल्प सूत्र के आधार से तपस्या मे भी विविध प्रकार के (धोवन) जलो को ग्राह्य कहा है। दाता की अनुज्ञा से स्वय के हाथो से जल ग्रहण करने की विधि भी कही है। अन्त मे तत्काल बने हुए धोवण पानी के लेने का प्रायश्चित्त विधान है। अर्थात् धोवन जलो के निष्पन्न होने के कुछ समय (घडी अर्द्धमुहूर्त) बाद ही उन्हे ग्रहण करना कल्पता है।

(३) आहार पानी की गवेषणा के साथ-साथ मकान की गवेषणा का भी महत्व है। सयम, शरीर, स्वाध्याय एव परिष्ठापन आदि की सुविधाओ से युक्त होने के साथ-साथ चित्त की एकाग्रता के योग्य उपाश्रय होना भी आवश्यक है। धान्य, खाद्य, पदार्थ, जल, अग्नि, स्त्री आदि से युक्त उपाश्रय का निषेध और साथ ही कुछ आपवादिक विधान है।

औद्देशिक आदि दोष एव अनेक प्रकार के परिकर्म दोष युक्त मकानो की चर्चा करते हुए एषणीय अनेषणीय उपाश्रय का वर्णन है।

गृहस्थ के घरो मे ठहरने पर होने वाले दोषो की सम्भावना व्यक्त की गई है।

भित्ति से असुरक्षित ऊँचे स्थानो पर, जल युक्त नदी आदि के किनारे, कम ऊँचाई वाले घास के झूंपडो मे ठहरने का निषेध है।

चातुर्मासकाल के निकट आने पर कैसे ग्राम आदि मे ठहरना, इस विषय का स्पष्टीकरण है, साथ ही एकाकी बहुश्रुत भिक्षु के ठहरने के स्थान की चर्चा भी है। तदनन्तर पाँच प्रकार के अवग्रहो का कथन एव अनेक प्रकार के अवग्रहो का उल्लेख किया है साथ ही सस्तारक का ग्रहण, अनुज्ञा, प्रत्यर्पण आदि की विधियो का उल्लेख हुआ है। संयम साधना काल में प्राप्त मनोनुकूल या प्रतिकूल शय्या मे समभाव रखने का उपदेश है। इसके पश्चात अत मे सस्तारक एव उपाश्रय सम्बन्धी विविध प्रायश्चित्तो की चर्चा है।

(४-५) वस्त्रैषणा पात्रैषणा

शरीर के संरक्षण हेतु रखे जाने वाले वस्त्रो की एवं कल्पनीय पात्रो की जाति का उल्लेख करके यह कहा है कि तरुण स्वस्थ मुनि इनमे से एक-एक जाति के वस्त्र या पात्र ही धारण करे। इस विषय मे अर्थ भ्रम से संख्या की अपेक्षा एक ही वस्त्र या एक ही पात्र के नियम की कल्पना की जाती है, जो गौतम स्वामी के पात्र वर्णन या अन्य सूत्रो के पात्र वर्णन से मेल नही खाता है।

वस्त्रो की और पात्रो की विविध गवेषणा विधियो का उल्लेख करने के साथ यह भी बताया गया है कि कभी दाता वाद मे आने का संकेत करे या आधाकर्मी आहार पानी युक्त पात्र दे तो नही लेना। पूर्ण निर्दोष वस्त्र पात्र भी लेते समय अच्छी तरह प्रतिलेखन करके लेना। यहाँ दोनो प्रकरण मे चार-चार विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ वस्त्र पात्र के गवेषणा एव धारण सम्बन्ध मे कही है। अनावश्यक परिकर्म एवं विभूषा कृत्यो का निषेध किया है। ठाणाग सूत्र में वस्त्र धारण करने के कारण कहे हैं और व्यवहार सूत्र आदि मे मर्यादा से अधिक वस्त्र, पात्र आदि देने के और रखने के आपवादिक विधान है तथा उनके प्रायश्चित्तो का कथन है। आचाराग मे वर्णित एक-दो या तीन वस्त्र धारण करने की विशेष प्रतिज्ञा का उल्लेख करते हुए अचेल साधना का भी महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है।

साध्वी के उपयोगी वस्त्र ग्रहणादि के उल्लेख भी अलग सूचित किये गये हैं। अकारण वस्त्र प्रक्षालन आदि का निषेध करके सकारण धोए गये वस्त्रो को सुखाने के स्थलो की विचारणा की गई है। बहुमूल्य वस्त्र पात्रो का निषेध एवं प्रायश्चित्त के साथ, चर्म धारण सम्बन्धी आपवादिक विधानो की चर्चा भी हुई है।

जीव रक्षा आदि हेतुओ से वस्त्र की चिलमिलिका—मच्छरदानी रखने का उल्लेख है। अन्त मे अनेक प्रायश्चित्तो का सकलन है।

(६-७) आगमो मे पादप्रोछन और रजोहरण ये दो अलग-अलग उपकरण कहे हैं। उनके विभिन्न उपयोगो का विधान है। फिर भी कभी कही सूत्रो मे प्रयुक्त पादप्रोछन का अर्थ रजोहरण करने का भ्रम उत्पन्न होता है जिसमे लिपि प्रमाद आदि का कारण ही प्रमुख है।

निशीय सूत्र मे भी दोनो उपकरणो के भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त कहे गये हैं और प्रश्नव्याकरण सूत्र मे साधु के उपकरणो का सकलित कथन है उसमे भी दोनो नाम अलग-अलग हैं और टीकाकार ने उन्हे अलग-अलग गिन कर उपकरणो की निश्चित सख्या सूचित की है।

पाद प्रोछन एक वस्त्र खण्ड होता है जो कभी पाँव पोछने मे या कभी मलोत्सर्ग करते समय उपयोग मे लिया जाता है अथवा कभी उसको डंडे मे बाधकर मकान के ऊँचे विभागो का शोधन किया जाता है इसे औपग्रहिक उपकरण कहा गया है।

किन्तु रजोहरण साधु साध्वी के लिए अत्यावश्यक उपकरण है। उसके रखने का मुख्य हेतु जीव रक्षा एवं मुनि का चिन्ह है जिनकल्पी अचेल साधुओ के लिए भी रजोहरण एक आवश्यक उपकरण है।

प्रस्तुत प्रकरण मे पाँच प्रकार के रजोहरणो का वर्णन करके तत्सम्बन्धी अनेक विधानो को प्रायश्चित्त कथन के माध्यम से स्पष्ट किया गया है जिसमे रजोहरण के परिमाण का, उस पर बैठने सोने आदि के निषेध का, अविधि से बांधने का तथा सदा अपने पास रखने का इत्यादि महत्वपूर्ण विषयो का प्ररूपण हुआ है।

आदान निक्षेप समिति

इस प्रकरण मे औधिक उपधि की सख्या और औपग्रहिक उपकरणो के अनेक नाम सूचित कर उन उपकरणो को विहार गोचरी आदि मे साथ रखने का कहा गया है।

स्थविरो के दण्ड छत्र उपानह आदि उपकरणो की चर्चा भी यहाँ है। गिनती एव माप से अमर्यादित उपकरण रखने का प्रायश्चित्त कहा है।

प्रतिलेखन का वर्णन करते हुए उसकी विधि एवं अनेक प्रमाद जनित दोषो का वर्णन किया गया है साथ ही प्रतिलेखन न करने वाले को प्रायश्चित्त का पात्र बताया है।

अन्त मे ऊणोदरी आदि तप की अपेक्षा उपकरण के प्रत्याख्यान का फल बताया है। साथ ही किसी साधु का खोया हुआ उपकरण मार्ग मे किसी साधु को मिल जाय तो क्या करना चाहिए इसका विवेक कहा गया है।

उच्चार-प्रस्रवण समिति

यहाँ परठने योग्य पदार्थों का, परठने योग्य सदोष निर्दोष स्थानो का और स्थंडिल के दस गुणो का कथन किया गया है साथ ही उच्चारादि परठने की भूमि से सम्पन्न मकान मे ठहरने का विधान किया है।

आचाराग मे इस विषय का स्वतन्त्र अध्ययन है उसके आधार से एवं निशीथ सूत्र के तीसरे, चौथे आदि उद्देशको के आधार से अनेक अकल्पनीय स्थलो का वर्णन करने के साथ यह भी बताया गया है कि किस विधि से मलोत्सर्ग करना तथा मल द्वार की शुद्धि करना।

आचाराग एव निशीथ के सूत्रो से उच्चार मात्रक मे मलोत्सर्ग करने की विधि भी बताई गई है। अन्त मे उनके अनेक प्रायश्चित्तो का विधान है।

गुप्ति

तीन गुप्तियो का स्वरूप एव भेदो का कथन करके यह भी बताया गया है कि सम्पूर्ण अशुभ प्रवृत्तियो से निवृत्त होना ही गुप्ति है। समाधि युक्त साधु के लक्षण वताते हुए उसे हाथ पाव आदि से सयत एव गुप्त होना कहा गया है।

उत्तराध्ययन २३ के अनुसार मन के निग्रह को कठिन कह कर उसे नियन्त्रित करने के उपाय भी कहे गये हैं। दस चित्त-समाधि स्थानो का विस्तृत वर्णन करके दस प्रकार की समाधि और असमाधि का वर्णन किया है। अन्त मे मन गुप्ति का परिणाम कहकर वचन गुप्ति का प्ररूपण करते हुए उसके चार प्रकार एव फल वताया गया है।

कायगुप्ति के वर्णन मे उसके प्रकार, महत्व एव फल वता कर पाँचो इन्द्रियो के निग्रह का अलग-अलग फल वताया गया है।

अप्रमत्त मुनि के अध्यवसायो का दिग्दर्शन करके उपयोग-शून्य एवं चचल आसन वाले को पापी श्रमण कहा गया है।

दीक्षा

आत्म कल्याण के कर्तव्यो मे द्रव्य एवं भाव से सयम स्वीकार करना भी साधक का एक प्रमुख कर्तव्य है। सयम, दीक्षा, प्रव्रज्या, अणगार धर्म, आदि एकार्थक शब्द हैं। इसे स्वीकार करने वाला सयमी, दीक्षित, साधु, मुनि, अणगार या भिक्षु आदि कहा जाता है।

यद्यपि महाव्रत समिति गुप्ति के वर्णन से चारित्राचार का वर्णन सम्पन्न हो जाता है फिर भी आगमो मे स्थित अनेक प्रकीर्णक विपयो को इस विशिष्ट वर्गीकरण मे विभाजित करने पर अनेक विषय महाव्रत समिति एव गुप्ति के प्रकरण के वाद भी अवशेप रह जाते हैं। उसे अष्ट प्रवचन माता के वर्णन रूप प्रथम भाग के अनन्तर द्वितीय भाग मे (१) दीक्षा, (२) संयमी जीवन, (३) समाचारी, (४) प्रतिक्रमण, (५) गृहस्थ धर्म, (६) आराधक विराधक, (७) अनाचार, (८) सघव्यवस्था आदि मे वर्गीकरण किया गया है।

दीक्षा प्रकरण मे सर्व प्रथम यह कहा गया है कि जिसके धर्मान्तराय कर्म का क्षयोपशम हुआ है वही किसी से धर्म सुनकर या विना सुने ही सयम ग्रहण करता है।

तदनन्तर दीक्षित होने वाले के वैराग्य की विभिन्न अवस्थाओ का, वय का, निश्रा का, उपकरणो का वर्णन करके नपुसक और असमर्थ को दीक्षा देने का निपेध किया गया है।

ठाणाग सूत्र से उद्धृत चौभगियो द्वारा विविध प्रकार की प्रव्रज्याओ का वर्णन करते हुए दस प्रकार के मुंडन कहे गये हैं।

छेदोपस्थापनीय चारित्र (वडी दीक्षा) देने की सम्पूर्ण विधि, उसके काल मान की चर्चा एव उसके योग्यायोग्य की चर्चा की गई है। अन्त मे अयोग्य को दीक्षा देने पर गुरु चौमासी प्रायश्चित्त का विधान किया है।

सयमी जीवन

इस प्रकरण मे सयम का स्वरूप, उसका महत्व एव सामायिक आदि पाँच चारित्र, छह प्रकार की कल्पस्थिति का वर्णन करके संयम के भेदो प्रभेदो के कथन के वाद सतरह प्रकार के सयम का कथन किया गया है।

सयमी के लक्षणो का वर्णन करके अणगार के अनेक गुणो का आदर्शों का और शिक्षित जीवन का दिग्दर्शन भी प्रस्तुत किया गया है। जिसमे आचाराग, सूयगडाग, दशवैकालिक उत्तराध्ययन के अध्ययनो को समाविष्ट किया गया है।

आत्मार्थी अनात्मार्थी के लाभालाभ की चर्चा करते हुए अणगार के सत्तावीस गुणो का स्पष्टीकरण करके निर्ग्रन्थो के अनेक प्रशस्त लक्षण कहे गये हैं। उसके वाद संयमी की अनेक उपमाओ का सग्रह किया गया है।

साधक के अपने ही हायमान एव वर्द्धमान परिणामो से सयम सुखद और दुःखद प्रतीत होता है। इसे दुखशय्या और सुखशय्या के नाम से निर्दिष्ट किया है।

तदनन्तर सयम के प्रेरणात्मक उपदेशी विपय, विनय, विवेक, सयम की शुद्ध आराधना का स्वरूप, पूजा-प्रशंसा की चाहना का निपेध, परीपह विजेता होने की प्रेरणा, एव सदा जागृत रहने का सूचन आदि संयमोन्नति के अनेक महत्वपूर्ण विषयो का सकलन किया गया है। प्रतिदिन करने योग्य साधुओं के तीन मनोरथ भी वताये गये हैं।

संयम पोपक वत्तीस योग संग्रह का और अहिंसा आदि अठारह प्रमुख आचरण के स्थानो का विस्तार से वर्णन है एव तत्सम्बन्धी अनेक अपवाद एव प्रायश्चित्त भी साथ मे कहे हैं।

अन्त मे सयम धर्म आराधना का फल वताते हुए सुश्रमणों की ससार से मुक्ति एवं कुश्रमणो की दुर्गति का कथन किया है एव मद्यसेवी की अवनति एवं दुर्दशा भी कही गई है।

समाचारी

इस प्रकरण मे भिक्षु की दस प्रकार की समाचारी, दिवस एवं रात्रि के प्रहरो से सम्वन्धित दिनचर्या का विधान किया है, जिसमे स्वाध्याय, वैयावृत्य, प्रतिलेखन, भिक्षाचर्या, प्रतिक्रमण, निद्रा, ध्यान आदि आवश्यक कर्तव्यो की विचारणा हुई है।

इसके साथ ही पोरिसी परिमाण का विज्ञान, तिथिक्षय, प्रतिलेखन विधि एव उसके दोपो का कथन भी है।

वर्षावास समाचारी का विस्तृत वर्णन है इसमे क्षेत्र की सीमा वताकर अनेक आपवादिक कारणो से चातुर्मास मे विहार करने की चर्चा करके अकारण विहार करने का प्रायश्चित्त कहा गया है। फिर भिक्षाचर्या सम्वन्धी वर्णन करते हुए आठ प्रकार

के सूक्ष्मो का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

विशिष्ट तपस्याओ का सलेखना का कथन करते हुए उसमे ग्रहण करने योग्य धोवण पानी और गर्म पानी की चर्चा है। अन्त मे पर्युपणा एव चातुर्मास सम्बन्धी अनेक कर्तव्यो की सूचना की गई है।

प्रतिक्रमण

इस प्रकरण मे सर्व प्रथम "आवश्यक" की अनुयोग पद्धति से व्याख्या की गई है। जिसमे द्रव्य भाव आवश्यक एवं नय दृष्टि की चर्चा भी हुई है।

तदनन्तर प्रतिक्रमण के प्रकार, अतिक्रम आदि के प्रकार और उनकी विशुद्धि की चर्चा की गई है फिर प्रतिक्रमण की विधि एव उसमे उपयुक्त पाठो का अर्थ स्पष्ट किया गया है। दस प्रकार के पच्चक्खाणो और उनके आगारो का स्पष्टीकरण भी है। अन्त मे पच्चक्खाण पूर्ण होने पर उसको पारने की विधि का सूत्र भी दिया गया है।

पच्चक्खाणो के विविध स्वरूप के साथ मूलगुण पच्चक्खाण और उत्तरगुण पच्चक्खाणो की विस्तृत चर्चा करते हुए दु.पच्चक्खाणी एवं सुपच्चक्खाणी का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। फिर प्रतिक्रमण एवं अनेक प्रकार के पच्चक्खाणो के फल बताये गये हैं।

गृहस्थ धर्म

इस प्रकरण में श्रमणोपासको के प्रकार उपमा द्वारा बता कर चार प्रकार की विश्राति का उपमा द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। तदनन्तर अल्पायु-दीर्घायु बध की चर्चा भी की गई है।

सम्यक्त्व सहित श्रावक के बारह व्रतो का स्वरूप और उसके अतिचारो का विश्लेषण किया गया है।

चारित्राचार मे संयमी जीवन का तो महत्वपूर्ण स्थान है ही साथ ही श्रावक धर्म का भी प्रमुख स्थान है। वह किसी अपेक्षा से साधु से कम है तो किसी अपेक्षा से समान है और किसी अपेक्षा से अधिक भी है यथा—(१) महाव्रत की अपेक्षा उनके अणुव्रत कहे गये है अत कम है। (२) दोनो धर्मों की आराधना करने वाले उत्कृष्ट १५ भव से मुक्त हो जाते हैं अत समान है। (३) "संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा" इस कथन के द्वारा साधुओ के संयम से गृहस्थ के संयम को श्रेष्ठ कहा गया है।

सामान्यतया कोई श्रावक भी एकभवावतारी हो सकता है और कोई साधु १५ भव या विराधक हो तो अनन्त भव भी कर सकता है।

साधु जीवन स्वीकार करने वाले को नियमत. पांच महाव्रत, पांच समिति आदि स्वीकार करके उनका जीवन पर्यन्त पालन करना होता है। इसमे ऐच्छिक नही है, किन्तु गृहस्थ जीवन मे श्रद्धा प्ररूपणा के सिवाय किसी भी व्रत पच्चक्खाण की अनिवार्यता नही है वह चाहे एक व्रत धारण करे या बारह व्रत अथवा श्रावक प्रतिमा धारण करे सभी ऐच्छिक हैं। एक या अनेक व्रतो को भी वह पूर्ण या अपूर्ण तथा अनेक आगारो सहित भी धारण कर सकता है अर्थात् "जैसी शक्ति वैसा धारे, पर प्रमाद को दूर निवारे" इस कथन को ध्यान मे रखना आवश्यक है। श्रावक के भी तीन मनोरथ हैं जिसका सदा चिंतन मनन कर उसे आत्मविकास करना चाहिए।

श्रावक के बारह व्रतो मे सामायिक के विषय की एवं श्रमणो को शुद्ध आहारादि देने के विषय की विस्तृत विचारणा की गई है एवं उसका फल बताया गया है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इन प्रतिमाओ की यह विशेषता है कि इसमे आगार रहित नियमो का पालन किया जाता है। प्रतिमा के वर्णन मे पांचवी, छठी प्रतिमा के स्वरूप सम्बन्धी पाठ मे कुछ भिन्नता है उसे सुधार कर व्यवस्थित भी किया गया है।

तदनन्तर श्रावक के व्रत पच्चक्खाण का रहस्य बताते हुए व्रत धारण करने के ४६ भंगो का विश्लेषण किया गया है। अन्त मे गृहस्थ धर्म का फल बताते हुए आजीविक श्रमणोपासक की मर्यादाओ का कथन कर श्रमणोपासक को अपना आदर्श जीवन बनाने की प्रेरणा की गई है।

आराधक विराधक

जिस प्रकार वर्ष भर की पढाई का परिणाम परीक्षा मे होता है उसी प्रकार सयम जीवन एवं गृहस्थ जीवन का परिणाम आराधक विराधक की परीक्षा मे निहित है।

आराधना प्रकरण के प्रारम्भ मे जिन वचनो के श्रद्धा की दृढता का कथन है तदनन्तर आलोचना के भावो की विस्तृत विचारणा की गई है। साथ ही आलोचना न करने वाले के परिणामो की चर्चा करते हुए उसे "माई" कहा है।

आराधना विराधना के विपय को "दावदव" वृक्षो की उपमा देकर कहा गया है कि मुनि को आभ्यंतर परिपह और वाह्य परिपह के वचन आदि समभाव से सहन करना चाहिए।

इसके वाद शील एवं श्रुत की चौभंगी एव आराधना विराधना की अनेक चौभगिया कही हैं। अन्त मे आधाकर्म आदि दूषित आहार के सम्बन्ध से आराधना विराधना की चर्चा की गई है।

आराधना के विविध प्रकारो की चर्चा करते हुए ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनो आराधनाओ का परस्पर सम्बन्ध भी बताया है।

तदनन्तर उववाई सूत्र मे वर्णित आराधक विराधक साधु, श्रमणोपासक, अन्य तापस, परिव्राजक एवं तिर्यंच आदि का

विस्तृत वर्णन करके उनकी देवगति मे उत्पत्ति का विशद वर्णन किया गया है।

जैन मुनि के कार्दपिक किल्विषिक आदि भावो से सयम का दूषित होना बताकर उनकी दुर्गति होने का निर्देश किया गया है और उन अभियोगिक किल्विषिक अवस्थाओ के प्राप्त होने के कारण भी बताये गये हैं।

इसके बाद ९ निदानो की विस्तृत विचारणा कर अनिदान संयम जीवन की प्रेरणा एव उसका मुक्तिफल प्रदर्शित किया गया है।

आराधना विराधना का अन्तिम निर्णय मरण समय से होता है अत यहाँ बालमरण आदि का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है जिसमे १७ प्रकार के मरण, १२ या २० प्रकार के बालमरणो का स्वरूप बताकर दो मरण (फासी और गृद्ध स्पृष्ट मरण) ब्रह्मचर्य रक्षा हेतु स्वीकार करना प्रशस्त कहा गया है।

फिर उत्तराध्ययन अ ५ के आधार से दोनो मरणो का विस्तृत कथन है। अन्त मे बालमरणो की प्रशसा करने का भी चौमासी प्रायश्चित्त बताया गया है।

अनाचार

संयम स्वीकार कर लेने पर भी सभी साधक आराधक ही होते हैं, यह जरूरी नही है। विराधक होने वाले अपने वैराग्य एवं लक्ष्य के परिवर्तित हो जाने के कारण अनेक अनाचरणीय कृत्य करते हैं। इस प्रकरण मे ऐसे अनेक अनाचारो का वर्णन है। यद्यपि प्रचलित भाषा मे बावन अनाचार भी कहे जाते हैं किन्तु सूत्रो मे अनेक जगह अनेक अनाचरणीय विभिन्न अपेक्षाओ से कहे हैं किन्तु बावन की सख्या कही भी नही कही है।

सर्वप्रथम अनाचार एव मूर्च्छा भाव का निषेध करते हुए सूत्रकृताग मे वर्णित अनाचारो का स्वरूप बताकर स्वच्छन्द और पापी श्रमण की प्रवृत्ति का दिग्दर्शन किया है। फिर प्रमत्त-अप्रमत्त भाव एव अवस्था का स्वरूप बताकर अप्रमत्त होने की प्रेरणा की गई है।

धर्म में विघ्न करने वाले, धर्मघातक, प्रमाद और अठारह पाप आदि भेदो का विश्लेषण करते हुए १० प्रकार से विशुद्धि होनी भी बताई है।

तदनन्तर दशवैकालिक सूत्र वर्णित अनाचार कहे गये हैं साथ ही २० असमाधिस्थान, ३० महामोह बन्ध के कारण, १३ क्रियास्थानो का स्वरूप बताया गया है।

निमित्त कथन का निषेध, कषाय का निषेध एवं कषाय को अग्नि की उपमा, आठ मद, आदि विषयो का वर्णन करके क्रोधादि विजय का फल बताया गया है।

अन्त मे विविध अनाचारो के प्रायश्चित्तो का सकलन किया गया है।

संघ-व्यवस्था

इस प्रकरण के प्रारम्भ मे तीर्थ, सघ आदि का स्वरूप, जिनशासन का प्रवर्तन काल एव केवली, जिन, स्थविर, रत्नाधिक आदि के प्रकारो का वर्णन है।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन से बीच के तीर्थंकरो के शासन का महाव्रत सम्बन्धी अन्तर आदि कथन है। पाच प्रकार के व्यवहारो के उपयोग करने का स्पष्टीकरण किया गया है। तीन प्रकार के आत्मरक्षक कहकर आचार्य एव शिष्यो के प्रकारो का चौभंगियो द्वारा कथन किया गया है।

आचार्य एवं गणावच्छेदक के आचार सम्बन्धी अतिशय बता कर आचार्य की आठ सपदा का वर्णन करके अनेक कर्तव्याकर्तव्य की चर्चा की गई है।

आचार्य उपाध्याय गणावच्छेदक आदि पदो की व्यवस्था का वर्णन करते हुए दीक्षापर्याय श्रुतज्ञान एव अन्य गुण सम्पन्न होने की चर्चा की गई है। आचार्य के दिवंगत होने के बाद किसे आचार्य बनाना या हटाना इसकी विशद चर्चा हुई है।

अब्रह्मचर्य, असत्य एव मायाचरण करने वालों को उनके पदो से मुक्त करने का दण्ड विधान किया गया है एव पुन तीन वर्ष या जीवन पर्यन्त भी उन्हें पद नही देने का निर्देश किया गया है।

संघाडा प्रमुख या गण धारण करने वाले के ६ प्रमुख गुणों की चर्चा की गई है साथ ही गण धारण कर स्वतन्त्र विचरण करने के लिए आज्ञा लेने की विधि बताई गई है एवं योग्यता बिना या आज्ञा बिना जाने वाले को प्रायश्चित्त कहा है।

९वें १०वें प्रायश्चित्त विधान की एव तरुण साधुओ को आचार्य उपाध्याय नियुक्ति रहित गच्छो मे नही रहने की विचारणा की गई है।

विचरण करते हुए संघाडा प्रमुख के काल करने पर शेष साधुओ के कर्तव्याकर्तव्य का विवेक बताया गया है।

इसी प्रकार साध्वियो के प्रवर्तिनी गणावच्छेदिनी आदि पदो की चर्चा की गई है, जिसमें ६० वर्ष की दीक्षा पर्याय वाली साध्वियो को भी आचार्य की निश्रा करके ही विचरने का आदेश दिया गया है।

तदनन्तर साधु साध्वी को आचाराग-निशीथसूत्र कंठस्थ धारण करने की आवश्यकता कही है और भूल जाने पर कठोर दण्ड व्यवस्था का भी निर्देश दिया गया है।

इसके बाद साधु साध्वियो के विनय व्यवहार सम्बन्धी आवश्यक कर्तव्यो की चर्चा की गई है।

अध्ययन-अध्यापन व्यवस्था का वर्णन करते हुए दीक्षा पर्याय के साथ सम्बन्ध बताया गया है।

विचरण व्यवस्था के वर्णन मे आचार्य उपाध्याय प्रवर्तनी

आदि के साथ साधु साध्वियो की संख्या बताई गई है तथा आचार्य उपाध्याय प्रवर्तिनी एव गणावच्छेदक गणावच्छेदिका को एकाकी विचरने का स्पष्ट निषेध किया गया है। विचरण काल एवं विचरण क्षेत्र की चर्चा करके रात्रि मे गमनागमन का निषेध किया गया है।

साधु-साध्वी के पारस्परिक व्यवहारो की चर्चा करते हुए उनके आलाप-संलाप, आवास-सवास, वैयावृत्य एवं काल धर्म प्राप्त साधु से सम्वन्धित कृत्यो के उत्सर्ग-अपवाद की चर्चा की गई है। अन्त मे विशेष कारण के विना परस्पर सेवा करने, करवाने का या आलोचना करने का निषेध किया गया है।

साभोगिक (व्यावहारिक) व्यवस्था मे १२ संभोगो (पारस्परिक व्यवहारो) का कथन करके विसंभोग करने की अर्थात् सभोग सम्वन्ध को पृथक कर देने के कारणो की चर्चा की गई है एव उसकी विधि भी वताई गई है।

सभोग (व्यवहार) पच्चक्खाण करने को एक विशिष्ट साधना रूप मे कहकर उसका अनुपम फल प्रदर्शित किया गया है।

गृहस्थो के साथ पारस्परिक व्यवहार की चर्चा एवं प्रायश्चित्त का कथन किया गया है।

गणापक्रमण (गच्छ त्याग) के कारणो की विशद चर्चा करते हुए श्रुत ग्रहण के लिए अन्य गच्छ मे जाने की विचारणा की गई है। साथ ही संभोग व्यवहार परिवर्तन हेतु और अन्य को अध्यापन हेतु भी गच्छ परिवर्तन या उपसंपदा परिवर्तन की विचारणा की गई है। इस विचारणा मे आचार्य आदि पदवीधरो को अपना पद त्याग कर अन्य को नियुक्त कर के ही जाने की विधि बताई गई है।

सातिचार संयम वाले पार्श्वस्थ आदि का गणापक्रमण एवं पुनः आने पर उन्हे गच्छ मे रखने सम्वन्धी चर्चा विचारणा की गई है।

तदनन्तर एकल विहार चर्या का वर्णन, एकल विहारी के आठ गुण, उसके ठहरने के उपाश्रय ग्राम आदि की चर्चा भी की गई है। अव्यक्त भिक्षु के एकाकी विचरण का निषेध एव अनिष्ट फल बताया गया है।

योग्य भिक्षु को परिस्थितिवश एकाकी विहार करने की आज्ञा दी गई है साथ ही अनेक सावधानिया रखने की सूचना भी की गई है। एव प्रशस्त एकाकी विहारी की सयम चर्या का वर्णन किया है। वाद मे क्रोधी, मानी आदि अप्रशस्त एकल विहारी का वर्णन भी किया है। असमर्थ एकाकी विहारी के गण मे पुनरागमन सम्वन्धी विचारणा भी की है।

अन्त मे सूयगडाग सूत्र के आधार से संयमरत तपस्वी सकारण एकाकी विहारी भिक्षु के निर्वाण प्राप्ति का कथन है।

पार्श्वस्थ आदि शिथिल सयम साधको के व्यवहार सम्वन्धी चर्चा मे उनके साथ आहार, वस्त्र, पात्र, आदान, प्रदान, वंदन व्यवहार एवं साधुओ का आदान प्रदान आदि के प्रायश्चित्त भी कहे गए हैं तथा इनके पुन गण मे आने पर यथायोग्य परीक्षण एवं प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धि करके गण मे लेने की चर्चा भी है। टिप्पण मे इनके स्वरूप को सरल सक्षिप्त भाषा मे कहा है। इन वर्णनो मे शिथिलाचारियो के १० प्रकार हैं अर्थात् सयमच्युत साधको के दस विभाग किए गये हैं।

संघ व्यवस्था के अन्तिम प्रकरण मे कलह की उत्पत्ति के कारण, गणव्युद्ग्रह के कारण, कलह उपशम का उपदेश कर अनुपशात की विराधना का निर्देश किया है। विवाद उत्पत्ति एव उसके निवारण के उपाय भी बताये गए हैं। अन्त मे क्षमापना के अनुपम फल की चर्चा करते हुए कलह सम्वन्धी प्रायश्चित्तो का कथन किया गया है।

तपाचार

प्रस्तुत कृति मे चारित्राचार के वाद तपाचार का उल्लेख हुआ है। उत्तराध्ययन[1] और कुन्दकुन्द के दर्शनप्राभृत[2] मे त्रिविध साधना मार्ग के स्थान पर चतुर्विध साधना-मार्ग का उल्लेख मिलता है। साधना के इस चतुर्थ अंग को तप कहा गया है। तप की साधना ही तपाचार है। उत्तराध्ययन मे पूर्व कर्म सस्कारो को दग्ध करने के लिए अथवा पूर्व कर्मों की निर्जरा के लिये तप को साधना का एक आवश्यक अंग कहा गया है। तप जैन साधना का प्राण है। तप के अभाव मे साधना विना नीव के प्रासाद के समान है। प्रो० भरतसिंह उपाध्याय के शब्दो मे भारतीय सस्कृति मे जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एवं महत्वपूर्ण तत्व है, वह सब तपस्या से ही सभूत है। तपस्या ही इस राष्ट्र का बल है।[3]

जैन परम्परा मे तप शब्द का प्रयोग सामान्यतया तितिक्षा या कष्टसहिष्णुता के अर्थ मे हुआ है। वस्तुत जीवन जीने मे उपस्थित अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो को समभावपूर्वक सहन करना ही तप है। यद्यपि हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि तप का अर्थ केवल अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियो को समभाव पूर्वक सहन करना ही नही है, वल्कि यह स्वेच्छापूर्वक कष्ट को निमन्त्रण देना भी है। जैन परम्परा मे परीषह और तप मे अन्तर किया गया है। परीषह मे जो कुछ घटित होता

१ उत्तराध्ययन २८/२, ३, ३५।

२ दर्शन प्राभृत (कुन्दकुन्द) ३२।

३ बौद्धदर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन पृ. ७१-७२ (भरतसिंह उपाध्याय)।

है उसे सहा जाता है परन्तु तप मे स्वेच्छा से कष्टमय जीवन को अपनाया जाता है। हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि तप का अर्थ मात्र देह-दण्डन नही है। जैन परम्परा मे तप मे देह-दण्डन तो है, किन्तु यह मात्र देहदण्डन के लिए नही है, अपितु अहिंसा की ओर संयम की साधना के लिये है। जैन धर्म मे तप साधना के दो चरण हैं—(१) अहिंसा की साधना और (२) संयम की साधना। इन दोनो पर वह प्रतिष्ठित है।

पण्डित सुखलाल संघवी ने भारतीय परम्परा मे तप साधना के विभिन्न रूपो के विकास का एक चित्र प्रस्तुत किया है। वे लिखते है कि 'ऐसा ज्ञात होता है कि तप का स्वरूप क्रमश स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकसित होता गया। तपोमार्ग का विकास होता गया और उसके स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि अनेक प्रकार साधको ने अपनाए। यह तपोमार्ग अपने विकास मे चार भागो मे बाटा जा सकता है। (१) अवधूत साधना, (२) तापस साधना, (३) तपस्वी साधना, (४) योग साधना। जिनमे क्रमश तप के सूक्ष्म प्रकारो का उपयोग होता गया, तप का स्वरूप बाह्य से आभ्यन्तर बनता गया। साधना देह-दमन से चित्तवृत्ति के निरोध की ओर बढती गई।''[1] जैन साधना तपस्वी जीवन एव योग साधना का समन्वित रूप मे प्रतिनिधित्व करती है, जबकि बौद्ध एव गीता के आचार दर्शन मुख्यत. योग-साधना का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी वे सभी अपने विकास के मूल केन्द्र से पूर्ण अलग नही है।

जैन आगम आचाराग सूत्र का धूत अध्ययन, बौद्ध ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग का धूतंगनिदेश और हिन्दू साधना की अवधूत गीता इन आचार-दर्शनो के किसी एक ही मूल केन्द्र की ओर इगित करते हैं। जैन-साधना का तपस्वी मार्ग ही अहिंसक सस्करण है।[2]

जैन साधना में तप का प्रयोजन

तप यदि नैतिक जीवन की एक अनिवार्य प्रक्रिया है तो उसे किसी लक्ष्य के निमित्त होना चाहिए। अत. यह निश्चय कर लेना भी आवश्यक है कि तप का उद्देश्य और प्रयोजन क्या है?

जैन साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि या आत्मा का शुद्धिकरण है। लेकिन यह शुद्धिकरण क्या है? जैन दर्शन यह मानता है कि प्राणी कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओ के माध्यम से कर्म वर्गणाओ के पुद्गलो को अपनी ओर आकर्षित करता हैं। आकर्षित कर्मवर्गणाओ के पुद्गल राग-द्वेष या कषाय वृत्ति के कारण आत्मतत्व से एकीभूत होकर उसकी शुद्ध सत्ता, शक्ति एव ज्ञान ज्योति को अवतरित कर देते हैं। यह जड तत्व एव चैतन तत्व का संयोग ही विकृति है।

अत शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि के लिये आत्मा की स्वशक्ति को आवरित करने वाले कर्म पुद्गलो का विलगाव आवश्यक है। कर्म पुद्गलो के पृथक् करने की इस क्रिया को निर्जरा कहते हैं जो दो रूपो मे सम्पन्न होती हैं। जब कर्म पुद्गल अपनी निश्चित अवधि के पश्चात अपना फल देकर स्वत अलग हो जाते हैं, वह सविपाक निर्जरा है, लेकिन यह तप साधना का उद्देश्य नही है। तप साधना तो सप्रयास है। प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलो को आत्मा से अलग करने की क्रिया को अविपाक निर्जरा कहते हैं और तप ही वह क्रिया है जिसके द्वारा अविपाक निर्जरा होती है।

तप का प्रयोजन है प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलो को आत्मा से अलग कर आत्मा की स्वशक्ति को प्रकट करना। यही शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि है। यही आत्मा का विशुद्धिकरण है और यही तप साधना का लक्ष्य हैं। उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान महावीर तप के विषय में कहते हैं कि "तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है।"[3] आवद्ध कर्मों के क्षय करने की पद्धति है।[4] तप के द्वारा ही महर्षिगण पूर्व पापकर्मों को नष्ट करते हैं।[5] तप राग द्वेष जन्य पाप-कर्मों के बन्धन को क्षीण करने का मार्ग है।[6]

इस तरह जैन साधना में तप का उद्देश्य या प्रयोजन पूर्व-बद्ध कर्म-पुद्गलो का आत्म तत्व से पृथककरण, आत्म-परिशोधन और शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि है।

जैन साधना में तप का वर्गीकरण

जैन आचार-प्रणाली मे तप के बाह्य (शारीरिक) और आभ्यन्तर (मानसिक) ऐसे दो भेद हैं।[7] इन दोनों के भी छह-छह भेद हैं।

(१) बाह्य तप—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या, (४) रस-परित्याग, (५) कायक्लेश और (६) सलीनता।

(२) आभ्यन्तर तप—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

शारीरिक या बाह्य तप के भेद[8]

(१) अनशन—आहार के त्याग को अनशन कहते हैं। यह दो प्रकार का है—एक निश्चित समयावधि के लिये किया

---

१ समदर्शी हरिभद्र पृ ६७।
२ वही पृ. ६७।
३ उत्तराध्ययन, २८/३५।
४ वही २९/२७।
५ वही २८/३६, ३०/६।
६ वही ३०/१।
७ वही ३०/७।
८ वही ३०/८-२८।

हुआ आहार-त्याग, यह एक मुहूर्त से लगाकर छह मास तक का होता है। दूसरा जीवन-पर्यन्त के लिये किया हुआ आहार-त्याग। जीवन पर्यन्त के लिए आहार त्याग की अनिवार्य शर्त यह है कि उस अवधि मे मृत्यु की आकाक्षा नही होनी चाहिए। आचार्य पूज्यपाद के अनुसार आहार त्याग का उद्देश्य आत्म-संयम, आसक्ति मे कमी, ध्यान, ज्ञानार्जन और कर्मों की निर्जरा है, न कि सासारिक उद्देश्यो की पूर्ति।[1] अनशन मे मात्र देह-दण्ड नही है, वरन आध्यात्मिक गुणो की उपलब्धि का उद्देश्य निहित है। स्थानाग सूत्र मे आहार ग्रहण करने के और आहार त्याग के छह छह कारण बताये गये हैं। उसमे भूख की पीडा से निवृत्ति, सेवा, ईर्या, सयमनिर्वाहार्थ, धर्मचिन्तार्थ और प्राण-रक्षार्थ ही आहार ग्रहण करने की अनुमति है।

(२) ऊनोदरी (अवमौदर्य)—इस तप मे आहार विषयक कुछ स्थितियाँ या शर्तें निश्चित की जाती हैं। इसके चार प्रकार हैं।

(१) आहार की मात्रा कुछ कम खाना, यह द्रव्य-ऊनोदरी तप है। (२) भिक्षा के लिए, आहार के लिए कोई स्थान निश्चित कर वही से मिली भिक्षा लेना, यह क्षेत्र ऊनोदरी तप है। (३) किसी निश्चित समय पर आहार लेना यह काल ऊनोदरी तप है। (४) भिक्षा प्राप्ति के लिए आहारार्थ किसी शर्त (अभिग्रह) का निश्चय करना यह भाव ऊनोदरी तप है। सक्षेप मे ऊनोदरी तप वह है जिसमे किसी विशेष समय एवं स्थान पर, विशेष प्रकार से उपलब्ध आहार को अपनी आहार की मात्रा से कम मात्रा मे ग्रहण किया जाता है। मूलाचार के अनुसार उनोदरी तप की आवश्यकता निद्रा एव इन्द्रियो के संयम के लिए तथा तप एवं षट् आवश्यकों के पालन के लिये है।[2]

(३) रस परित्याग—भोजन मे दूध, दही, घृत, तैल, मिष्ठान आदि सबका या उनमे से किसी एक का ग्रहण न करना रस-परित्याग है। रस-परित्याग स्वाद-जय है। नैतिक जीवन की साधना के लिए स्वाद-जय आवश्यक है। महात्मा गाँधी ने ग्यारह व्रतो का विधान किया, उसमे अस्वाद भी एक व्रत है। रस परित्याग का तात्पर्य यह है कि साधक स्वाद के लिए नही, वरन् शरीर-निर्वाह अथवा साधना के लिए आहार करता है।

(४) भिक्षाचर्या—भिक्षा विषयक विभिन्न विधि-नियमो का पालन करते हुए भिक्षान्न पर जीवन यापन करना भिक्षाचर्या तप है। इसे वृत्ति परिसख्यान भी कहा गया है। इसका बहुत कुछ सम्बन्ध भिक्षुक जीवन से है। भिक्षा के सम्बन्ध मे पूर्व निश्चय कर लेना और तदनुकूल ही भिक्षा ग्रहण करना वृत्ति-परिसख्यान है। इसे अभिग्रह तप भी कहा गया है।

(५) कायक्लेश—वीरासन, गोदुहासन आदि विभिन्न आसन करना, शीत या उष्णता सहन करने का अभ्यास करना काय-क्लेश तप है। कायक्लेश तप चार प्रकार का है—(१) आसन, (२) आतापना—सूर्य की रश्मियो का ताप लेना, शीत को सहन करना, अल्प वस्त्र अथवा निर्वस्त्र रहना। (३) विभूषा का त्याग (४) परिकर्म—शरीर की साज-सज्जा का त्याग।

(६) सलीनता—सलीनता चार प्रकार की है—(१) इन्द्रिय सलीनता—इन्द्रियो के विषयो से बचना, (२) कषाय-सलीनता-क्रोध, मान, माया और लोभ से बचना, (३) योग संलीनता—मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियो से बचना (४) विविक्त शयनासन—एकान्त स्थान पर सोना-बैठना। सामान्य रूप से यह माना गया है कि कषाय एव राग-द्वेष के बाह्य निमित्तों से बचने के लिए साधक को श्मशान, शून्यागार और वन के एकात स्थानो मे रहना चाहिए।

आभ्यन्तर तप के भेद

आभ्यन्तर तप, तप का वह रूप है जो बाह्य रूप से तो तप के रूप मे प्रतीत नही होता किन्तु आत्मविशुद्धि का कारण होने से जैन परम्परा मे उसे तप ही कहा गया है। बाह्य तप स्थूल है जबकि आभ्यन्तर तप सूक्ष्म है। उत्तराध्ययन आदि सभी जैन ग्रन्थो मे आभ्यन्तर तप के निम्न छ भेद माने गये हैं—

(१) प्रायश्चित्त—अपने द्वारा हुए व्रतभंग दुराचरण के प्रति ग्लानि प्रकट करना, उसे वरिष्ठ गुरुजनो के समक्ष प्रकट करके उसके शुद्धिकरण हेतु योग्य दण्ड की याचना करना एव उनके द्वारा दिये गये योग्य दण्ड को स्वीकार करना, प्रायश्चित्त तप है जो वस्तुत आत्मशोधन की एक प्रक्रिया है। वासनाओ एव कषायो से उद्वेलित होना मनुष्य का सहज स्वभाव है। प्राय-श्चित्त के स्वरूपादि के सन्दर्भ मे हमने आगे विस्तार से चर्चा की है। अत पाठको को वही देख लेने की अनुशसा करता हूँ।

(२) विनय—आत्मशुद्धि बिना विनय सम्भव नही है। विनय व्यक्ति को अहकार से मुक्त करता है और यह स्पष्ट है कि आत्मगत दोषों मे अहकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्राचीन जैन ग्रन्थो मे विनय शब्द का तात्पर्य है आचार के नियम। अतः आचार के नियमो का सम्यक्रूप मे परिपालन ही विनय है। दूसरे अर्थ मे विनय विनम्रता का सूचक है। इस दूसरे अर्थ मे विनय का तात्पर्य है, वरिष्ठ एव गुरुजनों का सम्मान करते हुए उनकी आज्ञाओ का पालन करना अथवा उन्हे आदर प्रदान करना। विनय के सात भेद हैं—(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) काय विनय और (७) लोकोपचार विनय। शिष्टाचार के

---

१ सर्वार्थसिद्धि ९/१९।

२ मूलाचार ५/१५३।

रूप में किये गये वाह्योपचार को लोकोपचार विनय कहा जाता है।

(३) वैयावृत्य—वैयावृत्य का अर्थ सेवा-शुश्रूषा करना है। भिक्षु-संघ मे दस प्रकार के साधकों की सेवा करना भिक्षु का कर्तव्य है—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) तपस्वी, (४) गुरु, (५) रोगी, (६) वृद्ध मुनि, (७) सहपाठी, (८) अपने भिक्षु सघ का सदस्य, (९) दीक्षा स्थविर और (१०) लोक सम्मानित भिक्षु। इन दस की सेवा करना वैयावृत्य तप है। इसके अतिरिक्त संघ (समाज) की सेवा भी भिक्षु का कर्तव्य है।

(४) स्वाध्याय—स्वाध्याय शब्द का सामान्य अर्थ आध्यात्मिक साहित्य का पठन-पाठन एवं मनन आदि है। स्वाध्याय के पाँच भेद है—

(क) वाचना—सद्ग्रन्थो का पठन एवं अध्ययन करना।

(ख) पृच्छना—उत्पन्न शकाओं के निरसन के लिए एव नवीन ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त विद्वज्जनो से प्रश्नोत्तर एव वार्तालाप करना।

(ग) परावर्तन—परावर्तन का अर्थ दोहराना है। अर्जित ज्ञान के स्थायित्व के लिये यह आवश्यक है।

(घ) अनुप्रेक्षा—ज्ञान के विकास के लिए उसका चिन्तन करना एव उस चिन्तन के द्वारा अर्जित ज्ञान को विशाल करना 'अनुप्रेक्षा' है।

(ङ) धर्मकथा—धार्मिक उपदेश करना धर्मकथा है।

(५) ध्यान—चित्त की अवस्थाओ का किसी विषय पर केन्द्रित होना ध्यान है। जैन परम्परा मे ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) आर्त-ध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान चित्त की दूषित प्रवृत्तियाँ हैं अत साधना एवं तप की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नही है, ये दोनो ध्यान त्याज्य हैं। आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनो महत्वपूर्ण हैं। अत इन पर थोडी विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है।

धर्मध्यान—इसका अर्थ है चित्त-विशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास।

धर्म-ध्यान के लिये ये चार बातें आवश्यक हैं—(१) आगम ज्ञान, (२) अनासक्ति, (३) आत्म-सयम और (४) मुमुक्षुभाव। धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं—

(१) आज्ञा विचय—आगम के अनुसार तत्व स्वरूप एव कर्तव्यो का चिन्तन करना।

(४) संस्थान-वि
स्वरूपो का चिन्तन
सस्थान-विचय
जित है—(अ) पिण्
के चिन्तन पर आध
वारुणी और तत्वभू
ध्यान—यह ध्यान
करके किया जात
आदि विकारो से र
तीत-ध्यान—निराव
करना।

शुक्ल ध्यान—
ध्यान के द्वारा मन
इसकी अन्तिम परि
है। शुक्ल-ध्यान च
चार—इस ध्यान
शब्द का और शब्द
करने लगता है।
सक्रमण होते रह
(२) एकत्व-वितर्क
से रहित, एक प
ध्यान कहलाता है
और शरीर व्यापार
वास की सूक्ष्म क्रि
प्राप्त होती है। (
और शरीर की स
कोई भी सूक्ष्म क्रि
क्रिया शुक्लध्यान
अवस्था से क्रमश
कायिक, वाचिक अ
कर अन्त मे सिद्धा
और योग साधना

(६) व्युत्सर्ग-
व्युत्सर्ग के आभ्यन्
चार भेद हैं—

(१) कायोत्स
हटा देना।

(३) उपधि-व्युत्सर्ग—वस्त्र, पात्र आदि मुनि-जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओ का त्याग करना या उनमे कमी करना।

(४) भक्तपान व्युत्सर्ग—भोजन का परित्याग। यह अनशन का ही रूप है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है—

(१) कषाय-व्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायो का परित्याग करना।

(२) ससार-व्युत्सर्ग—प्राणीमात्र के प्रति राग-द्वेष की प्रवृत्तियो को छोडकर सबके प्रति समत्वभाव रखना।

(३) कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा की मलिनता मन, वचन और शरीर की विविध प्रवृत्तियो को जन्म देती है। इस मलिनता के परित्याग के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्तियो का निरोध करना।

जैन धर्म में प्रायश्चित्त एवं दण्ड व्यवस्था

प्रायश्चित्त और दण्ड—जैन आचार्यों ने न केवल आचार के विधि-निषेधो का प्रतिपादन किया अपितु उनके भंग होने पर प्रायश्चित्त एवं दण्ड की व्यवस्था भी की। सामान्यतया जैन आगम ग्रन्थो मे नियम-भंग या अपराध के लिए प्रायश्चित्त का ही विधान किया गया और दण्ड शब्द का प्रयोग सामान्यतया "हिंसा" के अर्थ मे हुआ है। अतः जिसे हम दण्ड-व्यवस्था के रूप मे जानते हैं, वह जैन परम्परा मे प्रायश्चित्त व्यवस्था के रूप मे ही मान्य है। सामान्यतया दण्ड और प्रायश्चित्त पर्यायवाची माने जाते हैं, किन्तु दोनो मे सिद्धातत अन्तर है। प्रायश्चित्त मे अपराध-बोध की भावना से व्यक्ति मे स्वत ही उसके परिमार्जन की अन्त प्रेरणा उत्पन्न होती है। प्रायश्चित्त अन्त प्रेरणा से स्वय ही किया जाता है, जबकि दण्ड अन्य व्यक्ति के द्वारा दिया जाता है। जैन परम्परा अपनी आध्यात्मिक-प्रकृति के कारण साधनात्मक जीवन मे प्रायश्चित्त का ही विधान करती है। यद्यपि जब साधक अन्त प्रेरित होकर आत्मशुद्धि के हेतु स्वय प्रायश्चित्त की याचना नही करता है तो सघ व्यवस्था के लिए उसे दण्ड देना होता है।

यद्यपि हमे यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड देने से साधक की आत्मशुद्धि नही होती। चाहे सामाजिक या सघ-व्यवस्था के लिए दण्ड आवश्यक हो किन्तु जब तक उसे अन्त प्रेरणा से स्वीकृत नही किया जाता तब तक वह आत्मविशुद्धि करने में सहायक नही होता। जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था मे परिहार, छेद, मूल, पाराचिक आदि बाह्यत. तो दण्डरूप है, किन्तु उनकी आत्मविशुद्धि की क्षमता को लक्ष्य मे रखकर ही ये प्रायश्चित्त दिये जाते हैं।

प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ

प्रायश्चित्त शब्द की आगमिक व्याख्या साहित्य मे विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। जीतकल्प भाष्य के अनुसार जो पाप का छेदन करता है, वह प्रायश्चित्त है।[1] यहाँ "प्राय." शब्द को पाप के रूप मे तथा "चित्त" शब्द को शोधक के रूप मे परिभाषित किया गया है। हरिभद्र ने पचाशक मे प्रायश्चित्त के दोनो ही अर्थ मान्य किये हैं। वे मूलत· "पायच्छित्त" शब्द की व्याख्या उसके प्राकृत रूप के आधार पर ही करते हैं। वे लिखते हैं कि जिसके द्वारा पाप का छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है।[2] इसके साथ ही वे दूसरे अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसके द्वारा पाप से चित्त का शोधन होता है, वह प्रायश्चित्त है।[3] प्रायश्चित्त शब्द के संस्कृत रूप के आधार पर "प्राय" शब्द को प्रकर्ष के अर्थ मे लेते हुए यह भी कहा गया है कि जिसके द्वारा चित्त प्रकर्षता अर्थात् उच्चता को प्राप्त होता है वह प्रायश्चित्त है।[4]

दिगम्बर टीकाकारो ने "प्राय" शब्द का अर्थ अपराध और चित्त शब्द का अर्थ शोधन करे यह माना है कि जिस क्रिया के करने से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है।[5] एक अन्य व्याख्या मे "प्रायः" शब्द का अर्थ "लोक" भी किया गया है। इस दृष्टि से यह माना गया है कि जिस कर्म से साधुजनो का चित्त प्रसन्न होता है वह प्रायश्चित्त है।[6] मूलाचार मे कहा गया है कि प्रायश्चित्त वह तप है जिसके द्वारा पूर्वकृत पापो की विशुद्धि की जाती है।[7] इसी ग्रन्थ मे प्रायश्चित्त के पर्यायवाची नामो का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षपणा, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुन्छण अर्थात् निराकरण, उत्क्षेपण एवं छेदन होता है, वह प्रायश्चित्त है।[8]

प्रायश्चित्त के प्रकार

श्वेताम्बर परम्परा मे विविध प्रायश्चित्तो का उल्लेख स्थानाग, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, जीतकल्प आदि ग्रन्थो मे मिलता है। किन्तु जहाँ समवायाग मे प्रायश्चित्तो के प्रकारो का मात्र नामोल्लेख है वहाँ निशीथ आदि ग्रन्थो मे प्रायश्चित्त योग्य अपराधो का भी विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। प्रायश्चित्त

---

१ जीतकल्पभाष्य ५।

२ पंचाशक (हरिभद्र) १६/३ (प्रायश्चितपंचाशक)।

३ वही।

४ अभिधान राजेन्द्र कोष।

५ तत्वार्थ वार्तिक ९/२२/१, पृ. ६२०।

६ वही।

७ मूलाचार ५/१६४।

८ वही ५/१६६।

सम्बन्धी विविध सिद्धातो और समस्याओ का स्पष्टतापूर्वक विवेचन बृहत्कल्प भाष्य, निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथ-चूर्णि, जीतकल्पभाष्य एवं जीतकल्पचूर्णि मे उपलब्ध होता है। जहाँ तक प्रायश्चित्त के प्रकारो का प्रश्न है, इन प्रकारो का उल्लेख श्वेताम्बर आगम स्थानाग, बृहत्कल्प, निशीथ और जीत कल्प मे, यापनीय ग्रन्थ मूलाचार मे, दिगम्बर ग्रन्थ जयधवला मे तथा तत्वार्थ सूत्र एव उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यो की टीकाओ मे मिलता है।

स्थानाग सूत्र मे प्रायश्चित्त के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख हुआ है, उसके तृतीय स्थान मे ज्ञान प्रायश्चित्त, दर्शन प्रायश्चित्त और चारित्र-प्रायश्चित्त ऐसे तीन प्रायश्चित्तो का उल्लेख हुआ है।[1] इसी तृतीय स्थान मे अन्यत्र आलोचना, प्रतिक्रमण और तदुभय ऐसे प्रायश्चित्त के तीन रूपो का भी उल्लेख हुआ है।[2] इसी आगम ग्रन्थ मे अन्यत्र छ, आठ और नौ प्रायश्चित्तो का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु ये सभी प्रायश्चित्तो के प्रकार उसके दशम् स्थान मे जो दशविध प्रायश्चित्तो का विवरण दिया गया है उसमे समाहित हो जाते हैं।[3] अत हम उनकी स्वतन्त्र रूप से चर्चा न करके उसमे उपलब्ध दशविध प्रायश्चित्त की चर्चा करेंगे—

स्थानाग, जीतकल्प और धवला मे प्रायश्चित्त के निम्न दस प्रकार माने गये हैं—

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पाराचिक।[4] यदि हम इन दस नामो की तुलना यापनीय ग्रन्थ मूलाचार[5] और तत्वार्थ सूत्र[6] से करते हैं तो मूला-चार में प्रथम आठ नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु जीतकल्प के अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार और पाराचिक के स्थान पर श्रद्धान का उल्लेख हुआ है। मूलाचार श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न होकर तप और परिहार को अलग-अलग मानता है। तत्वार्थ सूत्र में तो इनकी सख्या नौ मानी गई है। इसमे सात नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु मूल के स्थान पर उपस्थापन और अनपस्थाप्य के स्थान पर परिहार का उल्लेख हुआ है। पाराचिक का उल्लेख तत्वार्थ मे नही है अत वह नौ प्रायश्चित्त ही मानता है। श्वेताम्बर आचार्यों ने तप और परिहार को एक माना है, किन्तु तत्वार्थ में तप और परिहार दोनो स्वतन्त्र प्रायश्चित्त माने गये हैं, अत. तत्वार्थ मे भी परि-हार का अर्थ अनवस्थाप्य ही हो सकता है। इस प्रकार तत्वार्थ और मूलाचार दोनो तप और परिहार को अलग-अलग मानते हैं और दोनो मे उसका अर्थ अनवस्थाप्य के समान है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ धवला १७ में स्थानाग और जीतकल्प के समान ही १० प्रायश्चित्तो का वर्णन है और उनके नाम भी वे ही हैं। इस प्रकार जहाँ धवला श्वेताम्बर परम्परा से सगति रखती है, वहाँ मूलाचार और तत्वार्थ कुछ भिन्न हैं। सम्भवत. ऐसा प्रतीत होता है कि जीतकल्प सूत्र के उल्लेखानुसार जब अनवस्थाप्य और पाराचिक इन दोनो प्रायश्चित्तो को भद्रबाहु के बाद व्यवच्छिन्न मान लिया गया या दूसरे शब्दो में इन प्राय-श्चित्तो का प्रचलन बन्द कर दिया गया[7] तो इन अन्तिम दो प्रायश्चित्तो के स्वतन्त्र स्वरूप को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया और उनके नामो मे अन्तर हो गया। मूलाचार के अन्त मे परि-हार का जो उल्लेख है वह अनवस्थाप्य से कोई भिन्न नही कहा जा सकता, किन्तु उसमे श्रद्धान प्रायश्चित्त का क्या तात्पर्य है यह न तो मूल ग्रन्थ से और न उसकी टीका से ही स्पष्ट होता है। यह अन्तिम प्रायश्चित्त है, अतः कठोरतम होना चाहिये। इसका अर्थ यह माना जा सकता है कि ऐसा अपराधी व्यक्ति जो श्रद्धा से रहित मानकर सघ से पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाये किन्तु टीकाकार वसुनन्दी ने श्रद्धान का अर्थ तत्वरुचि एवं क्रोधादि त्याग किया है। इन प्रायश्चित्तो मे जो क्रम है वह सहजता से कठोरता की ओर है अत अन्त में श्रद्धा नामक सहज प्रायश्चित्त को रखने का कोई औचित्य नही है। वस्तुत जिन प्रवचन के प्रति श्रद्धा का समाप्त हो जाना ही वह अपराध है, जिसका दण्ड मात्र बहिष्कार है। अत ऐसे श्रमण की श्रद्धा जब तक सम्यक् नही है तब तक उसे सघ से बहिष्कृत रखना ही इस प्रायश्चित्त का तात्पर्य है।

प्रायश्चित्त का सर्वप्रथम रूप वह है जहाँ साधक को स्वय ही अपने मन मे अपराधबोध के परिणामस्वरूप आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न हो। वस्तुत आलोचना का अर्थ है अपराध को अपराध के रूप मे स्वीकार कर लेना। आलोचन शब्द का अर्थ देखना, अपराध को अपराध के रूप मे देख लेना ही आलोचना है। सामान्यतया वे अपराध जो हमारे दैनन्दिन व्यवहार में असावधानी (प्रमाद) या बाध्यतावश घटित होते हैं, आलोचना नामक प्रायश्चित्त के विषय माने गये हैं। अपने द्वारा हुए अपराध या नियम भग को आचार्य या गीतार्थ मुनि के समक्ष निवेदित

---

१ स्थानांग ३/४७०। २ वही ३/४४८। ३ वही १०/७३।
४ (अ) स्थानाग १०/७३, (ब) जीतकल्पसूत्र ४, (स) धवला १३/५, २६/६३/१।
५ मूलाचार ५/१६५। ६ तत्वार्थ ९/२२।
७ जीतकल्पभाष्य २५८६, जीतकल्प १०२।

करके उनसे उसके प्रायश्चित्त की याचना करना ही आलोचना है। सामान्यतया आलोचना करते समय यह विचार आवश्यक है कि अपराध क्यो हुआ ? उसका प्रेरक तत्व क्या है ?

अपराध क्यों और कैसे ?

अपराध या व्रतभग क्यो और किन परिस्थितियो मे किया जाता है, इसका विवेचन हमे स्थानाग सूत्र के दशम स्थान मे मिलता है, उसमे दस प्रकार की प्रतिसेवना का उल्लेख हुआ है। प्रतिसेवना का तात्पर्य है गृहीत व्रत के नियमो के विरुद्ध आचरण करना अथवा भोजन आदि ग्रहण करना। वस्तुत: प्रतिसेवना का सामान्य अर्थ व्रत या नियम के प्रतिकूल आचरण करना ही है। यह व्रतभग क्यो, कब और किन परिस्थितियो मे होता है इसे स्पष्ट करने हेतु ही स्थानाग मे दस प्रतिसेवनाओ का उल्लेख है।[1]

(१) **दर्प-प्रतिसेवना** - आवेश अथवा अहकार के वशीभूत होकर जो हिंसा आदि करके व्रत भंग किया जाता है वह दर्प प्रतिसेवना है।

(२) **प्रमाद प्रतिसेवना**—प्रमाद एवं कषायो के वशीभूत होकर जो व्रत भंग किया जाता है, वह प्रमाद प्रतिसेवना है।

(३) **अनाभोग प्रतिसेवना**—स्मृति या सजगता के अभाव मे अभक्ष्य या नियम विरुद्ध वस्तु का ग्रहण करना अनाभोग प्रतिसेवना है।

(४) **आतुर प्रतिसेवना**—भूख-प्यास आदि से पीडित होकर किया जाने वाला व्रत-भंग आतुर प्रतिसेवना है।

(५) **आपात प्रतिसेवना**— किसी विशिष्ट परिस्थिति के उत्पन्न होने पर व्रत-भंग या नियम विरुद्ध आचरण करना आपात प्रतिसेवना है।

(६) **शकित प्रतिसेवना**—शंका के वशीभूत होकर जो नियम भग किया जाता है, उसे शंकित प्रतिसेवना कहते हैं, जैसे यह व्यक्ति हमारा अहित करेगा ऐसा मानकर उसकी हिंसा आदि कर देना।

(७) **सहसाकार प्रतिसेवना**—अकस्मात होने वाले व्रत या नियम भंग को सहसाकार प्रतिसेवना कहते हैं।

(८) **भय प्रतिसेवना**—भय के कारण जो व्रत या नियम भंग किया जाता है वह भय प्रतिसेवना है।

(९) **प्रदोष प्रतिसेवना**—द्वेषवश किसी प्राणी की हिंसा अथवा उसका अहित करना प्रदोष प्रतिसेवना है।

(१०) **विमर्श प्रतिसेवना**—शिष्यो की क्षमता अथवा उनकी श्रद्धा आदि के परीक्षण के लिए व्रत या नियम का भग करना विमर्श प्रतिसेवना है।

दूसरे शब्दो मे किसी निश्चित उद्देश्य के लिये विचारपूर्वक व्रतभंग करना या नियम के प्रतिकूल आचरण करना विमर्श प्रतिसेवना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति अपराध केवल स्वेच्छा से जानबूझकर ही नही करता अपितु परिस्थितिवश भी करता है। अत उसे प्रायश्चित्त देते समय यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि अपराध क्यो और किन परिस्थितियो मे किया गया है।

आलोचना करने का अधिकारी कौन ?

आलोचना कौन व्यक्ति कर सकता है इस सम्बन्ध मे भी स्थानाग सूत्र[2] मे पर्याप्त चिन्तन किया गया है। इसके अनुसार निम्न दस गुणो से युक्त व्यक्ति ही आलोचना करने के योग्य होता है—

(१) जाति सम्पन्न, (२) कुल सम्पन्न, (३) विनय सम्पन्न, (४) ज्ञान सम्पन्न, (५) दर्शन सम्पन्न, (६) चारित्र सम्पन्न, (७) क्षान्त (क्षमासम्पन्न) (८) दान्त (इन्द्रिय-जयी), (९) अमायावी (मायाचार रहित) और (१०) अपश्चात्तापी (आलोचना करने के बाद उसका पश्चात्ताप न करने वाला)।

आलोचना किसके समक्ष की जाये ?

आलोचना किस व्यक्ति के समक्ष की जानी चाहिए यह भी एक विचारणीय प्रश्न है, योग्य और गम्भीर व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष आलोचना करने का परिणाम यह होता है कि वह आलोचना करने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचा सकता है तथा उसे अपयश का भागी बनना पड़ सकता है। अत: जैनाचार्यो ने माना कि आलोचना सदैव ऐसे व्यक्ति के समक्ष करनी चाहिये जो आलोचना सुनने योग्य हो, उसे गोपनीय रख सकता हो और उसका अनैतिक लाभ न ले। स्थानाग सूत्र[3] के अनुसार जिस व्यक्ति के सामने आलोचना की जाती है उसे निम्नलिखित दस गुणो से युक्त होना चाहिए।

(१) **आचारवान**—सदाचारी होना आलोचना देने वाला व्यक्ति का प्रथम गुण है, क्योकि जो स्वय दुराचारी है वह दूसरो के अपराधो की आलोचना सुनने का अधिकारी नही है। जो अपने ही दोषो को शुद्ध नही कर सका वह दूसरो के दोषो को क्या दूर करेगा ?

(२) **आधारवान**—अर्थात् उसे अपराधो और उसके सम्बन्ध मे नियत प्रायश्चित्तो का बोध होना चाहिए, उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए, कि किस अपराध के लिए किस प्रकार का प्रायश्चित्त नियत है।

(३) **व्यवहारवान**—उसे आगम, श्रुत, जिनाज्ञा, धारणा और जीत इन पाँच प्रकार के व्यवहारो को जानने वाला होना

---

१ स्थानांग १०/६९।

२ स्थानांग १०/७१।

३ स्थानाग १०/७२।

सम्बन्धी विविध सिद्धातो और समस्याओ का स्पष्टतापूर्वक विवेचन बृहत्कल्प भाष्य, निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथ-चूर्णि, जीतकल्पभाष्य एवं जीतकल्पचूर्णि मे उपलब्ध होता है। जहाँ तक प्रायश्चित्त के प्रकारो का प्रश्न है, इन प्रकारो का उल्लेख श्वेताम्बर आगम स्थानाग, बृहत्कल्प, निशीथ और जीत कल्प मे, यापनीय ग्रन्थ मूलाचार मे, दिगम्बर ग्रन्थ जयधवला मे तथा तत्वार्थ सूत्र एव उसकी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों की टीकाओ मे मिलता है।

स्थानाग सूत्र मे प्रायश्चित्त के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख हुआ है, उसके तृतीय स्थान मे ज्ञान प्रायश्चित्त, दर्शन प्रायश्चित्त और चारित्र-प्रायश्चित्त ऐसे तीन प्रायश्चित्तो का उल्लेख हुआ है।[1] इसी तृतीय स्थान मे अन्यत्र आलोचना, प्रतिक्रमण और तदुभय ऐसे प्रायश्चित्त के तीन रूपो का भी उल्लेख हुआ है।[2] इसी आगम ग्रन्थ में अन्यत्र छ, आठ और नौ प्रायश्चित्तो का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु ये सभी प्रायश्चित्तो के प्रकार उसके दशम् स्थान मे जो दशविध प्रायश्चित्तो का विवरण दिया गया है उसमें समाहित हो जाते हैं।[3] अत हम उनकी स्वतन्त्र रूप से चर्चा न करके उसमे उपलब्ध दशविध प्रायश्चित्त की चर्चा करेंगे—

स्थानाग, जीतकल्प और धवला मे प्रायश्चित्त के निम्न दस प्रकार माने गये हैं—

(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल, (९) अनवस्थाप्य और (१०) पाराचिक।[4] यदि हम इन दस नामो की तुलना यापनीय ग्रन्थ मूलाचार[5] और तत्वार्थ सूत्र[6] से करते हैं तो मूलाचार में प्रथम आठ नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु जीतकल्प के अनवस्थाप्य के स्थान पर परिहार और पाराचिक के स्थान पर श्रद्धान का उल्लेख हुआ है। मूलाचार श्वेताम्बर परम्परा से भिन्न होकर तप और परिहार को अलग-अलग मानता है। तत्वार्थ सूत्र मे तो इनकी सख्या नौ मानी गई है। इसमे सात नाम तो जीतकल्प के समान ही हैं किन्तु मूल के स्थान पर उपस्थापन और अनपस्थाप्य के स्थान पर परिहार का उल्लेख हुआ है। पाराचिक का उल्लेख तत्वार्थ मे नही है अत वह नौ प्रायश्चित्त ही मानता है। श्वेताम्बर आचार्यों ने तप और परिहार को एक माना है, किन्तु तत्वार्थ मे तप और परिहार दोनो स्वतन्त्र प्रायश्चित्त माने गये हैं, अत तत्वार्थ मे भी परिहार का अर्थ अनवस्थाप्य ही हो सकता है। इस प्रकार तत्वार्थ और मूलाचार दोनो तप और परिहार को अलग-अलग मानते हैं और दोनो मे उसका अर्थ अनवस्थाप्य के समान है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ धवला १७ में स्थानाग और जीतकल्प के समान ही १० प्रायश्चित्तो का वर्णन है और उनके नाम भी वे ही हैं। इस प्रकार जहाँ धवला श्वेताम्बर परम्परा से सगति रखती है, वहाँ मूलाचार और तत्वार्थ कुछ भिन्न हैं। सम्भवत ऐसा प्रतीत होता है कि जीतकल्प सूत्र के उल्लेखानुसार जब अनवस्थाप्य और पाराचिक इन दोनो प्रायश्चित्तो को भद्रबाहु के बाद व्यवच्छिन्न मान लिया गया या दूसरे शब्दो मे इन प्रायश्चित्तो का प्रचलन बन्द कर दिया गया[7] तो इन अन्तिम दो प्रायश्चित्तो के स्वतन्त्र स्वरूप को लेकर मतभेद उत्पन्न हो गया और उनके नामो मे अन्तर हो गया। मूलाचार के अन्त मे परिहार का जो उल्लेख है वह अनवस्थाप्य से कोई भिन्न नही कहा जा सकता, किन्तु उसमे श्रद्धान प्रायश्चित्त का क्या तात्पर्य है यह न तो मूल ग्रन्थ से और न उसकी टीका से ही स्पष्ट होता है। यह अन्तिम प्रायश्चित्त है, अतः कठोरतम होना चाहिये। इसका अर्थ यह माना जा सकता है कि ऐसा अपराधी व्यक्ति जो श्रद्धा से रहित मानकर सघ से पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाये किन्तु टीकाकार वसुनन्दी ने श्रद्धान का अर्थ तत्वरुचि एवं क्रोधादि त्याग किया है। इन प्रायश्चित्तो मे जो क्रम है वह सहजता से कठोरता की ओर है अत अन्त मे श्रद्धा नामक सहज प्रायश्चित्त को रखने का कोई औचित्य नही है। वस्तुत जिन प्रवचन के प्रति श्रद्धा का समाप्त हो जाना ही वह अपराध है, जिसका दण्ड मात्र बहिष्कार है। अत ऐसे श्रमण की श्रद्धा जब तक सम्यक् नही है तब तक उसे सघ से बहिष्कृत रखना ही इस प्रायश्चित्त का तात्पर्य है।

प्रायश्चित्त का सर्वप्रथम रूप वह है जहाँ साधक को स्वय ही अपने मन मे अपराधबोध के परिणामस्वरूप आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न हो। वस्तुत आलोचना का अर्थ है अपराध को अपराध के रूप मे स्वीकार कर लेना। आलोचन शब्द का अर्थ देखना, अपराध को अपराध के रूप मे देख लेना ही आलोचना है। सामान्यतया वे अपराध जो हमारे दैनन्दिन व्यवहार मे असावधानी (प्रमाद) या बाध्यतावश घटित होते हैं, आलोचना नामक प्रायश्चित्त के विषय माने गये हैं। अपने द्वारा हुए अपराध या नियम भग को आचार्य या गीतार्थ मुनि के समक्ष निवेदित

---

१ स्थानांग ३/४७०। २ वही ३/४४८। ३ वही १०/७३।
४ (अ) स्थानांग १०/७३, (ब) जीतकल्पसूत्र ४, (स) धवला १३/५, २६/६३/१।
५ मूलाचार ५/१६५। ६ तत्वार्थ ९/२२।
७ जीतकल्पभाष्य २५८६, जीतकल्प १०२।

करके उनसे उसके प्रायश्चित्त की याचना करना ही आलोचना है। सामान्यतया आलोचना करते समय यह विचार आवश्यक है कि अपराध क्यो हुआ ? उसका प्रेरक तत्व क्या है ?

अपराध क्यों और कैसे ?

अपराध या व्रतभग क्यो और किन परिस्थितियो मे किया जाता है, इसका विवेचन हमे स्थानाग सूत्र के दशम स्थान मे मिलता है, उसमे दस प्रकार की प्रतिसेवना का उल्लेख हुआ है। प्रतिसेवना का तात्पर्य है गृहीत व्रत के नियमो के विरुद्ध-आचरण करना अथवा भोजन आदि ग्रहण करना। वस्तुत: प्रतिसेवना का सामान्य अर्थ व्रत या नियम के प्रतिकूल आचरण करना ही है। यह व्रतभग क्यो, कब और किन परिस्थितियो मे होता है इसे स्पष्ट करने हेतु ही स्थानाग मे दस प्रतिसेवनाओ का उल्लेख है।[1]

(१) **दर्प-प्रतिसेवना** - आवेश अथवा अहंकार के वशीभूत होकर जो हिंसा आदि करके व्रत भंग किया जाता है वह दर्प प्रतिसेवना है।

(२) **प्रमाद प्रतिसेवना**—प्रमाद एवं कषायो के वशीभूत होकर जो व्रत भंग किया जाता है, वह प्रमाद प्रतिसेवना है।

(३) **अनाभोग प्रतिसेवना**—स्मृति या सजगता के अभाव मे अभक्ष्य या नियम विरुद्ध वस्तु का ग्रहण करना अनाभोग प्रतिसेवना है।

(४) **आतुर प्रतिसेवना**—भूख-प्यास आदि से पीडित होकर किया जाने वाला व्रत-भंग आतुर प्रतिसेवना है।

(५) **आपात प्रतिसेवना**—किसी विशिष्ट परिस्थिति के उत्पन्न होने पर व्रत-भंग या नियम विरुद्ध आचरण करना आपात प्रतिसेवना है।

(६) **शकित प्रतिसेवना**—शंका के वशीभूत होकर जो नियम भग किया जाता है, उसे शंकित प्रतिसेवना कहते हैं, जैसे यह व्यक्ति हमारा अहित करेगा ऐसा मानकर उसकी हिंसा आदि कर देना।

(७) **सहसाकार प्रतिसेवना**—अकस्मात होने वाले व्रत या नियम भंग को सहसाकार प्रतिसेवना कहते हैं।

(८) **भय प्रतिसेवना**—भय के कारण जो व्रत या नियम भंग किया जाता है वह भय प्रतिसेवना है।

(९) **प्रदोष प्रतिसेवना**—द्वेषवश किसी प्राणी की हिंसा अथवा उसका अहित करना प्रदोष प्रतिसेवना है।

(१०) **विमर्श प्रतिसेवना**—शिष्यो की क्षमता अथवा उनकी श्रद्धा आदि के परीक्षण के लिए व्रत या नियम का भग करना विमर्श प्रतिसेवना है।

दूसरे शब्दो मे किसी निश्चित उद्देश्य के लिये विचारपूर्वक व्रतभंग करना या नियम के प्रतिकूल आचरण करना विमर्श प्रतिसेवना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति अपराध केवल स्वेच्छा से जानबूझकर ही नही करता अपितु परिस्थितिवश भी करता है। अत उसे प्रायश्चित्त देते समय यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि अपराध क्यो और किन परिस्थितियो मे किया गया है।

आलोचना करने का अधिकारी कौन ?

आलोचना कौन व्यक्ति कर सकता है इस सम्बन्ध मे भी स्थानाग सूत्र[2] मे पर्याप्त चिन्तन किया गया है। इसके अनुसार निम्न दस गुणो से युक्त व्यक्ति ही आलोचना करने के योग्य होता है—

(१) जाति सम्पन्न, (२) कुल सम्पन्न, (३) विनय सम्पन्न, (४) ज्ञान सम्पन्न, (५) दर्शन सम्पन्न, (६) चारित्र सम्पन्न, (७) क्षान्त (क्षमासम्पन्न) (८) दान्त (इन्द्रिय-जयी), (९) अमायावी (मायाचार रहित) और (१०) अपश्चात्तापी (आलोचना करने के बाद उसका पश्चात्ताप न करने वाला)।

आलोचना किसके समक्ष की जाये ?

आलोचना किस व्यक्ति के समक्ष की जानी चाहिए यह भी एक विचारणीय प्रश्न है, योग्य और गम्भीर व्यक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष आलोचना करने का परिणाम यह होता है कि वह आलोचना करने वाले व्यक्ति की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचा सकता है तथा उसे अपयश का भागी बनना पड़ सकता है। अत: जैनाचार्यों ने माना कि आलोचना सदैव ऐसे व्यक्ति के समक्ष करनी चाहिये जो आलोचना सुनने योग्य हो, उसे गोपनीय रख सकता हो और उसका अनैतिक लाभ न ले। स्थानाग सूत्र[3] के अनुसार जिस व्यक्ति के सामने आलोचना की जाती है उसे निम्नलिखित दस गुणो से युक्त होना चाहिए।

(१) **आचारवान**—सदाचारी होना आलोचना देने वाला व्यक्ति का प्रथम गुण है, क्योकि जो स्वयं दुराचारी है वह दूसरो के अपराधों की आलोचना सुनने का अधिकारी नही है। जो अपने ही दोषो को शुद्ध नही कर सका वह दूसरो के दोषो को क्या दूर करेगा ?

(२) **आधारवान**—अर्थात् उसे अपराधो और उसके सम्बन्ध मे नियत प्रायश्चित्तो का बोध होना चाहिए, उसे यह भी ज्ञान होना चाहिए कि किस अपराध के लिए किस प्रकार का प्रायश्चित्त नियत है।

(३) **व्यवहारवान**—उसे आगम, श्रुत, जिनाज्ञा, धारणा और जीत इन पांच प्रकार के व्यवहारो को जानने वाला होना

१ स्थानांग १०/६९।
३ स्थानांग १०/७२।
२ स्थानांग १०/७१।

चाहिए क्योंकि सभी अपराधों एवं प्रायश्चित्तों की सूची आगमों मे उपलब्ध नही है अत आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिये जो स्वविवेक से ही आगमिक आधारों पर किसी कर्म के प्रायश्चित्त का अनुमान कर सके।

(४) **अपव्रीडक**—आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना चाहिए कि आलोचना करने वाले की लज्जा छुड़ाकर उसमे आत्म-आलोचन की शक्ति उत्पन्न कर सके।

(५) **प्रकारी**—आचार्य अथवा आलोचना सुनने वाले में यह सामर्थ्य होना चाहिए कि वह अपराध करने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व को रूपान्तरित कर सके।

(६) **अपरिश्रावी**—उसे आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रगट नही करना चाहिये, अन्यथा कोई भी व्यक्ति उसके सामने आलोचना करने में संकोच करेगा।

(७) **निर्यापक**—आलोचना सुनने वाला व्यक्ति ऐसा होना कि वह प्रायश्चित्त विधान इस प्रकार करे कि प्रायश्चित्त करने वाला व्यक्ति घबराकर उसे आधे मे ही न छोड दे। उसे प्रायश्चित्त करने वाले का सहयोगी बनना चाहिए।

(८) **अपायदर्शी**—अर्थात् उसे ऐसा होना चाहिए कि वह आलोचना करने अथवा न करने के गुण-दोषो की समीक्षा कर सके।

(९) **प्रियधर्मा**—अर्थात् आलोचना सुनने वाले व्यक्ति की धर्म मार्ग मे अविचल निष्ठा होनी चाहिए।

(१० **दृढ़धर्मा**—उसे ऐसा होना चाहिए कि वह कठिन से कठिन समय में भी धर्म मार्ग से विचलित न हो सके।

जिसके समक्ष आलोचना की जा सकती है उस व्यक्ति की इन सामान्य योग्यताओं का निर्धारण करने के साथ-साथ यह भी माना गया है कि किसी गीतार्थ, बहुश्रुत एव आगमज्ञ के समक्ष ही आलोचना की जानी चाहिए। साथ ही इनके पदक्रम और वरीयता पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि जहाँ आचार्य आदि उच्चाधिकारी उपस्थित हो, वहाँ सामान्य साधु या गृहस्थ के समक्ष आलोचना नही करनी चाहिए। आचार्य के उपस्थित होने पर उसी के समक्ष आलोचना की जानी चाहिए। आचार्य की अनुपस्थिति में उपाध्याय के समक्ष, उपाध्याय की अनुपस्थिति मे साभोगिक साधर्मिक साधु के समक्ष और उनकी अनुपस्थिति मे अन्य साभोगिक साधर्मी साधु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। यदि अन्य साभोगिक साधर्मी साधु भी उपलब्ध न हो तो ऐसी स्थिति मे बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ समान-वेश धारक साधु के समक्ष आलोचना करे। उसके उपलब्ध न होने पर यदि पूर्व मे दीक्षा पर्याय को छोडा हुआ बहुश्रुत और आगमज्ञ श्रमणोपासक उपस्थित हो तो उसके समक्ष आलोचना करे। उसके अभाव में सम्यक्त्व भावित अत करण वाले के समक्ष अर्थात् सम्यक्त्वी जीव के समक्ष आलोचना करे। यदि सम्यक्त्व भावी अन्त करण वाला भी न हो तो ग्राम या नगर के बाहर जाकर पूर्व या उत्तर दिशा मे अभिमुख होकर अरिहन्त और सिद्ध की साक्षीपूर्वक आलोचना करे।[1]

आलोचना सम्बन्धी इस चर्चा के प्रसग मे यह भी तथ्य ध्यान देने योग्य है कि आलोचना दोषमुक्त हो। स्थानाग, मूलाचार, भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में आलोचना के दस दोषो का उल्लेख हुआ है।[2]

(१) **आकम्पित दोष**—आचार्य आदि को उपकरण आदि देकर अपने अनुकूल बना लेना आकम्पित दोष है। कुछ विद्वानो के अनुसार आकम्पित दोष का अर्थ है कापते हुए आलोचना करना, जिससे प्रायश्चित्तदाता कम से कम प्रायश्चित्त दे।

(२) **अनुमानित दोष**—अल्प प्रायश्चित्त या दण्ड मिले इस भय से अपने को दुर्बल, रोगग्रस्त आदि दिखाकर आलोचना करना अनुमानित दोष है।

(३) **अद्रष्ट**—गुरु अथवा अन्य किसी ने जो अपराध देख लिया हो उसकी आलोचना करना और अद्रष्ट दोषो की आलोचना न करना यह अद्रष्ट दोष है।

(४) **बादर दोष**—बड़े दोषो की आलोचना करना और छोटे दोषो की आलोचना न करना बादर दोष है।

(५) **सूक्ष्म दोष**—छोटे-छोटे दोषो की आलोचना करना और बडे दोषो को छिपा लेना सूक्ष्म दोष है।

(६) **छन्न दोष**—आलोचना इस प्रकार से करना कि गुरु उसे पूरी तरह सुन ही न सके वह छन्न दोष है। कुछ विद्वानों के अनुसार आचार्य के समक्ष मैंने यह दोष किया, यह न कहकर किसी बहाने से उस दोष का प्रायश्चित्त ज्ञात कर स्वय ही उसका प्रायश्चित्त ले लेना छन्न दोष है।

(७) **शब्दाकुलित दोष**—कोलाहलपूर्ण वातावरण मे आलोचना करना जिसे आचार्य सम्यक् प्रकार से सुन न सके, यह शब्दाकुलित दोष है। दूसरे शब्दों मे भीड-भाड अथवा व्यस्तता के समय गुरु के सामने आलोचना करना दोषपूर्ण माना गया है।

(८) **बहुजन दोष**—एक ही दोष की अनेक लोगो के समक्ष आलोचना करना और उनमें से जो सबसे कम दण्ड या प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करना बहुजन दोष है।

(९) **अव्यक्त दोष**—दोषो को पूर्णरूप से स्पष्ट न कहते हुए उनकी आलोचना करना अव्यक्त दोष है।

---

१ व्यवहारसूत्र १/१/३३।

२ (अ) स्थानाग, १०/७०। (ब) मूलाचार, ११/१५।

(१०) **तत्सेवी दोष**—जो व्यक्ति स्वयं ही दोषो का सेवन करने वाले हैं उनके सामने दोषो की आलोचना करना तत्सेवी दोष है । क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं दोष का सेवन करने वाला है उसे दूसरे को प्रायश्चित्त देने का अधिकार नही है । दूसरे, ऐसा व्यक्ति उचित प्रायश्चित्त भी नही दे पाता ।

इस प्रकार हम देखते है कि जैनाचार्यों ने आलोचना के सन्दर्भ मे उसके स्वरूप, आलोचना करने व सुनने की पात्रता और उसके दोषो पर गहराई से विचार किया हैं । इस सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा निशीथ आदि मे पायी जाती है । पाठको से उसे वहाँ देखने की अनुशसा की जाती है ।

आलोचना योग्य कार्य—जीतकल्प के अनुसार जो भी करणीय अर्थात् आवश्यक कार्य हैं, वे तीर्थंकरो द्वारा सम्पादित होने पर तो निर्दोष होते हैं, किन्तु छद्मस्थ श्रमणो द्वारा इन कर्मों की शुद्धि केवल आलोचना से ही मानी गयी है । जीतकल्प मे कहा गया है कि आहार आदि का ग्रहण, गमनागमन, मल-मूत्र विसर्जन, गुरुवदन आदि सभी क्रियाएँ आलोचना के योग्य है ।[1] इन्हे आलोचना योग्य मानने का तात्पर्य यह है कि साधक इस बात का विचार करे कि उसने इन कार्यों का सम्पादन सजगतापूर्वक अप्रमत्त होकर किया है या नही । क्योकि प्रमाद के कारण दोष लगना सम्भव है । इसी प्रकार आचार्य से सौ हाथ की दूरी पर रहकर जो भी कार्य किये जाते हैं, वे भी आलोचना के विषय माने गये हैं । इन कार्यों की गुरु के समक्ष आलोचना करने पर ही साधक को शुद्ध माना जाता है । इसका उद्देश्य यह है कि साधक गुरु को यह बताये कि उसने गुरु से दूर रहकर क्या-क्या कार्य किस प्रकार सम्पादित किये है । इसके साथ ही किसी कारणवश या अकारण ही स्वगण का परित्याग कर परगण मे प्रवेश करने को अथवा उपसम्पदा, विहार आदि कार्यों को भी आलोचना का विषय माना गया है । ईर्या आदि पांच समितियो और तीन गुप्तियो मे लगे हुए दोष सामान्यतया आलोचना के विषय हैं । यद्यपि हमे स्मरण रखना चाहिए कि ये सभी दोष जो आलोचना के विषय हैं, वे देश-काल परिस्थिति और व्यक्ति के आधार पर प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, परिहार, छेद आदि प्रायश्चित्त के योग्य भी हो सकते हैं ।

प्रतिक्रमण—प्रायश्चित्त का दूसरा प्रकार प्रतिक्रमण है । अपराध या नियम भंग को अपराध के रूप मे स्वीकार कर पुन उससे वापस लौट आना अर्थात् भविष्य मे उसे नही करने की प्रतिज्ञा करना ही प्रतिक्रमण है । दूसरे शब्दो मे आपराधिक स्थिति से अनपराधिक स्थिति मे लौट आना ही प्रतिक्रमण है । आलोचना और प्रतिक्रमण मे अन्तर यह है कि आलोचना मे अपराध को पुन सेवन न करने का निश्चय नही होता, जबकि प्रतिक्रमण मे ऐसा करना आवश्यक है ।

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है, अथवा दूसरो के द्वारा कराया जाता है और दूसरे लोगो के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, इन सबकी निवृत्ति के लिए कृत-पापो की समीक्षा करना और पुन नही करने की प्रतिज्ञा करना प्रतिक्रमण है । आचार्य हेमचन्द्र प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि शुभयोग से अशुभ योग की ओर गये हुए अपने आपको पुन. शुभयोग मे लौटा लाना प्रतिक्रमण है ।[2] आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण की व्याख्या मे इन तीन अर्थों का निर्देश किया है—(१) प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान (स्वधर्म से परस्थान, परधर्म) मे गये हुए साधक का पुन स्वस्थान पर लौट आना यह प्रतिक्रमण है । अप्रमत्त चेतना का स्व-चेतना केन्द्र मे स्थित होना स्वस्थान है, जबकि चेतना का बहिर्मुख होकर पर-वस्तु पर केन्द्रित होना पर-स्थान हैं । इस प्रकार बाह्यदृष्टि से अन्तर्दृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है । (२) क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव मे परिणत हुआ साधक जब पुन औदायिक भाव से क्षायोपशमिक भाव मे लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूलगमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है । (३) अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्षफलदायक शुभ आचरण मे नि शल्य भाव से प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है ।[3]

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के निम्न पर्यायवाची नाम दिये हैं —(१) प्रतिक्रमण—पापाचरण के क्षेत्र से प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र मे लौट आना । (२) प्रतिचरण हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं सयम के क्षेत्र मे अग्रसर होना । (३) परिहरण—सब प्रकार से अशुभ प्रवृत्तियो एवं दुराचरणो का त्याग करना । (४) वारण—निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नही करना । बौद्ध धर्म मे प्रतिक्रमण के समान की जाने वाली क्रिया को प्रवारणा कहा गया है । (५) निवृत्ति—अशुभ भावो से निवृत्त होना । (६) निन्दा—गुरुजन, वरिष्ठजन अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणो को बुरा समझना तथा उसके लिये पश्चात्ताप करना । (७) गर्हा—अशुभ आचरण को गर्हित समझना, उससे घृणा करना । (८) शुद्धि—प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषो से आत्मा को शुद्ध बनाता है, इसलिये उसे शुद्धि कहा गया है ।

---

१ जीतकल्प ६, देखें—जीतकल्पभाष्य गाथा ७३१-१८१० ।

२ योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, ३ ।

३ आवश्यक टीका, उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ. ८७ ।

प्रतिक्रमण किसका

स्थानांग सूत्र मे इन छह वातो के प्रतिक्रमण का निर्देश है—(१) उच्चार प्रतिक्रमण—मल आदि का विसर्जन करने के वाद ईर्या (आने-जाने मे हुई जीवहिंसा) का प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण है। (२) प्रस्रवण प्रतिक्रमण—पेशाव करने के वाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना प्रस्रवण प्रतिक्रमण है। (३) इत्वर प्रतिक्रमण—स्वल्पकालीन (दैवसिक रात्रिक आदि) प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है। (४) यावत्कथिक प्रतिक्रमण—सम्पूर्ण जीवन के लिए पाप मे निवृत्त होना यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। (५) यत्किचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण—सावधानीपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असयमरूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना, 'मिच्छामि दुक्कड' ऐसा उच्चारण करना और उसके प्रति पश्चात्ताप करना यत्किचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है। (६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—विकार-वासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्वन्ध मे पश्चात्ताप करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।[1] यह विवेचना प्रमुखत साधुओ की जीवनचर्या से सम्वन्धित है। आचार्य भद्रवाहु ने जिन-जिन तथ्यो का प्रतिक्रमण करना चाहिए इसका निर्देश आवश्यक निर्युक्ति मे किया है।[2] उनके अनुसार (१) मिथ्यात्व, (२) असयम, (३) कषाय एवं (४) अप्रशस्त कायिक, वाचिक एव मानसिक व्यापारो का प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रकारान्तर से आचार्य ने निम्न वातो का प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य माना है—(१) गृहस्थ एवं श्रमण उपासक के लिए निषिद्ध कार्यों का आचरण कर लेने पर, (२) जिन कार्यों के करने का शास्त्र मे विधान किया गया है उन विहित कार्यों का आचरण न करने पर, (३) अश्रद्धा एव शका के उपस्थित हो जाने पर और (४) असम्यक् एवं असत्य सिद्धातो का प्रतिपादन करने पर अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जैन परम्परा के अनुसार जिनका प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, उनका सक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार है—

(अ) २५ मिथ्यात्वो, १४ ज्ञानातिचारो और १८ पापस्थानो का प्रतिक्रमण सभी को करना चाहिए।

(व) पच महाव्रतो, मन, वाणी और शरीर के असंयम तथा गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एव मलमूत्र विसर्जन आदि से सम्वन्धित दोषो का प्रतिक्रमण श्रमण साधकों को करना चाहिए।

(स) पाच अणुव्रतो, ३ गुणव्रतो, ४ शिक्षाव्रतो मे लगने वाले ७५ अतिचारो का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों को करना चाहिए।

(द) संलेखना के पाच अतिचारो का प्रतिक्रमण उन साधको के लिए हैं जिन्होंने सलेखना व्रत ग्रहण किया हो।

श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र और श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र मे सम्वन्धित सम्भावित दोषो की विवेचना विस्तार से की गई है। इसके पीछे मूल दृष्टि यह है कि उनका पाठ करते हुए आचरित सूक्ष्मतम दोष भी विचार-पथ से ओझल न हो।

प्रतिक्रमण के भेद—साधको के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं—(१) श्रमण प्रतिक्रमण और (२) श्रावक प्रतिक्रमण। कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के पाच भेद हैं—(१) दैवसिक—प्रतिदिन सायकाल के समय पूरे दिवस मे आचरित पापो का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। (२) रात्रिक–प्रतिदिन प्रातःकाल के समय सम्पूर्ण रात्रि के आचरित पापो का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। (३) पाक्षिक—पक्ष के अन्तिम दिन अर्थात् अमावस्या एव पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष मे आचरित पापो का विचार कर उनकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। (४) चातुर्मासिक—कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा एव आषाढी पूर्णिमा को चार महीने के आचरित पापो का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। (५) सावत्सरिक—प्रत्येक वर्ष मे संवत्सरी महापर्व (ऋषि पचमी) के दिन वर्ष भर के पापो का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

तदुभय—तदुभय प्रायश्चित्त वह है जिसमे आलोचना और प्रतिक्रमण दोनो किये जाते हैं। अपराध या दोष को दोष के रूप मे स्वीकार करके फिर उसे नही करने का निश्चय करना ही तदुभय प्रायश्चित्त है। जीतकल्प मे निम्न प्रकार के अपराधों के लिए तदुभय प्रायश्चित्त का विधान किया गया है—(१) भ्रमवश किये गये कार्य, (२) भयवश किये गये काय, (३) आतुरतावश किये गये कार्य, (४) सहसा किये गये कार्य, (५) परवशता मे किये कार्य, (६) सभी व्रतो मे लगे हुए अतिचार।

विवेक—विवेक शब्द का सामान्य अर्थ यह है कि किसी कर्म के औचित्य एव अनौचित्य का सम्यक् निर्णय करना और अनुचित कर्म का परित्याग कर देना। मुनि जीवन मे आहारादि के ग्राह्य और अग्राह्य अथवा शुद्ध और अशुद्ध का विचार करना ही विवेक है। यदि अज्ञात रूप से सदोष आहार आदि ग्रहण कर लिया हो तो उसका त्याग करना ही विवेक है। वस्तुत सदोष क्रियाओ का त्याग ही विवेक है। मुख्य रूप से भोजन, वस्त्र, मुनि जीवन के अन्य उपकरण एवं स्थानादि प्राप्त करने मे जो दोष लगते हैं उनकी शुद्धि विवेक प्रायश्चित्त द्वारा मानी गयी है।

---

१ स्थनांग सूत्र, ६/५३८।

२ आवश्यकनिर्युक्ति, १२५०-१२६८।

व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग का तात्पर्य परित्याग या विसर्जन है। सामान्यतया इस प्रायश्चित्त के अन्तर्गत किसी भी सदोष आचरण के लिए शारीरिक व्यापारो का विरोध करके मन की एकाग्रता-पूर्वक देह के प्रति रहे हुए ममत्व का विसर्जन किया जाता है। जीतकल्प के अनुसार गमनागमन, विहार, श्रुत अध्ययन, सदोष स्वप्न, नाव आदि के द्वारा नदी को पार करना तथा भक्त-पान, शय्या-आसन, मलमूत्र विसर्जन, काल व्यतिक्रम, अर्हत एवं मुनि का अविनय आदि दोषो के लिए व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जीतकल्प मे इस तथ्य का भी उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार के दोष के लिए कितने समय या श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग किया जाना चाहिए। प्रायश्चित्त के प्रसंग मे व्युत्सर्ग और कायोत्सर्ग पर्यायवाची रूप मे ही प्रयुक्त हुए हैं।

तप प्रायश्चित्त

सामान्य दोषो के अतिरिक्त विशिष्ट दोषो के लिए तप प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। किस प्रकार के दोष का सेवन करने पर किस प्रकार के तप का प्रायश्चित्त करना होता है उसका विस्तारपूर्वक विवेचन निशीथ, बृहत्कल्प और जीत-कल्प मे तथा उनके भाष्यो मे मिलता है। निशीथ सूत्र मे तप प्रायश्चित्त के योग्य अपराधो की विस्तृत सूची उपलब्ध है। उसमे तप प्रायश्चित्त के विविध प्रकारो की चर्चा करते हुए मासलघु, मासगुरु, चातुर्मासलघु, चातुर्मासगुरु से लेकर षट्मास लघु और षट्मासगुरु प्रायश्चित्तो का उल्लेख मिलता है। जैसा कि हमने पूर्व मे संकेत किया है मासगुरु या मासलघु आदि का क्या तात्पर्य है, यह इन ग्रन्थो के मूल मे कही स्पष्ट नही किया गया है किन्तु इन पर लिखे गये भाष्य-चूर्णि आदि मे इनके अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है, मात्र यही नही लघु की लघु, लघुतर और लघुतम तथा गुरु की गुरु, गुरुतर और गुरुतम ऐसी तीन-तीन कोटिया निर्धारित की गई हैं।

कही-कही गुरुक, लघुक और लघुष्वक ऐसे तीन भेद भी किये गये हैं और फिर इनमे से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन-तीन भेद किये गये हैं। व्यवहारसूत्र की भूमिका में अनुयोगकर्त्ता मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य प्रत्येक के भी तीन-तीन विभाग किये हैं। यथा—उत्कृष्ट के उत्कृष्ट, उत्कृष्टमध्यम और उत्कृष्टजघन्य तीन विभाग हैं। ऐसे ही मध्यम और जघन्य के भी तीन-तीन विभाग किये गये हैं। इस प्रकार तप प्रायश्चित्तो के ३ × ३ × ३ = २७ भेद हो जाते हैं। उन्होंने विशेष रूप से जानने के लिए व्यवहार भाष्य का संकेत किया है किन्तु व्यवहार भाष्य मुझे उपलब्ध न होने के कारण मैं इस चर्चा के प्रसंग मे उनके व्यवहारसुत्त के सम्पादकीय का ही उपयोग कर रहा हू। उन्होंने इन सम्पूर्ण २७ भेदो और उनसे सम्बन्धित तपो का भी उल्लेख नही किया है अत इस सम्बन्ध में मुझे भी मौन रहना पड रहा है। इन प्रायश्चित्तो से सम्बन्धित मास, दिवस एवं तपो की सख्या का उल्लेख हमे बृहत्कल्प भाष्य गाथा ६०४१-६०४४ मे मिलता है। उसी आधार पर निम्न विवरण प्रस्तुत है—

प्रायश्चित्त का नाम — तप का स्वरूप एवं काल

यथागुरु—छह मास तक निरन्तर पाच पाच उपवास

गुरुतर—चार मास तक निरन्तर चार-चार उपवास

गुरु—एक मास तक निरन्तर तीन-तीन उपवास (तेले)

लघु—१० बेले १० दिन पारणे (एक मास तक निरन्तर दो-दो उपवास)

लघुतर—२५ दिन तक निरन्तर एक दिन उपवास और एक दिन भोजन।

यथालघु—२० दिन निरन्तर आयम्बिल (रूखा-सूखा भोजन)

लघुष्वक—१५ दिन तक निरन्तर एकासन (एक समय भोजन)

लघुष्वकतर—१० दिन तक निरन्तर दो पोरसी अर्थात् १२ बजे के बाद भोजन ग्रहण।

यथालघुष्वक—पांच दिन निरन्तर निर्विकृति (घी, दूध आदि रहित भोजन)

लघुमासिक के योग्य अपराध

दारुदण्ड का पादप्रोछन बनाना, पानी निकलने के लिए नाली बनाना, दानादि लेने के पूर्व अथवा पश्चात् दाता की प्रशसा करना, निष्कारण परिचित घरो मे दुबारा प्रवेश करना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ की संगति करना, शय्यातर अथवा आवास देने वाले मकान मालिक के यहाँ का आहार-पानी ग्रहण करना आदि क्रियाएँ लघुमासिक प्रायश्चित्त के कारण हैं।

गुरुमासिक योग्य अपराध—अगादान का मर्दन करना, अगादान के ऊपर की त्वचा दूर करना, अंगादान को नली मे डालना, पुष्पादि सूँघना, पात्र आदि दूसरो से साफ करवाना, सदोष आहार का उपभोग करना आदि क्रियायें गुरुमासिक प्रायश्चित के कारण हैं।

लघु चातुर्मासिक के योग्य अपराध—प्रत्याख्यान का बार-बार भग करना, गृहस्थ के वस्त्र, शैय्या आदि का उपयोग करना, प्रथम प्रहर मे ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना, अर्धयोजन अर्थात् दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, विरेचन लेना अथवा अकारण औषधि का सेवन करना, वाटिका आदि सार्वजनिक स्थानो मे मल-मूत्र डालकर गन्दगी करना, गृहस्थ आदि को आहार-पानी देना, समान आचार वाले निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को स्थान आदि की सुविधा न देना, गीत गाना, वाद्य यन्त्र बजाना, नृत्य करना, अस्वाध्याय के काल मे स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के काल मे स्वाध्याय न करना, अयोग्य

को शास्त्र पढाना, योग्य को शास्त्र न पढना, मिथ्यात्व भावित अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को शास्त्र पढाना अथवा उससे पढना आदि क्रियायें लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त की कारण है।

गुरुचातुर्मासिक के योग्य अपराध—मैथुन सम्बन्धी अतिचार या अनाचारो का सेवन करना, राजपिंड ग्रहण करना, आधाकर्मी आहार ग्रहण करना, रात्रि भोजन करना, रात्रि मे आहारादि रखना, धर्म की निन्दा और अधर्म की प्रशंसा करना, अनन्तकाय युक्त आहार खाना, आचार्य की अवज्ञा करना, लाभालाभ का निमित्त बताना, किसी श्रमण-श्रमणी को बहकाना, किसी दीक्षार्थी को भडकाना, अयोग्य को दीक्षा देना आदि क्रियाएँ गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य है।

तप और परिहार का सम्बन्ध—जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है, तत्वार्थ और यापनीय परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार मे परिहार को स्वतन्त्र प्रायश्चित्त माना गया है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा के आगमिक ग्रन्थो मे और धवला मे इसे स्वतन्त्र प्रायश्चित्त न मानकर इसका सम्बन्ध तप के साथ जोडा गया है। परिहार शब्द का अर्थ वहिष्कृत करना अथवा त्याग करना होता है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गर्हित अपराधो को करने पर भिक्षु या भिक्षुणी को न केवल तप रूप प्रायश्चित्त दिया जाता था अपितु उसे यह कहा जाता था कि वे भिक्षु सघ या भिक्षुणी सघ से पृथक् होकर निर्धारित तप पूर्ण करें। निर्धारित तप को पूर्ण कर लेने पर उसे पुन. सघ मे सम्मिलित कर लिया जाता था। इस प्रकार परिहार का तात्पर्य था कि प्रायश्चित्त रूप तप की निर्धारित अवधि के लिए सघ से भिक्षु का पृथक्करण। परिहार तप की अवधि मे वह भिक्षु भिक्षुसघ के साथ रहते हुए भी अपना आहार-पानी अलग करता था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि परिहार प्रायश्चित्त मे तथा अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त मे मूलभूत अन्तर था। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त मे जहाँ उसे गृहस्थ वेष धारण करवाकर के ही उपस्थापन किया जाता था, वहाँ परिहार में ऐसा कोई विधान न था। यह केवल प्रायश्चित्त की तपावधि के लिए मर्यादित पृथक्करण था। सम्भवत. प्राचीनकाल में तप नामक प्रायश्चित्त दो प्रकार से दिया जाता रहा होगा। परिहारपूर्वक और परिहाररहित। इसी आधार पर आगे चलकर जब अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्तो का प्रचलन समाप्त कर दिया गया तब प्रायश्चित्तों की इस सख्या को पूर्ण करने के लिए यापनीय परम्परा मे तप और परिहार की गणना अलग-अलग की जाने लगी होगी। परिहार नामक प्रायश्चित्त की भी अधिकतम अवधि छ मास मानी गई है क्योंकि तप प्रायश्चित्त की अधिकतम अवधि छ मास ही है। परिहार का छेद प्रायश्चित्त से अन्तर यह है कि जहाँ छेद प्रायश्चित्त दिये जाने पर भिक्षुणी सघ मे वरीयता बदल जाती थी वहाँ परिहार प्रायश्चित्त से उसकी वरीयता पर कोई प्रभाव नहीं पडता था। मूलाचार में परिहार को जो छेद और मूल के बाद स्थान दिया गया है, वह उचित प्रतीत नही होता क्योकि कठोरता की दृष्टि से छेद और मूल की अपेक्षा परिहार प्रायश्चित्त कम कठोर था। वसुनन्दी की मूलाचार की टीका मे परिहार को गण से पृथक् रहकर तप-अनुष्ठान करना ऐसी जो व्याख्या की गई है वह समुचित एव श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप ही है। फिर भी यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा मे मूलभूत अतर इतना तो अवश्य है कि श्वेताम्बर परम्परा परिहार को तप से पृथक् प्रायश्चित्त के रूप में स्वीकार नही करती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर परम्परा यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम की धवला टीका परिहार को पृथक् प्रायश्चित्त नहीं मानती है। उसमे श्वेताम्बर परम्परा सम्मत दस प्रायश्चित्तो का उल्लेख हुआ है जिसमे परिहार का उल्लेख नही है।

छेद प्रायश्चित्त जो अपराधी शारीरिक दृष्टि से कठोर तप-साधना करने मे असमर्थ हो अथवा समर्थ होते हुए भी तप के गर्व के उन्मत्त है और तप प्रायश्चित्त से उसके व्यवहार मे सुधार सम्भव नही होता है और तप प्रायश्चित्त करके पुन-पुन अपराध करता है, उसके लिए छेद प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। छेद प्रायश्चित्त का तात्पर्य है भिक्षु या भिक्षुणी के दीक्षा पर्याय को कम कर देना, जिसका परिणाम यह होता है कि अपराधी का श्रमण सघ मे वरीयता की दृष्टि से जो स्थान है, वह अपेक्षाकृत निम्न हो जाता है अर्थात् जो दीक्षा पर्याय मे उससे लघु हैं वे उससे ऊपर हो जाते हैं। दूसरे शब्दो मे उसकी वरिष्ठता (सीनियरिटी) कम हो जाती हैं। और उसे इस आधार पर जो भिक्षु उससे कभी कनिष्ठ रहे हैं उनको उसे वन्दन आदि करना होता है। किस अपराध मे कितने दिन का छेद प्रायश्चित्त आता है इसका स्पष्ट उल्लेख मुझे देखने को नही मिला। संभवत यह परिहारपूर्वक तप प्रायश्चित्त का एक विकल्प है। अर्थात् जिस अपराध के लिए जितने मास या दिन के लिए तप निर्धारित हो, उस अपराध के करने पर कभी उतने दिन का दीक्षा छेद का प्रायश्चित्त दिया जाता है। जैसे जो अपराध षण्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं, उनके करने पर कभी उसे छह मास का छेद प्रायश्चित्त भी दिया जाता है। दूसरे शब्दो मे उसकी वरीयता छह मास कम कर दी जाती है। अधिकतम तपावधि ऋषभदेव के समय मे एक वर्ष, अन्य बाईस तीर्थंकरो के समय मे आठ मास और महावीर के समय मे छह मास मानी गई है अत अधिकतम एक साथ छह मास का ही छेद प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। सामान्यतया पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील और ससक्त भिक्षुओ को छेद प्रायश्चित्त दिये

जाने का विधान है।

मूल प्रायश्चित्त—मूल प्रायश्चित्त का अर्थ होता था, पूर्व की दीक्षा पर्याय को समाप्त कर नवीन दीक्षा प्रदान करना। इसके परिणामस्वरूप ऐसा भिक्षु उस भिक्षुसघ मे जिस दिन उसे यह प्रायश्चित्त दिया जाता था वह सबसे कनिष्ठ बन जाता था। मूल प्रायश्चित्त अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्तो से इस अर्थ मे भिन्न था कि इसमे अपराधी भिक्षु को गृहस्थवेष धारण करना अनिवार्य न था। सामान्यतया पचेन्द्रिय प्राणियो की हिंसा एवं मैथुन सम्बन्धी अपराधो को मूल प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। इसी प्रकार जो भिक्षु मृषावाद, अदत्तादान और परिग्रह सम्बन्धी दोषो का पुनः-पुन सेवन करता है वह भी मूल प्रायश्चित्त का पात्र माना गया है। जीतकल्प भाष्य के अनुसार निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना होने पर मूल प्रायश्चित्त दिया जा सकता है, परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और दर्शन की विराधना होने पर मूल प्रायश्चित्त दिया भी जा सकता है और नही भी दिया जा सकता है परन्तु चारित्र की विराधना होने पर तो मूल प्रायश्चित्त दिया ही जाता है। जो तप के गर्व से उन्मत्त हो अथवा जिस पर सामान्य प्रायश्चित्त या दण्ड का कोई प्रभाव ही न पडता हो, उनके लिए मूल प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

पाराचिक प्रायश्चित्त—वे अपराध जो अत्यन्त गर्हित हैं और जिनके सेवन से न केवल व्यक्ति अपितु सम्पूर्ण जैन संघ की व्यवस्था धूमिल होती है, वे पाराचिक प्रायश्चित्त के योग्य होते हैं। पाराचिक प्रायश्चित्त का अर्थ भी भिक्षु संघ से बहिष्कार ही है। वैसे जैनाचार्यो ने यह माना है कि पाराचिक अपराध करने वाला भिक्षु यदि निर्धारित समय तक निर्धारित तप का अनुष्ठान पूर्ण कर लेता है तो उसे एक बार गृहस्थवेष धारण करवाकर पुन संघ मे प्रविष्ट किया जा सकता है। बौद्ध परम्परा मे भी पाराचिक अपराधो का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि ऐसा अपराध करने वाला भिक्षु सदैव के लिए संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। जीतकल्प के अनुसार अनवस्थाप्य और पाराचिक प्रायश्चित्त भद्रबाहु के काल से बन्द कर दिया गया है। इसका प्रमुख कारण शारीरिक क्षमता की कमी हो जाना है। स्थानाग सूत्र मे निम्न पाच अपराधो को पाराचिक प्रायश्चित्त के योग्य माना गया है।

(१) जो कुल मे परस्पर कलह करता हो।

(२) जो गण मे परस्पर कलह करता हो।

(३) जो हिंसा प्रेमी हो अर्थात् कुल या गण के साधुओ का घात करना चाहता हो।

(४) जो छिद्रप्रेमी हो अर्थात् जो छिद्रान्वेषण करता हो।

(५) जो प्रश्न शास्त्र का बार-बार प्रयोग करता हो।

स्थानांग सूत्र मे ही अन्यत्र अन्योन्य मैथुनसेवी भिक्षुओ को पाराचिक प्रायश्चित्त के योग्य बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि जहाँ हिंसा करने वाले को, स्त्री से मैथुन सेवन करने वाले को मूल प्रायश्चित्त के योग्य बताया, वहाँ हिंसा की योजना बनाने वाले एव परस्पर मैथुन सेवन करने वालो को पाराचिक प्रायश्चित्त के योग्य बताया। इसका कारण यह है कि जहाँ हिंसा एवं मैथुन सेवन करने वाले का अपराध व्यक्त होता है और उसका परिशोधन सम्भव होता है किन्तु इन दूसरे प्रकार के व्यक्तियो का अपराध बहुत समय तक बना रह सकता है और सघ के समस्त परिवेश को दूषित बना देता है। वस्तुतः जब अपराधी के सुधार की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं तो उसे पाराचिक प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। जीतकल्प के अनुसार तीर्थंकर के प्रवचन अर्थात् श्रुत, आचार्य और गणधर की आशातना करने वाले को भी पाराचिक प्रायश्चित्त का दोषी माना गया है। दूसरे शब्दो मे जो जिन-प्रवचन का अवर्णवाद करता हो वह सघ मे रहने के योग्य नही माना जाता। जीतकल्पभाष्य के अनुसार कपायदुष्ट, विषयदुष्ट, राजा के वध की इच्छा करने वाला, राजा की अग्रमहिषी से संभोग करने वाला भी पाराचिक प्रायश्चित्त का अपराधी माना गया है। वैसे परवर्ती आचार्यो के अनुसार पाराचिक अपराध का दोषी भी विशिष्ट तप-साधना के पश्चात् सघ मे प्रवेश का अधिकारी मान लिया गया है। पाराचिक प्रायश्चित्त का कम से कम समय छह मास, मध्यम समय १२ मास और अधिकतम समय १२ वर्ष माना गया है। कहा जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर को आगमो को सस्कृत भाषा मे रूपान्तरित करने के प्रयत्न पर १२ वर्ष का पाराचिक प्रायश्चित्त दिया गया था। विभिन्न पाराचिक प्रायश्चित्त के अपराधो और उनके प्रायश्चित्तो का विवरण हमे जीतकल्प भाष्य की गाथा २५४० से २५८६ तक मिलता है। विशिष्ट विवरण के इच्छुक विद्वद्जनो को वहाँ उसे देख लेना चाहिए।

अनवस्थाप्य—अनवस्थाप्य का शाब्दिक अर्थ व्यक्ति को पद से च्युत कर देना है या अलग कर देना है। इस शब्द का दूसरा अर्थ है—जो सघ मे स्थापना अर्थात् रखने योग्य नही है। वस्तुत जो अपराधी ऐसे अपराध करता है जिसके कारण उसे संघ से बहिष्कृत कर देना आवश्यक होता है वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है। यद्यपि परिहार मे भी भिक्षु को सघ से पृथक् किया जाता है किन्तु वह एक सीमित रूप मे होता है और उसका वेष परिवर्तन आवश्यक नही माना जाता। जबकि अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य भिक्षु को संघ से निश्चित अवधि के लिए बहिष्कृत कर दिया जाता है और उसे तब तक पुन भिक्षु संघ मे प्रवेश नही दिया जाता है जब तक कि वह प्राय-

श्चित्त के रूप मे निर्दिष्ट तप-साधना को पूर्ण नहीं कर लेता है। और सघ इस तथ्य से आश्वस्त नही हो जाता है कि वह पुन: अपराध नही करेगा। जैन परम्परा मे बार-बार अपराध करने वाले आपराधिक प्रवृत्ति के लोगो के लिए यह दण्ड प्रस्तावित किया गया है। स्थानाग सूत्र के अनुसार साधर्मियो की चोरी करने वाला, अन्यधर्मियो की चोरी करने वाला तथा डण्डे, लाठी आदि से दूसरे भिक्षुओ पर प्रहार करने वाला भिक्षु अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य माना जाता है।

प्रायश्चित्त देने का अधिकार—सामान्य प्रायश्चित्त देने का अधिकार आचार्य या गणि का माना गया है। सामान्य व्यवस्था के अनुसार अपराधी को अपने अपराध के लिए आचार्य के समक्ष अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिए और आचार्य को भी परिस्थिति और अपराध की गुरुता का विचार कर उसे प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस प्रकार दण्ड या प्रायश्चित्त देने का सम्पूर्ण अधिकार आचार्य, गणि या प्रवर्तक को होता है। आचार्य या गणि की अनुपस्थिति मे उपाध्याय, उपाध्याय की अनुपस्थिति में प्रवर्तक अथवा वह वरिष्ठ मुनि जो छेद सूत्रो का ज्ञाता हो, प्रायश्चित्त दे सकता है। स्व-गण के आचार्य आदि के अभाव में अन्य गण के स्वलिंगी आचार्य आदि से भी प्रायश्चित्त लिया जा सकता है। किन्तु अन्य गण के आचार्य आदि तभी प्रायश्चित्त दे सकते हैं जब उनसे इस सम्बन्ध मे निवेदन किया जाये। जीतकल्प के अनुसार स्वलिंगी अन्य गण के आचार्य या मुनि की अनुपस्थिति में छेदसूत्र का अध्येता गृहस्थ जिसने दीक्षा पर्याय छोड दिया हो वह भी प्रायश्चित्त दे सकता है। इन सब के अभाव मे साधक स्वय भी पापशोधन के लिए स्वविवेक से प्रायश्चित्त का निश्चय कर सकता है।

क्या प्रायश्चित्त सार्वजनिक रूप में दिया जाये ?

इस प्रश्न के उत्तर मे जैनाचार्यों का दृष्टिकोण अन्य परम्पराओ से भिन्न हैं। वे प्रायश्चित्त या दण्ड को आत्मशुद्धि का साधन तो मानते हैं लेकिन प्रतिरोधात्मक सिद्धांत के विरोधी हैं। उनकी दृष्टि में दण्ड केवल इसलिए नही दिया जाता है कि उसे देखकर अन्य लोग अपराध करने से भयभीत हो, अत जैन परम्परा सामूहिक रूप मे, खुले रूप मे दण्ड की विरोधी है, इसके विपरीत बौद्ध परम्परा मे दण्ड या प्रायश्चित्त को सघ के सम्मुख सार्वजनिक रूप से देने की परम्परा है। बौद्ध परम्परा मे प्रवारणा के समय साधक भिक्षु को सघ के सम्मुख अपने अपराध को प्रकट कर संघ प्रदत्त प्रायश्चित्त या दण्ड को स्वीकार करना होता है। वस्तुत बुद्ध के निर्वाण के बाद किसी संघ प्रमुख की नियुक्ति को आवश्यक नही माना गया, अत प्रायश्चित्त या दण्ड देने का दायित्व सघपद पर आ पडा। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सार्वजनिक रूप से दण्डित करने की यह प्रक्रिया उचित नही है, क्योकि इससे समाज मे व्यक्ति की प्रतिष्ठा गिरती है, तथा कभी-कभी सार्वजनिक रूप मे दण्डित किये जाने पर व्यक्ति विद्रोही बन जाता है।

अपराध की समानता पर दण्ड की समानता का प्रश्न

प्रायश्चित्तो की चर्चा के प्रसग मे यह भी विचारणीय है कि क्या जैन सघ मे समान अपराधो के समान दण्ड की व्यवस्था है या एक ही समान अपराध के लिए दो व्यक्तियो को अलग-अलग दण्ड दिया जा सकता है। जैन विचारको के अनुसार एक ही प्रकार के अपराध के लिए सभी प्रकार के व्यक्तियो को एक ही समान दण्ड नहीं दिया जा सकता। प्रायश्चित्त के कठोर और मृदु होने के लिए व्यक्ति की सामाजिक स्थिति एवं वह विशेष परिस्थिति भी विचारणीय है जिसमे कि वह अपराध किया गया है। उदाहरण के लिए एक ही समान प्रकार के अपराध के लिए जहाँ सामान्य भिक्षु या भिक्षुणी को अल्प दण्ड की व्यवस्था है वही श्रमण सघ के पदाधिकारियो को अर्थात् प्रवर्तिनी, प्रवर्तक, गणि, आचार्य आदि को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था है। पुन जैन आचार्य यह भी मानते हैं कि यदि कोई व्यक्ति स्वत प्रेरित होकर कोई अपराध करता है और कोई व्यक्ति परिस्थितियो से बाध्य होकर अपराध करता है तो दोनो के लिए अलग-अलग प्रकार के प्रायश्चित्त की व्यवस्था है। यदि हम मैथुन सम्बन्धी अपराध को लें तो जहाँ बलात्कार की स्थिति में भिक्षुणी के लिए किसी दण्ड की व्यवस्था नही है किन्तु उस स्थिति मे भी यदि वह सम्भोग का आस्वादन लेती है तो उसके लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था है अत एक ही प्रकार के अपराध हेतु दो भिन्न व्यक्तियो व परिस्थितियों मे अलग-अलग प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। यही नही जैनाचार्यों ने यह भी विचार किया है कि अपराध किसके प्रति किया गया है। एक सामान्य साधु के प्रति किए गये अपराध की अपेक्षा आचार्य के प्रति किया गया अपराध अधिक दण्डनीय है। जहाँ सामान्य व्यक्ति के लिए किये गये अपराध को मृदु या अल्प दण्ड माना जाता है वही श्रमण संघ के किसी पदाधिकारी के प्रति किये गये अपराध को कठोर दण्ड के योग्य माना जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने प्रायश्चित्त विधान या दण्ड प्रक्रिया मे व्यक्ति या परिस्थिति के महत्व को ओझल नही किया है और माना है कि व्यक्ति और परिस्थिति के आधार पर सामान्य और विशेष व्यक्तियो को अलग-अलग प्रायश्चित्त दिया जा सकता है जबकि सामान्यतया बौद्ध परम्परा मे इस प्रकार के विचार का अभाव देखते हैं। हिन्दू परम्परा यद्यपि प्रायश्चित्त के सन्दर्भ मे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का मूल्याकन करती है किन्तु उसका दृष्टिकोण जैन परम्परा से बिलकुल विपरीत दिखाई देता है। जहाँ जैन परम्परा उसी अपराध के लिए प्रतिष्ठित

व्यक्तियो एवं पदाधिकारियो के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करती है वही हिन्दू परम्परा आचार्यों, ब्राह्मणो आदि के लिए मृदु दण्ड व्यवस्था करती है। उसमे एक सामान्य अपराध करने पर भी एक शूद्र को कठोर दण्ड दिया जाता है वहाँ एक ब्राह्मण को अत्यन्त मृदु दण्ड दिया जाता है। दोनो परम्पराओ का यह दृष्टिभेद विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बृहत्कल्पभाष्य की टीका मे इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि जो पद जितना उत्तर-दायित्वपूर्ण होता है उस पद के धारक व्यक्ति को उतना ही कठोर दण्ड दिया जाता था। उदाहरण के रूप मे भिक्षुणियो का नदी-तालाव के किनारे ठहरना, वहाँ स्वाध्याय आदि करना निषिद्ध है। उस नियम का उल्लंघन करने पर जहाँ स्थविर को मात्र षट्लघु, भिक्षुणी को षट्गुरु प्रायश्चित्त दिया जाता, वहाँ गणिनी को छेद और प्रवर्तिनी को मूल प्रायश्चित्त देने का विधान है। सामान्य साधु की अपेक्षा आचार्य के द्वारा वही अपराध किया जाता है तो आचार्य को कठोर दण्ड दिया जाता है।

बार-बार अपराध या दोष सेवन करने पर अधिक दण्ड

जैन परम्परा मे प्रथम बार अपराध करने की अपेक्षा दूसरी बार या तीसरी बार उसी अपराध को करने पर कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है। यदि कोई भिक्षु या भिक्षुणी एक नियम का बार-बार अतिक्रमण करता है तो उस नियम के अतिक्रमण की सख्या मे जैसे-जैसे वृद्धि हो जाती है प्रायश्चित्त की कठोरता भी वढती जाती है। जिससे उसी अपराध का प्रायश्चित्त मास-लघु से वढता हुआ छेद एवं नई दीक्षा तक बढ़ जाता है।

प्रायश्चित्त देते समय व्यक्ति की परिस्थिति का विचार

जैन दण्ड या प्रायश्चित्त व्यवस्था मे इस बात पर भी पर्याप्त रूप से विचार किया गया है कि कठोर अपराध को करने वाला व्यक्ति भी यदि रुग्ण हो, अतिवृद्ध हो, विक्षिप्त चित्त हो, उन्माद या उपसर्ग से पीडित हो, उसे भोजन-पानी आदि सुविधापूर्वक न मिलता हो अथवा मुनि जीवन के आवश्यक सामग्री से रहित हो तो ऐसे भिक्षुओ को तत्काल संघ से बहिष्कृत करना अथवा बहिष्कृत करके शुद्धि के लिए कठोर तप आदि की व्यवस्था देना समुचित नही है।

आधुनिक दण्ड सिद्धांत और जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था

जैसा कि हमने प्रारम्भ मे ही स्पष्ट किया है कि दण्ड और प्रायश्चित्त की अवधारणाओ मे एक मौलिक अन्तर है। जहाँ प्रायश्चित्त अन्त प्रेरणा से स्वत लिया जाता है, वहाँ दण्ड व्यक्ति को वलात् दिया जाता है। अत आत्मशुद्धि तो प्रायश्चित्त से ही सम्भव है, दण्ड से नही। दण्ड मे तो प्रतिशोध, प्रतिकार या आपराधिक प्रवृत्ति के निरोध का दृष्टिकोण ही प्रमुख होता है।

पाश्चात्य विचारको ने दण्ड के तीन सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं—

(१) प्रतिकारात्मक सिद्धात, (२) निरोधात्मक सिद्धात, (३) सुधारात्मक सिद्धात। प्रथम प्रतिकारात्मक सिद्धात यह मानकर चलता है कि दण्ड के द्वारा अपराध की प्रतिशर्त की जाती है अर्थात् अपराधी ने दूसरे की जो क्षति की है उसकी परिपूर्ति करना या उसका बदला लेना ही दण्ड का मुख्य उद्देश्य है। "आँख के वदले आँख" और "दात के वदले दात", ही इस दण्ड सिद्धात की मूलभूत अवधारणा है। इस प्रकार की दण्ड व्यवस्था से न तो समाज के अन्य लोग आपराधिक प्रवृत्तियो से भयभीत होते हैं और न उस व्यक्ति का जिसने अपराध किया है, कोई सुधार ही होता है।

अपराध का दूसरा निरोधात्मक सिद्धात मूलतः यह मानकर चलता है कि अपराधी को दण्ड इसलिए नही दिया जाता है कि उसने अपराध किया है अपितु इसलिए दिया जाता है कि दूसरे लोग अपराध करने का साहस न करें। समाज में आपराधिक प्रवृत्ति को रोकना ही दण्ड का उद्देश्य है, इसमे छोटे अपराध के लिए भी कठोर दण्ड की व्यवस्था होती है। किन्तु इस सिद्धात मे अपराध करने वाले व्यक्ति को समाज के दूसरे व्यक्तियो को आपराधिक प्रवृत्ति से भयभीत करने के लिए साधन बनाया जाता है। अत. दण्ड का यह सिद्धांत न्यायसगत नही कहा जा सकता। इसमे दण्ड का प्रयोग साध्य के रूप मे नही अपितु साधन के रूप मे किया जाता है।

दण्ड का तीसरा सिद्धात सुधारात्मक सिद्धात है, इस सिद्धात के अनुसार अपराधी भी एक प्रकार का रोगी है अत उसकी चिकित्सा अर्थात् उसे सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। इस सिद्धात के अनुसार दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति का सुधार होना चाहिए। वस्तुतः कारागृहो को सुधारगृहो के रूप मे परिवर्तित किया जाना चाहिए ताकि अपराधी के हृदय को परिवर्तित कर उसे सभ्य नागरिक वनाया जा सके।

यदि हम इन सिद्धातो की तुलना जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था से करते हैं तो यह कहा जा सकता है कि जैन विचारक अपनी प्रायश्चित्त या दण्ड व्यवस्था मे न तो प्रतिकारात्मक सिद्धात को और न निरोधात्मक सिद्धात अपनाते हैं अपितु सुधारात्मक सिद्धात से सहमत होकर यह मानते हैं कि व्यक्ति मे स्वत ही अपराधवोध की भावना उत्पन्न कर सकें एव आपराधिक प्रवृत्तियो से दूर रहने को अनुशासित किया जाये। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि जव तक व्यक्ति मे स्वत ही अपराध के प्रति आत्म-ग्लानि उत्पन्न नही होगी तव तक वह आपराधिक प्रवृत्तियो से विमुख नही होगा। यद्यपि इस आत्मग्लानि या अपराधवोध का तात्पर्य यह नही है कि व्यक्ति जीवन भर इसी भावना से पीडित रहे अपितु वह अपराध या दोष को दोष के रूप मे देखे और यह

समझे कि अपराध एक सयोगिक घटना है और उसका परिशोधन कर आध्यात्मिक विकास के पथ पर आगे बढा जा सकता है।

तप का सामान्य स्वरूप एक मूल्यांकन—तप शब्द अनेक अर्थों मे भारतीय आचार दर्शन में प्रयुक्त हुआ है और जब तक उसकी सीमाएँ निर्धारित नही कर ली जाती, उसका मूल्याकन करना कठिन है। "तप" शब्द एक अर्थ मे त्याग-भावना को व्यक्त करता है। त्याग चाहे वह वैयक्तिक स्वार्थ एवं हितो का हो, चाहे वैयक्तिक सुखोपलब्धियों का हो, तप कहा जा सकता है। सम्भवत यह तप की विस्तृत परिभाषा होगी, लेकिन यह तप के निषेधात्मक पक्ष को ही प्रस्तुत करती है। यहाँ तप, संयम, इन्द्रिय निग्रह और देह-दण्डन बन कर रह जाता है। तप मात्र त्यागना ही नही है, उपलब्ध करना भी है। तप का केवल विसर्जनात्मक मूल्य मानना भ्रम होगा। भारतीय आचार-दर्शनो ने जहाँ तप के विसर्जनात्मक मूल्यो की गुण-गाथा गायी है, वही उसके सृजनात्मक मूल्य को भी स्वीकार किया है। वैदिक परम्परा मे तप को लोक-कल्याण का विधान करने वाला कहा गया है। गीता की लोक-सग्रह की और जैन परम्परा की वैयावृत्य या संघ-सेवा की अवधारणाएँ तप के विधायक अर्थात् लोक-कल्याणकारी पक्ष को ही तो अभिव्यक्त करती हैं। बौद्ध परम्परा जब 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" का उद्घोष देती है तब वह भी तप के विधायक मूल्य का ही विधान करती है।

सृजनात्मक पक्ष मे तप आत्मोपलब्धि ही है, लेकिन यहाँ स्व-आत्मन इतना व्यापक होता है कि उसमे स्व या पर का भेद ही नहीं टिक पाता है और इसीलिए एक तपस्वी का आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण परस्पर विरोधी नही होकर एक रूप होते है। एक तपस्वी के आत्मकल्याण में लोककल्याण समाविष्ट रहता है और उसका लोककल्याण आत्मकल्याण ही होता है।

जिस प्रकार व्यायाम के रूप मे किया हुआ शारीरिक कष्ट स्वास्थ्य रक्षा एव शक्ति-सचय का कारण होकर जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी लाभप्रद होता है, वैसे ही तपस्या के रूप मे देह दु ख का अभ्यास करने वाला अपने शरीर मे कष्ट-सहिष्णु शक्ति विकसित कर लेता है, जो वासनाओ के सघर्ष मे ही नहीं, जीवन की सामान्य स्थितियो मे भी सहायक होती है। एक उपवास का अभ्यासी व्यक्ति यदि किसी परिस्थिति मे भोजन प्राप्त नही कर पाता, तो इतना व्याकुल नही होगा जितना अनभ्यस्त व्यक्ति। कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि के बिना शारीरिक यन्त्रणा अपने आप में कोई तप नहीं है, उसमें भी यदि इस शारीरिक यन्त्रणा के पीछे लौकिक या पारलौकिक स्वार्थ हैं तो फिर उसे तपस्या कहना महान मूर्खता होगी। जैन-दार्शनिक भाषा मे तपस्या मे देह-दण्डन किया नही जाता, हो जाता है। तपस्या का प्रयोजन आत्म-परिशोधन है, न कि देह-दण्डन। घृत की शुद्धि के लिए घृत को तपाना होता है न कि पात्र को। उसी प्रकार आत्मशुद्धि के लिए आत्म-विकारो को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का भाजन पात्र होने से तप जाता है, तपाया नही जाता। जिस तप मे मानसिक कष्ट हो, वेदना हो, पीडा हो, वह तप नही है। पीडा का होना एक बात है और पीडा की व्याकुलता की अनुभूति करना दूसरी बात है। तप में पीडा हो सकती है लेकिन पीडा की व्याकुलता की अनुभूति नहीं। पीडा शरीर का धर्म है, व्याकुलता की अनुभूति आत्मा का। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमे इन दोनो को अलग-अलग देखा जा सकता है। जैन बालक जब उपवास करता है, तो उसे भूख की पीडा अवश्य होगी, लेकिन वह पीडा की व्याकुलता की अनुभूति नही करता। वह उपवास तप के रूप मे करता है और तप तो आत्मा का आनन्द है। वह जीवन के सौष्ठव को नष्ट नही करता, वरन जीवन के आनन्द को परिष्कृत करता है।

अब जैन-परम्परा मे स्वीकृत तप के भेदो के मूल्याकन का किंचित् प्रयास किया जा रहा है।

अनशन मे कितनी शक्ति हो सकती है, उसे आज गांधी युग का हर व्यक्ति जानता है। वह तो उसके प्रत्येक प्रयोग देख चुके हैं। सर्वोदय समाज-रचना तो उपवास के मूल्य को स्वीकार करती ही है, देश मे उत्पन्न अन्न-सकट की समस्या ने भी इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इन सबके साथ आज चिकित्सिक एव वैज्ञानिक भी इसकी उपादेयता को सिद्ध कर चुके हैं। प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का तो मूल आधार ही उपवास है।

इसी प्रकार ऊनोदरी या भूख से कम भोजन, नियमित भोजन तथा रस-परित्याग का भी स्वास्थ्य की दृष्टि से पर्याप्त मूल्य है। साथ ही यह सयम एव इन्द्रियजय में भी सहायक है। गांधीजी ने तो इसी से प्रभावित हो ग्यारह व्रतो मे अस्वाद व्रत का विधान किया था।

यद्यपि वर्तमान युग भिक्षा-वृत्ति को उचित नही मानता है, तथापि समाज-व्यवस्था की दृष्टि से इसका दूसरा पहलू भी है। जैन आचार-व्यवस्था मे भिक्षावृत्ति के जो नियम प्रतिपादित हैं वे अपने आप मे इतने सबल हैं कि भिक्षावृत्ति के सम्भावित दोषो का निराकरण स्वत हो जाता है। भिक्षावृत्ति के लिए अहं का त्याग आवश्यक है और नैतिक दृष्टि से उसका कम मूल्य नही है।

इसी प्रकार आसन-साधना और एकातवास का योग-साधना की दृष्टि से मूल्य है। आसन योग-साधना का एक अनिवार्य अंग है।

तप के आभ्यन्तर भेदों मे ध्यान और कायोत्सर्ग का भी साधनात्मक मूल्य है। पुन. स्वाध्याय, वैयावृत्य (सेवा) एवं विनय (अनुशासन) का तो सामाजिक एवं वैयक्तिक दोनो दृष्टियों से वड़ा महत्व है। सेवाभाव और अनुशासित जीवन ये दोनो सभ्य समाज के आवश्यक गुण है। ईसाई धर्म मे तो इस सेवाभाव को काफी अधिक महत्व दिया गया है। आज उसके व्यापक प्रचार का एक मात्र कारण उसकी सेवाभावना ही तो है। मनुष्य के लिए सेवाभाव एक आवश्यक तत्व है जो अपने प्रारम्भिक क्षेत्र मे परिवार से प्रारम्भ होकर "वसुधैव कुटुम्वकम्" तक का विशाल आदर्श प्रस्तुत करता है।

स्वाध्याय का महत्व आध्यात्मिक विकास और ज्ञानात्मक विकास दोनो दृष्टियो से है। एक ओर वह स्व का अध्ययन है तो दूसरी ओर ज्ञान का अनुशीलन। ज्ञान और विज्ञान की सारी प्रगति के मूल मे तो स्वाध्याय ही है।

प्रायश्चित्त एक प्रकार से अपराधी द्वारा स्वयाचित दण्ड है। यदि व्यक्ति मे प्रायश्चित्त की भावना जागृत हो जाती है तो उसका जीवन ही वदल जाता है। जिस समाज मे ऐसे लोग हो, वह समाज तो आदर्श ही होगा।

वास्तव मे तो तप के इन विभिन्न अंगो के इतने अधिक पहलू हैं कि जिनका समुचित मूल्याकन सहज नही।

तप आचरण मे व्यक्त होता है। वह आचरण ही है। उसे शब्दो मे व्यक्त करना सम्भव नही है। तप आत्मा की ऊष्मा है, जिसे शब्दो मे वाधा नही जा सकता।

यह किसी एक आचार-दर्शन की वपौती नही, वह तो प्रत्येक जागृत आत्मा की अनुभूति है। उसकी अनुभूति से ही मन के कलुष धुलने लगते हैं, वासनाएँ शिथिल हो जाती हैं, अहं गलने लगना है। तृष्णा और कपायो की अग्नि तप की ऊष्मा के प्रकट होते ही नि:शेष हो जाती है। जडता क्षीण हो जाती है। चेतना और आनन्द का एक नया आयाम खुल जाता है, एक नवीन अनुभूति होती है। शब्द और भाषा मौन हो जाती है, आचरण की वाणी मुखरित होने लगती है।

तप का यही जीवन्त और जागृत शाश्वत स्वरूप है जो सार्वजनीन और सार्वकालिक है। सभी साधना पद्धतियाँ इसे मानकर चलती हैं और देश काल के अनुसार इसके किसी एक द्वार से साधकों को तप के इस भव्य महल मे लाने का प्रयास करती हैं, जहाँ साधक अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करता है, आत्मन् व्रह्म या ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

तप एक ऐसा प्रशस्त योग है जो आत्मा को परमात्मा से जोड़ देता है, आत्मा का परिष्कार कर उसे परमात्म-स्वरूप वना देता है।

वीर्याचार[1]—पांच आचारो के इस विवेचन मे अन्तिम आचार वीर्याचार है। जैन परम्परा मे वीर्याचार का अर्थ पुरुषार्थ या प्रयत्न करना है। अभिधान राजेन्द्र कोश मे योग, वीर्यक्षमता, उत्साह पराक्रम और चेष्टा को एकार्थक माना गया है। यदि हम चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार में कोई विभाजन रेखा खीचना चाहे तो वह इस प्रकार होगी। जहाँ चारित्राचार संयम अर्थात् मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण का सूचक है वही तपाचार कष्ट, तितिक्षा या सहनशीलता का परिचायक है। जवकि वीर्याचार साधना के क्षेत्र मे स्वशक्ति का प्रकटन करता है। चारित्र संवर करता है, तप सहन करता है किन्तु वीर्य प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है। चारित्र और तप निषेधपरक हैं जवकि वीर्य विधिपरक है। यद्यपि तप किया जाता है फिर भी उसे करने मे 'सहना' ही प्रधान होता है। प्रस्तुत कृति मे वीर्याचार के अन्तर्गत किन-किन तथ्यो का सकलन किया गया है यह तत्सम्बन्धी मुद्रित पृष्ठो की अनुपलब्धि के कारण नही कह पा रहा हूँ। किन्तु आचाराग आदि प्राचीन आगम ग्रन्थो के देखने से यह स्पष्ट होता है कि उनमे साधक को वार-वार यह निर्देश दिया गया है कि वह पराक्रम या पुरुषार्थ करे और साधना के क्षेत्र मे शिथिल न हो। यहाँ यह विचार स्वाभाविक ही है कि यह पुरुषार्थ किस रूप मे किया जाये। वीर्य शब्द, पुरुषार्थ, प्रयत्न, पराक्रम या परिश्रम का सूचक है। जैन परम्परा मे भिक्षु को श्रमण कहा गया है, जो श्रम करता है वह श्रमण है किन्तु यहाँ श्रम का तात्पर्य शारीरिक श्रम नही है, यहाँ श्रम से तात्पर्य है अपनी वृत्तियो या वासनाओ के परिशोधन हेतु सतत प्रयत्न करना। आचाराग में साधना को युद्ध का रूपक दिया गया है और साधक को वीर कहा गया है। वस्तुतः अपनी वासनाओ और वृत्तियो पर विजय प्राप्त करना ही वीरत्व का लक्षण है और इस वीरत्व का प्रदर्शन ही वीर्याचार है। जैनागमो मे कहा गया है कि सहस्रो योद्धाओ पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा अपनी आत्मा पर विजय पाना ही श्रेष्ठ है। जैनागमो मे अनेक स्थलो पर साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह अपनी शक्ति को छिपाये नही अपितु उसे प्रकट करे। किन्तु यहाँ शक्ति के प्रकटीकरण का तात्पर्य क्या है, यह विचारणीय है। सासारिक सुखभोग और उनकी उपलब्धि के प्रयासो मे तो अपनी शक्ति का प्रकटन जैन साधु के लिए निषिद्ध ही माना गया है अत. उसका शक्ति-प्रकटन केवल साधना के क्षेत्र मे ही विहित माना जा सकता है। अत आत्मविशुद्धि के लिए प्रयत्न करना वीर्याचार है। अपनी वासनाओ को नियन्त्रित

---

१ वीर्याचार की विस्तृत विवेचना हेतु देखें—अभिधान राजेन्द्र कोश, भाग ६, पृ. १३९७-१४०६।

करना, उन पर काबू रखना और उन्हें सजगतापूर्वक आत्मा से बाहर निकाल फेंकना यही वीर्याचार है।

संक्षेप मे कहे तो कषायो, वासनाओ और मनोविकारो पर विजय लाभ करने के लिए प्रयत्नशील होना ही वीर्याचार है।

आत्मा की वे शक्तियाँ जो कि कर्मावरण के कारण अनभिव्यक्त हैं उन्हें अभिव्यक्त करना ही पुरुषार्थ है और यही वीर्य है। जैन परम्परा मे आत्मा को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त माना गया है। आत्मा के उस अनन्तवीर्य को प्रकट कर लेना ही वीर्याचार है। आत्मा की शक्ति को आवृत या गोपित करने वाले कारणो के उन्मूलन करने मे ही वीर्य या पुरुषार्थ निहित है। जिस प्रकार किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो मे कोई भौतिक वस्तु अपने यथार्थ गुण-धर्मों को प्रकट करने मे समर्थ होती है। उसी प्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति मे निहित क्षमता या शक्ति को ही वीर्य कहा जाता है और उस क्षमता का यथार्थ रूप मे प्रकटन कर लेना ही वीर्य पुरुषार्थ है। उदाहरण के रूप में एक उच्च बुद्धिलब्धि वाले बालक में स्नातकोत्तर अध्ययन की सामर्थ्य होती है किन्तु जब वह अध्ययन करता हुआ क्रमश विकास करता है तब वह योग्यता में बदल जाती है। इसी प्रकार आत्मा मे निहित सामर्थ्य को योग्यता मे परिणत कर देना ही वीर्याचार है। वीर्य का वर्गीकरण अनेक रूपो मे उपलब्ध होता है जैसे कायवीर्य (शारीरिक सामर्थ्य), वाग्वीर्य (वाग्मिता), आध्यात्मिक वीर्य (आत्मशोधन की सामर्थ्य)। अन्यत्र वीर्य का वर्गीकरण आगारवीर्य और अनगारवीर्य के रूप मे भी हुआ है। यहाँ आगारवीर्य का तात्पर्य गृहस्थ जीवन के व्रतो के पालन की सामर्थ्य और अनगार या मुनिजीवन के व्रतो के पालन करने की सामर्थ्य। पुन वीर्य के बालवीर्य, पण्डितवीर्य और बालपंडितवीर्य, ऐसे विभाग भी किये गये हैं। मूर्खों का पुरुषार्थ या प्रयत्न बालवीर्य है जबकि ज्ञानियो का पुरुषार्थ पण्डितवीर्य है। पुन. प्रमादीजनो का पुरुषार्थ बालवीर्य और अप्रमत्त साधको का पुरुषार्थ पण्डितवीर्य है। बालवीर्य सकर्म अर्थात् बन्धनकारक होता है जबकि पण्डितवीर्य अकर्म अर्थात् मुक्ति का साधक होता है। सूत्रकृताग में कहा गया है कि जो सम्यक्दृष्टि और वीर्य सम्पन्न है उनका पुरुषार्थ शुद्ध होता है और वह कर्मफल से युक्त नहीं होता। वीर्याचार के सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा वीर्यप्रवाद नामक पूर्वग्रन्थ मे थी, ऐसी सूचना ज्ञात होती है। सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय मे तथा आचाराग में यत्र-तत्र वीर्याचार की चर्चा देखी जा सकती है। अभिधान राजेन्द्र कोश (भाग ६, पृ० १३९७-१४०६) मे भी वीर्याचार की चर्चा उपलब्ध होती है। इसमें कहा गया है कि अपने बल और वीर्य को न छिपाते हुए यथाशक्ति पुरुषार्थ (पराक्रम) करना वीर्याचार है। वस्तुत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो मे अपनी सामर्थ्य को न छिपाते हुए पुरुषार्थ करना ही वीर्याचार है, इस प्रकार वीर्याचार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के क्षेत्र मे किया गया पुरुषार्थ है और इस दृष्टि से वह इन चारो आचारो मे अनुस्यूत है किन्तु अनुस्यूत होते हुए भी उनका प्राण है क्योकि बिना पुरुषार्थ और प्रयत्न के साधना सफल नही होती है।

उत्सर्ग और अपवाद—जैन आचार्यों ने आचार सम्बन्धी जो विभिन्न विधि-निषेध प्रस्तुत किये हैं वे निरपेक्ष नही है। देश-काल और व्यक्ति के आधार पर उनमे परिवर्तन सम्भव हो सकता है। आचार के जिन नियमो का विधि-निषेध जिस सामान्य स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है उसमे वे आचार के विधि निषेध यथावत् रूप में पालनीय माने गये हैं, किन्तु देश-काल, परिस्थिति अथवा वैयक्तिक परिस्थितियो की भिन्नता मे उनमे परिवर्तन भी स्वीकार किया गया है। व्यक्ति और देश-कालगत सामान्य परिस्थितियो मे जिन नियमो का पालन किया जाता है वे उत्सर्ग मार्ग कहे जाते हैं किन्तु जब देशकालगत और वैयक्तिक विशेष परिस्थितियो मे उन सामान्य विधि-निषेधो को शिथिल कर दिया जाता है तो उसे अपवाद मार्ग कहा जाता है। वस्तुत आचार के सामान्य नियम उत्सर्ग मार्ग कहे जाते हैं और विशिष्ट नियम अपवाद मार्ग कहे जाते हैं। यद्यपि दोनो की व्यावहारिकता परिस्थिति सापेक्ष होती है। जैन आचार्यों की मान्यता रही है कि सामान्य परिस्थितियो मे उत्सर्ग मार्ग का अवलम्बन किया जाना चाहिए किन्तु देशकाल, परिस्थिति अथवा व्यक्ति के स्वास्थ्य एव क्षमता मे किसी विशेष परिवर्तन के आ जाने पर अपवाद मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है। यहाँ इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि अपवाद मार्ग का सम्बन्ध केवल आचरण सम्बन्धी बाह्य विधि-निषेधो से होता है और आपवादिक परिस्थिति मे किये गये सामान्य नियम के खण्डन से न तो उस नियम का मूल्य कम होता है और न सामान्य रूप से उसके आचरणीय होने पर कोई प्रभाव पडता है। जहाँ तक आचार के आन्तरिक पक्ष का प्रश्न है, जैनाचार्यों ने उसे सदैव ही निरपेक्ष या उत्सर्ग के रूप मे स्वीकार किया है। हिंसा का विचार या हिंसा की भावना किसी भी परिस्थिति मे नैतिक या आचरणीय नही मानी जाती, जिस सम्बन्ध मे अपवाद की चर्चा की जाती है वह अहिंसा के बाह्य विधि-निषेधो से सम्बन्धित होता है। मान लीजिए कि हम किसी निरपराध प्राणी का जीवन बचाने के लिए अथवा किसी स्त्री का शील सुरक्षित रखने के लिए हिंसा अथवा असत्य का सहारा लेते हैं तो इससे अहिंसा या सत्य-सम्भाषण का सामान्य नैतिक आदर्श समाप्त नहीं हो जाता। अपवाद मार्ग न तो कभी मौलिक एवं सार्वभौमिक नियम बनता

है और न अपवाद के आचरण का कारण माना जाता है, उसी प्रकार अनुज्ञा के अनुसार अर्थात् अपवाद मार्ग पर चलने पर भी आचरण को विशुद्ध ही माना जाना चाहिए। यदि ऐसा न माना जाता तव तो एकमात्र उत्सर्ग मार्ग पर ही चलना अतिवार्य हो जाता, फलस्वरूप अपवाद मार्ग का अवलम्वन करने के लिए कोई भी किसी भी परिस्थिति मे तैयार ही न होता। परिणाम यह होता कि साधना मार्ग मे केवल जिनकल्प को ही मानकर चलना पडता। किन्तु जव से साधको के सघ एव गच्छ वनने लगे, तव से केवल औत्सर्गिक मार्ग अर्थात् जिनकल्प संभव नही रहा। अतएव स्थविरकल्प मे यह अनिवार्य हो गया कि जितना 'प्रतिषेध'' का पालन आवश्यक है, उतना ही आवश्यक 'अनुज्ञा'' का आचरण भी है। वल्कि परिस्थितिविशेष मे ''अनुज्ञा'' के अनुसार आचरण नही करने पर प्रायश्चित्त का भी विधान करना पडा है। जिस प्रकार प्रतिषेध का भग करने पर प्रायश्चित्त है उसी प्रकार अपवाद का आचरण नही करने पर भी प्रायश्चित्त है। अर्थात् ''प्रतिषेध'' और ''अनुज्ञा'' उत्सर्ग और अपवाद दोनो ही समवल माने गये हैं। दोनो मे ही विशुद्धि है। किन्तु यह भी नही भूलना चाहिए कि उत्सर्ग राजमार्ग है, जिसका अवलम्वन साधक के लिए सहज है, किन्तु अपवाद, यद्यपि आचरण मे सरल है, तथापि सहज नही है।''[1]

वस्तुत जीवन मे नियमो उपनियमो की जो सर्व सामान्य विधि होती है वह उत्सर्ग और जो विशेष विधि हैं वह अपवाद विधि है। उत्सर्ग सामान्य अवस्था मे आचरणीय होता है और अपवाद विशेष सकटकालीन अवस्था में। यद्यपि दोनो का उद्देश्य एक ही होता है कि साधक का सयम सुरक्षित रहे। समर्थ साधक के द्वारा संयम रक्षा के लिए जो अनुष्ठान किया जाता है वह उत्सर्ग है और असमर्थ साधक के द्वारा संयम की रक्षा के लिए ही उत्सर्ग से विपरीत जो अनुष्ठान किया जाता है वह अपवाद है। अनेक परिस्थितियो मे यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि व्यक्ति उत्सर्ग मार्ग के प्रतिपालन के द्वारा संयम, ज्ञानादि गुणो सुरक्षा नही कर पाता तव उसे अपवाद मार्ग का ही सहारा लेना होता है। यद्यपि उत्सर्ग और अपवाद परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं किन्तु लक्ष्य की दृष्टि से विचार करने मे उनमे वस्तुत. विरोध नही होता है। दोनो ही साधना की सिद्धि के लिए होते हैं। उसकी सामान्यता एव सार्वभौमिकता खण्डित होती है। उत्सर्गमार्ग को सार्वभौम कहने का तात्पर्य भी यह नही है कि अपवाद का कोई स्थान नही है। उसे सार्वभौम कहने का तात्पर्य इतना ही है कि सामान्य परिस्थितियो मे उसका ही आचरण किया जाना चाहिए। उत्सर्ग और अपवाद दोनों की आचरणीयता परिस्थिति सापेक्ष है निरपेक्ष नही। यह उस परिस्थिति पर निर्भर होता है कि व्यक्ति उसमे उत्सर्ग का अवलम्वन ले या अपवाद का। कोई भी आचार, परिस्थिति निरपेक्ष नही हो सकता अत. आचार के नियमो के परिपालन मे परिस्थिति के विचार को सम्मिलित किया गया है फलत. अपवाद मार्ग की आवश्यकता स्वीकार की गई।

जैन संघ मे अपवाद मार्ग का कैसे विकास हुआ इस सम्बन्ध मे पं० दलसुख भाई मालवणिया का कथन है कि आचाराग में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी सघ के कर्तव्य और अकर्तव्य के मौलिक उपदेशो का संकलन है किन्तु देश काल अथवा क्षमता आदि के परिवर्तित होने से उत्सर्ग मार्ग पर चलना कठिन हो जाता है। अस्तु ऐसी स्थिति मे आचाराग की ही निशीथ नामक चूला में उन आचार नियमो के विषय मे जो वितथकारी है उनका प्रायश्चित्त वताया गया है। अपवादो का मूल सूत्रों मे कोई विशेष निर्देश नही है। किन्तु निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि मे स्थान-स्थान पर विस्तृत वर्णन है। जव एक वार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि आचार के नियमो की व्यवस्था के सन्दर्भ मे विचारणा को अवकाश है तव परिस्थिति को देखकर मूलसूत्रो के विधानो मे अपवादो की सृष्टि करना गीतार्थ आचार्यों के लिए सहज हो जाता है। उत्सर्ग और अपवाद के बलावल के सम्बन्ध मे विचार करते हुए पं० जी पुन लिखते हैं कि ''संयमी पुरुष के लिए जितने भी निषिद्ध कार्य न करने योग्य कहे गये हैं, वे सभी ''प्रतिषेध'' के अन्तर्गत आते हैं और जव परिस्थितिविशेष मे उन्ही निषिद्ध कार्यों को करने की ''अनुज्ञा'' दी जाती है, तव वे ही निषिद्ध कर्म ''विधि'' वन जाते हैं। परिस्यिति विशेष मे अकर्तव्य भी कर्तव्य बन जाता है, किन्तु प्रतिषेध को विधि में परिणत कर देने वाली परिस्थिति का औचित्य और परीक्षण करना, साधारण साधक के लिये सम्भव नही है। अतएव ये ''अपवाद'' ''अनुज्ञा'' या ''विधि'' सव किसी को नहीं वताये जाते। यही कारण है कि ''अपवाद'' का दूसरा नाम ''रहस्य'' (नि० चू० गा० ४९५) पडा है। इससे यह भी फलित हो जाता है कि जिस प्रकार ''प्रतिषेध'' का पालन करने से आचरण विशुद्ध माना जाता है, उसी प्रकार अनुज्ञा के अनुसार अर्थात् अपवाद मार्ग पर चलने पर भी आचरण को विशुद्ध ही माना जाना चाहिए। (देखें निशीथ एक अध्ययन पृ० ५४) प्रशमरति मे उमास्वाति[2] स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परिस्थितिविशेष में जो भोजन, शय्या, वस्त्र, पात्र एवं औषधि आदि ग्राह्य होती है

---

१ पं० दलसुख मालवणिया, निशीथ एक अध्ययन, पृ. ५४।
२ प्रशमरति—उमास्वाति, श्लोक १४५।

वही परिस्थिति विशेष में अग्राह्य हो जाती है और जो अग्राह्य होती है वही ग्राह्य हो जाती है। निशीथ भाष्य[1] मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समर्थ साधक के लिए उत्सर्ग स्थिति मे जो द्रव्यादि निषिद्ध माने जाते हैं वे असमर्थ साधक के लिए आपवादिक स्थिति मे ग्राह्य हो जाते हैं। सत्य यह है कि देश, काल, रोग आदि के कारण कभी-कभी जो अकार्य होता है वह कार्य बन जाता है और जो कार्य होता है वह अकार्य बन जाता है। उदाहरण के रूप मे सामान्यतया ज्वर की स्थिति मे भोजन निषिद्ध माना जाता है किन्तु वात, श्रम, क्रोध, शोक और कामादि से उत्पन्न ज्वर मे लंघन हानिकारक माना जाता है।

उत्सर्ग और अपवाद की इस चर्चा मे स्पष्ट रूप से एक बात सबसे महत्वपूर्ण है वह यह कि दोनो ही परिस्थिति सापेक्ष हैं और इसलिए दोनो ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई भी नही है। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यह कैसे निर्णय किया जाये कि किस व्यक्ति को उत्सर्ग मार्ग पर चलना चाहिए और किसको अपवाद मार्ग पर। इस सम्बन्ध मे जैनाचार्यों की दृष्टि यह रही है कि साधक को सामान्य स्थिति मे उत्सर्ग का अवलम्बन करना चाहिए किन्तु यदि वह किसी विशिष्ट परिस्थिति मे फँस गया है जहाँ उसके उत्सर्ग के आलम्बन से स्वयं उसका अस्तित्व खतरे मे पड सकता है तो उसे अपवाद मार्ग का सेवन करना चाहिए फिर भी यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि अपवाद का आलम्बन किसी परिस्थितिविशेष मे ही किया जाता है और उस परिस्थितिविशेष की समाप्ति पर साधक को पुन उत्सर्ग मार्ग का निर्धारण कर लेना चाहिए। परिस्थितिविशेष उत्पन्न होने पर जो अपवाद मार्ग का अनुसरण नही करता उसे जैन आचार्यों ने प्रायश्चित्त का भागी बताया किन्तु जिस परिस्थिति मे अपवाद का अवलम्बन लिया गया था उसके समाप्त हो जाने पर भी यदि कोई साधक उस अपवाद मार्ग का परित्याग नही करता है तो वह भी प्रायश्चित्त का भागी होता है। कब उत्सर्ग का आचरण किया जाये और कब अपवाद का इसका निर्णय देश कालगत परिस्थितियो अथवा व्यक्ति के शरीर-सामर्थ्य पर निर्भर होता है। एक बीमार साधक के लिए अकल्प्य आहार एषणीय माना जा सकता है किन्तु उसके स्वस्थ हो जाने पर वही आहार उसके लिए अनैषणीय हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि साधक कब अपवाद मार्ग का अवलम्बन करे? और इसका निश्चय कौन करे? जैनाचार्यों ने इस सन्दर्भ में गीतार्थ की आवश्यकता अनुभव की और कहा कि गीतार्थ को ही यह अधिकार होता है कि वह साधक को उत्सर्ग या अपवाद किसका अवलम्बन लेना है, निर्णय दे। जैन परम्परा मे गीतार्थ उस आचार्य को कहा जाता है जो देश, काल और परिस्थिति को सम्यक् रूप से जानता हो और जिसने निशीथ, व्यवहार, कल्प आदि छेद सूत्रो का सम्यक् अध्ययन किया हो। साधक को उत्सर्ग और अपवाद मे किसका अनुसरण करना है इसके निर्देश का अधिकार गीतार्थ को ही है।

जहाँ तक उत्सर्ग और अपवाद इन दोनो मे कौन श्रेय है और कौन अश्रेय अथवा कौन सबल है, कौन निर्बल है? इस समस्या के समाधान का प्रश्न है। जैनाचार्यों के अनुसार दोनो ही अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार श्रेय व सबल हैं। आपवादिक परिस्थिति में अपवाद को श्रेय और सबल माना गया है किन्तु सामान्य परिस्थिति में उत्सर्ग को श्रेय एवं सबल कहा गया है। बृहत्कल्पभाष्य[2] के अनुसार ये दोनो (उत्सर्ग और अपवाद) अपने-अपने स्थानों मे श्रेय व सबल होते हैं। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए बृहत्कल्पभाष्य[3] की पीठिका मे कहा गया है कि जो साधक स्वस्थ एवं समर्थ है उसके लिए उत्सर्ग स्वस्थान है और अपवाद परस्थान है। जो अस्वस्थ एवं असमर्थ है उसके लिए अपवाद स्वस्थान है और उत्सर्ग परस्थान है। वस्तुत जैसा कि हम पूर्व मे सूचित कर चुके हैं यह सब व्यक्ति की सामर्थ्य एव परिस्थितियो पर निर्भर करता है कि कभी आचरणीय अनाचरणीय एव अनाचरणीय आचरणीय हो जाता है। कभी उत्सर्ग का पालन उचित होता है तो कभी अपवाद का। वस्तुत उत्सर्ग और अपवाद की इस समस्या का समाधान उन परिस्थितियो मे कार्य करने वाले व्यक्ति के स्वभाव का विश्लेषण कर किये गये निर्णय मे निहित है। वैसे तो उत्सर्ग और अपवाद के सम्बन्ध में भी कोई सीमा रेखा निश्चित कर पाना कठिन है, फिर भी जैनाचार्यों ने कुछ आपवादिक परिस्थितियो का उल्लेख कर यह बताया है कि उनमे किस प्रकार का आचरण किया जाये।

सामान्यतया अहिंसा को जैन साधना का प्राण कहा जा सकता है। साधक के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म हिंसा भी वर्जित मानी गई है। किन्तु जब कोई विरोधी व्यक्ति आचार्य या संघ के वध के लिए तत्पर हो, किसी साध्वी का बलपूर्वक अपहरण करना चाहता हो वह उपदेश से भी नही मानता हो ऐसी स्थिति में भिक्षु, आचार्य, संघ अथवा साध्वी की रक्षा के लिए पुलाकलब्धि का प्रयोग करता हुआ साधक भी सयमी माना गया है।

सामान्यतया श्रमण साधक के लिए वनस्पतिक जीवो अथवा अप्कायिक जीवों के स्पर्श का भी निषेध है किन्तु जीवन रक्षा के लिए इन नियमों के अपवाद स्वीकार किये गये हैं। जैसे

---

१ निशीथ भाष्य ५२४५।
३ वही गा. ३२३-३२४।
२ बृहत्कल्पभाष्य पीठिका गा. ३२२।

पर्वत से फिसलते समय भिक्षु वृक्ष की शाखा या लता आदि का सहारा ले सकता है। जल मे वहते हुए साधु-साध्वी की रक्षा के लिए नदी आदि मे उतर सकता है।

इसी प्रकार उत्सर्ग मार्ग मे स्वामी की आज्ञा विना भिक्षु के लिए एक तिनका भी अग्राह्य है। दशवैकालिक[1] के अनुसार श्रमण अदत्तादान न स्वयं ग्रहण कर सकता है, न दूसरो से ग्रहण करवा सकता है और न अदत्त ग्रहण करने वाले का अनुमोदन ही कर सकता है। परन्तु परिस्थितिवश अपवाद मार्ग मे भिक्षु के लिए अयाचित स्थान आदि ग्रहण के उल्लेख है। जैसे भिक्षु भयंकर शीतादि के कारण या हिंसक पशुओ का भय होने पर स्वामी की आज्ञा लिए विना ही ठहरने योग्य स्थान पर ठहर जाए तत्पश्चात् स्वामी की आज्ञा प्राप्त करने का प्रयत्न करें।[2]

जहाँ तक ब्रह्मचर्य सम्वन्धी अपवादो का प्रश्न है उस पर हमे दो दृष्टि से विचार करना है। जहाँ अहिंसा, सत्य आदि व्रतो मे अपवाद मार्ग का सेवन करने पर विना तप-प्रायश्चित्त के भी विशुद्धि सम्भव मानी गई है वहाँ ब्रह्मचर्य के सम्वन्ध मे तप प्रायश्चित्त के विना विशुद्धि को सम्भव नही माना गया है। ऐसा क्यो किया गया इस सम्बन्ध मे जैनाचार्यो का तर्क है कि हिंसा आदि मे राग-द्वेषपूर्वक और रागद्वेष रहित दोनो ही प्रकार की प्रतिसेवना सम्भव है और यदि प्रतिसेवना रागद्वेष से रहित है तो उसके लिए विशेष प्रायश्चित्त नही है किन्तु मैथुन का सेवन राग के अभाव मे नही होता अत ब्रह्मचर्य व्रत की स्खलना मे तप-प्रायश्चित्त अपरिहार्य है। जिस स्खलना पर तप प्रायश्चित्त विधान हो उसे अपवाद मार्ग नही कहा जा सकता। निशीथ भाष्य के आधार पर प० दलसुख भाई मालवणिया का कथन[3] है कि यदि हिंसा आदि दोषो का सेवन संयम के रक्षण हेतु किया जाय तो तप प्रायश्चित्त नही होता किन्तु अब्रह्मचर्य सेवन के लिए तो तप या छेद प्रायश्चित्त आवश्यक है।

यद्यपि ब्रह्मचर्य व्रत की स्खलना पर प्रायश्चित्त विधान होने से ब्रह्मचर्य का कोई अपवाद स्वीकार नही किया गया है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि जैनाचार्यो ने उन सव परिस्थितियो पर विचार नही किया है जिनमे कि जीवन की रक्षा अथवा सघ की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए शीलभग हेतु विवश होना पडे। निशीथ[4] और वृहत्कल्पभाष्य[5] मे यह उल्लेख है कि यदि ऐसा प्रसग उपस्थित हो जहाँ शीलभंग और जीवन-रक्षण मे से एक ही विकल्प हो तो ऐसी स्थिति मे श्रेष्ठ तो यही है कि व्यक्ति मृत्यु को स्वीकार करे और शीलभंग न करे, किन्तु जो मृत्यु स्वीकार करने मे असमर्थ होने के कारण शीलभग करे तो इस स्थिति मे शीलभंग करने वाले भिक्षु के मनोभावो को लक्ष्य मे रखकर ही प्रायश्चित्त का निर्धारण किया जाता है।

जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पर सर्वाधिक वल दिया इसलिए उन्होने न केवल मैथुन सेवन का निषेध किया अपितु भिक्षु के लिए नवजात कन्या का और भिक्षुणी के लिए नवजात शिशु का स्पर्श भी वर्जित कर दिया। आगमो मे उल्लेख है कि भिक्षुणी को कोई भी पुरुष चाहे वह उसका पुत्र या पिता ही क्यो न हो, स्पर्श नही करे किन्तु अपवाद रूप मे यह वात स्वीकार की गई कि नदी मे डूवती हुई या विक्षिप्त चित्त भिक्षुणी को भिक्षु स्पर्श कर सकता है। इसी प्रकार सर्पदंश या काटा लग जाने पर उसकी चिकित्सा का कोई अन्य उपाय न रह जाने पर भिक्षु या भिक्षुणी परस्पर एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त अपवाद ब्रह्मचर्य के खण्डन से सम्वन्धित न होकर स्त्री-पुरुष के परस्पर स्पर्श से सम्वन्धित है। निशीथ भाष्य और वृहत्कल्पभाष्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने ब्रह्मचर्य की सुरक्षा पर कितनी गहराई से विचार किया। जैनाचार्यों ने इस प्रश्न पर भी विचार किया कि एक ओर व्यक्ति शीलभंग नही करना चाहता किन्तु दूसरी ओर वासना का आवेग इतना तीव्र होता है कि वह अपने पर संयम नही रख पाता। ऐसी स्थिति मे क्या किया जाये?

ऐसी स्थिति मे जैनाचार्यों ने सर्वनाश की अपेक्षा अर्द्ध विनाश की नीति को भी स्वीकार किया है। इसी प्रसंग मे जैनाचार्यो ने यह उपाय भी वताया है कि ऐसे भिक्षु अथवा भिक्षुणी को अध्ययन, लेखन, वैयावृत्य आदि कार्यो मे इतना व्यस्त कर दिया जाये कि उसके पास काम वासना जगने का समय ही न रहे। इस प्रकार उन्होने काम वासना पर विजय प्राप्त करने के उपाय भी वताए।

सामान्यतया भिक्षु के लिए परिग्रह के पूर्णत त्याग का विधान है और इसी आधार पर अचेलता की प्रशंसा की गई है। सामान्यत आचाराग आदि सूत्रो मे भिक्षु के लिए अधिकतम तीन वस्त्र और अन्य परिमित उपकरण रखने की अनुमति है किन्तु यदि हम मध्यकालीन जैन साहित्य का और साधु जीवन का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट लगता है कि धीरे-धीरे भिक्षु जीवन मे रखने योग्य वस्तुओ की संख्या वढती गई है। अन्य भी

---

१ दशवैकालिक ६, १४।
२ व्यवहार सूत्र उद्दे. ८।
३ निशीथ : एक अध्ययन, पृ ६८।
४ निशीथ गाथा ३६६-७।
५ वृहत्कल्पभाष्य गाथा ४९४६-४९४७।

आचार सम्बन्धी कठोरतम नियम स्थिर नही रह सके है। अत आपवादिक रूप मे कई अकरणीय कार्यों का करना भी विहित मान लिया गया है जो सामान्यतया निन्दित माने जाते थे। अपवाद मार्ग के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा निशीथ भाष्य एवं निशीथ चूर्णि आदि मे उपलब्ध है। साथ ही प० दलसुखभाई मालवणिया ने अपने ग्रन्थ "निशीथ एक अध्ययन"[1] मे एव उपाध्याय अमरमुनिजी ने निशीथ चूर्णि[2] के तृतीय भाग की भूमिका मे इसका विस्तार से विवेचन किया है। जिज्ञासु पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं। निशीथ सूत्र हिन्दी विवेचन मे भी उत्सर्ग अपवाद का स्वरूप समझाया गया है।[3]

"अनुयोग" विश्लेषण एवं प्रस्तुत कृति

शब्द दो प्रकार के होते हैं—(१) यौगिक, (२) रूढ।

उनमे से कई शब्दो के अनेक अर्थ होते है, भिन्न-भिन्न देश काल मे भिन्न-भिन्न अर्थ प्रसंगानुसार प्रचलित रहते हैं। किन्तु प्रयोग कर्ता के आशय के अनुसार एक अर्थ प्रमुख रहता है।

तदनुसार अनुयोग शब्द के भी दो अर्थ अपेक्षित हैं—

(१) सूत्र के अनुकूल अर्थ का योग करना,

(२) एक-एक विषय के अनुरूप (सदृश) विषयो का योग करना अर्थात् वर्गीकृत सकलन करना।

प्रस्तुत संकलन मे दूसरे अर्थ को अपेक्षित करके संकलन किया गया है जिसका आधार निम्न प्रयोग है—

(१) द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग।

(२) दृष्टिवाद का एक विभाग-अनुयोग।

(३) गणधर गण्डिकानुयोग, तपगण्डिकानुयोग आदि।

इन प्रयोगो से यह ज्ञात होता है कि जिसमे विवक्षित एक विषय का कथन हो या एक व्यक्ति का जीवन हो उसके नाम के साथ अनुयोग या गण्डिकानुयोग शब्द जोडकर कहा जाता है।

आचाराग, उववाई आदि सूत्रों की टीका मे कहे गये चार अनुयोगो को आधारभूत मानकर प्रस्तुत कृति मे सम्पूर्ण आगमो को चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है।

अनुयोग शब्द की उपलब्ध व्याख्याएँ

अभिधान राजेन्द्र कोष के प्रथम भाग मे अनुयोग शब्द के अनेक अर्थ एव उनके प्रयोगो की विस्तृत व्याख्या पृ० ३४० से ३६० तक है।

कुछ अर्थ यहाँ दिये जाते हैं—

१ अणु-सूत्रं, महान अर्थः, ततो महतो अर्थस्य अणुना सूत्रेण योगो अनुयोगः। पृष्ठ ३४०/२

२ अनुयोगो-व्याख्यानम्। पृ. ३५४/१

३. अनुरूपो योग अनुयोग, सूत्रस्य अर्थेन सार्द्धं अनुरूप सम्बन्धो, व्याख्यानमित्यर्थ। पृ ३५५/२२

४. आर्य वज्राद यावत् अपृथक्त्वे सति "सूत्र व्याख्या रूप" एकोप्यनुयोग क्रियमाण प्रतिसूत्र चत्वारि द्वाराणि भावते: चरणकरणादींश्चतुरोऽपि अर्थात् प्रतिपादयति इत्यर्थः। पृथक्त्वानुयोगकरणादेव व्यवछिन्न। ततः प्रभृति एक-एक चरणकरणादीनामन्यतरो अर्थ प्रतिसूत्रं व्याख्यायते, न चत्वारोऽपि इत्यर्थ।

५ अनुयोगो—अर्थ व्याख्यानम्। पृ. ३५८/२ पंक्ति १-२

६ अध्ययनार्थकथनविधि अनुयोगः। "अनुयोग द्वार" पृ. ३५८

७ महापुरस्य इव सामायिकस्य अनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वाराणि इति अनुयोग द्वाराणि।

८. अणुयोगद्दाराइं, महापुरस्सेव तस्स चत्तारि।
अणुयोगो त्ति सदत्थो, दाराइं तस्स उ महाइ॥
"अणुओगद्दार" पृ ३५८/२

९. संहिताय पदं चेव, पयत्थो, पदविग्गहो।
चालणा य पसिद्धी य, छव्विहं विद्धि लक्खणं॥
पृ ३५५/१९

१०. स च अनुयोगो यद्यपि अनेक ग्रन्थ विषय सभवति तथापि प्रतिशास्त्रं प्रति अध्ययन, प्रति उद्देशक, प्रति वाक्य, प्रति पदं च उपकारित्वाद् पृ ३५९/१ अनुयोगद्वार टीका।

११. "अनुयोगिन्"—अनुयोगो व्याख्यानम्, परूपणा इति यावत्, स यत्र अस्ति। अनुयोगी—आचार्य, अणुयोगी, लोगाणं ससय णासओ दढ होति।

अणुओगधर—अनुयोगिक।

१२. अणुयोगपर —सिद्धान्त व्याख्यानतिष्ठ।

१३ नंदी सूत्र, गाथा ३२ टीका—मलयगिरीया—

"कालिकश्रुतानुयोगिकान्"—कालिकश्रुतानियोगे व्याख्याने नियुक्ता कालिकश्रुतानुयोगिका, तान्। अथवा कालिकश्रुतानुयोग येषां विद्यत्ते इति कालिकश्रुतानुयोगिन।

१४. अणुओगे च नियोगो, भास विभास य वत्तियं चेव।
एए अणुओगस्स उ नामा एगट्ठिया पंच॥
बृहत्कल्प भाष्य। कोष पृ ३४४

अणुओयण अणुओगो, सुयस्स नियएण जमभिहेएण।
वावारो वा जोगो, जो अणुसोओ अणुकूलो वा॥
पृ ३४४

---

१ पं. दलसुखभाई मालवणिया—"निशीथ एक अध्ययन" पृष्ठ ५३-७०।

२ निशीथ सूत्र चूर्णि—तृतीय भाग भूमिका पृष्ठ ७-२८।

३ छेद सूत्र—पृष्ठ ७४-७५ आगम प्रकाशन समिति ब्यावर।

सुत्तत्थो खलु पढमो, वीओ निज्जुत्ति मीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही भणिय अणुओगे॥
पृ ३४५/१४

इन उपर्युक्त उद्धरणो मे सूत्र के अर्थ को संक्षिप्त या विस्तृत कहने की पद्धति को अर्थात् व्याख्या करने की पद्धतियो को अनुयोग शब्द से परिलक्षित किया गया है।

नन्दी सूत्र में अनुयोग शब्द के प्रयोग—

१. रयणकरण्डगभूओ अणुओगो रक्खिओ जेहि ॥३२॥
२. अयलपुरा निक्खंते कालियसुय अणुओगिए धीरे।
बंभद्दीवग-सीहे, वायग पयमुत्तमं पत्ते ॥३६॥
३. जेसिं इमो अणुओगो पयरइ अज्जावि अड्ढ भरहम्मि ॥३७॥
४. कालिय सुय अणुओगस्स धारए, धारए य पुव्वाणं।
हिमवंत समासमणे वन्दे नागज्जुणायरिए ॥३९॥
५. गोविंदाणं पि णमो, अणुओगे विउल धारणिंदाण ॥४१॥
६ सीलगुण गद्दियाण अणुओग जुगप्पहाणाणं ॥४८॥

नन्दी सूत्र की इन गाथाओ से यह निष्कर्ष निकलता है कि कालिक सूत्र की जो संक्षिप्त या विस्तृत व्याख्या की जाती है उसकी एक विशिष्ट पद्धति होती है जो आगम काल से सूत्रो के साथ ही शिष्यो को समझाई जाती थी। उन व्याख्यानो सहित सूत्र विस्तृत हो जाते थे उन्हे कंठस्थ धारण करना क्रमश. कठिन होता गया। इसलिए अनुयोग पद्धति से की जाने वाली व्याख्या युक्त कालिक सूत्रो को धारण करने वाले बहुश्रुत आचार्यों को अनुयोगधर, अनुयोगरक्षक, अनुयोगिक, अनुयोग प्रधान आदि विशेषणो से विभूषित किया गया है।

यहाँ गाथा मे प्रयुक्त अनुयोग (व्याख्या पद्धति) पहले से प्रचलित थी, जिसका रक्षण और धारण युग प्रधान आचार्यों ने किया था। अतः इन गाथाओ से अनुयोग के पृथक्करण या नवीनीकरण का कुछ भी सकेत समझना भ्रमपूर्ण है।

गाथा ३७ के अनुसार (नन्दी रचना के समय) मे जो सूत्रो की व्याख्यायें कण्ठस्थ परम्परा मे उपलब्ध थी वे सब स्कदिलाचार्य द्वारा व्यवस्थित एव निश्चित की गई थी।

अभिधान राजेन्द्र कोष से उद्धृत नं० ४ के अनुसार प्रत्येक अध्ययन के प्रत्येक सूत्र की व्याख्यायें चारो अनुयोगो के आधार से की जाती थी अर्थात् उस सूत्र मे तत्व क्या कहा गया है? उसका संयमाचरण से क्या सम्बन्ध है? उसके लिए उदाहरण क्या है? इत्यादि यथा सम्भव २-३ या ४ अनुयोगो मे घटित करके समझाया जाता था।

समान पाठों (विषयो) का अनुयोग—

सामान्यतया पाठक विषयानुसार वर्गीकरण को पढने मे विशेष रुचि रखता है। समझने मे भी एक विषय का सम्पूर्ण वर्णन एक साथ अत्यन्त सुविधाजनक होता है।

स्वाध्यायशील पाठको एव अन्वेषक विद्यार्थियो के लिए तो वर्गीकृत विषयो का संकलन अत्यन्त उपयोगी होता है।

अत वर्गीकृत विषयो के संकलन की आवश्यकता एव उपयोगिता सदा मानी गई है।

आगमो में भी इस पद्धति का ही अधिकाशतः अवलम्बन लिया गया है।

विषयो का विभाजन अनेक दृष्टिकोणो से किया जाता है। यह विभाजनकर्ता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। यथा—१. "जीव द्रव्य के विषय का अलग विभाग करना किन्तु उसमे अन्य कोई क्रम, गति या दण्डक के विभाजन का लक्ष्य नही रखना, २. गतियो की अपेक्षा विभाजन करना किन्तु दण्डको के क्रम या व्युत्क्रम का लक्ष्य न रखना, ३ दण्डको के क्रम से विभाजन करना किन्तु उसमे १२ देवलोक ७ नरक या ५ तिर्यंच का क्रम न रखना इत्यादि स्थूल से सूक्ष्म या सूक्ष्मतर अपेक्षित विभाजन उपयोगितानुसार किये जा सकते है।

अथवा—(१) प्रायश्चित्त विधानो को एक सूत्र मे कहना, (२) लघु, गुरु, मासिक, चौमासी इन विभागो के क्रम से करना, (३) इनमे भी पाँच महाव्रतो की अपेक्षा से विभाजित करना, (४) समिति, गुप्ति, दीक्षा, सघ व्यवस्था, स्वाध्याय आदि विभागो मे विभाजन करना इत्यादि अनेक प्रकार से विभाजन किए जा सकते हैं।

आगमो मे की गई विभाजन पद्धति भी एक सापेक्ष पद्धति है यथा—

(१) आचाराग प्रथम श्रुतस्कन्ध मे संयम के प्रेरक विषय हैं,

(२) आचाराग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध मे साधु के अत्यावश्यक आचारो से सम्बन्धित विषय हैं,

(३) सूत्रकृताग के प्रथम श्रुत स्कन्ध मे प्रथम अध्ययन को छोडकर शेष सभी अध्ययनो मे साध्वाचार का प्रतिपादन किया गया है।

(४) दशवैकालिक मे मुनि जीवन का पूर्ण मार्गदर्शन किया है।

(५) ज्ञाता से विपाक पर्यन्त सूत्रो मे विविध कर्मकथाएँ हैं।

(६) प्रश्न व्याकरण मे ५ आश्रव ५ सवर का विषय संकलित है।

(७) नन्दी मे ज्ञान का विस्तृत विषय है।

(८) चार छेद सूत्रो मे भी प्रमुख आचार सम्बन्धी विषयो का सकलन है। जिसमे निशीथ सूत्र तो पूरा प्रायश्चित्त विधानो का ही सकलन है।

इसी प्रकार अन्य उपांग आदि कई सूत्र एक-एक विषय के सकलन युक्त है।

ठाणाग समवायाग का संकलन सख्या प्रधान है किन्तु उसमे विषयो की विभिन्नता है।

भगवती सूत्र पूरा विविध विषयो के प्रश्नोत्तर का सकलन है।

उत्तराध्ययन सूत्र विभिन्न विषयो का गद्य-पद्यात्मक सूत्र है।

निष्कर्ष यह है कि इन आगमो की रचना पद्धति भी विषय सकलन मे एक विशेष विवक्षा वाली है फिर भी विषयो के सूक्ष्म सूक्ष्मतर विभाजन की जिज्ञासा वालो को उनके अध्ययन मे कठिनाई का अनुभव होना स्वाभाविक है। अत प्रस्तुत अनुयोग विभाजन एक विशिष्ट विभाजन की पूर्ति के लिए किया गया है।

यद्यपि इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता प्राचीन समय मे भी थी किन्तु ऐसा वर्गीकरण करने का साहस किसी ने भी नही किया। क्योकि ऐसा करने से सूत्रो के अस्तित्व को नष्ट करने का भ्रमित वातावरण उपस्थित होने का भय था। किन्तु इसमे न तो सूत्रो का अस्तित्व नष्ट करना है और न आगमो के मूल्य का ह्रास करना है अपितु आगमो की उपयोगिता बढाना है।

आगमो का स्वतन्त्र अस्तित्व भी अलग रह जाता है और विषयानुसार वर्गीकरण वाले चार अनुयोग रूप इन चार अनुपम ग्रन्थो का अलग महत्व भी स्पष्ट है।

इस साहस पूर्ण और श्रम पूर्ण कार्य को वर्तमान मे पं० रत्न मुनि श्री कन्हैयालालजी म सा "कमल" ने स्वेच्छा से किया है और बत्तीस सूत्रो का विशिष्ट पद्धति से विषयानुसार वर्गीकरण करके सयमी जीवन के पचास वर्षों मे श्रुत की अनुपम सेवा की है। आपका यह कार्य जैन धर्म और जैन साहित्य के इतिहास मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आगमो के सन्दर्भ मे यह ऐसा महान कार्य है जो विगत दो हजार वर्ष के जैन इतिहास मे नही हो सका था। इस महान कार्य के लिए निश्चित ही सम्पूर्ण जैन समाज, मुनि श्री जी का आभारी है। मुनि श्री ने न केवल यह वर्गीकरण का महान कार्य किया अपितु उन्होंने इसके साथ-साथ शब्दानुसारी हिन्दी अनुवाद देकर उन लोगो का भी उपकार किया जो प्राकृत का ज्ञान न रखते हुए भी आगमो की विषयवस्तु को समझने के लिए उत्सुक हैं। मुनि श्री जी की यह ज्ञान साधना उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखेगी, इसमे कोई सन्देह नही है।

मैं स्वय भी व्यक्तिगत रूप से मुनि श्री जी का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इसकी भूमिका लिखने का निर्देश देकर मुझे आगमो के अध्ययन का एक और अवसर प्रदान किया। साथ ही उनसे इसलिए क्षमाप्रार्थी भी हूँ कि प्रस्तुत भूमिका के लिए मैंने उन्हें पर्याप्त रूप से प्रतीक्षा करवाई। यद्यपि इसमे मेरे प्रमाद की अपेक्षा मेरी व्यस्तता व मेरी बाह्य परिस्थितियाँ ही अधिक बाधक रही, जिनके कारण मैं इसे शीघ्र पूर्ण न कर सका। अन्त मे पुन सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हू, जिनका इस भूमिका लेखन मे प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग रहा है।

डा० सागरमल जैन
निदेशक
श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान,
वाराणसी (उ० प्र०)



अनुक्रमणिका (चरणानुयोग भाग-2)

(१) दीक्षा

(२) सयमी जीवन

नोट :

चरणानुयोग भाग २ में सूत्रांक १३३९ से प्रारंभ हुआ है । प्रेस की सुविधा के लिए आगे के नम्बर १३०० हटाकर सिर्फ ४१, ४२ आदि लिये हैं जो क्रमश १३४१ आदि का बोधक मानना चाहिए ।

(३) समाचारी

(४) प्रतिक्रमण

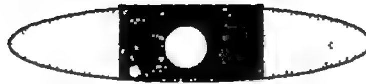
गृहस्थ-धर्म

आराधक-विराधक

अनाचार

संघ व्यवस्था

तपाचार



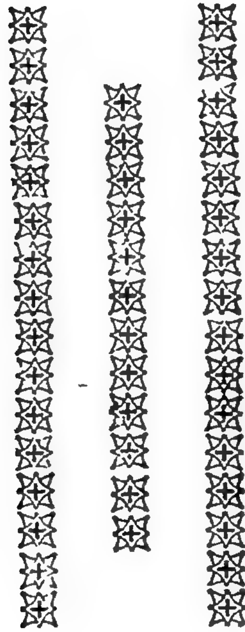
संकेत स्पष्टीकरण

प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत आगमों के संक्षिप्त संकेतों का स्पष्टीकरण

आ. सु. अ. उ. सु.	आचारांग, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, सूत्र
आ. अ.	आवश्यक सूत्र. अध्ययन
उ. अ. गा.	उत्तराध्ययन, अध्ययन, गाथा
उव सु.	उववाइ (औपपातिक) सूत्र
उवा. अ.	उवासगदशा (उपासकदशा) अध्ययन
कप्प. उ. सु.	कल्पदशा (बृहत्कल्प सूत्र) उद्देशक, सूत्र
ठाण. अ. उ. सु.	ठाणांग, अध्ययन (स्थान) उद्देशक, सूत्र
णाया. अ.	णायाधम्मकहा (ज्ञाता धर्मकथा) अध्ययन
दस. अ. गा.	दशवैकालिक, अध्ययन, गाथा
दसा. द.	दशाश्रुतस्कन्ध-दशा, सूत्र
नि. उ.	निशीथ सूत्र, उद्देशक, सूत्र
पण्ह. (प.) सु. अ. सु.	पण्हावागरण (प्रश्न व्याकरण) श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, सूत्र
वव. उ.	व्यवहार सूत्र उद्देशक
वि. (विया) स. उ.	विवाह प्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) शतक, उद्देशक
सम. स.	समवायाग, समवाय सूत्र
सूय. अ. उ. गा.	सूयगडाग (सूत्रकृताग) श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, गाथा

चरणानुयोग

[द्वितीय भाग]



चारित्राचार

[प्रथम भाग से आगे क्रमशः]

(१) दीक्षा

प्रव्रज्या ग्रहण : विधि-निषेध—१

धम्मंतराय कम्मखओवसमेणं पव्वज्जा—

*१३३९. प०—असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय नो पव्वएज्जा।

प०—से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ—

असोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वएज्जा, अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय नो पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स ण धम्मंतराइयाण कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा।

जस्स ण धम्मंतराइयाण कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से ण असोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवल मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा।

से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ—

असोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय नो पव्वएज्जा।[1]

—वि स ९, उ. ३१, सु. ४

धर्मान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से प्रव्रज्या—

१३३९. प्र०—भन्ते ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से बिना सुने कोई जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है ?

केवली से—यावत् केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके धर्मान्तराय कर्मो का क्षयोपशम हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़कर प्रव्रजित हो सकता है।

जिसके धर्मान्तराय कर्मो का क्षयोपशम नही हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है।

गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवलि से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है। और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है।

---

* यह सूत्रांक भाग १ से आगे चालू है। प्रथम भाग मे १३३८ तक सूत्र है।

१ (क) अनगार धर्म की प्राप्ति मे चारित्रमोहनीय कर्म अन्तराय करता है अतः धर्मान्तराय कर्म, चारित्रमोहनीय कर्म ही है—उसके क्षयोपशम से प्रव्रज्या ग्रहण की जा सकती है, ऐसा समझना चाहिए।

(ख) वि स. ९, उ. ३१, सु १३।

प०—सोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवल मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! सोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगतिए केवलमुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई—
सोच्चा ण केवलिस्स वा जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगतिए केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगतिए केवल मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स ण धम्मतराइयाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से ण सोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा।
जस्स णं धम्मतराइयाणं कम्माण खओवसमे नो कडे भवइ, से ण सोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवल मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं णो पव्वएज्जा।
से तेणट्ठे ण गोयमा ! एवं वुच्चइ—
सोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवल मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा। अत्थेगइए केवल मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं णो पव्वएज्जा।

—वि. स ९, उ ३१, सु. ३२

प्र०—भन्ते ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है—
केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है और कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके धर्मान्तराय कर्मो का क्षयोपशम हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है।
जिसके धर्मान्तराय कर्मों का क्षयोपशम नही हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है।
गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—
केवली से—यावत्—केवलिपाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित हो सकता है। कोई एक जीव मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोडकर प्रव्रजित नही हो सकता है।

पव्वज्जा पालगस्स चउभंगो—

१३४० चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—

(१) सीहत्ताए णाममेगे णिक्खते सीहत्ताए विहरइ,

(२) सीहत्ताए णाममेगे णिक्खंते सियालत्ताए विहरइ,

(३) सीयालत्ताए णाममेगे णिक्खते सीहत्ताए विहरइ,

(४) सीयालत्ताए णाममेगे णिक्खते सीयालत्ताए विहरइ।

—ठाणं अ ४, उ ३, सु. ३२९

प्रव्रज्या-पालक की चौभगी—

१३४० पुरुष चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—

(१) कोई पुरुष सिंहवृत्ति से प्रव्रजित होता है और सिंह वृत्ति से ही विचरता है अर्थात सयम का दृढता से पालन करता है।

(२) कोई पुरुष सिंहवृत्ति से प्रव्रजित होता है किन्तु शृगाल वृत्ति से विचरता है, अर्थात् दीनवृत्ति से सयम का पालन करता है।

(३) कोई पुरुष शृगालवृत्ति से प्रव्रजित होता है, किन्तु सिंहवृत्ति से विचरता है,

(४) कोई पुरुष शृगालवृत्ति से प्रव्रजित होता है और शृगालवृत्ति से ही विचरता है।

तिविहा संजया—

*४१. (१) जे पुव्वट्ठाइ णो पच्छाणिवाती,

(२) जे पुव्वुट्ठाई, पच्छाणिवाती,

(३) जे णो पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवातो।

से वि तारिसए सिया जे परिण्णाय लोगमण्णेसयति।

एयं णिदाय मुणिणा पवेदितं—इह आणाकंखी पडिते अणिहे पुव्वावररायं जयमाणे सया सीलं संपेहाए सुणिया भवे अकामे अझझे।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ३, सु १५८

तीन प्रकार के संयत—

४१. (१) जो पहले प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं और उसी निष्ठा से उसका पालन करते हैं वे साधना पथ से च्युत नही होते हैं।

(२) जो पहले प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं किन्तु बाद मे उससे च्युत हो जाते है।

(३) जो न तो पहले प्रव्रज्या स्वीकार करते हैं और न ही बाद मे च्युत होते हैं।

जो साधक लोक को परिज्ञा से जानकर उसका त्याग कर पुन लोकैषणा मे संलग्न हो जाता है वह भी गृहस्थ जैसा ही हो जाता है।

यह केवलज्ञान से जानकर तीर्थंकरो ने कहा है—पंडित मुनि आज्ञा मे रुचि रखे, स्नेह न करे। रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग मे (स्वाध्याय और ध्यान) करे। सदा शील का अनुपालन करे। परमतत्व को सुनकर काम और कलह से मुक्त हो जाय।

पव्वज्जा जोग्गाजणा—

४२. दो ठाणाइं अपरियाइत्ता आया णो केवल मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा,

तं जहा—आरंभे चेव, परिग्गहे चेव।

दो ठाणाइं परियाइत्ता आया केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइज्जा,

त जहा—आरंभे चेव, परिग्गहे चेव।

—ठाणं अ. २, उ. १, सु ५४-५५

प्रव्रज्या योग्य जन—

४२. आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानो को जाने और छोडे बिना आत्मा मुण्ड होकर, घर को छोड़कर सम्पूर्ण अनगारिता को नही पाता।

आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानो को जानकर और छोडकर आत्मा मुण्ड होकर घर छोडकर सम्पूर्ण अनगारिता को पाता है।

पव्वज्जा जोग्गा जामा—

४३. तओ जामा पण्णत्ता, त जहा—

पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे।

तिहिं जामेहिं आया केवल मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा, त जहा—

पढमे जामे, मज्झिमे जामे, पच्छिमे जामे[1]।

—ठाण. अ ३, उ. २, सु. १६३

प्रव्रज्या योग्य प्रहर—

४३ तीन प्रकार के याम (प्रहर) कहे गये है यथा—

(१) प्रथम याम, (२) मध्यम याम, (३) अन्तिम याम।

तीनो ही यामो मे आत्मा मुण्डित होकर गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित होता है। यथा—

(१) प्रथम याम, (२) मध्यम याम, (३) अन्तिम याम।

पव्वज्जा जोग्गा वया—

४४. तओ वया पण्णत्ता, त जहा—

पढमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए।

तिहिं वएहिं आया केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइज्जा। त जहा—

प्रव्रज्या योग्य वय—

४४. तीन प्रकार के वय कहे गये हैं। यथा—

(१) प्रथम वय, (२) मध्यम वय, (३) अन्तिम वय।

तीनो ही वयो मे आत्मा मुण्डित होकर गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित होता है। यथा—

---

* सूत्रांक ४१ मे १३०० जोडकर पढें। आगे प्रेस की सुविधा व स्थान अधिक खाली न रहे अत १३०० कम करके ४१ का अक ही रखा गया है।

१ (क) जामा तिण्णि उदाहिया जेसु इमे आयरिया संवुज्झमाणा समुट्ठिया। —आ. सु १, अ. ८, उ. १, सु. २०२

(ख) मज्झिमेणं वयसा वि एगे सवुज्झमाणा समुट्ठिता सोच्चा मेधावी वयण पडियाण णिसामिया।

—आ. सु. १, अ ८, उ. ३, सु. २०६ (क)

पढमे वए, मज्झिमे वए, पच्छिमे वए।

—ठाण अ ३, उ २, सु १६३

(१) प्रथम वय मे, (२) मध्यम वय मे, (३) अन्तिम वय मे।

पव्वज्जा जोग्गा दिसा—

४५ दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पति णिग्गथाण वा णिग्गंथीण वा पव्वावित्तए-पाईण चेव, उदीण चेव।

दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पति णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा, मुडावित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए सभुजित्तए सवसित्तए सज्झायमुद्दिसित्तए सज्झाय समुद्दिसित्तए सज्झायमणुजाणित्तए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए णिंदित्तए गरहित्तए विउट्टित्तए विसोहित्तए अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए अहारिह पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए—

पाईण चेव, उदीण चेव।

—ठाण अ २, उ १, सु ६६ (क)

प्रव्रज्या योग्य दिशा—

४५ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ पूर्व और उत्तर इन दो दिशाओ की ओर मुँह कर प्रव्रजित करें।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ पूर्व और उत्तर इन दो दिशाओं की ओर मुँह कर मुण्डित करें, शिक्षा दें, महाव्रतो मे आरोपित करें, भोजन-मण्डली मे सम्मिलित करें, सस्तारक मण्डली में सम्मिलित करें, स्वाध्याय का उद्देश दें, स्वाध्याय का समुद्देश दें, स्वाध्याय की अनुज्ञा दें, आलोचना करें, प्रतिक्रमण करें, निन्दा करें, गर्हा करें, पश्चात्ताप करें विशोधि करें, सावद्य-प्रवृत्ति न करने के लिए उठें, यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करें।

पव्वावणाईण विहि-णिसेहो—

४६ नो कप्पइ णिग्गंथाण णिग्गथिं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, सवासित्तए वा, सभुजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिस वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

कप्पइ णिग्गथाणं णिग्गथिं अन्नेसिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा -जाव-सभुजित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

नो कप्पइ णिग्गथीण णिग्गथ अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा -जाव-सभुजित्तए वा, तीसे इत्तरिय दिस वा अणुदिस वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

कप्पइ णिग्गथीण णिग्गथ अण्णेसिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा-जाव-सभुज्जित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिस वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। —वव उ ७, सु ६-९

प्रव्रजित करने आदि के विधि-निषेध—

४६ निर्ग्रन्थियो को अपनी शिष्या बनाने के लिए प्रव्रजित करना, मुण्डित करना, शिक्षित करना, चारित्र मे पुन उपस्थापित करना, उसके साथ रहना और साथ बैठकर भोजन करना निर्ग्रन्थ को नही कल्पता है तथा अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए पद देना या उसे धारण करना नही कल्पता है।

अन्य की शिष्या बनाने के लिए किसी निर्ग्रन्थिनी को प्रव्रजित करना—यावत्—साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश देना निर्ग्रन्थ को कल्पता है तथा अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए पद देना या उसे धारण करना कल्पता है।

निर्ग्रन्थ को अपने लिए प्रव्रजित करना—यावत्—साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को नहीं कल्पता है तथा अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए पद देना या उसे धारण करना नही कल्पता है।

निर्ग्रन्थ को अन्य (आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक) के लिए प्रव्रजित करना—यावत्—साथ बैठकर भोजन करने के लिए निर्देश करना निर्ग्रन्थी को कल्पता है तथा अल्पकाल या यावज्जीवन के लिए पद देना या उसे धारण करने के लिए अनुज्ञा देना कल्पता है।

खुड्डगस्स खुड्डियाए वा उवट्ठावण विहि-णिसेहो—

४७ नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गथीण वा खुड्डगं वा खुड्डिय वा अणट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा सभुजित्तए वा।

कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा खुड्डग वा खुड्डिय वा साइरेगअट्ठवासजाय उवट्ठावेत्तए वा सभुजित्तए वा।

—वव. उ १०, सु २०-२१

बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा आदि का विधि-निषेध—

४७ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को आठ वर्ष से कम उम्र वाले बालक-बालिका को बडी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना नही कल्पता है।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को आठ वर्ष मे अधिक उम्र वाले बालक बालिका को बडी दीक्षा देना और उनके साथ आहार करना कल्पता है।

पव्वयमाणस्स उवगरणपरूवणा—

४८. निग्गंथस्स तप्पढमयाए सपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गह-मायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

से य पुव्वोवट्ठिए सिया, एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय-आयाए संपव्वइत्तए।

निग्गंथीए णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणीए कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

सा य पुव्वोवट्ठिया सिया एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।

कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय-आयाए संपव्वइत्तए। —कप्प. उ. ३, सु. १४-१५

प्रव्रजित होने वाले के उपकरणो का प्ररूपण—

४८ गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाले निर्ग्रन्थ को रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र अपने साथ लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुका हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नही कल्पता है।

किन्तु पूर्व गृहीत वस्त्रो को लेकर आत्मभाव से प्रव्रजित होना कल्पता है।

गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाली निर्ग्रन्थी को रजोहरण गोच्छक पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र अपने साथ लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुकी हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नही कल्पता है।

किन्तु पूर्व गृहीत वस्त्रो को लेकर आत्मभाव से प्रव्रजित होना कल्पता है।

पव्वज्जा अजोग्गा—

४९. तओ णो कप्पति पव्वावेत्तए त जहा—

(१) पडए, (२) वातिए, (३) कीवे।

तओ णो कप्पति मुंडावित्तए, सिक्खावित्तए, उवट्ठावित्तए, संभुजित्तए सवासित्तए, तं जहा—

पडए, वातिए, कीवे[1]। —ठाण. अ. ३, उ. ४ सु २०४

प्रव्रज्या के अयोग्य—

४९. तीन को प्रव्रजित करना नही कल्पता है, यथा—

(१) नपुंसक, (२) वातिक, (३) और क्लीव।

तीन को मुण्डित करना, शिक्षा देना महाव्रतो मे आरोपित करना, उनके साथ आहार आदि का सम्बन्ध रखना और उनके साथ रहना या उसे साथ रखना नही कल्पता है। यथा—

नपुंसक, वातिक और क्लीव[2]।

असमत्थपव्वावण-पायच्छित्तसुत्त—

५०. जे भिक्खू णायगं वा, अणायगं वा, उवासगं वा, अणुवासग वा, अणल पव्वावेइ पव्वावेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं। —नि. उ. ११, सु. ८४

असमर्थ को प्रव्रजित करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

५०. जो भिक्षु अयोग्य स्वजन को, परिजन को, उपासक को, और अनुपासक को प्रव्रजित करता है, करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।



---

१ कप्प. उ ४, सु. ४-६।

२ प्रथम सामान्य नपुंसक है, द्वितीय-तृतीय विशेष प्रकार के नपुंसक हैं।

प्रव्रज्या के प्रकार—२

विविहविहा पव्वज्जा—

५१ चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) इहलोगपडिवद्धा,
(२) परलोगपडिवद्धा,
(३) दुहओलोगपडिवद्धा,[1]
(४) अप्पडिवद्धा।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—
(१) पुरओ पडिवद्धा,
(२) मग्गओ पडिवद्धा,
(३) दुहओ पडिवद्धा,[2]
(४) अप्पडिवद्धा।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—
(१) ओवाय-पव्वज्जा,
(२) अक्खात-पव्वज्जा,
(३) सगार-पव्वज्जा,[3]
(४) विगह-गइ-पव्वज्जा।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—
(१) तुयावइत्ता,
(२) पुयावइत्ता,
(३) वुआवइत्ता,[4]
(४) परिपुयावइत्ता।

चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—
(१) णडखइया,
(२) भडखइया,
(३) सीहखइया,

विविध प्रकार का प्रव्रज्या—

५१ प्रव्रज्या (निर्ग्रन्थ दीक्षा) चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) इस लोक की सुख-कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या।
(२) परलोक की सुख-कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या।
(३) दोनो लोको की सुख-कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या।
(४) किसी भी प्रकार की कामना से रहित होकर ली जाने वाली प्रव्रज्या।

पुन प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
(१) मनोज्ञ आहारादि की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली प्रव्रज्या।
(२) परिवार की प्रतिष्ठा वढाने की कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या।
(३) उपरोक्त दोनो प्रकार की कामना से ली जाने वाली प्रव्रज्या।
(४) उक्त दोनो प्रकार की कामनाओ से रहित होकर ली जाने वाली प्रज्या।

पुनः प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
(१) सद्-गुरुओ की सेवा से प्राप्त होने वाली दीक्षा।
(२) दूसरो के कहने से ली जाने वाली दीक्षा।
(३) परस्पर प्रतिज्ञावद्ध होने से ली जाने वाली दीक्षा।
(४) परिवारादि से अलग होकर देशान्तर मे जाकर ली जाने वाली दीक्षा।

पुन प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
(१) कष्ट देकर दी जाने वाली दीक्षा।
(२) अन्यत्र ले जाकर दी जाने वाली दीक्षा।
(३) वातचीत करके दी जाने वाली दीक्षा।
(४) स्निग्ध, मिष्ट भोजन कराकर दी जाने वाली दीक्षा।

पुन प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
(१) नट की तरह धर्मकथा कहकर आजीविका की जाने वाली प्रव्रज्या।
(२) सुभट के समान वल प्रदर्शन कर आजीविका की जाने वाली प्रव्रज्या।
(३) सिंह के समान आजीविका की जाने वाली प्रव्रज्या

१-२-३-४ ठाण अ. ३, उ. २, सु १५५

(४) सियालखइया।

—ठाण अ ४, उ. ४, सु ३५५

पव्वज्जाए किसी-उवमा—

५२ चउव्विहा किसी पण्णत्ता, तं जहा—

(१) वाविया,

(२) परिवाविया,

(३) णिंदिता,

(४) परिणिंदिता।

एवामेव चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) वाविता,

(२) परिवाविता,

(३) णिंदिता,

(४) परिणिंदिता। —ठाण अ. ४, उ. ४, सु. ३५५

पव्वज्जाए धण्णोवमा—

५३. चउव्विहा पव्वज्जा पण्णत्ता, त जहा—

(१) धण्णपुंजितसमाणा,

(२) धण्णविरल्लितसमाणा,

(३) धण्णविक्खित्तसमाणा,

(४) धण्ण सकड्ढित समाणा।

—ठाण अ ४, उ. ४, सु ३५५

मुण्डणस्सप्पगारा—

५४. पच मुडा पण्णत्ता, त जहा—

(१) सोतिंदियमुडे (२) चक्खिदियमुडे, (३) घाणिंदियमुंडे, (४) जिब्भिदियमुंडे, (५) फासिंदियमुडे।

पंच मुंडा पण्णत्ता, त जहा—

(१) कोहमुंडे, (२) माणमुंडे, (३) मायामुंडे, (४) लोभमुडे, (५) सिरमुंडे।

—ठाण. अ. ५, उ. ३, सु. ४४३ (२-३)

दस पव्वज्जा पगारा—

५५ दसविधा पव्वज्जा पण्णत्ता, त जहा—

(१) छदा, (२) रोसा, (६) परिजुण्णा,

(४) सुविणा, (५) पडिस्सुता चेव, (६) सारणिया

(४) सियाल के समान दीन-वृत्ति से आजीविका की जाने वाली प्रव्रज्या।

प्रव्रज्या को कृषि की उपमा—

५२. कृषि (खेती) चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) एक बार बोयी गई कृषि।

(२) उगे हुए धान्य को उखाड़कर रोपण की जाने वाली कृषि।

(३) घास को निकालकर तैयार की जाने वाली कृषि।

(४) घास को अनेक बार निवारण करने पर होने वाली कृषि।

इसी प्रकार प्रव्रज्या भी चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) सामायिक चारित्र मे आरोपित करना (छोटी दीक्षा)

(२) महाव्रतो मे आरोपित करना (बडी दीक्षा)

(३) एक बार आलोचना से आने वाली दीक्षा।

(४) बार-बार आलोचना से आने वाली दीक्षा।

प्रव्रज्या को धान्य की उपमा—

५३ प्रव्रज्या चार प्रकार की कही गई है, जैसे—

(१) खलिहान मे साफ करके रखे गए धान्यपुंज के समान निर्दोष प्रव्रज्या।

(२) साफ किये गये किन्तु खलिहान मे बिखरे हुए धान्य के समान अल्प-अतिचार वाली प्रव्रज्या।

(३) खलिहान मे बैलो आदि के द्वारा कुचले गये धान्य के समान बहु-अतिचार वाली प्रव्रज्या।

(४) खेत से काटकर खलिहान मे लाए गये धान्य-फूलो के समान बहुतर अतिचार वाली प्रव्रज्या।

मुण्डन के प्रकार—

५४ मुण्ड (जयी) पांच प्रकार के होते है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय मुण्ड, (२) चक्षुरिन्द्रिय मुण्ड, (३) घ्राणेन्द्रिय मुण्ड, (४) जिह्वेन्द्रिय मुण्ड, (५) स्पर्शनेन्द्रिय मुण्ड।

मुण्ड पांच प्रकार के होते हैं—

(१) क्रोध मुण्ड, (२) मान मुण्ड, (३) माया मुण्ड, (४) लोभ मुण्ड, (५) शिरो मुण्ड।

प्रव्रज्या के दस प्रकार—

५५. दस प्रकार से प्रव्रज्या ली जाती है, जैसे—

(१) अपनी इच्छा से, (२) रोष से, (३) दरिद्रता से, (४) स्वप्न के निमित्त से, (५) पहले की हुई प्रतिज्ञा के कारण,

(७) रोगिणिया, (८) अणाढिता, (९) देवसण्णत्ती, (१०) वच्छाणुवंधिया। —ठाणं अ १०, सु ७१२

(६) पूर्व जन्म स्मरण से, (७) रोग के निमित्त से, (८) अनादर होने पर, (९) देव द्वारा वोध पाने पर, (१०) दीक्षित होते हुए पुत्र के निमित्त से ली जाने वाली दीक्षा।

दुक्खांतकरी पव्वज्जा—

५६ सुणेह मे एगग्गमणा, मग्ग बुद्धेहिं देसिय।
जमायरन्तो भिक्खू दुक्खाणन्तकरो भवे॥

गिहवासं परिच्चज्ज पव्वज्जा मासिओ मुणी।
इमे सगे वियाणिज्जा जेहिं सज्जन्ति माणवा॥[1]
—उत्त अ ३५, गा. १-२

दुःख का अन्त करने वाली प्रव्रज्या—

५६ तुम एकाग्र मन होकर (तीर्थंकरो) के द्वारा उपदिष्ट मार्ग को मुझ से सुनो जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु दुःखो का अन्त कर देता है।

जो मुनि गृहवास को छोडकर प्रव्रज्या को अगीकार कर चुका है वह इन कर्मवन्ध के स्थानो को जाने जिनमे कि मनुष्य आसक्त होते हैं।



उपस्थापना—विधि-निषेध—३

उवट्ठावणं कालमाणं—

५७. तओ सेहभूमिओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१ सत्त-राइदिया, २ चाउम्मासिया,
३ छम्मासिया।

छम्मासिया उक्कोसिया।
चाउम्मासिया मज्झमिया।
सत्त-राइदिया जहन्निया।[2] —वव. उ १०, सु १६

वडी दीक्षा देने का काल प्रमाण—

५७ नवदीक्षित शिष्य की तीन शैक्ष भूमियाँ कही गई हैं। जैसे—

(१) सप्तरात्रि-देवसिक, (२) चातुर्मासिक और
(३) षाण्मासिक।

उत्कृष्ट छह मास से महाव्रत आरोपण करना।
मध्यम चार मास से महाव्रत आरोपण करना।
जघन्य सातवें दिन महाव्रत आरोपण करना।

उवट्ठावण विहाणाइं—

५८ आयरिय-उवज्झाए सरमाणे पर चउराय पंचरायाओ कप्पाग भिक्खु नो उवट्ठावेइ, कप्पाए, अत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केइ छेए वा, परिहारे वा।

णत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

उपस्थापन के विधान—

५८ आचार्य या उपाध्याय को स्मरण होते हुए भी वडी दीक्षा के योग्य भिक्षु को चार पांच रात के वाद भी वडी दीक्षा मे उपस्थापित न करे। उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की वडी दीक्षा होने मे देर हो तो उन्हें दीक्षा छेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

यदि उस नवदीक्षित के वडी दीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हे उस चार पाँच रात्रि उल्लघन करने का छेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१ इन गाथाओ से आगे की गाथायें प्रत्येक महाव्रत के साथ सकलित की गई हैं अत मानव की आसक्ति के हेतु "सग" के प्रकार वहां से जान लें।

२ ठाण. अ ३, उ. २, मु. १६७ (१)।

आयरिय-उवज्झाए असरमाणे पर चउरायाओ पंचरायाओ वा कप्पागं भिक्खु नो उवट्ठावेइ, कप्पाए, अत्थियाइ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा,

आचार्य या उपाध्याय को स्मृति मे न रहने से वडी दीक्षा के योग्य भिक्षु को चार पाँच रात के वाद भी वडी दीक्षा मे उपस्थापित न करे। उस समय यदि वहाँ उस नवदीक्षित के कोई पूज्य पुरुष की वडी दीक्षा होने मे देर हो तो उन्हे दीक्षाच्छेद या तपरूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

णत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से सतरा छेए वा परिहारे वा।

यदि उस नवदीक्षित के वडी दीक्षा लेने योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हे उस चार पाँच रात्रि उल्लघन करने का छेद या तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

आयरिय-उवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं दसराय कप्पाओ कप्पाग भिक्खु नो उवट्ठावेइ कप्पाए. अत्थियाइ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा।

आचार्य या उपाध्याय को स्मृति मे रहते हुए या स्मृति मे न रहते हुए वडी दीक्षा के योग्य भिक्षु को दस दिन के वाद भी वडी दीक्षा मे उपस्थापित न करे। उस समय यदि उस नवदीक्षित के कोइ पूज्य पुरुष की वडी दीक्षा होने मे देर हो तो उन्हे दीक्षा छेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।

णत्थियाइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए, संवच्छर तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए। —वव. उ ४, सु. १५-१७

यदि उस नवदीक्षित के वड़ी दीक्षा के योग्य कोई पूज्य पुरुष न हो तो उन्हे उस दश रात्रि उल्लंघन करने के कारण एक वर्ष तक आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद पर रहना नही कल्पता है।

उवट्ठावण जोग्गा—

५९ पुढविक्काइए जीवे, सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अभिगयपुण्ण-पावो, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो॥

आउक्काइए जीवे, सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अभिगयपुण्ण-पावो, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो॥

तेउक्काइए जीवे, सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अभिगयपुण्ण-पावो, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो॥

वाउक्काइए जीवे, सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अभिगयपुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो॥

वणस्सइकाइए जीवे, सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अभिगयपुण्ण-पावो, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो॥

तसकाइए जीवे, सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अभिगयपुण्ण-पावो, सो हु उवट्ठावणे जोग्गो॥[1]
—दस. अ. ४, गा. ७-१२

वडी दीक्षा के योग्य—

५९ जो जिन-प्रज्ञप्त पृथ्विकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एव पाप को जानता है, वह वडी दीक्षा के योग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त अप्कायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एव पाप को जानता है, वह वडी दीक्षा के योग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त तेजस्कायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एव पाप को जानता है, वह वडी दीक्षा के योग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त वायुकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एवं पाप को जानता है, वह वडी दीक्षा के योग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त वनस्पतिकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एव पाप को जानता है, वह वडी दीक्षा के योग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त त्रसकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा रखता है और पुण्य एव पाप को जानता है, वह वडी दीक्षा के योग्य है।

---

१ उपरोक्त गाथायें महावीर विद्यालय की प्रति मे है।

उवट्ठावणा अजोग्गा—

६० पुढविक्काइए जीवे, ण सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्ठावणा जोग्गो॥

आउक्काइए जीवे, ण सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्ठावणा जोग्गो॥

तेउक्काइए जीवे ण सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्ठावणा जोग्गो॥

वाउक्काइए जीवे, ण सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्ठावणा जोग्गो॥

वणस्सइकाइए जीवे, ण सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्ठावणा जोग्गो॥

तसकाइए जीवे, ण सद्दहइ जो जिणेहिं पण्णत्ते।
अणभिगयपुण्ण-पावो, ण सो उवट्ठावणा जोग्गो॥

—दस. अ. ४, गा १-६

वडी दीक्षा के अयोग्य—

६०. जो जिन-प्रज्ञप्त पृथ्वीकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नही रखता है और पुण्य एव पाप को नहीं जानता है वह वडी दीक्षा के अयोग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त अप्कायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नही रखता है और पुण्य एव पाप को नही जानता है वह वडी दीक्षा के अयोग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त तेजस्कायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नही रखता है और पुण्य एव पाप को नहीं जानता है वह वडी दीक्षा के अयोग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त वायुकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नही रखता है और पुण्य एव पाप को नही जानता है वह वडी दीक्षा के अयोग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त वनस्पतिकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नही रखता है और पुण्य एव पाप को नही जानता है वह वडी दीक्षा के अयोग्य है।

जो जिन-प्रज्ञप्त त्रसकायिक जीवो मे (जीव है इस प्रकार की) श्रद्धा नही रखता है और पुण्य एव पाप को नही जानता है वह वडी दीक्षा के अयोग्य है।

अजोग्गस्स उवट्ठावणपायच्छित्तसुत्त—

६१ जे भिक्खू णायग वा, अणायग वा, उवासग वा, अणुवासगं वा अणल उवट्ठावेइ उवट्ठावेंत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाण अणुग्घाइय।
—नि. उ. ११, सु ८५

अयोग्य को वडी दीक्षा देने का प्रायश्चित्त सूत्र—

६१. जो भिक्षु अयोग्य स्वजन को, परिजन को, उपासक को और अनुपासक को वडी दीक्षा देता है, दिलाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।



(२) संयमी जीवन

संयम का स्वरूप—१

संजम सरूवं—

६२. एगओ विरइ कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असजमे नियत्ति च, सजमे य पवत्तणं॥
—उत्त. अ ३१, गा. २

सजमस्स महत्त—

६३. मासे मासे तु जो वालो, कुस्सग्गेणं तु भुजए।
न सो सुअक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं॥
—उत्त. अ. ९, गा. ४४

संयम का स्वरूप—

६२. भिक्षु को एक स्थान से निवृत्ति और एक स्थान मे प्रवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति करनी चाहिए।

सयम का महत्व—

६३ अज्ञानी जीव एक-एक मास की तपश्चर्या के पारणे मे कुशाग्र जितना आहार करे तो भी सर्वज्ञ-प्ररूपित चारित्रधर्म की सोलहवी कला को भी प्राप्त नही होता।



संयम के प्रकार—२

पंच चरित्ता, चरित्त-परिभासा य—

६४ सामाइयत्थ पढमं, छेओवट्ठावण भवे वीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह सपरायं च॥
अकसायं अहक्खाय छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एयं चयरित्तकर, चारित्तं होइ आहियं॥
—उत्त अ. २८, गा. ३२-३३

पाँच प्रकार के चारित्र और उनकी परिभाषा—

६४. (चारित्र पाँच प्रकार के हैं)

१. पहला—सामायिक, २. दूसरा—छेदोपस्थापनीय
२. तीसरा—परिहार-विशुद्धि, ४. चौथा—सूक्ष्म-सपराय,

५ पाँचवाँ—यथाख्यात-चारित्र-कषाय रहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली दोनो को होता है।

ये सभी चारित्र कर्म सचय को रिक्त (खाली) करते है, इसलिए ये चारित्र कहे जाते हैं।

छव्विहा कप्पट्ठिती—

६५. छव्विहा कप्पट्ठिती पण्णत्ता, तं जहा—
(१) सामाइयसजयकप्पट्ठिती,
(२) छेओवट्ठावणियसंजयकप्पट्ठिती,
(३) णिव्विसमाण कप्पट्ठिती,
(४) णिव्विट्ठकाइय कप्पट्ठिती,
(५) जिणकप्पट्ठिती,
(६) थेरकप्पट्ठिती॥[1] —कप्प. उ. ६, मु २०

छह प्रकार की कल्पस्थिति—

६५. कल्प की स्थिति छह प्रकार की कही गई है। जैसे—

१. सामायिक चारित्र की मर्यादाएँ।

२ छेदोपस्थापनीय चारित्र (वडी दीक्षा के वाद) की मर्यादाएँ।

३. परिहारविशुद्धि चारित्र मे तप वहन करने वालो की मर्यादाएँ।

४. परिहारविशुद्धि चारित्र मे गुरुकल्प तथा अनुपरिहारिक भिक्षुओ की मर्यादाएँ।

५ गच्छ निर्गत विशिष्ट तपस्वी जीवन विताने वाले जिनकल्पी भिक्षुओ की मर्यादाएँ।

६ स्थविर-कल्पी अर्थात् गच्छवासी भिक्षुओ की मर्यादाएँ।

---

१ ठाण. अ. ६, सु. ५३०।

संयमभेयप्पभेया—

६६ दुविहे सजमे पन्नत्ते, त जहा—
(१) सरागसजमे चेव (२) वीयरागसजमे चेव।
सरागसजमे दुविहे पन्नत्ते, त जहा —
(१) सुहुमसपरायसरागसजमे चेव, (२) बादरसपरायसराग-सजमे चेव।
सुहुमसपरायसरागसजमे दुविहे पन्नत्ते, त जहा —
(१) पढम-समय सुहुम-सपराय-सराग-संजमे चेव,
(२) अपढम-समय सुहुम-सपराय-सराग-सजमे चेव।
अहवा चरमसमयसुहुमसपरायसरागसजमे चेव अचरिमसमय-सुहुमसपरायसराग सजमे चेव।
अहवा सुहुमसपरायसरागसजमे दुविहे पन्नत्ते, त जहा—

संकिलेसमाणए चेव, विसुज्झमाणए चेव।

बादरसपरायसरागसजमे दुविहे पन्नत्ते, त जहा—
पढमसमय बादरसंपरायसरागसजमे चेव, अपढमसमयबादर-सपरायसरागसजमे चेव।
अहवा चरिम-समयबादर-सपराय-सराग-सजमे चेव, अच-रिम-समय बादर-सपराय-सराग-सजमे चेव।
अहवा बायरसपरायसरागसजमे दुविहे पन्नत्ते, त जहा—

पडिवाति चेव, अपडिवाति चेव।

वीयरागसजमे दुविहे पण्णत्ते, त जहा —
उवसतकसाय वीयरागसजमे चेव, खीणकसायवीयरागसंजमे चेव।
उवसतकसायवीयरागसजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—

पढमसमयउवसतकसायवीयरागसजमे चेव, अपढमसमयउव-सतकसायवीयरागसजमे चेव।
अहवा चरिमसमयउवसतकसायवीयरागसजमे चेव, अचरि-मसमय उवसतकसायवीयरागसंजमे चेव।
खीणकसायवीयरागसजमे दुविहे पन्नत्ते, त जहा—
छउमत्यखीणकसायवीयरागसजमे चेव, केवलिखीणकसायवी-यरागसजमे चेव।
छउमत्य-खीण-कसाय-वीयराग-सजमे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—
सयंबुद्धछउमत्यखीणकसायवीतरागसजमे चेव, बुद्धबोहिय-छउमत्यखीणकसाय-वीतरागसजमे चेव।

सयम के भेद-प्रभेद—

६६ सयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
सरागसयम और वीतरागसयम।
सरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
सूक्ष्मसम्पराय सराग सयम और बादरसम्पराय सराग सयम।

सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
प्रथमसमय सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम और
अप्रथमसमय सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम।
अथवा चरमसमय सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम और अचरम-समय सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम।
अथवा सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
सक्लिश्यमान सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम और विशुद्ध्यमान सूक्ष्मसम्पराय सरागसयम।
बादरसम्पराय सरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
प्रथमसमय—बादरसम्पराय सरागसयम और अप्रथमसमय—बादरसम्पराय सरागसयम।
अथवा चरमसमय बादरसम्पराय सरागसयम और अचरम-समय बादरसम्पराय सरागसयम।
अथवा बादरसम्पराय सरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा —
प्रतिपाती बादरसम्पराय सरागसयम और अप्रतिपाती बादर-सम्पराय सरागसयम।
वीतराग सयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
उपशान्तकषाय वीतरागसयम और क्षीणकषाय वीतराग-सयम।
उपशान्तकषाय वीतरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
प्रथमसमय उपशान्तकषाय वीतरागसयम और अप्रथमसमय उपशान्तकषाय वीतरागसयम।
अथवा चरमसमय उपशान्तकषाय वीतरागसयम और अचरम-समय उपशान्तकषाय वीतरागसयम।
क्षीणकषाय वीतरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
छद्मस्थ क्षीणकषाय वीतरागसयम और केवलीक्षीणकषाय वीतरागसयम।
छद्मस्थ क्षीणकषाय वीतरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
स्वयबुद्ध छद्मस्थक्षीणकषायवीतरागसयम और बुद्धबोधित छद्मस्थ—क्षीणकषाय वीतरागसयम।

सयबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—

पढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागसंजमे चेव, अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागसजमे चेव ।

अहवा—चरिमसमयसयबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागसजमे चेव, अचरिमसमयसयबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागसजमे चेव ।

बुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागसजमे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—

पढमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागसंजमे चेव, अपढमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागसंजमे चेव ।

अहवा — चरिमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीयराग-सजमे चेव, अचरिमसमयबुद्धवोहियछउमत्थखीणकसायवीय-रागसंजमे चेव ।

केवलिखीणकसायवीतरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—

सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागसजमे चेव, अजोगिकेवलि-खीणकसायवीतरागसजमे चेव ।

सजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे दुविहे पन्नत्ते, त जहा—

पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे चेव, अपढ-मसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसजमे चेव ।

अहवा चरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयराग सजमे चेव, अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयराग संजमे चेव ।

अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसजमे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—

पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसजमे चेव, अपढ-मसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसजमे चेव ।

अहवा चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे चेव अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे चेव । — ठाणं. अ. २, उ. १, सु ६२

स्वयबुद्ध छद्मस्थक्षीणकपाय वीतराग संयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

प्रथमसमयस्वयबुद्ध छदमस्थक्षीणकपाय वीतराग सयम और अप्रथमममय-म्वययुद्ध—छद्मस्थक्षीणकषाय वीतरागसयम ।

अथवा चरमसमय स्वयबुद्ध छद्मस्थ क्षीणकपाय वीतराग मयम और अचरममय स्वयबुद्ध-छद्मस्थक्षीणकपाय वीतराग-सयम ।

बुद्धवोधितछद्मस्थक्षीणकषायवीतरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

प्रथमसमय बुद्धवोधित छद्मस्थक्षीणकपायवीतरागसयम और अप्रथमसमय बुद्धवोधित छद्मस्थ क्षीणकपाय वीतराग सयम ।

अथवा चरमसमय बुद्धवोधित छद्मस्थक्षीणकपायवीतराग सयम और अचरमसमय बुद्धवोधित छद्मस्थक्षीणकषाय वीतराग सयम ।

केवली—क्षीणकपाय वीतरागसयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

सयोगीकेवली—क्षीणकषाय वीतरागसयम और अयोगी-केवली—क्षीणकषाय वीतराग सयम ।

सयोगीकेवली क्षीणकषाय वीतराग सयम दो प्रकार का कह गया है, यथा—

प्रथम समय सयोगीकेवली क्षीणकषाय वीतराग सयम और अप्रथम समय सयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागसयम ।

अथवा चरमसमय सयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागसयम और अचरमसमय सयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागमयम ।

अयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागसंयम दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

प्रथमसमय अयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागसयम और अप्रथमसमय अयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागसयम ।

अथवा चरममय अयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागसयम और अचरम समय अयोगीकेवली क्षीणकपाय वीतरागसयम ।

चउव्विहे संजमे पण्णत्ते, त जहा—

(१) मणसजमे, (२) वइसंजमे,
(३) कायसजमे, (४) उवगरणसंजमे ।

चउव्विहे चियाए पण्णत्ते, त जहा—

(१) मणचियाए, (२) वइचियाए,
(३) कायचियाए, (४) उवगरणचियाए ।

चउव्विहा अकिंचणता पण्णत्ता, तं जहा—

(१) मणअकिंचणता, (२) वइअकिंचणता,

सयम के चार प्रकार हैं—

१ मन-सयम, २. वाक्-सयम,
३. काय-मयम, ४ उपकरण-सयम ।

त्याग के चार प्रकार हैं—

१ मन-त्याग, २. वाक्-त्याग,
३ काय-त्याग, ४. उपकरण-त्याग !

अकिञ्चनता के चार प्रकार हैं—

१. मन-अकिञ्चनता, २ वाक्-अकिञ्चनता,

(३) कायअंकिचणता, (४) उवगरणअंकिचणता। | ३ काय-अकिञ्चनता, ४ उपकरण-अकिञ्चनता।

—ठाणं अ ४, उ २, सु ३१० (१-३)

सयमप्पगारा— | **सयम के प्रकार—**

६७ सत्तारसविहे सजमे पण्णत्ते, त जहा—

(१) पुढवीकायसजमे, (२) आउकायसजमे,
(३) तेउकायसजमे, (४) वाउकायसजमे,
(५) वणस्सइकायसजमे, (६) वेइंदियसजमे,
(७) तेइंदियसजमे, (८) चउरिंदियसजमे,
(९) पंचिदियसजमे, (१०) अजीवकायसजमे,
(११) पेहासजमे,
(१२) उपेहासजमे,
(१३) अवहट्टुसजमे,
(१४) पमज्जणासंजमे, (१५) मणसंजमे,
(१६) वइसजमे, (१७) कायसजमे।

—सम स १७, सु. १

६७. सयम सतरह प्रकार के कहे गये हैं, यथा —

१ पृथ्वीकाय सयम, २ अप्काय सयम,
३ तेजस्काय सयम, ४ वायुकाय सयम,
५ वनस्पतिकाय सयम, ६ द्वीन्द्रिय सयम,
७ त्रीन्द्रिय सयम, ८. चतुरिन्द्रिय सयम,
९ पचेन्द्रिय सयम, १० अजीवकाय संयम,
११ प्रेक्षा सयम—प्रत्येक प्रवृत्ति देखभालकर करना।
१२ उपेक्षा सयम—असयम मे प्रवृत्ति करने वालो के प्रति उपेक्षा भाव रखना।
१३ अपहृत्य सयम—उच्चार प्रस्रवण आदि का विधि से परिष्ठापन करना।
१४ प्रमार्जना संयम, १५ मन सयम,
१६ वचन सयम, १७ काय सयम।

असंयमप्पगारा— | **असयम के प्रकार—**

६८ सत्तरसविहे असजमे पण्णत्ते, त जहा—

(१) पुढवीकायअसजमे, (२) आउकायअसजमे,
(३) तेउकायअसजमे, (४) वाउकायअसजमे,
(५) वणस्सइकायअसजमे, (६) वेइंदियअसजमे,
(७) तेइंदियअसंजमे, (८) चउरिंदियअसंजमे,
(९) पंचिंदियअसजमे, (१०) अजीवकायअसजमे,
(११) पेहाअसजमे, (१२) उपेहाअसजमे,
(१३) अवहट्टुअसजमे, (१४) अप्पमज्जणाअसजमे,
(१५) मणअसजमे, (१६) वइअसजमे,
(१७) कायअसजमे। —सम स १७, सु १

६८. असयम सतरह प्रकार के कहे हैं, जैसे—

१ पृथ्वीकाय असयम, २ अप्काय असयम,
३ तेजस्काय असयम, ४ वायुकाय असयम,
५ वनस्पतिकाय असंयम, ६ द्वीन्द्रिय असयम
७ त्रीन्द्रिय असयम, ८ चतुरिन्द्रिय असयम,
९ पचेन्द्रिय असयम, १० अजीवकाय असयम,
११ प्रेक्षा असयम, १२ उपेक्षा असयम,
१३ अपहृत्य असयम, १४. अप्रमार्जना असयम,
१५ मन असयम, १६ वचन असयम,
१७ काय असयम।

चरित्तस्स-पगारा— | **चरित्र के प्रकार—**

६९ पचविहे सजमे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) सामाइयसजमे, (२) छेदोवट्ठावणियसजमे,
(३) परिहारविसुद्धियसंजमे, (४) सुहुमसपरागसजमे,
(५) अहक्खायचरित्तसजमे।

—ठाण अ ५, उ २, सु ४२८

६९ सयम के पाँच प्रकार हैं—

१ सामायिक संयम, २ छेदोपस्थापनीय संयम,
३ परिहारविशुद्धिक सयम, ४ सूक्ष्मसम्पराय सयम,
५ यथाख्यातचरित्र सयम।

समारंभ-असमारंभेण सयम असंयमप्पगारा— | **समारम्भ-असमारम्भ से संयम-असयम के प्रकार—**

७०. एगिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स पचविहे सजमे कज्जति, त जहा—

(१) पुढविकाइयसजमे, (२) आउकाइयसजमे,

७०. एकेन्द्रिय जीवो का असमारम्भ करता हुआ जीव पाँच प्रकार का सयम करता है—

१. पृथ्वीकाय सयम, २ अप्काय सयम,

(३) तेउकाइयसजमे, (४) वाउकाइयसंजमे,
(५) वणस्सइकाइयसजमे ।

३ तेजस्काय संयम, ४ वायुकाय सयम,
५ वनस्पतिकाय संयम ।

एगिंदिया णं जीवा समारभमाणस्स पचविहे असंजमे कज्जति, त जहा—
(१) पुढविकाइयअसजमे, (२) आउकाइयअसंजमे,
(३) तेउकाइयअसजमे, (४) वाउकाइयअसंजमे,
(५) वणस्सइकाइयअसंजमे ।

—ठाण. अ ५, उ. २, सु. ४२९

एकेन्द्रिय जीवो का समारम्भ करता हुआ जीव पांच प्रकार का असयम करता है—
१ पृथ्वीकाय असंयम, २ अप्काय असंयम,
३. तेजस्काय असंयम, ४. वायुकाय असंयम,
५. वनस्पतिकाय असंयम ।

बेइंदियाणं जीवा असमारभमाणस्स चउव्विहे संजमे कज्जति, तं जहा—
(१) जिब्भामयातो सोक्खातो अववरोवित्ता भवइ,
(२) जिब्भामएणं दुक्खेण असंजोगेत्ता भवइ,
(३) फासामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(४) फासामएण दुक्खेण असंजोगित्ता भवइ ।

द्वीन्द्रिय जीवो का आरम्भ नही करने वाले के चार प्रकार का संयम होता है—
१. रसमय सुख का वियोग नही करने से,
२ रसमय दुःख का संयोग नही करने से,
३. स्पर्शमय सुख का वियोग नही करने से,
४. स्पर्शमय दुःख का सयोग नही करने से ।

बेइंदिया ण जीवा समारभमाणस्स चउव्विहे असजमे कज्जति, त जहा—
(१) जिब्भामयातो सोक्खातो ववरोवित्ता भवइ,
(२) जिब्भामएण दुक्खेण संजोगित्ता भवइ,
(३) फासामयातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवइ
(४) फासामएणं दुक्खेण सजोगित्ता भवइ ।

—ठाणं अ ४, उ. ४, सु ३६८

द्वीन्द्रिय जीवो का आरम्भ करने वाले के चार प्रकार का असयम होता है—
१. रसमय सुख का वियोग करने से,
२. रसमय दुःख का सयोग करने से,
३ स्पर्शमय सुख का वियोग करने से,
४. स्पर्शमय दुःख का सयोग करने से ।

तेइंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स छव्विहे सजमे कज्जति, त जहा—
(१) घाणामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(२) घाणामएण दुक्खेणं असजोएत्ता भवइ,
(३) जिब्भामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(४) जिब्भामएण दुक्खेण असजोएत्ता भवइ ।
(५) फासामयातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवइ,
(६) फासामएण दुक्खेणं असजोएत्ता भवइ ।

त्रीन्द्रिय जीवो का आरम्भ न करने वाले के छ प्रकार का सयम होता है—
१ घ्राणमय सुख का वियोग नही करने से,
२ घ्राणमय दुःख का सयोग नही करने से,
३ रसमय सुख का वियोग नही करने से,
४. रसमय दुःख का सयोग नही करने से,
५. स्पर्शमय सुख का वियोग नही करने से,
६. स्पर्शमय दुःख का संयोग नही करने से ।

तेइंदिया ण जीवा समारभमाणस्स छव्विहे असजमे कज्जति, त जहा —
(१) घाणामयातो सोक्खासो ववरोवेत्ता भवइ,
(२) घाणामएण दुक्खेण सजोगेत्ता भवइ,
(३) जिब्भामयातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवइ,
(४) जिब्भामएणं दुक्खेण सजोगेत्ता भवइ,
(५) फासामयातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवइ,
(६) फासामएण दुक्खेण सजोगेत्ता भवइ ।

—ठाणं अ. ६, सु. ५२१,

त्रीन्द्रिय जीवो का आरम्भ करने वाले के छ प्रकार का असयम होता है—
१. घ्राणमय सुख का वियोग करने से,
२ घ्राणमय दुःख का सयोग करने से,
३ रसमय सुख का वियोग करने से,
४. रसमय दुःख का सयोग करने से,
५ स्पर्शमय सुख का वियोग करने से,
६. स्पर्शमय दुःख का संयोग करने से ।

चउरिंदिया णं जीवा असमारभमाणस्स अट्ठविधे सजमे कज्जति, तं जहा—

चतुरिन्द्रिय जीवो का आरम्भ नही करने वाले के आठ प्रकार का संयम होता है—

(१) चक्खुमातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
(२) चक्खुमएण दुक्खेण असजोएत्ता भवति,
(३) घाणामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
(४) घाणामएण दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति,
(५) जिब्भामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
(६) जिब्भामएण दुक्खेणं असजोएत्ता भवति,
(७) फासामातो सोक्खातो अववरोवेत्ता भवति,
(८) फासामएण दुक्खेणं असंजोएत्ता भवति ।

१ चक्षुमय सुख का वियोग नही करने से,
२ चक्षुमय दु ख का सयोग नही करने से,
३ घ्राणमय सुख का वियोग नही करने से,
४. घ्राणमय दु ख का सयोग नही करने से,
५ रसमय सुख का वियोग नही करने से,
६ रसमय दु ख का सयोग नही करने से,
७ स्पर्शमय सुख का वियोग नही करने से,
८ स्पर्शमय दु ख का सयोग नही करने से,

चउरिंदिया ण जीवा समारभमाणस्स अट्ठविहे असजमे कज्जति, त जहा—
(१) चक्खुमातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति,
(२) चक्खुमाएण दुक्खेण संजोगेत्ता भवति,
(३) घाणामातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति,
(४) घाणामएण दुक्खेण सजोगेत्ता भवति,
(५) जिब्भामातो-सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति,
(६) जिब्भामएण दुक्खेणं सजोगेत्ता भवति,
(७) फासामातो सोक्खातो ववरोवेत्ता भवति,
(८) फासामाएण दुक्खेण संजोगेत्ता भवति[1] ।
—ठाण अ ८, सु ६१५

चतुरिन्द्रिय जीवो का आरम्भ करने वाले के आठ प्रकार का असयम होता है—
१ चक्षुमय सुख का वियोग करने से,
२ चक्षुमय दु ख का सयोग करने से,
३ घ्राणमय सुख का वियोग करने से,
४ घ्राणमय दु ख का सयोग करने से,
५ रसमय सुख का वियोग करने से,
६ रसमय दु ख का सयोग करने से,
७ स्पर्शमय सुख का वियोग करने से,
८ स्पर्शमय दु ख का सयोग करने से ।

पचिंदिया ण जीवा असमारभमाणस्स पचविहे सजमे कज्जति, त जहा—
(१) सोतिंदियसजमे, (२) चक्खिदियसजमे,
(३) घाणिंदियसजमे, (४) जिब्भिदियसजमे,
(५) फासिंदियसंजमे ।

पचेन्द्रिय जीवो का असमारम्भ करता हुआ जीव पाँच प्रकार का सयम करता है—
१ श्रोत्रेन्द्रिय सयम, २ चक्षुरिन्द्रिय सयम,
३ घ्राणेन्द्रिय सयम, ४ जिह्वेन्द्रिय सयम,
५ स्पर्शेन्द्रिय सयम ।

पचिंदिया ण जीवा समारभमाणस्स पचविहे असजमे कज्जति, त जहा—
(१) सोतिंदियअसंजमे, (२) चक्खिदियअसजमे,
(३) घाणिंदियअसंजमे, (४) जिब्भिदियअसंजमे,
(५) फासिंदियअसजमे ।

पचेन्द्रिय जीवो का समारम्भ करता हुआ जीव पाँच प्रकार का असयम करता है—
१ श्रोत्रेन्द्रिय असयम, २. चक्षुरिन्द्रिय असयम
३. घ्राणेन्द्रिय असयम, ४. जिह्वेन्द्रिय असयम,
५ स्पर्शेन्द्रिय असयम ।

सव्वपाणभूयजीवसत्ता ण असमारभमाणस्स पचविहे सजमे कज्जति, त जहा—
(१) एगिंदियसजमे, (२) बेइंदियसजमे,
(३) तेइंदियसजमे, (४) चउरिंदियसजमे,
(५) पचिंदियसजमे ।

सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्वो का असमारम्भ करता हुआ जीव पाच प्रकार का सयम करता है—
१ एकेन्द्रिय सयम, २ द्वीन्द्रिय सयम,
३ त्रीन्द्रिय सयम, ४. चतुरिन्द्रिय सयम,
५ पचेन्द्रिय सयम ।

सव्वपाणभूयजीवसत्ता ण समारभमाणस्स पचविहे असंजमे कज्जति, त जहा—
(१) एगिंदियअसजमे, (२) बेइंदियअसजमे,
(३) तेइंदियअसजमे, (४) चउरिंदियअसजमे,
(५) पचेंदियअसजमे । —ठाणं अ ५, उ २, सु ४३०

सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्वो का समारम्भ करता हुआ जीव पाच प्रकार का असयम करता है—
१ एकेन्द्रिय असयम, २. द्वीन्द्रिय असयम,
३ त्रीन्द्रिय असयम, ४. चतुरिन्द्रिय असंयम,
५ पचेन्द्रिय असयम ।

---

१ इसी प्रकार पंचेन्द्रिय के समारम्भ-असमारम्भ का सु ३१८ अहिंसा महाव्रत पृ २८६ पर देखें ।

संजम जोग्गा जणा—

७१ दो ठाणाइ अपरियाणेत्ता आया णो केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, त जहा—
(१) आरभे चेव, (२) परिग्गहे चेव ।
दो ठाणाइं परियाणेत्ता आया केवलेणं सजमेण सजमेज्जा, तं जहा—
(१) आरंभे चेव, (२) परिग्गहे चेव ।
—ठाणं. अ. २, उ. १, सु. ५४-५५

संयम योग्य जन—

७१. आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानो को जाने और छोड़े विना आत्मा सम्पूर्ण सयम के द्वारा संयत नही होता ।

आरम्भ और परिग्रह—इन दो स्थानो को जानकर और छोड़कर आत्मा सम्पूर्ण संयम के द्वारा संयत होता है ।

संजमजोग्गा जामा—

७२. तओ जामा पण्णत्ता, तं जहा—
(१) पढमे जामे, (२) मज्झिमे जामे, (३) पच्छिमे जामे ।
तिहिं जामेहिं आया केवलेण संजमेण संजमेज्जा, त जहा—
(१) पढमे जामे, (२) मज्झिमे जामे, (३) पच्छिमे जामे ।
—ठाणं. अ. ३, उ २, सु. १६३

संयम योग्य प्रहर—

७२. तीन प्रकार के याम (प्रहर) कहे गये हैं—यथा—
(१) प्रथम याम, (२) मध्यम याम, (३) अन्तिम याम ।
तीनो ही यामो मे आत्मा विशुद्ध संयम से संयत हो सकता है—यथा –
(१) प्रथम याम मे, (२) मध्यम याम मे, (३) अन्तिम याम मे ।

संजमजोग्गा वया—

७३. तओ वया पण्णत्ता, तं जहा—
(१) पढमे वए, (२) मज्झिमे वए, (३) पच्छिमे वए ।
तिहिं वएहिं आया केवलेण संजमेणं सजमेज्जा, तं जहा—
(१) पढमे वए, (२) मज्झिमे वए, (३) पच्छिमे वए ।
—ठाणं अ. ३, उ. २, सु १६३

सयम योग्य वय—

७३ तीन प्रकार के वय कहे गये हैं—यथा—
(१) प्रथम वय, (२) मध्यम वय, (३) अन्तिम वय ।
तीनो ही वयो मे आत्मा विशुद्ध सयम से संयत हो सकता है—यथा—
(१) प्रथम वय मे, (२) मध्यम वय मे, (३) अन्तिम वय मे ।

जयणावरणिज्जकम्मखओवसमेण संजमं—

७४ प०—असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा केवलेणं संजमेण सजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! असोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खिय-उवासियाए वा अत्थेगइए केवलेण संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं सजमेण नो संजमेज्जा ।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—
असोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं सजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेण संजमेण नो सजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स णं जयणावरणिज्जाण कम्माण[1]

यतनावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से सयम—

७४. प्र०—भन्ते ! केवली से—**यावत्**—केवली पाक्षिक उपासिका से विना सुने कोई एक जीव संयम पालन कर सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—**यावत्**—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने बिना कोई जीव सयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नही कर सकता है ।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—
केवली से—**यावत्**—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने विना कोई जीव सयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नही कर सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके यतनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम

---

१ अयतना प्रमाद से होती है, प्रमाद आश्रव है । यतना अप्रमाद से होती है, अप्रमाद संवर है ।
संवर ही संयम है ।
वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से अप्रमत्तता और उससे यतना होना निश्चित है ।
यहाँ वीर्यान्तराय के क्षयोपशम को यतनावरणीय कर्म का क्षयोपशम समझना चाहिए ।

खओवसमे कडे भवइ से ण असोच्चा केवलिस्स वा -जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेण संजमेणं संजमेज्जा।

जस्स ण जयणावरणिज्जाण कम्माण खओवसमे नो कडे भवइ से ण असोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेणं सजमेणं नो संजमेज्जा।

असोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलेण संजमेण सजमेज्जा। अत्येगइए केवलेण सजमेण नो संजमेज्जा[1]।

—विया. स ९, उ ३१, सु. ६

हुआ है वह केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने विना संयम पालन कर सकता है।

जिसके यतनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम नही हुआ है वह केवली से—यावत्—केवलीपाक्षिक उपासिका से सुने विना संयम पालन नही कर सकता है।

गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुने विना कोई एक जीव सयम पालन कर सकता है और कोई एक जीव सयम पालन नहीं कर सकता है।

प०—सोच्चा ण भंते ! केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेण सजमेण संजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! सोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलेण संजमेणं संजमेज्जा, अत्येगइए केवलेण संजमेण नो सजमेज्जा।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! वुच्चइ—

सोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलेण सजमेणं सजमेज्जा, अत्येगइए केवलेणं सजमेण नो सजमेज्जा ?

उ०—गोयमा ! जस्स ण जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ सेण सोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेण सजमेण सजमेज्जा।

जस्स ण जयणावरणिज्जाणं कम्माण खओवसमे नो कडे भवइ सेण सोच्चा केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा केवलेण सजमेण नो सजमेज्जा।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव वुच्चइ—

सोच्चा ण केवलिस्स वा-जाव-तप्पक्खियउवासियाए वा अत्येगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा। अत्येगइए केवलेणं सजमेणं नो संजमेज्जा।

—विया. स ९, उ. ३१, सु. ३२

प्र०—भन्ते ! केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई जीव सयम पालन कर सकता है ?

उ०—गौतम ! केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव सयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नही कर सकता है।

प्र०—भन्ते ! किस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई जीव सयम पालन कर सकता है और कोई जीव संयम पालन नही कर सकता है ?

उ०—गौतम ! जिसके यतनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हुआ है वह केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर संयम पालन कर सकता है।

जिसके यतनावरणीय कर्मों का क्षयोपशम नही हुआ है वह केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर सयम पालन नही कर सकता है।

गौतम ! इस प्रयोजन से ऐसा कहा जाता है कि—

केवली से—यावत्—केवली पाक्षिक उपासिका से सुनकर कोई एक जीव सयम पालन कर सकता है और कोई एक जीव संयम पालन नही कर सकता है।



१ विया० स० ९, उ० ३१, सु० १३

संयमी के लक्षण—४

निग्गंथ लक्खणाइं—

७५. पंचासवपरिन्नाया, तिगुत्ता छसु सजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गथा उज्जुदंसिणो ॥

—दश. अ. ३, गा. ११

ते अणवकखमाणा, अणतिवातेमाणा, अपरिग्गहेमाणा, णो परिग्गहावति सव्वावति च ण लोगसि णिहाय दंडं पाणेहिं पाव कम्मं अकुव्वमाणे एस मह अगंथे वियाहिये ।

ओए जुइमस्स खेत्तण्णे उववाय चयण च णच्चा ।

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ३, सु. २०९

निर्ग्रन्थ के लक्षण—

७५. पांच आश्रवो का निरोध करने वाले, तीन गुप्तियो से गुप्त, छह काया के जीवो के प्रति संयत, पाँचो इन्द्रियो का निग्रह करने वाले, धीर निर्ग्रन्थ मोक्षमार्गदर्शी होते हैं ।

वे काम-भोगो की आकाक्षा न रखने वाले, प्राणियो के प्राणो का अतिपात न करते हुए और परिग्रह न रखते हुए समग्र लोक मे अपरिग्रहवान होते हैं । जो प्राणियों के लिए दण्ड का त्याग करके पाप-कर्म नही करता, उसे ही महान् अग्रन्थ (निर्ग्रन्थ) कहा गया है ।

वह साधक राग-द्वेष से रहित है, सयम एव मोक्ष का ज्ञाता है एवं जन्म मरण के स्वरूप को जानकर पाप का आचरण नही करता है ।

अणगार लक्खणाइं—

७६. तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मतिमं,

अभय विदित्ता त जे णो करए एसोवरते, एत्थोवरए एस अणगारे त्ति पवुच्चति ।

—आ. सु. १, अ १, उ. ५, सु ४०

जणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्टन्ति मन्दा मोहेण पाउडा ।

"अपरिग्गहा भविस्सामो" समुट्ठाए लद्धे कामे अभिगाहति । अणाणाए मुणिणो पडिलेहति । एत्थ मोहे पुणो पुणो सण्णा, णो हव्वाए, णो पाराए ।

विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो लोभं अलोभेणं दुगुंछमाणे लद्धे कामे णाभिगाहति ।

विणा वि लोभ निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति पासति ।

पडिलेहाए णावकखति, एस अणगारे त्ति पवुच्चति ।

—आ. सु १, अ. २, उ. २, सु. ७०-७१

अणगार के लक्षण—

७६. मुनि धर्म को स्वीकार कर, जीवो के स्वरूप को जानकर बुद्धिमान साधक यह सकल्प करे कि "मैं वनस्पतिकाय के जीवो की हिंसा नही करूंगा ।"

"प्रत्येक जीव अभय चाहता है" यह जानकर जो हिंसा नही करता, वही आरंभनिवृत्त कहा जाता है । वही जिनमार्ग मे स्थित है, वही "अणगार" कहलाता है ।

अज्ञान से आवृत, विवेकशून्य कितने ही कायर प्राणी परीषहो के उपस्थित होने पर वीतराग आज्ञा से विरुद्ध आचरण करके सयम मार्ग से च्युत हो जाते हैं ।

कई साधु हम "अपरिग्रही बनेंगे" इस तरह का विचार कर तथा दीक्षा लेकर भी प्राप्त काम-भोगो का सेवन करते हैं । वे मुनि वीतराग आज्ञा से बाह्य काम-भोगो की आकाक्षा करते हैं । वे मोह मे बार-बार निमग्न होते हैं, इसलिए वे न तो इस तीर (गृहवास) पर आ सकते हैं और न उस पार (श्रमणत्व) जा सकते हैं ।

जो विषयो के दलदल से पारगामी होते हैं, वे वास्तव मे विमुक्त है । वे अलोभ (सन्तोष) से लोभ को पराजित करते हुए काम-भोग प्राप्त होने पर भी उनके सेवन की इच्छा नही करते हैं ।

जो लोभ से निवृत्त प्रव्रज्या लेता है, वह अकर्म होकर सब कुछ जानता है, देखता है ।

जो हिताहित का विचार कर विषयो की आकाक्षा नही करता है वह "अनगार" कहलाता है ।

से बेमि—से जहा वि अणगारे उज्जुकडे णियागपडिवन्ने अमाय कुव्वमाणे वियाहिते।

'हे शिष्य!' अणगार—मुनि का जो वास्तविक स्वरूप है, वह मैं कहता हूँ। जो प्रबुद्ध पुरुष सयम का परिपालक है, मोक्ष-मार्ग पर गतिशील है और माया-छल-कपट आदि कषायो का त्यागी है या निश्चल एव निष्कपट (शुद्ध हृदय वाला है, वही अनगार—मुनि कहा जाता है।

जाए सद्धाए णिक्खतो तमेव अणुपालिज्जा विजहित्ता विसोत्तियं।

जिस श्रद्धा (निष्ठा-वैराग्य भावना) के साथ संयम-पथ पर कदम बढाया है, उसी श्रद्धा के साथ सयम का पालन करे, सयम में आने वाली बाधाओ को दूर करते हुए जीवन पर्यन्त सयम का पालन करे।

पणया वीरा महावीहिं।

—आ. सु १, अ १, उ. ३, सु १९-२१

यह संयम मार्ग अनेक वीर पुरुषो द्वारा आसेवित है।

संजयाण लक्खण—

७७. आयावयति गिम्हेसु हेमन्तेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा सजया सुसमाहिया॥

—दस. अ. ३, गा १२

संयतो के लक्षण—

७७ समाधियुक्त संयत गर्मी मे सूर्य की आतापना लेते हैं, सर्दी में खुले बदन रहते हैं और वर्षा मे एक स्थान मे रहते हैं।

माहणाईणं लक्खणाइं—

७८. प०—कहं से दते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे-माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा, भिक्खू त्ति वा, णिग्गंथे त्ति वा? त नो बूहि महामुणी!।

उ०—एवं से दते, दविए, वोसट्ठकाए त्ति वच्चे (१) माहणे त्ति वा, (२) समणे त्ति वा, (३) भिक्खू त्ति वा, (४) णिग्गंथे त्ति वा,

इति विरए सव्वपावकम्मे पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण पेसुन्न-परपरिवाय अरतिरति-मायामोस-मिच्छादसण-सल्ल-विरए, समिए, सहिए, सयाजए णो कुज्झे णो माणी माहणे त्ति वच्चे।

एत्थ वि समणे-अणिस्सिए अणिदाणे, आदाण च, अतिवायं च, मुसावाय च, वहिद्ध च, कोह च, माण च, मायं च, लोभं च, पेज्जं च, दोस च इच्चेव जओ-जओ आयाणाओ अप्पणो पदोस हेऊं तओ-तओ आयाणाओ पुव्वं पडिविरए सिआ दते दविए वोसट्ठ-काए समणे त्ति वच्चे।

माहण आदि के लक्षण—

७८ प्र०—किस प्रकार दमितेन्द्रिय, मोक्षगमन योग्य तथा शरीर के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग करने वाला माहण, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहलाता है? हे महामुने! कृपया यह हमे बताइये।

उ०—इस प्रकार दमितेन्द्रिय मोक्षगमन योग्य तथा शरीर के प्रति ममत्व त्याग करने वाला (१) माहण, (२) श्रमण, (३) भिक्षु (४) निर्ग्रन्थ कहलाता है।

जो साधक समस्त पापकर्मों से विरत है, जो राग-द्वेष कलह, मिथ्या-दोपारोपण, चुगली, निन्दा, सयम मे अरुचि, असयम मे रुचि (अथवा हर्ष-शोक), कपट युक्त असत्य, मिथ्या-दर्शन शल्य से विरत होता है, पाँच समितियो से युक्त और ज्ञान-दर्शन चारित्र से सम्पन्न है, सदैव षड्जीवनिकाय की यतना में तत्पर रहता है, किसी पर क्रोध नही करता है, न अभिमान करता है, इन गुणो से सम्पन्न अणगार "माहन" कहे जाने योग्य है।

ये 'श्रमण' ऐसे समझे जायें जो अनिश्रित है, निदान रहित है तथा कर्मबन्ध के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान) से रहित है, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष इत्यादि जो जो कर्मबन्ध के कारण ही आत्मा के लिए दोष के कारण हैं उन-उन कर्मबन्ध के कारणो से पहले से ही निवृत्त है वह दमितेन्द्रिय, मोक्षगमन योग्य तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित 'श्रमण' कहे जाने योग्य है।

एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए, नावणए दंते, दविए, वोसट्ठकाए, संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे, अज्झप्पजोगसुद्धादाणे, उवट्ठिए, ठियप्पा, संखाए पर-दत्तभोई, भिक्खु त्ति वच्चे।

ये 'भिक्षु' ऐसे समझे जाये जो निराभिमान हो किन्तु हीन भावनाओ से ग्रस्त न हो, दमितेन्द्रिय हो, मोक्षगमन योग्य हो, कायममत्वरहित हो, नाना प्रकार के परीषहो और उपसर्गो को समभावपूर्वक सहने वाला हो, अध्यात्मयोग से जिसका चारित्र शुद्ध हो, जो सच्चारित्र-पालन मे उद्यत हो, जिसकी आत्मा शुद्ध भाव मे स्थित हो, ससार की असारता जानता हो तथा जो परदत्तभोजी हो वह 'भिक्षु' कहे जाने योग्य है।

एत्थ वि णिग्गंथे-एगे, एगविऊ, बुद्धे, सछिण्णसोए, सुसंजते, सुसमिए, सुसामाइए, आयवायपत्ते, विऊ, दुहतो वि सोयपलिच्छिण्णे, णो पूया-सक्कार लाभट्ठी, धम्मट्ठी, धम्मविऊ, णियागपडिवण्णे, संमिय चरे, दंते, दविए, वोसट्ठकाए निग्गथे त्ति वच्चे।

ये 'निर्ग्रन्थ' ऐसे समझे जाय जो अकेला हो, जो एकवेत्ता हो, जो तत्वज्ञ हो, जिसने आस्रवो को रोक दिया हो, जो सुसयत हो, जो पाँचो समितियो से युक्त हो, सम्यक् समभाव वाला हो, जो आत्म स्वरूप का ज्ञाता हो, जो विद्वान हो, जो द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से इन्द्रियो का संयम करने वाला हो, जो पूजा सत्कार एवं द्रव्यादि के लाभ का अभिलाषी नही हो, जो धर्मार्थी और धर्मवेत्ता हो जिसने मोक्षमार्ग को सब प्रकार से स्वीकार कर लिया हो, जो सम्यग् आचरण करने वाला हो, वह दमितेन्द्रिय, मोक्षगमन के योग्य और शरीर के ममत्व से रहित 'निर्ग्रन्थ' कहे जाने योग्य है।

से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो त्ति बेमि।

—सूय. सु. १, अ. १६, सु. ६३२-६३७

इसे ऐसा ही जानो जो मैंने भगवान से सुना है।

चाई-अचाई लक्खणं—

७९. वत्थगंधमलकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से "चाइ" त्ति वुच्चइ॥

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वई।
साहिणे चयइ भोए, से हु "चाइ" त्ति वुच्चइ॥

—दस अ. २, गा २-३

त्यागी-अत्यागी के लक्षण—

७९. जो व्यक्ति परवश होने से या रोगादिग्रस्त होने से वस्त्र, गन्ध, अलंकार का तथा स्त्रियो का एवं शय्याओ का उपभोग नही करता, वह त्यागी नही कहलाता है।

किन्तु जो कान्त और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर उनकी ओर से पीठ फेर लेता है अर्थात् स्वेच्छा से भोगो का त्याग करता है वही त्यागी कहलाता है।

सुसाहु लक्खणाइं—

८०. एवं से संजते विमुत्ते निस्संगे निप्परिग्गहरुई निम्ममे, निन्नेह-बधणे, सव्वपावविरए।
वासी-चदण-समाणकप्पे, सम-तिण-मणि-मुत्ता-लेट्ठुकंचणे, समे य माणावमाणणाए, समियरए, समितरागदोसे, समिए समितीसु, सम्मदिट्ठी। समे य जे सव्वपाण-भूतेसु, से हु "समणे" सुयधारए उज्जुए सजए सुसाहू।

सरणं सव्वभूयाणं, सव्वजगवच्छले, सच्चभासगा य संसारंतट्ठिते य, ससार-समुछिन्ने, सततं मरणाणुपारए, पारगे य सव्वेसिं ससयाणं।

सुसाधु के लक्षण—

८० पूर्वोक्त अपरिग्रहव्रती सयमी साधु धन-धान्यादि का त्यागी आसक्ति रहित, अपरिग्रह मे रुचि वाला, ममत्व रहित, स्नेह बन्धन से मुक्त, समस्त पापो से निवृत्त, कुल्हाड़ी से काटे जाने पर या चन्दन से चर्चित करने पर समबुद्धि रखने वाला, तृण, मणि, मुक्ता मिट्टी के ढेले और सोने मे समानभाव रखने वाला, सन्मान और अपमान मे समता का धारक, पाप कर्म रूपी रज को शान्त करने वाला अथवा राग-द्वेष को शान्त करने वाला, पाँच समितियो से युक्त, सम्यग्दृष्टि और सब जीवो पर समभाव रखने वाला है, वही श्रमण है, श्रुत धारक है, सरल है, सयत है और सुसाधु है।

वह साधु समस्त प्राणियो के लिए शरणभूत है, समस्त जगद्वर्ती जीवो का हितैषी है, सत्यभाषी है, ससार के किनारे पर स्थित है, भवपरम्परा को नष्ट करने वाला है, निरन्तर होने वाले बाल मरण का पारगामी है और सब संशयो से रहित होगया है।

पवयणमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्मगठीविमोयके, अट्ठमयमहणे, ससमयकुसले य भवति, सुहदुक्खनिव्विसेसे।

जो आठ प्रवचनमाताओ के द्वारा आठ कर्मों की ग्रन्थि को नष्ट करने वाला है, आठ मदो का मथन करने वाला है और जो स्वसमय मे निष्णात है। वह सुख दुःख दोनो अवस्थाओ मे समान रहता है।

अब्भितर-बाहिरमि सया तवोवहाणमि य सुट्ठुजुत्ते, खते, दते य हियनिरते।

आभ्यन्तर और बाह्य तप रूप उपधान मे सम्यक् प्रकार से सदा उद्यत रहता है। क्षमावान्, इन्द्रियविजेता, स्व पर हित मे सलग्न रहता है।

ईरियासमिए, भासासमिए, एसणासमिए, आयाण-भड-मत्त-निक्खेवणासमिए, उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए, मणगुत्ते, वयगुत्ते, कायगुत्ते, गुत्तिदिए, गुत्तबंभयारी।

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणासमिति और मल-मूत्र-कफ-नासिकामल शरीरमल आदि के परिष्ठापना समिति से युक्त, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त, इन्द्रियो का गोपन करने वाला, ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करने वाला,

चाई, लज्जू, धन्ने, तवस्सी, खतिखमे, जिर्तिदिए, सोहिए, अणियाणे, अबहिल्लेसे, अममे, अकिंचणे, छिन्नगथे, निरुवलेवे। —पण्ह. सु २, अ ५, सु ६

समस्त परिग्रह का त्यागी, पाप से लज्जा करने वाला, धन्य, तपस्वी, क्षमागुण के कारण सहनशील, जितेन्द्रिय, सद्गुणो से सुशोभित, निदान से रहित, परिणामो को सयम परिधि से बाहर न जाने देने वाला, अभिमानसूचक शब्दो से रहित, सम्पूर्ण रूप से द्रव्य रहित, स्नेह बन्धन को काटने वाला और कर्म के उपलेप से रहित होता है।

जबू ! अपरिग्गह-सवुडे य समणे आरभ-परिग्गहाओ विरते, विरते कोह-माण-माया-लोभा,
एगे असजमे-जाव-तेत्तीसा आसायणा एक्कादिय करेत्ता एक्कुत्तरियाए वुड्ढिए तीसाओ-जाव-उ भवे तिगाहिया, विरतिपणिहीसु अविरतीसु य, एवमाइएसु बहुसु ठाणेसु जिण-पसत्थेसु, अवितहेसु सासयभावेसु अवट्ठिएसु सक कख निराकरेत्ता सद्दहए सासण भगवओ अणियाणे अगारवे अलुद्धे अमूढ-मण-वयण-कायगुत्ते। —पण्ह. सु २, अ ५, सु. १

हे जम्बू ! अपरिग्रह से संवृत श्रमण आरम्भ परिग्रह से विरत होता है, क्रोध, मान, माया, लोभ से विरत होता है, एक प्रकार का असयम—यावत्—तेत्तीस प्रकार की असातना इस प्रकार एक से लेकर तेत्तीस संख्या तक के स्थानो मे हिंसा आदि आस्रव स्थानो और संयम स्थानो मे जो कि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट, शाश्वत, अवस्थित भाव हैं उन मे शंका कांक्षा को दूर करके भगवान के शासन मे शुद्ध श्रद्धा रखता है। निदान रहित, गर्व रहित, आसक्ति रहित और मूढता रहित होकर मन वचन काया को गुप्त रखता है।

गामे-गामे एगराय, नगरे-नगरे य पचरायं दुइज्जते य जिइंदिए जितपरीसहे निब्भओ, विऊ सचित्ताचित्त-मीसकेहिं दव्वेहिं विरागंगते, संचयातो विरए, मुत्ते लहुके, निरवकखे जीविय-मरणास-विप्पमुक्के, निस्सध निव्वण चरित्ते, धीरे काएण फासयते, अज्झप्पज्झाणजुत्ते निहुए, एगे चरेज्ज धम्म। —पण्ह सु. २, अ. ५, सु ११

वह अनगार, गाँवो मे एक रात्रि और नगरो मे पाँच रात्रि तक निवास करने वाला, जितेन्द्रिय, परीषहो को जीतने वाला, निर्भय, विद्वान, सचित्त-अचित्त और मिश्र द्रव्यो में वैराग्यवान, सग्रह से विरत, मुक्त, परिग्रह के भार से हल्का, आकांक्षा रहित जीवन मरण की आशा से मुक्त, सधि और व्रण रूप दोष से रहित चारित्र वाला, धैर्यवान्, शरीर से चारित्र का पालन करने वाला, सदा अध्यात्म ध्यान से युक्त, उपशान्त, अकेला अर्थात् रागद्वेष रहित होकर धर्म का आचरण करे।

भिक्खुस्स लक्खणाइ—

८१. निक्खम्ममाणाए बुद्धवयणे, निच्च चित्तसमाहिओ भवेज्जा।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंत नो पडियायइ जे स भिक्खू॥

भिक्षु के लक्षण—

८१. जो तीर्थंकर के उपदेश से संयम ग्रहण कर सदा प्रसन्नचित वाला होता है, जो स्त्रियो के वशीभूत नही होता है, जो त्यक्त भोगो का पुन सेवन नही करता है, वह भिक्षु है।

पुढवी न खणे न खणावए, सीओदग न पिए न पियावए।
अगणिसत्थ जहा सुनिसियं, तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥

अनिलेण न वीए वीयावए, हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीयाणि सया विवज्जयंतो, सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥

वहणं तस-थावराणं होइ, पुढवितणकट्ठनिस्सयाणं।
तम्हा उद्देसिय न भुंजे, नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ॥

रोइय नायपुत्तवयणे, अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पच य फासे महव्वयाइ, पंचासवसंवरे जे स भिक्खू ॥

चत्तारि वमे सया कसाए धुवयोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
अट्ठणे निज्जायरूव-रयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे सजमे य।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकाय सुसवुडे जे स भिक्खू ॥

— दस अ १०, गा. १-७

न य वुग्गहिय कह कहेज्जा, न य कुप्पे निहूइदिए पसंते।
संजमधुवजोगजुत्ते, उवसते अविहेडए जे स भिक्खू ॥

—दस. अ. १०, गा. १०

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे,
अन्नाय-उछं पुलनिप्पुलाए।
कय-विक्कय-सन्निहिओ विरए,
सव्व-सगावगए य जे स भिक्खू ॥

अलोल भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उंछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढि च सक्कारण पूयणं च,
चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ॥
न परं वएज्जासि अय कुसीले,
जेणऽन्ना कुप्पेज्ज न त वएज्जा।
जाणिय पत्तेय पुण्णपाव,
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥

—दस. अ. १०, गा १६-१८

जो पृथ्वी का खनन न करता है और न कराता है, जो शीतोदक (सचित्त जल) न पीता है और न पिलाता है, सुतीक्ष्ण शस्त्र के समान अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है।

जो पखे आदि से हवा न करता है और न कराता है, जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है, जो बीजो के स्पर्श आदि का सदा विवर्जन करता है, जो सचित्त पदार्थों का आहार नही करता है—वह भिक्षु है।

भोजन वनाने मे पृथ्वी, तृण और काष्ठ के आश्रय मे रहे हुए त्रस स्थावर जीवो का वध होता है, अत जो औद्देशिक (अपने निमित्त) का बना हुआ नही खाता तथा जो स्वयं न पकाता है और न दूसरो से पकवाता है—वह भिक्षु है।

जो ज्ञातपुत्र के वचन मे श्रद्धा रखकर छह काय के जीवो को आत्मा के समान समझता है, पाँच महाव्रतो का पालन करता है और पाँच आस्रवो का परित्याग करता है—वह भिक्षु है।

जो चारो कषायो का परित्याग करता है, निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे नियमित रूप से प्रवृत्ति करने वाला है, धन-सोना-चाँदी आदि से रहित है और (क्रय-विक्रय आदि) गृहस्थ के कार्यों का त्यागी है—वह भिक्षु है।

जो सम्यक्दर्शी है, सदा अमूढ है, ज्ञान, तप और सयम के अस्तित्व मे आस्थावान् है, जो तप के द्वारा पुराने पापो को नष्ट कर देता है और मन वचन तथा काया से सुसवृत है - वह भिक्षु है।

जो कलहकारी कथा नही करता, किसी पर क्रोध नही करता, इन्द्रियो को चंचल नही होने देता, सदा प्रशान्त रहता है, सयम मे तीनो योगो को नियमित रूप से जोडता है, उपशान्त है, दूसरो को तिरस्कृत नही करता—वह भिक्षु है।

जो मुनि वस्त्रादि उपधि मे ममत्व नही रखता है पदार्थों मे आसक्त नही होता है, अज्ञात कुलो से थोडा-थोडा आहार लेता है, सयम को असार करने वाले दोषो से रहित है, क्रय-विक्रय और सन्निधि से विरत है, सव प्रकार के कर्म वध के स्थानो से रहित है—वह भिक्षु है।

जो भिक्षु अलोलुप है, रसो मे गृद्ध नही है, अज्ञात कुलो से थोडी-थोडी भिक्षा लेता है, असयमी जीवन की आकाक्षा नही करता है, ऋद्धि, सत्कार और पूजा की आकाक्षा नही रखता है, स्थितात्मा है. अपनी शक्ति का गोपन नही करता है—वह भिक्षु है।

प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं – ऐसा जानकर जो दूसरे को "यह कुशील है" ऐसा नही कहता है और जिससे दूसरा कुपित हो ऐसी वात नही कहता है, जो अपनी विशेषताओ पर अहकार नही करता है—वह भिक्षु है।

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥

जो महामुनि शुद्ध धर्म का उपदेश करता है, स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरो को भी धर्म मे स्थित करता है, प्रव्रजित होकर कुशील आचार का वर्जन करता है, जो दूसरो को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नही करता है—वह भिक्षु है।

न देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्च हियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स बंधणं,
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥
—दस. अ १०, गा २०-२१

अपनी आत्मा को सदा हित मे स्थापित रखने वाला भिक्षु अशुचिमय नश्वर देहवास को सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म-मरण के बन्धन को काटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं,
सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने।
संथवं जहिज्ज अकामकामे,
अन्नायएसी परिव्वए स भिक्खू ॥

"धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का आचरण करूँगा"—जो ऐसा संकल्प करता है, ज्ञानादि से सहित है, जिसका अनुष्ठान सरलता से युक्त है, निदान से रहित है, जो परिचय का त्याग करता है, काम-भोगो की अभिलाषा को छोड चुका है अथवा मोक्ष की कामना करने वाला है, अज्ञात कुल मे भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरण करने वाला है—वह भिक्षु है।

राओवरयं चरेज्ज लाढे,
विरए वेयवियायरक्खिए।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी,
जे कम्हिंवि न मुच्छिए स भिक्खू ॥

जो राग से रहित और सदनुष्ठान पूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, सिद्धान्त का वेत्ता, आत्मरक्षक, बुद्धिमान हो तथा परीषहो को जीतकर सर्व प्राणियो को अपने समान देखने वाला हो और किसी भी पदार्थ मे आसक्त नही होता है—वह भिक्षु है।

अक्कोसवहं विइत्तु धीरे
मुणी चरे लाढे, निच्चमायगुत्ते।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

जो धीर मुनि आक्रोश और वध आदि परीषहो को अपने कर्मो का फल जानकर शान्त भाव से सहन करता है, नित्य आत्मगुप्त होकर सदनुष्ठानपूर्वक विचरण करता है तथा आकुलता और हर्ष से रहित होकर सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है।

पन्तं सयणासणं भइत्ता,
सी-उण्हं विविहं च दंसमसगं।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे,
जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

साधारण शय्या और आसन आदि प्राप्त होने पर तथा सर्दी गर्मी, डास और मच्छरो का उपसर्ग होने पर जो आकुलता और हर्ष से रहित होकर सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है।

नो सक्कियमिच्छई न पूयं,
नो वि य वन्दणगं कुओ पसंसं।
से संजए सुव्वए तवस्सी,
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

जो सत्कार, पूजा और वन्दना की इच्छा नही करता और प्रशंसा को भी नही चाहता। जो संयत सुव्रती, तपस्वी ज्ञानादि से युक्त है तथा आत्म-गवेषक है—वह भिक्षु है।

जेण पुण जहाइ जीवियं,
मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी,
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥

जिसके संयोग मात्र से संयम-जीवन छूट जाता है और सम्पूर्ण मोह की प्राप्ति हो जाती है वैसे स्त्री पुरुष की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड देता है और कौतुहल को प्राप्त नहीं होता है—वह भिक्षु है।

छिन्नं, सरं भोमं, अन्तलिक्खं,
सुमिणं, लक्खणदण्डवत्थुविज्जं।
अंगवियारं सरस्स विजयं,
जो विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥

जो छिन्न विद्या, स्वर विद्या, भूकम्प विद्या, अन्तरिक्ष विद्या, स्वप्न विद्या, लक्षण विद्या, दण्ड विद्या, वास्तु विद्या, अंग स्फुरण विद्या और शब्द विद्या आदि इन विद्याओ के द्वारा जो आजीविका नही करता है—वह भिक्षु है।

मन्तं मूल विविहं वेज्जचिन्तं,
वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च,
त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥
खत्तियगणउग्गरायपुत्ता,
माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं,
त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥
गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा,
अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा,
जो संथवं न करेइ स भिक्खू॥
सयणासणपाणभोयणं,
विविह खाइमं साइमं परेसिं।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे,
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू॥
जं किंचि आहारपाणग,
विविह खाइम साइमं परेसिं लद्धुं।
जो तं तिविहेण नाणुकम्पे,
मणवयकाय-सुसंवुडे स भिक्खू॥
आयामग चेव जवोदणं च,
सीयं च सोवीर जवोदगं च।
नो हीलए पिण्डं नीरस तु,
पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू॥
सद्दा विविहा भवन्ति लोए,
दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा।
भीमा भयभेरवा उराला,
जो सोच्चा न विहिज्जई स भिक्खू॥
वादं विविहं समिच्च लोए,
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी उवसन्ते,
अविहेडए स भिक्खू॥
असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते,
जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी चेच्चा,
गिहं एगचरे स भिक्खू॥
—उत्त अ. १५, गा. १-१६

जो मन्त्र प्रयोग, जडी बूंटी प्रयोग अनेक प्रकार की चिकित्सा वमन, विरेचन, धूम्र प्रयोग, मन्त्रित जल से स्नान प्रयोग तथा रोगातुर होने पर स्वजन की शरण व चिकित्सा—इनका परित्याग कर जो सयम मार्ग मे विचरण करता है—वह भिक्षु है।

क्षत्रिय राजा, गणराजा, आरक्षकादि कुल, ब्राह्मण, भोगकुल के पुत्र, विविध प्रकार के शिल्पी, उनकी जो श्लाघा और पूजा नही करता है किन्तु उनका परित्याग कर जो संयम मार्ग मे विचरण करता है—वह भिक्षु है।

जो गृहस्थ प्रव्रजित होने के पश्चात् परिचय मे आये हो अथवा गृहस्थ अवस्था के परिचित हो उनके साथ इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिए जो परिचय नही करता—वह भिक्षु है।

शयन, आसन, पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य गृहस्थ न दे तथा माँगने पर भी इन्कार हो जाये, उस स्थिति मे जो निर्ग्रन्थ प्रद्वेष न करे—वह भिक्षु है।

गृहस्थो से जो कुछ आहार, पानी और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो मन, वचन, काया से अनुकम्पित न हो अर्थात् विचलित न हो और जो मन, वचन, काया से सुसवृत रहे—वह भिक्षु है।

ओसामन, जौ का दलिया, ठण्डा वासी आहार, काजी का पानी, जौ का पानी, ऐसी नीरस भिक्षा की जो निन्दा नही करता, अपितु जो सामान्य घरो मे भिक्षा के लिए जाता है—वह भिक्षु है।

लोक मे देवता, मनुष्य और तिर्यंचो के अनेक प्रकार के रौद्र, अत्यन्त भयकर और अद्भुत शब्द होते हैं, उन्हे सुनकर जो नही डरता है—वह भिक्षु है।

लोक मे विविध प्रकार के वादो को जान कर ज्ञानादि से युक्त होकर सयम का पालन करते हुए जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है, जो प्राज्ञ है, परीषहो को जीतने वाला है और सब जीवो को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करने वाला है—वह भिक्षु है।

जो शिल्प-जीवी नही होता हैं, जिसके घर नही होता है, जिसके मित्र नही होते, जो जितेन्द्रिय होता है, सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है, जिसका कषाय मन्द होता है, जो थोड़ा और निस्सार भोजन करता है, जो घर को छोड अकेला विचरता है—वह भिक्षु है।

हिरण्ण जायरूव च, मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए॥
—उत्त. अ. ३५, गा. १३

क्रय और विक्रय से निवृत्त, मिट्टी के ढेले और सोने को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे।

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहाकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिणिव्वुडा ॥
—सूय. सु. १, अ २, उ.१, गा १२

जो हिंसा आदि से विरत है, क्रोध-माया आदि कषायो का विदारण करने के कारण वीर है और मोक्षमार्ग मे उद्यत है। जो मन-वचन-काय से सर्वथा प्राणी हिंसा से उपरत हैं, वे पापो से रहित मुक्त जीवो के समान ही परिशान्त हैं।

सीओदग पडिदुगुंछिणो, अपडिण्णस्स लवावसक्किणो।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजइ ॥
—सूय सु १, अ २, उ. २, गा. २०

जो साधु अचित्त जल से घृणा करता है, दु सकल्प या निदान नही करता है, कर्मबन्धन से दूर रहता है तथा जो गृहस्थ के बर्तन मे भोजन नही करता है उसे सर्वज्ञो ने सामायिक चारित्र-वान् अर्थात् सयमी कहा है।

महेसिणं लक्खणाइं—

८२ परीसहरिऊदंता, धुयमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥
—दस अ. ३, गा. १३

महर्षि के लक्षण—

८२. परीषहरूपी शत्रुओ का दमन करने वाले, अज्ञान का नाश करने वाले, जितेन्द्रिय, महर्षि सर्व दु खो के नाश के लिए पराक्रम करते हैं।

मुणीणं लक्खणाइं—

८३. अकरिस्सं च हं, कारवेसुं च हं,
करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि[1]।
एयावंति सव्वावंति लोगंसि,
कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥

अपरिण्णायकम्मे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा, अणुसंचरति, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेइ, अणेगरूवाओ जोणीओ संधेति, विरूवरूवे फासे य, पडिसंवेदयति।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता।

इमस्स चेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाइ-मरण-मोयणाए,
दुक्खपडिग्घायहेउं।
एतावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति।
जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे त्ति बेमि।
—आ. सु. १, अ. १, उ १, सु. ४-९

एवं से उट्ठिते ठितप्पा अणिहे अचले चले अबहिलेस्से परिव्वए।

मुनियो के लक्षण—

८३ मैंने क्रिया की थी, मैं क्रिया करवाता हूँ, मैं क्रिया करने वाले का अनुमोदन करूँगा।

समस्त लोक मे कर्मबन्ध के हेतुभूत क्रियाएँ इतनी ही जाननी चाहिये।

जो पुरुष क्रियाओ के यथार्थ स्वरूप को भलीभाँति नही जानता है, वह दिशाओ विदिशाओ मे परिभ्रमण करता है, सभी दिशाओ विदिशाओ मे कर्मों के साथ जाता है। अनेक प्रकार की जीवयोनियो को प्राप्त होता है। विविध प्रकार के दु खो का सवेदन करता है।

कर्मबन्धन के कारणो के विषय मे भगवान ने यह उपदेश दिया है कि सासारिक प्राणी—

(१) वर्तमान जीवन निर्वाह के लिए,
(२) प्रशसा, सम्मान व पूजा के लिए,
(३) जन्म मरण से मुक्त होने के लिए,
(४) दु ख के प्रतिकार के लिए, पाप क्रियाएँ करते हैं।

समस्त लोक मे ये सभी कर्म समारम्भ जानने योग्य और त्यागने योग्य होते है।

लोक मे ये जो कर्म समारम्भ हैं इन्हे जो जान लेता है और त्याग देता है, वह परिज्ञातकर्मा मुनि होता है।

वह उत्थित, स्थितात्मा, स्नेह रहित, अविचल, चल, अध्यवसाय को संयम से बाहर न ले जाने वाला मुनि अप्रतिबद्ध होकर सयम मे विचरण करे।

---

१ आदि मध्य तथा अन्त की क्रिया मे यहाँ नव क्रियाएँ समझनी चाहिए।

१. मैंने क्रिया की थी,	२. कराई थी,	३. अनुमोदन किया था,
४ मैं क्रिया करता हूँ,	५ कराता हूँ,	६ अनुमोदन करता हूँ,
७ मैं क्रिया करूँगा,	८ कराऊँगा,	९ करने वाले का अनुमोदन करूँगा,

पाँचवी और नौवी क्रिया का निर्देश सूत्र मे हुआ है।

सखाय पेसल दिट्ठिमं परिणिव्वुडे ।

वह सम्यग्दृष्टि मुनि पवित्र उत्तम धर्म को सम्यक् रूप से जानकर कषायो को सर्वथा उपशान्त करे ।

तम्हा सगं ति पासहा ।

इसलिए तुम आसक्ति के विपाक को देखो ।

गंथेहिं गढिता णरा विसण्णा कामक्कता ।

परिग्रह में गृद्ध और उनमे निमग्न वने हुए मनुष्य काम-भोगो से आक्रान्त होते है ।

तम्हा लूहातो णो परिवित्तसेज्जा । जस्सिमे आरभा सव्वतो सव्वताए सुपरिण्णाता भवंति जस्सिमे लूसिणो णो परिवित्तसति, से वता कोध च माणं च मायं च लोभ च । एस तिउट्टे वियाहिते त्ति वेमि ।

इसलिए मुनि सयम से उद्विग्न न हो । जिन आरम्भो से हिंसक वृत्ति वाले मनुष्य उद्विग्न नही होते उन आरम्भो को जो मुनि सव प्रकार से सर्वात्मना भलीभाँति त्याग देते हैं । वे ही मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करने वाले होते है । वे ही मुनि ससार-शृखला को तोडने वाले कहलाते है ।

कायस्स वियावाए एस सगामसीसे वियाहिए । से हु पारंगमे मुणी ।

शरीर का विनाश (मृत्यु) कर्म-सग्राम का अग्रिम मोर्चा कहा गया है । इसमे पराजित नही होने वाला मुनि पारगामी होता है ।

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीते कखेज्ज कालं-जाव-सरीरभेदी त्ति वेमि ।

—आचा. सु १, अ ६, उ. ५, सु १९४-१९८

मुनि परीपहो से आहत होने पर भी लकडी के पाटिये की भाँति स्थिर रहकर मृत्युकाल निकट आने पर समाधिमरण की आकाक्षा करते हुए जव तक शरीर का आत्मा से वियोग न हो तव तक वह मरणकाल की प्रतीक्षा करे ।

सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरति ।

अज्ञानी सदा सोये रहते हैं और मुनि निरन्तर जागृत रहते हैं ।

लोगसि जाण अहियाय दुक्खं ।

इस बात को जानो कि लोक में अज्ञान अहित के लिए होता है ।

समय लोगस्स जाणित्ता एत्थ सत्योवरते ।

—आ सु १, अ. ३, उ. १, सु. १०६

मुनि सभी आत्माओ को समान जानकर उनकी हिंसा से उपरत रहे ।

जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमण्णागता भवंति से आतवं णाणवं वेयवं धम्मवं बंभव ।

जिस पुरुष ने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी आसक्ति का त्याग कर दिया है वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, शास्त्रज्ञ, धर्मवान् और ब्रह्मचारी होता है ।

पण्णाणेहिं परिजाणंति लोग, मुणी ति वच्चे धम्मविदु त्ति अंजू आवट्टसोए सगमभिजाणति ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ १, सु. १०७

जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है । वह धर्मवेत्ता और ऋजु होता है । वह आसक्ति को ससार भ्रमण का हेतु समझता है ।

संधिं लोगस्स जाणित्ता आयओ वहिया पास ।
तम्हा ण हंता ण विघातए ।

साधक धर्म के अवसर को जानकर अपनी आत्मा के समान ही वाह्य जगत के जीवो को देखे । (कि सभी जीवो को सुख प्रिय है और दु ख अप्रिय है ।) इसलिए किसी भी जीव का हनन न करे और न दूसरो से हनन करवाये ।

जमिण अण्णमण्णवितिगिंछाए पडिलेहाए ण करेति पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं सिया ?

—आ सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२२

जो व्यक्ति परस्पर आशंका भय एव लज्जा के कारण पाप कर्म नही करता है, तो क्या यह भी मुनित्व का कारण है ? अर्थात् नही है ।

अलोलुए अक्कुहए अमाई,
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती ।
नो भावए नो वि य भावियप्पा,
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥

जो साधु रस लोलुप नही होता, इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नही करता, माया नही करता, चुगली नही करता, दीन भावना से याचना नही करता, दूसरो से आत्म-श्लाघा नही करवाता, स्वय भी आत्मश्लाघा नही करता और जो कुतूहल नही करता, वह पूज्य है ।

गुणेहि साहू अगुणेहऽसाहू,
गिण्हाहि साहू गुणमुंचऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएण,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥
तहेव डहर व महल्लग वा,
इत्थी पुमं पव्वइय गिहि वा ।
नो हीलए नो वि य खिसएज्जा,
थंभं च कोह च चए स पुज्जो ॥
—दस अ ९, उ ३, गा. १०-१२

मनुष्य गुणो से साधु होता है और अवगुणो से असाधु होता है। इसलिए साधु के गुणो को ग्रहण करना चाहिए और अवगुणो को छोड देना चाहिए। अपनी ज्ञान-आत्मा के द्वारा आत्मा को वोधित कर जो राग-द्वेष मे समभाव रखता है, वह पूज्य है।

जो साधु वालक या वृद्ध की, स्त्री या पुरुष की, साधु या गृहस्थ की हीलना खिसना नही करता है, गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है।

अमुणी-मुणी सरूवं—

८४. दुव्वसु मुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाति वत्तए ।

अमुनि तथा मुनि का स्वरूप—

८४. जो मुनि वीतराग की आज्ञा का पालन नही करता वह सयम-धन से रहित होता है, वह चारित्र से तुच्छ (हीन) होने के कारण धर्म का कथन करने मे लज्जा का अनुभव करता है।

एस वीरे पसंसिए अच्चेति लोगसंजोग । एस णाए पवुच्चति ।

वही वीर पुरुष सर्वत्र प्रशसा प्राप्त करता है जो लोक सयोग से दूर हट जाता है वही नायक (अन्य को मोक्ष की ओर ले जाने वाला) कहलाता है।

जं दुक्ख पवेदितं इह माणवाण तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति इति कम्म परिण्णाय सव्वसो ।

इस ससार मे मनुष्यो के जो दुःख वताये हैं, कुशल पुरुष उन दुःखो से मुक्त होने का मार्ग वताते हैं कि सब प्रकार के कर्म वन्ध के कारणो को जानकर उनका त्याग करना चाहिये।

जे अणण्णदसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से, जे अणण्णदंसी । —आ सु १, अ. २, उ. ६, सु. १००-१०१

जो स्वय की आत्मा को देखता है, वह आत्मा मे रमण करता है। जो आत्मा मे रमण करता है, वह अपनी आत्मा को देखता है।

सजयमणुस्साण सुत्ताणं पच जागरा पण्णत्ता, त जहा—
(१) सद्दा, (२) रूवा, (३) गधा (४) रसा, (५) फासा ।
सजयमणुस्साण जागराणं पच सुत्ता पण्णत्ता, त जहा—
(१) सद्दा, (२) रूवा, (३) गधा, (४) रसा, (५) फासा ।
असजयमणुस्साण सुत्ताण वा जागराण वा जागरा पण्णत्ता, त जहा—
(१) सद्दा, (२) रूवा, (३) गधा, (४) रसा, (५) फासा ।
—ठाण अ ५, उ २, सु. ४२२

सयत मनुष्य सुप्त होते हैं तव उनके पाँच जागृत होते हैं—
(१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस, (५) स्पर्श ।
सयत मनुष्य जागृत होते हैं तव उनके पाँच सुप्त होते हैं—
(१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस, (५) स्पर्श ।
असंयत मनुष्य सुप्त हो या जागृत फिर भी उनके पाँच जागृत होते हैं—
(१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस, (५) स्पर्श ।

अणत्तवओ अत्तवओयणा—

८५ छठाणा अणत्तवओ अहिताए असुभाए अखमाए अणीसेसाए अणाणुगामियत्ताए भवति, तं जहा—
(१) परियाए, (२) परियाले, (३) सुते,
(४) तवे, (५) लाभे, (६) पूयासक्कारे ।
छट्ठाणा अत्तवतो हिताए सुभाए खमाए णीसेसाए आणुगामियत्ताए भवति, त जहा—
(१) परियाए, (२) परियाले, (३) सुते,
(४) तवे, (५) लाभे, (६) पूयासक्कारे ।
—ठाण. अ. ६, सु. ४९९

अनात्मवान और आत्मवान—

८५ अनात्मवान के लिए छह स्थान—अहित, अशुभ, अक्षम, अनिःश्रेयस तथा अनानुगामिकता (अशुभ अनुवन्ध) के हेतु होते हैं—
(१) पर्याय—अवस्था या दीक्षा मे वडा होना, (२) परिवार (३) श्रुत, (४) तप, (५) लाभ, (६) पूजा-सत्कार ।
आत्मवान के लिए छह स्थान हित, शुभ, क्षम, निःश्रेयस तथा आनुगामिकता के हेतु होते हैं—
(१) पर्याय, (२) परिवार, (३) श्रुत,
(४) तप, (५) लाभ, (६) पूजा-सत्कार ।

अणगार गुणा—

८६ सत्तावीस अणगारगुणा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) पाणातिवातवेरमणे, (२) मुसावाए वेरमणे,
(३) अदिण्णादाण वेरमणे, (४) मेहुण वेरमणे,
(५) परिग्गह वेरमणे, (६) सोइंदिय निग्गहे,
(७) चक्खिंदियनिग्गहे, (८) घाणिंदिय निग्गहे,
(९) जिब्भिंदियनिग्गहे, (१०) फासिंदिय निग्गहे,
(११) कोहविवेगे, (१२) माणविवेगे,
(१३) मायाविवेगे, (१४) लोभ विवेगे,
(१५) भावसच्चे,
(१६) करण सच्चे,
(१७) जोगसच्चे
(१८) खमा, (१९) विरागता,
(२०) मणसमाहरणता,
(२१) वइसमाहरणता, (२२) कायसमाहरणता,
(२३) णाणसंपण्णया, (२४) दंसण सपण्णया,
(२५) चरित्तसपण्णया, (२६) वेयणअहियासयणया,
(२७) मारणंतियअहियासणया। — सम. सम. २७, सु. १

अणगार के गुण—

८६. मुनि के सत्ताईस गुण कहे गये हैं, यथा—

(१) प्राणातिपात विरमण, (२) मृषावाद विरमण,
(३) अदत्तादान विरमण, (४) मैथुन विरमण,
(५) परिग्रह विरमण, (६) श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह,
(७) चक्षुइन्द्रिय निग्रह, (८) घ्राणेन्द्रिय निग्रह,
(९) रसनेन्द्रिय निग्रह, (१०) स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह,
(११) क्रोध विवेक, (१२) मान विवेक,
(१३) माया विवेक, (१४) लोभ विवेक,
(१५) भाव सत्य (अन्तरात्मा की पवित्रता),
(१६) करण सत्य (क्रिया को सम्यक् प्रकार से करना)
(१७) योग सत्य (मन, वचन, काया का सम्यक् प्रवर्तन)
(१८) क्षमा, (१९) वैराग्य,
(२०) मन समाहरण (मन का सकोचन)
(२१) वचन समाहरण, (२२) काय समाहरण,
(२३) ज्ञान सम्पन्नता, (२४) दर्शन सम्पन्नता,
(२५) चारित्र सम्पन्नता, (२६) वेदना सहन करना,
(२७) मारणान्तिक कष्ट सहन करना।

मडाई णियंठ सरूवं—

८७ प०—मडाई णं भंते! नियंठे णो निरुद्धभवे, णो निरुद्धभवपवचे, णो पहीणससारे, णो पहीणसंसारवेअणिज्जे, णो वोच्छिन्नसंसारे, णो वोच्छिन्नससारवेअणिज्जे, नो निट्ठियट्ठे, नो निट्ठियट्ठकरणिज्जे पुणरवि इत्तत्थ हव्व आगच्छइ?

उ०—हता गोयमा! मडाई णं नियठे-जाव-पुणरवि इत्तत्थं हव्वं आगच्छइ। —वि स. २, उ १, सु. ८-९

प०—से णं भते! किं त्ति वत्तव्वं सिया?

उ०—गोयमा! "पाणे" त्ति वत्तव्वं सिया,
"भूए" त्ति वत्तव्व सिया,
"जीवे" त्ति वत्तव्व सिया,
"सत्ते" त्ति वत्तव्व सिया,
"विण्णू" त्ति वत्तव्वं सिया,
"वेदे" त्ति वत्तव्वं सिया,
पाणे, भूए, जीवे, सत्ते, विण्णू वेदे ति वत्तव्वं सिया!

प० - से केणट्ठेण भते! पाणे त्ति वत्तव्वं सिया-जाव-वेदे त्ति वत्तव्वं सिया?

मृतादि निर्ग्रन्थ का स्वरूप—

८७. प्र०—भगवन्! जिसने ससार का निरोध नही किया है, ससार के प्रपचो का निरोध नही किया है, ससार को क्षीण नही किया है, ससार वेदनीय कर्म को क्षीण नही किया है, जिसका संसार व्युच्छिन्न नही हुआ है, संसार वेदनीय कर्म व्युच्छिन्न नही हुआ है, जिसका प्रयोजन सिद्ध नही हुआ है, जिसका कार्य पूर्ण नही हुआ है, ऐसा प्रासुक आहार करने वाला अनगार क्या पुन शीघ्र मनुष्यभव आदि भावो को प्राप्त करता है?

उ०—हाँ गौतम! ऐसा प्रासुक भोजी अनगार—यावत्—पुन शीघ्र मनुष्यभव आदि भावो को प्राप्त करता है।

प्र०—भन्ते! उसे किस शब्द से कहा जाये?

उ०—गौतम! वह "प्राण" ऐसा कहा जा सकता है,
"भूत" ऐसा कहा जा सकता है,
"जीव" ऐसा कहा जा सकता है,
"सत्व" ऐसा कहा जा सकता है,
"विज्ञ" ऐसा कहा जा सकता है,
"वेद" ऐसा कहा जा सकता है,

तथा एक साथ प्राण, भूत, जीव, सत्व, विज्ञ और वेद भी कहा जा सकता है।

प्र०—भन्ते! किस कारण से उसे प्राण—यावत्—वेद कहा जा सकता है?

उ०—गोयमा ! जम्हा आणमइ वा पाणमइ वा, उस्ससइ वा, णीससइ वा, तम्हा "पाणे" त्ति वत्तव्व सिया,

जम्हा भूते, भवति, भविस्सति य तम्हा "भूए" त्ति वत्तव्व सिया,

जम्हा जीवे जीवति, जीवत्त आउय च कम्म उवजीवति, तम्हा "जीवे" त्ति वत्तव्व सिया,

जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्मेहिं तम्हा "सत्ते" त्ति वत्तव्वं सिया,

जम्हा तित्त-कडुय-कसायविल-महुरे रसे जाणइ तम्हा 'विन्नू' त्ति वत्तव्वं सिया।

जम्हा वेदेइ य सुह-दुक्ख तम्हा 'वेदे' त्ति वत्तव्व सिया,

से तेणट्ठेण गोयमा ! 'पाणे" त्ति वत्तव्व सिया -जाव-वेदे त्ति वत्तव्वं सिया।

प०—मडाई णं भते ! नियठे निरुद्धभवे, निरुद्धभवपवचे -जाव-निट्ठिअट्ठकरणिज्जे णो पुणरवि इत्तत्थ हव्व आगच्छइ ?

उ०—हता गोयमा ! मडाई णं नियठे-जाव-नो पुणरवि इत्तत्थ हव्व आगच्छइ।

प०—से ण भते ! किं वत्तव्व सिया ?

उ०—गोयमा ! "सिद्धे" त्ति वत्तव्व सिया,
"बुद्धे" त्ति वत्तव्व सिया,
"मुत्ते" त्ति वत्तव्व सिया,

"पारगए" त्ति वत्तव्व सिया, "परम्परगए" त्ति वत्तव्वं सिया, सिद्धे, बुद्धे, मुत्ते, परिनिव्वुडे, अतकडे, सव्वदुक्खपहीणे त्ति वत्तव्व सिया, —वि. स २, उ. १, सु ८-९

उ०—गौतम ! क्योकि वह बाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास लेता है और छोडता है इस कारण "प्राण" कहा जा सकता है।

वह भूतकाल मे था, वर्तमान मे है और भविष्य मे रहेगा, इस कारण "भूत" कहा जा सकता है।

वह जीता है तथा जीवत्व का और आयुकर्म का अनुभव करता है, अतएव "जीव" कहा जा सकता है।

वह शुभ अशुभ कर्मो से सम्बद्ध है, अत "सत्त्व" कहा जा सकता है।

वह तीखा, कडवा, कषैला, खट्टा और मीठा इन रसो को जानता है, अत वह "विज्ञ" कहा जा सकता है।

वह सुख दु ख का वेदन करता है अत वह "वेद" कहा जा सकता है।

इस कारण से गौतम ! उसे 'प्राण'—यावत् - 'वेद' कहा जा सकता है।

प्रा० —भन्ते ! जो प्रासुक भोजी अनगार ससार का निरोध कर चुका है, भवप्रपच का निरोध कर चुका है—यावत्— जिसका कार्य पूर्ण हो चुका है, वह पुन मनुष्यत्व आदि भावो को प्राप्त नही करता हैं ?

उ०—गौतम ! ऐसा प्रासुक भोजी अनगार—यावत्— पुन मनुष्यत्व आदि भावो को प्राप्त नही करता।

प्र०—भन्ते ! उसे किस शब्द से कहना चाहिए ?

उ०—गौतम ! उसे "सिद्ध" कहा जा सकता है,
"बुद्ध" कहा जा सकता है,
"मुक्त" कहा जा सकता है, ससार के पार पहुँचा हुआ कहा जा सकता है,

अनुक्रम से ससार के पार पहुँचा हुआ कहा जा सकता है तथा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिवृत, अन्तकृत और सब दु खो का नाश करने वाला कहा जा सकता है।

निग्गंथाणं पसत्थ लक्खणा—

८८ प०—से नूण भते ! लाघविय अप्पिच्छा [अमुच्छा अगेही अपडिवद्धया समणाण णिग्गंथाण पसत्थ ?

उ०—हता, गोयमा ! लाघविय-जाव-अपडिवद्धया समणाण निग्गंथाण पसत्थं।

प०—से नूण भते ! अकोहत्त अमाणत्तं अमायत्त अलोभत्त समणाण निग्गथाण पसत्थं ?

उ०—हता, गोयमा ! अकोहत्तं-जाव-अलोभत्त समणाण निग्गथाणं पसत्थ।

प०—से नूणं भते ! कखा-पदोसे खीणे समणे निग्गथे अंतकरे भवति, अंतिमसरीरिए वा, बहुमोहे वि य ण

निर्ग्रन्थो के प्रशस्त लक्षण—

८८ भगवन् ! क्या लाघव, अल्प इच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति और अप्रतिवद्धता, ये श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त हैं ?

उ०—हां गौतम ! लाघव—यावत्—अप्रतिवद्धता ये श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त हैं।

प्र०—भगवन् ! क्रोधरहितता, मानरहितता, मायारहितता और अलोभत्व, क्या ये श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त हैं ?

उ०—हा गौतम ! क्रोधरहितता—यावत्—अलोभत्व, ये सब श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त हैं।

प्र०—भगवन् ! क्या काक्षाप्रदोप क्षीण होने पर श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्तकर अथवा अन्तिम शरीरी (चरम) होता है ? अथवा

पुव्वि विहरित्ता अह पच्छा संवुडे कालं करेति तओ पच्छा सिज्झति-जाव-अंतं करेइ ?

पूर्वावस्था मे बहुत मोहवाला होकर विहरण करे और फिर संवरयुक्त होकर मृत्यु प्राप्त करे, तो क्या तत्पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है—यावत्—सब दु खो का अन्त करता है ?

उ०—हता, गोयमा ! कंखा-पदोसे खीणे-जाव-सव्व दुक्खाण-मन्त करेति। —विया. स १, उ. ९. सु. १६-१९

उ०—हाँ गौतम ! काक्षाप्रदोष नष्ट हो जाने पर—यावत्—सब दु खो का अन्त करता है।



संयमी की विभिन्न उपमाएँ—५

समणोवमाओ—

८९ एवं से संजए विमुत्ते निस्संगे-जाव-निरुवलेवे,

१. सुविमलवर-कंसभायणं व मुक्कतोए,

२ संखे विव निरंजणे विगय-राग-दोस-मोहे।

३ कुम्मे इव इंदिएसु गुत्ते।

४ जच्चकचणं व जायरूवे।

५ पोक्खरपत्त व निरूवलेवे।

६ चन्दे इव सोमभावयाए।

७ सूरोव्व दित्ततेए।

८. अचले जह मन्दरे गिरिवरे।

९. अक्खोभे सागरोव्व थिमिए।

१०. पुढवी व सव्वफास-विसहे।

११ तवसा वि व भासरासिछन्निव्वजाततेए।

१२. जलियहुयासणे विव तेयसा जलंते।

१३. गोसीसचदण पि व सीयले सुगधे य।

१४. हरय इव समियभावे।

१५. उग्घसियसुनिम्मल आयंसमंडलतल व पागडभावेणं सुद्धभावे।

१६. कुजरोव्व सोंडीरे।

१७. वसभे व्व जायथामे।

१८. सीहे व जहा मिगाहिवे होति दुप्पधरिसे।

१९. सारयसलिलं व सुद्धहियए।

श्रमण की उपमायें—

८९. इस प्रकार वह (अपरिग्रही सयमी) साधु धन आदि के लोभ से मुक्त, आसक्ति रहित—यावत्—कर्म या आसक्ति के लेप से रहित,

(१) निर्मल उत्तम कास्य भाजन के समान स्नेह वन्धन से रहित।

(२) शख के समान शुद्ध अर्थात् राग-द्वेष और मोह से रहित।

(३) कछुए के समान गुप्तेन्द्रिय।

(४) उत्तम स्वर्ण के समान शुद्ध अर्थात् दोष रहित।

(५) कमल के पत्ते के सदृश निर्लेप।

(६) चन्द्रमा के समान सौम्य स्वभाव वाला।

(७) सूर्य के समान देदीप्यमान तेज वाला।

(८) परीषह होने पर मन्दर पर्वत के समान अचल।

(९) सागर के समान क्षोभरहित एवं स्थिर।

(१०) पृथ्वी के समान समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल स्पर्शो को सहन करने वाला।

(११) भस्म राशि से आच्छादित अग्नि के समान तप तेज वाला।

(१२) प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्विता से देदीप्यमान।

(१३) गोशीर्ष चन्दन की तरह शीतल और शील के सौरभ से युक्त।

(१४) सरोवर के समान प्रशान्त स्वभाव वाला।

(१५) घिस कर चमकाए हुए निर्मल दर्पण तल के समान स्वच्छ एवं प्रकट भाव वाला।

(१६) गजराज की तरह शूरवीर।

(१७) वृषभ की तरह अगीकृत व्रत भार का निर्वाह करने वाला।

(१८) मृगाधिपति सिंह के समान परीषहादि से अजेय।

(१९) शरत्कालीन जल के सदृश स्वच्छ हृदय वाला।

२०. भारण्डे चेव अप्पमत्ते ।
(२०) भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त ।

२१ खग्गिविसाणं व एगजाते ।
(२१) गेंडे के सींग के समान अकेला ।

२२. खाणु चेव उड्ढकाए ।
(२२) स्थाणु (ठूंठ) की भाँति कायोत्सर्ग मे स्थित ।

२३ सुन्नागारे व्व अपडिकम्मे ।
(२३) शून्य गृह के समान शारीरिक साज सज्जा से रहित ।

२४. सुन्नागारावणस्सतो निवाय - सरण - प्पदीप-ज्झाणमिव निप्पकपे ।
(२४) वायुरहित शून्य घर मे स्थित प्रदीप की तरह ध्यान मे निश्चल ।

२५ जहा खुरो चेव एगधारे ।
(२५) छुरे की तरह धार वाला, अर्थात् एक उत्सर्गमार्ग मे ही प्रवृत्ति करने वाला ।

२६ जहा अही चेव एगदिट्ठी ।
(२६) सर्प के समान एकाग्र (मोक्ष) दृष्टि वाला ।

२७. आगासं चेव निरालम्बे ।
(२७) आकाश के समान किसी का सहारा न लेने वाला ।

२८ विहग विव सव्वओ विप्पमुक्के ।
(२८) पक्षी के सदृश पूर्ण निष्परिग्रही ।

२९ कयपरनिलए जह चेव उरए ।
(२९) सर्प के समान दूसरो के लिए निर्मित स्थान मे रहने वाला ।

३० अपडिबद्धे अनिलोव्व ।
(३०) वायु के समान प्रतिबन्ध से मुक्त ।

३१ जीवो व्व अप्पडिहयगतो ।[1]—प सु. २, अ ५, सु. १०
(३१) जीव के समान अप्रतिहत (बेरोकटोक) गति वाला ।

---

१ (क) से जहानामए अणगारा भगवतो इरियासमिता-जाव-निरुवलेवा,

१. कसपाई व मुक्कतोया,
२. सखो इव णिरगणा
३. जीवो इव अप्पडिहयगती,
४ गगणतल पि व निरालवणा,
५ वायुरिव अपडिवद्धा,
६ सारदसलिलं व सुद्धहियया,
७ पुक्खरपत्त व निरुवलेवा,
८ कुम्मो इव गुत्तिदिया,
९ विहग इव विप्पमुक्का,
१० खग्गविसाण व एगजाया,
११ भारडपक्खी व अप्पमत्ता,
१२ कुजरो इव सोडीरा,
१३ वसभो इव जातत्थामा,
१४ सीहो इव दुद्धरिसा,
१५ मदरो इव अप्पकपा,
१६ सागरो इव गभीरा,
१७ चदो इव सोमलेसा,
१८ सूरो इव दित्ततेया,
१९. जच्चकणग व जातरूवा,
२० वसुन्धरा इव सव्वफासविसहा,
२१ सुहुतहुयासणो विव तेयसा जलता । —सूय० सू० २, अ० २, सु० ७१४

(ख) से जहाणामए अणगारा भवति इरियासमिया-जाव-निरुवलेवा,

१ कसपाईव मुक्कतोया,
२ सख इव निरगणा,
३ जीवो इव अप्पडिहयगई,
४ जच्चकणग पिव जायरूवा,
५ आदरिसफलगा इव पागडभावा,
६. कुम्भो इव गुत्तिदिया,
७. पुक्खरपत्त व निरुवलेवा,
८. गगणमिव निरालवणा,
९ अणिलो इव निरालया,
१०. चंदो इव सोमलेसा,
११ सूरो इव दित्ततेया,
१२ सागरो इव गम्भीरा,
१३ विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का,
१४. मन्दरो इव अप्पकपो,
१५ सारयसलिलं इव सुद्धहियया,
१६. खग्गिविसाण इव एगजाया,
१७. भारडपक्खी व अप्पमत्तो,
१८ कुजरो इव सोडीरा,
१९. वसभो इव जायत्थामा,
२० सीहो इव दुद्धरिसा,
२१. वसुन्धरा इव सव्वफासविसहा,
२२. सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलता । —उव० सु० १७६

(ग) उव० सु० २७

(टिप्पण पृष्ठ ३२ से चालू)

तीनों आगमों में प्ररूपित इन उपमाओं के सख्या भेद और क्रम की तालिका—

प्रश्नव्याकरण सूत्र (३१)	सूत्रकृतांग सूत्र (२१)	औपपातिक सूत्र (२२)
१. कास्य पात्र	१ कास्य पात्र	१ कास्य पात्र
२. शंख	२ शख	२ शख
३. कूर्म	८ कूर्म	६ कूर्म
४ कनक	१९ कनक	४ कनक
५. पद्मपत्र	७ पद्मपत्र	७ पद्मपत्र
६. चन्द्र	१७ चन्द्र	१४ चन्द्र
७. सूर्य	१८ सूर्य	११ सूर्य
८. मदर पर्वत	१५ मदर पर्वत	१४ मदर पर्वत
९. सागर	१६ सागर	१२ सागर
१० पृथ्वी	२० पृथ्वी	२१ पृथ्वी
११ भस्माच्छादित अग्नि	—	—
१२. प्रज्वलित अग्नि	२१ प्रज्वलित अग्नि	२२ प्रज्वलित अग्नि
१३. चन्दन	—	—
१४ ह्लद (सरोवर)	—	—
१५ दर्पण	—	५ दर्पण
१६. कुंजर	१२ कुंजर	१८ कुजर
१७. वृषभ	१३ वृषभ	१९ वृषभ
१८ सिंह	१४ सिंह	२० सिंह
१९. शारद सलिल	६ शारद सलिल	१५ शारद सलिल
२०. भारंड पक्षी	११ भारड पक्षी	१७ भारड पक्षी
२१ गेंडा	१० गेंडा	१६ गेंडा
२२ स्थाणु	—	—
२३. शून्यागार	—	—
२४. दीपक	—	—
२५. क्षुर (उस्तरा)	—	—
२६. सर्प	—	—
२७. गगन	४ गगन	८ गगन
२८. विहग	९ विहग	१३ विहग
२९. उरग (सर्प)	—	—
३०. वायु	५ वायु	९ वायु
३१. जीव	३ जीव	३ जीव



सूरियसरिसो महेसी —

९० सन्नाणनाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउ धम्मसचय।
अणुत्तरनाणधरे जसंसी, आभासई सूरिए वऽन्तलिक्खे ॥
—उत्त. अ. ६१, गा. २३

सूर्य सदृश महर्षि—

९०. अनुत्तर चारित्र धर्म का आचरण करने वाला, सम्यग्ज्ञान से युक्त तथा अनुत्तर ज्ञानधारी, यशस्वी, महर्षि, अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति धर्म-सघ मे प्रकाशमान होता है।

पक्खी विव लहुभूयविहारी—

९१ भोगे भोच्चा वमित्ता य, लहुभूयविहारिणो।
आमोयमाणा गच्छन्ति, दिया कामकमा इव ॥
—उत्त अ १४, गा. ४४

पक्षी की तरह लघु-भूत विहारी—

९१ जो भोगो को भोगकर तथा यथावसर उनका त्याग करके लघुभूत होकर विचरण करते हैं। वे अपनी इच्छानुसार विचरण करने वाले पक्षियो की तरह साधुचर्या मे प्रसन्नतापूर्वक विचरण करते हैं।

विहग इव अपडिबद्ध विहारी—

९२ इयरो वि गुणसमिद्धो, तिगुत्तिगुत्तो तिदंडविरओ य।
विहग इव विप्पमुक्को, विहरइ वसुह विगयमोहो ॥
—उत्त अ, २०, गा. ६०

पक्षीवत् अप्रतिबन्धविहारी—

९२ गुणो से समृद्ध तीन गुप्तियो मे गुप्त, तीन दण्डो से विरत मुनि पक्षी की तरह प्रतिबन्धमुक्त तथा मोह रहित होकर भू-मण्डल पर विचरण करता है।

कुजर इव धीरो—

९३ परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहेज्ज भिक्खू, संगामसीसे इव नागराया ॥
—उत्त अ २१, गा. १७

हाथी के समान धैर्यवान—

९३ अनेक असह्य परीषह होने पर बहुत से कायर व्यक्ति खेद का अनुभव करते हैं किन्तु भिक्षु परीषह होने पर सग्राम मे आगे रहने वाले हाथी की तरह व्यथित नही होता है।

मेरु इव अकम्पो—

९४. पहाय राग च तहेव दोस, मोह च भिक्खू सयय वियक्खणो।
मेरुव्व वाएण अकपमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥
—उत्त. अ २१, गा. १९

मेरु के समान अकम्पमान—

९४ विचक्षण भिक्षु सतत राग-द्वेष और मोह को छोडकर वायु से अकपित मेरु की भाँति आत्मगुप्त बनकर परीषहो को सहन करे।

वसह इव ससार कंतार पारगामी—

९५ वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स, ससारो अइवत्तई ॥[1]
—उत्त. अ. २७, गा. २

वृषभ सम भवाटवी पारकर्ता—

९५ शकटादि वाहन को ठीक तरह वहन करने वाला बैल जैसे अटवी को सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह सयम भार का वहन करने वाला मुनि ससार को पार कर जाता है।



१ बहुश्रुत भिक्षु की उपमाएँ ज्ञानाचार (चरणानुयोग भाग १) पृ. १०९, सू. १६१ मे देखें।

संयम का उपदेश तथा विशिष्ट चर्याएँ—६

निग्गयस्स दुहसेज्जाओ—

९६ चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ तं जहा—

१. तत्थ खलु इमा पढमा दुहसेज्जा—

से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे संकिते कंखिते वितिगिच्छिते भेयसमावण्णे कलुससमावण्णे णिग्गथं पावयणं णो सद्दहति णो पत्तियति णो रोएइ, णिग्गथं पावयण असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावयं णियच्छति, विणिघातमावज्जति—पढमा दुहसेज्जा।

२. अहावरा दोच्चा दुहसेज्जा—

से ण मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए सएणं लाभेणं णो तुस्सति, परस्स लाभमासाएति पीहेति पत्थेति अभिलसति, परस्स लाभमासाएमाणे पीहेमाणे पत्थेमाणे अभिलसमाणे मणं उच्चावय णियच्छइ, विणिघातमावज्जति—दोच्चा दुहसेज्जा।

३ अहावरा तच्चा दुहसेज्जा—

से ण मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइए दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएइ पीहेति पत्थेति अभिलसति, दिव्वे माणुस्सए कामभोगे आसाएमाणे पीहेमाणे पत्थेमाणे अभिलसमाणे मण उच्चावयं णियच्छति, विणिघातमावज्जति—तच्चा दुहसेज्जा।

४. अहावरा चउत्था दुहसेज्जा—

से ण मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइए, तस्स णं एव भवति—

जया ण अहमगारवाससमावसामि तदाणमहं संवाहणपरिमद्दण-गातब्भग-गातुच्छोलणाइ लभामि, जप्पभिइं च णं अह मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइए तप्पभिइ च णं अहं सवग्हण-परिमद्दण-गातब्भंग गातुच्छोलणाइ णो लभामि।

से ण सवाहणं-परिमद्दण-गातब्भंग गातुच्छोलणाइं आसाएति पीहेति पत्थेति अभिलसति,

से णं संवाहण-परिमद्दणगातब्भंग-गातुच्छोलणाइं आसाएमाणे पीहेमाणे पत्थेमाणे अभिलसमाणे मण उच्चावय णियच्छति, विणिघातमावज्जति—चउत्था दुहसेज्जा।

—ठाण. अ. ४, उ. ३, सु. ३२५

निर्ग्रन्थ की दुःख शय्याएँ—

९६. चार दु ख शय्या हैं—

(१) पहली दु.खशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होकर, निर्ग्रन्थ प्रवचन मे शकित, काक्षित, विचिकित्सित भेद-समापन्न, कलुष समापन्न होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा नही करता, प्रतीति नही करता, रुचि नही करता, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन पर अश्रद्धा करता हुआ, अप्रतीति करता हुआ, अरुचि करता हुआ, मानसिक उतार-चढाव और विनिघात को प्राप्त होता है।

(२) दूसरी दु खशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होकर अपने लाभ (भिक्षा मे लब्ध आहार आदि) से सन्तुष्ट नही होकर दूसरे के लाभ का आस्वाद करता है, स्पृहा करता है, प्रार्थना करता है, अभिलाषा करता है, वह दूसरे के लाभ का आस्वाद करता हुआ, स्पृहा करता हुआ, अभिलाषा करता हुआ, मानसिक उतार-चढाव और विनिघात को प्राप्त होता है।

(३) तीसरी दु खशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होकर देवताओ तथा मनुष्यो के काम-भोगो का आस्वादन करता है, स्पृहा करता है, प्रार्थना करता है, अभिलाषा करता है, वह उनका आस्वाद करता हुआ, स्पृहा करता हुआ, प्रार्थना करता हुआ, अभिलाषा करता हुआ मानसिक उतार-चढाव और विनिघात को प्राप्त होता है।

(४) चौथी दु खशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होने के बाद ऐसा सोचता है—

जब मैं गृहवास मे था तब संवाधन-मर्दन, परिमर्दन-उबटन, गात्राभ्यग-तेल आदि की मालिश, गात्रोत्छालन-स्नान आदि करता था पर जब से मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित हुआ हूँ तब से सवाधन, परिमर्दन, गात्राभ्यग तथा गात्रोत्क्षालन नही कर पा रहा हूँ,

ऐसा सोचकर वह सवाधन, परिमर्दन, गात्राभ्यग तथा गात्रोत्क्षालन का आस्वाद करता है, स्पृहा करता है, प्रार्थना करता है, अभिलाषा करता है,

वह सम्वाधन, परिमर्दन, गात्राभ्यग, गात्रोत्क्षालन का आस्वाद करता हुआ, स्पृहा करता हुआ, प्रार्थना करता हुआ, अभिलाषा करता हुआ मानसिक उतार-चढाव और विनिघात को प्राप्त होता है।

निग्गंथस्स सुहसेज्जाओ—

६७ चत्तारि सुहसेज्जाओ पण्णत्ताओ, त जहा—

१ तत्थ खलु इमा पढमा सुहसेज्जा—

से ण मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे णिस्सकिते णिक्कखिते णिव्वितिगिच्छए णो भेदसमावण्णे णो कलुससमावण्णे णिग्गथ पावयणं सद्दहइ पत्तियइ रोएति, णिग्गथ पावयण सद्दहमाणे पत्तियमाणे रोएमाणे णो मणं उच्चावयं णियच्छति, णो विणिघातमावज्जति—पढमा सुहसेज्जा।

२ अहावरा दोच्चा सुहसेज्जा—

से णं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए सएण लाभेणं तुस्सति परस्स लाभं णो आसाएति णो पीहेति णो पत्थेइ णो अभिलसति, परस्स लाभमणासाएमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे णो मणं उच्चावय णियच्छति, णो विणिघातमावज्जति - दोच्चा सुहसेज्जा।

३. अहावरा तच्चा सुहसेज्जा—

से णं मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए दिव्वमाणुस्सए कामभोगे णो आसाएति णो पीहेति णो पत्थेति णो अभिलसति, दिव्वमाणुस्सए कामभोगे अणासाएमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे णो मण उच्चावय णियच्छति, णो विणिघातमावज्जति—तच्चा सुहसेज्जा।

४. अहावरा चउत्था सुहसेज्जा—

से ण मुण्डे भवित्ता अगाराओ अणगारिय पव्वइए, तस्स ण एव भवति—जइ ताव अरहता भगवन्तो हट्ठा अरोगा बलिया कल्लसरीरा अण्णयराइ ओरालाइ कल्लाणाइ विउलाइ पयताइ पग्गहिताइं महाणुभागाइं कम्मक्खयकरणाइ तवोकम्माइ पडिवज्जति, किमग पुण अह अब्भोवगमिओवक्कमिय वेयण णो सम्म सहामि खमामि तितिक्खेमि अहियासेमि ?

मम च ण अब्भोवगमिओवक्कमियं सम्ममसहमाणस्स अक्खममाणस्स अतितिक्खेमाणस्स अणहियासेमाणस्स किं मण्णे कज्जति ?

एगतसो मे पावे कम्मे कज्जति। ममं च ण अब्भोवगमिओवक्कमिय सम्मं सहमाणस्स खममाणस्स तितिक्खेमाणस्स अहियासेमाणस्स किं मण्णे कज्जति ?

एगतसो मे णिज्जरा कज्जति—चउत्था सुहसेज्जा।

—ठाण अ ४, उ. ३, सु. ३२५

निर्ग्रन्थ की सुख शय्याएँ—

६७ सुखशय्या चार हैं—

(१) पहली सुखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होकर, निर्ग्रन्थ प्रवचन मे, निःशंक, निष्कांक्ष, निर्विचिकित्सित, अभेद समापन्न, अकलुषसमापन्न होकर निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है। वह निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ मन मे समता को धारण करता हैं और धर्म मे स्थिर हो जाता हैं।

(२) दूसरी सुखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होकर अपने लाभ से सन्तुष्ट होता है, दूसरे के लाभ का आस्वादन नही करता, स्पृहा नही करता, प्रार्थना नही करता, अभिलाषा नही करता, वह दूसरे के लाभ का आस्वादन नहीं करता हुआ स्पृहा नही करता हुआ, प्रार्थना नही करता हुआ, अभिलाषा नही करता हुआ मन मे समता को धारण करता है और धर्म मे स्थिर हो जाता हैं।

(३) तीसरी सुखशय्या यह हैं—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होकर देवो तथा मनुष्यो के काम-भोगो का आस्वाद नही करता, स्पृहा नही करता, प्रार्थना नही करता, अभिलाषा नही करता, वह उनका आस्वाद नही करता हुआ, स्पृहा नही करता हुआ, प्रार्थना नही करता हुआ, अभिलाषा नहीं करता हुआ मन मे समता को धारण करता है और धर्म मे स्थिर हो जाता हैं।

(४) चौथी सुखशय्या यह है—

कोई व्यक्ति मुण्ड होकर अगार से अनगारत्व मे प्रव्रजित होने के बाद ऐसा सोचता है—जब अर्हन्त भगवान हृष्ट नीरोग, बलवान तथा स्वस्थ होकर भी कर्मक्षय के लिए उदार, कल्याण, विपुल, सुसयन, प्रगृहीत, सादर स्वीकृति महानुभाग—अमेय शक्तिशाली और कर्मक्षयकारी विचित्र तपस्याएँ स्वीकृत करते हैं तब मैं आभ्युपगमिकी तथा औपक्रमिकी वेदना को ठीक प्रकार से क्यो न सहन करता हू।

यदि मैं आभ्युपगमिकी तथा औपक्रमिकी वेदना को ठीक प्रकार से सहन नही करूँगा तो मुझे क्या होगा ?

मुझे एकान्ततः पाप कर्म होगा। यदि मैं आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी वेदना को ठीक प्रकार से सहन करूँगा तो मुझे क्या होगा ?

मुझे एकान्तत निर्जरा होगी।

संजम गहण उवएसो—

९८ माहणा खत्तिया वेस्सा, चडाला अदु वोक्कसा।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे आरम्भणिस्सिया॥

परिग्गहे निविट्ठाण, वेरं तेसिं पवड्ढई।
आरम्भसभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा॥

आघातकिच्चमाधातु, नायओ विसएसिणो।
अन्ने हरति त वित्त, कम्मी कम्मेहिं किच्चह॥

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
णालं ते तव ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा॥

एयमट्ठ सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहितं॥

चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णायओ य परिग्गहं।
चेच्चाणं अंतग सोयं, निरवेक्खो परिव्वए॥
—सूय. सु १, अ ६, गा. २-७

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्त मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोह जति नरा असवुडा॥
—सूय सु १, अ. २. उ १, गा. १०

संबुज्झह किं न बुज्झह, सबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमति रातिओ, णो सुलभ पुणरावि जीवियं॥
—सूय. सु १, अ. २, उ. १, गा १

मायाहि पियाहि लुप्पई, णो सुलहा सुगइ य पेच्चओ।
एयाइ भयाइ देहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वइ॥
—सूय. सु. १, अ २, उ. १, गा. ३

संयम ग्रहण का उपदेश—

९८ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाडाल, वर्णसंकर, शिकारी, वेष से या विभिन्न कलाओ से जीविका चलाने वाले और खेती करने वाले आदि जो भी आरम्भ मे रत रहते हैं।

तथा जो परिग्रह मे मूर्च्छित रहते है उनके वैर की वृद्धि होती है। वे आरम्भ और परिग्रह से प्राप्त काम भोग, उन्हे दु खो से मुक्त नही कर सकते।

विपय सुख के अभिलापी ज्ञातिजन या अन्य लोग मृत व्यक्ति का दाहसंस्कार आदि मरणोत्तर कृत्य करके उस धन को ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु नाना पापकर्म करके धन सचित करने वाला वह मृत व्यक्ति अकेला अपने पापकर्मो के फलस्वरूप दु ख को भोगता है।

अपने पापकर्म से ससार मे पीडित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने मे माता, पिता, पुत्रवधु, भाई, पत्नी और सगे पुत्र आदि कोई भी समर्थ नही होते।

परमार्थ की ओर जाने वाले इस अर्थ को समझकर ममता और अहकार से रहित होकर भिक्षु जिनोक्त धर्म का आचरण करे।

धन, पुत्र, ज्ञातिजन और परिग्रह का त्याग करके अन्तर् के शोक-सन्ताप को छोडकर साधक निस्पृह होकर सयम पालन करे।

हे पुरुष! उस पाप कर्म से उपरमण कर, (क्योकि) मनुष्य जीवन का अन्त अवश्यम्भावी है। जो काम भोग आदि मे निमग्न होकर इन्द्रिय-विपयो मे मूर्च्छित हैं वे असवृत पुरुष मोह को प्राप्त होते हैं।

हे भव्यो! तुम वोध प्राप्त करो। तुम वोध क्यो नही प्राप्त करते? जो रातें बीत चुकी हैं वे वापस लौटकर नही आती और यह सयमी जीवन भी फिर सुलभ नही है।

जो व्यक्ति माता, पिता के मोह मे पड़कर धर्म मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं, उनको अगले जन्म मे सुगति सुलभ नही है। इन भय-स्थानो पर विचारकर सुव्रती पुरुष हिंसा से विरत हो जाए।

सजमेण दुग्गइ निरोहो—

९९. प०—अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाइ दोग्गइ न गच्छेज्जा॥

उ०—विजहित्तु पुव्वसजोगं, न सिणेहिं कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू॥

संयम से दुर्गति का निरोध—

९९ प्र०—अध्रुव, अशाश्वत और दु ख-बहुल ससार मे ऐसा कौन सा कार्य है, जिससे मैं दुर्गति मे न जाऊँ?

उ०—पूर्व सम्बन्धो का त्याग कर, किसी भी वस्तु मे स्नेह न करे। स्नेह करने वालो के साथ भी स्नेह न करता हुआ भिक्षु दोपो और प्रदोपो से मुक्त हो जाता है।

तो नाण दसणसमग्गो, हियनिस्सेसाए सव्वजीवाण ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥

केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त तथा मोह से रहित मुनिवर ने सब जीवो के हित और कल्याण के लिए तथा उन्हें (पाँच सौ चोरो को) प्रतिबोध देने के लिए कहा ।

सव्व गंथ कलह च, विप्पजहे तहाविह भिक्खू ।
सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ॥
—उत्त अ ८, गा १-४

भिक्षु सभी कर्मबन्ध के हेतुभूत परिग्रह और कलह का त्याग करे । सब प्रकार के काम भोगो मे दोष देखता हुआ आत्म-रक्षक मुनि उनमे लिप्त न बने ।

जम्म-मरणेण विमुत्ति—

जन्म-मरण से विमुक्ति—

१०० तिउट्टति तु मेधावी, जाणं लोगसी पावग ।
तुट्टति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ॥

१००. लोक मे पाप कर्म को जानने वाला मेधावी सभी बन्धनो को तोड देता है क्योकि नया कर्म बन्धन न करने वाले पुरुष के पापकर्म रूपी सभी बन्धन टूट जाते है ।

अकुव्वतो णव नत्थि, कम्म नाम विजाणइ ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाति ण मिज्जती ॥
– सूय. सु १, अ. १५, गा ६-७

जो पुरुष नये कर्म (कार्य) नही करता है, उसके कर्मों का बन्ध नही होता है । वह कर्मों को विशेष रूप से जान लेता है, इस प्रकार जानकर वह वीर पुरुष न जन्म लेता है और न मरता है ।

एत्थोवरए तं झोसमाणे ।
आयाणिज्जं परिण्णाय, परियाएण विगिंचइ ॥
—आ० सु० १, अ० ६, उ० २, सु० १८५ (ग)

विषय से उपरत साधक उत्तरवाद का आसेवन करता है । वह कर्म-वन्ध का विवेक कर (सयम) पर्याय (मुनि जीवन) के द्वारा उसका विसर्जन कर देता है ।

संजयस्स विणयोवएसो –

संयती को विनय का उपदेश—

१०१ राइणिएसु विणय पउजे, डहराविं य जे परियाय जेट्ठा ।
नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई, ओवायव वक्ककरे स पुज्जो ॥
—दस अ. ९, उ ३, गा ३

१०१ जो अल्पवयस्क होते हुए भी दीक्षा काल मे ज्येष्ठ है—उन पूजनीय साधुओ के प्रति जो भिक्षु विनय का प्रयोग करता है, नम्र व्यवहार करता है, सत्यवादी है, गुरु के समीप रहने वाला है और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है वह पूज्य है ।

निद्दं च वहुमन्नेज्जा, सपहास विवज्जए ।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥

भिक्षु निद्रा अधिक न ले, हसी मजाक न करे, विकथाओ मे समय न खोवे, किन्तु सदा स्वाध्याय मे लगा रहे ।

जोग च समणधम्मम्मि, जुंजे अणलसो धुव ।
जुत्तो य समणधम्मम्मि, अट्ठ लहइ अणुत्तर ।,
—दस. अ ८, गा ४१-४२

मुनि आलस्य रहित होकर श्रमण धर्म मे अपने मन, वचन और काया को लगावे, क्योकि श्रमण धर्म मे तल्लीन बना हुआ मुनि मोक्ष को प्राप्त करता है ।

हत्थं पाय च काय च, पणिहाय जिइंदिए ।
अल्लीण गुत्तो निसीए, सगासे गुरुणो मुणी ॥

जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को संयमित कर मन और वाणी से सयत होकर गुरु के समीप वैठे ।

न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ ।
न य ऊरूं समासेज्जा, चिट्ठेज्जा गुरूणतिए ॥
—दस. अ ८, गा ४४-४५

आचार्य आदि के वरावर न वैठे, आगे और पीछे भी न वैठे । गुरु के समीप उनके उरू से अपना उरू सटाकर न बैठे ।

संजमस्स आराहणाए उवएसो—

सयम की आराधना का उपदेश—

१०२. जीवित पिट्ठतो किच्चा, अंत पावति कम्मुणा ।
कम्मुणा समुहीभूया, जे मग्गमणुसासति ॥

१०२ भिक्षु अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर कर्मो का अन्त कर लेते है । वे कर्मों के सामने खडे होकर मोक्ष मार्ग का अनुशासन करते हैं ।

अणुसासण पुढो पाणे, वसुमं पूयणासए ।
अणासए जए दंते, दढे आरयमेहुणे ॥

संयम धन से सम्पन्न संयमी प्राणियों की योग्यता के अनुसार अनुशासन करते हैं किन्तु वे पूजा की इच्छा नही रखते हैं और वे अभिलाषा रहित, सयत, दान्त, दृढ सयमी मैथुन से विरत होते हैं।

णीवारे य न लोएज्जा, छिन्नसोते अणाविले ।
अणाइले सया दते, संधिपत्ते अणेलिसं ॥

जिसने आस्रवद्वारो को रोक दिया हैं, जो निर्मल चित्त वाला है वह प्रलोभन के स्थान मे लिप्त नही होता है। वह सदा निर्मल चित्त वाला दान्त अनुपम सधि (ज्ञान आदि) को प्राप्त करता है।

अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुम ॥

अनुपम सन्धि को जानने वाला पुरुष किसी भी प्राणी के साथ मन वचन और काया से विरोध नही करता हैं वही परमार्थदर्शी है।

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कखाए तु अतए ।
अतेणं खुरो वहती, चक्क अतेण लोट्टति ॥

जो आकाक्षाओ का अन्त करता है वह मनुष्यो का चक्षुभूत (मार्ग दर्शक) है क्योकि अन्त (धार) वाला उस्तरा ही चलता है और गाडी का चक्का अन्त (छोर) से ही चलता है।

अताणि धीरा सेवति, तेणं अंतकरा इह ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं णरा ॥
—सूय सु. १, अ १५, गा. १०-१५

धीर पुरुष अन्त प्रान्त आहार का सेवन करते हैं इसलिए वे समस्त दु खो का अन्त कर देते है ऐसे ही पुरुष लोक मे इस धर्म की आराधना करने के योग्य होते है।

आहत्तहिय समुपेहमाणे, सव्वेहिं पाणेहिं निहाय दंडं ।
नो जीविय नो मरणाभिकखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के ॥
—सूय. सु. १, अ १३, सु. २३

साधु सम्यग् ज्ञान आदि को भली-भाँति जानता देखता हुआ समस्त प्राणियो की हिंसा का त्याग कर जीवन एव मरण की आकाक्षा न करे, नथा माया से मुक्त होकर सयम का पालन करे।

वहिया उड्ढमादाय नावकखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्म खयट्ठाए, इमं देह समुद्धरे ॥
—उत्त अ ६, गा १३

ऊर्ध्वलक्षी होकर मुनि कभी भी वाह्य (विषयो) की आकाक्षा न करे। पूर्वोपार्जित कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

आघ मइम अणुवीति धम्मं,
अजू समाहिं तमिण सुणेह ।
अपडिण्ण भिक्खू तु समाहिपत्ते,
अणियाणभूते सुपरिव्वएज्जा ॥
—सूय सु २, अ १०, गा १

सर्वज्ञ भगवान महावीर ने केवलज्ञान के द्वारा जानकर सरलता व समाधि धर्म का प्रतिपादन किया है, वह तुम सुनो ! समाधि प्राप्त भिक्षु अमूर्च्छित और हिंसा आदि आश्रवो से मुक्त रहकर शुद्ध सयम का पालन करे।

इत्थीसु या अरओ मेहुणा उ, परिग्गह चेव अकुव्वमाणे ।
अच्चावएसु विसएसु ताई, णिस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ॥
—सूय. सु. १, अ १०, गा १३

जो स्त्रियो के साथ मैथुन सेवन नही करता हैं, परिग्रह नही रखता है, नाना प्रकार के विषयो मे राग द्वेष रहित होकर जीवो की रक्षा करता है नि:सन्देह वही भिक्षु समाधि प्राप्त होता है।

आहारमिच्छे मियमेसणीय, सहायमिच्छे णिउणत्थ वुद्धि ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेग जोगं, समाहि कामे समणे तवस्सी ॥
—उत्त. अ. ३२, गा ४

समाधि की आकाक्षा रखने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एपणीय आहार की इच्छा करे। तत्वार्थो को जानने मे निपुण वुद्धि वाले को सहायक साथी वनावे तथा स्त्री आदि से रहित एकान्त स्थान मे निवास करे।

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहिं पाणे य पुढो वि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परिच्चमाणे ॥
—सूय सु. १, अ १०, गा. ४

मुनि सभी इन्द्रियो से स्त्रियो के प्रति संयत तथा सर्वत्र वन्धन मुक्त होकर रहे। पृथक-पृथक् रूप से दु ख से पीडित और सताये जाते हुए प्राणियो को देखे।

अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भवंति सुव्वया।
एयाइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो॥

हे भिक्षुओ! पूर्वकाल में भी जो (सर्वज्ञ) हो चुके हैं और भविष्य में भी जो होंगे, उन सुव्रत पुरुषों ने इन्हीं गुणों को मोक्ष का साधन बताया है, उन्होंने ऋषभदेव भगवान के द्वारा प्रतिपादित धर्म का ही अनुसरण किया है।

तिविहेण वि पाण मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतगा, संपति जे य अणागयाऽवरे॥

साधक मन, वचन और काया से प्राणियों की हिंसा न करे तथा आत्महित में सलग्न रहकर स्वर्गादि सुखों के निदान से रहित होकर संयम पालन करे इस प्रकार की साधना से अनन्त जीव मुक्त हुए हैं, वर्तमान में होते हैं और भविष्य में भी अनन्त जीव मुक्त होंगे।

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा णायपुत्ते भगवं वेसालीए वियाहिए॥
—सूय. सु १, अ २, उ ३, गा २०-२२

इस प्रकार अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन धारक इन्द्रादि देवों द्वारा पूजनीय (अर्हन्त) ज्ञातपुत्र तथा ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान् महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी में कहा था सो मैं कहता हूँ।

जाए सद्धाए निक्खंतो परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालेज्जा, गुणे आयरियसम्मए॥
—दस अ ८, गा ६०

जिस श्रद्धा से उत्तम प्रव्रज्या स्थान के लिए घर का त्याग किया है उसी श्रद्धा को पूर्ववत् बनाये रखें और सर्वज्ञ सम्मत गुणों का अनुपालन करे।

सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे उंछं भिक्खू विसुद्धं माहरे॥

भिक्षु भगवान के अनुशासन (आगम वाणी) को सुनकर उसमें कहे गये संयम में पुरुषार्थ करें एवं सर्वत्र मत्सरभाव रहित होकर अल्प और शुद्ध आहार ग्रहण करें।

सव्वं णच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सदा जए, आय-परे परमाययट्ठिए॥
—सूय. सु १, अ. २, उ. ३, गा १४-१५

साधु सब पदार्थों को जानकर संयम का आचरण करे, धर्मार्थी रहे, तप में अपनी शक्ति लगाये, मन-वचन-काया की गुप्ति से युक्त होकर रहे, सदा स्व-पर का कल्याण करें अथवा आत्मपरायण होकर यत्न करे और मोक्ष के लक्ष्य में स्थित रहे।

सुअक्खातधम्मे वितिगिच्छतिण्णे,
लाढे चरे आयतुले पयासु।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी,
चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खु॥
—सूय सु १, अ १०, गा ३

उत्तम तपस्वी भिक्षु तीर्थंकरोक्त धर्म में शंकाओं से रहित होकर पृथ्वीकाय आदि प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य होकर योग्य जनपद में विचरण करे। इस लोक में चिरकाल तक जाने की इच्छा से आय अर्थात् आश्रवों का सेवन न करे तथा कर्मों का सचय न करे।

गुत्ते वईए य समाहिपत्ते, लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा।
गिहं ण छाए ण वि छावएज्जा, सम्मिस्सिभावं पजहे पयासु॥
—सूय. सु १, अ १०, गा १५

भिक्षु वाणी से संयत हो समाधि-प्राप्त बने, विशुद्ध लेश्या के साथ परिव्रजन करे, स्वयं घर न छाए और दूसरों से न छवाए, गृहस्थों के साथ एक स्थान में न रहे।

जहित्तु संगं थ महाकिलेसं,
महंतमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चऽभिरोयएज्जा,
वयाणि सीलाणि परीसहे य॥

महाक्लेशकारी, महामोहोत्पादक और महाभय को उत्पन्न करने वाले सम्पूर्ण परिग्रह एवं स्वजनादि का त्याग करके मुनि प्रव्रज्या धर्म में लीन रहे। पाँच महाव्रतों तथा पिंड विशुद्धि आदि के पालने में और परीषहों को समभाव से सहन करने में अभिरुचि रखे।

अहिंस सच्चं च अतेणयं च,
तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं,
चरेज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू॥

विद्वान् मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का भलीभाँति आचरण करे।

सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकंपी,
खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो,
चरेज्ज, भिक्खू सुसमाहिइंदिए॥
कालेण काल विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो उ।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा,
वइजोग सोच्चा न असब्भमाहु॥
—उत्त. अ. २१, गा ११-१४

इन्द्रियो का सम्यक् संवरण करने वाला भिक्षु सब जीवो के प्रति करुणाशील रहे, क्षमा से दुर्वचनादि को सहन करने वाला हो, सयत हो, ब्रह्मचारी हो। वह सदैव सावद्ययोग का परित्याग करता हुआ विचरण करे।

मुनि यथासमय क्रियानुष्ठान करता हुआ राष्ट्र में विचरण करे। अपनी आत्मा के बलाबल को जानकर तप मे प्रवृत्ति करे तथा प्रतिकूल शब्दो को सुनकर सिंह की भाँति किसी से त्रस्त न हो तथा असभ्य वचन भी न कहे।

वुसिए य विगयगेही आयाणं सं (सम्म) रक्खए।
चरिआसणसेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो॥

दस प्रकार की साधु समाचारी मे स्थित और आहार आदि की आसक्ति से रहित मुनि आत्मा की सम्यक प्रकार से रक्षा करे तथा चर्या, आसन और शय्या के सम्बन्ध मे जीवन पर्यन्त विवेक रखे।

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए सततं मुणी।
उक्कस जलण णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए॥

इन तीनो स्थानो मे सतत सयत मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग करे।

समिए य सया साहू, पचसवरसंवुडे।
सिएहिं असिए भिक्खू, अमोक्खाय परिव्वएज्जासि॥
—सूय सु १, अ १, उ ४, गा. ११-१३

सदा पाँच समितियो से युक्त पाँच सवर से संवृत भिक्षु गृहस्थो मे मूर्च्छा न रखता हुआ मोक्ष प्राप्त होने तक सयम मे पुरुषार्थ करे।

अणिएयवासो समुयाणचरिया अण्णायउंछ पइरिक्कया य।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य विहारचरिया इसिण पसत्था॥
—दश चू २, गा ५

ऋषियो के लिए अनियतवास, सामुदानिकी भिक्षा, अज्ञात कुलो की भिक्षा, साधारण आहार ग्रहण, एकान्तवास, उपकरणो की अल्पता और कलह का वर्जन इत्यादि संयम चर्या कल्याण-कारी कही गई है।

सुक्कज्झाण झियाएज्जा अनियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा जाव कालस्स पज्जओ॥
—उत्त अ ३५, उ ४, गा ११-१३

मुनि शुक्लध्यान ध्याए। अनिदान और अकिंचन रहे। वह जीवन पर्यन्त व्युत्सृष्टकाय (देहाध्यास से मुक्त) होकर विहार करे।

सम अन्नयरम्मि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहा समाहिए, दविए कालमकासि पडिए॥

जो शुद्ध श्रमण प्रत्येक सयम स्थान मे जीवन पर्यन्त प्रवृत्त रहे वह समाधिस्थ पंडित काल करके मुक्त होता है।

दूरं अणुपस्सिया मुणी तीतं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे फरुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंसि रीयइ॥

मुनि दीर्घ दृष्टि से भूत और भविष्य का तथा जीवो के स्वभाव का अवलोकन करके कठोर वाक्यो को समभाव से सहन करे तथा मारे जाने पर भी दृढता से सयम मे ही विचरण करे।

पण्णसमत्ते सदा जए, समया धम्ममुदाहरे मुणी।
सुहुमे उ सदा अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे॥

कुशल प्रज्ञावाला और सदा अप्रमत्त मुनि समता धर्म का निरूपण करे। वह सूक्ष्मदर्शी मुनि सदा अहिंसक रहे। वह न क्रोध करे और न अभिमान करे।

बहुजण-णमणम्मि संवुडे, सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिते।
हरए व सया अणाविले, धम्मं पादुरकासि कासवं॥

अनेक लोगो द्वारा नमस्करणीय मुनि समस्त पदार्थों मे—अप्रतिबद्ध होकर सरोवर की तरह सदा निर्मल रहता हुआ काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर के धर्म का कथन करे।

बहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं समीहिया।
जे मोणपद उवट्ठिते, विरतिं तत्थमकासि पडिते॥
—सूय सु. १, अ. २, उ २, गा ४-८

ससार मे अनन्त प्राणी है। इनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, प्रत्येक प्राणी मे समानता है अर्थात् उन्हे सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है यह विचार कर जो मुनि पद मे उपस्थित है वह पंडित उनसे विरति करे अर्थात् किसी प्राणी का उपघात न करे।

अमज्जमसासि अमच्छरीया, अभिक्खण निव्विगइ गओ य ।
अभिक्खण काउस्सग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा ॥

साधु मद्य, मास और मत्स्य का अभोजी हो, वार-वार दूध दही आदि विगयो को सेवन न करने वाला हो, वार-वार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय की प्रवृत्तियो मे प्रयत्नशील हो।

न पडिन्नवेज्जा सयणाऽसणाइ, सेज्ज निसेज्जं तह भत्तपाण ।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभाव न कहि चि कुज्जा ॥
—दस अ १०, चू २, गा. ७-८

भिक्षु शयन, आसन, शय्या, निषद्या तथा आहार पानी मे आसक्तिपूर्वक कोई प्रतिज्ञा न करे और ग्राम, नगर तथा देश मे श्रद्धालु घरो मे कही भी ममत्व भाव न करे।

गिहत्थाण वेयावडियं तह वंदण पूयण कामणाणिसेहो—

गृहस्थो की वैयावृत्य का तथा वन्दन पूजन की चाहना का निषेध—

१०३ सव्व जगं तु समयाणुपेही,
पियमप्पिय कस्सइ नो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणे तु पुणो विसण्णे,
सपूयण चेव सिलोयकामी ॥
—सूय सु १, अ १०, गा. ७

१०३ साधु समस्त जगत को समभाव से देखे। वह किसी का भी प्रिय या अप्रिय न करे। कोई साधक प्रव्रजित होकर भी परीषहो एव उपसर्गों की वाधा आने पर दीन और खिन्न हो जाते हैं और कोई-कोई अपनी प्रशसा व पूजा के अभिलापी वन जाते हैं (किन्तु साधक को ऐसा नही करना चाहिये।)

गिहिणो वेयावडिय न कुज्जा, अभिवायण वदण पूयण च ।
असकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ।
—दस. चू २, गा ९

साधु गृहस्थ का वैयावृत्य न करे, अभिवादन वन्दन और पूजन न करे। मुनि संक्लेशरहित साधुओ के साथ रहे जिससे कि चारित्र की हानि न हो।

इत्थिय पुरिस वा वि, डहर वा महल्लग ।
वदमाण न जाएज्जा, नो य ण, फरुसं वए ॥

वन्दना करते समय किसी भी स्त्री या पुरुष से, वालक या वृद्ध से साधु याचना न करे और आहार न देने वाले गृहस्थ को कठोर वचन भी न कहे।

जे न वदे न से कुप्पे, वदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठई ॥
—दस. अ ५, उ २, गा. २९-३०

जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर गर्व न करे। इस प्रकार अन्वेपण करने वाले मुनि का श्रामण्य भाव अखण्ड रहता है।

अच्चण रयण चेव, वन्दण पूयण तहा ।
इड्ढीसक्कारसम्माण मणसा वि न पत्थए ॥
—उत्त अ ३५, गा १८

मुनि अर्चना, रचना (अक्षत मोती आदि का स्वस्तिक वनाना) वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान को मन से भी न चाहे।

अहिगरण णिसेहो—

अधिकरण विवर्जन—

१०४ अहिगरण कडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पासज्ज दारुण ।
अट्ठे परिहायती वहू, अहिगरणं न करेज्ज पडिए ॥
—सूय सु १, अ २, उ २, गा १९

१०४ कलह करने वाले तथा कलहवश भयकर कठोर वचन बोलने वाले भिक्षु का वहुत सयम नष्ट हो जाता है। अत पडित मुनि कभी भी कलह न करे।

कलहकारगो पावसमणो—

कलहप्रिय-पाप श्रमण—

१०५. विवाद च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा ।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चइ ॥
—उत्त अ. १७, गा १२

१०५ जो शान्त हुए विवाद को पुन उत्तेजित करता है, जो सदाचार रहित है, जो कुतर्कों द्वारा अपनी वुद्धि को मलिन करता है, जो कदाग्रह और कलह मे प्रवृत्त रहता है वह पाप श्रमण कहलाता है।

परीसहजय उवएसो—

परीषहजय का उपदेश—

१०६ अरति रति च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीतफासं ।
उण्ह च दस च हियासएज्जा, सुब्भि च दुब्भि च तितिक्खएज्जा ॥
—सूय. सु. १, अ १०, गा. १४

१०६ भिक्षु अरति और रति परीषह को जीते, तृण आदि का स्पर्श तथा सर्दी गरमी के स्पर्श और मच्छर आदि के दश को सहे। सुगन्ध और दुर्गन्ध मे समभाव रखे।

उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा,
पियमप्पिय सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा,
न यावि पूयं गरहं च सजए ॥
अणेगछन्दा इह माणवेहिं,
जे भावओ सपकरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमा,
दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥
—उत्त अ २१, गा. १५-१६

सयमी प्रतिकूलताओ की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे। अनुकूल-प्रतिकूल सब परीषहो को सहन करे। सर्वत्र जो भी अच्छी चीज देखे या सुने उनकी अभिलाषा न करे, पूजा और गर्हा भी न चाहे।

इस ससार मे मनुष्यो के अनेक प्रकार के अभिप्राय होते हैं, भिक्षु उन अभिप्रायो का सम्यक् रीति से विचार करे तथा अपने उदय मे आये हुए देवकृत, मनुष्यकृत तथा तिर्यंचकृत भयोत्पादक भीषण उपसर्गो को सहन करे।

सीओसिणा दसमसा य फासा, आयंकाविविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइ खेवेज्ज पुरेकडाइ ॥
—उत्त. अ २१, गा. १८

शीत, उष्ण, डास, मच्छर, तृण-स्पर्श तथा अन्य विविध प्रकार के आतंक जब भिक्षु को स्पर्श करें, तब वह कुत्सित शब्द न करते हुए उन्हे समभाव से सहन करे तथा पूर्वकर्मो को क्षीण करे।

अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरहं च संजए।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्ग विरए उवेइ ॥

जो साधु पूजा-प्रतिष्ठा मे उन्नत और गर्हा मे अवनत नही होता है वह समभावी विरत सयमी सरलता को स्वीकार करके निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है।

अरइरइसहे पहीणसथवे, विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई, छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥

जो अरति और रति को सहन करता है, ससारी जनो के परिचय से दूर रहता है, विरक्त है, आत्म-हित का साधक है, सयमशील है, शोक रहित है, ममत्व रहित है, परिग्रह रहित है, वह सम्यग् दर्शनादि मोक्ष-साधनो मे स्थित होता है।

विवित्तलयणाइं भएज्ज ताई, निरोवलेवाइं असंथडाइं।
इसीहिं चिण्णाइ महायसेहिं, काएण फासेज्ज परीसहाइ ॥
—उत्त. अ २१, गा. २०-२२

षट्काय रक्षक मुनि—अलिप्त बीज आदि से रहित और महायशस्वी ऋषियो द्वारा सेवित एकान्त स्थानो का सेवन करे तथा काया से परीषहो को सहन करे।

अज्झत्थ जागरणाए मुत्ति—

१०७. जो पुव्वरत्तावररत्तकाले,
सपेहए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं,
किं सक्कणिज्ज न समायरामि ॥
किं मे परो पासइ किं च अप्पा,
किं वाह खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥

अध्यात्म जागरण से मुक्ति—

१०७. जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर मे स्वयं आत्म-निरीक्षण करे कि—"मैंने क्या किया? मेरे लिए क्या कार्य करना शेष है? वह कौनसा कार्य है जिसे मैं कर सकता हूँ परन्तु नही कर पा रहा हूँ?

दूसरा मेरे किन दोषो को देखता है अथवा कौन सी अपनी भूल को मैं स्वय देख लेता हूँ? वह कौन सा दोष है जिसे मैं नही छोड रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक् प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि भविष्य मे कोई दोष न लगावे।

जत्थेव पासे कई दुप्पउत्त काएण वाया अदु माणसेण।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा, आइन्नओ खिप्पमिवक्खलीण ॥

जब कभी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धैर्यवान साधु वही सम्हल जाये। जैसे जातिमान अश्व लगाम को खीचते ही शीघ्र सम्हल जाता है।

जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स, धिईमओ सुप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीवई सजमजीविएणं ॥

जिस जितेन्द्रिय धैर्यवान सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक मे प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है वही सयमी जीवन जीता है।

अप्पा खलु सयय रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेई, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥
—दस. चू. २, गा. १२-१६

समाधियुक्त इन्द्रियो से आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। क्योकि अरक्षित आत्मा जन्म-मरण को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखो से मुक्त हो जाता है।

समणाणं तिविहा भावणा—

१०८. तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, त जहा—

(१) कया णं अह अप्प वा बहुय वा सुय अहिज्जिस्सामि ?

(२) कया ण अह एकल्लविहारपडिमं उवसपज्जित्ता ण विहरिस्सामि ?

(३) कया ण अह अपच्छिममारणंतियसलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्तपाणपडियाइक्खिते पाओवगते काल अणवकंखमाणे विहरिस्सामि ?

एव समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे समणे निग्गथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।

—ठाणं अ. ३, उ ४, सु २१०

श्रमणो की तीन भावनायें—

१०८ तीन कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और ससार का अन्त करने वाला होता है—

(१) कब मैं अल्प या बहुत श्रुत का अध्ययन करूँगा ?

(२) कब मैं एकल विहारी प्रतिमा को स्वीकार कर विहार करूँगा ?

(३) कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना की आराधना से युक्त होकर भक्त-पान का परित्याग कर पादपोपगमन सथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकाक्षा नही करता हुआ विचरूँगा ?

इस प्रकार मन, वचन और काया से युक्त प्रकट रूप से भावना करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ कर्मों का क्षय और ससार का अन्त करने वाला होता है।

समणाण बत्तीसं जोग-सगहा—

१०९. बत्तीसं जोगसगहा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) आलोयणा,
(२) निरवलावे,
(३) आवईसु दढधम्मया,
(४) अणिस्सिओवहाणे,
(५) सिक्खा,
(६) निप्पडिकम्मया,
(७) अण्णायता,
(८) अलोभे य,
(९) तितिक्खा,
(१०) अज्जवे,
(११) सुई,
(१२) सम्मदिट्ठी,
(१३) समाही,
(१४) आयारे,
(१५) विणओवए,
(१६) धिईमई,
(१७) सवेगे,
(१८) पणिही,
(१९) सुविहि,
(२०) संवरे,
(२१) अत्तदोसोवसहारे,
(२२) सव्वकामविरत्तया,
(२३) मूलगुण-पच्चक्खाणे,
(२४) उत्तरगुण-पच्चक्खाणे,
(२५) विउस्सगे,

श्रमणो के बत्तीस योग सग्रह—

१०९. बत्तीस योग संग्रह कहे गये हैं, यथा—

(१) दोषो की यथार्थ आलोचना करना,
(२) आलोचना सुनकर अन्य को नही कहना,
(३) संकट पडने पर भी धर्म मे दृढ रहना,
(४) आसक्ति रहित तप करना,
(५) आचार्य द्वारा दी गई शिक्षा ग्रहण करना,
(६) शरीर का परिकर्म न करना,
(७) गुप्त तप करना,
(८) निर्लोभी रहना,
(९) कष्टसहिष्णु होना,
(१०) व्यवहार मे सरलता रखना,
(११) हृदय पवित्र रखना,
(१२) सम्यक्त्व शुद्ध रखना,
(१३) प्रसन्न चित्त रहना,
(१४) पचाचारो का पालन करना,
(१५) रत्नाधिक का विनय करना,
(१६) धैर्य रखना,
(१७) सवेग युक्त रहना,
(१८) अध्यवसायो की एकाग्रता रखना,
(१९) आचरण शुद्ध रखना,
(२०) सवर की वृद्धि करना,
(२१) आत्मा मे आते हुए दोषो को रोकना,
(२२) समस्त विषयो से विरक्त रहना,
(२३) मूलगुणो का शुद्ध पालन करना,
(२४) उत्तरगुणो का शुद्ध पालन करना,
(२५) वस्त्र-पात्रादि उपकरणो तथा कषायादि का व्युत्सर्ग करना,

(२६) अप्पमादे,
(२७) लवालवे,
(२८) झाणसंवरजोगे य,
(२९) उदए मारणंतिए,
(३०) संगाणं च परिण्णा,
(३१) पायच्छित्तकरणेत्ति य,
(३२) आराहणा य मरणंते,
बत्तीस जोगसगहा। —सम. सम ३२, सु १

(२६) प्रमाद का त्याग करना,
(२७) समाचारी मे सतत सावधान रहना,
(२८) शुभ ध्यान मे रहना,
(२९) मारणान्तिक वेदना होने पर भी अधीर न होना,
(३०) आसक्ति के स्वरूप को जानकर परित्याग करना,
(३१) गृहीत प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करना,
(३२) मरण समय मे सलेखना करके आराधक बनना।
ये बत्तीस योग संग्रह (समाधि के कारणभूत स्थान) हैं।

सजम जोगे अप्पाण ठवणा—

११०. इच्चेएहिं ठाणेहिं, जिणे दिट्ठेहिं संजए।
धारयन्ते उ अप्पाण, आमोक्खाए परिवएज्जासि॥
—सूय सु. २, अ ५, गा. ३३

संयम योग में आत्मा की स्थापना—

११०. जिनेश्वर भगवान द्वारा उपदिष्ट इन स्थानो से अपनी आत्मा को संयम मे स्थापित करता हुआ मुनि मोक्ष प्राप्त होने तक पचाचार पालन मे प्रगति करे।



संयमी जीवन के अठारह स्थान—७

संजमस्स अट्ठारस ठाणाइं—

१११. समणेणं भगवया महावीरेणं समणाण णिग्गथाणं सखुड्डयवि-अत्ताण अट्ठारस ठाणा पण्णत्ता। त जहा—

वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायण।
पलियक निसिज्जा य, सिणाण सोभवज्जण॥[1]
—सम, स. १८, सु १

दस अट्ठ य ठाणाइं जाइं बालोऽवरज्झई।
तत्थ अन्नयरे ठाणे निग्गथत्ताओ भस्सई॥
—दश. अ. ६, गा ७

संयम के अठारह स्थान—

१११. श्रमण भगवान् महावीर ने आबाल वृद्ध सभी श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए अठारह स्थान कहे हैं। जैसे—

छः व्रत का पालन, छ काया का रक्षण, अकल्पनीय आहार आदि, गृहि-भाजन, पर्यंक (पलंग आदि), निषद्या, स्नान और शोभा (इन छ) का वर्जन।

साध्वाचार के ये अठारह स्थान है जो बाल अज्ञानी साधु इन अठारह स्थानो मे से किसी एक भी स्थान की विराधना करता है, वह साधुपने से भ्रष्ट हो जाता है।

पढमं 'अहिंसा' ठाणं—

११२. तत्थिम पढम ठाणं, महावीरेणं देसिय।
अहिंसा निउण दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥

जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाण वा, न हणे णो वि घायए॥
सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोर, निग्गंथा वज्जयंति णं॥
—दस. अ. ६, गा ८-१०

प्रथम 'अहिंसा' स्थान—

११२. भगवान महावीर ने इन अठारह स्थानो मे से पहला स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्मरूप से देखा है। सब जीवो के प्रति सयम रखना अहिंसा है।

लोक मे जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, मुनि उनका जान या अनजान मे न हनन करे और न कराए।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नही चाहते। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

---

१ दस. अ. ६, गा. ७।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंड, मणसा वयसा कायसा चेव ॥

—उत्त अ ८, गा १०

संसार मे रहे हुए जो भी त्रस और स्थावर प्राणी है, उनके प्रति मन, वचन, काया रूप किसी भी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे।

उड्ढ अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमेत्ता, अदिण्णमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥

—सूय सु १, अ. १०, गा २

ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओ मे जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन्हे अपने हाथो और पैरो को सयम मे रखकर किसी भी प्रकार से पीडा नही देनी चाहिए तथा दूसरो के द्वारा न दिये हुए पदार्थ को ग्रहण नही करना चाहिए।

बितीय 'सच्चं' ठाणं—

११३. अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥
मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाण, तम्हा मोसं विवज्जए ॥

—दस. अ. ६, गा ११-१२

द्वितीय 'सत्य' स्थान—

११३ निर्ग्रन्थ अपने या दूसरो के लिए, क्रोध से या भय से पर पीडाकारक असत्य न बोले, न दूसरो से बुलवाए।

इस लोक में मृषावाद समस्त साधुओ द्वारा गर्हित है और वह प्राणियो के लिए अविश्वसनीय है। अत निर्ग्रन्थ असत्य न बोले।

ततियं 'अतेणगं' ठाणं—

११४. चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहु।
दंतसोहणमेत्तं पि, ओग्गहंसि अजाइया ॥
तं अप्पणा न गेण्हंति, नो वि गेण्हावए परं।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥

—दस अ ६, गा. १३-१४

तृतीय 'अस्तेय' स्थान—

११४ सयमी मुनि सजीव या निर्जीव, अल्प या बहुत, दन्तशोधन मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए बिना स्वय ग्रहण नही करता, दूसरो से ग्रहण नही कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नही करता।

चउत्थं 'बंभचरियं' ठाणं—

११५ अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

—दस अ ६, गा १५-१६

चतुर्थ 'ब्रह्मचर्य' स्थान—

११५ अब्रह्मचर्य लोक मे घोर प्रमाद-जनक और दुर्जन व्यक्तियो द्वारा सेवन किया जाता है। चारित्र-भग के स्थान से बचने वाले मुनि उसका सेवन कभी भी नही करते।

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महादोषो का समूह है। इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के ससर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

पंचमं 'अपरिग्गहं' ठाणं—

११६ विडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति, नायपुत्तवओरया ॥

लोहस्सेस अणुफासे, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही पव्वइए न से ॥

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारेंति परिहरंति य ॥

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥

पंचम 'अपरिग्रह' स्थान—

११६ जो महावीर स्वामी के वचनो मे रत है, वे मुनि बिड-लवण (जलाकर अचित्त बना नमक) उद्भिन्न (अन्य शस्त्रो से अचित्त बना) लवण, तेल, घी, और गीले गुड के सग्रह करने की इच्छा नही करते।

जो कुछ भी सग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव है अत तीर्थंकर देव ऐसा मानते हैं कि जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, साधु नही है।

जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हे भी मुनि सयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं और उनका उपयोग करते है।

सब जीवो के रक्षक ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नही कहा है। 'मूर्च्छा परिग्रह है' ऐसा महर्षियो ने कहा है।

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं ॥
—दस अ ६, गा १७-२१

तत्वज्ञ मुनि संयम मे सहायक उपकरणो को संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं, मूर्च्छा भाव से नही रखते, और तो क्या वे अपने शरीर पर भी ममत्व भाव नही रखते।

छट्ठे 'राइभोयण-विरमणं' ठाण—

छठा 'रात्रि भोजन विवर्जन' स्थान—

११७. अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वणियं !
जा य लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं य भोयणं ॥

११७ अहो ! सभी तीर्थंकरो ने श्रमणो के लिए सयम के अनुकूल वृत्ति और देह पालन के लिए केवल दिन मे ही एक वार भोजन रूप इस नित्य तप कर्म का उपदेश दिया है।

सतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइ राओ अपासतो, कहमेसणियं चरे ? ॥

ये जो त्रस और स्थावर अनेक सूक्ष्म प्राणी हैं जिनको कि रात्रि मे साधु नही देख सकता है तो उनकी रक्षा करता हुआ किस प्रकार एषणीय आहार की गवेषणा कर सकेगा ?

उदउल्लं, बीयससत्तं, पाणा निवडिया महिं।
दिया ताइ विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कह चरे ? ॥

उदक से आर्द्र और वीज से युक्त भोजन तथा जीव युक्त मार्ग हो तो उन्हे दिन मे टाला जा सकता है पर रात मे उन्हे टाल कर मुनि कैसे भिक्षाचर्या कर सकेगा ?

एयं च दोसं दट्ठूण, नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहार न भुजंति, निग्गथा राइभोयणं ॥
—दस अ ६, गा २२-२५

ज्ञातपुत्र भगवान महावीर स्वामी के वताये हुए इन रात्रि भोजन के दोषो को सम्यक्तया जानकर निर्ग्रन्थ किसी भी प्रकार का आहार रात्रि मे नही करते।

सत्तमं 'पुढविकाय-अणारंभं' ठाणं —

सातवाँ 'पृथ्वीकाय अनारम्भ' स्थान—

११८ पुढविक्कायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥

११८ सुसमाहित संयमी पृथ्वीकाय की मन, वचन, काया रूप तीन योगो से और तीन करण से हिंसा नही करते हैं।

पुढविकायं विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान त्रस और स्थावर प्राणियो की भी हिंसा करता है।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकायसमारंभ जावज्जीवाए वज्जए ॥
—दस. अ ६, गा २६-२८

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषो को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

अट्ठमं 'आउकाय-अणारंभं' ठाणं—

आठवाँ 'अप्काय अनारम्भ' स्थान—

११९. आउकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥

११९ सुसमाहित सयमी अप्काय की मन, वचन, काया रूप तीन योगो से और तीन करण से हिंसा नही करते हैं।

आउकायं विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

अप्काय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान त्रस और स्थावर प्राणियो की भी हिंसा करता है।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
आउकायसमारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥
— दस. अ ६, गा २९-३१

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषो को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का वर्जन करे।

नवमं 'तेउकाय-अणारंभं' ठाण—

नवमा 'तेजस्काय अनारम्भ' स्थान —

१२०. जायतेयं न इच्छति पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥

१२०. मुनि पापरूप अग्नि को जलाने की इच्छा नही करते। क्योकि वह दूसरे शस्त्रो की अपेक्षा तीक्ष्ण शस्त्र है तथा सब ओर से दुराश्रय है।

पाईणं पडिणं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वा वि, दहे उत्तरओ वि य ॥

यह अग्नि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अध दिशा और विदिशाओ मे रहे हुए सभी जीवो को जलाती है।

भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न ससओ।
त पईवपयावट्ठा, सजया किंचि नारभे ॥
तम्हा एय वियाणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढण।
तेउकायसमारभ, जावज्जीवाए वज्जए ॥
—दस. अ. ६, गा ३२-३५

नि सन्देह अग्नि जीवो को आघात पहुँचाने वाली है, सयमी मुनि प्रकाश और ताप के लिए इसका कुछ भी आरम्भ न करे।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषो को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

दसमं 'वाउकाय-अणारभ' ठाण—

१२१. अनिलस्स समारमं, बुद्धा मन्नति तारिस।
सावज्जवहुलं चेय, नेय ताईहि सेविय ॥

तालियटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा।
न ते वीइउमिच्छन्ति, वीयावेउण वा परं ॥
जपि वत्थ व पाय वा, कवलं पायपुछण।
न ते वायमुईरति, जय परिहरति य ॥

तम्हा एय वियाणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढण।
वाउकायसमारभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥
—दस अ ६, गा. ३६-३९

दसवाँ 'वायुकाय अनारम्भ' स्थान—

१२१ तत्वज्ञ पुरुष वायु के समारम्भ को अग्नि समारम्भ के तुल्य ही प्रचुर पाप युक्त मानते हैं। अतः यह छहकाय के त्राता मुनियो के द्वारा आसेवित नही है।

वे साधु ताड के पखे से, पत्र से, वृक्ष की शाखा से, न तो स्वय हवा करना चाहते हैं और न दूसरो से हवा कराना चाहते हैं।

जो भी वस्त्र, कम्वल और पादपुछन आदि उपकरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा नही करते, किन्तु यतनापूर्वक उनका परिभोग करते हैं।

इसलिए इन दुर्गतिवर्धक दोषो को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

एगादसम 'वणस्सइकाय-अणारंभं' ठाण —

१२२ वणस्सइ न हिंसति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, सजया सुसमाहिया ॥
वणस्सइ विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढणं।
वणस्सइसमारभ, जावज्जीवाए वज्जए ॥
—दस अ. ६, गा ४०-४२

ग्यारहवाँ 'वनस्पतिकाय अनारम्भ' स्थान—

१२२ सुसमाहित सयमी वनस्पतिकाय की मन, वचन, काया रूप तीन योगो से और तीन करण से हिंसा नही करते।

वनस्पतिकाय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान त्रस और स्थावर प्राणियो की भी हिंसा करता है।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषो को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे।

वारसमं 'तसकाय-अणारंभं' ठाणं—

१२३. तसकाय न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, सजया सुसमाहिया ॥
तसकाय विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

तम्हा एय वियाणित्ता, दोस दुग्गइवड्ढणं।
तसकायसमारभ, जावज्जीवाए वज्जए ॥
—दस अ. ६, गा. ४३-४५

वारहवाँ 'त्रसकाय अनारम्भ' स्थान —

१२३. सुसमाहित संयमी त्रसकाय की मन, वचन, काया रूप तीन योगो से और तीन करण से हिंसा नही करते।

त्रसकाय की हिंसा करता हुआ व्यक्ति उसके आश्रित अनेक प्रकार के दृश्यमान व अदृश्यमान त्रस और स्थावर प्राणियो की भी हिंसा करता है।

इसलिए इन दुर्गति-वर्धक दोषो को जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

तेरसम 'अकप्पिय-आहाराइ-विवज्जण' ठाण—

१२४. जाइ चत्तारिऽभोज्जाइ, इसिणाऽहारमाईणि।
ताइ तु विवज्जतो, सजम अणुपालए ॥
पिंड सेज्ज च वत्थ च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पिय न इच्छेज्जा, पडिगाहेज्ज कप्पिय ॥

तेरहवाँ 'अकल्प्य आहारादि वर्जन' स्थान—

१२४ मुनियो के लिए आहार आदि चार पदार्थ जो अकल्पनीय है उनका वर्जन करता हुआ यथाविधि सयम का पालन करे।

मुनि अकल्पनीय आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे किन्तु कल्पनीय ही ग्रहण करे।

जे नियागं ममायंति, कीयमुद्देसियाहड ।
वह ते समणुजाणति, इइ वुत्त महेसिणा ॥

• आमन्त्रित पिण्ड, निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदे हुए, निर्ग्रन्थ के निमित्त वनाये गये, सम्मुख लाये गये आहार आदि को जो साधु ग्रहण करते है वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते है। ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

तम्हा असणपाणाइ कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो, निग्गथा धम्मजीविणा ॥
—दस अ ६, गा ४६-४९

इसलिए धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले स्थितात्मा निर्ग्रन्थ मुनि क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते है।

चोद्दसमं 'गिहि-भायण-अभुजणं' ठाण—

चौदहवाँ 'गृहस्थपात्र में भोजन निषेध' स्थान—

१२५. कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ॥

१२५ जो मुनि गृहस्थ के कासे के प्याले मे, कांसे के पात्र मे और मिट्टी के वर्तन मे आहार पानी भोगता है वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है।

सीओदगसमारभे, मत्तधोयणछड्डुणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइ, दिट्ठो तत्थ असजमो ॥

वर्तनो को सचित्त जल से धोने मे और वर्तनो के धोए हुए पानी को अयतनापूर्वक डालने मे प्राणियो की हिंसा होती है अत गृहस्थ के वर्तन मे भोजन करने मे तीर्थंकरो ने असयम देखा है।

पच्छाकम्म पुरेकम्म, सिया तत्थ न कप्पइ ।
एयमट्ठं न भुजंति, निग्गथा गिहिभायणे ॥[1]
—दस अ. ६, गा ५०-५२

गृहस्थ के वर्तन मे भोजन करने से "पश्चात् कर्म" और "पूर्वकर्म" दोष लगने की सम्भावना रहती है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नही है इसलिए वे गृहस्थ के वर्तन मे भोजन नही करते।

गिहिमत्ते भोयण करणस्स पायच्छित्त-सुत्तं—

गृहस्थ के पात्र में भोजन करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

१२६ जे भिक्खू गिहमत्ते भुजइ, भुंजतं वा साइज्जइ ।

१२६ जो भिक्षु गृहस्थ के पात्र मे आहार करता है, आहार करवाता है या आहार करने वाले का अनुमोदन करता है।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥
—नि उ. १२, सु १०

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

पण्णरसमं 'पलियंक-अनिसेज्जं' ठाण —

पन्द्रहवाँ 'पल्यक निषद्या वर्जन' स्थान—

१२७. आसंदीपलियंकेसु, मचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ॥
नासंदीपलियंकेसु, न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथाऽपडिलेहाए, वुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥

१२७ वेंत आदि की कुर्सी, पलंग, खाट और आराम कुर्सी आदि पर वैठना या सोना साधुओ के लिए अनाचार रूप है।

तीर्थंकर भगवान की आज्ञा पालन करने वाले निर्ग्रन्थ आसन्दी, पलंग, आसन और पीढ का (विशेष स्थिति मे उपयोग करना पडे तो) प्रतिलेखन किए विना उन पर न वैठे और न सोए।

गभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा ।
आसंदीपलियका य, एयमट्ठ विवज्जिया ॥
— दस अ. ६, गा ५३-५५

आसन्दी पलंग आदि गहरे छिद्र वाले होते हैं। इनमें प्राणियो की प्रतिलेखना करना कठिन होता है। इसलिए इन पर वैठना या सोना वर्जित किया है।

गिही णिसेज्जाए णिसीयण पायच्छित्त-सुत्तं—

गृहस्थ की शय्या पर वैठने का प्रायश्चित्त सूत्र—

१२८. जे भिक्खू गिहिणिसेज्ज वाहेइ, वाहेत वा साइज्जइ ।

१२८ जो भिक्षु गृहस्थ के पल्यकादि पर वैठता है, विठाता है या वैठने वाले का अनुमोदन करता है।

---

१ सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा. २० ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाण उग्घाइय ।
—नि उ १२, सु १२

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

सोलसम 'गिही-णिसेज्जा-वज्जणं' ठाणं—

१२९ गोयरग्गपविट्ठस्स, निसेज्जा जस्स कप्पई ।
इमेरिसमणायार, आवज्जइ अबोहिय ॥
विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं अवहे वहो ।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिण ॥

अगुत्ती बभचेरस्स, इत्थीओ यावि सकणं ।
कुसीलवड्ढणं ठाण, दूरओ परिवज्जए ॥
—दस. अ ६, गा. ५७-५९

गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थइ ।
कह च न पबधेज्जा, चिट्ठित्ताण व सजए ॥
—दस अ ५, उ. २, गा. ८

सोलहवाँ 'गृह निषद्या वर्जन' स्थान—

१२९. भिक्षा के लिए प्रविष्ट मुनि गृहस्थ के घर मे बैठता है तो वह इन अनाचार और दोषो को प्राप्त होता है ।

ब्रह्मचर्य व्रत का विनाश, प्राणियो का अकाल मे वध, अन्य भिक्षाचरो के अन्तराय और घर वालो को क्रोध उत्पन्न होना ।

ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है और स्त्री के प्रति शका उत्पन्न होती है अत गृहस्थ के घर मे बैठना कुशीलवर्धक स्थान समझ कर मुनि इसका दूर से ही वर्जन करे ।

गोचरी के लिए गया हुआ साधु कही भी न बैठे और खडा रहकर भी अधिक समय कथा वार्ता न करे ।

अंतरगिहे णिसेज्जाए अववाओ—

१३०. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा—अतरगिहसि—

(१) चिट्ठित्तए वा, (२) निसीइत्तए वा,
(३) तुयट्टित्तए वा, (४) निद्दाइत्तए वा,
(५) पयलाइत्तए वा, (६) असण वा,
(७) पाण वा, (८) खाइम वा,
(९) साइम वा आहारमाहरित्तए, (१०) उच्चार वा,
(११) पासवण वा, (१२) खेल वा,
(१३) सिघाण वा परिट्ठवेत्तए
(१४) सज्झायं वा करित्तए, (१५) झाण वा झाइत्तए,
(१६) काउसग्ग वा ठाण ठाइत्तए ।

अह पुण एव जाणेज्जा वाहिए[1], जराजुण्णे, तवस्सी, दुब्बले, किलते, मुच्छेज्ज वा, पवडेज्ज वा, एव से कप्पइ अतरगिहसि चिट्ठित्तए वा-जाव-काउसग्ग वा ठाण ठाइत्तए ।

णो कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा अतरगिहसि-जाव-चउगाह वा पचगाह वा आइक्खित्तए वा विभवित्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा ।

नन्नत्थ एगनाएण वा, एगवागरणेणं वा, एगगाहाए वा, एगसिलोएण वा, से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अठिच्चा ।

गृह निषद्या के अपवाद—

१३०. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को गृहस्थ के घर मे,

(१) ठहरना, (२) बैठना,
(३) सोना, (४) निद्रा लेना,
(५) ऊंघ लेना, (६) अशन,
(७) पान, (८) खादिम,
(९) स्वादिम आहार करना, (१०) मल,
(११) मूत्र, (१२) खेंकार,
(१३) श्लेष्म परिष्ठापन करना,
(१४) स्वाध्याय करना, (१५) ध्यान करना,
(१५) कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है ।

यदि वह जाने कि जो भिक्षु व्याधिग्रस्त हो, वृद्ध हो, तपस्वी हो, या दुर्बल हो, थकान घबराहट से युक्त हो, वह मूर्च्छित हो जाये या गिर पडे तो उसे गृहस्थ के घर मे ठहरना —यावत्—कायोत्सर्ग कर स्थित होना कल्पता है ।

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को गृहस्थ के घर मे चार या पाँच गाथाओ द्वारा कथन करना, उनका अर्थ करना, धर्माचरण का कहना एव विस्तृत विवेचन करना नही कल्पता है ।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण, एक प्रश्नोत्तर, एक गाथा या एक श्लोक द्वारा कथन आदि करना कल्पता है । वह भी खडे रहकर कथन करे किन्तु बैठकर नही ।

---

१ तिण्हमन्नयरागस्स, निसेज्जा जस्स कप्पई । जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो । —दस. अ. ६, गा ६०
इस गाथा मे अतिवृद्ध, व्याधिग्रस्त और तपस्वी इन तीन को अपवाद रूप मे गृहस्थ के घर मे बैठने का विधान है किन्तु बृहत्कल्प सूत्र मे दुर्बल और परिश्रान्त का अधिक उल्लेख है । जिनका समावेश व्याधिग्रस्त मे समझा जा सकता है ।

नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अतरगिहसि, इमाइ पच महव्वयाइं सभावणाइं, आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा ।
नन्नत्थ एगनाएण वा-जाव-एगसिलोएण वा ।
से वि य ठिच्चा, नो चेव ण अठिच्चा ॥
—कप्प. उ. ३, सु २१-२३

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को गृहस्थ के घर मे भावना सहित पाँच महाव्रतो का कथन, अर्थ विस्तार या महाव्रताचरण के फल का कथन करना एवं विस्तृत विवेचन करना नही कल्पता है ।

किन्तु आवश्यक होने पर केवल एक उदाहरण—यावत्—एक श्लोक से कथन आदि करना कल्पता है । वह भी खडे रह-कर किन्तु बैठकर नही ।

सत्तरसमं 'असिणाणं' ठाण—

१३१. वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाण जो उ पत्थए ।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ सजमो ॥

सतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु य ।
जे उ भिक्खू सिणायतो, वियडेणुप्पिलावए ॥

तम्हा ते न सिणायति, सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वय घोर, असिणाणं महिट्ठगा ॥

सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि य ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरति कयाइ वि ॥
—दस. अ. ६, गा ६१-६४

सत्रहवाँ 'अस्नान' स्थान—

१३१. जो अस्वस्थ या स्वस्थ साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार का उल्लंघन होता है तथा उसका सयम शिथिल हो जाता है ।

पोली भूमि और दरार युक्त भूमि मे अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव होते है । भिक्षु के प्रासुक जल से स्नान करने पर भी उन जीवो की जल मे डूबने से विराधना अवश्य होती है ।

इसलिए मुनि शीत या उष्ण अचित्त जल से भी स्नान नही करते हैं वे जीवनपर्यन्त अस्नान रूप कठिन व्रत का पालन करते है ।

मुनि शरीर का उवटन करने के लिए सुगन्धित चूर्ण, कल्क, लोध्र पद्मकेसर आदि का प्रयोग कभी भी नही करते हैं ।

अट्ठारसमं 'अविभूसा' ठाणं—

१३२. नगिणस्स वा वि मुडस्स, दीहरोम-नहंसिणो ।
मेहूणा उवसंतस्स, किं विभूसाए कारियं ? ॥

विभूसावत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कण ।
ससारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥
विभूसावत्तिय चेयं, बुद्धा मन्नति तारिसं ।
सावज्जबहुल चेयं, नेय ताईहिं सेवियं ॥
—दस अ ६, गा ६५-६७

अठारहवाँ 'अविभूषा' स्थान –

१३२. मलिन एव परिमित वस्त्र होने से नग्न, द्रव्य-भाव से मुण्डित, दीर्घ-रोम और नखो वाले तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कोई प्रयोजन नही होता है ।

विभूषा वृत्ति के द्वारा भिक्षु चिकने (गाढ) कर्म का वन्धन करता है उसमे वह दुस्तर और घोर ससार सागर मे गिरता है ।

तीर्थंकर विभूषा के सकल्प को भी विभूषा प्रवृत्ति के समान ही मानते है यह विभूषा वृत्ति प्रचुर पाप का कारण है अतः छहकाय के रक्षक मुनि इसका सेवन नही करते है ।



संयमी जीवन का फल—८

सव्वगुण सम्पन्नयाए फल—

१३३ प०—सव्वगुणसपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सव्वगुणसपन्नयाए ण अपुणरावत्तिं जणयइ । अपुणरावत्तिं पत्तए ण जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाण नो भागी भवइ । —उत्त अ. २९, गा ४६

सर्व गुण सम्पन्नता का फल—

१३३. प्र०—भन्ते ! सर्वगुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सर्वगुण-सम्पन्नता से वह अपुनरावृत्ति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होता है । अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दुःखो का भागी नही होता ।

सामाइय फल—

१३४ प०—सामाइएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सामाइएण सावज्जजोगविरइं जणयइ ।

—उत्त अ २९, सु. १०

सामायिक का फल—

१३४. प्र०—भन्ते ! सामायिक की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सामायिक से वह योगो की सावद्य प्रवृत्ति से विरति को प्राप्त होता है ।

सजमाराहणाए फल—

१३५ दुक्कराइ करेत्ताण, दुस्सहाइ सहेत्तु य ।
के इत्थ देवलोएसु, केई सिज्झति नीरया ॥

खवित्ता पुव्वकम्माइ सजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ताइणो परिनिव्वुडे ॥

—दस अ ३, गा १४-१५

खवेंति अप्पाणममोहदसिणो, तवे रया सजम अज्जवे गुणे ।
धुणति पावाइ पुरेकडाइ, नवाइ पावाइ न ते करेंति ॥

सओवसता अममा अकिंचणा,
सविज्जविज्जाणुगया जससिणो ।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा,
सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो ॥

—दस. अ. ६, गा. ६७-६८

एते ओघ तरिस्सति, समुद्द य ववहारिणो ।
जत्थ पाणा विसण्णासी, किच्चती सयकम्मुणा ॥

तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ।
मुसावाय च वज्जेज्जा, अदिण्णादाण च वोसिरे ॥

उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तस-थावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहितं ॥

—सूय सू. १, अ. ३, उ ४, गा १८-२०

प०—जे इमे भंते ! अज्जत्ताए समणा निग्गथा विहरंति, एते णं कस्स तेयलेस्सं वीयीवयति ?

उ०—गोयमा ! मास परियाए समणे निग्गथे वाणमंतराण देवाण तेयलेस्सं वीयीवयति ।

दुमासपरियाए समणे निग्गंथे असुरिंदवज्जियाण भवणवासीण देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

तिमासपरियाए समणे निग्गथे असुरकुमाराणं देवाणं तेयलेस्स वीयीवयति ।

सयम की आराधना का फल—

१३५. दुष्कर आचार का पालन करते हुए और दुःसह परीषहों को सहते हुए उन निर्ग्रन्थो मे से कई देवलोक मे जाते हैं और कई कर्म रहित होकर सिद्ध होते हैं ।

छ काय के रक्षक मुनि सयम और तप द्वारा पूर्व सचित कर्मों का क्षय करके सिद्धि मार्ग को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं ।

अमोघदर्शी, तप, सयम और ऋजुता आदि गुणो मे रत मुनि अपने शरीर को कृश कर देते हैं । वे पुराकृत पाप कर्मों का नाश करते हैं और नए पाप कर्म नही करते हैं ।

सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिंचन, आत्म-विद्यायुक्त, यशस्वी और छ काया के रक्षक मुनि शरद ऋतु के चन्द्रमा की तरह निर्मल होकर मुक्त हो जाते हैं या वैमानिक देवो मे उत्पन्न होते हैं ।

जिस ससार समुद्र मे पडे हुए प्राणी अपने कर्मों से पीडित होते हैं उस ससार को मुनि उसी तरह पार कर लेते हैं जिस तरह कि व्यापारी समुद्र को पार कर लेते हैं ।

सयम व परीषहो के स्वरूप को जानकर भिक्षु महाव्रतों का सम्यग् रूप से पालन करे । असत्य भाषण का पूर्ण रूप से वर्जन करे तथा अदत्त ग्रहण आदि का भी पूर्ण त्याग करे ।

ऊपर नीचे तिरछे लोक मे जो कोई भी त्रस स्थावर प्राणी है उनकी हिंसा से पूर्ण निवृत्त रहे । ऐसा करने से ही शान्ति रूपी निर्वाण पद की प्राप्ति कही गई है ।

प्र०—भगवन् ! जो ये श्रमण निर्ग्रन्थ आर्यत्व युक्त (पाप रहित) होकर विचरण करते हैं, वे किसकी तेजोलेश्या का अतिक्रमण करते हैं ?

उ०—गौतम ! एक मास की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ वाणव्यन्तर देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

दो मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ असुरेन्द्र के सिवाय भवनवासी देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

तीन मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ, असुरकुमार देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

चउम्मासपरियाए समणे निग्गथे नक्खत्ततारारूवाण जोतिसियाण देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

चार मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ग्रहगण-नक्षत्र तारारूप ज्योतिष्क देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

पचमासपरियाए समणे निग्गथे चदिमसूरियाणं जोतिसियाण जोतिसराईण तेयलेस्स वीयवयति ।

पाँच मास की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज चन्द्र और सूर्य की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

छम्मासपरियाए समणे निग्गथे सोहम्मीसाणाणं देवाण तेयलेस्सं वीयीवयति ।

छह माम की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सौधर्म और ईशानकल्पनामी देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

सत्तमासपरियाए समणे निग्गथे सणंकुमार माहिंदाणं देवाण तेयलेस्सं वीयीवयति ।

सात मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सनत्कुमार और माहेन्द्र देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

अट्ठमासपरियाए बंभलोग-लतगाणं देवाण तेयलेस्स वीयीवयति ।

आठ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ब्रह्मलोक और लान्तक देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

नवमासपरियाए समणे निग्गथे महासुक्क-सहस्साराणं देवाणं तेयलेस्स वीयीवयति ।

नौ मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महाशुक्र और सहस्रार देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

दसमासपरियाए समणे निग्गथे आणय-पाणय-आरण-अच्चुयाण देवाणं तेयलेस्सं वीयीवयति ।

दस मास की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

एक्कारसमासपरियाए समणे निग्गंथे गेवेज्जगाणं देवाण तेयलेस्स वीयीवयति ।

ग्यारह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ, ग्रैवेयक देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

बारसमासपरियाए समणे निग्गथे अणुत्तरोववातियाणं देवाणं तेयलेस्स वीतीवयति ।

बारह मास की दीक्षा-पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अनुत्तरोपपातिक देवो की तेजोलेश्या का अतिक्रमण करता है ।

तेण पर सुक्के सुक्काभिजातिए भवित्ता ततो पच्छा सिज्झति-जाव-अतं करेति ।

—विया. स. १४, उ. ९, सु १७

इसके बाद शुक्ल एव परम शुक्ल होकर फिर वह सिद्ध होता है,—यावत्—समस्त दु खो का अन्त करता है ।

धम्मराहणाए परिणामो—

१३६ अणागयमपस्सता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥

जेहिं काल परक्कत, न पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बधणुमुक्का नावकंखति जीवियं ।

—सूय. सु १, अ. ३, उ. ४, गा. १४-१५

तिहिं ठाणेहिं सपण्णे अणगारे
१. अणादीयं, २. अणवदग्गं, ३. दीहमद्धं ।
चाउरतं संसारकतार वीईवएज्जा, तं जहा—
१. अणिदाणयाए, २. दिट्ठिसंपण्णयाए ३ जोगवाहियाए ।

—ठाण. अ. ३, उ. १, सु. १४४

धर्माराधना का फल—

१३६. भविष्य मे होने वाले दुःख को न देखते हुए जो लोग वर्तमान सुख के अन्वेषण मे रत रहते है वे बाद मे आयु और युवावस्था क्षीण होने पर पश्चात्ताप करते हैं ।

जिन पुरुषो ने धर्मोपार्जन के समय पर ही धर्माचरण मे पराक्रम किया है, वे पीछे पश्चात्ताप नही करते । वे धीर पुरुष बन्धनो से उन्मुक्त होकर असयमी जीवन की आकाक्षा नही करते हैं ।

तीन स्थानो से सम्पन्न अनगार अनादि अनन्त अतिविस्तीर्ण चातुर्गतिक ससार कातार से पार हो जाता है—(१) अनिदानता—भोग प्राप्ति के लिए संकल्प नहीं करने से, (२) दृष्टि सम्पन्नता—सम्यग् दृष्टि से, (३) योगवाहिता—योग का वहन करने या समाधिस्थ रहने मे ।

सवुड भिक्खुस्स फलं—

१३७ सवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठ अवोहिए।
तं संजमओवचिज्जइ, मरण हेच्च वयति पडिता॥
—सूय सु १, अ २, उ ३, गा १

संवृत भिक्षु का फल—

१३७ अष्टविध कर्मों का आगमन जिसने रोक दिया है। ऐसे भिक्षु को अज्ञानवश जो दुःख स्पृष्ट हो चुका है, वह संयम से क्षीण हो जाता है। वे पण्डित मृत्यु को छोडकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

णिग्गथ मुत्ति—

१३८ सीतोसिणच्चाई से णिग्गथे, अरति-रतिसहे, फारुसियं णो वेदेति, जागर-वेरोवरते वीरे। एव दुक्खा पमोक्खसि।
—आ. सु. १, अ ३, उ १, सु· १०७ (ख)

निर्ग्रन्थ की मुक्ति—

१३८ निर्ग्रन्थ सर्दी और गर्मी को सहन करता है, अरति और रति को सहन करता है, कष्ट का वेदन नही करता। जागृत रहता है और वैर से उपरत होता है, वह वीर दुःख से मुक्त हो जाता है।

सुसमणस्स समाहि तह कुसमणस्स असमाहि—

१३९. अहो य रातो य समुट्ठितेहिं, तहागतेहिं पडिलब्भ धम्मं।
समाहिमाघातमझोसयता, सत्थारमेव फरुस वयति॥

विसोहिय ते अणुकाहयते, जे आतभावेण वियागरेज्जा
अट्ठाणिए होति वहुगुणाणं, जे णाणसकाए मुस वदेज्जा॥

जे यावि पुट्ठा पलिउचयति, आदाणमट्ठं खलु वंचयति।
असाहुणो ते इह साधुमाणी, मायण्णि एहिंति अणंतघ॥

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अधे व से दडपह गहाय, अविओसिए, घासइ पावकम्मी॥

जे विग्गहीए अन्नायभासी,
न से समे होति अझझपत्ते।
ओवायकारी य हिरीमणे य,
एगतदिट्ठी य अमाइरूवे॥

से पेसले सुहुमे पुरिसजाते,
जच्चण्णिए चेव सुउज्जुयारे।
वहु पि अणुसासिते जे तहच्चा,
समे हु से होति अझझपत्ते॥

जे आवि अप्प वसुम ति मत्ता,
सखाय वाद अपरिच्छ कुज्जा।
तवेण वाह सहिउ त्ति मत्ता,
अण्णं जण पस्सति विंवभूत॥

सुश्रमण की समाधि और कुश्रमण की असमाधि—

१३९. दिन-रात सम्यक् रूप से अनुष्ठान करने मे उद्यत, तीर्थंकरो से श्रुत-चारित्र धर्म को पाकर उनके द्वारा कथित समाधि का सेवन न करते हुए कुछ अविनीत शिष्य अपने धर्मोपदेशक को ही कठोर शब्द कहते हैं।

जो शुद्ध वीतराग मार्ग से विपरीत अपनी रुचि के अनुसार प्ररूपणा करते हैं तथा तीर्थंकर के ज्ञान मे शका करके मिथ्या-भाषण करते हैं वे उत्तम गुणो के पात्र नहीं होते हैं।

जो पूछने पर अपने गुरु आदि का नाम छिपाते हैं, वे मोक्ष से अपने आप को वचित करते हैं। वे वस्तुत इस जगत् में असाधु होते हुए भी स्वय को साधु मानते हैं ऐसे मायावी अनन्त वार जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।

जो पुरुष क्रोधी है, परदोषभाषी है, जो उपशान्त हुए कलह को फिर जगाता है, वह पापकर्मी, सदा कलहग्रस्त व्यक्ति, संकडी पगडडी से जाते हुए अधे की तरह दुःख का भागी होता है।

जो साधक कलह करता है, न्याय विरुद्ध वोलता है, वह मध्यस्थ नही हो सकता है तथा कलह रहित भी नहीं होता किन्तु जो गुरु के निर्देशानुसार चलने वाला, पाप कार्य से लज्जित होने वाला, जीवादि तत्वो मे निश्चित दृष्टि वाला तथा माया रहित व्यवहार वाला होता है।

भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनेक वार अनुशासित होकर भी जो अपनी लेश्या शुद्ध रखता है, वह सुसाधक मृदु-भाषी या विनयादिगुणयुक्त है। सूक्ष्मार्थदर्शी है, सयम मे पुरुषार्थी है, उत्तम जाति से समन्वित और साध्वाचार मे सहज सरल भाव से प्रवृत्त रहता है मध्यस्थभाव युक्त और मायादि कषाय से रहित होता है।

जो अपने आप को संयम एवं ज्ञान का धनी मानकर अपनी परीक्षा किये विना ही किसी के साथ वाद छेड देता है, अथवा अपनी प्रशंसा करता है, तथा "मैं महान् तपस्वी हूँ", इस प्रकार के मद से मत्त होकर दूसरे व्यक्ति को जल मे पडे हुए चन्द्रमा के प्रतिविम्व की तरह निरर्थक समझता है।

एगंतकूडेण उ से पलेइ,
ण विज्जती मोणपदसि गोत्ते ।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा,
वसुमण्णतरेण अबुज्झमाणे ॥

वह मदलिप्त साधु एकान्तरूप से मोहरूपी कूटपाश मे फस कर ससार मे परिभ्रमण करता है, तथा जो सम्मान प्राप्ति के लिए सयम, तपस्या, ज्ञान आदि मे विविध प्रकार का मद करता है, वह संयम पथ मे स्थित नही है । वास्तव मे संयम लेकर जो ज्ञानादि का मद करता है, वह परमार्थतः सर्वज्ञ-मार्ग को नही जानता ।

जे माहणे जातिए खत्तिए वा,
तह उग्गपुत्ते तह लेच्छती वा ।
जे पव्वइते परदत्तभोई,
गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्र अथवा लिच्छवीवंशी है जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी है, जो अभिमान योग्य (उच्च) गोत्र का मद नही करता है, वही सर्वज्ञोक्त यथातथ्य चारित्र मे प्रवृत्त साधु है ।

ण तस्स जाई व कुल व ताण,
णण्णत्थ विज्जा-चरण सुचिण्ण ।
णिक्खम्म जे सेवइऽगारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥
—सूय. सु १, अ १३, गा. ९-११

भलीभांति आचरित ज्ञान और चारित्र के सिवाय अन्य जाति कुल आदि दुर्गति से उसकी रक्षा नही कर सकते । जो प्रव्रज्या लेकर फिर गृहस्थ के कर्मों (सावद्य कार्य) का सेवन करता है वह कर्मो से विमुक्त होने मे समर्थ नही होता ।

अण्णाणी समणस्स गई—

१४० समणा मु एगे वयमाणा, पाणवह मिया अयाणन्ता ।
मन्दा निरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥
— उत्त. अ. ८, गा ७

अज्ञानी श्रमण की गति—

१४०. कुछ पशु की भाँति अज्ञानी पुरुष "हम श्रमण हैं" ऐसा कहते हुए भी प्राणवध को नही जानते । वे मन्द और बालपुरुष अपनी पापमयी दृष्टियो से नरक मे जाते हैं ।

भिक्खुस्स अहिंसा फलं—

१४१. पाणे य नाइवाएज्जा, से "समिए" ति वुच्चई ताई ।
तओ से पावय कम्म, निज्जाइ उदग व थलाओ ॥
— उत्त अ ८, गा ९

भिक्षु के अहिंसा का परिणाम —

१४१ जो जीवो की हिंसा नही करता वह साधक "समित" सम्यक् प्रवृत्ति वाला कहा जाता है। उस आत्मा से पाप-कर्म वैसे ही निकल जाता है जैसे ऊँचे स्थान से जल ।

भिक्खुस्स हिंसाणुमोयण फलं—

१४२. "न हु पाणवह अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाण" ।
एवायरिएहिं अक्खाय, जेहिं इमो साहुधम्मो पण्णत्तो ॥
—उत्त. अ ८, गा. ८

भिक्षु के हिंसानुमोदन का फल—

१४२ जिन्होने साधु धर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्य पुरुषो ने ऐसा कहा है कि—"जो प्राणवध का अनुमोदन भी करता है, वह कभी भी सब दुःखो से मुक्त नही हो सकता ।"

भोगासत्ति परिणामो—

१४३ भोगामिसदोसविसण्णे हियनिस्सेयस बुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलमि ॥
—उत्त अ ८, गा ५

भोगासक्ति का परिणाम —

१४३. आत्मा को दूषित करने वाले, आमिषरूप भोगो मे निमग्न, हित और मोक्ष के विषय मे विपरीत बुद्धि रखने वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ जीव कर्मों से वैसे ही बंध जाता है, जैसे श्लेष्म मे मक्खी ।

सुव्वयाणं संसारुत्तारो—

१४४. दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया व ॥
—उत्त अ. ८, गा. ६

सुव्रती साधु का संसार पार—

१४४. इन काम-भोगो का त्याग दुष्कर है, अधीर पुरुषो के द्वारा कामभोग आसानी से नही छोड़े जाते । किन्तु जो सुव्रती साधु हैं वे दुस्तर काम भोगो को उसी प्रकार पार कर लेते हैं, जैसे—वणिक समुद्र को ।

कुसमणस्स दुग्गई सुसमणस्स सुग्गई—

१४५ एयारिसे पंच कुसीलऽसवुडे, रूवधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे ।
अयसिलोए विसमेव गरहिए, न से इह नेव परत्थलोए ॥
—उत्त अ १७, गा २०

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स ।
उच्छोलणा पहोइस्स, दुल्लहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥
—दस अ ४, गा २६

चीराजिण नगिणिण जडी सघाडी मुडिण ।
एयाणि वि न तायति दुस्सील परियागय ॥
पिंडोलए व्व दुस्सीलो नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कमई दिवं ॥
—उत्त अ ५, गा २१-२२

जे वज्जए एए सया उ दोसे, से सुव्वए होइ मुणीणमज्झे ।
अयसि लोए अमयं व पूइए, आराहए लोगमिणं तहापर ॥
—उत्त अ १७, गा २१

कुश्रमण की दुर्गति और सुश्रमण की सद्गति—

१४५ जो पूर्व वर्णित आचरण करने वाला, पाँच प्रकार के कुशीलो से युक्त केवल मुनि के वेश को धारण करने वाला और श्रेष्ठ मुनियो की अपेक्षा हीन सयम वाला होता है, वह इस लोक मे विप की तरह निंदित होता है तथा उसके यह लोक और परलोक दोनो ही नही सुधरते ।

जो श्रमण इन्द्रिय सुख का इच्छुक, शाता के लिए आकुल, अधिक सोने वाला और हाथ पैर आदि को वार-बार धोने वाला होता है उमके लिए सुगति दुर्लभ है ।

वस्त्र, चर्म, नग्नता, जटा धारण, गुदडी धारण, सिरमुडन आदि दु शील साधु की दुर्गति से रक्षा नही कर सकते ।

भिक्षाजीवी साधु यदि दु शील है तो वह नरक से मुक्त नही हो सकता। भिक्षु हो या गृहस्थ यदि वह सुव्रती है तो दिव्य गति को प्राप्त करता है ।

जो इन पूर्वोक्त दोषो का सदा वर्जन करता है वह मुनियो मे सुव्रती होता है। वह इस लोक मे अमृत की तरह पूजित होता है तथा इस लोक और परलोक दोनो लोक की आराधना करता है ।

मज्ज सेवणस्स विवज्जणस्स य परिणामो—

१४६ सुर वा मेरग वा वि, अन्नं वा मज्जग रस ।
ससक्ख न पिवे भिक्खू, जस सारक्खमप्पणो ॥
पिया एगइओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ ।
तस्स पस्सह दोसाइ, नियडिं च सुणेह मे ॥

वड्ढई सोंडिया तस्स, मायामोस च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ॥
निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहि दुम्मई ।
तारिसो मरणते वि, नाराहेइ सवर ॥

आयरिए नाऽऽराहेइ, समणे यावि तारिसो ।
गिहत्थ वि ण गरहति, जेण जाणति तारिस ॥

एवं तु अगुणप्पेही, गुणाण च विवज्जओ ।
तारिसो मरणते वि, नाऽऽराहेइ संवर ॥

तवं कुव्वइ मेहावी, पणीयं वज्जए रसं ।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ॥

मद्य सेवन का और विवर्जन का परिणाम—

१४६ अपने सयम का सरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से न पीए।

जो मुनि मुझे कोई नही जानता (यो सोचता हुआ) एकान्त मे स्तेनवृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषो को देखो और मायाचरण को मुझसे सुनो ।

उस भिक्षु के उन्मत्तता, माया मृपा, क्षयश, अतृप्ति और सतत असाधुता ये दोष बढते हैं ।

वह दुर्मति अपने दुष्कर्मो से चोर की भाँति सदा उद्विग्न रहता है। मद्यप मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर की आराधना नही कर पाता ।

वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणो की भी । गृहस्थ भी उसे मद्यप मानते हैं, इसलिए उसकी गर्हा करते हैं ।

इस प्रकार अगुणो की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणो को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल मे भी सवर की आराधना नही कर पाता ।

जो बुद्धिमान् साधक प्रणीत रस युक्त भोजनो को छोडकर तपश्चर्या करता है, जो मद्य प्रमाद मे विरत होता है। वह तपस्वी विकास मार्ग मे आगे बढ़ता है ।

तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइयं ।
विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ॥

एवं तु गुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जओ ।
तारिसो मरणंते वि, आराहेइ संवरं ॥

आयरिए आराहेइ, समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ॥

—दस अ. ५, उ. २, गा. ३९-४५

अनेक साधुओ के द्वारा प्रशंसा को प्राप्त उस भिक्षु के कल्याण को देखो—वह विपुल सयम गुणो से युक्त होता है। मैं उसके गुणो का कथन करूँगा उसे मुझसे सुनो —

इस प्रकार गुण की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और अगुणो को वर्जने वाला, शुद्ध भोजी मुनि मरणान्तकाल मे भी संवर की आराधना करता है।

वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणो की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्ध भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं।

मज्जाइ सेवण-णिसेहो—

१४७. अमज्ज-मंसासि अमच्छरिया, अभिक्खणं निव्विगईगया य ।
अभिक्खणं काउसग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा ॥

— दस अ १०, चू २, गा. ७

मद्यादि सेवन का निषेध—

१४७. साधु मद्य और मास का अभोजी हो, अमत्सरी हो, वार-वार विकृतियो को सेवन न करने वाला हो, वार-वार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए योगोद्वहन मे प्रयत्नशील हो।



दिवस रात्रिक समाचारी—१

समायारी महत्तं—

१४८. सामायारिं पवक्खामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
जं चरित्ता ण निग्गंथा, तिण्णा संसार-सागरं ॥

—उत्त. अ २६, गा. १

समाचारी का महत्व—

१४८ मैं सब दुःखो से मुक्त करने वाली उस समाचारी का निरूपण करूँगा, जिसका आचरण कर अनेक निर्ग्रन्थ ससार-सागर से तिर गये।

दसविहा समायारी—

१४९ पढमा आवस्सिया नामं, बिइया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य तइया, चउत्थी पडिपुच्छणा ॥
पंचमी छन्दणा नाम, इच्छाकारो य छट्ठओ ।
सत्तमो मिच्छकारो य, तहक्कारो य अट्ठमो ॥
अब्भुट्ठाणं च नवमं, दसमी उवसंपदा ।
एसा दसंगा साहूणं सामायारी पवेइया ॥[1]

—उत्त अ. २६, गा. २-४

दस प्रकार की समाचारी—

१४९ पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी,
तीसरी आपृच्छना, चौथी प्रति-पृच्छना है।
पाँचवी छन्दना, छठी इच्छाकार,
सातवी मिथ्याकार, आठवी तथाकार।
नौवी अभ्युत्थान, दशवी उपसम्पदा,
ज्ञानियो ने यह दश प्रकार की साधुओ की समाचारी कही है।

---

१ दस प्रकार की समाचारी,
उत्तराध्ययन अ २६, गाथा २-३-४, स्थानांग अ. १०, सूत्र ७४९, भगवती श. २५, उ ७, सूत्र १९४

स्थानांग और भगवती मे नाम और क्रम समान है अत भगवती और उत्तराध्ययन की तालिका दी जाती है ।—

उत्तराध्ययन सूत्र	भगवती सूत्र
(१) आवश्यिकी	(४) आवश्यिकी
(२) नैषेधिकी	(५) नैषेधिकी,
(३) आपुच्छणा	(६) आपुच्छणा

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

समायारीए पव्वत्तण—

१५० (१) गमणे आवस्सियं कुज्जा,
(२) ठाणे कुज्जा निसीहिय,
(३) आपुच्छणा सयकरणे,
(४) परकरणे पडिपुच्छणा,
(५) छन्दणा दव्वमाएण,
(६) इच्छाकारो य सारणे,
(७) मिच्छाकारो य निन्दाए,
(८) तहक्कारो य पडिस्सुए,
(९) अब्भुट्ठाण गुरुपूया,
(१०) अच्छणे उवसपदा।

एव दु-पचसजुत्ता, सामायारी पवेइया।

—उत्त अ २६, गा. ५-७

समाचारी का प्रवर्तन—

१५० १ स्थान से वाहर जाते समय आवस्सही ३ कहना।

२ स्थान मे प्रवेश करते समय निस्सही ३ कहना।

३ अपना कार्य करने से पूर्व गुरु से अनुमति लेना।

४ एक कार्य से दूसरा कार्य करते समय गुरु से पुन अनुमति लेना।

५. 'आपकी इच्छा हो तो इन पदार्थों मे से कुछ लें' इस प्रकार गुरु आदि से कहना।

६. सारणा मे इच्छाकार का प्रयोग करे, आपकी इच्छा हो तो मैं आपका अमुक कार्य करूँ, आपकी इच्छा हो तो कृपया मेरा अमुक कार्य करें।

७ साधु वृत्ति से विपरीत आचरण होने पर 'मिच्छामि दुक्कड' देना।

८ गुरु के वचनो को सुनकर "तहत्ति"—'जैसा आपने कहा वैसा ही है' इस तरह कहना।

९ गुरु के प्रति पूज्य भाव दिखाने के लिए गुरु के आने पर खडा होना।

१०. ज्ञान प्राप्ति के लिए आचार्य या उपाध्याय आदि के पास रहना।

यह दश प्रकार की समाचारी कही गई है।

देवसिय समायारी—

१५१ पुव्विल्लम्मि चउब्भाए, आइच्चम्मि समुट्ठिए।
भण्डय पडिलेहित्ता, वन्दित्ता य तओ गुरु॥
पुच्छेज्ज पजलिउडो, किं कायव्व मए इह?।
इच्छ निओइउ भन्ते! वेयावच्चे व सज्झाए॥

वेयावच्चे निउत्तेण, कायव्व अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्खविमोक्खणे॥

दिवस समाचारी—

१५१ सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग मे उपकरणो की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर गुरु को वन्दना कर—

हाथ जोड कर पूछे—"अव मुझे क्या करना चाहिए? भते! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्य या स्वाध्याय मे से किसी एक कार्य मे नियुक्त करें।"

वैयावृत्य मे नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से वैयावृत्य करे अथवा सर्व दु खो से मुक्त करने वाले स्वाध्याय मे नियुक्त किये जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

उत्तराध्ययन सूत्र	भगवती सूत्र
(४) पडिपुच्छणा	(७) पडिपुच्छणा
(५) छंदणा	(८) छदणा
(६) इच्छाकार	(१) इच्छाकार
(७) मिच्छाकार	(२) मिच्छाकार
(८) तहकार	(३) तहकार
(९) अब्भुत्थान	(९) निमन्त्रण
(१०) उवसपया	(१०) उवसपया

९वीं १०वीं समाचारी का क्रम तीनो सूत्रो मे समान है। शेष के क्रम मे भिन्नता है। ९वीं समाचारी के नाम की भिन्नता है किन्तु अर्थ समान ही किया है।

दिवसस्स चउरो भागे, कुज्जा भिक्खू वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, दिणभागेसु चउसु वि ।।
पढम पोरिसिं सज्झायं, वीय झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं ।।
—उत्त अ. २६, गा. ८-१२

विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे । उन चारो भागो मे स्वाध्याय आदि उत्तरगुणो की आराधना करे ।

प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय और दूसरे प्रहर मे ध्यान करे । तीसरे प्रहर मे भिक्षाचरी और चौथे मे पुन स्वाध्याय करे ।

पोरिसी विण्णाणं—

१५२ आसाढे मासे दुपया, पोस मासे चउप्पया ।
चित्तासोएसु मासेसु, तिपया हवइ पोरिसी ।।

अंगुलं सत्तरत्तेण, पक्खेण य दुयगुलं ।
वड्ढए हायए वावी, मासेण चउरंगुल ।।
—उत्त अ. २६, गा. १३-१४

पौरुषी विज्ञान—

१५२. आषाढ मास मे दो पाद प्रमाण पौष मास मे चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास मे तीन पाद प्रमाण छाया होने पर पौरुषी होती है ।

सात दिन रात मे एक अगुल, पक्ष मे दो अंगुल और एक मास मे चार अंगुल वृद्धि और हानि होती है । (श्रावण मास से पौष तक वृद्धि और माघ से आषाढ तक हानि होती हैं ।)

छ ओमरत्ताओ –

१५३. छ ओमरत्ता पण्णत्ता, त जहा—

(१) ततिए पव्वे,
(२) सत्तमे पव्वे,
(३) एक्कारसमे पव्वे,
(४) पण्णरसमे पव्वे,
(५) एगूणवीसइमे पव्वे,
(६) तेवीसइमे पव्वे ।[1] —ठाणं अ. ६, सु. ५२४ (क)

छ. क्षय तिथियाँ—

१५३. छह अवमरात्र (क्षय तिथियाँ) होते है, यथा—

१. तीसरे पर्व—आषाढ कृष्णपक्ष मे,
२ सातवें पर्व—भाद्रपद कृष्णपक्ष मे,
३. ग्यारहवें पर्व—कार्तिक कृष्णपक्ष मे,
४. पन्द्रहवें पर्व—पौष कृष्णपक्ष मे,
५ उन्नीसवें पर्व—फाल्गुन कृष्णपक्ष मे,
६ तेईसवें पर्व—वैसाख कृष्णपक्ष मे,

छ अतिरत्ताओ –

१५४ छ अतिरत्ता पण्णत्ता, तं जहा—

(१) चउत्थे पव्वे,
(२) अट्ठमे पव्वे,
(३) दुवालसमे पव्वे,
(४) सोलसमे पव्वे,
(५) वीसइमे पव्वे,
(६) चउवीसइमे पव्वे । —ठाणं. अ. ६, सु ५२४ (ख)

छ वृद्धि तिथियाँ—

१५४ छह अतिरात्र (वृद्धि तिथियाँ) होती हैं, यथा—

१ चौथे पर्व—आषाढ़ शुक्लपक्ष मे,
२. आठवें पर्व—भाद्रपद शुक्लपक्ष मे,
३ बारहवें पर्व—कार्तिक शुक्लपक्ष मे,
४. सोलहवें पर्व—पौष शुक्लपक्ष मे,
५ वीसवें पर्व—फाल्गुन शुक्लपक्ष मे,
६ चौवीसवें पर्व—वैसाख शुक्लपक्ष मे,

पत्त-पडिलेहणा कालो—

१५५ जेट्ठामूले आसाढ सावणे, छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा ।
अट्ठहिं बीय तियम्मी, तइए दस अट्ठहि चउत्थे ।।
—उत्त. अ. २६, गा १६

पात्र-प्रतिलेखना का काल—

१५५. ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण इस प्रथम त्रिक मे छह अंगुल, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक इस द्वितीय त्रिक मे आठ अगुल, मृगशिर, पौष, माघ इस तृतीय त्रिक मे दस अगुल और फाल्गुन, चैत्र, वैशाख इस चतुर्थ त्रिक मे आठ अंगुल पौरुषी के माप मे वृद्धि करने से पौन पौरुषी (अर्थात् पात्र-प्रतिलेखना) का समय होता है ।

---

१ उत्त. अ. २६, गा १५ ।

पढम पोरिसी समायारी—

१५६ पुव्विल्लमि चउब्भाए, पडिलेहित्ताण भण्डय ।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं, कुज्जा दुक्खविमोक्खण ॥

पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरु ।
अपडिक्कमित्ता कालस्स, भायण पडिलेहए ॥

—उत्त. अ. २६, गा २१-२२

प्रथम पौरुषी की समाचारी—

१५६. दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग मे उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुरु को वन्दना कर, दुःख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे ।

पौन पौरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना करके स्वाध्याय काल का प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग किए विना ही पात्र की प्रतिलेखना करे ।

पडिलेहणा विही—

१५७ मुहपोत्तिय पडिलेहित्ता, पडिलेहिज्ज गोच्छग ।
गोच्छगलइयगुलिओ, वत्थाइ पडिलेहए ॥

उड्ढं थिरं अतुरियं, पुव्व ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो विइय पप्फोडे, तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ॥

अणच्चावियं अवलिय, अणाणुवन्धि अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा, पाणीपाणविसोहणं ॥

—उत्त. अ. २६, गा २३-२५

प्रतिलेखना की विधि—

१५७ मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करे और गोच्छग को अगुलियो से पकडकर वस्त्रो की प्रतिलेखना करे ।

प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए विना उसकी प्रतिलेखना करे । दूसरे मे वस्त्र को झटकाए और तीसरे मे वस्त्र की प्रमार्जना करे ।

प्रतिलेखना करते समय—१ वस्त्र या शरीर को न नचाए, २ वस्त्र कही मुडा हुआ न रहे, ३ वस्त्र पर निरन्तर उपयोग रखे, ४. भीत आदि से वस्त्र का स्पर्श न करे, ५ वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे और ६ जो कोई प्राणी हो उसको हाथो पर लेकर विशोधन करे ।

पडिलेहणा दोसाई—

१५८ (१) आरभडा, (२) सम्मद्दा,
वज्जेयव्वा य मोसली (३) तइया ।
पप्फोडणा (४) चउत्थी,
विक्खित्ता (५) वेइया (६) छट्ठा ॥

(७) पसिढिल (८) पलम्ब (९) लोला,
(१०) एगामोसा (११) अणेगरूवधुणा ।
कुणइ (१२) पमाणि-पमाय,
संकिए गणणोवग (१३) कुज्जा ॥

—उत्त अ. २६, गा. २६-२७

प्रतिलेखना के दोष—

१५८ (१) **आरभटा**—उतावल से प्रतिलेखना करना ।

(२) **सम्मर्दा**—उपधि पर बैठकर प्रतिलेखना करना ।

(३) **मोसली**—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे दिवाल आदि से सघट्टित करना ।

(४) **प्रस्फोटना**—अयतना से वस्त्र को झटकना ।

(५) **विक्षिप्ता**—प्रतिलेखित-अप्रतिलेखित वस्त्रो को एक साथ रखना ।

(६) **वेदिका**—विपरीत आसन से बैठकर प्रतिलेखना करना ।

(७) **प्रशिथिल**—वस्त्र को ढीला पकडना ।

(८) **प्रलम्ब**—वस्त्र की प्रतिलेखना दूर से करना ।

(९) **लोल**—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का भूमि से सघर्ष करना ।

(१०) **एकामशा**—एक दृष्टि मे ही समूचे वस्त्र को देख लेना ।

(११) **अनेक रूप धूनना**—वस्त्र को अनेक वार झटकाना ।

(१२) **प्रमाण-प्रमाद** - प्रस्फोटन प्रमार्जन का जो प्रमाण बताया है उसमे प्रमाद करना ।

(१३) **गणनोपगणना**—प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण मे शंका होने पर उसकी गिनती करना ।

अणूणाइरित्त-पडिलेहणा—

१५९. अणूणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा तहेव य।
पढम पय पसत्थ सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥
—उत्त अ २६, गा २८

अन्यूनाधिक प्रतिलेखना—

१५९. प्रतिलेखना के विषय मे शास्त्रोक्त विधि से कम न करना, अधिक न करना और विपरीत न करना यह प्रथम विकल्प प्रशस्त है और शेप अप्रशस्त है।

पडिलेहणा पमत्तो विराहओ—

१६० पडिलेहण कुणन्तो, मिहोकह कुणइ जणवयकह वा।
देइ व पच्चक्खाणं, वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥

पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाण।
पडिलेहणापमत्तो, छण्ह पि विराहओ होइ ॥
—उत्त अ २६, गा. २९-३०

प्रतिलेखना-प्रमत्त विराधक—

१६०. जो प्रतिलेखना करते समय परस्पर वार्तालाप करता है, जन-पद की कथा करता है, प्रत्याख्यान कराता है, दूसरो को पढाता है अथवा स्वयं पढता है।

इस प्रकार प्रतिलेखना मे प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहो कायो का विराधक होता है।

पडिलेहणा आउत्तो आराहओ—

१६१. पुढवी-आउक्काए, तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-तसाणं।
पडिलेहणाऽउत्तो छण्हं आराहओ होइ ॥
—उत्त अ. २६, गा ३०

प्रतिलेखना मे उपयुक्त आराधक—

१६१ प्रतिलेखना मे अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहो कायो का आराधक होता है।

तइयाए पोरिसीए समायारी—

१६२ तइयाए पोरिसीए भत्त पाण गवेसए।
छण्हं अन्नयरागम्मि. कारणंमि समुट्ठिए ॥
—उत्त अ २६, गा ३१

तृतीय पौरुषी समाचारी—

१६२ छह कारणो मे से किसी एक के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर मे भक्त और पान की गवेषणा करे।

चउत्थीए पोरिसीए समायारी—

१६३ चउत्थीए पोरिसीए, निक्खिवित्ताण भायणं।
सज्झाय तओ कुज्जा, सव्वभावविभावण ॥
पोरिसीए चउब्भाए, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्ता कालस्स, सेज्ज तु पडिलेहए ॥

पासवणुच्चारभूमिं च, पडिलेहिज्ज जय जई।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥
—उत्त. अ. २६, गा. ३६-३८

चतुर्थ पौरुषी समाचारी—

१६३. चौथे प्रहर मे प्रतिलेखना करके पात्रो को बाँध कर रख दे, फिर सर्व भावो को प्रकाशित करने वाला स्वाध्याय करे।

चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग मे (पौन पौरुषी बीत जाने पर) गुरु को वन्दना कर, स्वाध्याय काल का प्रतिक्रमण कर शय्या की प्रतिलेखना करे।

यतनाशील मुनि फिर प्रस्रवण और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर सर्व दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

देवसिय-पडिक्कमण समायारी—

१६४. देवसियं च अईयार, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणे य दसणे चेव, चरित्तम्मि तहेव य ॥
पारिय-काउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
देवसिय तु अईयारं, आलोएज्ज जहक्कम ॥
पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खण ॥
पारियकाउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं।
"थुइमगल च काऊणं" काल संपडिलेहए ॥
—उत्त. अ. २६, गा. ३९-४२

दैवसिक प्रतिक्रमण समाचारी—

१६४. ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे लगे दिन सम्बन्धी अतिचारो का अनुक्रम से चिन्तन करे।

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से दिन सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करे।

प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे। फिर सर्व दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर 'स्तुति-मगल' (णमोत्थुण का पाठ) करके स्वाध्याय काल की प्रतिलेखना करे।

णिद्दासीलो पावसमणो—

१६५ जे के इमे पव्वइए, निद्दासीले पगामसो ।
मोच्चा पेच्चा सुह सुवइ, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥
—उत्त अ १७, गा ३

निद्राशील पापश्रमण—

१६५. जो प्रव्रजित होकर वार-वार नींद लेता है, खा-पीकर आराम से लेट जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

राईय समायारी—

१६६ रत्तिं पि चउरो भागे, भिक्खू कुज्जा वियक्खणो ।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा, राइभाएसु चउसु वि ॥
पढम पोरिसिं सज्झाय, बीय झाण झियायइ ।
तइयाए निद्दमोक्ख तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झाय[1] ॥
—उत्त. अ २६, गा १७-१८

रात्रि-समाचारी—

१६६ विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारो भागो मे स्वाध्याय आदि उत्तर गुणो की आराधना करे।

प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरी मे ध्यान, तीसरी मे निद्रा और चौथी मे पुन स्वाध्याय करे।

राईय पोरिसी विण्णाण—

१६७ ज नेइ जया रत्तिं, नक्खत्तं तमि नह-चउब्भाए ।
सपत्ते विरमेज्जा, सज्झाय पओस-कालम्मि ॥

तम्मेव य नक्खत्ते, गयण-चउब्भाग-सावसेसमि ।
वेरत्तिय पि काल, पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥
—उत्त अ २६, गा. १९-२०

रात्रि पौरुषी विज्ञान—

१६७ जो नक्षत्र जिस रात्रि को वहन करता है, वह नक्षत्र जव आकाश के चतुर्थ भाग मे आये तव प्रदोष-काल (रात्रि के प्रारम्भ) मे प्रारम्भ की हुई स्वाध्याय से विरत हो जाए।

वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग मे शेष रहे तब वैरात्रिक काल अर्थात् रात का चतुर्थ प्रहर आया हुआ जानकर मुनि फिर स्वाध्याय काल की प्रतिलेखना करे।

राईय-चउत्थीए पोरिसीए समायारी—

१६८ "पोरिसीए चउत्थीए, कालं तु पडिलेहिया ।
सज्झाय तओ कुज्जा, अबोहन्तो असजए ॥
पोरिसीए चउब्भाए, "वन्दिऊण तओ गुरु" ।
पडिक्कमित्तु कालस्स, काल तु पडिलेहए ॥

आगए काय-वोस्सग्गे, सव्व-दुक्ख-विमोक्खणे ।
काउस्सग्ग तओ कुज्जा, सव्व-दुक्ख-विमोक्खण ॥
—उत्त अ २६, गा ४४-४६

रात्रि के चतुर्थ प्रहर की समाचारी—

१६८ चौथे प्रहर मे काल की प्रतिलेखना कर असयत व्यक्तियो को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे अर्थात् ऊँचे स्वर से न वोले।

रात्रि के चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग मे गुरु को वन्दना करे, स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर प्रतिक्रमण काल की प्रतिलेखना करे।

कायोत्सर्ग का समय आने पर सर्व प्रकार के दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

राईय पडिक्कमण समायारी—

१६९ राइय च अईयारं, चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणमि दसणमि, चरित्तमि तवमि य ॥
पारिय काउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरु ।
राइय तु अईयारं, आलोएज्जा जहक्कमं ॥
पडिक्कमित्तु निस्सल्लो, वन्दित्ताण तओ गुरु ।
काउस्सग्ग तओ कुज्जा, सव्व-दुक्खविमोक्खण ॥
किं तव पडिवज्जामि, एव तत्थ विचिन्तए ।
काउस्सग्ग तु पारित्ता, करिज्जा जिणसथव ॥

रात्रि प्रतिक्रमण समाचारी—

१६९ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप मे लगे रात्रि सम्बन्धी अतिचारो का अनुक्रम से चिन्तन करे।

कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से रात्रि सम्बन्धी अतिचारो की आलोचना करे।

प्रतिक्रमण से निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे, फिर सर्व दुःखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

मैं कौन-सा तप ग्रहण करूँ? कायोत्सर्ग मे इस प्रकार का चिन्तन करे। फिर कायोत्सर्ग को समाप्त कर जिन सस्तव (लोगस्स का पाठ) करे।

---

१ उत्त. अ २६, गा. ४३।

पारिय-काउस्सग्गो, वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
तवं संपडिवज्जेत्ता, कुज्जा सिद्धाण सथवं ॥
—उत्त. अ. २६, गा. ४७-५१

कायोत्सर्ग पारित होने पर (जिन सस्तव करके) मुनि गुरु को वन्दना करे। फिर तप को स्वीकार कर सिद्धो की स्तुति (णमोत्थुणं का पाठ) करे।

उवसंहारो—

१७० एसा सामायारी, समासेण वियाहिया ।
ज चरित्ता वहू जीवा, तिण्णा ससार सागरं ॥
—त्ति बेमि ।
—उत्त अ. २६, गा. ५२

उपसंहार—

१७० यह समाचारी मैंने सक्षेप मे कही है। इसका आचरण कर वहुत से जीव ससार-सागर से तिर गये।
—ऐसा मैं कहता हूँ।



वर्षावास-समाचारी—२

वासावासे संपत्ते विहार-णिसेहो—

१७१. अब्भुवगते खलु वासावासे अभिपवुट्ठे, बहवे पाणा अभिसभूया, वहवे वीया अहुणुब्भिण्णा, अतरा से मग्गा वहुपाणा -जाव-मक्कडा-संताणगा, अणभिक्कंता, पथा, णो विण्णाया मग्गा, सेवं णच्चा णो गामाणुगाम दूइज्जेज्जा[1], ततो संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा ।
— आ. सु. २, अ. ३, उ १, सु ४६४

वर्षाकाल आ जाने पर विहार का निषेध—

१७१ वर्षाकाल आ जाने पर वर्षा हो जाने से वहुत से प्राणी उत्पन्न हो गये हो, वहुत से बीज अकुरित हो गये हो, मार्ग के बीच मे वहुत से जीव चलते हो - यावत्—मकडी के जाले हो गये हो, वर्षा के कारण मार्ग चलने योग्य न रहे हो या मार्ग का पता नही चलता हो, ऐसी स्थिति जानकर साधु एक ग्राम से दूसरे ग्राम को विहार न करे। अपितु यतनापूर्वक वर्षावास व्यतीत करे।

वासावास-अजोग्ग खेत्तं—

१७२ से भिक्खू वा भिक्खूणी वा से ज्ज पुण जाणेज्जा गामं वा -जाव-रायहाणिं वा,

इमंसि खलु गामसि वा-जाव-रायहाणिंसि वा णो महती विहारभूमि, णो महती वियारभूमि ।

णो सुलभे पीढ-फलग-सेज्जा सथारए णो सुलभे फासुए-ऊंछे अहेसणिज्जे,

वहवे जत्थ समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा-उवागता, उवागमिस्संति य, अच्चाइण्णा-वित्ती, णो पण्णस्स णिक्खमण पवेसाए-जाव-धम्माणुओग-चिंताए ।

सेवं णच्चा तहप्पगारं गाम वा-जाव-रायहाणिं वा णो वासावास उवल्लिएज्जा ।
—आ. सु २, अ. ३, उ. १, सु. ४६५

वर्षावास के अयोग्य क्षेत्र—

१७२ वर्षावास करने वाले भिक्षु या भिक्षुणी उस ग्राम–यावत्–राजधानी की स्थिति जाने कि—

इस ग्राम—यावत्—राजधानी मे स्वाध्याय करने योग्य विशाल भूमि नही है, मल-मूत्र त्यागने के लिए योग्य विशाल भूमि नही है।

चौकी, पाटे, शय्या एव सस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ नही है और न प्रासुक निर्दोष एव एषणीय आहार पानी ही सुलभ है।

जहाँ वहुत से श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्री और भिखारी लोग पहले से आए हुए हैं और भी दूसरे आने वाले हैं, जिससे माँगने वालो की अत्यन्त भीड रहती है, प्रज्ञावान साधु-साध्वी को वहाँ निकलना और प्रवेश करना—यावत्—धर्मचिन्तन करना उपयुक्त नही हो सकता है।

यह जानकर ऐसे ग्राम—यावत्—राजधानी मे वर्षावास न करे।

---

1 तो कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा वासावासासु चारए । —कप्प. उ. १, सु. ३७

वासावसजोग्ग खेत्त--

१७३ से भिक्खू वा भिक्खूणी वा से ज्ज पुण जाणेज्जा गामं वा -जाव-रायहाणिं वा,

इमंसि खलु गामंसि वा-जाव-रायहाणिंसि वा महती विहार-भूमी, महती वियारभूमि ।

सुलभे जत्थ-पीढ-फलग-सेज्जा-संथारए, सुलभे फासुए उंछे-अहेसणिज्जे,

णो जत्थ बहवे समण-जाव-वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य, अप्पाइण्णा-वित्ती, पण्णस्स णिक्खमण पवेसाए-जाव-धम्माणुओग-चिंताए ।

सेवं णच्चा तहप्पगारं गाम वा-जाव-रायहाणिं वा ततो संजयामेव वासावासं उवल्लिएज्जा ।

—आ सु २, अ ३, उ १, सु ४६६

वर्षावास योग्य क्षेत्र—

१७३ वर्षावास करने वाला भिक्षु या भिक्षुणी यदि ग्राम—यावत्—राजधानी के सम्बन्ध मे यह जाने कि—

इस ग्राम—यावत्—राजधानी मे स्वाध्याय करने योग्य विशाल भूमि है, मल-मूत्र विसर्जन के लिए विशाल भूमि है।

यहाँ पीठ, फलक, शय्या एव सस्तारक की प्राप्ति भी सुलभ है, साथ ही प्रासुक निर्दोष एव एषणीय आहार पानी भी सुलभ है।

यहा बहुत से श्रमण—यावत्—भिखारी आये हुए नहीं हैं और न आयेंगे, अत यहाँ माँगने वालो की भीड भी नही रहती है, प्रज्ञावान साधु-साध्वी को यहाँ निकलना और प्रवेश करना —यावत्—धर्मचिन्तन करना उपयुक्त हो सकता है।

यह जानकर ऐसे ग्राम—यावत्—राजधानी मे यतनापूर्वक वर्षावास व्यतीत करे।

वासावासाणंतर-विहार-अज्जोग्गं कालं—

१७४ अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासा-वासाणं वीतिक्कंता, हेमंताण य पंच-दस-रायकप्पे परिवुसिते, अंतरा से मग्गा बहुपाणा जाव-ससंताणगा, णो जत्थ बहवे समण जाव-वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य, सेवं णच्चा णो गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

—आ सु. २, अ ३, उ १, सु ४६७

वर्षावास के बाद विहार के अयोग्य काल—

१७४ यदि साधु-साध्वी यह जाने कि वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो चुके हैं तथा हेमन्त ऋतु के पाँच या दस दिन व्यतीत हो गये हैं। उस समय यदि मार्ग मे अडे हो—यावत्—मकडी के जालो से युक्त हो, बहुत से श्रमण—यावत्—वणीमक आदि उन मार्गों से आए न हो, न ही आने वाले हों तो यह जानकर ग्रामानुग्राम विहार न करे।

वासावासाणंतर विहार जोग्ग कालं—

१७५ अह पुणेवं जाणेज्जा—चत्तारि मासा वासा-वासाणं वीतिक्कंता, हेमंताण य पंच-दस-रायकप्पे परिवुसिते अंतरा से मग्गा अप्पंडा-जाव-ससंताणगा, बहवे जत्थ समण-जाव-वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य। सेवं णच्चा ततो संजयामेव गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

—आ सु २, अ ३, उ १, सु ४६८

वर्षावास के बाद विहार के योग्य काल—

१७५ यदि साधु साध्वी यह जाने कि वर्षाकाल के चार मास व्यतीत हो चुके हैं तथा हेमन्त ऋतु के पाँच दस दिन व्यतीत हो गए हैं। उस समय यदि मार्ग मे अडे नही हैं—यावत्—मकडी के जाले नही हैं। बहुत से श्रमण—यावत्—भिखारी भी उन मार्गो पर आने जाने लगे हैं या आने जाने वाले भी हैं तो यह जानकर साधु यतनापूर्वक ग्रामानुग्राम विहार कर सकता है।

वासावासावग्गह खेत्तपमाण—

१७६ वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सक्कोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ताणं चिट्ठिउं अहालंदमवि उग्गहे । —दसा द ८, सु ८

वर्षावास के अवग्रह क्षेत्र का प्रमाण—

१७६ वर्षावास मे रहे हुए निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चारो दिशाओ मे तथा विदिशाओ मे एक कोश सहित एक योजन क्षेत्र का अवग्रह (स्थान) ग्रहण करके रहना कल्पता है। उस अवग्रह से बाहर "यथालन्द काल" ठहरना भी नही कल्पता है।

वासावासे विहार करण विहि णिसेहो—

१७७ णो कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुगामं दूइज्जित्तए ।

पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—

वर्षावास मे विहार करने का विधि-निषेध—

१७७ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को प्रथम प्रावृट् मे ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है—

किन्तु पाँच कारणों से विहार करना कल्पता है। जैसे—

(१) भयंसि वा,

(२) दुब्भिक्खसि वा,

(३) पव्वहेज्ज वा ण कोई,

(४) दओघसि वा एज्जमाणंसि,

(५) महता वा अणारिएहिं (उवद्दवमाणेहिं)।

वासावासं पज्जोसवियाणं णो कप्पइ णिग्गथाण वा णिग्गंथीण वा गामाणुगाम दूइज्जित्तए।

पचहिं ठाणेहिं कप्पइ, तं जहा—

(१) णाणट्ठयाए,

(२) दंसणट्ठयाए,

(३) चरित्तट्ठयाए,

(४) आयरिए उवज्झाया वा से वीसुंभेज्जा,

(५) आयरिय-उवज्झायाण वा वहिया वेआवच्चं-करणयाए।

—ठाणं अ ५, उ २, सु ४१३

(१) शरीर या उपकरण आदि के अपहरण का भय होने पर।

(२) दुर्भिक्ष होने पर।

(३) किसी के द्वारा व्यथित किये जाने पर (या ग्राम से निकाल दिये जाने पर)।

(४) बाढ आ जाने पर।

(५) अनार्यों के द्वारा उपद्रव किये जाने पर।

वर्षावास मे पर्युषण करने के बाद निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिया को ग्रामनुग्राम विहार करना नही कल्पता है।

किन्तु पाँच कारणो से विहार करना कल्पता है। जैसे—

(१) विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिए।

(२) दर्शन-प्रभावक शास्त्र का अर्थ पाने के लिए।

(३) चारित्र की रक्षा के लिए।

(४) आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु हो जाने पर।

(५) अन्यत्र रहे हुए आचार्य या उपाध्याय की वैयावृत्य करने के लिए।

वासावासे गिलाणट्ठ गमण खेत्तप्पमाण—

१७८. वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गंथीण वा गिलाणहेउ-जाव-चत्तारि पच जोयणाइं गतुं पडिनियत्तए।

अतरा वि से कप्पइ वत्थए,

नो से कप्पइ त रयणि तत्थेव उवायणावित्तए।

—दसा द ८, सु ७५

वर्षावास मे ग्लान हेतु गमन का क्षेत्र प्रमाण—

१७८ वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को ग्लान के लिए चार पाँच योजन तक जाकर लौट आना कल्पता है।

मार्ग मे रात्रि रहना भी कल्पता है,

किन्तु जहाँ जावे वहाँ रात रहना नही कल्पता है।

पढम-बितीयपाउसमि विहार करण पायच्छित्त सुत्ताइ—

१७९ जे भिक्खू पढम[1]-पाउसम्मि गामाणुगाम दूइज्जइ, दूइज्जंत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वासावासंसि पज्जोसवियंसि दूइज्जइ, दूइज्जतं वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइय।

—नि. उ. १०, सु ४०-४१

प्रथम-द्वितीय प्रावृट् मे विहार करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

१७९ जो भिक्षु प्रथम वर्षावास (संवत्सरी के पूर्व) मे ग्रामानुग्राम विहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु वर्षावास रहने पर (संवत्सरी के बाद) विहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।



१ बृहत्कल्प उद्दे० १, सु० ३५, की निर्युक्ति गा० २७३४ मे वर्षावास दो प्रकार का कहा है—
(१) प्रावृट् और (२) वर्षारात्र।
श्रावण और भाद्रपद मास "प्रावृट्", आश्विन और कार्तिक मास "वर्षारात्र" कहे जाते हैं।
निशीथ चूर्णि भाग ३, पृ० ७७४ मे भी यही कहा गया है।
ठाण. अ. ५, उ २, सु ४१३, टीका पृ० ३०८ मे वर्षाकाल के चार मास को प्रावृट् कहा है तथा प्रावृट् के दो भाग किए गए हैं।
प्रथम प्रावृट् पचास दिन का, द्वितीय प्रावृट् सत्तर दिन का।

वर्षावास आहार समाचारी—३

सव्वत्थ आयरियाईण आणाए गमण अणाणाए अगमण—

१८० वासावास पज्जोसविए भिक्खू इच्छिज्जा गाहावइकुल भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता,

(१) आयरियं वा, (२) उवज्झाय वा, (३) थेर वा,
(४) पवत्तयं वा, (५) गणि वा, (६) गणहरं वा,
(७) गणावच्छेअय वा, जं च वा पुरओ काउ विहरइ।

कप्पइ से आपुच्छिउ-आयरिय वा-जाव-गणावच्छेअय वा, ज च वा पुरओ काउं विहरइ—

"इच्छामि ण भते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गाहावइ-कुल भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा?"

ते य से वियरेज्जा, एव से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

ते ये से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ गाहावइकुल भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

प०—से किमाहु भते!

उ०—आयरिया पच्चवाय जाणति।

एव विहारभूमि वा, वियारभूमि वा, अन्न वा किंचि पओअण, एव गामाणुगाम दूइज्जित्तए।

—दसा द ८, सु ५१-६१

सर्वत्र आचार्यादि की आज्ञा से जाना, विना आज्ञा के नही जाना—

१८०. वर्षावास रहा हुआ भिक्षु गृहस्थो के घरो मे भक्त-पान के लिए निष्क्रमण और प्रवेश करना चाहे तो—

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर
(४) प्रवर्तक, (५) गणित, (६) गणधर या
(७) गणावच्छेदक अथवा जिसको अग्रणी मानकर वह विचर रहा हो, उन्हें पूछे विना आना-जाना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अग्रणी मानकर वह विचर रहा हो उन्हे पूछकर ही आना-जाना कल्पता है।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार कहे—)

"हे भगवन्! आपकी आपकी आज्ञा मिलने पर गृहस्थो के घरो मे भक्त-पान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना चाहता हूँ।"

यदि आचार्यादि आज्ञा दे तो गृहस्थो के घरो मे भक्तपान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना कल्पता है।

यदि आचार्यादि आज्ञा न दें तो गृहस्थो के घरो मे भक्तपान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना नही कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा क्यो कहा?

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न-बाधाओ को जानते हैं।

उसी प्रकार स्वाध्याय भूमि और शौचभूमि या अन्य भी किसी प्रयोजन के लिए उक्त आचार्यादि की आज्ञा लेकर ही आना-जाना कल्पता है।

इसी प्रकार ग्रामानुग्राम जाने के लिए भी उक्त आचार्यादि की आज्ञा लेकर जाना-आना कल्पता है।

भिक्खायरियाए गमण जोग्गखेत्तं—

१८१ वासावास पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गथीण वा सव्वओ समता सकोस जोयण भिक्खायरियाए गतु पडि-नियत्तए। —दसा द ८, सु ९

भिक्षाचर्या के लिए जाने योग्य क्षेत्र—

१८१. वर्षावास रहने वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को एक कोश सहित एक योजन क्षेत्र मे चारो ओर भिक्षाचर्या के लिए जाना एवं लौटकर आना कल्पता है।

भिक्खायरिया दिसंकहित्ता भिक्खट्ठागमण विहाणं—

१८२ वासावास पज्जोसवियाणं निग्गथाण वा, निग्गथीण वा कप्पइ अण्णयरिं दिसं वा अणुदिस वा अवगिज्झिय भत्तपाण गवेसित्तए।

प०—से किमाहु भते!

उ०—उस्सण्णं समणा भगवतो वासासु तवसपउत्ता भवति।

भिक्षाचर्या की दिशा कहकर भिक्षार्थ जाने का विधान—

१८२ वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को किसी एक दिशा या विदिशा का निश्चय करके आहार पानी की गवेषणा करना कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! आपने ऐसा क्यो कहा?

उ०—वर्षाकाल मे श्रमण भगवन्त प्राय तपश्चर्या करते रहते हैं।

तवस्सी दुब्बले किलते मुच्छिज्ज वा, पवडिज्ज वा, तमेव दिसं वा अणुदिसं वा समणा भगवतो पडिजागरंति। — दसा द. ८, सु. ७४

अतः वे तपस्वी दुर्बल क्लान्त कहीं मूर्च्छित हो जाएँ या गिर जाएँ तो साथ वाले श्रमण भगवन्त उसी दिशा में उनकी शोध कर सकें।

णिच्चभत्तियस्स गोअरकाल विहाणं—

१८३ वासावासं पज्जोसवियस्स निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगं गोअरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

नन्नत्थ आयरिय-वेयावच्चेण वा, उवज्झाय-वेयावच्चेण वा, तवस्सि-वेयावच्चेण वा, गिलाण-वेयावच्चेण वा, खुड्डएण वा अवंजण-जाणएण। —दसा. द. ८, सु. १९-२४

नित्यभोजी के गोचरी जाने का विधान -

१८३ वर्षावास रहे हुए सदा आहार करने वाले भिक्षु के लिए एक गोचर काल का विधान है और उसे गृहस्थों के घरों में भक्तपान के लिए एक बार निष्क्रमण-प्रवेश करना कल्पता है। किन्तु आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, ग्लान की वैयावृत्य करने वाले तथा अप्राप्त यौवन वाले लघु शिष्यों को छोड़कर।

(अर्थात् इनको अनेक बार भी जाना कल्पता है।)

निच्चभत्तियस्स सव्वपाणग-गहण-विहाणं—

१८४ वासावासं पज्जोसवियस्स निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वाइं पाणगाइं पडिगाहित्तए। —दसा. द ८, सु. २९

नित्यभोजी के लिए सर्व पेय ग्रहण करने का विधान—

१८४. वर्षावास रहे हुए नित्यभोजी भिक्षु के लिए सभी प्रकार के अचित्त पानी ग्रहण करने कल्पते हैं।

सड्ढी कुलेसु अदिट्ठ जायणा णिसेहो—

१८५ वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थि णं थेराणं तहप्पगाराइं कुलाइं कडाइं पत्तिआइं थिज्जाइं वेसासियाइं सम्मयाइं बहुमयाइं अणुमयाइं भवंति।

तत्थ से नो कप्पइ अदक्खु वइत्तए "अत्थि ते आउसो ! इमं वा, इमं वा"

प०—से किमाहु भंते !

उ०—सड्ढी गिही गिण्हइ, तेणियं पि कुज्जा।

—दसा द. ८, सु. १८

श्रद्धावान घरों में अदृष्ट पदार्थ माँगने का निषेध—

१८५ वर्षावास में रहने वाले साधु-साध्वी इस प्रकार के कुलों को जाने कि—जिनको स्थविरों ने प्रतिबोधित किये हैं, जो प्रीतिकर है, दान देने में उदार हैं, विश्वस्त हैं, जिनमें साधुओं का प्रवेश सम्मत है, साधु सम्मान को प्राप्त है, साधुओं को दान देने के लिए नौकरों को भी स्वामी द्वारा अनुमति दी हुई है। ऐसे कुलों में अदृष्ट वस्तु के लिए "हे आयुष्मन् ! तुम्हारे यहाँ यह वस्तु है, वह वस्तु है ?" ऐसा पूछना नहीं कल्पता है।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा क्यों कहा ?

उ०—श्रद्धालु गृहस्वामी माँगी गई वस्तु को खरीद कर लायेगा या चुराकर लायेगा।

आयरिय आणाणुसारेण भत्त-पाणगहणं दाणं च—

१८६. वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—"दावे भंते !" एवं से कप्पइ दावित्तए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए।

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—"पडिगाहेहि भंते !" एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए नो से कप्पइ दावित्तए।

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—"दावे भंते ! पडिगाहेहि भंते !" एवं से कप्पइ दावित्तए वि पडिगाहित्तए वि।

आचार्य की आज्ञानुसार भक्त-पान ग्रहण करना और देना—

१८६. वर्षावास रहे हुए साधुओं में से किसी साधु को आचार्य इस प्रकार कहे कि "हे भदन्त ! आज तुम ग्लान साधु के लिए आहार लाकर दो।" तो लाकर देना उसे कल्पता है। किन्तु स्वयं को दूसरों से ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

वर्षावास रहे हुए साधुओं में से किसी साधु को आचार्य इस प्रकार कहे कि "हे भदन्त ! आज तुम दूसरों से आहार ग्रहण करो।" तो ग्रहण करना कल्पता है किन्तु दूसरे को देना नहीं कल्पता है।

वर्षावास रहे हुए साधुओं में से किसी साधु को आचार्य इस प्रकार कहे कि "हे भदन्त ! तुम आज ग्लान साधु को आहार लाकर दो और हे भदन्त ! तुम दूसरों से ग्रहण भी कर लो।" तो लाकर देना और स्वयं को ग्रहण करना भी कल्पता है।

वासावास पज्जोसवियाण अत्येगइयाण एव वुत्तपुव्व भवइ—"नो दावे भते ! नो पडिगाहे भते !" एव से कप्पइ नो दावित्तए, नो पडिगाहित्तए । दसा द ८, सु १२-१५

वर्षावास रहे साधुओ में से किसी साधु को आचार्य इस प्रकार कहे कि "हे भदन्त ! आज तुम ग्लान साधु को आहार लाकर न दो और तुम स्वय भी आहार ग्रहण न करो ।" तो न देना कल्पता है और न स्वय को ग्रहण करना कल्पता है ।

गिलाण पुच्छित्ता एव भत्तपाण गहण विहाण—

१८७ वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अपरिण्णएण अपरिण्णयस्स अट्ठाए असण वा, पाण वा खाइम वा साइम वा पडिगाहित्तए ।

प०—से किमाहु भते ?

उ०—इच्छा परो अपरिण्णए भुजिज्जा, इच्छा परो न भुजिज्जा । —दसा द ८, सु ४८

ग्लान को पूछकर के ही आहार पानी लाने का विधान—

१८७ वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को ग्लान भिक्षु की सूचना के विना या उसे पूछे विना अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य ग्रहण करना नही कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ऐसा क्यो कहा ?

उ०—ग्लान की इच्छा हो तो वह अपरिज्ञप्त (विना मगाया हुआ) आहार भोगे, इच्छा न हो तो न भोगे ।

विगइ गहण णिसेहो—

१८८ वासावास पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा हट्ठाण आरोग्गाणं वलिय—सरीराण अण्णयरीओ विगईओ आहारित्तए । —दसा द ८, सु १६

विकृति ग्रहण निषेध—

१८८. वर्षावास रहे हुए हृष्ट-पुष्ट, निरोग एव सशक्त शरीर वाले निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को कोई भी विकृतियो का आहार करना नही कल्पता है ।

आयरिहेहिं पुच्छित्ता एव विगइ गहण विहाण—

१८९ वासावास पज्जोसविए भिक्खू इच्छिज्जा अण्णयरिं विगइ आहारित्तए[1]

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेयय वा जं च वा पुरओ काउ विहरइ ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेयय वा, जं वा पुरओ काउ विहरइ,

"इच्छामि ण भते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अन्नयरिं विगइं आहारित्तए, त एवइय वा, एवइखुत्तो वा ।"

ते य से वियरेज्जा, एव से कप्पइ अण्णयरिं विगइ आहारित्तए ।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अण्णयरिं विगइ आहारित्तए ।

प०—से किमाहु भते !

उ०—आयरिआ पच्चवायं जाणंति ।

—दसा. द ८, सु. ६२

आचार्य से पूछकर ही विकृति ग्रहण करने का विधान—

१८९ वर्षावास मे रहा हुआ भिक्षु किसी विगय का आहार करना चाहे तो आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हे पूछे विना लेना नही कल्पता है ।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हे पूछकर लेना कल्पता है ।

(आज्ञा लेने के लिये भिक्षु इस प्रकार कहे—)

'हे भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो किसी विगय का आहार करना चाहता हूँ । वह भी इतने परिमाण मे और इतनी वार ।"

यदि वे आज्ञा दें तो किसी विगय का आहार करना कल्पता है ।

यदि आज्ञा न दें तो किसी भी विगय का आहार करना नहीं कल्पता है ।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न बाधाओं को जानते हैं ।

---

१ (क) तरुण अवस्था मे विकृति ग्रहण का निषेध है परन्तु रुग्ण अवस्था मे गुरु आदि की आज्ञा लेकर विगय ग्रहण करना कल्पता है ।

(ख) उत्त० अ० १७, गा० १५ मे विगयभोजी को पापी श्रमण कहा है ।

(ग) विकृति के नव प्रकार—ठाण० अ० ९, सु० ६७४

(घ) ठाणं० अ० ४, उ० १, सु० २७४ मे ४ महाविगय का कथन है ।

(ङ) विकृति भक्षण प्रायश्चित्त नि० उ० ४, सु० २१

गिलाणट्ठा विगइ गहण विहाणं—

१९०. वासावासं पज्जोसवियाण एव वुत्तपुव्व भवइ—

'अट्ठो भंते ! गिलाणस्स'

से य वइज्जा—"अट्ठो"
से ये पुच्छियव्वे—"केवइएणं अट्ठो ?"
से ये वएज्जा—"एवइएण अट्ठो गिलाणस्स,"
ज से पमाण वयइ, से य पमाणओ घित्तव्वे।

से य विन्नवेज्जा, से य विन्नवेमाणे लभेज्जा,
से य पमाणपत्ते होउ "अलाहि" इय वत्तव्वं सिया।

से किमाहु भंते !
एवइएण अट्ठो गिलाणस्स,

सिया णं एवं वयत परो वइज्जा—"पडिगाहेइ अज्जो !
पच्छा तुम भोक्खसि वा, पाहिसि वा।"

एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए,
नो से कप्पइ गिलाणनीसाए पडिगाहित्तए।

—दसा द. ८, सु. १७

ग्लान के लिए विकृति ग्रहण करने का विधान—

१९०. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थो मे से वैयावृत्य करने वाला निर्ग्रन्थ आचार्य से पूछे कि—

"हे भगवन् ! आज किसी ग्लान के पथ्य की आवश्यकता है ?"

आचार्य कहे—'हाँ आवश्यकता है।'

निर्ग्रन्थ पूछे 'कितनी मात्रा आवश्यक है ?'

आचार्य कहे—"इतनी मात्रा आवश्यक है।"

इस प्रकार वे जितना प्रमाण कहे उस प्रमाण से लाना चाहिए।

वैयावृत्य करने वाला निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर जाकर पथ्य की याचना करे—तथा आवश्यकतानुसार प्राप्त होने पर "बस पर्याप्त हैं" इस प्रकार कहे।

गृहस्थ यदि कहे "हे भदन्त ! आप ऐसा क्यो कहते हैं ?"

तब निर्ग्रन्थ इस प्रकार कहे "ग्लान साधु के लिए इतनी ही पर्याप्त है।"

इस प्रकार कहने पर भी यदि गृहस्थ कहे कि "हे आर्य ! और भी ग्रहण करो। ग्लान के उपयोग मे आने के बाद आप भी खा लेना या पी लेना।"

गृहस्थ के ऐसा कहने पर अधिक पथ्य लेना कल्पता है।

किन्तु ग्लान के निमित्त से अधिक ग्रहण करना नही कल्पता है।

वुट्ठिकाए णिवडिए पुव्वगहिय भत्त-पाण भक्खण-विही—

१९१. वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स वा, निग्गंथीए वा, गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगिज्झिय वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा, अहे उवस्सयंसि वा, अहे वियडगिहंसि वा, अहे रुक्खमूलंसि वा उवागच्छित्तए[1] नो से कप्पइ पुव्वगहिएण भत्त-पाणेणं वेलं उवायणावित्तए।

कप्पइ से पुव्वामेव वियडगं भुच्चा, पिच्चा पडिग्गहगं संलिहिय-संलिहिय संपमज्जिय-संपमज्जिय एगाययं भंडगं कट्टु सावसेसे सूरे जेणेव उवस्सए तेणेव उवागच्छित्तए।

नो से कप्पइ त रयणि तत्थेव उवायणावित्तए।

—दसा. द. ८, सु. ४४

वर्षा बरसने पर पूर्व गृहीत भक्त-पान के उपयोग की विधि—

१९१. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ गृहस्थो के घरो मे आहार के लिए गये हुए हो और उस समय रुक-रुक कर वर्षा आने लगे तो उन्हे आराम गृह, उपाश्रय, विकट (चौतरफ से खुले) गृह और वृक्ष के नीचे आकर ठहरना कल्पता है। किन्तु पूर्व गृहीत भक्त पान से भोजन वेला का अतिक्रमण करना नही कल्पता है।

(अर्थात् सूर्यास्त पूर्व) निर्दोष आहार खा-पीकर पात्रो को पोछकर और साफ करके एकत्रित करे तथा सूर्य के रहते हुए जहाँ उपाश्रय हो वहाँ आ जाए।

किन्तु वहाँ (अन्यत्र) रात रहना नही कल्पता है।

वुट्ठिकाए णिवडिए णिग्गंथ-णिग्गंथीण एगयओ चिट्ठण विही—

१९२ वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स वा, निग्गंथीए वा

वर्षा बरसने पर एक स्थान मे निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो के ठहरने की विधि—

१९२. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ गृहस्थो के घरो मे

1 दसा० द० ८, सु० ४०

गाहावइकुल पिंडवाय-पडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झय निगिज्झय वुट्ठिकाए निवइज्जइ कप्पइ से अहे आरामंसि वा, अहे उवस्सयंसि वा, अहे वियडगिहंसि वा, अहे रुक्ख-मूलंसि वा उवागच्छित्तए।

आहार के लिए गए हुए हो और उस समय रुक-रुक कर वर्षा आने लगे तो उन्हें आराम-गृह, उपाश्रय, विकटगृह या वृक्ष के नीचे आकर ठहरना कल्पता है।

१ तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स, एगाए य निग्गंथीए एगयओ चिट्ठित्तए।

२ तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स दुण्हं निग्गंथीण एगयओ चिट्ठित्तए।

३. तत्थ नो कप्पइ दुण्हं निग्गंथाणं एगाए य निग्गंथीए एगयओ चिट्ठित्तए।

४ तत्थ नो कप्पइ दुण्हं निग्गंथाणं, दुण्हं निग्गंथीण य एगयओ चिट्ठित्तए।

अत्थि य इत्थ केइ पंचमे खुड्डए खुड्डीया वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे, एवं ण कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए।

(१) किन्तु वहाँ अकेले निर्ग्रन्थ को अकेली निर्ग्रन्थी के साथ ठहरना नहीं कल्पता है।

(२) अकेले निर्ग्रन्थ को दो निर्ग्रन्थियों के साथ ठहरना नहीं कल्पता है।

(३) दो निर्ग्रन्थों को अकेली निर्ग्रन्थी के साथ ठहरना नहीं कल्पता है।

(४) दो निर्ग्रन्थों को दो निर्ग्रन्थियों के साथ ठहरना नहीं कल्पता है।

यदि वहां पर पांचवा व्यक्ति बालक या बालिका कोई भी हो अथवा वह स्थान आने-जाने वालों को स्पष्ट दिखाई देता हो तो वहाँ पर एक साथ ठहरना कल्पता है।

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवाय-पडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगिज्झय वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा, अहे उवस्सयंसि वा, अहे वियडगिहंसि वा, अहे रुक्खमूलंसि वा उवा-गच्छित्तए।

वर्षावास रहा हुआ निर्ग्रन्थ गृहस्थों के घरों में आहार के लिए गया हुआ हो और उस समय रुक-रुक कर वर्षा आने लगे तो उसे आरामगृह, उपाश्रय, विकटगृह या वृक्ष के नीचे आकर ठहरना कल्पता है।

तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स, एगाए य आगारीए एगयओ चिट्ठित्तए।

एवं चत्तारि भंगा भाणियव्वा।

अत्थि या इत्थ केइ पंचमए थेरे वा, थेरियाइ वा, अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे, एवं णं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए।

एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य चत्तारि भंगा भाणियव्वा।

—दसा द ८, सु ४५-४७

किन्तु वहाँ अकेले निर्ग्रन्थ को अकेली स्त्री के साथ ठहरना नहीं कल्पता है।

इस प्रकार (उपरोक्त) चार भंग कह लेने चाहिये।

यदि वहाँ पर पांचवा स्थविर पुरुष या स्थविर स्त्री हो अथवा वह स्थान आने-जाने वालों को स्पष्ट दिखाई देता हो तो वहाँ पर एक साथ ठहरना कल्पता है।

इसी प्रकार निर्ग्रन्थी और गृहस्थ पुरुष के चार भंग कहने चाहिए।

उदउल्लकाएण आहार-णिसेहो—

१९३. वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा उदउल्लेण वा, ससिणिद्धेण वा काएणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहारित्तए।

प०—से किमाहु भंते?

उ०—सत्त सिणेहाययणा पण्णत्ता, त जहा—

१. पाणी, २ पाणिलेहा,
३. नहा, ४ नहसिहा,
५. भमुहा, ६, अहरोट्ठा,
७ उत्तरोट्ठा।

गीला शरीर हो तब तक आहार करने का निषेध—

१९३. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को वर्षा के जल से स्वयं का शरीर गीला हो या वर्षा का जल स्वयं के शरीर से टपकता हो तो अशन—यावत्—स्वाद्य आहार करना नहीं कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा क्यों कहा गया है?

उ०—शरीर पर पानी टिकने के सात स्थान कहे गये हैं। यथा—

(१) हाथ और, (२) हाथ की रेखाएँ,
(३) नख और, (४) नख के अग्रभाग,
(५) भौंह, (६) दाढी और
(७) मूछ।

अह पुण एवं जाणिज्जा—विगओदगे मे काए छिन्नसिणेहे, एव से कप्पइ असण वा-जाव साइम वा आहारित्तए।

—दसा. द. ८, सु ४९

यदि वह ऐसा जाने कि मेरे शरीर से वर्षा का जल नितर गया है अथवा वर्षा का जल सूख गया है तो उसे अशन—**यावत्**—स्वाद्य आहार करना कल्पता है।



वर्षावास—तप-संलेखना समाचारी—४

आयरियाइएहिं आपुच्छित्ता तवोकम्म करण विहाणं—

१९४ वासावास पज्जोसविए भिक्खू इच्छेज्जा अण्णयर ओरालं कल्लाण सिवं धण्णं मगलं सस्सिरीय महाणुभाव तवोकम्म उपसपज्जित्ताण विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेयय वा ज च वा पुरओ काउ विहरइ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेयय वा ज च वा पुरओ काउ विहरइ।

"इच्छामि णं भते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अण्णयर ओराल-जाव-तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए त एवइय वा, एवइखुत्तो वा।"

ते य से वि०रेज्जा, एव से कप्पइ अण्णयर ओराल-जाव-तवोकम्म उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ अण्णयरं ओरालं-जाव-तवोकम्म उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

प०—से किमाहु भंते!

उ०—आयरिया पच्चवाय नाणंति।

—दसा द ८, सु. ६४

आचार्यादि से पूछकर तप करने का विधान—

१९४. वर्षावास रहा हुआ भिक्षु यदि किसी प्रकार का प्रशस्त, कल्याणकर, शिवप्रद, धन्यकर, मंगलरूप, श्रीयुक्त, महाप्रभावक तप कर्म स्वीकार करना चाहे तो—

आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हे पूछे बिना तप कर्म स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हे पूछकर ही तप कर्म स्वीकार करना कल्पता है।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार पूछे—)

"हे भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो किसी प्रकार का प्रशस्त—**यावत्**—तप कर्म स्वीकार करना चाहता हूँ वह भी अमुक प्रकार का और इतनी बार।"

यदि वे आज्ञा दें तो अन्यतर प्रशस्त—**यावत्**—तप कर्म स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्यतर प्रशस्त **यावत्**—तप कर्म स्वीकार करना नही कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न-बाधाओ को जानते हैं।

चउत्थभत्तियस्स पाणगगहण विहाणं—

१९५ वासावासं पज्जोसवियस्स-चउत्थभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—

१ उस्सेइम, २ ससेइम,

३ चाउलोदगं। —दसा द ८, सु. ३०

उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान—

१९५. वर्षावास रहे हुए चतुर्थ भक्त (उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं। यथा—

(१) उत्स्वेदिम, (२) संस्वेदिम,

(३) और चावलो का धोवन।

छट्ठभत्तियस्स पाणग गहण विहाणं—

१९६. वासावास पज्जोसवियस्स छट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति तओ पाणागाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—

१ तिलोदगं वा, २. तुसोदगं वा,

३. जवोदगं वा। —दसा. द. ८, सु ३१

दो उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान—

१९६. वर्षावास रहे हुए षष्ठ भक्त (बेले) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं, यथा—

(१) तिलोदक, (२) तुषोदक और,

(३) यवोदक।

अट्ठमभत्तियस्स पाणग गहण विहाणं—

१९७ वासावास पज्जोसवियस्स अट्ठमभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ तओ पाणगाइ पडिगाहित्तए, तं जहा—

१. आयामे वा, २ सोवीरे वा,

३ सुद्धवियडे वा ।[1] —दसा. द ८, सु ३२

तीन उपवास करने वाले के पानी ग्रहण करने का विधान—

१९७. वर्षावास रहे हुए अष्टम भक्त (तेले) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेने कल्पते हैं यथा—

(१) आयाम, (२) सौवीर और,

(३) शुद्ध विकट जल।

विगिट्ठभत्तियस्स उसिणोदग गहण विहाणं—

१९८. वासावासं पज्जोसवियस्स विगिट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिणवियडे पडिगाहित्तए।

से वि य ण असित्थे, नो वि य णं ससित्थे।

—दसा. द ८, सु ३३

चार आदि उपवास करने वाले के गरम पानी ग्रहण करने का विधान—

१९८. वर्षावास रहे हुए तेले से अधिक तपस्या करने वाले भिक्षु को एकमात्र उष्ण अचित्त जल ग्रहण करना कल्पता है। वह भी अन्न कण से रहित हो किन्तु अन्न कण युक्त नही हो।

भत्त-पडियाइक्खियस्स उसिणोदग गहण-विहाण—

१९९ वासावास पज्जोसवियस्स भत्तपडियाइक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ एगे उसिणवियडे पडिगाहित्तए।

से वि य ण असित्थे, नो चेव ण ससित्थे।

से वि य ण परिपुए, नो चेव ण अपरिपुए।

से वि य ण परिमिए, नो चेव णं अपरिमिए।

से वि य ण बहुसपन्ने, नो चेव ण अबहुसपन्ने।

दसा द ८, सु ३४

भक्त प्रत्याख्यान अनशन वाले के गरम पानी ग्रहण करने का विधान—

१९९. वर्षावास रहे हुए भक्त प्रत्याख्यानी भिक्षु को एक मात्र उष्ण अचित्त जल ग्रहण करना कल्पता है।

वह भी असिक्थ हो, ससिक्थ न हो।

वह भी छाना हुआ हो, बिना छाना न हो।

वह भी परिमित हो, अपरिमित न हो।

वह भी अच्छी तरह उबाला हुआ हो, कम उबाला हुआ न हो।

दत्तिसंखा-विहाण—

२००. वासावास पज्जोसवियस्स सखादत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति पच दत्तीओ[2] भोअणस्स पडिगाहित्तए, पंच पाणगस्स।

अहवा चत्तारि भोअणस्स, पंच पाणगस्स।

अहवा पच भोअणस्स, चत्तारि पाणगस्स।

तत्थ ण एगा लोणासायणमवि पडिगाहिआ सिया कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेण पज्जोसवित्तए।

नो से कप्पइ दुच्चंपि गाहावइ-कुल भत्ताए वा पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा। —दसा. द ८, सु ३५

दत्ति की सख्याओ का विधान—

२०० वर्षावास रहे हुए तथा दत्तियो की सख्या का नियम धारण करने वाले भिक्षु को आहार की पाँच दत्तियाँ और पानी की पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है।

अथवा—आहार की चार और पानी की पाँच।

अथवा—आहार की पाँच और पानी की चार।

उनमे एक दत्ति नमक की डली जितनी भी हो उस दिन उसे उसी आहार से निर्वाह करना चाहिए।

किन्तु उसे गृहस्थो के घर मे आहार पानी के लिए दूसरी बार निष्क्रमण-प्रवेश करना नही कल्पता है।

पज्जोसवणाए आहारकरणस्स पायच्छित्त सुत्त—

२०१. जे भिक्खू पज्जोसवणाए इत्तरिय आहारं आहारेइ आहारत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाण अणुग्घाइय।

—नि. उ १०, सु ४५

पर्युषण मे आहार करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

२०१ जो भिक्षु पर्युषण अर्थात् सवत्सरी के दिन अल्प आहार भी करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

---

१ यहाँ वर्षावास समाचारी मे यह विशेष कथन है। सामान्य कथन ठाणाग सूत्र मे है। अत चातुर्मास मे या शेष काल मे उक्त तपश्चर्याओं मे उक्त प्रासुक जल ग्रहण किये जा सकते हैं ऐसा समझना चाहिए।

२ दत्ति का स्वरूप व्यवहार सूत्र उ० ९ मे भी है, वह तपाचार मे देखें।

आयरियाइएहिं आपुच्छित्ता पाओवगमणकरण विहाण—

२०२. वासावासं पज्जोसविए भिक्खू इच्छिज्जा अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा झूसिए, भत्त-पाण-पडियाइक्खिए, पाओवगए, अणवकंखमाणे विहरित्तए वा,

निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।
असणं वा-जाव-साइमं वा आहारित्तए,
उच्चारं वा, पासवण वा, परिट्ठावित्तए,
सज्झायं वा करित्तए,
धम्मजागरिय वा जागरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेयय वा, ज च वा पुरओ काउ विहरइ,

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेयय वा, जं च वा पुरओ काउ विहरइ।

"इच्छामि ण भते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अपच्छिम-मारणंतिय-सलेहणा-झूसणा झूसिए-जाव-धम्मजागरियं वा जागरित्तए।"

ते य से वियरिज्जा, एव से कप्पइ अपच्छिम-मारणतिय-संलेहणा-झूसणा झूसिए-जाव-धम्मजागरियं वा जागरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा एव से नो कप्पइ अप-च्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा झूसिए-जाव-धम्मजागरियं वा जागरित्तए।

प०—से किमाहु भते?
उ०—आयरिया पच्चवाय जाणंति।

—दसा. द. ८, सु. ६५

आचार्यादि से पूछकर पादपोपगमन करने का विधान—

२०२. वर्षावास रहा हुआ भिक्षु मरण-समय समीप आने पर सलेखना द्वारा कर्म क्षय करना चाहे, आहार पानी का त्याग करके कटे हुए वृक्ष के समान रहकर मृत्यु की कामना नही करता हुआ रहना चाहे,

उपाश्रय से निष्क्रमण-प्रवेश करना चाहे,
अशन—**यावत्**—स्वाद्य का आहार करना चाहे,
मल-मूत्र त्यागना चाहे,
स्वाध्याय करना चाहे,
और धर्म जागरणा करना चाहे तो,

आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक अथवा जिनको अगुआ मानकर विचर रहा हो उन्हे पूछे विना उक्त कार्य करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक को अथवा जिनको अगुआ मानकर विचर रहा हो, उन्हे पूछकर करना कल्पता है।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार कहे—)
"हे भगवन्! आपकी आज्ञा हो तो मरण समय समीप आने पर संलेखना द्वारा कर्मक्षय—**यावत्**—धर्मजागरणा करना चाहता हूँ।"

यदि वे आज्ञा दें तो मरण समय समीप आने पर सलेखना द्वारा कर्मक्षय—**यावत्**—धर्मजागरणा करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो मरण समय समीप आने पर सलेखना द्वारा कर्मक्षय—**यावत्**—धर्मजागरणा करना नही कल्पता है।

हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?
आचार्यादि आने वाली विघ्न-बाधाओ को जानते हैं।



वर्षावास सम्बन्धी प्रकीर्णक-समाचारी—५

तिण्हं उवस्सयाण गहण-विहाणं—

२०३. वासावासं पज्जोसवियाण निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तओ उवस्सया गिण्हित्तए,

वे कुव्विया पडिलेहा, साइज्जिया पमज्जणा।

—दसा. द. ८, सु. ७३

तीन उपाश्रयो के ग्रहण का विधान—

२०३ वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को तीन उपाश्रय ग्रहण करना चाहिए।

दो उपाश्रयो की केवल प्रतिलेखना करना तथा प्रतिदिन उपयोग मे आने वाले उपाश्रय की प्रमार्जना करना।

सेज्जासण गहण विहाण—

२०४ वासावास पज्जोसवियाण नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गथीण वा अणभिग्गहिय सिज्जासणियाणं हुत्तए।

आयाणमेय—

१ अणभिग्गहिय सिज्जासणियस्स,
२. अणुच्चाकुइयस्स,
३. अणुट्ठावधियस्स,
४ अमियासणियस्स,
५. अणातावियस्स,
६ असमियस्स,
७. अभिक्खणं अभिक्खण अपडिलेहणासीलस्स,
८. अपमज्जणासीलस्स, तहा तहा संजमे दुराराहए भवइ।

अणायाणमेय—

१. अभिग्गहिय सिज्जासणियस्स,
२. उच्चाकुइयस्स,
३ अट्ठावधियस्स,
४. मियासणियस्स,
५. आयावियस्स,
६. समियस्स,
७. अभिक्खणं-अभिक्खण पडिलेहणासीलस्स,
८ पमज्जणासीलस्स तहा तहा सजमे सुआराहए भवइ।

—दसा द ८, सु ६७

शय्या एवं आसन ग्रहण करने का विधान—

२०४ वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को शय्या और आसन ग्रहण किए विना रहना नहीं कल्पता है।

शय्या और आसन नही रखना कर्म वन्ध का कारण है। क्योकि,

(१) शय्या और आसन नही ग्रहण करने वाले,
(२) एक हाथ से नीचा और चूं चूं करने वाला शय्या और आसन रखने वाले।
(३) हिलने वाले शय्या और आसन रखने वाले,
(४) परिमाण से अधिक शय्या और आसन रखने वाले,
(५) यथासमय शय्या और आसन को धूप मे नहीं सुखाने वाले।
(६) एषणा समिति के अनुसार शय्या और आसन नहीं लेने वाले।
(७) शय्या और आसन की वार-वार प्रतिलेखना नही करने वाले तथा,
(८) शय्या और आसन की प्रमार्जना नही करने वाले भिक्षु का संयम दुराराध्य होता है।

किन्तु शय्या और आसन रखना कर्मवन्ध का कारण नही है। क्योकि

(१) शय्या और आसन ग्रहण करने वाले,
(२) एक हाथ ऊँचा और चूं चूं नही करने वाला शय्यासन रखने वाले,
(३) नही हिलने वाले शय्यासन रखने वाले,
(४) परिमाण युक्त शय्या आसन रखने वाले,
(५) यथासमय शय्या और आसन को धूप में देने वाले,
(६) एषणा समिति के अनुसार शय्या और आसन लेने वाले,
(७) शय्या और आसन की वार-वार प्रतिलेखना करने वाले तथा
(८) शय्या और आसन की प्रमार्जना करने वाले भिक्षु का सयम सु-आराध्य होता है।

तिण्णि मत्तगगहण-विहाण—

२०५ वासावासं पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गंथीण वा तओ मत्तगाइ गिण्हित्तए, त जहा—

१ उच्चार-मत्तए, २. पासवण-मत्तए,
३. खेल-मत्तए।

—दसा. द ८, सु ६६

तीन मात्रक ग्रहण करने का विधान—

२०५. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को तीन मात्रक ग्रहण करने कल्पते हैं, यथा—

(१) मल त्यागने का पात्र, (२) मूत्र त्यागने का पात्र,
(३) कफ त्यागने का पात्र।

पढमसमोसरणे पत्त-चीवर-गहण-पायच्छित्त सुत्तं —

२०६. जे भिक्खू पढम-समोसरणुद्देसे पत्त-चीवराइं पडिग्गाहेइ पडिग्गाहेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।
—नि उ. १०, सु ४७

वासावासे वत्थ आतावण विहि-णिसेहो—

२०७ वासावास पज्जोसविए भिक्खू इच्छिज्जा वत्थ वा, पडिग्गहं वा, कवल वा, पायपुंछणं वा अण्णयरिं वा उवहिं आयावित्तए वा, पयावित्तए वा। नो से कप्पइ एग वा, अणेग वा अपडिण्णवित्ता—

१. गाहावइकुल भत्ताए वा, पाणाए वा, निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ।

२. असण वा-जाव-साइम वा आहारित्तए ।

३. वहिया विहारभूमिं वा,

४ वियारभूमिं वा निहरित्तए,

५. सज्झाय वा करित्तए,

६. काउस्सग्ग वा,

७. ठाणं वा ठाइत्तए ।

अत्थि य इत्थ केइ अभिसमण्णागए अहासण्णिहिए एगे वा, अणेगे वा कप्पइ से एवं वइत्तए—

"इमं ता अज्जो ! तुम मुहुत्तग जाणेहिं-जाव-ताव अहं, गाहावइकुल भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा-जाव-काउस्सगं वा ठाणं वा ठाइत्तए ।"

ते य पडिसुणेज्जा, एवं से कप्पई-जाव-ठाण वा ठाइत्तए ।

ते य णो पडिसुणेज्जा, एवं से नो कप्पई-जाव-ठाण वा ठाइत्तए । —दसा. द. ८, सु. ६६

उच्चार-पासवण भूमि पडिलेहणा—

२०८. वासावास पज्जोसवियाणं कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गंथीण वा तओ उच्चार-पासवण भूमिओ पडिलेहित्तए, त जहा हेमंत-गिम्हासु, जहा णं वासासु ।

प०—से किमाहु भते !

उ०—वासासु ण उस्सण्ण पाणा य, तणा य, बीया य, पणगा य, हरियाणि य भवति । —दसा. द. ८, सु. ६८

वर्षावास में पात्र और वस्त्र ग्रहण करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

२०६. जो भिक्षु चातुर्मास मे पात्र और वस्त्र ग्रहण करता है, करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

वर्षावास में वस्त्र सुखाने के विधि-निषेध—

२०७ वर्षावास मे रहा हुआ भिक्षु यदि वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछनक या किसी प्रकार की उपधि को धूप मे थोडी देर या अधिक देर तक सुखाना चाहे तो एक या अनेक भिक्षुओ को सूचित किए विना,

(१) गृहस्थो के घरो मे आहार-पानी के लिए निष्क्रमण प्रवेश करना,

(२) अशन—यावत्—स्वाद्य का आहार करना ।

(३) उपाश्रय के वाहर स्वाध्याय स्थल मे जाना या,

(४) मल-मूत्र त्यागने के स्थान मे जाना ।

(५) स्वाध्याय करना,

(६) कायोत्सर्ग करना,

(७) ध्यान करना नही कल्पता है ।

यदि वहाँ पर आये हुए या समीप वैठे हुए एक या अनेक मुनि हो तो उन्हे इस प्रकार कहना कल्पता है—

"हे आर्य ! धूप मे सुखाये हुए इन उपकरणो का मुहूर्त पर्यन्त ध्यान रखना जव तक कि मैं गृहस्थो के घरो मे आहार पानी के लिए निष्क्रमण प्रवेश करूँ,—यावत्—कायोत्सर्ग या ध्यान करूँ ।

यदि वे स्वीकार कर लें तो उसे कल्पता है—यावत्—ध्यान करना ।

यदि वे स्वीकार नही करें तो उसे नही कल्पता है—यावत्—ध्यान करना ।

उच्चार प्रस्रवण भूमि प्रतिलेखना—

२०८ वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमियो की प्रतिलेखना करना कल्पता है । हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमियो की प्रतिलेखना करना वर्षाकाल के समान आवश्यक नही है ।

प्र०—हे भगवन् ! आपने ऐसा क्यो कहा ?

उ०—वर्षा ऋतु मे प्राय सर्वत्र त्रस प्राणी, हरी घास, वीज, फूलण और हरे अकुर पैदा हो जाते है ।

आयरियाइएहिं पुच्छित्ता तिगिच्छा विहाण—

२०९. वासावासं पज्जोसविए भिक्खू इच्छिज्जा अण्णयरिं तेइच्छियं आउट्टित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेययं वा जं वा पुरओ काउं विहरइ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेययं वा जं वा पुरओ काउं विहरइ।

"इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अण्णयरिं तेइच्छियं आउट्टित्तए"

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णयरिं तेइच्छियं आउट्टित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णयरिं तेइच्छियं आउट्टित्तए।

प०—से किमाहु भंते !

उ०—आयरिया पच्चवाय जाणंति।

—दसा द ८, सु. ६३

आचार्यादि से पूछकर चिकित्सा कराने का विधान—

२०९ वर्षावास रहा हुआ भिक्षु किसी एक रोग की चिकित्सा कराना चाहे तो आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हे पूछे बिना चिकित्सा कराना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक अथवा जिसको अगुआ मानकर वह विचर रहा हो उन्हे पूछकर ही चिकित्सा कराना कल्पता है।

(आज्ञा लेने के लिए भिक्षु इस प्रकार कहे—)

"हे भगवन् ! आपकी आज्ञा मिलने पर अमुक रोग की चिकित्सा करना चाहता हूँ।"

यदि आचार्यादि आज्ञा दें तो चिकित्सा कराना कल्पता है।

यदि आचार्यादि आज्ञा न दे तो चिकित्सा कराना नही कल्पता है।

प्र०—हे भगवन् ! आपने ऐसा क्यो कहा ?

उ०—आचार्यादि आने वाली विघ्न-बाधाओ को जानते हैं।

पज्जोसवणाओ परं केस-रक्खण णिसेहो—

२१० वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसे तं रयणिं उवाइणावित्तए। —दसा द ८, सु ७०

पर्युषण के बाद केश रखने का निषेध—

२१०. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को पर्युषणा (संवत्सरी) की रात्रि के बाद गाय के रोम जितने केश भी रखना नही कल्पता है।

पज्जोसवणाओ परं केस-रक्खण पायच्छित्त सुत्तं—

२११ जे भिक्खू पज्जोसवणाए गोलोममाइं पि बालाइं उवाइणावेइ उवाइणावेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।

—नि. उ, १०, सु. ४४

पर्युषणा के बाद केश रखने का प्रायश्चित्त सूत्र—

२११ जो भिक्षु पर्युषणा के बाद गाय के रोम जितने भी बाल रखता है, रखवाता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

पज्जोसवाए अहिगरण खमावण विहाण—

२१२. वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वइत्तए।

जो णं निग्गंथो वा, निग्गंथी वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ—से णं "अकप्पे णं अज्जो ! वयसी त्ति" वत्तव्वे सिया।

जो णं निग्गंथो वा, निग्गंथी वा परं पज्जोसवणाए अहिगरणं वयइ—से णं निज्जूहियव्वे सिया।

—दसा. द. ८, सु ७१

पर्युषणा मे कलह की क्षमायाचना करने का विधान—

२१२. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को पर्युषणा (संवत्सरी) के बाद पूर्व वर्ष में हुए कलह को पुन. कहना नही कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी पर्युषणा (संवत्सरी) के बाद पूर्व वर्ष मे हुए अधिकरण को कहता है तो उसे कहा जाये कि "हे आर्य ! पूर्व वर्ष मे हुए अधिकरण को कहना तुम्हें नहीं कल्पता है।"

इतना कहने पर भी जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी पूर्व वर्ष मे हुए अधिकरण को कहता हैं उसे संघ से निकाल देना चाहिए।

वासावासं पज्जोसवियाण इह खलु निग्गथाण वा, निग्गंथीण वा अज्जेव कक्खडे-कडुए वुग्गहे समुप्पज्जिज्जा खमियव्व खमावियव्वं,

वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो मे जिस दिन कर्कश कटु वचनो से क्लेश हुआ हो,

तो उन्हे उसी दिन क्षमा-याचना करनी चाहिए और क्षमा याचना करने वाले को क्षमा कर देना चाहिये। सरल एव शुद्ध मन से वारम्वार कुशल क्षेम पूछना चाहिये।

उवसमियव्व उवसमावियव्वं,
सुमइ सपुच्छणा वहुलेण होयव्व ।
जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो नो उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा ।
तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्व ।
प०—से किमाहु भते !
उ०—"उवसमसार खु सामण्ण ।" —दसा. द ८, सु. ७२

स्वय को उपशान्त होना चाहिए और प्रतिपक्षी को भी उपशान्त करना चाहिये ।
जो उपशान्त होता है उसकी ही धर्माराधना होती है ।
जो उपशान्त नही होता है उसकी धर्माराधना नही होती है ।
इसलिए स्वय को तो उपशान्त वना ही लेना चाहिये ।
प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?
उ०—उपशान्त होना ही सयम का सार है ।

अट्ठसुहुम पडिलेहण विहाणं—

२१३. वासावासं पज्जोसवियाणं इह खलु निग्गथाण वा, निग्गंथीण वा, इमाइं अट्ठ सुहुमाइं अभिक्खणं अभिक्खणं जाणियव्वाइं पासियव्वाइं पडिलेहियव्वाइं भवंति, तं जहा —
(१) पाणसुहुमं, (२) पणगसुहुमं, (३) बीअसुहुमं,
(४) हरियसुहुमं, (५) पुप्फसुहुमं, (६) अंडसुहुमं,
(७) लेणसुहुमं, (८) सिणेहसुहुमं ।[1]
—दसा द ८, सु. ५०

सूक्ष्माष्टक की प्रतिलेखना का विधान—

२१३. वर्षावास रहे हुए निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को ये आठ सूक्ष्म वार-वार जानने योग्य, देखने योग्य और प्रतिलेखन करने योग्य हैं, यथा—
(१) प्राणी सूक्ष्म, (२) पनक सूक्ष्म, (३) बीज सूक्ष्म,
(४) हरित सूक्ष्म, (५) पुष्प सूक्ष्म, (६) अण्ड सूक्ष्म,
(७) लयन सूक्ष्म, और (८) स्नेह सूक्ष्म ।

अकाले पज्जोसवणा करणस्स काले पज्जोसवणा अकरणस्स पायच्छित्त सुत्ताइं—

२१४. जे भिक्खू अपज्जोसवणाए पज्जोसवेइ पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ ।
जे भिक्खू पज्जोसवणाए ण पज्जोसवेइ ण पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ ।
जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा पज्जोसवेइ, पज्जोसवेंतं वा साइज्जइ ।
तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।
—नि उ. १०, सु. ४२, ४३, ४६

अकाल में पर्युषण करने का तथा काल मे पर्युषण करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

२१४. जो भिक्षु पर्युषण के दिन से अन्य दिन मे पर्युषण करता है, करवाता है, या करने वाले का अनुमोदन करता है ।
जो भिक्षु पर्युषण (सवत्सरी) के दिन पर्युषण नही करता है, नही करवाता है, या नही करने वाले का अनुमोदन करता है ।
जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ पर्युषणा कल्प वाचन करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।
उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

सांवच्छरिय थविरकप्पस्स आराहणा फल—

२१५. इच्चेइयं संवच्छरियं थेरकप्पं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता सोधित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आराहित्ता आणाए-अणुपालित्ता—

सावत्सरिक स्थविर कल्प की आराधना का फल—

२१५ इस सावत्सरिक स्थविरकल्प का सूत्र, कल्प और मार्ग के अनुसार सम्यक्तया काया से स्पर्श कर, पालन कर, अतिचारो का शोधन कर, जीवन-पर्यन्त आचरण कर, अन्य को करने का उपदेश देकर भगवान की आज्ञा के अनुसार आराधना कर और अनुपालन कर—

---

१ सूक्ष्माष्टक का स्वरूप तथा प्रकार प्रथम महाव्रत मे लिये हैं परन्तु जानने, देखने और प्रतिलेखन रूप विशिष्ट समाचारी युक्त होने से यह एक सूत्र यहां लिया है ।

अत्थेगइया समणा निग्गंथा तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वाइंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ।

कितने ही श्रमण निर्ग्रन्थ तो उसी भव से सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाण को प्राप्त होते हैं और सर्व दुखों का अन्त करते हैं।

अत्थेगइया दुच्चेणं भवग्गहणेणं-जाव-सव्वदुक्खाणमंतं करंति ।

कितने ही दो भव ग्रहण करके—**यावत्**—सर्व दुखों का अन्त करते हैं।

अत्थेगइया तच्चेणं भवग्गहणेणं-जाव-सव्वदुक्खाणमंतं करंति । सत्तट्ठ भवग्गहणाइं पुण नाइक्कमंति ।

—दसा द ८, सु ७६

कितने ही तीन भव ग्रहण करके—**यावत्**—सर्व दुखों का अन्त करते हैं। किन्तु उत्कृष्ट सात आठ भव ग्रहण का तो कोई अतिक्रमण नहीं करते हैं।



प्रतिक्रमण—४

आवश्यक स्वरूप—१

चउव्विहे आवस्सए—

२१६. प०—से किं तं आवस्सयं ?

उ०—आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) नामावस्सयं, (२) ठवणावस्सयं,
(३) दव्वावस्सयं, (४) भावावस्सयं ।

प०—से किं तं नामावस्सयं ?

उ०—नामावस्सयं जस्स णं जीवस्स वा, अजीवस्स वा, जीवाण वा, अजीवाण वा, तदुभयस्स वा, तदुभयाण वा 'आवस्सए' त्ति नामं कीरए। से तं नामावस्सयं ।

प०—से किं तं ठवणावस्सयं ?

उ०—ठवणावस्सयं जण्णं कट्ठकम्मे वा, चित्तकम्मे वा, पोत्थकम्मे वा, लेप्पकम्मे वा, गंथिमे वा, वेढिमे वा, पूरिमे वा, संघाइमे वा, अक्खे वा, वराडए वा, एगो वा, अणेगा वा, सब्भावठवणाए वा, असब्भावठवणाए वा 'आवस्सए' त्ति ठवणा ठविज्जति। से तं ठवणावस्सयं ।

प०—नाम—ठवणाणं को पइविसेसो ?

उ०—नामं आवकहियं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा, आवकहिया वा ।

प०—से किं तं दव्वावस्सयं ?

उ०—दव्वावस्सयं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) आगमतो य,
(२) नोआगमतो य ।

चार प्रकार के आवश्यक—

२१६ प्र०—आवश्यक कितने प्रकार के कहे गए है ?

उ०—आवश्यक चार प्रकार के कहे गए हैं—यथा—

(१) नाम आवश्यक, (२) स्थापना आवश्यक,
(३) द्रव्य आवश्यक, (४) भाव आवश्यक ।

प्र०—नाम आवश्यक क्या है ?

उ०—**नाम आवश्यक**—जिस जीव का या अजीव का, जीवों का या अजीवों का जीवाजीव का या जीवाजीवों का "आवश्यक" नाम किया गया है। वह नाम आवश्यक है।

प्र०—स्थापना आवश्यक क्या है ?

उ०—**स्थापना आवश्यक**—किसी काष्ठ की पुतली मे, चित्र मे, पुस्तक मे, मिट्टी आदि के लेप से बनी हुई, गूंथी हुई, वस्त्रादि लपेट कर बनाई हुई, पूरित की हुई, संग्रहित की हुई आकृति मे, अक्ष मे, कौडी मे, एक या अनेक पदार्थ की सद्भाव या असद्भाव स्थापना से "आवश्यक" इस नाम की स्थापना की गई हो—वह स्थापना आवश्यक है।

प्र०—नाम और स्थापना मे क्या अन्तर है ?

उ०—नाम यावज्जीवन के लिए होता है और स्थापना अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक भी होती है।

प्र०—द्रव्य आवश्यक कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

उ०—द्रव्य आवश्यक दो प्रकार के कहे गए हैं—यथा—

(१) आगम से द्रव्यावश्यक और,
(२) नोआगम से द्रव्यावश्यक ।

प०—से किं तं आगमतो दव्वावस्सयं ?

उ०—आगमतो दव्वावस्सयं-जस्स ण "आवस्सए" त्ति पदं सिक्खित्तं, ठितं, जित, मितं, परिजितं, णामसमं, घोससम, अहीणक्खरं, अणच्चक्खरं, अव्वाइद्धक्खर, अक्खलिय, अमिलियं, अवच्चामेलियं, पडिपुण्णं, पडिपुण्णघोस, कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं ।

से ण तत्थ वायणाए, पुच्छणाए परियट्टणाए, धम्मकहाए, णो अणुप्पेहाए ।

प० कम्हा ?

उ०—अणुवओगो दव्वमिति कट्टु ।

(१) णेगमस्स—एगो अणुवउत्तो आगमओ एग दव्वावस्सयं, दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइं, तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं एव जावइया अणुवउत्ता तावयाइ ताइ णेगमस्स आगमओ दव्वावस्सयाइं ।

(२) एवमेव ववहारस्स वि ।

(३) सगहस्स—एगो वा, अणेगा वा, अणुवउत्तो वा, अणुवउत्ता वा, आगमओ दव्वावस्सयं वा, दव्वावस्सयाणि वा से एगे दव्वावस्सए ।

(४) उज्जुसुयस्स—एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सय, पुहत्त नेच्छइ ।

(५) तिण्ह सद्दनयाण—जाणए अणुवउत्ते अवत्थू ।

प०—कम्हा ?

उ० जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए न भवइ, तम्हा णत्थि आगमओ दव्वावस्सयं ।

से त आगमओ दव्वावस्सय ।

प०—से किं तं नोआगमतो दव्वावस्सय ?

उ०—नोआगमतो दव्वावस्सय—तिविह पण्णत्तं, तं जहा—

(१) जाणगसरीर दव्वावस्सय,

(२) भवियसरीर दव्वावस्सय,

प्र०—आगम से द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—**आगम से द्रव्यावश्यक**—'आवश्यक' यह पद जिसके सीखा हुआ है, धारण किया हुआ है, जाना हुआ है, पूर्णाक्षर है, सम्यक् प्रकार से जाना हुआ है, स्वनाम समान सदा याद है, शुद्ध उच्चारण किया हुआ है, न हीनाक्षर है, न अधिकाक्षर युक्त है, सभी अक्षर क्रमबद्ध है, अस्खलित है, अक्षर मिले हुए नही हैं, अपुनरुक्त है, प्रतिपूर्ण है, प्रतिपूर्ण स्वर से घोषित है, कठ और ओष्ठ से सुप्रयुक्त है, गुरु द्वारा दी गई वाचना से युक्त है ।

जो कि वाचना से, पृच्छाओ से, पुनरावृत्ति से और धर्म कथा से युक्त होता है, किन्तु अनुप्रेक्षा से नही होता है ।

प्र०—इसका क्या कारण है ?

उ०—उपयोग रहित होना ही द्रव्य आवश्यक होने का कारण है इसलिये अनुप्रेक्षा का निषेध किया गया है ।

(१) **नैगमनय के अनुसार**—उपयोग रहित एक व्यक्ति आगम से एक द्रव्यावश्यक है, उपयोग रहित दो व्यक्ति आगम से दो द्रव्यावश्यक हैं, तीन उपयोग रहित व्यक्ति आगम से तीन द्रव्यावश्यक है । इस प्रकार जितने उपयोग रहित व्यक्ति हो उतने ही वे नैगमनयानुसार आगम से द्रव्यावश्यक हैं ।

(२) इसी प्रकार व्यवहार नय के अनुसार भी द्रव्यावश्यक होते हैं ।

(३) **संग्रहनय के अनुसार**—एक हो या अनेक, एक व्यक्ति उपयोग रहित हो या अनेक व्यक्ति उपयोग रहित हो, आगम से एक द्रव्यावश्यक हो या अनेक द्रव्यावश्यक हो, वे सग्रहनयानुसार एक द्रव्यावश्यक है ।

(४) ऋजुसूत्रनय के अनुसार—एक व्यक्ति जो उपयोग रहित हो वही एक द्रव्यावश्यक हैं । ऋजुसूत्रनय भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की विवक्षा नही करता ।

(५-६-७)—**शब्द आदि तीन नयों के अनुसार**—जो ज्ञाता हो और उपयोग रहित भी हो ऐसा नही हो सकता है ।

प्र०—इसका क्या कारण है ?

उ०—जो ज्ञाता हो वह (इन नयो की अपेक्षा) उपयोग रहित नही होता है । जो उपयोग रहित हो वह ज्ञाता नही कहलाता है, अत- वह आगम से द्रव्यावश्यक नहीं है ।

यह आगम से द्रव्यावश्यक हुआ ।

प्र०—नोआगम से द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—नोआगम से द्रव्यावश्यक तीन प्रकार का कहा गया है । यथा—

(१) जायकशरीर द्रव्यावश्यक,

(२) भव्यशरीर द्रव्यावश्यक,

(३) जाणगसरीर भवियसरीर वइरित्त दव्वावस्सय ।

प०—से किं त जाणगसरीर दव्वावस्सयं ?

उ०—जाणगसरीर दव्वावस्सय—"आवस्सए" त्ति पदत्थाधिगार जाणगस्स जं सरीरय ववगय चुत चावित चत्त देहं, जीव विप्पजढ, सेज्जागय वा, सथारगय वा, सिद्धसिलातलगय वा पासित्ता ण कोइ भणेज्जा ।

"अहो ण इमेणं सरीरसमुस्सएण जिणदिट्ठेण भावेण "आवस्सए" त्ति पय आघविय, पण्णाविय, परूविय, दसिय, निदसिय, उवदसिय ।

प०—जहा को दिट्ठन्तो ?

उ०—अय महुकुभे आसी अय घयकुभे आसी ।

से त जाणगसरीर दव्वावस्सयं ।

प०—से किं त भवियसरीर दव्वावस्सय ?

उ०—भवियसरीर दव्वावस्सय—जे जीवे जोणिजम्मणणिक्खते इमेण चेव सरीरसमुस्सएण आदत्तएण जिणोवदिट्ठेण भावेण "आवस्सए" त्ति पय सेयकाले सिक्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ ।

प०—जहा को दिट्ठन्तो ?

उ०—अय महुकुभे भविस्सइ, अय घयकुभे भविस्सइ ।
से त भवियसरीर दव्वावस्सय ।

प०—से किं त जाणगसरीर भवियसरीर वइरित्ते दव्वावस्सए ?

उ०—जाणगसरीर—भवियसरीर वइरित्ते दव्वावस्सए तिविधे पण्णत्ते, त जहा—

(१) लोइए,
(२) कुप्पावयणिए,
(३) लोगुत्तरिए ।

प०—से किं त लोइयं दव्वावस्सय ?

उ०—लोइय दव्वावस्सयं जे इमे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभितिओ-कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए सुविमलाए फुल्लुप्पल-कमल कोमलुम्मिलियम्मि अहापण्डुरे पभाए रत्तासोगप्पगास-किंसुय-सुयमुह गुंजद्धरागसरिसे कमलागर-नलिणि-सडबोहए, उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलते मुहधोयण-दतपक्खालण तेल्ल-फणिह सिद्धत्थय-हरियालिय-उद्दाग-धूव-पुप्फ-मल्ल-गध-तबोल

(३) ज्ञायकशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक ।

प्र०—ज्ञायकशरीर द्रव्य आवश्यक क्या है ?

उ०—ज्ञायकशरीर द्रव्यावश्यक—'आवश्यक' इस पद के अर्थ और अधिकार को जानने वाले के जीव रहित शरीर को शय्या पर, सस्तारक पर पडा देखकर या सिद्ध शिला पर देखकर कोई कहे कि—

"अहो इस शरीर से सर्वज्ञ प्ररूपित भावानुसार 'आवश्यक' यह पद कहा, प्ररूपित किया, उसका अध्ययन कराया, दृष्टान्त द्वारा समझाया और उपदेश किया है ।

प्र०—इस विषय मे दृष्टान्त क्या है ?

उ०—यह मधु का कुंभ था, यह घृत का कुंभ था, ये दृष्टान्त समझना ।

यह ज्ञायकशरीर द्रव्यावश्यक हुआ ।

प्र०—भव्य शरीर द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—भव्यशरीर द्रव्यावश्यक—जो जीव योनि से जन्म लेकर क्रमश बढने वाले शरीर को प्राप्त कर जिनकथित भावानुसार आवश्यक इस पद को भविष्य मे सीखेगा किन्तु वर्तमान मे सीखता नही है ।

प्र०—इस विषय मे क्या दृष्टान्त है ?

उ०—यह मधु का कुंभ होगा, यह घृत का कुंभ होगा ये दृष्टान्त समझना । यह भव्यशरीर द्रव्यावश्यक हुआ ।

प्र०—ज्ञायकशरीर—भव्यशरीर व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—ज्ञायकशरीर—भव्यशरीर व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) लौकिक,
(२) कुप्रावचनिक,
(३) लोकोत्तरिक ।

प्र०—लौकिक द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—लौकिक द्रव्यावश्यक—जो ये राज्येश्वर, नगर रक्षक, सीमा रक्षक, ग्राम रक्षक, धनी, सेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि प्रात कालीन प्रभायुक्त निर्मल रजनी मे कोमल उत्पल कमल पुष्प खिले हुए पाण्डुवर्ण प्रभात मे रक्त, अशोक, किंशुक, शुकमुख तथा गुंजार्ध सदृश, रक्त कमल समूह एव नलिनी को विकसित करने वाले, तेज से जाज्वल्यमान, सहस्र किरण दिनकर (सूर्य) के उदय होने पर मुंह धोकर दन्त प्रक्षालन कर आरीसे को सामने रखकर शिर मे तेल मल कर, कंघे से केश

वत्थमाइयाइं दव्वावस्सयाइं करेत्ता ततो पच्छा राय-कुलं वा, देवकुल वा, आराम वा, उज्जाण वा, सभं वा, पवं वा गच्छति । से त लोइय दव्वावस्सयं ।

सवार कर, धूप, पुष्प, माला, सुगन्ध, पान वस्त्र आदि द्रव्य आवश्यक करके राजकुल मे, देवकुल मे, आराम, उद्यान, सभा या क्रीडास्थल पर जाते हैं । यह लौकिक द्रव्यावश्यक है ।

प०—से किं त कुप्पावयणिय दव्वावस्सयं ?

प्र०—कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं—जे इमे चरग-चीरिग-चम्म-खंडिय - भिच्छुंडग-पंडरग-गोतम-गोव्वतिय-गिहिधम्म धम्मचिंतग-अविरुद्धऽविरुद्ध-वुड्ढ-सावगप्पभितयो पासं-डत्था कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए-जाव-तेयसा जलंते इंदस्स वा, खदस्स वा, रुद्दस्स वा, सिवस्स वा, वेस-मणस्स वा, देवस्स वा, नागस्स वा, जक्खस्स वा, भूयस्स वा, मुगुदस्स वा, अज्जाए वा, कोट्ट किरियाए वा उवलेवण-सम्मज्जणाऽऽवरिसण-धूव-पुप्फ गंध-मल्लाइयाइ दव्वावस्सयाइ करेंति ।

उ०—कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक—जो ये त्रिदण्डी, फटे पुराने वस्त्र पहनने वाले, भिक्षुक, चर्म धारी, भिखारी, वैनयिक भिक्षु गौतम गोत्रीय गोव्रतिक, अनिरुद्ध धर्म चिंतक अविरुद्ध वृद्ध श्रावक ब्राह्मण व्रतधारी-प्रात कालीन प्रभायुक्त प्रभात मे-यावत्-सूर्योदय होने पर इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण, देव, नाग, यक्ष, भूत, मुकुद, पार्वती या दुर्गादेवी के चन्दन का लेपन, मार्जन, सिंचन, धूप, पुष्प, गन्ध, माल्य आदि द्रव्यावश्यक करते हैं ।

से त कुप्पावयणिय दव्वावस्सय ।

यह कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक हुआ ।

प०—से किं तं लोगुत्तरिय दव्वावस्सय ?

प्र०—लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक क्या है ?

उ०—लोगुत्तरियं दव्वावस्सय—जे इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्कायनिरणुकंपा हया इव उद्दामा गया इव निरंकुसा, घट्ठा, मट्ठा, तुप्पोट्ठा, पडरपडपाउरणा, जियाण अणाणाए सच्छंदं विहरिऊण उभओकाल आवस्सगस्स उवट्ठंति । से तं लोगुत्तरिय दव्वावस्सय । से त जाणगसरीर भवियसरीर वइरित्त दव्वावस्सयं । से त नोआगमओ दव्वावस्सय । से तं दव्वावस्सय ।

उ०—लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक—जो ये श्रमण के गुणो से रहित प्रवृत्ति वाले, छ काय पर अनुकम्पा न करने वाले, अश्व के समान स्वच्छन्द, निरकुश गज के समान, घर्षित-प्रक्षित शरीर वाले, घृत से स्निग्ध ओष्ठ वाले, धूले स्वच्छ वस्त्र धारण करने वाले, जिनाज्ञा से विपरीत स्वच्छन्द विचरण कर उभय-काल आवश्यक करते हैं । यह लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक हुआ । यह ज्ञायकशरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक हुआ । यह नोआगम से द्रव्यावश्यक हुआ । यह द्रव्यावश्यक हुआ ।

प०—से किं त भावावस्सयं ?

प्र०—भाव आवश्यक क्या है ?

उ०—भावावस्सयं दुविहं पण्णत्तं—त जहा—
(१) आगमतो य, (२) नोआगमतो य ।

उ०—भाव आवश्यक दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) आगम से, (२) नोआगम से ।

प०—से किं तं आगमतो भावावस्सयं ?

प्र०—आगम से भावावश्यक क्या है ?

उ०—आगमतो भावावस्सयं—जाणए उवउत्ते । से त आग-मतो भावावस्सय ।

उ०—जो जानकार है और उपयोग युक्त है वह आगम से भावावश्यक है । यह आगम से भावावश्यक हुआ ।

प०—से किं त नोआगमतो भावावस्सय ?

प्र०—नोआगम से भावावश्यक क्या है ?

उ०—नोआगमतो भावावस्सयं तिविहं पण्णत्ते, तं जहा—
(१) लोइय, (२) कुप्पावयणिय,
(३) लोगुत्तरिय ।

उ०—नोआगम से भावावश्यक तीन प्रकार का है, यथा—
(१) लौकिक, (२) कुप्रावचनिक,
(३) लोकोत्तरिक ।

प०—से किं तं लोइय भावावस्सय ?

प्र०—लौकिक भावावश्यक क्या है ?

उ०—लोइय भावावस्सय—पुव्वण्हे भारहं, अवरण्हे रामा-यण । से तं लोइय भावावस्सय ।

उ०—लौकिक भावावश्यक—पूर्वाण्ह (प्रात काल से मध्यान्ह तक) मे महाभारत का पारायण, अपराण्ह (मध्यान्ह के बाद सायकाल तक) मे रामायण का पारायण । यह लौकिक भावा-वश्यक हुआ ।

प०—से किं तं कुप्पावयणियं भावावस्सयं ?

प्र०—कुप्रावचनिक भावावश्यक क्या है ?

उ०—कुप्पावयणिय भावावस्सय—जे इमे चरग चीरिग-जाव-पासण्डत्था इज्जजलि-होम-जप-उंदुरुक्क-नमोक्कार-माइयाइं भावावस्सयाइं करेंति। से त कुप्पावयणिय भावावस्सयं।

प०—से किं तं लोगुत्तरिय भावावस्सय?

उ०—लोगुत्तरिय भावावस्सय—जं ण इमं समणे वा, समणी वा, सावए वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविते अण्णत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओ कालं आवस्सय करेंति। से त लोगुत्तरिय भावावस्सय। से त नोआगमतो भावावस्सयं। से त भावावस्सय।

तस्स ण इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावजणा णामधेज्जा भवति। त जहा—गाहाओ—

(१) आवस्सय, (२) अवस्सकरणिज्ज,
(३) धुवणिग्गहो, (४) विसोही य।
(५) अज्झयण छक्कवग्गो, (६) नाओ,
(७) आराहणा, (८) मग्गो॥
समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वय हवति जम्हा।
अतो अहो निसिस्स य, तम्हा आवस्सय नाम॥
से त आवस्सयं॥

—अणु सु ६-२६

उ०—कुप्रावचनिक भावावश्यक—जो ये त्रिदण्डी, फटे पुराने वस्त्र पहनने वाले—यावत्—व्रती यज्ञ, होम, जप, वृषभ की तरह आवाज करना, नमस्कार करना आदि भावावश्यक करते हैं। यह कुप्रावचनिक भावावश्यक है।

प्र०—लोकोत्तरिक भावावश्यक क्या है?

उ०—लोकोत्तरिक भावावश्यक—जो ये श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका आवश्यक मे चित्त व मन लगाकर तल्लीन हो उत्साह युक्त आवश्यक के अर्थ मे उपयोग युक्त, पूर्णत. एकाग्र भाव से अन्य किसी भी चिन्तन मे मन को न लगाते हुए उभयकाल आवश्यक करते हैं।

यह लोकोत्तरिक भावावश्यक है। यह नोआगम से भावावश्यक है। यह भावावश्यक है।

उस आवश्यक के ये एक अर्थ वाले नाना ध्वनि वाले, नाना व्यजन वाले नाम हैं—यथा—गाथार्थ—

(१) आवश्यक, (२) अवश्यकरणीय,
(३) ध्रुव-निग्रह, (४) विशुद्धी,
(५) छह अध्ययनो का वर्ग, (६) ज्ञात,
(७) आराधना और (८) मार्ग।

यह श्रमण और श्रावक को दिन और रात के अन्त में अवश्य करणीय होता है। इसलिए इसका 'आवश्यक' नाम है। यह आवश्यक है।

छव्विहे आवस्सए —

२१७ छव्विहे आवस्सए पण्णत्ते, त जहा—

(१) सामाइय, (२) चउवीसत्थओ, (३) वदण,
(४) पडिक्कमण, (५) काउस्सग्गो, (६) पच्चक्खाण।

—अणु सु ७४

आवस्सगस्स णं इमे अत्याहिगारा भवति। तं जहा—

(१) सावज्जजोगविरती, (२) उक्कित्तण,
(३) गुणवओ य पडिवत्ती।
(४) खलियस्स निंदणा, (५) वणतिगिच्छ,
(६) गुणधारणा, चेव॥

—अणु. सु ७३

छह प्रकार के आवश्यक—

२१७ छह प्रकार के आवश्यक कहे गये हैं, यथा—

(१) सामायिक, (२) चतुर्विंशतिस्तव, (३) वन्दना,
(४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग, और (६) प्रत्याख्यान।

आवश्यक के अर्थाधिकारो के नाम इस प्रकार हैं—

(१) सावद्ययोगविरति, (२) उत्कीर्तन
(३) गुणवत्प्रतिपत्ति,
(४) स्खलितनिन्दा, (५) व्रणचिकित्सा और
(६) गुणधारणा।



प्रतिक्रमण के प्रकार—२

पंचविहे पडिक्कमणे—

२१८. पंचविहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, त जहा—

(१) आसवदारपडिक्कमणे,

(२) मिच्छत्तपडिक्कमणे,

(३) कसायपडिक्कमणे,

(४) जोगपडिक्कमणे,

(५) भावपडिक्कमणे। —ठाण. अ. ५, उ. ३, सु. ४६६

पांच प्रकार के प्रतिक्रमण—

२१८. प्रतिक्रमण पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—

(१) प्राणातिपात आदि आश्रवो से आत्मा को निवृत्त करना।

(२) मिथ्यात्व का परित्याग करना।

(३) कषायो से आत्मा को निवृत्त करना।

(४) मन-वचन-काया को अशुभ प्रवृत्तियो से निवृत्त करना।

(५) राग-द्वेष के भावो का परित्याग करना।

छव्विहे पडिक्कमणे—

२१९. छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) उच्चार-पडिक्कमणे,

(२) पासवण-पडिक्कमणे,

(३) इत्तरिए-पडिक्कमणे,

(४) आवक्कहिय-पडिक्कमणे,

(५) जंकिंचिमिच्छा-पडिक्कमणे,

(६) सोमणतिय-पडिक्कमणे, —ठाण. अ. ६, सु. ५३८

छह प्रकार के प्रतिक्रमण—

२१९. प्रतिक्रमण छह प्रकार का होता है—

(१) उच्चार प्रतिक्रमण—मल त्याग करने के बाद वापस आकर ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।

(२) प्रस्रवण प्रतिक्रमण—मूत्र-त्याग करने के बाद वापस आकर ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।

(३) इत्वरिक प्रतिक्रमण—दैवसिक, रात्रिक आदि प्रतिक्रमण करना।

(४) यावत्कथिक प्रतिक्रमण—हिंसा आदि से सर्वथा निवृत्त होना अथवा आजीवन अनशन करना।

(५) यत्किंचित्मिथ्यादुष्कृत प्रतिक्रमण—साधारण अयतना होने पर उसकी विशुद्धि के लिए "मिच्छामि दुक्कड" इस भाषा मे खेद प्रकट करना।

(६) स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण—सोकर उठने के पश्चात् शय्या दोष निवृत्ति सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।

अइक्कमाईणं पगारा—

२२०. तिविहे अइक्कमे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) णाणअइक्कमे, (२) दंसणअइक्कमे,

(३) चरित्तअइक्कमे।

तिविहे वइक्कमे पण्णत्ते, त जहा—

(१) णाणवइक्कमे, (२) दसणवइक्कमे,

(३) चरित्तवइक्कमे।

तिविहे अइयारे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) णाणअइयारे, (२) दसणअइयारे,

(३) चरित्तअइयारे।

अतिक्रमादि के प्रकार—

२२०. अतिक्रम (प्रतिकूल आचरण का सकल्प) तीन प्रकार का कहा गया है यथा—

(१) ज्ञान-अतिक्रमण, (२) दर्शन-अतिक्रमण,

(३) चारित्र अतिक्रमण,

व्यतिक्रम (प्रतिकूल आचरण का प्रयत्न) तीन प्रकार का कहा गया है यथा—

(१) ज्ञान-व्यतिक्रमण, (२) दर्शन-व्यतिक्रमण,

(३) चारित्र-व्यतिक्रमण,

अतिचार (आंशिक प्रतिकूल आचरण) तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) ज्ञान-अतिचार, (२) दर्शन-अतिचार,

(३) चारित्र-अतिचार,

तिविहे अणायारे पण्णत्ते त जहा—

(१) णाणअणायारे, (२) दंसणअणायारे,
(३) चरित्तअणायारे। —ठाण अ ३, उ ४, सु. १९८

अनाचार (पूर्ण प्रतिकूल आचरण) तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) ज्ञान-अनाचार, (२) दर्शन-अनाचार,
(३) चारित्र-अनाचार।

अइकम्माईण विसोही—

२२१ तिण्हमइक्कमाण आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, णिंदेज्जा, गरहेज्जा, विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, अहारिह तवोकम्म पायच्छित्त पडिवज्जेज्जा, त जहा—

(१) णाणातिक्कमस्स, (२) दसणातिक्कमस्स,
(३) चरित्तातिक्कमस्स।

तिण्ह वइक्कमाण-आलोएज्जा-जाव-अहारिह तवोकम्मं पायच्छित्त पडिवज्जेज्जा, त जहा—
(१) णाणवइक्कमस्स, (२) दसणवइक्कमस्स,
(३) चरित्तवइक्कमस्स।

तिण्हमतिचाराणं-आलोएज्जा-जाव-अहारिह तवोकम्म पायच्छित्त पडिवज्जेज्जा, त जहा—
(१) णाणातिचारस्स, (२) दसणातिचारस्स,
(३) चरित्तातिचारस्स।

तिण्हमणायाराण-आलोएज्जा-जाव-अहारिह तवोकम्म पायच्छित्त पडिवज्जेज्जा, त जहा—
(१) णाणअणायारस्स, (२) दंसण-अणायारस्स,
(३) चरित्त-अणायारस्स।—ठाण. अ ३, उ ४, सु. १९८

अतिक्रमादि की विशुद्धि—

२२१. तीन प्रकार के अतिक्रमो की आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, पाप से निवृत्त होवे, विशुद्धि करे, पुन वैसा नही करने का सकल्प करे, यथोचित तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे। यथा—

(१) ज्ञानातिक्रमण की, (२) दर्शनातिक्रमण की,
(३) चारित्रातिक्रमण की,

तीन प्रकार के व्यतिक्रमो की आलोचना करे—यावत्—यथोचित तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे। यथा—
(१) ज्ञान-व्यतिक्रमण की, (२) दर्शन-व्यतिक्रमण की,
(३) चारित्र-व्यतिक्रमण की।

तीन प्रकार के अतिचारो की आलोचना करे—यावत्—यथोचित तपरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे। यथा—
(१) ज्ञानातिचार की, (२) दर्शनातिचार की,
(३) चारित्रातिचार की।

तीन प्रकार के अनाचारो की आलोचना करे—यावत्—यथोचित तपरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे। यथा—
(१) ज्ञान-अनाचार की, (२) दर्शन-अनाचार की,
(३) चारित्र-अनाचार की।



श्रमण प्रतिक्रमण—३

काउस्सग-करण पइण्णा—

२२२ आवस्सही इच्छाकारेण संदिसह भगवन्!
देवसी पडिक्कमणं ठाएमि,

देवसी णाण-दसण-चरित्त-तव-अइयार चितणत्थ करेमि काउसग्गं। —सुत्तागमे. आव अ. १, सु १

कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा—

२२२ हे भगवन्! मुझे आज्ञा प्रदान करे,
मैं दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण (आवश्यक) करने की इच्छा रखता हूँ और
ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप के दिवस सम्बन्धी अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ।

सामाइय सुत्तं—

२२३. करेमि भंते! सामाइय सव्वं सावज्जं जोग पच्चक्खामि,

सामायिक सूत्र—

२२३ भन्ते! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ। सर्व सावद्य (पाप कर्म वाले) व्यापारो का त्याग करता हूँ।

जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेण, वायाए, काएण न करेमि, न कारवेमि, करत पि अन्नं न समणुजाणामि,

जीवन-पर्यन्त तीन करण तीन योग से अर्थात् मन, वचन, और काया से (सर्व सावद्य-पाप कर्म) न मैं स्वय करूंगा, न दूमरो से कराऊँगा और न पाप कर्म करने वाले का अनुमोदन ही करूँगा।

तस्स भते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाण वोसिरामि। —आव. अ. १, सु २

भन्ते! मैं पूर्वकृत पापो से निवृत्त होता हूँ, आत्मसाक्षी से उमकी निन्दा करता हूँ, आपकी साक्षी से मैं उसकी गर्हा करता हूँ और पाप कर्म करने वाली आत्मा की अतीत अवस्था का पूर्ण रूप से त्याग करता हू।

गुरु वदणसुत्त—

गुरु वंदन सूत्र—

२२४. इच्छामि खमासमणो! वदिउं, जावणिज्जाए निसीहियाए,

२२४. हे क्षमाशील श्रमण! मैं पाप-प्रवृत्ति से निवृत्त हुए अपने शरीर से आपको यथाशक्ति वन्दना करना चाहता हू।

अणुजाणह मे मिउग्गह, निसीहिं,

अतएव मुझे आपके चारो ओर के अवग्रह (तीन हाथ जितने क्षेत्र) मे प्रवेश करने की आज्ञा दीजिए।

अहोकायं काय-संफास,

मैं अशुभ क्रियाओ को त्यागकर अपने मस्तक तथा हाथ से आपके चरणो का सम्यग् रूप से स्पर्श करता हूँ।

खमणिज्जो भे किलामो,

चरण स्पर्श करते समय आपको जो कुछ भी पीडा हुई हो वह क्षन्तव्य है अत क्षमा करें।

अप्पकिलताणं बहुसुभेणं भे दिवसो वइक्कंतो?

क्या ग्लानि रहित आपका आज का दिन बहुत आनन्द से व्यतीत हुआ,

जत्ता भे?

आपकी तप एव सयम रूप यात्रा निर्वाध है?

जवणिज्ज च भे?

और आपका शरीर मन तथा इन्द्रियो की बाधा से रहित है?

खामेमि खमासमणो! देवसियं वइक्कमं,

हे क्षमा श्रमण गुरुदेव! मेरे से दिन मे कोई अपराध हुआ हो तो मैं क्षमा चाहता हूँ।

आवस्सिआए पडिक्कमामि—

भगवन्! आवश्यक क्रिया करते समय मेरे से कोई विपरीत आचरण हुआ हो तो मैं उसका प्रतिक्रमण करता हूं।

खमासमाणं देवसियाए आसायणाए तित्तीसन्नयराए, जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए, वयदुक्कडाए, कायदुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोभाए, सव्वकालियाए, सव्व-मिच्छोवयाराए, सव्वधम्माइक्कमणाए, आसायणाए-जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। —आव अ. ३, सु १०

आप क्षमाश्रमणो को दिवस सम्बन्धी तैंतीस आशातनाओ मे से किसी एक प्रकार की आशातना मिथ्याभाव से, मानसिक द्वेष से, दुर्वचन से, शारीरिक कुचेष्टाओ से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, सर्वकाल से सम्बन्धित, सब प्रकार के मिथ्या-भावो से, सब प्रकार के धर्मो को अतिक्रमण करने वाली आशा-तना के द्वारा मैंने जो कोई भी अतिचार किया हो तो हे क्षमा श्रमण! उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, मन से उसकी निन्दा करता हूं, आपके समक्ष उसकी गर्हा करता हूँ, और पाप कर्म करने वाली आशातना युक्त उस आत्मा का परित्याग करता हू।

गुरुवंदणस्स दुवालसावत्ताणाइ—

गुरु वन्दन के बारह आवर्तन—

२२५. दुवालसावत्ते कितिकम्मे पण्णत्ते, तं जहा—

२२५. बारह आवर्तनयुक्त गुरु वन्दन किया जाता है, यथा—

(१) दुओणयं,

(२) जहाजाय,

(३) कितिकम्म—बारसावय,

(४) चउसिर,

(५) तिगुत्त च,

(६) दुपवेसं,

(७) एगनिक्खमाणं ।[1] —सम सम १२, सु. १

(१) दो बार नमन करना (गुरु के अवग्रह प्रवेश के समय) = २

(२) उत्कटुक आसन से मस्तक के पास अंजलि करके बैठना । = १

(३) बारह आवर्तन करना (४ बार, तीन-तीन आवर्तन करना) = १२

(४) चार बार मस्तक झुकाना । (प्रत्येक आवर्तनत्रिक के बाद) = ४

(५) मन, वचन, काया की एकाग्रता रखना । = ३

(६) दो बार गुरु के अवग्रह मे प्रवेश करना । = २

(७) एक बार गुरु के अवग्रह से निकलना । = १

२५

ओघाइयारस्स पडिक्कमणसुत्त—

२२६ इच्छामि पडिक्कमिउ जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ,

उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो,

नाणे तह दसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्ह गुत्तीणं, चउण्ह कसायाण, पचण्ह महव्वयाण, छण्ह जीवनिकायाण, सत्तण्हं पिंडेसणाण, अट्ठण्ह पवयणमाऊण, नवण्ह बंभचेरगुत्तीणं, दसविहे समणधम्मे, समणाण जोगाण ज खंडिय जं विराहिय तस्स मिच्छामि दुक्कड । —आव अ. ४, सु १५

समुच्चय अतिचारो का प्रतिक्रमण सूत्र—

२२६ मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किये हो वे, (१) कायिक, (२) वाचिक, और (३) मानसिक हैं, जो सूत्र विरुद्ध हैं, मोक्ष मार्ग के विरुद्ध हैं, अकल्पनीय हैं, न करने योग्य हैं, दुर्ध्यानरूप हैं, दुश्चिन्तन रूप हैं, अनाचरणीय हैं, अनिच्छनीय हैं, श्रमण के लिए अनुचित हैं ।

जो ज्ञान दर्शन तथा चारित्र मे लगे हैं, श्रुतज्ञान मे और सामायिक चारित्र मे तीन गुप्तियो की, चार कषायों (के निषेधो) की, पाँच महाव्रतो की, छह जीवनिकायो की, सात पिण्डैषणाओ की, आठ प्रवचनमाताओ की, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियो की, दस श्रमण धर्मो की और अन्य सभी श्रमण योग्य कर्तव्यो की जो खण्डना की हो, जो विराधना की हो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

इरियावहिअ पडियक्कमण सुत्तं—

२२७. इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए गमणाऽऽगमणे, पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टि-मक्कडा-संताणा संकमणे, जे मे जीवा विराहिया

एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया, अभिहया, वत्तिया लेसिया संघाइया संघट्टिया परियाविया किलामिया उद्दविया ठाणाओ ठाण संकामिया जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छा मि दुक्कड ।

—आव. अ. ४, सु १६

ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण सूत्र—

२२७ मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, जाते-आते मार्ग मे चलते समय जो जीवो की विराधना हुई हो (उसका) प्राणियों को कुचलकर, बीजों को कुचलकर, हरी वनस्पति को कुचलकर ओस को, कीडी नगरे को, काई को, सचित्त जल को, सचित्त पृथ्वी को, मकडी के जालों को कुचलकर जो मैंने जीवों की विराधना की हो ।

उन एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवो को सन्मुख आते हुए को रोके हो, धूल आदि से ढके हो, भूमि पर मसले हो, इकट्ठे किए हो, छूकर पीडित किये हो, परिताप पहुँचाया हो, घायल किये हो, उपद्रवित किये हो, एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखे हो, जीवन रहित किये हो तो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

---

१ "अ—हो" २ "का—य" ३ "का—य" ४ "जत्ता—भे"

५ "जवणि ज्ज" ६ "च-भे" । ये ६ प्रथम बार मे और ६ दूसरी बार मे यों कुल १२ आवर्तन होते हैं ।

सेज्जा अइयार विसोही सुत्तं—

२२८. इच्छामि पडिक्कमिउं,

पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, संथारा उव्वट्टणाए, परिवट्टणाए, आउट्टणाए, पसारणाए, छप्पइय-संघट्टणाए,

कुइए, कक्कराइए, छीए, जंभाइए,

आमोसे, ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए, सोअणवत्तियाए, इत्थीविप्परियासियाए, दिट्ठिविप्परियासियाए, मण-विप्परियासियाए, पाणभोयण-विप्परियासियाए—

जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

—आव अ. ४, सु १७

शय्या दोष निवृत्ति सूत्र—

२२८. मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ—

अधिक सोने से, बार-बार अधिक सोने से, करवट बदलने से, बार-बार करवट बदलने से, अंग-उपांगों को सिकोड़ने से, अंग-उपांगों को पसारने से, जू आदि को स्पर्श करने से,

जोर से खासते हुए, कठोर शय्या पर सोते हुए, जोर से छींकते हुए, उबासी लेते हुए,

प्रमार्जन किए बिना शरीर का स्पर्श करने से, सचित्त रज युक्त पदार्थ के स्पर्श से, आकुल-व्याकुल होने से, स्वप्न निमित्त से, स्त्री सम्बन्धी विपरीत परिणाम होने से, दृष्टि सम्बन्धी विपरीत प्रवृत्ति होने से, मन सम्बन्धी विपरीत संकल्प होने से, आहार पानी के विपर्यास से,

जो भी मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किया हो तो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

गोयरचरिया अइयार विसोहिसुत्तं—

२२९ पडिक्कमामि गोयरचरियाए भिक्खायरियाए,

उग्घाड-कवाड-उग्घाडणाए, साणा-वच्छा-दारासंघट्टणाए,

मंडी-पाहुडियाए, बलि-पाहुडियाए, ठवणा-पाहुडियाए,

संकिए सहसागारे, अणेसणाए,

पाणभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए,

दग-संसट्ठहडाए, रय-संसट्ठहडाए, परिसाडणियाए, पारिट्ठावणियाए ओहासण-भिक्खाए,

जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं परिग्गहियं, परिभुत्तं वा, जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

—आव. अ. ४, सु. १८

गोचर-चर्या दोष निवृत्ति सूत्र—

२२९ मैं प्रतिक्रमण करता हूँ—गोचर चर्या में, भिक्षा चर्या में (लगे दोषों का)

आधे खुले किवाडों को खोलने में, कुत्ते, बछड़े और बच्चों को टक्कर लगने से,

अग्रपिण्ड की भिक्षा से, बलि कर्म की भिक्षा से, स्थापना की भिक्षा से,

संदिग्ध आहार लेने से, बिना विचारे आहार लेने से, एषणा किये बिना आहार लेने से ।

प्राणी युक्त आहार लेने से बीज युक्त आहार लेने से, हरी वनस्पति युक्त आहार लेने से, आहार लेने के बाद दाता द्वारा लगाये जाने वाले दोषों से, आहार लेने के पूर्व लगाये गये दोषों से, अदृष्ट आहारादि लेने से,

जल से स्पृष्ट आहारादि लेने से, सचित्त रज से स्पृष्ट आहारादि लेने से, आहारादि देने वाला मार्ग में गिरता हुआ आहार दे उसे लेने से, आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए किसी भोजन को बाहर डालकर दिया जाने वाला आहार लेने से,

उद्गम-उत्पादन-एषणा के दोष से युक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करने से, तथा उसका उपभोग करने में

भूल से ग्रहण किये अशुद्ध आहार को न परठने से जो दुष्कृत हुआ है वह मेरे लिये मिथ्या हो ।

सज्झाय पडिलेहणा विसोहि सुत्तं—

२३० पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमज्ज-

स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन शुद्धि सूत्र—

२३०. मैं प्रतिक्रमण करता हूँ चारों काल में स्वाध्याय के न करने से, उभयकाल पात्रों का तथा उपकरणों का प्रतिलेखन न

णाए, दुप्पमज्जणाए, अइक्कमे, वइक्कमे, अइयारे, अणायारे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।

—आव अ ४, सु. १६

करने से, अच्छी तरह प्रतिलेखन न करने से, प्रमार्जन न करने से, अच्छी तरह प्रमार्जन न करने से, जो अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार या अनाचार सम्बन्धी जो भी दैवसिक अतिचार लगा हो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

तेत्तीसविहं ठाणाइं पडिक्कमण सुत्तं—

२३१ पडिक्कमामि एगविहे असंजमे ।

पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं—

(१) रागबंधणेणं, (२) दोसबंधणेणं[1]

(१) पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं—

(१) मणदंडेणं, (२) वयदंडेणं, (३) कायदंडेणं ।[2]

(२) पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं—

(१) मणगुत्तीए, (२) वयगुत्तीए, (३) कायगुत्तीए ।[3]

(३) पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं—

(१) मायासल्लेणं, (२) नियाणसल्लेणं, (३) मिच्छादंसणसल्लेणं ।[4]

(४) पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं—

(१) इड्ढीगारवेणं, (२) रसगारवेणं, (३) सायागारवेणं ।[5]

(५) पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं—

(१) णाणविराहणाए, (२) दंसणविराहणाए, (३) चरित्तविराहणाए ।[6]

(१) पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं—

(१) कोहकसाएणं, (२) माणकसाएणं, (३) मायाकसाएणं (४) लोहकसाएणं ।[7]

(२) पडिक्कमामि चउहिं सण्णाहिं—

तेतीस प्रकार के स्थानो का प्रतिक्रमण सूत्र—

२३१. एक प्रकार के असंयम से निवृत्त होता हूँ—

दो प्रकार के बन्धनो से लगे दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) राग के बन्धन से, (२) द्वेष के बन्धन से ।

(१) तीन प्रकार के दण्डो से लगे दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) मनोदण्ड से, (२) वचन-दण्ड से, (३) काय-दण्ड से ।

(२) तीन प्रकार की गुप्तियो मे जो भी दोष लगे हो, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) मनोगुप्ति मे, (२) वचनगुप्ति मे, (३) कायगुप्ति मे ।

(३) तीन प्रकार के शल्यो से होने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) मायाशल्य से, (२) निदानशल्य से, (३) मिथ्यादर्शन शल्य से ।

(४) तीन प्रकार के गर्व से लगने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) ऋद्धि के गर्व से, (२) रस के गर्व से, (३) साता—सुख के गर्व से ।

(५) तीन प्रकार की विराधनाओ से होने वाले दोषो का प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) ज्ञान की विराधना से, (२) दर्शन की विराधना से, (३) चारित्र की विराधना से ।

(१) चार कषाय के द्वारा होने वाले अतिचारो का प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) क्रोध कषाय, (२) मान कषाय, (३) माया कषाय, (४) लोभ कषाय ।

(२) चार प्रकार की संज्ञाओ के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

---

१ सम सम २, सु. १

२ (क) ठाणं अ. ३, उ. १, सु १२४ (५) (ख) सम. सम. ३, सु १

३ (क) ठाणं अ ३, उ. १, सु १२४ (१) (ख) सम सम. ३, सु. १

४ (क) ठाण. अ ३, उ ३, सु. १८८ (ख) सम सम. ३, सु १

५ (क) ठाण. अ ३, उ. ४, सु. २१५ (ख) सम. सम ३, सु १

६ सम. सम. ३, सु १

७ (क) ठाण. अ. ४, उ १, सु २४६ (ख) सम. सम. ४, सु १

(१) आहारसण्णाए, (२) भयसण्णाए,
(३) मेहुणसण्णाए, (४) परिग्गहसण्णाए ।[1]

(१) आहार संज्ञा, (२) भय संज्ञा,
(३) मैथुन संज्ञा, (४) परिग्रह संज्ञा ।

(३) पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं—

(३) चार विकथाओ के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूं—

(१) इत्थीकहाए, (२) भत्तकहाए,
(३) देसकहाए, (४) रायकहाए ।[2]

(१) स्त्री कथा, (२) भक्त कथा,
(३) देश कथा, (४) राज कथा ।

(४) पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं—

(४) चार ध्यानो मे से दो के करने पर और दो के न करने पर जो भी अतिचार लगा हो तो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) अट्टेणं झाणेणं, (२) रुद्देण झाणेण,
(३) धम्मेण झाणेण, (४) सुक्केण झाणेणं ।[3]

(१) आर्त ध्यान, (२) रौद्र ध्यान,
(३) धर्म ध्यान, (४) शुक्ल ध्यान ।

(१) पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं—

(१) पाँच क्रियाओ के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) काइयाए, (२) अहिगरणियाए, (३) पाओसियाए,
(४) पारितावणियाए, (५) पाणाइवायकिरियाए ।[4]

(१) कायिकी, (२) अधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी,
(४) पारितापनिकी, (५) प्राणातिपात क्रिया ।

(२) पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं—

(२) पाँच काम गुणो के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) सद्देणं, (२) रूवेण, (३) गंधेणं, (४) रसेणं,
(५) फासेणं ।[5]

(१) शब्द, (२) रूप, (३) गन्ध, (४) रस,
(५) स्पर्श ।

(३) पडिक्कमामि पचहिं महव्वएहिं—

(३) पाँच महाव्रतो का सम्यक् रूप से पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) पाणाइवायाओ वेरमण, (२) मुसावायाओ वेरमणं,
(३) अदिण्णादाणाओ वेरमण, (४) मेहुणाओ वेरमणं,
(५) परिग्गहाओ वेरमण ।[6]

(१) सर्व प्राणातिपात-विरमण, (२) सर्व मृषावाद-विरमण,
(३) सर्व अदत्तादान-विरमण, (४) सर्व मैथुन-विरमण,
(५) सर्व परिग्रह-विरमण ।

(४) पडिक्कमामि पचहिं समिईहिं—

(४) पाँच समितियो का सम्यक् पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) इरियासमिईए, (२) भासासमिईए,
(३) एसणासमिईए, (४) आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिईए,
(५) उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिट्ठावणिया-समिईए ।[7]

(१) ईर्या समिति, (२) भाषा समिति,
(३) एषणासमिति, (४) आदान-भाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति,
(५) उच्चार-प्रस्रवण- श्लेष्म-जल्ल- सिंघाण-पारिष्ठापनिका समिति ।

(१) पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं—

(१) छह प्रकार के जीवनिकायो की हिंसा करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) पुढविकाएणं, (२) आउकाएणं, (३) तेउकाएण,
(४) वाउकाएण, (५) वणस्सइकाएण, (६) तसकाएणं ।[8]

(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय,
(४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय, (६) त्रसकाय ।

---

१ सम. सम. ४, सु १
२ (क) ठाणं अ ४, उ. २, सु. २८२ (ख) सम. सम. ४, सु १
३ (क) ठाण अ. ४, उ. १, सु. २४७ (ख) सम. सम. ४, सु १ (ग) तपाचार
४ सम. सम. ५, सु. १
५ (क) ठाण. अ ५, उ. १, सु. ३९० (ख) सम सम. ५, सु. १
६ (क) ठाण. अ ५, उ. १, सु. ३८९ (ख) सम. सम. ५, सु. १
७ (क) ठाण. अ ५, उ. ३, सु. ४५७ (ख) सम. सम. ५, सु. १
८ (क) ठाणं. अ. ६, सु. ४८० (ख) सम. सम. ६, सु. १

(२) पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं—

(१) किण्हलेसाए, (२) नीललेसाए, (३) काउलेसाए, (४) तेउलेसाए, (५) पम्हलेसाए, (६) सुक्कलेसाए।[1]
पडिक्कमामि सत्तहिं भयट्ठाणेहिं[2]
अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं[3]
नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं,[4]
दसविहे समणधम्मे—[5]
एक्कारसहिं उवासग पडिमाहिं,[6]

बारसहिं भिक्खु-पडिमाहिं[7]

तेरसहिं किरियाठाणेहिं,[8]
चउद्दसेहिं भूयगामेहिं,[9]
पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं,[10]
सोलसहिं गाहासोलसएहिं,[11]

सत्तरसविहे असंजमे,[12]
अट्ठारसविहे अबंभे,[13]
एगूणवीसाए नायज्झयणेहिं,[14]

वीसाए असमाहिट्ठाणेहिं,[15]

तीन अधर्म लेश्याओं के करने से और तीन धर्म लेश्याओं के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ—

(१) कृष्णलेश्या, (२) नीललेश्या, (३) कपोतलेश्या, (४) तेजोलेश्या, (५) पद्मलेश्या, (६) शुक्ललेश्या।
प्रतिक्रमण करता हूँ—सात भय के कारणों से
आठ मद स्थानों के सेवन से,
नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का सम्यक् पालन न करने से,
दश विध क्षमा आदि श्रमण-धर्म की विराधना से,
ग्यारह श्रावक की प्रतिमाओं की अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से,

बारह भिक्षु प्रतिमाओं की श्रद्धा, प्ररूपणा तथा पालन अच्छी तरह से न करने से,

तेरह क्रिया-स्थानों के करने से,
चौदह प्रकार के जीवों की हिंसा से,
पन्द्रह परमाधार्मिकों के प्रति अशुभ परिणाम करने से,
सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के गाथा अध्ययन सहित सोलह अध्ययनों में प्ररूपित धर्मानुसार आचरण न करने से।
सत्तरह प्रकार के असंयमों के आचरण से,
अट्ठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से,
ज्ञाता सूत्र के उन्नीस अध्ययनों में प्रतिपादित भावानुसार संयम में न रहने से,
बीस असमाधि स्थानों के सेवन से,

---

१ (क) ठाणं अ. ६, सु. ५०४ (ख) सम. सम. ६, सु. १
२ (क) ठाणं अ. ७, सु. ५४९ (ख) सम. सम ७, सु १
३ (क) ठाणं अ. ८, सु. ६०६ (ख) सम. सम. ८, सु. १
४ (क) ठाणं. अ. ९, सु ६६३ (ख) सम. सम ९, सु १ (ग) चतुर्थ महाव्रत
५ (क) ठाणं अ १०, सु. ७१२ (ख) सम. सम. १०, सु १
६ (क) ठाणं. अ. १०, सु ७५५ (ख) सम. सम. १०, सु १
(ग) दसा. द. ६, सु. १-३० (घ) गृहस्थ धर्म
७ (क) ठाणं अ., १०, सु. ७५५ (ख) सम. सम १२, सु. १
(ग) दसा द ७, सु. १-३६ (घ) संयमी जीवन
८ (क) अनाचार (ख) सम. सम. १३, सु १
९ सम. सम १४, सु. १ १० सम सम. १५, सु १
११ सम. सम. १६, सु १
१२ (क) सम सम १७, सु. १ (ख) संयमी जीवन
१३ (क) सम सम. १८, सु. १ (ख) चतुर्थ महाव्रत
१४ सम. सम. १९, सु. १
१५ (क) ठाणं. अ. १०, सु. ७५५ (ख) सम. सम २०, सु. १ (ग) अनाचार,

इक्कवीसाए सवलेहिं,[1]
बावीसाए परीसहेहिं[2]
तेवीसाए सूयगडऽज्झयणेहिं[3]
चउव्वीसाए देवेहिं,[4]
पणवीसाए भावणाहिं,[5]
छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं,[6]
सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं[7]
अट्ठावीसाए आयारपकप्पेहिं,[8]
एगूणतीसाए पावसुयपसंगेहिं,[9]
तीसाए मोहणीयट्ठाणेहिं,[10]
एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं,[11]
वत्तीसाए जोगसंगहेहिं,[12]
तेत्तीसाए आसायणाहिं,[13]
जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

—आव. अ. ४, सु. २०-२६

इक्कीस शवल दोषो के सेवन से,
वाईस परीषह सहन न करने से,
सूत्रकृताग सूत्र के तेईस अध्ययनो मे प्ररूपित आचरण न करने से
चौवीस देवो की अवहेलना करने से,
पाच महाव्रतो की पच्चीस भावनानुसार आचरण न करने से,
दशा-श्रुतस्कन्ध, वृहत्कल्प और व्यवहार—उक्त सूत्रत्रयी के छव्वीस उद्देशन कालो मे प्रतिपादित विधि-निषेधो का आचरण न करने से,
सत्ताईस साधु के गुणो को पूर्णत. धारण न करने से,
आचार-प्रकल्प = आचाराग तथा निशीथ सूत्र के अट्ठाईस अध्ययनो मे प्रतिपादित विधि-निषेधो का आचरण न करने से,
उन्तीस पाप-श्रुतो का प्रयोग करने से,
महामोहनीय कर्म के तीस स्थानो के सेवन करने से,
सिद्धो के इकत्तीस गुणो की उचित श्रद्धा प्ररूपणा न करने से,
वत्तीस योग संग्रहो का यथार्थ आचरण न करने से,
तेतीस आशातनाओ के करने से,
जो मुझे दिवस सम्वन्धी अतिचार दोष लगा हो उसका मेरा पाप निष्फल हो ।

णिग्गंथ धम्माइयार विसोहि सुत्तं—

२३२. नमो चउवीसाए तित्थयराणं उसभाए-महावीरपज्जवसाणाणं ।

इणमेव निग्गथ पावयणं—

सच्चं, अणुत्तरं, केवलिय, पडिपुण्ण, नेआउयं, ससुद्धं, सल्लकत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्ग, निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्ग ।

निर्ग्रन्थ धर्मातिचार शुद्धि सूत्र—

२३२. भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर देवो को नमस्कार करता हूँ ।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन,

सत्य है, सर्वोत्तम है, केवलज्ञानियो से प्ररूपित है, मोक्ष प्राप्त कराने वाले गुणो से परिपूर्ण है, मोक्ष पहुँचाने वाला है या न्याय से अवाधित है, पूर्ण शुद्ध है, माया आदि शल्यो को नष्ट करने वाला है, सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, मुक्ति का साधन है, मोक्ष स्थान का मार्ग है, पूर्ण शान्ति रूप निर्वाण का मार्ग है, असत्य नही है यथार्थ है, विच्छेद रहित है अथवा पूर्वापर विरोध से रहित है, सव दुःखो को पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है ।

---

१ (क) ठाण. अ. १०, सु. ७५५ (ख) सम. सम. २१, सु. १ (ग) अनाचार
२ (क) सम. सम. २२, सु. १ (ख) वीर्याचार (ग) उत्त. अ. २
३ सम. सम. २३, सु. १
४ सम. सम. २४, सु. १
५ (क) सम. सम २५, सु. १ (ख) पाँच महाव्रत
६ सम. सम. २६, सु. १
७ (क) सम. सम. २७, सु. १ (ख) संयमी जीवन
८ सम. सम. २८, सु. १
९ सम. सम. २९, सु. १
१० (क) ठाण. अ. १०, सु ७५५ (ख) सम, सम ३०, सु. १ (ग) अनाचार
११ सम. सम. ३१, सु १
१२ (क) सम. सम. ३२, सु. १ (ख) सयमी जीवन
१३ (क) सम. सम. ३३, सु. १ (ख) ज्ञानाचार (ग) दशा. द. ३

इत्थ ठिआ जीवा सिज्झति, बुज्झति, मुच्चति, परिनिव्वायति, सव्वदुक्खाणमत करेंति।

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन मे स्थित रहने वाले अर्थात् तदनुसार आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, सर्वज्ञ होते हैं, पूर्ण आत्म-शान्ति को प्राप्त करते हैं तथा समस्त दु खो का (सदा काल के लिए) अन्त करते हैं।

त धम्मं सद्दहामि, पत्तिआमि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि।

मैं इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन स्वरूप धर्म की श्रद्धा करता हूं, सभक्ति स्वीकार करता हूँ, रुचि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ, पालन करता हूँ, विशेष रूप से निरन्तर पालन करता हूँ।

तं धम्म सद्दहंतो, पत्तिअंतो, रोअतो, फासंतो, पालतो, अणुपालंतो।

मैं प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, आचरण करता हुआ, पालना करता हुआ, विशेष रूपेण निरन्तर पालन करता हुआ—

तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराहणाए।

उस धर्म की आराधना करने मे पूर्ण रूप से तत्पर हूँ और धर्म की विराधना से पूर्णतया निवृत्त होता हूँ—

(१) असजमं परिआणामि, संजम उवसपज्जामि।

(१) असयम को जानकर त्यागता हूँ, सयम को स्वीकार करता हूँ।

(२) अबम परिआणामि, बभ उवसपज्जामि।

(२) अब्रह्मचर्य को जानकर त्यागता हूँ, ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ।

(३) अकप्प परिआणामि, कप्प उवसंपज्जामि।

(३) अकल्प्य को जानकर त्यागता हूँ, कल्प्य को स्वीकार करता हूँ।

(४) अन्नाणं परिआणामि, नाणं उवसपज्जामि।

(४) अज्ञान को जानकर त्यागता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।

(५) अकिरियं परिआणामि, किरियं उवसंपज्जामि।

(५) अकृत्य को जानकर त्यागता हूँ, कृत्य को स्वीकार करता हूँ।

(६) मिच्छत्तं परिआणामि, सम्मत्तं उवसपज्जामि।

(६) मिथ्यात्व को जानकर त्यागता हूँ, सम्यक्त्व को स्वीकार करताहूँ।

(७) अबोहिं परिआणामि, बोहिं उवसपज्जामि।

(७) मिथ्यात्व के कार्य को जानकर त्यागता हूँ, सम्यक्त्व के कार्य को स्वीकार करता हूँ।

(८) अमग्ग परिआणामि, मग्ग उवसपज्जामि।

(८) हिंसा आदि अमार्ग को जानकर त्यागता हूँ, अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

ज समरामि, ज च न सभरामि,
ज पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि,

जो दोष स्मृति मे है और जो स्मृति मे नहीं है,
जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूं और जिनका प्रतिक्रमण नही कर पाया हूँ।

तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइआरस्स पडिक्कमामि।
समणोऽह संजय - विरय - पडिहय - पच्चक्खाय- पावकम्मो, अनियाणो, दिट्ठिसपन्नो, माया-मोस-विवज्जिओ।

उन सब दिवस सम्बन्धी अतिचारो का प्रतिक्रमण करता हूँ,
मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, विरत हूँ, पाप कर्मो को रोकने वाला हूँ, एव पाप कर्मों का त्याग करनेवाला हूँ, निदान-शल्य से रहित हूँ, सम्यग्दर्शन से युक्त हू, माया सहित मृषावाद का परिहार करने वाला हूँ।

अड्ढाइज्जेसु दीव समुद्देसु, पन्नरससु कम्मभूमीसु।
जावत के वि साहू, रयहरण-गुच्छ-पडिग्गह-धरा॥

अढाई द्वीप और दो समुद्र के परिमाण वाले मनुष्य क्षेत्र मे अर्थात पन्द्रह कर्मभूमियो मे जो भी रजोहरण, गुच्छक एव पात्र के धारण करने वाले हैं—

पंचमहव्वय-धरा अट्ठारस सहस्स-सीलंगधरा।
अक्खयायारचरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वदामि ॥
—आव. अ ४, सु २७-३१

तथा पाँच महाव्रत, अठारह हजार संयम के गुणो को धारण करने वाले एव अक्षत आचार के पालक जो त्यागी साधु हैं, उन सबको मैं शिर से, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूँ।

मारणन्तिय संलेहणा सुत्तं—

२३३ तयाणंतरं च ण अपच्छिम-मारणतिय-संलेहणा-झूसणा आराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—
(१) इहलोगासंसप्पओगे
(२) परलोगासंसप्पओगे,
(३) जीवियासंसप्पओगे,
(४) मरणासंसप्पओगे,
(५) कामभोगाससप्पओगे। —आव. अ. १, सु ५७

मरणान्तिक सलेखना के अतिचार—

२३३ तदनन्तर अपश्चिम-मरणान्तिक-सलेखणा-झोषणा आराधना के पांच अतिचारो को जानना चाहिए उनका आचरण नही करना चाहिए, वे इस प्रकार हैं—
(१) इहलौकिक सुख की चाहना करना।
(२) परलौकिक सुख की चाहना करना।
(३) जीने की चाहना करना।
(४) मरने की चाहना करना।
(५) काम-भोगो की आकाक्षा करना।

खामणा सुत्तं—

२३४. खामेमि सव्वेजीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झं न केणइ ॥

आयरिय-उवज्झाए-सीसे साहम्मिए कुल गणे य।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥

सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करीय सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहमवि ॥

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्म निहियनियचित्तो।
सव्व खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहमवि ॥
—सुत्तागमे आव. अ. ४, सु. ३२

क्षमापना सूत्र—

२३४. मैं सब जीवो को क्षमा करता हूँ और वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवो के साथ पूर्ण मित्रता है, किसी के साथ भी मेरा वैरभाव नही है।

आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल एवं गण के प्रति जो मैंने कोई भी कषाय किये हो उनकी मन, वचन, काया से क्षमा याचना करता हूँ।

मस्तक पर अंजली चढाकर भगवान महावीर के समस्त श्रमणसंघ से मैं क्षमा याचना करता हूँ वह सघ मुझे भी क्षमा प्रदान करे।

मैं धर्म मे दत्तचित्त होकर समस्त जीव राशि से क्षमा याचना करता हूँ, वह जीवराशि मुझे भी क्षमा प्रदान करे।

उवसंहार सुत्त—

२३५. एवमहं आलोइअ, निंदियं गरहिअं दुगुंछियं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कतो, वंदामि जिण चउव्वीस ॥
—आव अ. ४, सु. ३३

उपसहार सूत्र —

२३५. इस प्रकार मैं सम्यक् प्रकार से आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन, काया से, प्रतिक्रमण कर पापो से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थंकर देवो को वन्दना करता हूं।

काउस्सग्ग विहि सुत्तं—

२३६. तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त-करणेण, विसोहि-करणेण, विसल्ली-करणेण, पावाण कम्माण निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।

अन्नत्थ ऊससिएण, नीससिएणं, खासिएण, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएण, वायनिसग्गेण, भमलीए, पित्तमुच्छाए, सुहुमेहिं अंगसचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठि-

कायोत्सर्ग-विधि सूत्र—

२३६ आत्मा की श्रेष्ठता के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, विशेष निर्मलता के लिए, शल्य-रहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिए, आगे कहे जाने वाले आगारो को छोडकर मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

उच्छ्वास, नि श्वास, खांसी, छीक, उवासी, डकार, अपानवायु, चक्कर, पित्त-विकारजन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अंगो का हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का संचार, सूक्ष्म रूप से दृष्टि चलना

सचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं, अभग्गो, अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो ।

जाव अरिहंताण भगवंताण, नमुक्कारेण न पारेमि, ताव काय ठाणेण, मोणेणं, झाणेण, अप्पाण वोसिरामि ।

—आव अ ५, सु ३६-३७

इत्यादि आगारो से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एव अविराधित हो ।

जब तक अरिहत भगवान् को नमस्कार न कर लूं अर्थात् "नमो अरिहताण" न पढ लूं, तब तक एक स्थान पर स्थिर रहकर, मौन रहकर, धर्म ध्यान मे चित्त की एकाग्रता करके अपनी आत्मा को पाप व्यापारो से अलग करता हू ।



दस पच्चक्खाण—४

दसविह-पच्चक्खाणा—

णमोक्कार-सहियं पच्चक्खाण-सुत्त—

२३७ उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं[1] पच्चक्खामि, चउव्विह पि आहार—असण, पाण, खाइम, साइमं ।

१ अन्नत्यऽणाभोगेण, २. सहसागारेणं,

वोसिरामि । —आव अ ६, सु ८६

दस प्रकार के प्रत्याख्यान—

नौकारसी प्रत्याख्यान सूत्र—

२३७ सूर्योदय बाद से (एक मुहूर्त पर्यन्त) "नमस्कार सहित" अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारो ही प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,

इन दो आगारो के सिवाय चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ ।

पोरिसी पच्चक्खाण-सुत्तं—

२३८ उग्गए सूरे पोरिसिं[2] पच्चक्खामि, चउव्विह पि आहार—असण, पाणं, खाइम, साइम ।

१. अन्नत्यऽणाभोगेण, २ सहसागारेण, ३ पच्छन्नकालेण, ४ दिसामोहेण, ५. साहुवयणेण, ६. सव्वसमाहिवत्तियागारेण,

वोसिरामि । —आव अ ६, सु. ८७

पौरुषी प्रत्याख्यान सूत्र—

२३८ सूर्योदय से लेकर पौरुषी तक अशन, पान, खादिम, स्वादिम इन चारो प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) प्रच्छन्नकाल, (४) दिशामोह, (५) साधु-वचन, (६) सर्व-समाधि प्रत्ययागार,

इन छह आगारो के सिवाय पूर्णतया चारो आहार का त्याग करता हूँ ।

पुरिमड्ढ पच्चक्खाण-सुत्तं—

२३९. उग्गए सूरे, पुरिमड्ढं[3] पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहार—असण, पाण, खाइम, साइमं ।

दो पौरुषी प्रत्याख्यान सूत्र—

२३९. सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्द्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारो प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

---

१ यह "नमस्कार सहित" प्रत्याख्यान का सूत्र है। सूर्योदय से लेकर एक मुहूर्त बाद जब तक नमस्कार मन्त्र न पढे तब तक आहारादि ग्रहण नहीं करना 'नौकारसी' कहलाता है ।

२ सूर्योदय से लेकर एक प्रहर दिन चढे तब तक चारो प्रकार के आहार का त्याग करना 'पौरुषी' प्रत्याख्यान है ।

३ यह 'पूर्वार्ध' प्रत्याख्यान का सूत्र है । इसमे सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढे तब तक चारो आहार का त्याग किया जाता है ।

१. अन्नत्थऽणाभोगेण, २. सहसागारेण, ३ पच्छन्नकालेणं, ४. दिसामोहेणं, ५ साहुवयणेणं, ६. महत्तरागारेणं, ७. सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

—आव. अ ६, सु ९८

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार, (३) प्रच्छन्नकाल, (४) दिशामोह, (५) साधुवचन, (६) महत्तराकार, (७) सर्वसमाधिप्रत्ययागार। इन सात आगारो के सिवाय पूर्णतया चारो आहारो का त्याग करता हू ।

एगासण पच्चक्खाण-सुत्त—

२४०. एगासणं[1] पच्चक्खामि तिविहं पि आहार असण, खाइम, साइम,

१ अन्नत्थऽणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३ सागारियागारेणं, ४ आउंटण-पसारणेणं,
५. गुरु-अब्भुट्ठाणेणं, ६. पारिट्ठावणियागारेणं,
७. महत्तरागारेण, ८. सव्वसमाहिवत्तियागारेणं,
वोसिरामि ।

—आव. अ. ६, सु. ९९

एकाशन प्रत्याख्यान सूत्र—

२४०. एकाशन तप स्वीकार करता हूँ, अशन, खादिम, स्वादिम, इन तीनो प्रकार के आहारो का प्रत्याख्यान करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसागार,
(३) सागारिकाकार, (४) आकुंचनप्रसारण,
(५) गुर्वभ्युत्थान, (६) पारिष्ठापनिकाकार,
(७) महत्तराकार, (८) सर्व-समाधिप्रत्ययाकार,

इन आठ आगारो के सिवाय पूर्णतया तीनो आहारो का त्याग करता हूँ ।

एगट्ठाण पच्चक्खाण-सुत्तं—

२४१. एक्कासणं एगट्ठाणं[2] पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहार असण, पाणं, खाइम, साइमं ।

१. अन्नत्थऽणाभोगेणं, २. सहसागारेणं,
३. सागारियागारेणं, ४. गुरुअब्भुट्ठाणेण,
५ पारिट्ठावणियागारेण, ६ महत्तरागारेण,
७ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

—आव. अ ६, सु. १००

एकस्थान प्रत्याख्यान सूत्र—

२४१. एकाशन रूप एकस्थान ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारो प्रकार के आहारो का प्रत्याख्यान करता हूँ ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) सागारिकाकार, (४) गुर्वभ्युत्थाने,
(५) पारिष्ठापनिकाकार, (६) महत्तराकार,
(७) सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार, इन सात आगारो के सिवाय पूर्णतया चारो आहारो का त्याग करता हूँ ।

आयंबिल-पच्चक्खाण-सुत्त—

२४२. आयविलं पच्चक्खामि[3] तिविहं पि आहार असण, खाइमं, साइमं ।

१. अन्नत्थऽणाभोगेण, २. सहसागारेण,
३. लेवालेवेणं, ४. उक्खित्तविवेगेणं,
५. गिहत्थ संसट्ठेण, ६. पारिट्ठावणियागारेणं,
७. महत्तरागारेणं, ८. सव्वसमाहिवत्तियागारेण,
वोसिरामि ।

—आव अ. ६, सु १०१

आयविल प्रत्याख्यान सूत्र—

२४२. आयविल तप स्वीकार करता हूँ, अशन, खादिम, स्वादिम इन तीनो आहारो का त्याग करता हूँ ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) लेपालेप, (४) उत्क्षिप्त विवेक,
(५) गृहस्थसंसृष्ट, (६) पारिष्ठापनिकाकार,
(७) महत्तराकार, (८) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार,

इन आठ आगारो के अतिरिक्त तीनों आहार का त्याग करता हूँ ।

---

१ पौरुषी या पूर्वार्द्ध के बाद दिन मे एक बार भोजन करना उसके बाद तीनो आहारो का त्याग करना 'एकाशन' तप होता है। एकाशन का अर्थ है—एक अशन अर्थात् दिन मे एक बार भोजन करना अथवा एक आसन से भोजन करना ।

२ दिन मे एक बार एक ही आसन से भोजन एव पानी ग्रहण करना उसके बाद चारो आहार का त्याग करना 'एक स्थान'—एगलट्ठाण तप होता है ।

३ दिन मे एक बार, रूक्ष, नीरस एवं विगय रहित एक आहार ही ग्रहण करना और उसके बाद तीन आहार का त्याग करना 'आयंविल' तप कहा जाता है ।
दूध, दही, घी, तेल, गुड, शक्कर और पक्वान्न आदि किसी भी प्रकार का स्वादु भोजन आयविल व्रत मे ग्रहण नही किया जा सकता है ।

अभत्तट्ठ-पच्चक्खाण-सुत्तं—

२४३ उग्गए सूरे अभत्तट्ठं[1] पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

१ अन्नत्थऽणाभोगेणं, २ सहसागारेणं,
३. पारिट्ठावणियागारेणं, ४. महत्तरागारेणं,
५ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

—आव अ ६, सु १०२

उपवास प्रत्याख्यान सूत्र—

२४३ सूर्योदय से उपवास तप ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम, और स्वादिम चारो ही आहार का त्याग करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) पारिष्ठापनिकाकार, (४) महत्तराकार,
(५) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार, इन पाँच आगारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

दिवसचरिम-पच्चक्खाण-सुत्तं—

२४४ दिवसचरिमं पच्चक्खामि[2] चउव्विहं पि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

१. अन्नत्थऽणाभोगेणं, २ सहसागारेणं,
३ महत्तरागारेणं, ३. सव्वसमाहिवत्तियागारेणं,
वोसिरामि।

—आव अ ६, सु. १०३(१)

दिवसचरिम प्रत्याख्यान सूत्र—

२४४ दिवस चरिम का व्रत ग्रहण करता हूं, अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारो आहार का त्याग करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) महत्तराकार, (४) सर्वसमाधिप्रत्ययागार,
इन चार आगारो के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्यान करता हूँ।

भवचरिम-पच्चक्खाण-सुत्त—

२४५ भवचरिमं पच्चक्खामि[3] चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

१ अन्नत्थऽणाभोगेणं, २ सहसागारेणं,
३. महत्तरागारेणं, ४ सव्वसमाहिवत्तियागारेणं
वोसिरामि।

—आव. अ ६, सु १०३(२)

भवचरिम प्रत्याख्यान सूत्र—

२४५ भवचरिम ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारो आहार का त्याग करता हूँ।

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(२) महत्तराकार, (४) सर्वसमाधिप्रत्ययागार,
इन चार आगारो के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हू।

अभिग्गह-पच्चक्खाण-सुत्तं—

२४६. अभिग्गहं पच्चक्खामि[4] चउव्विहं पि आहारं—असणं, पाणं, खाइमं, साइमं।

अभिग्रह प्रत्याख्यान सूत्र—

२४६ अभिग्रह ग्रहण करता हूँ, अशन, पान, खादिम, और स्वादिम चारो ही आहार का त्याग करता हूँ।

---

१ अभक्तार्थ=उपवास, अ=नहीं, भक्त=आहार का, अर्थ=प्रयोजन। तीनो का सम्पूर्ण अर्थ यह होता है कि भक्त का प्रयोजन नही है जिस व्रत मे वह 'उपवास' है। सूर्योदय से दूसरे दिन सूर्योदय तक चारो आहार का त्याग करना उपवास तप है। पानी के आगार से उपवास करना हो तो प्रत्याख्यान सूत्र मे "चउव्विहं पि आहारं" के स्थान पर "तिविहं पि आहारं" ऐसा पाठ कहना चाहिए।

२ यह चरम प्रत्याख्यान सूत्र है। "चरम" का अर्थ "अन्तिम भाग" है। वह दो प्रकार का है—दिवस का अन्तिम भाग और भव अर्थात् आयु का अन्तिम भाग। सूर्य अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक साधु को चारो आहार का त्याग करना और गृहस्थ को चारों अथवा तीनो आहारो का त्याग करना "दिवस चरम" प्रत्याख्यान है।

३ 'भवचरम' प्रत्याख्यान का अर्थ है जब साधु को यह निश्चय हो जाय कि आयु थोडी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारो या तीनो आहारो का त्याग कर दे और सथारा ग्रहण करके सयम की आराधना करे। भवचरम का प्रत्याख्यान जीवन भर का सयम साधना का उज्ज्वल प्रतीक है। भव चरम चउविहार या तिविहाहार दोनो प्रकार से होते हैं।

४ गवेषणा के सामान्य नियमो के सिवाय अन्य व्यक्ति, वस्तु और वर्ण आदि के सकेतो से युक्त भिक्षा ग्रहण करने के लिए नियम करना 'अभिग्रह' तप होता है। सकल्प निश्चित करने के बाद उक्त पाठ से प्रत्याख्यान किया जाता है, अभिग्रह पूर्ण होने पर ही आहार ग्रहण किया जाता है एव अभिग्रह पूर्ति के पूर्व अभिग्रह विषयक सकल्प प्रकट नहीं किया जाता है।

१. अन्नत्थऽणाभोगेण, २. सहसागारेण, ३ महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

—आव. अ. ६, सु १०४

अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार, इन चार आगारो के सिवाय अभिग्रहपूर्ति तक चारो आहार का त्याग करता हूँ।

निव्विगइया-पच्चक्खाण-सुत्त—

२४७. निव्विगइओ[1] पच्चक्खामि—

(१) अन्नत्थऽणाभोगेणं, (२) सहसागारेणं,
(३) लेवालेवेण, (४) गिहत्थसंसट्ठेण,
(५) उक्खित्तविवेगेणं, (६) पडुच्चमक्खिएणं,
(७) पारिट्ठावणियागारेण, (८) महत्तरागारेणं,
(९) सव्वसमाहिवत्तियागारेणं,[2] वोसिरामि।

—आव. अ ६, सु. १०५

निर्विकृतिक (नीवी) प्रत्याख्यान सूत्र—

२४७. निर्विकृतिक तप स्वीकार करता हूँ,

(१) अनाभोग, (२) सहसाकार,
(३) लेपालेप, (४) गृहस्थ-ससृष्ट,
(५) उत्क्षिप्तविवेक, (६) प्रतीत्यम्रक्षित,
(७) परिष्ठापनिकाकार, (८) महत्तराकार,
(९) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार, इन नौ आगारो के सिवाय सब प्रकार के विगयो का परित्याग करता हूँ।

---

१ (क) दिन मे एक वार विगय रहित आहार करना "निर्विकृति" (निवी—नीवी) तप होता है।
(ख) मन मे विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को 'विगय' कहते हैं।
"मनसो विकृतिहेतुत्ववाद् विकृतय" योगशास्त्र तृतीय प्रकाश वृत्ति।
विकृति मे दूध दही, मक्खन, घी, तेल, गुड, मधु आदि पदार्थ सम्मिलित हैं।

२ दस प्रत्याख्यानो के १५ आगारो का विवेचन—

(१) अनाभोग—'अभी मेरे प्रत्याख्यान' है– यह सर्वथा विस्मृत हो जाये और ऐसी स्थिति मे भूल से कुछ खा ले या पी ले तो यह अनाभोग आगार है।

(२) सहसाकार - अनिच्छा से कोई पदार्थ मुँह मे चला जाय, यह सहसाकार आगार है, यथा—पानी, छाछ आदि के छीटें मुंह मे चले जायें। अथवा कोई जवरदस्ती से मुँह मे ठूँस दे या वलपूर्वक खिलावे तो यह भी सहसाकार आगार समझ सकते हैं।

(३) प्रच्छन्नकाल—वादल आदि से सूर्य न दिखने पर पौरुषी का निश्चित काल ज्ञात न होने से पौरुषी के पूर्व प्रत्याख्यान पार लेवे तो यह प्रच्छन्नकाल आहार है।

(४) दिशामोह—भ्रान्ति से पूर्व या पश्चिम दिशा का यथार्थ भान न रहे और पौरुषी न आने पर भी पौरुषी आ गई ऐसा मानकर पौरुषी का प्रत्याख्यान पार ले तथा खा ले पी ले तो यह दिशामोह आगार है।

(५) साधु वचन—"पौरुषी आ गई है" ऐसा साधु पुरुष के कहने पर पौरुषी आये विना प्रत्याख्यान पार लेना—यह साधु वचन आगार है।

(६) सर्व समाधि प्रत्यय आगार—जब तक समाधिभाव है तव तक प्रत्याख्यान है, प्राणघातक शूल आदि रोग निमित्तक असमाधि से प्रत्याख्यान पार लेना यह सर्वसमाधि प्रत्यय आगार है।

(७) महत्तरागार—आचार्य आदि वडे पुरुषो की आज्ञा से प्रत्याख्यान पार लेना, यह महत्तरागार है।

(८) सागारिक आगार—एक आसन से एक वार भोजन करने का प्रत्याख्यान होने पर भी भोजन करते समय यदि कोई गृहस्थ आ जाए तो उठना पडे और अन्यत्र जाकर भोजन करना पडे तो यह सागारिक आगार है।

(९) आकुंचन-प्रसारण आगार—एकासन से भोजन करते हुए भी वैठे-वैठे पैर आदि शून्य हो जाए तो हाथ पैर आदि को फैलाना या सिकोडना पडे तो यह आकुंचन-प्रसारण आगार है।

(१०) गुरु-अभ्युत्थान आगार—एकासन से भोजन करते हुए यदि गुरुदेव आ जायें तो खडा होना और वाद मे पुनः वैठकर भोजन करना, यह गुरु-अभ्युत्थान आगार है।

(११) पारिष्ठापनिका आगार—यदा-कदा आहार गवेषक की असावधानी से या दाता के आग्रह से अधिक आहार आ जाए और आहार कर लेने के वाद भी जो शेष वच जाये तो सभी स्वधर्मिक साधुओ को दे कदाचित् फिर भी शेष रह जाये तो स्थविर गुरुजनो की आज्ञा से प्रत्याख्यान वाला उस आहार का उपयोग करे—यह पारिष्ठापनिका आगार है।

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

सव्वपच्चक्खाण-पारण-सुत्तं—

२४८. उग्गए सूरे 'नमुक्कार-सहियं' पच्चक्खाण[1] कयं । तं पच्चक्खाण सम्मं काएण फासियं, पालियं, तीरियं, किट्टियं सोहियं, आराहियं । जं च न आराहियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं । —सुत्तागमे आव. अ. ६

सर्व प्रत्याख्यान पारण सूत्र—

२४८. सूर्योदय होने पर जो 'नमस्कार-सहित' प्रत्याख्यान किया था वह प्रत्याख्यान मन, वचन, काया के द्वारा सम्यक् रूप से स्पृष्ट, पालित, तीरित, कीर्तित, शोधित एवं आराधित किया हो और सम्यक् रूप से जो आराधित न किया हो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।



(टिप्पण पृष्ठ ६७ से चालू)

(१२) लेपालेप आगार—आयंबिल=(आचाम्ल) में सरस आहार लेने का प्रत्याख्यान होते हुए भी दाता यदि शाक तथा घृत आदि विकृति के लेप वाले चम्मच को पोंछकर दे तो उसे ग्रहण करना यह लेपालेप आहार है ।

(१३) उत्क्षिप्त विवेक आगार - आयंबिल योग्य निरस आहार पर गुड आदि (लेप रहित) पड़े हुए पदार्थ को उठाकर दाता उस निरस आहार को दे तो उसे ग्रहण करना यह उत्क्षिप्त विवेक आगार है ।

(१४) गृहस्थ ससृष्ट आगार—दाता के हाथ अंगुलियाँ आदि घृत, तेल, गुड आदि से लिप्त हो तो उसके हाथ से आयंबिल योग्य निरस आहार ग्रहण करना, यह गृहस्थ ससृष्ट आगार है ।

(१५) प्रतीत्य म्रक्षित आगार—गेहूँ आदि के गीले आटे पर घृत, तेल आदि चुपड दिया जाता है उससे बनाये गये रोटी पापड आदि रूक्ष खाद्य पदार्थ ग्रहण करना, यह प्रतीत्य म्रक्षित आगार है ।

उक्त १५ आगारों में ६ आगार केवल साधु-साध्वियों के लिए ही नियत है ।

(१) सागारिक आगार, (२) पारिष्ठापनिका आगार, (३) लेपालेप आगार,
(४) उत्क्षिप्त विवेक आगार, (५) गृहस्थ ससृष्ट आगार, (६) प्रतीत्यम्रक्षित आगार,

शेष ९ आगार साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका आदि सबके लिए उपयुक्त है—

(१) अनाभोग आगार, (२) सहसाकार आगार, (३) दिशामोह आगार,
(४) साधु वचन आगार, (५) आकुंचन प्रसारण आगार, (६) गुरु अभ्युत्थान आगार,
(७) महत्तरागार, (८) प्रच्छन्नकाल आगार, (९) सर्व समाधि प्रत्ययागार ।

दस प्रत्याख्यानों में से पाँच प्रत्याख्यानों में पारिष्ठापनिका आगार है—यथा—

(१) एकासन, (२) एक-स्थान, (३) आयंबिल, (४) उपवास, (५) निर्विकृतिक ।

शेष ५ प्रत्याख्यानों में पारिष्ठापनिका आगार नहीं है । यथा—

(१) नमस्कार सहित (नौकारसी) (२) पौरुषी, (३) पूर्वार्ध (दो पौरुषी),
(४) दिवस-चरिम, (५) अभिग्रह ।

१ यहाँ नमुक्कार सहियं नमस्कारिका का सूचक सामान्य शब्द है । इसके स्थान में जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रक्खा हो उसका नाम लेना चाहिए । जैसे कि पौरुषी रक्खी हो तो "पोरिसीपच्चक्खाणकयं" ऐसा कहना चाहिए ।

प्रत्याख्यान पालने के छह अंग बतलाये गये है, वे ये हैं—

(१) फासियं—विधि पूर्वक प्रत्याख्यान लेना ।

(२) पालियं—प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी सतत रक्षा करना ।

(३) सोहियं—कोई दूषण लग जाये तो उनकी शीघ्र शुद्धि करना ।

(४) तीरियं— लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना ।

(५) किट्टियं—लिए हुए प्रत्याख्यान का उत्कीर्तन करना कि मेरा प्रत्याख्यान भलीभाँति पूर्ण हो गया है ।

(६) आराहियं—सब दोषों से दूर रहते हुए आराधना करना ।

जं च न आराहियं—इस प्रकार यदि शुद्ध आराधना न की हो तो आलोचना एवं प्रतिक्रमण करने से व्रत शुद्ध हो जाता है ।

पच्चक्खाण के प्रकार—५

पच्चक्खाणप्पगारा—

२४९ तिविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, त जहा—

१. मणसा वेगे पच्चक्खाति,
२. वयसा वेगे पच्चक्खाति[1],
३. कायसा वेगे पच्चक्खाति, पावाण कम्माण अकरणयाए।

अहवा— पच्चक्खाणे तिविहे पण्णत्ते, त जहा—

१. दीहंपेगे अद्धं पच्चक्खाति,
२ रहस्सपेगे अद्ध पच्चक्खाति[2],
३. कायपेगे पडिसाहरति, पावाणं कम्माण अकरणयाए।

—ठाणं अ. ३, उ. १, सु. १३६

पंचविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा—

१. सद्दहणसुद्धे,
२. विणयसुद्धे,
३. अणुभासणासुद्धे,
४. अणुपालणासुद्धे,
५. भावसुद्धे। —ठाणं अ ५, उ. ३, सु ४६६

प्रत्याख्यान के प्रकार—

२४९. प्रत्याख्यान तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

पाप कर्म न करने के लिए—

(१) कोई मन से प्रत्याख्यान करते हैं।
(२) कोई वचन से प्रत्याख्यान करते है।
(३) कोई काया से प्रत्याख्यान करते है।

अथवा प्रत्याख्यान तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—

पाप कर्म न करने के लिए—

(१) कोई दीर्घकाल के लिए पापकर्मों का प्रत्याख्यान करते हैं।

(२) कोई अल्पकाल के लिए पाप-कर्मों का प्रत्याख्यान करते हैं।

(३) कोई काया का निरोध कर लेते है।

प्रत्याख्यान पाँच प्रकार का कहा गया है, जैसे—

(१) शुद्ध श्रद्धा पूर्वक किया गया त्याग।
(२) विनय पूर्वक किया गया त्याग।
(३) 'वोसिरामि' कहते हुए प्रत्याख्यान ग्रहण करना।
(४) विकट स्थिति मे भी प्रत्याख्यान का निर्दोष पालन करना।
(५) राग द्वेष से रहित होकर शुद्ध भाव से प्रत्याख्यान का पालन करना।

पच्चक्खाण-भेयप्पभेया—

२५० प०—कतिविहे ण भंते! पच्चक्खाणे पण्णत्ते?

उ०—गोयमा! दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, त जहा—

१ मूलगुणपच्चक्खाणे य, २ उत्तरगुणपच्चक्खाणे य।

प०— मूलगुणपच्चक्खाणे णं भते! कतिविहे पण्णत्ते?

उ०—गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे य,
२. देसमूलगुणपच्चक्खाणे य।

प्रत्याख्यान के भेद-प्रभेद—

२५०. प्र०—भगवन्! प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है?

उ०—गौतम! प्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) मूलगुण प्रत्याख्यान, (२) उत्तरगुण प्रत्याख्यान।

प्र०—भगवन्! मूलगुण प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है?

उ०—गौतम! दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

(१) सर्वमूलगुण प्रत्याख्यान,
(२) देशमूलगुण प्रत्याख्यान।

१-२ ठाण अ. २, उ. १, सु. ५२

प०—सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे ण भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, त जहा—

१ सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण,
२ सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं,
३. सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण,
४ सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण,
५ सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण ।

प०—देसमूलगुणपच्चक्खाणे ण भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, त जहा—

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं-जाव-थूलाओ परिग्गहाओ वेरमण ।

प०—उत्तरगुणपच्चक्खाणे ण भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, त जहा—

१ सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे य,
२ देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे य ।

प०—सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे ण भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! दसविहे पण्णत्ते, त जहा—

१-२ अणागतमइक्कंत
३. कोडीसहिइं, ४. णियटिय चेव,
५-६. सागारमणागार,
७. परिमाणकड, ८ निरवसेस,
९ साकेय चेव,
१० अद्धाए पच्चक्खाण भवे दसहा[1] ।

प०—देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. दिसिव्वय, २ उवभोग-परिभोगपरिमाण,
३. अणत्थदंड-वेरमण, ४. सामाइयं,
५ देसावगासिय, ६. पोसहोववासो,

प्र०—भगवन् ! सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! पाँच प्रकार का कहा गया है वह इस प्रकार है—

(१) सर्व—प्राणातिपात से विरमण,
(२) सर्व—मृषावाद से विरमण,
(३) सर्व—अदत्तादान से विरमण,
(४) सर्व—मैथुन से विरमण,
(५) सर्व—परिग्रह से विरमण ।

प्र०—भगवन् ! देशमूलगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! पाँच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

स्थूल प्राणातिपात से विरमण—यावत्—स्थूल परिग्रह से विरमण ।

प्र०—भगवन् ! उत्तरगुण प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

(१) सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान,
(२) देश-उत्तरगुण प्रत्याख्यान ।

प्र०—भगवन् ! सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! सर्व-उत्तरगुण प्रत्याख्यान दस प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

(१) अनागत, (२) अतिक्रान्त,
(३) कोटिसहित, (४) नियन्त्रित,
(५) सागार, (६) अनागार,
(७) परिमाणकृत, (८) निरवशेष,
(९) संकेत,
(१०) अद्धाप्रत्याख्यान ।

प्र०—भगवन् ! देश-उत्तरगुणप्रत्याख्यान कितने प्रकार का कहा गया है ?

उ०—गौतम ! सात प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

(१) दिशापरिमाण, (२) उपभोग-परिभोगपरिमाण,
(३) अनर्थदण्डविरमण, (४) सामायिक,
(५) देशावकाशिक, (६) पौषधोपवास,

---

१ ठाण. अ. १०, सु ७४८

७ अतिहिसंविभागो,
अपच्छिममारणंतिय-सलेहणा झूसणा आराहणया ।
—वि स ७, उ २, सु २-८

(७) अतिथि सविभाग तथा अपश्चिम मारणातिक-संलेखना-झोपणा-आराधना ।

सुपच्चक्खाणी-दुपच्चक्खाणी सरूवं—

२५१ प०—से नूण भते ! सव्वपाणेहिं सव्वभूतेहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं पच्चक्खाय इति वयमाणस्स सुपच्चक्खायं भवति ? दुपच्चक्खाय भवति ?

उ०—गोयमा ! "सव्वपाणेहिं-जाव-सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायं" इति वदमाणस्स सिय सुपच्चक्खाय भवति, सिय दुपच्चक्खाय भवति ।

प० से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ "सव्वपाणेहिं-जाव-सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायं" इति वयमाणस्स सिय सुपच्चक्खायं भवति सिय दुपच्चक्खाय भवति ?

उ०—गोयमा ! जस्स ण "सव्वपाणेहिं-जाव-सव्वसत्तेहिं पच्चक्खाय" इति वयमाणस्स णो एव अभिसमन्नागत भवति—
इमे जीवा, इमे अजीवा,
इमे तसा, इमे थावरा,
तस्स ण "सव्वपाणेहिं-जाव-सव्वसत्तेहिं पच्चक्खाय" इति वयमाणस्स नो सुपच्चक्खाय भवति, दुपच्चक्खाय भवति । एवं खलु से दुपच्चक्खाई सव्वपाणेहिं-जाव-सव्वसत्तेहिं "पच्चक्खाय" इति वयमाणो नो सच्च भासं भासति, मोस भासं भासइ, एव खलु से मुसावाती सव्वपाणेहिं-जाव-सव्वसत्तेहिं तिविहं तिविहेण असंजय-अविरय-अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असवुडे एगंतदंडे एगतवाले यावि भवति ।

जस्स ण "सव्वपाणेहिं-जाव-सव्वसत्तेहिं पच्चक्खाय" इति वयमाणस्स एवं अभिसमन्नागतं भवति ।

इमे जीवा, इमे अजीवा,
इमे तसा, इमे थावरा,
तस्स णं-जाव-सुपच्चक्खायं भवति, नो दुपच्चक्खाय भवति । एव खलु से सुपच्चक्खाई-जाव-एगंतपडिते यावि भवति ।
से तेणट्ठेणं गोयमा ! एव वुच्चइ-जाव-सिय दुपच्चक्खायं भवति । —वि. स ७, उ. २, सु. १

सुप्रत्याख्यानी और दुष्प्रत्याख्यानी का स्वरूप—

२५१ प्र०—हे भगवन् ! "मैंने सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सभी सत्वो की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है" इस प्रकार कहने वाले के सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

उ०—गौतम ! "मैंने सभी प्राण—**यावत्**—सभी सत्वो की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है", इस प्रकार कहने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ।

प्र०—भगवन् ! ऐसा क्यो कहा जाता है कि "समस्त प्राण —**यावत्**—समस्त सत्वो की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है" इस प्रकार उच्चारण करने वाले के कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

उ०—गौतम ! "मैंने समस्त प्राण—**यावत्**—समस्त सत्वो की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है", इस प्रकार कहने वाले जिस पुरुष को यदि यह ज्ञात नही हो कि,
ये जीव हैं, ये अजीव हैं,
ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं,
उस पुरुष का "समस्त प्राण—**यावत्**—सर्व सत्वो का प्रत्याख्यान" सुप्रत्याख्यान नही होता किन्तु दुष्प्रत्याख्यान होता है इसलिए वह दुष्प्रत्याख्यानी पुरुष "मैंने सभी प्राण—**यावत्**—सभी सत्वो की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है", इस प्रकार कहता हुआ सत्यभाषा नही बोलता, किन्तु मृषाभाषा बोलता है और वह मृषावादी सर्व प्राण—**यावत्**—समस्त सत्वो के प्रति तीन करण, तीन योग से असयत, अविरत, पापकर्म से अप्रतिहत और पापकर्म का अप्रत्याख्यानी, क्रियाओ से युक्त, सवररहित, एकान्त दण्डकारक एव एकान्त बाल होता है ।

"मैंने सर्व प्राण—**यावत्**—सर्व सत्वो की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है", यो कहने वाले जिस पुरुष को यह ज्ञात होता है कि,
ये जीव हैं, ये अजीव हैं,
ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं,
उस पुरुष का—**यावत्**—प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, किन्तु दुष्प्रत्याख्यान नही होता है और वह सुप्रत्याख्यानी-**यावत्**-एकान्त पण्डित होता है ।

इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि—**यावत्**—कदाचित् सुप्रत्याख्यान होता है और कदाचित् दुष्प्रत्याख्यान होता है ।

णाणपुव्वगपच्चक्खाणकारी —

२५२. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—

१. परिण्णायकम्मे नाममेगे नो परिण्णायसण्णे,

२ परिण्णायसण्णे नाममेगे नो परिण्णायकम्मे,

३. एगे परिण्णायकम्मे वि, परिण्णायसण्णे वि,

४. एगे नो परिण्णायकम्मे, नो परिण्णायसण्णे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—

१ परिण्णायकम्मे नाममेगे नो परिण्णायगिहावासे,

२ परिण्णायगिहावासे नाममेगे नो परिण्णायकम्मे,

३. एगे परिण्णायकम्मे वि परिण्णायगिहावासे वि,

४. एगे णो परिण्णायकम्मे णो परिण्णायगिहावासे।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—

१. परिण्णायसण्णे नाममेगे नो परिण्णायगिहावासे,

२. परिण्णायगिहावासे नाममेगे नो परिण्णायसण्णे,

३. एगे परिण्णायसण्णे वि परिण्णायगिहावासे वि,

४ एगे नो परिण्णायसण्णे नो परिण्णायगिहावासे।

—ठाण अ ४, उ. ३, सु. ३२७

ज्ञानपूर्वक प्रत्याख्यान करने वाले—

२५२ पुरुष च र प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) कुछ पुरुष पाप कर्म का तो परित्याग कर देते हैं, किन्तु पाप भावना का त्याग नही कर पाते।

(२) कुछ पुरुष पाप भावना का तो परित्याग कर देते हैं किन्तु पाप कर्म का परित्याग नही कर पाते।

(३) कुछ पुरुष पाप कर्म और पाप भावना दोनो का परित्याग कर देते है।

(४) कुछ पुरुष न पाप कर्म करना छोडते हैं और न पाप भावना का परित्याग करते है।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं यथा—

(१) कुछ पुरुष पाप कर्म का परित्याग कर देते हैं किन्तु गृहवास का परित्याग नही करते।

(२) कुछ पुरुष गृहवास का तो त्याग कर देते हैं किन्तु गृ - वास के कार्यों का परित्याग नही कर पाते।

(३) कुछ पुरुष पाप कर्म और गृहवास दोनो का परित्याग कर देते हैं।

(४) कुछ पुरुष पाप कर्म और गृहवास दोनो का परित्याग नही कर पाते।

पुरुष चार प्रकार के होते है, यथा—

(१) कुछ पुरुष पाप भावना का परित्याग कर देते हैं किन्तु गृहवास का परित्याग नही करते।

(२) कुछ पुरुष गृहवास का त्याग कर देते हैं, किन्तु पाप भावना का त्याग नही करते।

(३) कुछ पुरुष पाप भावना एवं गृहवास दोनो का परित्याग कर देते हैं।

(४) कुछ पुरुष पाप भावना एव गृहवास दोनो का परित्याग नही कर पाते।



प्रतिक्रमण फल—६

पडिक्कमण फलं—

२५३. प०—पडिक्कमणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उ०—पडिक्कमणेण वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।

—उत्त अ २९, सु. १३

प्रतिक्रमण का फल—

२५३. प्र०—भन्ते! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—प्रतिक्रमण मे वह व्रत के छिद्रो को ढक देता है। जिसने व्रत के छेदो को भर दिये वह जीव आश्रवो को रोक देता है, चारित्र छिद्रो को मिटा देता है, आठ-प्रवचनमाताओ मे सावधान हो जाता है, सयम मे एकरस हो जाता है और भली-भांति समाधिस्थ होकर विहार करता है।

पच्चक्खाण फल—७

पच्चक्खाणं-फल—

२५४. प०— पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०— पच्चक्खाणेण आसवदाराइं निरुम्भइ ।।

—उत्त. अ. २९, सु० १५

प्रत्याख्यान का फल—

२५४. प्र०—भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—प्रत्याख्यान से वह आश्रव-द्वारो का निरोध करता है ।

संभोग-पच्चक्खाण-फल—

२५५. प० सभोग-पच्चक्खाणेण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उ० - सभोग-पच्चक्खाणेण आलवणाइं खवेइ । निरालवणस्स य आययट्ठिया जोगा भवंति । सएण लाभेणं संतुस्सइ परलाभं नो आसादेइ, नो तक्केइ नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ । परलाभ अणासायमाणे, अतक्केमाणे अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्च सुहसेज्ज उवसपज्जित्ता ण विहरइ ।

— उत्त अ २९, सु ३५

सभोग प्रत्याख्यान का फल—

२५५. प्र०—भन्ते ! सभोग के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सभोग प्रत्याख्यान से जीव का परावलम्बीपन छूट जाता है । स्वावलम्वी होने से उसकी सभी प्रवृत्तियाँ आत्म प्रयोजन वाली हो जाती हैं, वह अपने लाभ मे सन्तुष्ट रहता है । पर के लाभ का उपभोग नही करता कल्पना नही करता, इच्छा नही करता, प्रार्थना नही करता और अभिलाषा नही करता है । इस प्रकार पर के लाभ का आस्वादन, कल्पना, चाहना, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ वह दूसरी स्वलाभ संतोष-सुख शय्या (प्रथम सुख-शय्या - सयम) को प्राप्त करके विचरण करता है ।

उवहि-पच्चक्खाण-फल—

२५६ प०— उवहिपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ० - उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमन्थ जणयइ । निरुवहिए ण जीवे निक्कखे उवहिमतरेण य न संकिलिस्सई ।

—उत्त. अ. २९, सु ३६

उपधि प्रत्यख्यान का फल —

२५६ प्र०—भन्ते उपधि (वस्त्र आदि उपकरणो) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता हैं ?

उ० —उपधि के प्रत्याख्यान से वह स्वाध्याय-ध्यान मे होने वाली क्षति से वच जाता है । उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव मे मानसिक सक्लेश को प्राप्त नही होता ।

आहार-पच्चक्खाण-फलं—

२५७ प०—आहारपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—आहारपच्चक्खाणेण जीवियाससप्पओगं वोच्छिदइ, जीवियाससप्पओग वोच्छिन्दित्ता जीवे आहारमंतरेण न सकिलिस्सइ ।

— उत्त अ २९, सु. ३७

आहार प्रत्याख्यान का फल—

२५७. प्र०—भन्ते ! आहार-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता हैं ?

उ०—आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की लालसा करना छोड देता है । जीवित रहने की अभिलाषा छोड देने वाला व्यक्ति आहार के विना (तपस्या आदि मे) संक्लेश को प्राप्त नही होता ।

कसाय-पच्चक्खाण-फल —

२५८. प०—कसायपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—कसायपच्चक्खाणेण वीयरागभाव जणयइ । वीयराग-भावपडिवन्ने य ण जीवे समसुहदुक्खे भवइ ।

—उत्त. अ. २९ सु. ३८

कषाय-प्रत्याख्यान का फल —

२५८ प्र०—भन्ते ! कषाय (क्रोध मान, माया और लोभ) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता हैं ?

उ० — कषाय-प्रत्याख्यान से वह वीतराग-भाव को प्राप्त होता है । वीतराग-भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख मे सम-भाव को प्राप्त होता हैं ।

जोग-पच्चक्खाण-फल—

२५९. प०—जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं निज्जरेइ।

—उत्त अ २९ सु ३९

योग-प्रत्याख्यान का फल—

२५९ प्र०—भन्ते ! योग (मन, वचन, काया की प्रवृत्ति) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—योग-प्रत्याख्यान से वह अयोगत्व को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का उपार्जन नहीं करता और पूर्व उपार्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

सरीर-पच्चक्खाण-फलं—

२६० प०—सरीर-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परम-सुही भवइ। —उत्त अ. २९ सु ४०

शरीर-प्रत्याख्यान का फल—

२६० प्र०—भन्ते ! शरीर का त्याग करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—शरीर का त्याग करने से वह मुक्त अवस्था के अति-शय गुणों को प्रकट करता है, मुक्त आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करने वाला जीव लोक के शिखर में पहुँचकर परम सुखी हो जाता है।

सहाय-पच्चक्खाण-फलं—

२६१ प०—सहायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सहायपच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवर-बहुले, समाहिए यावि भवइ।

—उत्त अ. २९, सु ४१

सहाय-प्रत्याख्यान का फल—

२६१ प्र०—भन्ते ! सहाय-प्रत्याख्यान (दूसरों का सहयोग न लेने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सहाय-प्रत्याख्यान से वह एकत्वभाव को प्राप्त होता है। एकत्वभाव को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता हुआ कोलाहल पूर्ण शब्दों से मुक्त, कलह से मुक्त, झगड़े से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू से मुक्त, विशिष्ट संयम वाला, विशिष्ट संवर वाला और समाधि युक्त हो जाता है।

भत्त-पच्चक्खाण-फलं—

२६२ प०—भत्तपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुम्भइ।[1]

—उत्त अ २९, सु ४२

भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) का फल—

२६२ प्र०—भन्ते ! भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—भक्त-प्रत्याख्यान से वह अनेक सैंकड़ों भवों का निरोध करता है।

सब्भाव-पच्चक्खाण-फलं—

२६३ प०—सब्भावपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सब्भावपच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तं जहा—

१ वेयणिज्जं, २ आउयं,
३ नामं, ४ गोयं।

तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणं अन्तं करेइ। —उत्त अ २९, सु ४३

सद्भाव-प्रत्याख्यान का फल—

२६३ प्र०—भन्ते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान (पूर्ण संवर रूप शैलेशी अवस्था) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—सद्भाव-प्रत्याख्यान से वह अनिवृत्ति (शुक्ल ध्यान) को प्राप्त होता है—अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अणगार केवली के विद्यमान चार कर्मों को क्षीण कर देता है। यथा—

(१) वेदनीय कर्म, (२) आयुष्यकर्म,
(३) नाम कर्म, (४) गोत्र कर्म।

उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, पूर्ण शांति को प्राप्त करता है, और सब दुःखों का अन्त करता है।

---

१ भक्त प्रत्याख्यान अनशन का वर्णन 'अनशन' तप में देखिये।

पच्चक्खाण-भंजण-पायच्छित्त-सुत्तं—

२६४. जे भिक्खू अभिक्खणं अभिक्खणं पच्चक्खाण भजइ भजंत वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइय ।

—नि. उ १२, सु. २

प्रत्याख्यान भग का प्रायश्चित्त सूत्र—

२६४ जो भिक्षु वार-वार प्रत्याख्यान तोडता है, तुडवाता है या तोड़ने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।



गृहस्थ-धर्म

गृहस्थ धर्म—१

समणोवासगप्पगारा—

२६५. चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, तं जहा—

१ अम्मापिइसमाणे, २. भाइसमाणे,
३. मित्तसमाणे, ४. सवत्तिसमाणे ।

चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता, त जहा—

१. अद्दागसमाणे, २. पडागसमाणे,
३. खाणुसमाणे, ४. खरकटयसमाणे ।

—ठाणं. अ. ४, उ ३, सु. ३२२

श्रमणोपासको के प्रकार—

२६५. श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे गये हैं । यथा—

(१) माता-पिता के समान, (२) भाई के समान,
(३) मित्र के समान, (४) सपत्नी (सोक) के समान ।

पुन श्रमणोपासक चार प्रकार के कहे गये हैं । जैसे—

(१) दर्पण के समान, (२) ध्वजा के समान,
(३) ठूंठ के समान, (४) तीक्ष्ण काटे के समान ।

समणोवासगस्स चत्तारि आसासा—

२६६. भारण्णं वहमाणस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता, तं जहा—

१ जत्थ णं अंसाओ अस साहरइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते,

२ जत्थ वि य णं उच्चारं वा पासवण वा परिट्ठवेति, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते,

३. जत्थवि य ण णागकुमारावासंसि वा, सुवण्णकुमारावासंसि वा वास उवेति, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते,

४. जत्थवि य णं आवकहाए चिट्ठति, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते ।

एवामेव समणोवासगस्स चत्तारि आसासा पण्णत्ता, त जहा—

१ जत्थवि य ण सीलव्वयगुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं पडिवज्जति, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते,

२ जत्थवि य ण सामाइयं देसावगासियं सम्ममणुपालेइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते,

श्रमणोपासक के चार विश्रान्ति स्थान—

२६६. भारवाही के लिए चार आश्वास (विश्राम) स्थान होते हैं—

(१) पहला आश्वास तब होता है जब वह भार को एक कंधे से दूसरे कंधे पर रख लेता है,

(२) दूसरा आश्वास तब होता है जब वह भार को रखकर लघुशंका या बडी शंका करता है,

(३) तीसरा आश्वास तब होता है जब वह नागकुमार, सुपर्णकुमार आदि के आवासों मे (रात्रिकालीन) निवास करता है,

(४) चौथा आश्वास तब होता है जब वह कार्य को सम्पन्न कर भारमुक्त हो जाता है ।

इसी प्रकार श्रमणोपासक (श्रावक) के लिए भी चार आश्वास होते हैं—

(१) जब वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास को स्वीकार करता है, तब पहला आश्वास होता है,

(२) जब वह सामायिक तथा देशावकाशिक व्रत का सम्यक् अनुपालन करता है तब दूसरा आश्वास होता है,

३ जत्थवि य णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहं सम्मं अणुपालेइ, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते,

४ जत्थवि य णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्तपाणपडियाइक्खिते पाओवगते कालमणवकंखमाणे विहरति, तत्थवि य से एगे आसासे पण्णत्ते ।

—ठाणं अ. ४, उ ३, सु ३१४

(३) जब वह अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन परिपूर्ण—दिन रात भर पौषध का सम्यक् अनुपालन करता है, तब तीसरा आश्वास होता है,

(४) जब वह अन्तिम-मारणांतिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर भक्त-पान का त्याग कर पादोपगमन अनशन को स्वीकार कर मृत्यु के लिए अनुत्सुक होकर विहरण करता है, तब चौथा आश्वास होता है ।

ओघाइयार विसोहीकरणं—

२६७. इच्छामि ठामि काउस्सग्ग, जो मे देवसिओ अइआरो कओ काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असावगपाउग्गो । नाणे तह दंसणे चरित्ताचरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हं अणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं, बारस विहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं । —आव अ. ४

सामान्य रूप से अतिचारो का विशुद्धिकरण—

२६७ मैं कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ, जो मैंने दिवस सम्बन्धी अतिचार किये हो वे कायिक, वाचिक, मानसिक, सूत्र से विरुद्ध, मार्ग से विरुद्ध, अकल्पनीय, नही करने योग्य, दुर्ध्यान रूप, दुश्चिन्तन रूप, नही आचरने योग्य, नही चाहने योग्य, श्रावक के लिए अनुचित, ज्ञान, दर्शन व चारित्राचारित्र मे, श्रुत ज्ञान मे, सामायिक मे तथा तीन गुप्ति की, चार कषायो से निवृत्ति की, पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत एवं बारह प्रकार के श्रावक धर्म की जो खण्डना की हो, जो विराधना की हो तो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो ।

अप्पाउवधकारणाइं—

२६८ तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—

१ पाणे अतिवातित्ता भवति, २ मुसं वतित्ता भवति,

३. तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवति,

इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति ।

—ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३३ (१)

अल्पायु बंध के कारण—

२६८ तीन प्रकार से जीव अल्प आयुष्य कर्म बाधते हैं, यथा—

(१) प्राणियो की हिंसा करने से, (२) असत्य बोलने से,

(३) तथारूप श्रमण माहन को अप्रासुक, अनेषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, आहार का दान करने से ।

इन तीन प्रकारो से जीव अल्प आयुष्य कर्म का बन्ध करते हैं ।

दीहाउबंध कारणाइं—

२६९ तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—

१ णो पाणे अतिवातित्ता भवति,

२. णो मुसं वतित्ता भवति,

३ तहारूवं-समणं वा माहणं वा फासुयएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवति,

इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति ।

—ठाणं. अ ३, उ १, सु १३३ (२)

दीर्घायु बंध के कारण—

२६९ तीन प्रकार से जीव दीर्घायुष्य कर्म बाँधते हैं, यथा—

(१) प्राणियो की हिंसा न करने से,

(२) असत्य न बोलने से,

(३) तथारूप श्रमण माहन को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का प्रतिलाभ करने से,

इन तीन प्रकारो से जीव दीर्घ आयुष्य कर्म का बन्ध करते हैं ।

असुह दीहाउबंधकारणाइं—

२७०. तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—

१. पाणे अतिवातित्ता भवति, २ मुसं वतित्ता भवति,

३ तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता, णिंदित्ता,

अशुभ दीर्घायु बंध के कारण—

२७०. तीन प्रकार से जीव अशुभ दीर्घायुष्य कर्म बाँधते हैं, यथा—

(१) प्राणो का घात करने से, (२) मृषावाद बोलने से,

(३) तथारूप श्रमण माहन की अवहेलना, निन्दा, अवज्ञा,

खिंसित्ता, गरहित्ता, अवमाणित्ता अन्नयरेणं अमणुण्णेणं अपीइ-कारएण असण-पाण-खाइम-साइमेण, पडिलाभेत्ता भवति,

इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्म पगरेंति । —ठाणं. अ ३, उ. १, सु. १३३ (३)

गर्हा और अपमान करने से तथा अन्य अमनोज्ञ, अप्रीतिकर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का प्रतिलाभ करने से,

इन तीन प्रकारो से जीव अशुभ दीर्घ आयुष्य कर्म का वन्ध करते हैं।

सुहदीहाउ वध कारणाइ—

२७१. तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउअत्ताए कम्मं पगरेंति, त जहा—

१. णो पाणे अतिवातित्ता भवति, २. णो मुस वदित्ता भवइ, ३. तहारूव समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगल देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता मणुण्णेण पीइकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता भवति।

इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति।[1] —ठाणं. अ ३, उ १, सु १३३ (४)

शुभ दीर्घायु बन्ध के कारण—

२७१. तीन प्रकार से जीव दीर्घायुष्य कर्म बांधते हैं, यथा—

(१) प्राणो का घात न करने से, (२) मृषावाद न बोलने से, (३) तथारूप श्रमण माहन को वन्दन-नमस्कार कर, उनका सत्कार-सम्मान कर, कल्याण-रूप, मगलरूप, देवरूप तथा ज्ञानवंत मानकर, उनकी सेवाभक्ति कर, उन्हे मनोज्ञ एव प्रीतिकर अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का प्रतिलाभ करने से।

इन तीन प्रकारो से जीव शुभ दीर्घायुष्य कर्म का वन्ध करते है।



समकित सहित बारह व्रत—२

समत्तसरूवं-अइयारा य—

२७२ से य सम्मत्ते पसत्थ-सम्मत्त-मोहणीय-कम्माणुवेयणोवसमखयसमत्थे पसम-संवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ते।

सम्मत्तस्स समणोवासएण पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—

१ संका, २ कखा,
३ विइगिच्छा, ४ परपासंडपससा,
५. परपासडसथवे।[2] —आव अ. ६, सु ६४-६५

सम्यक्त्व का स्वरूप और अतिचार—

२७२. वह सम्यक्त्व-प्रशस्तसम्यक्त्व-मोहनीय कर्म के उदय, उपशम अथवा क्षय से निष्पन्न, सम संवेग आदि का हेतुभूत एव आत्मा के शुभ परिणामस्वरूप कहा गया है।

श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के पाँच मुख्य अतिचार जानने योग्य है आचरण करने योग्य नही है। वे अतिचार इस प्रकार है—

(१) शंका, (२) काक्षा,
(३) विचिकित्सा, (४) पर-पापड प्रशंसा,
(५) पर-पापड-सस्तव।

समत्त पाहण्ण—

२७३ एतस्स पुण समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थुं सम्मत्तं। त निसग्गेण वा, अधिगमेण वा।

पचातिचार विसुद्ध अणुव्वय—गुणव्वयाइ च, अभिग्गहा, अन्ते य पडिमादओ विसेसकरणजोगा, अपच्छिमा मारणतिया सलेहणाझोसणाराहणया। —आव अ ६, सु. ६४

सम्यक्त्व की प्रधानता—

२७३. इस श्रमणोपासक धर्म का मूल-सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व स्वभाव से या उपदेश से होता है।

पाँच अतिचारो से विशुद्ध सम्यक्त्व युक्त अणुव्रत, गुणव्रत, अभिग्रह और अन्य प्रतिमा आदि विशेष करने योग्य धार्मिक आचार वालो को जीवन के अन्त मे या मरण समय मे कपाय क्षय या कर्मक्षय के लिए सलेखना करनी चाहिए।

---

१ विया. श ५, उ ६, सु १४।

२ उवा अ. १, सु ४४।

समणोवासगधम्मप्पगारा—

२७४. अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—

पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं।

पंच अणुव्वयाइं तं जहा—

१ थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं,

२ थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं,

३ थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं,

४ सदारसंतोसे,

५. इच्छापरिमाणे[1]।

तिण्णि गुणव्वयाइं तं जहा—

६ दिसिव्वयं,

७ उवभोगपरिभोगपरिमाणं,

८. अणत्थदंडवेरमणं।

चत्तारि सिक्खावयाइं, तं जहा—

९ सामाइयं, १० देसावगासियं,

११ पोसहोववासे, १२ अतिहिसंविभागे।

अपच्छिमा मारणंतिया संलेहणाझूसणाराहणा।

अयमाउसो! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते। एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणे आणाए आराहए भवइ[2]। —उवा. अ. १, सु ११

एत्थ पुण समणोवासगधम्मे पंचाणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं आवकहियाइं चत्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं।

—आव अ ६, सु ६३

श्रावक धर्म के प्रकार—

२७४. भगवान् ने श्रावक-धर्म बारह प्रकार का बतलाया है यथा—

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

पाँच अणुव्रत इस प्रकार हैं—

(१) स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त होना,

(२) स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना,

(३) स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना,

(४) स्वदार संतोष करना,

(५) इच्छा का परिमाण करना।

तीन गुणव्रत इस प्रकार है—

(६) दिग्व्रत दिशा का परिमाण करना,

(७) उपभोग-परिभोग का परिमाण व्रत,

(८) अर्थदण्ड से निवृत्त होना।

चार शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं—

(९) सामायिक व्रत, (१०) देशावकाशिक व्रत,

(११) पोषधोपवास व्रत, (१२) अतिथि-संविभाग व्रत।

तथा अन्तिम मरणरूप संलेखना-अनशन की आराधना।

हे आयुष्मन्! यह गृहस्थ का आचरणीय धर्म है। इस धर्म के अनुसरण में प्रयत्नशील होते हुए श्रमणोपासक या श्रमणोपासिका आज्ञा के आराधक होते हैं।

इस बारह प्रकार के श्रमणोपासक धर्म में पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत जीवन पर्यन्त के लिये ग्रहण किए जाते हैं तथा चार शिक्षाव्रत अल्प काल के लिए ग्रहण किए जाते हैं।

थूल-पाणाइवाय-विरमणस्स सरूवं अइयारा य—

२७५ थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ। से य पाणाइवाए दुविहे पन्नत्ते तं जहा—

१ संकप्पओ य, २ आरम्भओ य,

तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, नो आरम्भओ।

थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा—

१ बंधे, २ वहे,

३. छविच्छेए, ४. अइभारे,

५ भत्त पाण-वोच्छेए[3]। —आव अ. ६, सु. ६६-६७

स्थूल-प्राणातिपात-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७५ स्थूल प्राणातिपात का श्रमणोपासक प्रत्याख्यान करता है। वह प्राणातिपात दो प्रकार का कहा गया है। जैसे—

(१) संकल्प से, (२) आरम्भ से,

उसमें श्रमणोपासक संकल्प से स्थूल प्राणातिपात का यावज्जीवन प्रत्याख्यान करता है, आरम्भ से स्थूल-प्राणातिपात का प्रत्याख्यान नहीं करता है।

श्रमणोपासक को स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

(१) बाँधना, (२) मारपीट करना,

(३) अंगोपांग का छेदन करना, (४) अधिक भार लादना,

(५) भोजन पानी बन्द करना।

१ ठाण अ ५, उ १, सु ३८९।

२ उवा. अ १, सु ४५।

३ उव सु ५७।

थूल-मुसावायविरमणस्स सरूव अइयारा य—

२७६ थूलगमुसावाय समणोवासओ पच्चक्खाइ। से य मुसावाए पचविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१ कन्नालीए,

२ गोवालीए,

३ भोमालीए, ४ नासावहारो,

५ कूडसंक्खिज्जे।

थूलगमुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा।

तं जहा—

१. सहसाऽब्भक्खाणे,

२. रहस्साऽब्भक्खाणे,

३. सदारमतभेए,

४. मोसोवएसे,

५. कूडलेहकरणे[1]। —आव अ. ६, सु. ६८-६९

स्थूल-मृषावाद-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७६. श्रमणोपासक स्थूलमृषावाद का प्रत्याख्यान करता है। वह मृषावाद पाँच प्रकार का कहा गया है। जैसे—

(१) कन्या सम्बन्धी मृषावाद,

(२) गाय आदि पशु सम्बन्धी मृषावाद,

(३) भूमि सम्बन्धी मृषावाद, (४) धरोहर का अपहरण,

(५) कूट साक्षी अर्थात् झूठी साक्षी।

श्रमणोपासक को स्थूलमृषावादविरमण व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार है—

(१) सहसा (विना बिचारे) झूठा कलक लगाना,

(२) एकान्त मे मन्त्रणा करने वालो पर आरोप लगाना।

(३) स्त्री की गुप्त बातें प्रगट करना।

(४) मिथ्या उपदेश देना या खोटी सलाह देना।

(५) असत्य लिखावट करना।

थूल-अदत्तादाण-विरमणस्स सरूवं अइयारा य—

२७७ थूलगमदत्तादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ। से य अदत्तादाणे दुविहे पन्नत्ते, त जहा—

१ सचित्तादत्तादाणे य,

२. अचित्तादत्तादाणे य।

थूलग अदिण्णादाणवेरमणस्स समणोवासएण इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा। त जहा—

१ तेणाहडे,

२. तक्करप्पओगे,

३ विरुद्ध-रज्जाइक्कमणे,

४. कूडतुल्ल-कूडमाणे,

५ तप्पडिरूवगववहारे[2]। —आव. अ. ६, सू. ७०-७१

स्थूल-अदत्तादान-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७७ श्रमणोपासक स्थूल अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता है। वह अदत्तादान दो प्रकार का कहा गया है। जैसे—

(१) सचित्त अदत्तादान,

(२) अचित्त अदत्तादान,

श्रमणोपासक को स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

(१) चोरी की वस्तु लेना,

(२) चोर को सहायता देना,

(३) राज्य-विरुद्ध कार्य करना,

(४) झूठा तोल व माप करना,

(५) अच्छी वस्तु दिखाकर खराब देना।

थूल-मेहुण-विरमणस्स सरूव अइयारा य—

२७८. परदारगमण समणोवासओ पच्चक्खाइ, सदारसतोसं वा पडिवज्जइ।

से य परदारगमणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—

१ ओरालिय-परदारगमणे य, २. वेउव्विय-परदारगमणे य।

सदार-संतोसस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, त जहा—

१ इत्तरियपरिग्गहियागमणे,

स्थूल-मैथुन-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७८. श्रमणोपासक परस्त्रीगमन का प्रत्याख्यान करता है और स्वदारा से संतोष करता है।

परस्त्रीगमन दो प्रकार का कहा गया है। जैसे—

(१) औदारिक परस्त्रीगमन, (२) वैक्रिय परस्त्रीगमन।

श्रमणोपासक को स्वदारसतोष-व्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

(१) अल्प वय वाली स्त्री के साथ गमन करना,

---

१ उवा. अ. १, सु. ४६।

२ उवा अ १, सु. ४७।

२ अपरिग्गहियागमणे,
३ अणगकीडा,
४. परविवाहकरणे,
५ कामभोगतिव्वाभिलासे ।[1] —आव अ ६, सु ७२-७३

(२) विवाह के पूर्व स्त्री के साथ गमन करना,
(३) अन्य अंग से काम क्रीडा करना,
(४) अन्य का विवाह कराना,
(५) काम भोग की तीव्र अभिलाषा करना ।

परिग्गह-परिमाणस्स सरूवं अइयारा य—

२७९ अपरिमियपरिग्गहं समणोवासओ पच्चक्खाति, इच्छापरिमाणं उवसपज्जइ ।
से य परिग्गहे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—
१. सचित्तपरिग्गहे य, २. अचित्तपरिग्गहे य ।
इच्छा परिमाणस्स समणोवासएण इमे पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा—
१ खेत्त-वत्थु-पमाणाइक्कमे ।
२ हिरण्ण-सुवण्ण-पमाणाइक्कमे ।
३ धण-धन्न-पमाणाइक्कमे ।
४. दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे ।
५. कुविय-पमाणाइक्कमे[2] । —आव अ ६, सु ७४-७५

परिग्रह-परिमाण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२७९ श्रमणोपासक अपरिमित परिग्रह का प्रत्याख्यान करता है एव इच्छाओ का परिमाण करता है ।
परिग्रह दो प्रकार का कहा गया है । जैसे—
(१) सचित्त परिग्रह, (२) अचित्त परिग्रह ।
श्रमणोपासक को इच्छा-परिमाण-व्रत के पांच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—
(१) घर तथा खुली भूमि के परिमाण का अतिक्रमण करना ।
(२) सोना-चांदी के परिमाण का अतिक्रमण करना ।
(३) धन-धान्य के परिमाण का अतिक्रमण करना ।
(४) द्विपद-चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण करना ।
(५) अन्य सामग्री के परिमाण का अतिक्रमण करना ।

दिसिवय सरूवं अइयारा य—

२८०. दिसिवए तिविहे पन्नत्ते । त जहा—
१. उड्ढदिसिवए, २. अहोदिसिवए,
३. तिरियदिसिवए ।
दिसिव्वयस्स समणोवासएण इमे पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, त जहा—
१ उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे ।
२. अहोदिसिपमाणाइक्कमे ।
३ तिरियदिसिपमाणाइक्कमे ।
४. खेत्तवुड्ढी,
५. सइअंतरद्धा ।[3] —आव. अ. ६, सु ७६-७७

दिशाव्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८० दिग्व्रत तीन प्रकार के कहे गए है—
(१) ऊर्ध्व दिशापमाण व्रत, (२) अधोदिशा प्रमाण व्रत,
(३) तिर्यक्-दिशा प्रमाण व्रत ।
श्रमणोपासक को दिशाव्रत के पाँच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—
(१) ऊँची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना ।
(२) नीची दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना ।
(३) तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रमण करना ।
(४) एक दिशा मे घटाकर दूसरी दिशा मे क्षेत्र बढाना ।
(५) क्षेत्र परिमाण के भूलने पर आगे चलना ।

उवभोग-परिभोग-परिमाणस्स सरूवं अइयारा य—

२८१. उवभोगपरिभोगवए दुविहे पण्णत्ते, त जहा—
१ भोयणओ य, २. कम्मओ य ।
भोयणओ समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न न समायरियव्वा, त जहा—
१. सचित्ताहारे,
२ सचित्तपडिबद्धाहारे,
३ अप्पउलिओसहिभक्खणया,

उपभोग-परिभोग-परिमाण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८१ उपभोग-परिभोग दो प्रकार का कहा गया है—
(१) भोजन की अपेक्षा से, (२) कर्म की अपेक्षा से ।
भोजन की अपेक्षा से श्रमणोपासक को पाँच अतिचार जानने चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए । वे इस प्रकार हैं—
(१) प्रत्याख्यान उपरात सचित्त का आहार करना ।
(२) सचित्त सबद्ध का आहार करना ।
(३) अपक्व को पक्व समझकर खाना ।

---

१ उवा अ १, सु ४८ ।
२ उवा अ. १, सु. ४९ ।
३ उवा अ १, सु ५० ।

४ दुप्पउलिओसहिभक्खणया,

५ तुच्छोसहिभक्खणया। —आव अ ६, सु ७८-७९ (१)

(४) अर्धपक्व को पूर्णपक्व समझकर खाना।

(५) तुच्छ वस्तुओ का आहार करना।

पण्णरस कम्मादाणाइं—

२८२ कम्मओ ण समणोवासएण पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइ न समायरियव्वाइ। तं जहा—

१. इंगालकम्मे,
२. वणकम्मे,
३. साडीकम्मे,
४ भाडीकम्मे,
५ फोडीकम्मे,
६ दंतवाणिज्जे,
७ लक्खवाणिज्जे,
८ रसवाणिज्जे,
९. विसवाणिज्जे,
१०. केसवाणिज्जे,
११. जंतपीलणकम्मे,
१२ निल्लंछणकम्मे,
१३ दवग्गिदावणया,
१४ सर-दह-तलायपरिसोसणया,
१५. असईजणपोसणया[1]। —आव. अ ६, सु ७९ (२)

पन्द्रह कर्मादान—

२८२. कर्म की अपेक्षा से श्रमणोपासक को पन्द्रह-कर्मादान जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

(१) अग्नि आरम्भजन्य कर्म,
(२) वनस्पति आरम्भ जन्य कर्म,
(३) वाहन निर्माण कर्म,
(४) वाहन द्वारा भाडा कमाने का कर्म,
(५) पृथ्वीकाय के आरम्भ जन्य कर्म,
(६) त्रस जीवो के अवयवो का व्यापार,
(७) लाख आदि पदार्थों का व्यापार,
(८) रस वाले पदार्थों का व्यापार,
(९) विषैले पदार्थ और शस्त्रो का व्यापार,
(१०) पशु पक्षी आदि के केशो का व्यापार,
(११) तिल, ईख आदि पीलने के यन्त्रो का कर्म,
(१२) बिंधना, खस्सी करना आदि कर्म,
(१३) जंगल आदि मे आग लगाना,
(१४) तालाब, नदी, द्रह आदि को सुखाना,
(१५) हिंसक जानवरो का और दुश्चरित्र स्त्रियो का पोषण करना।

अणत्थदंड विरमणस्स सरूव अइयारा य—

२८३. अणत्थदण्डे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—

१ अवज्झाणाचरिए,
२ पमायाचरिए,
३ हिंसप्पयाणे,
४ पावकम्मोवएसे।

अणट्ठदंडवेरमणस्स समणोवासएण इमे पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, त जहा—

१ कदप्पे,
२ कुक्कुइए,
३ मोहरिए,
४. संजुत्ताहिगरणे,
५ उवभोग-परिभोगाइरित्ते।[2] —आव अ ६, सु. ८०-८१

अनर्थदण्ड-विरमण-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८३. अनर्थदण्ड चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—

(१) आर्त, रौद्र ध्यान करना,
(२) प्रमाद से अविवेक पूर्ण प्रवृत्ति करना,
(३) हिंसा करने के शस्त्र देना,
(४) पाप कर्म करने की प्रेरणा करना।

श्रमणोपासक को अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत के पांच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

(१) विकार युक्त कथा करना,
(२) शरीर से हास्यकारी कुचेष्टाएं करना,
(३) अति वाचालता करना,
(४) हिंसाकारी उपकरणो को अविधि से रखना,
(५) खाद्य सामग्री आदि का अधिक सग्रह करना।

सामाइय-सरूवं अइयारा य—

२८४. सामाइय नाम सावज्ज जोगपरिवज्जण निरवज्जजोगपडिसेवण च।

सामायिक व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८४. सावद्ययोगो का परित्याग करना और निरवद्ययोगो का आचरण करना इसको सामायिक कहते हैं।

---

१ उवा. अ. १, सु ५१।

२ उवा अ. १, सु ५२।

सामाइयस्स समणोवासएण इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा त जहा—

१ मणदुप्पणिहाणे,
२. वयदुप्पणिहाणे,
३ कायदुप्पणिहाणे,
४ सामाइयस्स सइ अकरणया,
५. सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया[1]।

—आव अ ६, सु ८२-८६

श्रमणोपासक को सामायिक व्रत के पांच प्रमुख अतिचारो को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

१ मन से अशुभ चिन्तन करना,
२ वचन से अशुभ शब्द बोलना,
३. काया से अशुभ प्रवृत्ति करना,
४ सामायिक की स्मृति न रखना,
५ दोष-रहित व विधियुक्त सामायिक न रहना।

सामाइयकडस्स किरिया—

२८५ प०—समणोवासगस्स णं भते! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स तस्स ण भते किं ईरियावहिया किरिया कज्जइ? संपराइया किरिया कज्जइ?

उ०—गोयमा! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, सपराइया किरिया कज्जइ।

प०—से केणट्ठेणं भते! एव वुच्चइ-जाव-सपराइया किरिया कज्जइ?

उ०—गोयमा! समणोवासयस्स णं सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स आया अहिगरणी भवति। आयाऽहिगरणवत्तिय च ण तस्स नो ईरियावहिया किरिया कज्जति, संपराइया किरिया कज्जति।

से तेणट्ठेण गोयमा! एवं वुच्चइ-जाव-सपराइया किरिया कज्जइ। —वि स ७, उ १, सु ६

सामायिक किये हुए की क्रिया—

२८५ प्र०—हे भगवन्! श्रमण के उपाश्रय मे बैठकर सामायिक किये हुए श्रमणोपासक को क्या ईर्यापथिकी क्रिया लगती है, अथवा साम्परायिकी क्रिया लगती है?

उ०—गौतम! उसे ईर्यापथिकी क्रिया नही लगती है किन्तु साम्परायिकी क्रिया लगती है।

प्र०—हे भगवन् किस कारण से ऐसा कहा जाता है—यावत्—साम्परायिकी क्रिया लगती है।

उ०—गौतम! श्रमण के उपाश्रय मे बैठकर सामायिक किये हुए श्रमणोपासक की आत्मा कषाय से युक्त होती है। जिसकी आत्मा कषाय से युक्त होती है, उसे एर्यापथिकी क्रिया नही लगती है किन्तु साम्परायिकी क्रिया लगती है।

हे गौतम! इस कारण से ऐसा कहा जाता है—यावत्—साम्परायिकी क्रिया लगती है।

सामाइयकडस्स ममत्तभावं—

२८६ आजीविया ण भते! थेरे भगवते एव वयासि—

प०—समणोवासगस्स ण भते! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अच्छमाणस्स केइ भडं अवहरेज्जा, से णं भते! त भडं अणुगवेसमाणे किं सयं भडं अणुगवेसइ? परायग भडं अणुगवेसइ?

उ०—गोयमा! सयं भडं अणुगवेसइ, नो परायग भडं अणुगवेसेइ।

प०—तस्स ण भते! तेहिं सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं से भंडे अभंडे भवति?

उ०—हंता, भवति।

सामायिक किये हुए का ममत्व—

२८६ हे भगवन्! आजीविक गोशालक के शिष्य स्थविर भगवन्तो से इस प्रकार पूछते हैं कि—

प्र०—श्रमण के उपाश्रय मे बैठकर सामायिक किये हुए श्रमणोपासक के वस्त्र आदि सामान को कोई अपहरण कर ले जाए तो सामायिक पूर्ण होने पर उन वस्तुओं का अन्वेषण करता हुआ वह अपने सामान का अन्वेषण करता है या दूसरों के सामान का अन्वेषण करता है?

उ०—गौतम! वह अपने ही सामान का अन्वेषण करता है, पराये सामान का अन्वेषण नही करता।

प्र०—भगवन्! उन शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पोषधोपवास को स्वीकार किये हुए श्रावक के वे भाण्ड क्या उसके लिए अभाण्ड हो जाते हैं?

उ०—हे गौतम! वे भाण्ड उसके लिए अभाण्ड हो जाते हैं।

---

1 उपा अ १, सु ५३।

प०—से केणं खाइणं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति "सभंडं अणुगवेसइ नो परायगं भंडं अणुगवेसइ ?

प्र०—हे भगवन् ! यदि वे भाण्ड उसके लिए अभाण्ड हो जाते हैं तो आप ऐसा क्यो कहते हैं कि वह श्रावक अपने भाण्ड का अन्वेषण करता है, दूसरे के भाण्ड का अन्वेषण नही करता ?

उ०—गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—

"णो मे हिरण्णे, नो मे सुवण्णे, नो मे कंसे, नो मे दूसे, नो मे विउल धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-मादीए, संतसारसाव-देज्जे", ममत्तभावे पुण से अपरिण्णाते भवति ।

से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ सभंडं अणुगवेसइ, नो परायगं भंड अणुगवेसइ ।

—वि. स ८, उ. ५, सु. २-३

उ०—गौतम सामायिक आदि करने वाले उस श्रावक के मन मे ऐसे परिणाम होते हैं कि—

"हिरण्य मेरा नही है, सुवर्ण मेरा नही है, कास्य मेरा नही है, वस्त्र मेरे नही हैं तथा विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शंख, मूंगा, पद्मरागादि मणि इत्यादि विद्यमान सारभूत द्रव्य मेरा नही है।" किन्तु उसके ममत्वभाव का प्रत्याख्यान नही होता है ।

हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहता हूँ कि वह श्रावक अपने ही भाण्ड का अन्वेषण करता है किन्तु दूसरो के भाण्ड का अन्वेषण नही करता ।

सामाइयकडस्स पेज्जबंधण—

सामायिक किये हुए का प्रेमबन्धन—

२८७. प०—समणोवासगस्स ण भंते ! सामाइयकडस्स समणो-वस्सए अच्छमाणस्स केइ जायं चरेज्जा, से णं भंते ! किं जायं चरइ, अजायं चरइ ?

२८७. प्र०—हे भगवन् ! श्रमण के उपाश्रय मे बैठकर सामायिक किये हुए श्रमणोपासक की पत्नी के साथ कोई भोग भोगता है तो क्या वह श्रावक की पत्नी को भोगता है या दूसरे की स्त्री को भोगता है ?

उ०—गोयमा ! जायं चरइ, नो अजायं चरइ ।

उ०—गौतम ! वह श्रावक की पत्नी को भोगता है किन्तु दूसरे की स्त्री को नही भोगता है ।

प०—तस्स ण भंते ! तेहिं सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं सा जाया अजाया भवइ ?

प्र०—हे भगवन् ! शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास कर लेने से क्या उस श्रावक की वह जाया "अजाया" हो जाती है ?

उ०—हंता, भवइ ।

उ०—हाँ गौतम ! श्रावक की वह जाया अजाया हो जाती है ।

प०—से केण खाइण अट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ "जायं चरइ, नो अजायं चरइ ?"

प्र०—हे भगवन् ! जब श्रावक की जाया 'अजाया" हो जाती है, तब आप ऐसा क्यो कहते हैं कि वह व्यभिचारी उसकी जाया को भोगता है, अजाया को नही भोगता ?

उ०—गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ "णो मे माया, णो मे पिया, णो मे भाया, णो मे भगिणी, णो मे भज्जा, णो मे पुत्ता, णो मे धूया, णो मे सुण्हा", पेज्जबंधणे पुण से अव्वोच्छिन्ने भवइ,

से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ जायं चरइ, नो अजायं चरइ । —वि. स. ८, उ ५, सु. ४-५

उ०—गौतम ! उस श्रावक के मन मे ऐसे परिणाम होते है कि—"माता मेरी नही है, पिता मेरे नही हैं, भाई मेरा नही है, बहन मेरी नही है, स्त्री मेरी नही है, पुत्र मेरे नही हैं, पुत्री मेरी नही है, पुत्रवधू मेरी नही है", किन्तु इन सबके प्रति उसका प्रेम बन्धन टूटा हुआ नही होता है ।

हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहता हूँ कि—वह पुरुष उस श्रावक की जाया को भोगता है, अजाया को नही भोगता ।

देसावगासिय-सरूवं अइयारा य—

देशावगासिक व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८८ दिसिव्वय-गहियस्स दिसा परिमाणस्स पइदिण परिमाण-करणं देसावगासियं ।

२८८ ग्रहण किये हुए दिशाव्रत का प्रतिदिन सक्षिप्त परिमाण करना देशावगासिक व्रत है ।

देसावगासियस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा—

(१) आणवणप्पओगे,
(२) पेसवणप्पओगे,
(३) सद्दाणुवाए,
(४) रूवाणुवाए,
(५) वहियापोग्गलपक्खेवे ।[1] —आव. अ ६, सु ८७-८८

श्रमणोपासक को देशावकाशिक व्रत के पांच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—
(१) मर्यादा के वाहर की वस्तु मँगाना,
(२) मर्यादा के वाहर वस्तु भिजवाना,
(३) मर्यादा के वाहर शब्द से संकेत करना,
(४) मर्यादा के वाहर रूप से संकेत करना,
(५) मर्यादा के वाहर पुद्गल फेंककर संकेत करना।

पोसह-सरूवं अइयारा य—

२८९ पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—
(१) आहारपोसहे,
(२) सरीरसक्कारपोसहे,
(३) बम्भचेरपोसहे,
(४) अव्वावारपोसहे ।

पोसहोववासस्स समणोवासएणं इमे पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, त जहा—

(१) अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-सिज्जासथारे ।
(२) अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-सिज्जासथारे ।
(३) अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-उच्चारपासवणभूमी ।
(४) अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-उच्चारपासवणभूमी ।
(५) पोसहोववासस्स सम्म अणणुपालणया ।
—आव. अ. ६, सु. ८९-९०

पौषध व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२८९. पौषधोपवास व्रत के चार प्रकार कहे गये हैं। जैसे—
(१) आहार त्याग रूप पौषध,
(२) शरीर सत्कार त्याग रूप पौषध,
(३) ब्रह्मचर्य पौषध,
(४) सावद्य प्रवृत्ति परित्याग पौषध ।

श्रमणोपासक को पौषधोपवास व्रत के पांच प्रमुख अतिचार जानना चाहिए, उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

(१) शय्या सस्तारक की प्रतिलेखना नहीं करना या अविधि से करना ।
(२) शय्या सस्तारक का प्रमार्जन नही करना या अविधि से करना ।
(३) परठने की भूमि का प्रतिलेखन नही करना या अविधि से करना ।
(४) परठने की भूमि का प्रमार्जन नहीं करना या अविधि से करना ।
(५) पौषध के नियमो का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करना ।

अतिहि संविभागस्स सरूवं अइयारा य—

२९० अतिहिसविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्न-पाणाईणं दव्वाण देस-काल-सद्धा-सक्कारकमजुयं पराए भत्तीए आयाणुग्गहवुद्धीए सजयाण दाण ।

अतिहि[2]-सविभागस्स-समणोवासएण इमे पच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, त जहा—

(१) सचित्तनिक्खेवणया,

अतिथि-सविभाग-व्रत का स्वरूप और अतिचार—

२९० भोजन पानी आदि द्रव्यो का देश काल के अनुकूल, श्रद्धा सत्कार युक्त, परमभक्ति से तथा आत्म कल्याण की भावना से ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान महावीर के सयतो को दान देना अतिथि सविभाग है।

श्रमणोपासक को अतिथि सविभाग व्रत के पांच प्रमुख अतिचारों को जानना चाहिए, उनका आचरण नहीं करना चाहिए, वे इस प्रकार हैं—

(१) विवेक न रखते हुए अचित्त वस्तु सचित्त पर रखना,

---

१ उवा. अ. १, सु. ५४

२ उवा. अ १, सु. ५६ यहाँ "अतिहिसविभागस्स" शब्द के स्थान पर "अहासविगस्स" शब्द का प्रयोग है।

(२) सचित्तपिहणया,
(३) कालाइक्कमे,
(४) परववएसे,
(५) मच्छरिया ।[1] —आव अ. ६, सु. ९१-९२

(२) विवेक न रखते हुए अचित्त वस्तु सचित्त से ढंकना ।
(३) विवेक न रखते हुए भिक्षा के असमय मे दान की भावना रखना ।
(४) विवेक न रखते हुए दूसरो से दान दिलाना ।
(५) कषाय युक्त भावो से दान देना ।

समणस्स सुद्ध आहार दाणफलं—

२९१. प०—समणोवासएणं भंते ! तहारूवं समण वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेण असण-पाणं-खाइमं-साइमेणं, पडिलाभेमाणे किं लभति ?

उ०—गोयमा ! समणोवासएण तहारूवं समणं वा माहण वा-जाव-पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहि उप्पाएति, समाहिकारएण से तामेव समाहिं पडिलभति ।

प०—समणोवासए ण भते तहारूवं समणं वा माहणं वा -जाव-पडिलाभेमाणे किं चयति ?

उ०—गोयमा ! जीवियं-चयति, दुच्चय चयति, दुक्करं करेइ, दुल्लभं लभति, बोहिं वुज्झति तओ पच्छा सिज्झइ-जाव-अंतं करेइ ।

—वि स ७, उ १, सु ९-१०

प०—समणोवासए णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुयएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेण पडि-लाभेमाणे किं कज्जति ?

उ०—गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ ।

प०—समणोवासए ण भंते ! तहारूव समणं वा माहण वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेण पडिलाभेमाणे किं कज्जइ ?

उ०—गोयमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ ।

—वि म. ८, उ. ६, सु. १-२

श्रमण को शुद्ध आहार देने का फल—

२९१. प्र०—हे भगवन् ! उत्तम श्रमण और माहन को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को क्या लाभ होता है ?

उ०—गौतम ! तथारूप श्रमण या माहन को—**यावत्**— प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक, तथारूप श्रमण या माहन को समाधि पहुँचाता है। उन्हें समाधि प्राप्त कराने वाला वह श्रमणोपासक स्वय भी उसी समाधि को प्राप्त करता है।

प्र०—हे भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहण को—**यावत्**— प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक क्या त्याग करता है ?

उ०—गौतम ! श्रमणोपासक जीवन के आधारभूत अन्न-पानादि का त्याग करता है, दुस्त्यज वस्तु का त्याग करता है, दुष्कर कार्य करता है, दुर्लभ वस्तु से लाभ लेता है, बोधि को प्राप्त करता है, उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है—**यावत्**— सव दु खो का अन्त करता है।

प्र०—हे भगवन् ! तथारूप श्रमण अथवा माहन को प्रासुक एव एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार द्वारा प्रतिलाभित करने वाले श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उ०—गौतम ! वह एकान्त रूप से निर्जरा करता है और वह पापकर्म का वन्ध नही करता है।

प्र०—हे भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहन को अप्रासुक एवं अनेषणीय आहार द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

उ०—गौतम ! उसके अधिक निर्जरा होती है और अल्प पापकर्म का वन्ध होता है।

असंजयस्स आहार-दाण-फलं—

२९२. प०—समणोवासए ण भते ! तहारूवं अस्संजय-अविरय-अपडिहय-अपच्चक्खाय-पावकम्म फासुएणं वा अफा-सुएणं वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा, असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं कज्जइ ?

असयत को आहार देने का फल—

२९२. प्र०—हे भगवन् ! तथारूप असयत, अविरत, जिसने पाप कर्मो को नही रोका और पाप का प्रत्याख्यान भी नही किया उसे प्रासुक या अप्रासुक, एषणीय या अनेषणीय अशन-पान, खादिम, स्वादिम द्वारा प्रतिलाभित करते हुए श्रमणोपासक को किस फल की प्राप्ति होती है ?

---

१ उवा. अ १, सु ५६

उ०—गोयमा ! एगतसो से पावे कम्मे कज्जइ, णत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।[1]

—वि. स. ८, उ. ६, सु. ३

उ०—गौतम ! उसे एकान्त पाप कर्म होता है, निर्जरा कुछ भी नहीं होती।



श्रावक प्रतिमा—३

एगादस-उवासगपडिमाओ—

२६३. एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ[2] त जहा—

(१) दसणसावए,

(२) कयव्वयकम्मे,

(३) सामाइयकडे,

(४) पोसहोववासणिरते,

(५) दिया बभयारी, रत्ति परिमाणकडे[3],

(६) असिणाती, विअडभोइ, मोलिकडे, दिआ वि राओ वि बभयारी।

(७) सचित्तपरिण्णाए,

(८) आरभपरिण्णाए,

(९) पेसपरिण्णाए,

(१०) उद्दिट्ठभत्तपरिण्णाए,

ग्यारह उपासक प्रतिमायें—

२६३ ग्यारह उपासक प्रतिमायें कही गई हैं। यथा—

(१) दर्शन श्रावक प्रतिमा,

(२) कृतव्रत कर्म प्रतिमा,

(३) सामायिक कृत प्रतिमा,

(४) पौषधोपवासनिरत प्रतिमा,

(५) दिवा ब्रह्मचारी और रात्रि परिमाणकृत प्रतिमा।

(६) अस्नान, दिवस भोजन, मुकुलिकृत, दिवा-रात्रि ब्रह्मचर्य प्रतिमा।

(७) सचित्त परित्याग प्रतिमा।

(८) आरम्भ-परित्याग प्रतिमा।

(९) प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा।

(१०) उद्दिष्ट भक्त-परित्याग प्रतिमा।

---

१ यहाँ सयत को सुगुरुभाव से सन्मान करके सर्वथा निर्दोष आहार देने का फल श्रमणोपासक के लिए एकान्त निर्जरा कहा है, सामान्य सदोष आहार देने का फल अल्प पाप अधिक निर्जरा कहा है और तयारूप के (सन्यासी) असयत को पूज्य भाव से सदोष-निर्दोष आहार देने का फल एकान्त पाप कहा है। किन्तु अन्य असयत भिखारी पशु-पक्षी आदि को अनुकम्पा बुद्धि से आहार देने का फल श्रमणोपासक के लिए यहाँ एकान्त पाप नहीं कहा है।
आगमो मे नौ प्रकार के पुण्यो का कथन है। 'रायप्पसेणिय' सूत्र मे प्रदेशी राजा ने श्रमणोपासक होने के बाद दानशाला प्रारम्भ की ऐसा वर्णन है।

दान के सम्बन्ध मे मुनियो के मौन रहने का जो सूत्रकृताग मे विधान है वहाँ यह स्पष्ट कहा है कि "दान के कार्यों मे पुण्य नहीं है" ऐसा भी साधु न कहे तथा ऐसा कहने वाले मुनि प्राणियो की आजीविका का नाश करते हैं।
निष्कर्ष यह है कि असयत भिखारी पशु पक्षी आदि को अनुकम्पा बुद्धि से आहार देने का फल एकान्त पाप नहीं है। किन्तु तयारूप के सन्यासी आदि को पूज्यभाव (गुरुबुद्धि) से देने मे एकान्त (मिथ्यात्वरूप) पाप होता है ऐसा समझना चाहिए।

२ दसा द ६, सु १-२

३ पाँचवीं प्रतिमा का नाम दशाश्रुतस्कध में और समवायाग मे भिन्न-भिन्न है। किन्तु वर्णित विषयानुसार दशाश्रुतस्कध मे कथित नाम विशेष सगत प्रतीत होता है। "एक रात्रि की कायोत्सर्ग-प्रतिमा" यह नाम दशाश्रुतस्कध सूत्र के मूल पाठ में है। इस प्रतिमा मे श्रावक पौषध के दिन सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग करता है।
समवायाग सूत्र मे सूचित नाम उपयुक्त भी नही है। क्योंकि "दिन मे ब्रह्मचर्य पालन करना और रात्रि मे परिमाण करना" यह तो प्रतिमा धारण के प्रारम्भ मे ही आवश्यक होता है। अत पाँचवी प्रतिमा मे इस नियम का कोई महत्व नहीं रहता है।

(११) समणभूए यावि समणाउसो। —सम. ११, सु. १

(११) श्रमणभूत प्रतिमा।

हे आयुष्मन् श्रमणो! उपासक ग्यारह प्रतिमाओ से संपन्न होता है।

पढमा उवासग पडिमा—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवति।

तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं नो सम्मं पट्ठविताइं[1] भवंति।

से त पढमा उवासग-पडिमा।

प्रथम उपासक प्रतिमा—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है, अर्थात् श्रुतधर्म और चारित्र धर्म मे श्रद्धा रखता है।

किन्तु वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातविरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि का सम्यक् प्रकार से धारक नही होता।

यह प्रथम उपासक प्रतिमा है।

अहावरा दोच्चा उपासग पडिमा—

सव्व धम्म-रुई यावि भवइ।

तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्मं पट्ठविताइं भवति।

से ण सामाइय देसावगासियं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ।

से त दोच्चा उवासग-पडिमा।

अब दूसरी उपासक प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता हैं—

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि-विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते हैं।

किन्तु वह सामायिक और देशावकाशिकव्रत का सम्यक् प्रतिपालक नही होता है।

यह दूसरी उपासक प्रतिमा है।

अहावरा तच्चा उवासग पडिमा—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ।

तस्स णं बहूइ सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइं सम्म पट्ठवियाइ भवति।

से णं सामाइय देसावगासिय सम्म अणुपालित्ता भवइ।

से ण चउद्दसि-अट्ठमि-उद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं नो सम्मं अणुपालित्ता भवइ।

से त तच्चा उवासग-पडिमा।

अब तीसरी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

यह प्रतिमाधारी श्रावक सर्मधर्मरुचिवाला होता है—

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रकार से धारण किये हुए होते हैं।

वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रत का भी सम्यक् परिपालक होता है।

किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी इन तिथियो मे परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालक नहीं होता।

यह तीसरी उपासक प्रतिमा है।

अहावरा चउत्था उवासग-पडिमा—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ।

तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमणं-पच्चक्खाणं-पोसहोववासाइ सम्मं पट्ठवियाइं भवति।

अब चौथी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है,

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किये हुए होते हैं।

---

१ प्रतिमा धारण करने के पूर्व श्रावक साधारणतया अनेक व्रत-पच्चक्खाण करने वाला व बारहव्रत धारी श्रावक भी होता है, तथापि विशिष्ट प्रतिमा रूप मे धारण किया हुआ नही होता है इस अपेक्षा से यहां पूर्व प्रतिमाओ मे अगली प्रतिमा के विषय भूत व्रत-नियम का निषेध किया है।

से ण सामाइय देसावगासिय सम्मं अणुपालित्ता भवइ।

वह सामायिक और देशावकाशिक शिक्षाव्रत को भी सम्यक् प्रकार से पालन करता है।

से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववास सम्म अणुपालित्ता भवइ।

वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियों मे परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है।

से णं एगराइयं काउस्सग-पडिमं नो सम्म अणुपालित्ता भवइ।

किन्तु एक रात्रिक कायोत्सर्ग प्रतिमा का सम्यक् परिपालन नही करता है।

से तं चउत्था उवासग-पडिमा।

यह चौथी उपासक प्रतिमा है।

अहावरा पचमा उवामग-पडिमा—

अब पांचवीं उपासक प्रतिमा का वर्णन करते हैं—

सव्व-धम्म रुई यावि भवइ।

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है।

तस्स ण बहूइं सीलवय-गुणवय-वेरमण-पच्चक्खाणं-पोसहोववासाइ सम्म पट्ठवियाइं भवति।

उसके बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादि विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि सम्यक् धारण किये हुए होते हैं।

से णं सामाइय देसावगासियं सम्म अणुपालित्ता भवइ।

वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का सम्यक् प्रकार से परिपालन करता है।

से ण चउद्दसि-अट्ठमि-उद्दिट्ठ-पुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहोववासं सम्मं अणुपालित्ता भवइ।

वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी तिथियो मे परिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् परिपालन करता है।

से णं एगराइय काउस्सग-पडिम सम्म अणुपालित्ता भवइ।

वह एक रात्रिक कायोत्सर्ग प्रतिमा का सम्यक् परिपालन करता है।

से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, दिया य राओ य बंभचेरं, णो सम्मं अणुपालित्ता भवइ।

किन्तु अस्नान, दिवस भोजन, मुकुलीकरण, दिवस एव रात्रि मे ब्रह्मचर्य पालन इनका सम्यक् परिपालन नही करता है।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेण एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहं वा,-जाव-उक्कोसेण पच मास विहरइ।[1]

वह इस प्रकार के आचरण से विचरता हुआ जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट पांच मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

से त पंचमा उवासग-पडिमा।

यह पांचवी उपासक प्रतिमा है।

अहावरा छट्ठा उवामग-पडिमा—

अब छठी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

सव्व-धम्म रुई यावि भवइ-जाव-से ण एगराइयं काउस्सग्ग पडिम सम्म अणुपालित्ता भवइ।

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है-यावत्-वह एक रात्रिक कायोत्सर्ग प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करता है।

से ण असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, दिया य राओ य बंभयारी,

वह स्नान नही करता, दिन मे भोजन करता है, धोती की लाग नही लगाता, दिन मे और रात्रि मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

सचित्ताहारे से अपरिण्णाए भवइ।

किन्तु वह सचित्त आहार का परित्यागी नही होता है।

से णं एयारूवेण विहारेणं विहरमाणे जहण्णेण एगाहं वा दुआहं वा, तिआहं वा-जाव-उक्कोसेण छम्मासे विहरेज्जा।

इस प्रकार का आचरण करते हुए विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट छह मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

---

१ प्रारम्भ की चार प्रतिमाओ का काल मान नही कहा गया है, तथापि उपासकदशा की टीका मे इनका काल बताया है वह इस प्रकार है—
पहली प्रतिमा का उत्कृष्ट एक मास, दूसरी का उत्कृष्ट दो मास, तीसरी का उत्कृष्ट तीन मास, और चौथी का उत्कृष्ट चार मास।

से त छट्ठा उवासग-पडिमा।

यह छठी उपासक प्रतिमा है।

अहावरा सत्तमा उवासग-पडिमा—

अब सातवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

सव्व-धम्म-रूई यावि भवति-जाव-दिया य राओ य बंभयारी।

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचि वाला होता है—यावत्—वह दिन मे और रात्रि मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

सचित्ताहारे से परिण्णाए भवति।

वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है,

आरम्भे से अपरिण्णाए भवति।

किन्तु वह आरम्भ करने का परित्यागी नहीं होता है।

से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं सत्तमासे विहरेज्जा।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ, वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट सात मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

से त सत्तमा उवासग-पडिमा।

यह सातवी उपासक प्रतिमा है।

अहावरा अट्ठमा उवासग-पडिमा—

अब आठवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवति-जाव-दिया य राओ य बंभयारी,

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—यावत्—वह दिन मे और रात मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ।

वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है,

आरम्भे से परिण्णाए भवइ।

वह सर्व आरम्भो का परित्यागी होता है।

पेसारम्भे से अपरिण्णाए भवइ।

किन्तु वह दूसरो से आरम्भ कराने का परित्यागी नही होता है।

से ण एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाह वा दुआहं वा तिआह वा-जाव-उक्कोसेणं अट्ठमासे विहरेज्जा।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट आठ मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

से तं अट्ठमा उवासग-पडिमा।

यह आठवी उपासक प्रतिमा है।

अहावरा नवमा उवासग-पडिमा—

अब नवमी उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ-जाव-दिया य राओ य बमयारी।

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—यावत्—वह दिन मे और रात्रि मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

सचित्ताहारे से परिण्णाए भवइ।

वह सचित्ताहार का परित्यागी होता है।

आरम्भे से परिण्णाए भवइ।

वह आरम्भ का परित्यागी होता है।

पेसारम्भे से परिण्णाए भवइ।

वह दूसरो के द्वारा आरम्भ कराने का भी परित्यागी होता है।

उद्दिट्ठ-भत्ते से अपरिण्णाए भवइ।

किन्तु वह उद्दिष्ट भक्त का परित्यागी नही होता है।

से णं एयारूवेणं विहारेण विहरमाणे जहण्णेणं एगाह वा दुआहं वा तिआहं वा-जाव-उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट नौ मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है।

से तं नवमा उवासग-पडिमा।

यह नवमी उपासक प्रतिमा है।

अहवरा दसमा उवासग-पडिमा—

अब दसवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ-जाव-उद्दिट्ठ-भत्ते से परिण्णाए भवइ।

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—यावत्—वह उद्दिष्ट भक्त का परित्यागी होता है।

से ण खुरमुंडए वा, सिहा-धारए वा, तस्स णं आभट्ठस्स वा समाभट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए।

तं जहा—

वह शिर के बालो का क्षुर मुंडन करा देता है अथवा शिखा (बालो) को धारण करता है, किसी के द्वारा एक बार या अनेक बार पूछे जाने पर उसे दो भाषाएँ बोलना कल्पता है। यथा—

(१) जाणं वा जाणं,
(२) अजाणं वा णो जाण ।
से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा, तिआह वा-जाव-उक्कोसेण दस मासे विहरेज्जा ।

(१) यदि जानता हो तो कहे—"मैं जानता हूँ ।"
(२) यदि नही जानता हो तो कहे—"मैं नही जानता हूँ ।"
इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट दश मास तक इस प्रतिमा का पालन करता है ।

से तं दसमा उवासग-पडिमा ।

यह दशवी उपासक प्रतिमा है ।

अहावरा एकादसमा उवासग-पडिमा—

अब ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा का निरूपण करते हैं—

सव्व-धम्म-रुई यावि भवइ-जाव-उद्दिट्ठ-भत्ते से परिण्णाए भवइ ।
से ण खुरमुंडए वा, लुचसिरए वा, गहियायार-भंडग-नेवत्थे जारिसे,

वह प्रतिमाधारी श्रावक सर्वधर्मरुचिवाला होता है—**यावत्**—वह उद्दिष्ट भक्त का परित्यागी होता है ।
वह क्षुरा के सिर का मुडन कराता है अथवा केशो का लुचन करता है, वह साधु का आचार, भण्डोपकरण और वेष-भूषा ग्रहण करता है,

समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते तं सम्म काएणं फासेमाणे, पालेमाणे, पुरओ जुगमायाए पेहमाणे, दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पाए रीएज्जा, साहट्टु पाए रीएज्जा, तिरिच्छं वा पाय कट्टु रीएज्जा, सति परक्कमे संजयामेव परिक्कमेज्जा, नो उज्जुय गच्छेज्जा ।

जो श्रमण निर्ग्रन्थो का धर्म होता है, उसका सम्यक्तया काया से स्पर्श करता हुआ, पालन करता हुआ, चलते समय आगे चार हाथ भूमि को देखता हुआ, त्रस प्राणियो को देखकर उनकी रक्षा के लिए अपने पैर उठाता हुआ, पैर सकुचित करता हुआ, अथवा तिरछे पैर रखकर सावधानी से चलता है । यदि दूसरा जीव रहित मार्ग हो तो उसी मार्ग पर यतना के साथ चलता है किन्तु जीव सहित सीधे मार्ग से नही चलता ।

केवल से नायए पेज्जबंधणे अवोच्छिन्ने भवइ, एव से कप्पति नाय विहिं एत्तए ।[1]

केवल ज्ञाति-वर्ग से उसके प्रेम-बन्धन का विच्छेद नहीं होता है इसलिए उसे ज्ञातिजनो के घरो मे भिक्षा वृत्ति के लिए जाना कल्पता है ।

तस्स ण गाहावइ-कुल पिंडवाय-पडियाए अणुप्पविट्ठस्स कप्पति एव वदित्तए—
"समणोवासगस्स पडिमापडिवन्नस्स भिक्ख दलयह"
त च एयारूवेण विहारेण विहरमाण केइ पासित्ता वदिज्जा—

जब वह गृहस्थ के घर मे भक्त पान की प्रतिज्ञा से प्रविष्ट होवे तब उसे इस प्रकार बोलना कल्पता है—
"प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो ।"
इस प्रकार की चर्या से उसे विचरते हुए देखकर यदि कोई पूछे—

प०—केइ आउसो ! तुमं वत्तव्व सिया ?
उ०—"समणोवासए पडिमा-पडिवण्णए अहमसी" ति वत्तव्व सिया ।

प्र०—हे आयुष्मन् ! तुम कौन हो ? तुम्हे क्या कहा जाए ?
उ०—"मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ" इस प्रकार उसे कहना चाहिए ।

से ण एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जहण्णेण एगाहं वा दुआह वा तिआह वा-जाव-उक्कोसेण एक्कारसमासे विहरेज्जा ।

इस प्रकार के विहार से विचरता हुआ वह जघन्य एक दिन, दो दिन या तीन दिन से लगाकर उत्कृष्ट ग्यारह मास तक विचरण करे ।

से तं एकादसमा उवासग पडिमा ।
एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासग-पडिमाओ पण्णत्ताओ । दसा द ६, सु १७-२०

यह ग्यारहवी उपासक प्रतिमा है ।
स्थविर भगवन्तो ने ये ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ कही हैं ।

---

१ सूत्र २६ एषणा समिति मे देखें ।

समणोवासगाणं तिविहा भावणा—

२९४. तिहिं ठाणेहिं समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, त जहा—

(१) कया ण अहं अप्प वा बहुयं वा परिग्गह परिचइस्सामि ?

(२) कया ण अहं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामि ?

(३) कया ण अह अपच्छिम-मारणतिय-सलेहणा झूसणा-झूसिते भत्त पाण-पडियाइक्खिते पाओवगते कालं अणवकखमाणे विहरिस्सामि ?

एव समणसा सवयसा सकायसा पागडेमाणे समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति ।

—ठाण. अ ३, उ. ४, सु. २१०

श्रमणोपासकों की तीन भावनाएँ—

२९४. तीन कारणो से श्रमणोपासक कर्मों का क्षय और ससार का अन्त करने वाला होता है। यथा—

(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूँगा ?

(२) कब मैं मुंडित होकर गृहस्थ से साधुपने मे प्रव्रजित होऊँगा ?

(३) कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक सलेखना की आराधना से युक्त होकर भक्त-पान का परित्याग कर पादोपगमन सथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकाक्षा नही करता हुआ विचरूगा ?

इस प्रकार मन, वचन और काया से युक्त होकर प्रगट रूप से भावना करता हुआ श्रमणोपासक महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।



श्रावक के प्रत्याख्यान—४

पच्चक्खाण-पालण-रहस्सं—

२९५. प०—समणोवासगस्स ण भते ! पुव्वामेव तसपाणसमारंभे पच्चक्खाते भवति, पुढविसमारम्भे अपच्चक्खाते भवति, से य पुढविं खणमाणे अन्नयर तस-पाणं विहिंसेज्जा, से ण भते ! त वयं अतिचरति ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टति ।

प०—समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव वणस्सतिसमारंभे पच्चक्खाते भवति, पुढवि-समारंभे अपच्चक्खाते भवति, से य पुढविं खणमाणे अन्नयरस्स रुक्खस्स मूल छिंदेज्जा, से णं भते ! त वय अतिचरति ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु से तस्स अतिवायाए आउट्टति । —वि स. ७, उ. १, सु. ७-८

प्रत्याख्यान पालन का रहस्य—

२९५. प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पहले से ही त्रस-प्राणियो के समारम्भ का प्रत्याख्यान कर लिया हो किन्तु पृथ्वीकाय के समारम्भ का प्रत्याख्यान नही किया हो, उस श्रमणोपासक से पृथ्वी खोदते हुए किसी त्रसजीव की हिंसा हो जाए तो हे भगवन् ! क्या उसके व्रत का उल्लंघन होता है ?

उ०—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है, क्योकि वह त्रस जीव के वध के लिए प्रवृत्त नही होता ।

प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पहले से ही वनस्पति के समारम्भ का प्रत्याख्यान कर लिया हो किन्तु पृथ्वी के समारम्भ का प्रत्याख्यान न किया हो, उस श्रमणोपासक से पृथ्वी खोदते हुए किसी वृक्ष का मूल छिन्न हो जाए तो हे भगवन् ! क्या उसका व्रत भग होता है ?

उ०—गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है, क्योकि वह श्रमणोपासक उसके वध के लिए प्रवृत्त नही होता ।

पच्चक्खाण सरूवं तस्स करणजोगाण य भंगा—

२९६ प०—समणोवासगस्स ण भते ! पुव्वामेव थूलए पाणाइवाए अपच्चक्खाए भवइ, से णं भते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं करेति ?

प्रत्याख्यान का स्वरूप व उसके करण योगो के भंग—

२९६ प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पूर्व मे स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान नहीं किया है तो हे भगवन् ! वह बाद मे प्रत्याख्यान करता हुआ क्या करता है ?

उ०—गोयमा ! तीतं पडिक्कमति, पडुप्पन्नं संवरेति, अणागतं पच्चक्खाति ।

उ०—गौतम ! अतीत काल मे किये हुए प्राणातिपात का प्रतिक्रमण करता है, वर्तमानकालीन प्राणातिपात का संवर करता है एवं भविष्यत्कालीन प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है।

प०—तीतं पडिक्कममाणे किं—

१ तिविहं तिविहेणं पडिक्कमति,
२ तिविहं दुविहेणं पडिक्कमति,
३ तिविहं एगविहेणं पडिक्कमति,
४ दुविहं तिविहेणं पडिक्कमति,
५. दुविहं दुविहेणं पडिक्कमति,
६ दुविहं एगविहेणं पडिक्कमति,
७ एक्कविहं तिविहेणं पडिक्कमति,
८. एक्कविहं दुविहेणं पडिक्कमति,
९ एक्कविहं एगविहेणं पडिक्कमति ?

प्र०—अतीतकालीन प्राणातिपात का प्रतिक्रमण करता हुआ क्या—

(१) तीन करण, तीन योग से,
(२) तीन करण, दो योग से,
(३) तीन करण, एक योग से,
(४) दो करण, तीन योग से,
(५) दो करण, दो योग से,
(६) दो करण, एक योग से,
(७) एक करण, तीन योग से,
(८) एक करण, दो योग से,
(९) एक करण, एक योग से, प्रतिक्रमण करता है ?

उ०—गोयमा ! तिविहं वा तिविहेणं पडिक्कमति-जाव-एक्कविहं वा एक्कविहेणं पडिक्कमति ।

उ०—गौतम ! वह तीन करण तीन योग से प्रतिक्रमण करता है—यावत्—एक करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है।

(१) तिविहं वा तिविहेणं पडिक्कममाणे—

न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, मणसा वयसा कायसा,

१. जब वह तीन करण तीन योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं मन से, वचन से और काया से। (१)

(२) तिविहं दुविहेणं पडिक्कमाणे,

१. न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, मणसा वयसा,
२. अहवा न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, मणसा, कायसा,
३ अहवा न करेइ, न कारवेइ, करेंतं णाणुजाणति, वयसा, कायसा ।

२ जब वह तीन करण दो योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से और वचन से,

(२) अथवा वह स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं मन से और काया से।

(३) अथवा वह स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से और काया से। (२-४)

(३) तिविहं एगविहेणं पडिक्कममाणे,

१ न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति मणसा,
२. अहवा न करेइ, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, वयसा,
३. अहवा न करेति, न कारवेति, करेंतं णाणुजाणति, कायसा ।

३ जब तीन करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं मन से,

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं वचन से,

(३) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरे से करवाता नहीं और करते हुए का अनुमोदन करता नहीं काया से। (५-७)

(४) दुविहं तिविहेणं पडिक्कममाणे,

१. न करेइ, न कारवेति, मणसा, वयसा, कायसा,

४. जब दो करण तीन योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वयं करता नहीं, दूसरो से करवाता नहीं, मन, वचन, और काया से,

२. अहवा न करेति, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा, वयसा, कायसा,
३. अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा, वयसा, कायसा।
(५) दुविहं दुविहेणं पडिक्कममाणे,
१ न करेति, न कारवेति, मणसा, वयसा,
२ अहवा न करेति, न कारवेति, मणसा कायसा,
३. अहवा न करेति, न कारवेति, वयसा कायसा,
४. अहवा न करेति, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा वयसा,
५. अहवा न करेति, करेंत नाणुजाणइ, मणसा कायसा,
६. अहवा न करेति, करेंत नाणुजाणइ, वयसा कायसा,
७. अहवा न कारवेति, करेंतं नाणुजाणति, मणसा वयसा,
८. अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ, मणसा कायसा,
९. अहवा न कारवेति, करेंतं नाणुजाणइ, वयसा कायसा।
(६) दुविहं एक्कविहेण पडिक्कममाणे,
१. न करेति, न कारवेति, मणसा,
२. अहवा न करेति, न कारवेति वयसा,
३. अहवा न करेति, न कारवेति कायसा,
४ अहवा न करेति, करेंत नाणुजाणइ मणसा,
५. अहवा न करेइ, करेंत नाणुजाणइ वयसा,
६. अहवा न करेइ, करेंतं नाणुजाणइ कायसा,
७ अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ मणसा,
८. अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ वयसा,

(२) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन, वचन और काया से,
(३) अथवा दूसरों से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन, वचन और काया से। (८-१०)
५. जब दो करण दो योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—
(१) स्वयं करता नहीं, दूसरो से करवाता नहीं, मन और वचन से,
(२) अथवा स्वय करता नहीं, दूसरो से करवाता नहीं, मन और काया से,
(३) अथवा स्वय करता नहीं, दूसरो से करवाता नहीं, वचन और काया से।
(४) अथवा स्वय करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और वचन से।
(५) अथवा स्वय करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और काया से।
(६) अथवा स्वय करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन और काया से।
(७) अथवा दूसरो से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और वचन से।
(८) अथवा दूसरो से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन और काया से।
(९) अथवा दूसरो से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन और काया से। (११-१९)
६. जब दो करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—
(१) स्वय करता नहीं, दूसरो से करवाता नहीं, मन से।
(२) अथवा स्वयं करता नहीं, दूसरो से करवाता नहीं, वचन से।
(३) अथवा स्वय करता नहीं, दूसरों से करवाता नहीं, काया से।
(४) अथवा स्वयं करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से।
(५) अथवा स्वय करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से।
(६) अथवा स्वय करता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, काया से।
(७) अथवा दूसरो से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन से।
(८) अथवा दूसरो से करवाता नहीं, करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, वचन से।

९. अहवा न कारवेइ, करेंतं नाणुजाणइ कायसा ।

(९) अथवा दूसरो से करवाता नही, करते हुए का अनुमोदन करता नही, काया से । (२०-२८)

(७) एगविह तिविहेण पडिक्कममाणे,

१ न करेति मणसा वयसा कायसा,

२ अहवा न कारवेइ मणसा वयसा कायसा,

३ अहवा करेंत नाणुजाणति मणसा वयसा कायसा ।

७. जब एक करण तीन योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वय करता नही, मन, वचन और काया से ।

(२) अथवा दूसरो से करवाता नही, मन, वचन और काया से ।

(३) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, मन, वचन और काया से । (२९-३१)

(८) एक्कविह दुविहेण पडिक्कममाणे—

१ न करेति मणसा वयसा,

२. अहवा न करेति मणसा कायसा,

३ अहवा न करेइ वयसा कायसा,

४ अहवा न कारवेति मणसा वयसा,

५ अहवा न कारवेति मणसा कायसा,

६ अहवा न कारवेइ वयसा कायसा,

७. अहवा करेंत नाणुजाणइ मणसा वयसा,

८. अहवा करेंतं नाणुजाणइ मणसा कायसा,

९. अहवा करेंत नाणुजाणइ वयसा कायसा ।

८. जब एक करण दो योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वय करता नही, मन और वचन से,

(२) अथवा स्वय करता नही, मन और काया से,

(३) अथवा स्वय करता नही, वचन और काया से,

(४) अथवा दूसरो से करवाता नही, मन और वचन से,

(५) अथवा दूसरो से करवाता नही, मन और काया से,

(६) अथवा दूसरो से करवाता नहीं, वचन और काया से,

(७) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नही, मन और वचन से,

(८) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नही, मन और काया से,

(९) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नही, मन और काया से । (३२-४०)

(९) एक्कविह एगविहेणं पडियक्कममाणे—

१ न करेति, मणसा,

२ अहवा न करेति वयसा,

३ अहवा न करेति कायसा,

४ अहवा न कारवेति मणसा,

५ अहवा न कारवेति वयसा,

६. अहवा न कारवेति कायसा,

७ अहवा करेंत नाणुजाणइ मणसा,

८ अहवा करेंत नाणुजाणइ वयसा,

९ अहवा करेंत नाणुजाणइ कायसा ।

९. जब एक करण एक योग से प्रतिक्रमण करता है, तब—

(१) स्वय करता नही, मन से,

(२) अथवा स्वय करता नही, वचन से,

(३) अथवा स्वय करता नही काया से,

(४) अथवा दूसरो से करवाता नही, मन से,

(५) अथवा दूसरो से करवाता नही, वचन से,

(६) अथवा दूसरो से करवाता नही, काया से,

(७) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नही, मन से,

(८) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नही, वचन से,

(९) अथवा करते हुए का अनुमोदन करता नहीं, काया से । (४१-४९)

प०—पडुप्पन्न सवरमाणे किं तिविह सवरेइ-जाव-एगविह एगविहेणं सवरेइ ?

प्र०—हे भगवन् ! वर्तमानकालीन सवर करता हुआ, श्रावक क्या तीन करण तीन योग से सवर करता है—यावत्—एक करण एक योग से सवर करता है ?

उ०—एव जहा पडिक्कममाणेणं एगूणपण्णं भगा, भणिया एवं सवरमाणेण वि एगूणपण्ण भगा भाणियव्वा ।

उ०—जिस प्रकार प्रतिक्रमण सम्बन्धी ४९ भग कहे उसी प्रकार संवर सम्बन्धी ४९ भग कहने चाहिये ।

प०—अणागय पच्चक्खमाणे कि तिविह तिविहेणं पच्चक्खाइ -जाव एगविहं एगविहेणं पच्चक्खाइ ?

प्र०—हे भगवन् ! भविष्यत काल का प्रत्याख्यान करता हुआ श्रावक क्या तीन करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता है —यावत्—एक करण एक योग से प्रत्याख्यान करता है ?

उ०—एव ते चेव एगूणपण्ण भंगा भाणियव्वा ।

प०—समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव थूलमुसावादे अपच्चक्खाए भवइ, से ण भंते ! पच्छा पच्चाइक्खमाणे किं करेति ?

उ०—एवं जहा पाणाइवायस्स सीयालं भगसतं भणित, तहा मुसावायस्स वि भाणियव्व ।

एव अदिण्णादाणस्स वि । एव थूलगस्स मेहुणस्स वि, एव थूलगस्स परिग्गहस्स वि सीयालं भंगसत भाणियव्व । —वि. स. ८, उ. ५, सु. ६-८

उ०—यहाँ वे ही ४९ भंग कहने चाहिए ।

प्र०—हे भगवन् ! जिस श्रमणोपासक ने पूर्व मे स्थूल मृषावाद का प्रत्याख्यान नही किया है, किन्तु वह बाद मे प्रत्याख्यान करता हुआ क्या करता है ?

उ०—जिस प्रकार प्राणातिपात के विषय मे एक सौ सैंतालीस भंग कहे गए है, उसी प्रकार मृषावाद के सम्बन्ध मे भी एक सौ सैंतालीस भग कहने चाहिए ।

इसी प्रकार स्थूल अदत्तादान के विषय मे,

इसी प्रकार स्थूल मैथुन के विषय में, इसी प्रकार स्थूल परिग्रह के विषय मे भी एक सौ सैंतालीस—एक सौ सैंतालीस त्रैकालिक भग कहने चाहिए ।



गृहस्थ धर्म का फल—५

निस्सील सस्सील समणोवासगस्स पसत्था-अपसत्था—

२९७. तओ ठाणा णिसीलस्स णिव्वयस्स णिग्गुणस्स णिम्मेरस्स णिप्पच्चक्खाण-पोसहोववासस्स गरहिता भवति, तं जहा—

१. अस्सि लोगे गरहिते भवइ,

२. उववाते गरहिते भवइ,

३. आयाती गरहिता भवइ ।

तओ ठाणा सुसीलस्स सुव्वयस्स सगुणस्स समेरस्स सपच्चक्खाण पोसहोववासस्स पसत्था भवंति, तं जहा—

१. अस्सि लोगे पसत्थे भवइ,

२ उववाए पसत्थे भवइ,

३. आजाती पसत्था भवइ । ठाण. अ. ३, उ. २, सु १६९

शीलरहित और शीलसहित श्रमणोपासक के प्रशस्त-अप्रशस्त—

२९७. शील, व्रत, गुण, मर्यादा, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से रहित पुरुष के तीन स्थान गर्हित होते है—

(१) इहलोक (वर्तमान) गर्हित होता है,

(२) उपपात (देवलोक तथा नर्क का जन्म) गर्हित होता है,

(३) आगामी जन्म (देवलोक या नरक के बाद होने वाला मनुष्य या तिर्यंच का जन्म) गर्हित होता है ।

शील, व्रत, गुण, मर्यादा, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से युक्त पुरुष के तीन स्थान प्रशस्त होते है—

(१) इहलोक प्रशस्त होता है,

(२) उपपात प्रशस्त होता है,

(३) आगामी जन्म (देवलोक या नरक के बाद होने वाला मनुष्य जन्म) प्रशस्त होता है ।

सुव्वई गिहत्थ तस्स देवगई य—

२९८. अगारि-सामाइयगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसह दुहओ पक्ख, एगराय न हावए ॥

एवं सिक्खा-समावन्ने, गिह-वासे वि सुव्वए ।
मुच्चइ छवि-पव्वाओ गच्छे जक्ख-सलोगय ॥
—उत्त. अ ५, गा. २३-२४

सुव्रती गृहस्थ व उसकी देवगति—

२९८. श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ धर्म की सामायिक के अगो का मन वचन काया से पालन करे। दोनो पक्षो मे यथासमय (अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या) को पौषध करे। यदि पूर्ण पौषध न कर सके तो रात्रि पौषध तो अवश्य करे ।

इस प्रकार व्रत पालन रूप शिक्षा से सम्पन्न सुव्रती श्रावक गृहवास मे रहता हुआ भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक मे जाता है ।

गार पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समया सव्वत्थ सुव्वए, देवाण गच्छे सलोगयं ॥
—सूय सु १, अ २, उ ३, गा. १३

गृहवास में रहता हुआ जो मनुष्य क्रमशः प्राणियों पर संयम रखता है तथा सर्वत्र समता रखता है वह सुव्रती देवलोक में जाता है।

असंजयस्स गई—

असंयत की गति—

२९९ प०—जीवे णं भंते! असंजते अविरते अप्पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे इतो चुए पेच्चा देवे सिया?

२९९ प्र०—हे भगवन्! असंयत, अविरत तथा जिसने पाप कर्मों को नहीं रोका एवं त्याग नहीं किया है, वह जीव इस लोक से मर कर क्या परलोक में देव होता है?

उ०—गोयमा! अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया।

उ०—गौतम! कोई जीव देव होता है और कोई जीव देव नहीं होता।

प०—से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया?

प्र०—हे भगवन्! किस कारण से ऐसा कहा है कि कोई जीव देव होता है और कोई जीव देव नहीं होता है?

उ०—गोयमा! जे इमे जीवा गामाऽऽगर-नगर-निगम-रायहाणि खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणाऽऽसम-सन्निवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामसीतातव-दंसमसग अण्हाणगसेय-जल्ल-मल-पंकपरिदाहेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।
—वि. स १, उ. १, सु १२

उ०—गौतम! जो ये जीव—(१) ग्राम, (२) आकर, (३) नगर, (४) निगम, (५) राजधानी, (६) खेट, (७) कर्वट, (८) मडम्ब, (९) द्रोणमुख (१०) पट्टण, (११) आश्रम, (१२) सन्निवेश आदि स्थानों में अकाम तृषा से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य पालन से, अकाम शीत उष्ण तथा डांस-मच्छरों के काटने के दुःख को सहने से, अकाम अस्नान, पसीना, जल्ल मैल तथा पंक द्वारा होने वाले परिदाह से, थोड़े समय तक या बहुत समय तक अपनी आत्मा को क्लेशित करते हैं, वे अपनी आत्मा को क्लेशित करके मृत्यु के समय पर मर कर वाणव्यन्तर देवों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

आजीविय समणोवासगाणं णामाइं, कम्मादाणाइं, गई य—

आजीविक श्रमणोपासकों के नाम, कर्मादान और गति—

३००. एए खलु एरिसगा समणोवासगा भवंति, नो खलु एरिसगा आजीविओवासगा भवंति।

३०० ये इस प्रकार के ४९ भंगों से प्रत्याख्यान आदि करने वाले श्रमणोपासक होते हैं, किन्तु आजीविकोपासक ऐसे नहीं होते।

आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते-अक्खीणपडिभोइणो सव्वे सत्ता, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता आहारमाहारेंति।

आजीविक (गोशालक) के सिद्धान्त का यह अर्थ है कि समस्त जीव सचित्ताहारी होते हैं। इसलिए वे प्राणियों को हनन, छेदन-भेदन करके, पंख आदि को लुप्त कर, चमड़ी आदि को उतार कर और जीवन से रहित करके खाते हैं।

तत्थ खलु इमे दुवालस आजीवियोवासगा भवंति, तं जहा—

उस आजीविक मत में ये प्रमुख बारह आजीविकोपासक हैं—उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. ताले, २ तालपलंबे, ३. उव्विहे,
४. संविहे, ५. अवविहे, ६ उदए,
७ नामुदए, ८. णम्मुदए, ९. अणुवालए,
१०. संखवालए, ११. अयंपुले, १२ कायरए।

(१) ताल, (२) तालप्रलम्ब, (३) उद्विध,
(४) संविध, (५) अवविध, (६) उदय,
(७) नामोदय, (८) नमोदय, (९) अनुपालक,
(१०) शंखपालक, (११) अयम्पुल, (१२) कातर।

इच्चेते दुवालस आजीवियओवासगा अरहंतदेवतागा अम्मापिउसुस्सूसगा पंचफल-पडिक्कंता, तं जहा—उंबरेहिं, वडेहिं, बोरेहिं, सतरेहिं, पिलंखूहिं, पलंडु-ल्हसण कंद-मूलविवज्जगा,

इस प्रकार बारह आजीविकोपासक हैं। इनका देव गोशालक है। वे माता-पिता की सेवा करने वाले हैं। वे पाँच प्रकार के फल नहीं खाते यथा—गुल्लर के फल, वट के फल, बोर, शहतूत

अणिल्लंछिएहिं अणक्कभिन्नेहिं गोणेहिं, तस पाणविवज्जिएहिं खित्तेहिं वित्तिं कप्पेमाणे विहरंति।

एए वि ताव एवं इच्छंति, किमंग पुण जे इमे समणोवासगा भवंति,

जेसिं नो कप्पंति इमाइं पण्णरस कम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा, कारवेत्तए वा, करेंतं वा अन्नं समणुजाणेत्तए, तं जहा—

१. इंगालकम्मे, २ वणकम्मे, ३. साडीकम्मे,
४. भाडीकम्मे, ५. फोडीकम्मे, ६ दंतवाणिज्जे,
७ लक्खवाणिज्जे, ८ केसवाणिज्जे, ९ रसवाणिज्जे,
१०. विसवाणिज्जे, ११. जतपीलणकम्मे,
१२ निल्लंछणकम्मे, १३ दवग्गिदावणया,
१४. सर-दह-तलायपरिसोसणया, १५ असतीपोसणया।

इच्चेते समणोवासगा सुक्का सुक्काभिजातीया भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। वि स ८, उ. ५, सु ९-१४

के फल, पीपल के फल, प्याज, लहसुन आदि कन्दमूल के त्यागी होते हैं। तथा खस्सी न किये हुए और नाक नहीं नाथे हुए बैलो से, त्रस प्राणी से रहित भूमि के द्वारा आजीविका करते हैं।

जब इन आजीविकोपासको का भी यह अभीष्ट है, तो फिर ये जो श्रमणोपासक हैं, उनका तो कहना ही क्या?

जिनको कि ये पन्द्रह कर्मादान स्वयं करना, दूसरो से कराना और करते हुए का अनुमोदन करना कल्पनीय नहीं है।

वे कर्मादान इस प्रकार हैं—

(१) अंगार कर्म, (२) वनकर्म, (३) शाकटिक कर्म,
(४) भाटी कर्म, (५) स्फोटक कर्म, (६) दन्तवाणिज्य,
(७) लाक्षवणिज्य, (८) केशवाणिज्य, (९) रसवाणिज्य,
(१०) विषवाणिज्य, (११) यत्रपीडन कर्म,
(१२) निर्लांछनकर्म, (१३) दावाग्निदापनता,
(१४) सर-द्रह तडाग-शोषणता, (१५) असतीपोषणता।

ऐसे ये व्रतपालक श्रमणोपासक मत्सरभाव रहित पवित्र धार्मिक जीवन से युक्त होकर मरण के समय मृत्यु प्राप्त करके किन्ही देवलोको मे देवरूप से उत्पन्न होते हैं।



आराधक-विराधक

आराधक विराधक का स्वरूप—१

आराहगसरूवं[1]—

३०१. प०—से नूणं भंते! तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेइयं?

उ०—हंता गोयमा! तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेदितं।[2]

आराधक का स्वरूप—

३०१. प्र०—भन्ते! क्या वही सत्य और असंदिग्ध है जो जिनेन्द्रो ने कहा है?

उ०—हाँ गोतम! वही सत्य और असंदिग्ध है जो जिनेन्द्रों ने कहा है।

---

१ (क) प्रतिमा धारण करने वाला आराधक कहलाता है। —दसा. द. ७, सु १-२५
(ख) पाँच प्रकार का व्यवहार करने वाला आराधक है। —दसा. द १०, सु. ५
(ग) विवेकपूर्वक सत्यादि चारो भाषाओ का वक्ता आराधक और अविवेकपूर्वक चारो भाषाओ का वक्ता विराधक होता है। —प्रज्ञापना पद ११, सु ८९९
(घ) पापश्रमण (दोषसेवी) विराधक होता है और जो श्रमण समाचारी का निर्दोष आचरण करता है वह आराधक होता है। (क) सूय. सु. १, अ २, गा. १२९ (ख) उत्त. अ. १७, गा. १२
(ङ) आलोचना न करने वाला साधक विराधक और आलोचना करने वाला साधक आराधक होता है। —ठाण अ. ८, सु. ५९७
(च) उपशान्त न होने वाला साधक सयम की आराधना नहीं कर सकता है। जो उपशान्त होता है उसकी आराधना होती है। —कप्प. उ १, सु ३६

२ आ. सु. १, अ. ५, उ. ५, सु. १६८।

प०—से नूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?

उ०—हंता गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे-जाव-आराहए भवइ। —वि. स. १, उ. ३, सु. ६

प्र०—हे भगवन् ! क्या इस प्रकार मन में धारण करता हुआ, आचरण करता हुआ, रहता हुआ और संवरण करता हुआ प्राणी वीतराग की आज्ञा का आराधक होता है ?

उ०—हाँ गौतम ! इस प्रकार मन में धारण करता हुआ—यावत्—आज्ञा का आराधक होता है।

विराहग सरूवं—

३०२ अहम्मट्ठी तुमं सि णाम बाले आरंभट्ठी अणुवयमाणे—'हणपाणे', घातमाणे, हणओ यावि समणुजाणमाणे घोरे धम्मे उदीरिते। उवेहति णं अणाणाए।

एस विसण्णे वितद्दे वियाहिते।

—आ. सु. १, अ. ६, उ. ४, सु. १९२

विराधक का स्वरूप—

३०२ धर्मशून्य साधक को आचार्यादि इस प्रकार अनुशासित करते हैं—तूं अधर्मार्थी है बाल-अज्ञ है, आरम्भार्थी है, तूं इस प्रकार कहता है कि 'प्राणियों का वध करो' अथवा तूं स्वयं प्राणीवध करता है और प्राणियों का वध करने वाले की अनुमोदना करता है। 'भगवान् ने दुष्कर धर्म का प्रतिपादन किया है', ऐसा कहकर तूं उनकी आज्ञा का अतिक्रमण कर उपेक्षा करता है।

ऐसा साधक कामभोगों के कीचड़ में लिप्त और हिंसक कहा जाता है।

आराहगा णिग्गंथा-णिग्गंथीओ—

३०३ प०—निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठेणं अन्नयरे अकिच्चट्ठाणे पडिसेविए, तस्स णं एवं भवति-इहेव ताव अहं एयस्स ठाणस्स आलोएमि, पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, विउट्टामि, विसोहेमि अकरणयाए अब्भुट्ठेमि, अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जामि,

तओ पच्छा थेराणं अंतियं आलोएस्सामि-जाव-तवोकम्मं पडिवज्जिस्सामि।

से य संपट्ठिए असंपत्ते थेरा य अमुहा सिया, से णं भंते ! किं आराहए विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

प०—से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणा य पुव्वामेव अमुहे सिया, से णं भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

प०—से य संपट्ठिए असंपत्ते थेरा य कालं करेज्जा, से णं भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

आराधक-निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी—

३०३ प्र०—गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थ द्वारा किसी अकृत्य स्थान का प्रतिसेवन हो जाए और उसके मन में ऐसा विचार आवे कि—"मैं यहीं पर इस अकृत्य स्थान की आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा और गर्हा करूँ, उसके अनुबन्ध का छेदन करूँ, इससे विशुद्ध बनूं, पुनः ऐसा अकृत्य न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होऊँ और यथोचित प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करूँ,

उसके बाद स्थविरों के समीप में आलोचना करूँगा,—यावत्—तप कर्म स्वीकार करूँगा",

ऐसा विचार कर वह निर्ग्रन्थ स्थविर मुनियों के पास जाने के लिए रवाना हुआ, किन्तु स्थविर मुनियों के पास पहुँचने से पहले ही वे स्थविर मूक हो जाएँ (बोल न सकें) अर्थात् प्रायश्चित्त न दे सकें। तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक है ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिए रवाना हुआ किन्तु उनके पास पहुँचने से पूर्व ही स्वयं मूक हो जाए तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं।

प्र०—स्थविर मुनियों के पास जाने के लिए रवाना हुआ किन्तु उनके पहुँचने से पूर्व ही स्थविर मुनि काल कर जाएँ तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नहीं।

प०—से य संपट्ठिए असंपत्ते अप्पणा य पुव्वामेव काल करेज्जा,
से णं भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

प०—से य संपट्ठिए संपत्ते, थेरा य अमुहा सिया,
से ण भंते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

प०—से य संपट्ठिए सपत्ते अप्पणा य पुव्वामेव अमुहे सिया,
से ण भते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

प०—से य सपट्ठिए संपत्ते थेरा य काल करेज्जा,
से णं भते ! किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

प०—से य संपट्ठिए संपत्ते अप्पणा य पुव्वामेव कालं करेज्जा, से णं भते किं आराहए, विराहए ?

उ०—गोयमा ! आराहए, नो विराहए।

एव बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खतेण वि एए चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा।

एव गामाणुगाम दूइज्जमाणेण वि एए चेव अट्ठ आलावगा भाणियव्वा

एव जहा णिग्गंथस्स तिण्णि गम्मा भणिया,
तहेव णिग्गथीए वि एए चेव तिण्णि गमा भाणियव्वा।

प०—से केणट्ठेणं भते ! एवं वुच्चइ-आराहए, नो विराहए ?

उ०—गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगं मह उण्णालोमं वा, गयलोमं वा, सणलोम वा, कप्पासलोमं वा, तणसूयं वा, दुहा वा, तिहा वा, संखेज्जहा वा, छिंदित्ता अगणिकायंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! छिज्जमाणे छिन्ने, पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते, डज्झमाणे दड्ढे त्ति वत्तव्व सिया ?

हंता भगवं ! छिज्जमाणे छिन्ने-जाव-दड्ढे त्ति वत्तव्वं सिया।

प्र०—स्थविर मुनियो के पास जाने के लिए रवाना हुआ किन्तु वहाँ पहुँचा नही उससे पूर्व ही स्वयं काल कर जाये तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नही।

प्र०—स्थविर मुनियो के पास जाने के लिये रवाना हुआ और स्थविरो के पास पहुँच गया, तत्पश्चात् वे स्थविर मुनि मूक हो जाएँ तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नही।

प्र०—स्थविर मुनियो के पास जाने के लिये रवाना हुआ किन्तु स्थविरो की सेवा मे पहुँचने के पश्चात् वह स्वयं मूक हो जाये तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नही।

प्र०—स्थविर मुनियो के पास जाने के लिये रवाना हुआ और स्थविरो की सेवा मे पहुँचने के पश्चात् स्थविर मुनि काल कर जाये तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नही।

प्र०—स्थविर मुनियो के पास जाने के लिये रवाना हुआ और स्थविरो की सेवा मे पहुँचने के पश्चात् वह स्वय काल कर जाये तो हे भगवन् ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है या विराधक ?

उ०—गौतम ! वह निर्ग्रन्थ आराधक है, विराधक नही।

इसी प्रकार उच्चार प्रस्रवण भूमि या स्वाध्याय भूमि के लिए बाहर निकले हुए निर्ग्रन्थ के भी ये आठ आलापक कहने चाहिये।

इसी प्रकार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए निर्ग्रन्थ के भी ये आठ आलापक कहने चाहिये।

जिस प्रकार निर्ग्रन्थ के तीन गमक (२४ आलापक) कहे वैसे ही निर्ग्रन्थी के भी तीन गमक कहने चाहिये।

प्र०—भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा गया है कि—वे आराधक हैं, विराधक नही ?

उ०—गौतम ! जैसे कोई पुरुष विशाल मात्रा मे भेड के बाल, हाथी के रोम, सण के रेशे, कपास के रेशे, अथवा तृण समूह के दो, तीन या संख्यात टुकडे करके आग मे डाले तो हे गौतम ! काटे जाते हुए वे काटे गए, अग्नि मे डाले जाते हुए वे डाले गए या जलते हुए वे जल गए, इस प्रकार कहा जा सकता है ?

(गौतम स्वामी) हाँ भगवन ! काटते हुए वे काटे गए —यावत्—जलते हुए वे जल गए यो कहा जा सकता है।

से जहा वा केइ पुरिसे वत्थं अहयं वा, धोयं वा, तंतुग्गयं वा, मजिट्ठादोणीए पक्खिवेज्जा, से नूणं गोयमा ! उक्खिप्पमाणे उक्खित्ते, पक्खिप्पमाणे पक्खित्ते, रज्जमाणे रत्ते त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता, भगवं ! उक्खिप्पमाणे-जाव-रत्ते त्ति वत्तव्वं सिया।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—आराहए, नो विराहए। —वि स ८, उ. ६, सु. ७-११

जैसे कोई पुरुष बिल्कुल नये, धोये या करघे से तुरन्त उतरे हुए वस्त्र को मजीठ के द्रोण पात्र में डाले तो हे गौतम ! उठाते हुए वस्त्र को उठाया गया, डालते हुए वस्त्र को डाला गया अथवा रंगते हुए वस्त्र को रंगा गया यों कहा जा सकता है।

(गौतम स्वामी)—हाँ भगवन् ! उठाते हुए वस्त्र को उठाया गया—यावत्—रंगते हुए वस्त्र को रंगा गया, इस प्रकार कहा जा सकता है।

(भगवान्) इसी कारण से हे गौतम ! कहा जाता है कि (आराधना के लिए उद्यत हुए साधु या साध्वी) आराधक हैं, विराधक नहीं।

भिक्खुस्स आराहणा-विराहणा—

३०४ भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, से णं ठाणस्स तस्स अणालोइय-ऽपडिक्कंते कालं करेति, नत्थि तस्स आराहणा।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा।

भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, तस्स णं एवं भवति पच्छा वि णं अहं चरिमकालसमयंसि एयस्स ठाणस्स आलोएस्सामि-जाव-पडिवज्जिस्सामि,

से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंते कालं करेति नत्थि तस्स आराहणा।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा।

भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता, तस्स णं एवं भवति—"जइ ताव समणोवासगा वि कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति किमंग पुण अहं अणपन्नियदेवत्तणं पि नो लभिस्सामि ?" त्ति कट्टु से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंते कालं करेति, नत्थि तस्स आराहणा।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति, अत्थि तस्स आराहणा। —विया स १०, उ २, सु ७-९

मायी णं तस्स ठाणस्स अणालोइयऽपडिक्कंते कालं करेइ, नत्थि तस्स आराहणा।

अमायी णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा।—विया. स ३, उ २, सु १६(२)

भिक्षु की आराधना-विराधना—

३०४. कोई भिक्षु किसी अकृत्य स्थान का सेवन करके, यदि उस अकृत्यस्थान की आलोचना तथा प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नहीं होती।

यदि वह भिक्षु उस सेवित अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसके आराधना होती है।

कदाचित् किसी भिक्षु ने किसी अकृत्यस्थान का सेवन कर लिया, किन्तु बाद में उसके मन में ऐसा विचार उत्पन्न हो कि मैं अपने अन्तिम समय में इस अकृत्यस्थान की आलोचना करूँगा —यावत्—तपरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करूँगा परन्तु उस अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाए तो उसके आराधना नहीं होती।

यदि वह (अकृत्यस्थानसेवी भिक्षु) आलोचन और प्रतिक्रमण करके काल करे, तो उसके आराधना होती है।

कदाचित् किसी भिक्षु ने किसी अकृत्यस्थान का सेवन कर लिया हो और उसके बाद उसके मन में यह विचार उत्पन्न हो कि—"श्रमणोपासक भी काल के अवसर पर काल करके किन्हीं देवलोकों में देवरूप में उत्पन्न हो जाते हैं, तो क्या मैं अणपन्निक देवत्व भी प्राप्त नहीं कर सकूँगा ?" यह सोचकर यदि वह उस अकृत्य स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नहीं होती।

यदि वह (अकृत्यसेवी साधु) उस अकृत्यस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसके आराधना होती है।

मायी मनुष्य उस स्थान (वैक्रियकरणरूप प्रवृत्तिप्रयोग) की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना काल करता है तो उसके आराधना नहीं होती।

अमायी मनुष्य उस विराधना स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है।

दिट्ठन्तेण आराहग विराहग सरूवं—

३०५ तए णं गोयमे समणं भगवं महावीरं एव वयासी—

प०—कहं ण भंते ! जीवा आराहगा वा विराहगा वा भवंति ?

उ०—गोयमा ! से जहाणामए एगसि समुद्दकूलसि दावद्दवा नामं रुक्खा पण्णत्ता किण्हा-जाव-निउरंबभूया, पत्तिया, पुप्फिया, फलिया, हरियग-रेरिज्जमाणा सिरीए अईव उवसोभेमाणा-उवसोभेमाणा चिट्ठन्ति।

समणाउसो ! जया णं दीविच्चगा ईसिं पुरेवाया, पच्छावाया, मदावाया, महावाया वायति, तया णं वहवे दावद्दवा रुक्खा पत्तिया-जाव-उवसोभेमाणा चिट्ठन्ति।

अप्पेगइया दावद्दवा रुक्खा जुण्णा झोडा परिसडिय-पंडुपत्त-पुप्फ-फला-सुक्करुक्खओविव मिलायमाणा-मिलायमाणा चिट्ठन्ति।

एवामेव समणाउसो ! जे अम्ह निग्गथो वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाण अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए समाणे-वहूण समणाण, वहूणं समणीण, वहूण सावयाणं, वहूण सावियाण सम्म सहइ-जाव-अहियासेइ,

वहूणं अण्णउत्थियाणं, वहूणं गिहत्थाणं नो सम्म सहइ-जाव-अहियासेइ, एस ण मए पुरिसे देमविराहए पण्णत्ते।

समणाउसो ! जया णं सामुद्दगा ईसिं पुरेवाया, पच्छावाया, मंदावाया, महावाया वायंति, तया ण वहवे दावद्दवा रुक्खा जुण्णा झोडा-जाव-मिलायमाणा मिलायमाणा चिट्ठन्ति।

अप्पेगइया दावद्दवा रुक्खा पत्तिया पुप्फिया-जाव-उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठन्ति।

एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं णिग्गंथो वा णिग्गंथी या-जाव-पव्वइए समाणे वहूणं अण्णउत्थियाण, वहूण गिहत्थाण मम्मं सहइ-जाव-अहियासेइ। वहूणं समणाण, वहूण समणीणं, वहूण सावयाणं, वहूण सावि-

दृष्टांत द्वारा आराधक-विराधक का स्वरूप—

३०५. किसी समय गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

प्र०—भन्ते ! जीव किस प्रकार आराधक और किस प्रकार विराधक होते हैं ?

उ०—गौतम ! जैसे एक समुद्र के किनारे दावद्रव नामक वृक्ष कहे गये हैं वे कृष्णवर्ण वाले—**यावत्**—गुच्छा रूप हैं। पत्तो वाले, फूलो वाले, फलो वाले, अपनी हरियाली के कारण मनोहर और श्री से अत्यन्त शोभित होते हुए रहते हैं।

हे आयुष्मन् श्रमण ! जव द्वीप सम्वन्धी कुछ-कुछ स्निग्ध वायु, वनस्पति के लिए हितकारक वायु, मन्द और प्रचण्ड वायु चलती है, तव वहुत से दावद्रव वृक्ष पत्र से युक्त होकर—**यावत्**—शोभित होते हुए रहते हैं।

उनमे से कोई-कोई दावद्रव-वृक्ष जीर्ण जैसे हो जाते हैं, सडे पत्तो वाले, खिरे हुए पत्तो वाले, पीले पत्तो वाले और पुष्प-फल से रहित होकर सूखे पेड की तरह मुरझाते हुए खडे रहते हैं।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमण ! जो मेरा आज्ञानुवर्ती साधु या साध्वी आचार्य-उपाध्याय के समीप मे मुंडित होकर गृहवास का त्याग कर अनगार धर्म मे दीक्षित होकर वहुत से साधुओ, वहुत सी साध्वियो, वहुत से श्रावको और वहुत सी श्राविकाओ के प्रतिकूल वचनो को सम्यक् प्रकार से सहन करता है—**यावत्**—विशेष रूप से सहन करता है।

किन्तु वहुत से अन्यतीर्थिको के तथा गृहस्थो के दुर्वचन को सम्यक् प्रकार से सहन नही करता है—**यावत्**—विशेष रूप से सहन नही करता है, ऐसे पुरुष अर्थात् साधु साध्वी को मैंने देश-विराधक कहा है।

हे आयुष्मन् श्रमण ! जव समुद्र सम्वन्धी अल्प पुरोवात, पथ्य वात, मन्दवात और महावात वहती है, तव वहुत से दावद्रव-वृक्ष जीर्ण से हो जाते हैं, झड जाते हैं—**यावत्**—मुरझाये हुए रहते हैं।

किन्तु कोई-कोई दावद्रव-वृक्ष पत्रित, पुष्पित—**यावत्**—अत्यन्त शोभायमान रहते है।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमण ! जो मेरा (आज्ञानुवर्ती) साधु या साध्वी—**यावत्**—दीक्षित होकर वहुत से अन्यतीर्थिको के और वहुत से गृहस्थो के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन करता है—**यावत्**—विशेष रूप से सहन करता है किन्तु वहुत से साधुओ, वहुत सी साध्वियो, वहुत से श्रावको तथा वहुत सी श्राविकाओ के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन नही करता है

याणं नो सम्म सहइ-जाव-अहियासेइ। एस ण मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते।

—यावत्—विशेष रूप से सहन नही करता है उस पुरुष को मैंने देशाराधक कहा है।

समणाउसो! जया ण नो दीविच्चगा, णो सामुद्दगा, ईसिं पुरेवाया, पच्छावाया, मदावाया, महावाया वायति, तया ण सव्वे दावद्दवा रुक्खा जुण्णा झोडा -जाव-मिलायमाणा मिलायमाणा चिट्ठन्ति।

हे आयुष्मन् श्रमण! जब द्वीप सम्बन्धी और समुद्र सम्बन्धी अल्प पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात नहीं बहती, तब सब दावद्रव-वृक्ष जीर्ण सरीखे हो जाते हैं—यावत्—मुरझाये रहते हैं।

एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गथो वा निग्गथी वा-जाव-पव्वइए समाणे, बहूण समणाणं, बहूण समणीण, बहूणं सावयाण, बहूण सावियाणं, बहूण अन्नउत्थियाण बहूणं गिहत्थाणं नो सम्म सहइ-जाव-अहियासेइ। एस ण मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमण! जो मेरा (आज्ञानुवर्ती) साधु या साध्वी—यावत्—प्रव्रजित होकर बहुत से साधुओं, बहुत सी साध्वियो, बहुत से श्रावकों, बहुत सी श्राविकाओं, बहुत से अन्यतीर्थिको एवं बहुत से गृहस्थो के दुर्वचन को सम्यक् प्रकार से सहन नही करता है—यावत्—विशेष रूप से सहन नहीं करता है। उस पुरुष को मैंने सर्वविराधक कहा है।

समणाउसो! जया ण दीविच्चगा वि सामुद्दगा वि ईसिं पुरेवाया, पच्छावाया, मदावाया, महावाया वायति तया णं सव्वे दावद्दवा रुक्खा पत्तिया-जाव-उवसोभेमाणा चिट्ठन्ति।

हे आयुष्मन् श्रमण! जब द्वीप सम्बन्धी और समुद्र सम्बन्धी भी अल्प पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती है, तब सभी दावद्रव-वृक्ष पत्रित—यावत्—सुशोभित रहते हैं।

एवामेव समणाउसो! जो अम्ह निग्गंथो वा निग्गथी -जाव-पव्वइए समाणे बहूण समणाणं, बहूण समणीण, बहूणं सावयाण, बहूण सावियाण, बहूण अन्नउत्थियाण, बहूण गिहत्थयाणं सम्म सहइ-जाव-अहियासेइ। एस ण मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते समणाउसो।

इसी प्रकार हे आयुष्मन् श्रमण! जो मेरा (आज्ञानुवर्ती) साधु या साध्वी—यावत्—प्रव्रजित होकर बहुत से श्रमणो के, बहुत सी श्रमणियो, बहुत से श्रावको, बहुत सी श्राविकाओं, बहुत से अन्यतीर्थिको और बहुत से गृहस्थो के दुर्वचन सम्यक् प्रकार से सहन करता है, उस पुरुष को मैंने सर्वाराधक कहा है।

एव खलु गोयमा! जीवा आराहगा वा विराहगा वा भवंति। —णाया. अ ११, सु ३-१३

इस प्रकार हे गौतम! जीव आराधक या विराधक होते हैं।

सुय-सीलावेक्खया आराहग-विराहग सरूवं—

श्रुत और शील से आराधक-विराधक का स्वरूप—

३०६ रायगिहे नयरे-जाव-एव वयासी—

३०६ राजगृही नगर मे—यावत्—गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा—

प०—अन्नउत्थियाण भते! एवमाइक्खति-जाव-एवं परूवेंति—एव खलु

१ सीलं सेय, २ सुय सेय,

३. सुय सेय सील सेयं, से कहमेय भंते! एव?

प्र०—भन्ते! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं—यावत्—प्ररूपणा करते हैं कि—

(१) शील ही श्रेयस्कर है, (२) श्रुत ही श्रेयस्कर है,

(३) शीलनिरपेक्ष श्रुत और श्रुतनिरपेक्ष शील श्रेयस्कर है। भन्ते! क्या उनका ये कथन सत्य है?

उ०-गोयमा! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति-जाव-एव पण्णवेंति, "जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु।" अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि-जाव-एव परूवेमि, एव खलु मए चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—

१ सीलसंपन्ने नाम एगे णो सुयसंपन्ने।

२ सुयसपन्ने नामं एगे णो सीलसपन्ने।

३. एगे सीलसपन्ने वि सुयसंपन्ने वि।

उ०—गौतम! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं-यावत्-इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं उनका यह कथन मिथ्या है। हे गौतम! मैं इस प्रकार कहता हूँ—यावत्—प्ररूपणा करता हूँ कि चार प्रकार के पुरुष होते हैं। यथा—

(१) एक व्यक्ति शीलसम्पन्न है, श्रुतसम्पन्न नही है।

(२) एक व्यक्ति श्रुतसम्पन्न है, शीलसम्पन्न नहीं है।

(३) एक व्यक्ति शीलसम्पन्न भी है और श्रुतसम्पन्न भी है।

४. एगे णो सीलसंपन्ने णो सुयसंपन्ने ।

१. तत्थ णं जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं, असुयवं, उवरए, अविन्नायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते ।

२. तत्थ ण जे से दोच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलव, सुयवं, अणुवरए, विन्नायधम्मे, एस ण गोयमा ! मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते ।

३. तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलव, सुयव, उवरए, विन्नायधम्मे, एस ण गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते ।

४ तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिसजाए से ण पुरिसे असीलव, असुयवं, अणुवरए, अविण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते ।

—विया. स ८, उ. १०, सु १-२

(४) एक व्यक्ति न शीलसम्पन्न है और न श्रुतसम्पन्न है ।

(१) इनमे से जो प्रथम प्रकार का पुरुष है, वह शीलवान् है, परन्तु श्रुतवान् नही है। वह पापादि से निवृत्त है किन्तु धर्म को विशेष रूप से नही जानता है। हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'देश-आराधक' कहा है ।

(२) इनमे से जो दूसरा पुरुष है, वह पुरुष शीलवान् नहीं है, परन्तु श्रुतवान है। पापादि से अनिवृत्त है, परन्तु धर्म को विशेष रूप से जानता है। हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'देश-विराधक' कहा है ।

(३) इनमे से जो तृतीय पुरुष है वह पुरुष शीलवान् भी है और श्रुतवान् भी है। वह पापादि से निवृत्त है और धर्म का भी ज्ञाता है। हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'सर्व आराधक' कहा है ।

(४) इनमे से जो चौथा पुरुष है, वह न तो शीलवान् है और न श्रुतवान् है। वह पापादि से अनिवृत्त है, धर्म का भी ज्ञाता नही है। हे गौतम ! इस पुरुष को मैंने 'सर्व विराधक' कहा है ।

आराहग-अणाराहग णिग्गंथाईणं भगा—

३०७ चत्तारि णिग्गंथा पण्णत्ता, त जहा—

१ रातिणिए समणे णिग्गथे महाकम्मे महाकिरिए अणातावी असमिते धम्मस्स अणाराहए भवति ।

२. रातिणिए समणे णिग्गथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आतावी समिए धम्मस्स आराहए भवति ।

३ ओमरातिणिए समणे णिग्गथे महाकम्मे महाकिरिए अणातावी असमिते धम्मस्स अणाराहए भवति ।

४. ओमरातिणिए समणे णिग्गथे अप्पकम्मे अप्पकिरिए आतावी समिते धम्मस्स आराहए भवति ।

एव चेव चत्तारि समणोवासगा पण्णत्ता-जाव-आराहए भवई ।

चत्तारि णिग्गंथीओ पण्णत्ताओ, त जहा—

१. रातिणिया समणी णिग्गथी महाकम्मा महाकिरिया अणातावी असमिता धम्मस्स अणाराहिया भवति ।

२. रातिणिया समणी णिग्गंथी अप्पकम्मा अप्पकिरिया आतावी समिता धम्मस्स आराहिया भवति ।

आराधक-अनाराधक निर्ग्रन्थ आदि के भंग—

३०७ निर्ग्रन्थ चार प्रकार के कहे गये है। जैसे—

(१) कोई श्रमण निर्ग्रन्थ दीक्षापर्याय मे ज्येष्ठ होकर भी महाकर्म वाला, महाक्रिया वाला, अतपस्वी और समिति रहित होने के कारण धर्म का विराधक होता है।

(२) कोई रात्निक श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पकर्म वाला, अल्प-क्रिया वाला, तपस्वी और पाँच समितियो से युक्त होने के कारण धर्म का आराधक होता है ।

(३) कोई निर्ग्रन्थ श्रमण दीक्षा पर्याय मे छोटा होकर महा-कर्मा, महाक्रिय, अनातापी और असमित होने के कारण धर्म का विराधक होता है ।

(४) कोई अल्प दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, तपस्वी और समित होने के कारण धर्म का आराधक होता है ।

इसी प्रकार चार प्रकार के श्रमणोपासक कहे गये हैं—यावत्—आराधक होते हैं ।

निर्ग्रन्थियाँ चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) कोई रात्निक श्रमणी निर्ग्रन्थी महाकर्मा, महाक्रिया, अतपस्विनी और असमित होने के कारण धर्म की विराधिका होती है ।

(२) कोई रात्निक श्रमणी निर्ग्रन्थी अल्पकर्मा, अल्पक्रिया, तपस्विनी और समित होने के कारण धर्म की आराधिका होती है ।

३ ओमरातिणिया समणी णिग्गंथी महाकम्मा महाकिरिया अणायावी असमिता धम्मस्स अणाराहिया भवति।

(३) कोई अवमरात्निक श्रमणी निर्ग्रन्थी महाकर्मा, महाक्रिया अतपस्विनी और असमित होने के कारण धर्म की विराधिका होती है।

४. ओमरातिणिया समणी णिग्गंथी अप्पकम्मा अप्पकिरिया आतावी समिता धम्मस्स आराहिया भवति।

(४) कोई अवमरात्निक श्रमणी निर्ग्रन्थी अल्पकर्मा, अल्पक्रिया, तपस्विनी और समित होने के कारण धर्म की आराधिका होती है।

एव चेव चत्तारि समणोवासियाओ पण्णत्ताओ-जाव-आराहिया भवइ। —ठाण अ. ४, उ ३, सु ३२१

इसी प्रकार चार प्रकार की श्रमणोपासिकाएँ कही गई हैं —यावत्—आराधिका होती हैं।

आहाकम्म आईण विवरीय परूवणा—

आधाकर्म आदि की विपरीत प्ररूपणा—

३०८ "आहाकम्म णं अणवज्जे" त्ति मणं पहारेत्ता भवति, से ण तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कते काल करेति नत्थि तस्स आराहणा।

३०८ "आधाकर्म आहार आदि निर्दोप है" इस प्रकार की जो साधु मन मे धारणा बना लेता है यदि वह उस आधाकर्म विषयक अपनी धारणा की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नहीं होती है।

से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा।

यदि वह उस स्थान की आलोचना एव प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसके आराधना होती है।

एतेण गमेण नेयव्व—कीयकड, ठवियग, रइयग, कतारभत्त, दुब्भिक्खभत्त, वद्दलियाभत्त, गिलाणभत्त, सिज्जातरपिंड रायपिंड।

आधाकर्म के आलापकद्वय के अनुसार ही क्रीतकृत, स्थापित, रचितक, कान्तारभक्त, दुर्भिक्ष भक्त, वर्दलिकाभक्त, ग्लान भक्त, शय्यातरपिण्ड, राजपिन्ड, इन सब दोषों से युक्त आहारादि के विषय मे जानना चाहिये।

"आहाकम्म ण अणवज्जे" त्ति बहुजणमज्झे भासित्ता सयमेव परिभुंजित्ता भवति-जाव अत्थि तस्स आराहणा।

"आधाकर्म आहार आदि निर्दोप है" इस प्रकार से जो साधु बहुत से मनुष्यो के बीच मे कह कर स्वय ही उस आधाकर्म आहारादि का सेवन करता है तो—यावत्—उसके आराधना होती है।

एतेण गमेण नेयव्व—कीयकड जाव-रायपिंड।

इसी प्रकार से ही क्रीत दोष—यावत्—राजपिंड के आलापक समझ लेने चाहिए।

"आहाकम्मं ण अणवज्जे" त्ति सयं अन्नमन्नस्स अणुप्पदावेत्ता भवति-जाव-अत्थि तस्स आराहणा।

"आधाकर्म आहार आदि निर्दोप होता है" इस प्रकार कह कर जो साधु एक दूसरे साधु को देता है तो—यावत्—उसके आराधना होती है।

एतेण गमेणं नेयव्व—कीयकड-जाव-रायपिंड।

इसी प्रकार से ही क्रीत दोष—यावत्—राजपिंड के आलापक जान लेने चाहिए।

"आहाकम्म ण अणवज्जे" त्ति बहुजणमज्झे पन्नवइत्ता भवति-जाव-अत्थि तस्स आराहणा।

"आधाकर्म आहार निर्दोप होता है" इस प्रकार जो साधु बहुत से लोगो के बीच मे प्ररूपण करता है—यावत्—उसके आराधना होती है।

एतेण गमेण नेयव्व—कीयकड-जाव-रायपिंड।
—वि स ५, उ ६, सु. १५-१८

इसी प्रकार से ही क्रीत दोष—यावत्—राजपिंड के आलापक समझ लेने चाहिए।



आराधना विराधना के प्रकार—२

आराहणा-पगारा—

३०९. दुविहा आराहणा पण्णत्ता, तं जहा—

१. धम्मियाराहणा चेव,　　२. केवलिआराहणा चेव[1]।

धम्मियाराहणा दुविहा पण्णत्ता, त जहा—

१. सुयधम्माराहणा चेव,　　२. चरित्तधम्माराहणा चेव।

केवलिआराहणा दुविहा पण्णत्ता, त जहा—

१ अन्तकिरिया चेव,　　२ कप्पविमाणोववत्तिया चेव।

—ठाणं. अ. २, उ. ४, सु. ११८

प०—कइविहा ण भंते ! आराहणा पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता, त जहा—

१. णाणाराहणा,　　२. दंसणाराहणा,

३ चारित्ताराहणा।

प०—णाणाराहणा ण भते ! कइविहा पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—

१ उक्कोसिया,　२ मज्झिमा,　३ जहण्णा।

प०—दसणाराहणा ण भते ! कइविहा पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, त जहा—

१ उक्कोसिया,　२. मज्झिमा,　३. जहण्णा।

प०—चरित्ताराहणा णं भते ! कइविहा पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता, त जहा—

१ उक्कोसिया,　२ मज्झिमा,　३ जहण्णा।

—वि स ८, उ १०, सु. ३-६

आराधना के प्रकार—

३०९. आराधना दो प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) धार्मिकी आराधना,　　(२) केवली आराधना,

धार्मिकी आराधना दो प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) श्रुतधर्म की आराधना,　(२) चारित्रधर्म की आराधना,

केवलिकी आराधना दो प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) अन्तक्रिया रूप,　　(२) कल्पविमान उत्पत्ति रूप,

प्र०—भन्ते ! आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) ज्ञान आराधना,　　(२) दर्शन आराधना,

(३) चारित्र आराधना।

प्र०—भन्ते ! ज्ञान आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) उत्कृष्ट,　(२) मध्यम,　(३) जघन्य।

प्र०—भन्ते ! दर्शन आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) उत्कृष्ट,　(२) मध्यम,　(३) जघन्य।

प्र०—भन्ते ! चारित्र आराधना कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! तीन प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) उत्कृष्ट,　(२) मध्यम,　(३) जघन्य।

जहण्णुक्कोसिया आराहणा—

३१० प०—जस्स णं भंते ! उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा ? जस्स उक्कोसिया दसणाराहणा तस्स उक्कोसिया णाणाराहणा ?

उ०—गोयमा ! जस्स उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स दसणाराहणा उक्कोसिया वा अजहण्णउक्कोसिया वा, जस्स पुण उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स णाणाराहणा उक्कोसा वा जहण्णा वा, अजहण्णमणुक्कोसा वा।

जघन्य-उत्कृष्ट आराधना—

३१०. प्र०—भगवन् ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है जिस जीव के उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है ?

उ०—गौतम ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, उसके दर्शनाराधना उत्कृष्ट या मध्यम होती है।

जिस जीव के उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, उसके उत्कृष्ट, जघन्य या मध्यम ज्ञानाराधना होती है।

---

१ यहाँ केवली से श्रुतकेवली, अवधिज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी ये चारो लिये जाते है। स्थानांग वृत्तिकार ने कहा — "श्रुतावधि मन पर्याय केवलज्ञानीनाम् इय केवलिकी (संज्ञा)। सा चासावाराधना चेति केवलिक्याराधनेति।

प०—जस्स णं भंते ! उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स उक्कोसिया चरित्ताराहणा ? जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया णाणाराहणा ?

उ०—जहा उक्कोसिया णाणाराहणा य दसणाराहणा य भणिया तहा उक्कोसिया णाणाराहणा य चरित्ताराहणा य भाणियव्वा ।

प०—जस्स णं भंते ! उक्कोसिया दसणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा ? जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया दसणाराहणा ?

उ०—गोयमा ! जस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स चरित्ताराहणा उक्कोसा वा जहण्णा वा अजहण्णमणुक्कोसा वा,

जस्स पुण उक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्स दसणाराहणा णियमा उक्कोसा ।

—वि. स ८, उ. १०, सु ७-९

प्र०—भगवन् ! जिस जीव के उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, जिस जीव के उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट ज्ञानाराधना होती है ?

उ०—जिस प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानाराधना और दर्शनाराधना के विषय में कहा उसी प्रकार उत्कृष्ट ज्ञानाराधना और उत्कृष्ट चारित्राराधना के विषय में भी कहना चाहिए ।

प्र०—भगवन् ! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, क्या उसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है क्या उसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है ?

उ०—गौतम ! जिसके उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है, उसके उत्कृष्ट, मध्यम या जघन्य चारित्राराधना होती है ।

जिसके उत्कृष्ट चारित्राराधना होती है, उसके नियम से उत्कृष्ट दर्शनाराधना होती है ।

विराहणा पगारा—

३११ तओ विराहणाओ पण्णत्ताओ, त जहा—

१ णाण विराहणाए, २ दसण विराहणाए,
३ चरित्त विराहणाए[1] । —सम. सम. ३, सु १

विराधना के प्रकार—

३११. विराधना तीन प्रकार की कही गई है । यथा—

(१) ज्ञान विराधना, (२) दर्शन विराधना,
(३) चारित्र विराधना ।



आराधक विराधक की गति—३

आराहगा अणारंभा अणगारा—

३१२. से जे इमे गामागर सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—

अणारंभा, अपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा, सुव्वया, सुपडियाणंदा, साहू ।

१. सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया ।
२ सव्वाओ मुसावायाओ पडिविरया ।
३ सव्वाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया ।

आराधक-अणारम्भ-अणगार—

३१२ ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में जो ये मनुष्य होते हैं, यथा—

आरम्भ रहित, परिग्रह रहित, धार्मिक, धर्मानुगामी, धर्मिष्ठ, धर्म का कथन करने वाले, धर्म का अवलोकन करने वाले, धर्मप्ररज्जन, धर्मसमुदाचार, धर्मपूर्वक जीविका चलाने वाले, सुशील, सुव्रत, स्वात्मपरितुष्ट होते हैं ।

(१) सब प्रकार की हिंसा से प्रतिविरत होते हैं ।
(२) सब असत्य से प्रतिविरत होते हैं ।
(३) सर्व चोरी से प्रतिविरत होते हैं ।

---

१ पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं, त जहा—१ णाणविराहणाए, २ दसणविराहणाए, ३. चरित्तविराहणाए । —आव अ ४ सु २२(५)

४ सव्वाओ मेहुणाओ पडिविरया ।

(४) संपूर्णतः अब्रह्मचर्य से प्रतिविरत होते हैं ।

५ सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया ।

(५) तथा सम्पूर्णतः परिग्रह से प्रतिविरत होते हैं ।

६. सव्वाओ कोहाओ, ७ माणाओ, ८. मायाओ, ९. लोभाओ, १०. पेज्जाओ, ११. दोसाओ, १२. कलहाओ, १३ अब्भक्खाणाओ, १४. पेसुण्णाओ, १५. परपरिवायाओ, १६. अरइरईओ, १७. मायामोसाओ, १८. मिच्छादंसण-सल्लाओ पडिविरया ।

सम्पूर्णत (६) क्रोध से, (७) मान से, (८) माया से, (९) लोभ से, (१०) राग से, (११) द्वेष से, (१२) कलह से, (१३) अभ्याख्यान से, (१४) पैशुन्य से, (१५) परपरिवाद से, (१६) अरति-रति से, (१७) माया मृषा से, (१८) मिथ्यादर्शन-शल्य से यावज्जीवन प्रतिविरत होते हैं ।

सव्वाओ आरम्भ-समारम्भाओ पडिविरया ।
सव्वाओ करण-कारावणाओ पडिविरया ।
सव्वाओ पयण-पयावणाओ पडिविरया ।

सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ से प्रतिविरत होते हैं,
करने तथा कराने से सम्पूर्णत प्रतिविरत होते हैं,
पकाने एव पकवाने से सर्वथा प्रतिविरत होते हैं,

सव्वाओ कोट्टण-पिट्टण-तज्जण-तालण-वह-बध-परिकिलेसाओ पडिविरया ।

कूटने, पीटने, तर्जित करने, ताड़ित करने, वध-बन्धन एवं किसी को कष्ट देने से सम्पूर्णत प्रतिविरत होते हैं ।

सव्वाओ ण्हाण-मद्दण-वण्णग-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध मल्लालकाराओ पडिविरया ।

स्नान, मर्दन-वर्णक-विलेपन-शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध-माला-और अलंकार से सम्पूर्ण रूप से प्रतिविरत होते हैं ।

जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मता परपाण-परियावणकरा कज्जंति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए ।

इसी प्रकार और भी जो पाप-प्रवृत्तियुक्त, छल-प्रपचयुक्त दूसरो के प्राणो को कष्ट पहुंचाने वाले कर्म किये जाते हैं उनसे भी जीवन भर के लिए सम्पूर्णत प्रतिविरत होते हैं ।

से जहाणामए अणगारा भवति—१ इरियासमिया, २ भासासमिया, ३. एसणासमिया, ४. आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवणासमिया, ५ उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिट्ठावणिआ समिया,

वे अनगार भगवन्त—(१) ईर्यासमिति युक्त, (२) भाषा समिति युक्त, (३) एषणा समिति युक्त, (४) पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने की समिति से युक्त, (५) मल-मूत्र-खंखार नाक आदि का मैल त्यागने की समिति से युक्त होते हैं ।

मणसमिया, वइसमिया, कायसमिया, मणगुत्ता, वइगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिंदिया, गुत्तबंभयारी, चाई, लज्जू, धन्ना, खतिखमा, जिइंदिया, सोहिया, अणियाणा, अप्पस्सुया, अबहिल्लेसा सुसामण्णरया, दंता, इणमेव निग्गथं पावयण पुरओकाऊ विहरति ।[1]

मन समित, वचन समित, काय समित, जो मन वचन तथा शरीर की क्रियाओ का सयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयो मे राग रहित-अन्तर्मुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियो को उनके विषय-व्यापार मे लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त ब्रह्मचारी—नियमो-पनियम पूर्वक ब्रह्मचर्य का संरक्षण करने वाले, त्यागी, लज्जा वाले, धन्य, क्षमा-धारी, जितेन्द्रिय, शोधन करने वाले, अल्प उत्सुक, संयत-विचार वाले, सुश्रामण्यरत, दान्त और केवल इस निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा रखकर विचरण करते हैं ।

तेसि णं भगवंताणं एएणं विहारेण विहरमाणाणं अत्थेगइ-याणं अणते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जइ ।

ऐसी चर्या द्वारा सयमी जीवन का निर्वाह करने वाले पूज-नीय श्रमणो मे से कइयो को अन्तरहित सर्वश्रेष्ठ, बाधारहित, आवरणरहित, सर्वार्थग्राहक, परिपूर्ण, केवलज्ञान केवलदर्शन समुत्पन्न होता है ।

ते बहूइं वासाइं केवलपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता भत्तं पच्चक्खंति पच्चक्खित्ता, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता,

वे बहुत वर्षों तक केवलीपर्याय का पालन करके, अन्त मे आहार का परित्याग करके अनशन सम्पन्न कर,

---

१ उपमा का अश संयमी प्रकरण मे देखें ।

जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणए, केसलोए, बंभचेरवासे, अच्छत्तग, अणोवाहणग, भूमिसेज्जा, फलहसेज्जा, कट्ठसेज्जा, परघरपवेसो, लद्धावलद्ध. परेहिं, हीलणाओ, निंदणाओ, खिंसणाओ, गरहणाओ, तज्जणाओ, तालणाओ, परिभवणाओ, पव्वहणाओ, उच्चावया, गामकंटगा, बावीस परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति।

जिस लक्ष्य के लिए नग्नभाव, मुण्डभाव, अस्नान, अदन्तधावन, केशलुंचन, ब्रह्मचर्यवास, छाते तथा जूते का अग्रहण, भूमि, फलक व काष्ठ पट्टिका पर शयन, प्राप्त अप्राप्त की चिंता किये बिना भिक्षा हेतु परगृह प्रवेश, दूसरे के द्वारा की गई अवज्ञा, अपमान, निन्दा, खिंसना, गर्हा, तर्जना, ताड़ना, परिभव, प्रव्यथा अनेक अल्पाधिक इन्द्रिय-कष्ट बाईस प्रकार के परीषह एवं उपसर्ग आदि स्वीकार किये जाते हैं।

तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।

उस लक्ष्य को पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-नि:श्वास में सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वृत्त होते हैं और सब दुःखों का अन्त करते हैं।

जेसिं पि य णं एगइयाणं णो केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जइ, ते बहूइं वासाइं छउमत्थपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाहे उप्पण्णे वा अणुप्पण्णे वा भत्तं पच्चक्खंति। ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, जस्सट्ठाए, कीरइ नग्गभावे जाव-तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं ऊसासणीसासेहिं अणंतं, अणुत्तरं, निव्वाघायं, निरावरणं, कसिणं, पडिपुण्णं केवलवरनाणदंसणं उप्पाडेंति, तओ पच्छा सिज्झिहिंति-जाव-सव्वदुक्खाणमंतं करेहिंति।

जिन कतिपय अनगारों को केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न नहीं होता वे बहुत वर्षों तक छद्मस्थ-पर्याय में संयम-पालन करते हैं। फिर किसी रोग आदि के उत्पन्न होने पर या न होने पर भी वे भोजन का परित्याग कर देते हैं। बहुत दिनों का अनशन करते हैं, अनशन सम्पन्न कर जिस लक्ष्य से कष्ट पूर्ण संयम पथ स्वीकार किया—यावत्—उसे आराधित करके अन्तिम उच्छ्वास निःश्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं—यावत्—सब दुःखों का अन्त करते हैं।

एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

कई एक ही भव करने वाले पूर्व-संचित कर्मों में से कुछ कर्म क्षय अवशेष रहने के कारण मृत्यु काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध महाविमान में देवरूप में उत्पन्न होते हैं।

तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति, स्थिति और उपपात होता है।

प०—तेसि णं भंते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता?

प्र०—हे भगवन्! उन देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है?

उ०—गोयमा! तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

उ०—गौतम! उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम-प्रमाण कही है।

प०—अत्थि णं भंते! तेसिं णं देवाणं इड्ढी इ वा, जुई इ वा, जसे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा?

प्र०—भन्ते! उन देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य एवं पुरुषाकार पराक्रम होता है?

उ०—हंता अत्थि।

उ०—हाँ, होता है।

प०—ते णं भंते! देवा परलोगस्स आराहगा,

प्र०—भन्ते! वे देव परलोक के आराधक होते हैं?

उ०—हंता अत्थि। —उव. सु. १२६-१२६

उ०—हाँ, होते हैं।

आराहगा अप्पारम्भा समणोवासगा—

आराधक अल्पारम्भी श्रमणोपासक—

३१३. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा, सुसीला, सुव्वया, सुप्पडियाणंदा।

३१३. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश आदि में ये जो मनुष्य रहते हैं, यथा—अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुयायी, धर्मिष्ठ, धर्मवादी, धर्मप्रलोकी, धर्मानुरागी, धर्मरूप सदाचार वाले, धर्म से ही जीवन-निर्वाह करने वाले, सुशील, सुव्रती, सदा प्रसन्नचित्त रहने वाले होते हैं।

साहूहिं एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया-जाव-एगच्चाओ परिग्गहाओ पडिविरिया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरिया,

जो साधुओ के पास स्थूल हिंसा से यावज्जीवन विरत होते हैं और सूक्ष्म हिंसा से अविरत होते हैं—यावत्—परिग्रह से यावज्जीवन अंशतः विरत और अशत' अविरत होते हैं।

एगच्चाओ कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायाओ, अरइरईओ, मायामोसाओ, मिच्छादसणसल्लाओ, एगच्चाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया,

तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य मे यावज्जीवन अंशत विरत और अशत अविरत होते है,

एगच्चाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया,

आरम्भ समारम्भ से यावज्जीवन अशत विरत अशत' अविरत,

एगच्चाओ करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया,

करने कराने से यावज्जीवन अंशत विरत अशत. अविरत,

एगच्चाओ पयणपयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया,

पचन पाचन से यावज्जीवन अशत. विरत, अंशतः अविरत,

एगच्चाओ कोट्टण-पिट्टण-तज्जण-तालण-वह-बध-परिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया,

कूटने-पीटने-तर्जन-ताडन-वध-बध और परिक्लेश से यावज्जीवन अशत. विरत, अशत. अविरत,

एगच्चाओ ण्हाण-मद्दण-वण्णक-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया,

स्नान, मर्दन, वर्णक-विलेपन-शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गध, माला एवं अलंकार से यावज्जीवन अंशत विरत, अशतः अविरत होते हैं।

जे यावण्णे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति तओ वि एगच्चाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अपडिविरया।

अन्य भी जो ऐसे पाप प्रवृत्तियुक्त तथा दूसरो के प्राणो को कष्ट पहुँचाने वाले जो कार्य किये जाते हैं उनसे भी यावज्जीवन अशत विरत अशत अविरत होते हैं।

तं जहा—समणोवासगा भवति, अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसव-सवर-निज्जर-किरिया-अहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसला।[1]

वे इस प्रकार के श्रमणोपासक होते हैं—जीव-अजीव के ज्ञाता, पुण्य पाप को भली भांति समझे हुए, आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बध और मोक्ष तत्वो मे कुशल,

असहेज्जाओ देवासुर-णाग-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गधव्व-महोरगाइएहिं देवगणेहिं निग्गंथाओ पावयणाओ अणइक्कमणिज्जा,

किसी की सहायता की अपेक्षा न रखने वाले, देव-असुर-नाग-यक्ष-राक्षस-किन्नर-किम्पुरुष-गरुड-गधर्व-महोरग आदि देवगणो के द्वारा भी निर्ग्रन्थ-प्रवचन से विचलित न किये जा सकने वाले,

निग्गंथे पावयणे निस्संकिया, णिक्कंखिया, निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता,

निर्ग्रन्थ प्रवचन मे नि शक, निष्काक्ष, निर्विचिकित्स, लब्धार्थ, गृहीतार्थ, पृष्टार्थ, अभिगतार्थ, विनिश्चितार्थ होते हैं, निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति रग-रग मे अनुराग से रगे हुए होते हैं।

'अयमाउसो! निग्गथे पावयणे, अट्ठे, अय परमट्ठे, सेसे अणट्ठे,' ऊसियफलिहा, अवंगुयदुवारा, चियत्ततेउरपरघरदारप्पवेसा, चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्ण पोसहं सम्म अणुपालेत्ता,

हे आयुष्मन्! निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सार है, यही परमार्थ है और शेष अनर्थ है, ऐसा श्रद्धान और कथन करने वाले, अर्गला को न लगाने वाले, अतिथियो के लिए द्वार खुला रखने वाले, अन्त.पुर तथा परकीय घर मे बेरोक टोक आने-जाने वाले, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा इन तिथियो मे प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाले,

---

१ धर्म शिक्षा मे उपस्थित श्रावक श्राविका आज्ञा का आराधक होता है। —उवा. अ. १, सु. ११

समणे निग्गंथे फासुय एसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेणं, वत्थपडिग्गह-कंबल-पायपुछणेण, ओसहभेसज्जेणं, पडिहारएण य पीढ-फलग-सेज्जा संथारएण, पडिलाभेमाणा विहरंति विहरित्ता भत्त पच्चक्खंति, भत्त पच्चक्खित्ता ते बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, छेदित्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे काल किच्चा उक्कोसेण अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवति ।

तहिं तेसिं गई-जाव-बावीस सागरोवमाइ ठिई-जाव-परलोगस्स आराहगा । —उव. सु. १२३-१२४

तथा श्रमण निर्ग्रन्थो को प्रासुक एव एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार का तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोछन, औषध, भेषज तथा पडिहारी (वापिस लेने योग्य) पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक का दान करते हुए विचरते हैं, विचरकर अन्त मे आहार का प्रत्याख्यान करते हैं। आहार का प्रत्याख्यान करके बहुत से भक्तो (भोजन वेलाओ का) अनशन से छेदन करते हैं, छेदन करके आलोचना-प्रतिक्रमण करके समाधि को प्राप्त होकर काल मास मे काल करके उत्कृष्ट अच्युत कल्प मे देव रूप से उत्पन्न होते हैं।

वहाँ उनके स्थान के अनुरूप गति—**यावत्**—बाईस सागरोपम की स्थिति कही गई है—**यावत्**—वे परलोक के आराधक होते हैं।

आराहगा सण्णिपंचिंदिय तिरिक्खजोणिया—

३१४. से जे इमे सण्णिपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवति, तंजहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा ।

तेसि णं अत्थेगइयाण सुभेण परिणामेणं, पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं, तयावरणिज्जाण कम्माणं खओवसमेणं, ईहावूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणाण सण्णीपुव्वजाइसरणे समुप्पज्जइ ।

तए णं समुप्पण्ण-जाइसरणा समाणा सयमेव पंचाणुव्वयाइं पडिवज्जति पडिवज्जित्ता,

बहूहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा,

बहूइ वासाइ आउयं पालेंति, पालित्ता आलोइयपडिक्कंता, समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेण सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवति ।

तहिं तेसिं गई-जाव-अट्ठारस सागरोवमाइ ठिई-जाव-परलोगस्स आराहगा । —उव. सु. ११८-११९

आराधक सन्निपचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक—

३१४. जो ये सन्निपचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचयोनिक होते हैं, जैसे—(१) जलचर, (२) स्थलचर, (३) खेचर,

उनमे से कइयो के उत्तम अध्यवसाय, शुभ परिणाम तथा विशुद्ध होती हुई लेश्याओ के कारण ज्ञानावरणीय एव वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए अपनी सज्ञित्व-अवस्था से पूर्ववर्ती भवो की स्मृति रूप जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न होने पर वे स्वय पाँच अणुव्रत स्वीकार करते हैं, स्वीकार करके,

अनेकविध शीलव्रत, गुणव्रत, विरति, प्रत्याख्यान पौषधोपवास आदि द्वारा आत्मा को भावित करते हुए बहुत वर्षो तक अपने आयुष्य का पालन करते हैं फिर वे अपने पापस्थानो की आलोचना कर प्रतिक्रमण कर समाधि-अवस्था प्राप्त कर मृत्यु काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सहस्रार-कल्प-देवलोक में देव रूप मे उत्पन्न होते हैं।

अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—**यावत्**—उनकी वहाँ अठारह सागरापम की स्थिति कही गई है—**यावत्**—वे परलोक के आराधक होते हैं।

विराहगा एगंत बाला—

३१५. प०—जीवे ण भंते ! असंजए, अविरए, अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, सकिरिए, असवुडे, एगंतदंडे, एगंतबाले, एगंतसुत्ते, ओसण्णतसपाणघाई कालमासे काल किच्चा णेरइएसु उववज्जति ?

उ०—हंता उववज्जति । —उव सु ६७

विराधक एकान्त बाल—

३१५ प्र०—भगवन् ! जो जीव सयम रहित है, अविरत है, जिसने सम्यक्त्वपूर्वक पापकर्मो को हलका नही किया है, नहा मिटाया है, जो सक्रिय है-सवररहित है-पापपूर्ण प्रवृत्तियो द्वारा अपने को तथा औरो को दण्डित करता है, एकान्त बाल है तथा मिथ्यात्व की प्रगाढ निद्रा मे सोया हुआ है, त्रस प्राणियो की हिंसा मे लगा रहता है तो क्या वह मृत्यु आने पर मरकर नैरयिको मे उत्पन्न होता है ?

उ०—हाँ, गौतम यह नरक मे उत्पन्न होता है।

विराहगा अकाम निज्जरा कारगा—

३१६. प०—जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इओ चुए पेच्चा देवे सिया ?

उ०—गोयमा ! अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—
"अत्थेगइया देवे सिया, अत्थेगइया णो देवे सिया ?"

उ०—गोयमा ! जे इमे जीवा गामागर-णगर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सण्णिवेसेसु अकामतण्हाए, अकामछुहाए, अकामबंभचेरवासेण, अकामअण्हाणग-सीयायवदंसमसग-सेय-जल्ल-मल्ल-पंकपरितावेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

प०—तेसिं णं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! दसवाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

प०—अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं इड्ढी इ वा, जुई इ वा जसे इ वा, बले इ वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा ?

उ०—हंता अत्थि।

प०—ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे। —उव. सु. ६८-६९

विराधक अकाम निर्जरा करने वाले—

३१६. प्र०—भगवन् ! जिन्होने सयम नही साधा है, जो हिंसा, असत्य आदि से विरत नही है, जिन्होने सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापो का त्याग कर उन्हे नही मिटाया है, वे यहाँ से मृत्यु प्राप्त कर आगे के जन्म मे क्या देव होते हैं ?

उ०—गौतम ! कई देव होते हैं, कई देव नही होते हैं।

प्र०—भगवन् ! आप किस अभिप्राय से ऐसा कहते हैं कि कई देव होते हैं, कई देव नही होते हैं ?

उ०—गौतम ! जो जीव मोक्ष की अभिलाषा के विना या कर्मक्षय के लक्ष्य के विना ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी खेट, कर्वट, मडव, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम, संवाह और सन्निवेष में तृषा, क्षुधा ब्रह्मचर्य, अस्नान, शीत, आतप, डास, मच्छर, पसीना, रज, मैल, पक इन परितापो से अपने आपको थोडा या अधिक क्लेश देते हैं, कुछ समय तक अपने आपको क्लेशित करके मृत्यु का समय आने पर देह का त्याग कर वे वानव्यन्तर देव-लोको मे से किसी देवलोक मे देव के रूप मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ उनकी अपनी विशेष गति, स्थिति तथा उपपात होता है।

प्र०—भगवन् ! वहाँ उन देवो की स्थिति कितने समय की बतलाई गई है ?

उ०—गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति दस हजार वर्ष की बतलाई गई है।

प्र०—भगवन् ! क्या उन देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य, पुरुषार्थ तथा पराक्रम होते हैं ?

उ०—हाँ, गौतम ऐसा होता है।

प्र०—भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराधक होते हैं ?

उ०—गौतम ! ऐसा नही होता अर्थात् वे आराधक नही होते हैं।

विराहगा अकाम परिकिलेसगा—

३१७. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—

१. अंडुबद्धगा,
२. णिअलबद्धगा,
३. हडिबद्धगा,
४. चारगबद्धगा,
५. हत्थछिण्णगा,

विराधक अकाम कष्ट भोगने वाले—

३१७. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश मे मनुष्य होते हैं, यथा—

(१) जिनके किसी अपराध के कारण काठ या लोहे के बन्धन से हाथ पैर बांध दिये जाते हैं,

(२) जो बेडियो से जकड़ दिये जाते हैं,

(३) जिनके पैर काठ के खोड़े मे डाल दिये जाते हैं,

(४) जो कारागार मे बन्द कर दिये जाते हैं,

(५) जिनके हाथ काट दिये जाते हैं,

६. पायछिण्णगा, (६) जिनके पैर काट दिये जाते हैं,

७. कण्णछिण्णगा, (७) जिनके कान काट दिये जाते हैं,

८. नक्कछिण्णगा, (८) जिनके नाक काट दिये जाते है,

९ ओट्ठछिण्णगा, (९) जिनके होठ छेद दिये जाते है,

१० जिब्भछिण्णगा, (१०) जिह्वाएँ काट दी जाती हैं,

११. सीसछिण्णगा, (११) मस्तक छेद दिये जाते हैं,

१२. मुखछिण्णगा, (१२) मुह छेद दिये जाते हैं,

१३. मज्झछिण्णगा, (१३) मध्य भाग (पेट) छेद दिये जाते हैं,

१४ वेकच्छछिण्णगा, (१४) बायें कन्धे से लेकर दाहिनी काँख तक के देह-भाग मस्तक सहित विदीर्ण कर दिये जाते हैं,

१५. हिययउप्पाडियगा, (१५) हृदय चीर दिये जाते हैं,

१६. णयणुप्पाडियगा, (१६) आँखें निकाल ली जाती है,

१७. दसणुप्पाडियगा, (१७) दांत तोड दिये जाते हैं,

१८. वसणुप्पाडियगा, (१८) अडकोष उखाड दिये जाते हैं,

१९. गेवच्छिण्णगा, (१९) गर्दन तोड दी जाती है,

२०. तडुलच्छिण्णगा, (२०) चावलो की तरह जिनके शरीर के टुकडे-टुकडे कर दिये जाते हैं,

२१ कागणिमंसक्खावियगा, (२१) शरीर का कोमल मांस उखाड कर जिन्हें खिलाया जाता है,

२२ ओलंबियगा, (२२) जो रस्सी से बांधकर कुए खड्डे आदि मे लटका दिये जाते हैं,

२३. लंबियगा, (२३) वृक्ष की शाखा मे हाथ बांध कर लटका दिये जाते हैं,

२४. घसियगा, (२४) चन्दन की तरह पत्थर आदि पर घिस दिये जाते हैं,

२५. घोलियगा, (२५) पात्र-स्थित दही की तरह जो मथ दिये जाते हैं,

२६. फालियगा, (२६) काठ की तरह कुल्हाडे से फाड दिये जाते हैं,

२७. पीलियगा, (२७) जो गन्ने की तरह कोल्हू मे पेल दिये जाते हैं,

२८. सूलाइयगा, (२८) जो सूली मे पिरो दिये जाते हैं,

२९. सूलभिण्णगा, (२९) जिनके देह से लेकर मस्तक में से सूली निकाल दी जाती है,

३०. खारवत्तिया, (३०) जो खार के बर्तन में डाल दिये जाते हैं,

३१. वज्झवत्तिया, (३१) जो गीले चमडे से बांध दिये जाते हैं,

३२ सीहपुच्छियगा,[1] (३२) सिंह की पूंछ से बांधे जाते है, अथवा जिनके जननेन्द्रिय काट दिये जाते हैं,

३३. दवग्गिदड्ढगा, (३३) जो दावाग्नि मे जल जाते हैं,

३४. पंकोसण्णगा, (३४) जो कीचड मे डूब जाते है,

३५. पंकेखुत्तगा, (३५) जो कीचड़ मे फस जाते हैं,

३६. वलयमयगा, (३६) जो गला मोडकर मरते हैं,

३७. वसट्टमयगा, (३७) जो आर्तध्यान से पीडित होकर मरते हैं,

३८. णियाणमयगा, (३८) जो निदान करके मरते हैं,

३९. संतोसल्लमयगा, (३९) जो भाले आदि से अपने आपको बेधकर मरते है,

४०. गिरिपडियगा,
४१. तरुपडियगा,
४२. मरुपडियगा,
४३. गिरिपक्खंदोलगा,
४४. तरुपक्खंदोलगा,
४५. मरुपक्खंदोलगा,
४६. जलपवेसिगा,
४७. जलणपवेसिगा,
४८. विसभक्खियगा,
४९. सत्थोवाडियगा,
५०. वेहाणसिया,
५१. गिद्धपिट्ठगा,
५२. कंतारमयगा,
५३. दुब्भिक्खमयगा,

असंकिलिट्ठपरिणामा ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई-जाव-बारसवाससहस्साइं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव. सु. ७०

(४०) जो पर्वत से दृश्यमान स्थान मे गिरकर मरते है,
(४१) जो वृक्ष से गिरकर मरते हैं,
(४२) जो पर्वत से अदृश्य स्थान पर गिरकर मरते हैं,
(४३) जो पर्वत से छलाग लगाकर मरते है,
(४४) जो वृक्ष से छलाग लगाकर मरते हैं,
(४५) जो पर्वत से अदृश्य स्थान पर छलाग लगाकर मरते हैं,
(४६) जो जल मे प्रवेश कर मरते हैं,
(४७) जो अग्नि मे प्रवेश कर मरते हैं,
(४८) जो जहर खाकर मरते हैं,
(४९) जो शस्त्रो से अपने आप को विदीर्ण कर मरते है,
(५०) जो वृक्ष की डाली आदि से लटककर फाँसी लगाकर मरते है,
(५१) जो मरे हुए मनुष्य, हाथी, ऊँट, गधे आदि की देह मे प्रविष्ट होकर गीधो की चोचो से विदारित होकर मरते हैं,
(५२) जो जंगल मे खोकर मरते है,
(५३) जो दुर्भिक्ष मे भूख प्यास आदि से मर जाते है,

यदि उनके परिणाम सक्लिष्ट—अर्थात् आर्त रौद्र ध्यान युक्त न हो तो उस प्रकार से मृत्यु प्राप्त कर वे वानव्यन्तर देवलोको मे से किसी देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ उस लोक के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—उनकी स्थिति बारह हजार वर्ष की होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराहगा भद्दपगइ जणा—

३१८. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—
१. पगइभद्दगा, २. पगइउवसंता,
३ पगइपतणुकोहमाणमायालोहा,
४. मिउमद्दवसंपण्णा,
५. अल्लीणा, ६. विणीया,
७. अम्मापिउसुस्सुसगा,
८ अम्मापिऊण अणइक्कमणिज्जवयणा,
९. अप्पिच्छा,
१०. अप्पारम्भा,
११. अप्पपरिग्गहा,
१२. अप्पेणं आरम्भेणं,
१३. अप्पेणं समारम्भेण,
१४ अप्पेणं आरम्भसमारम्भेण वित्तिं कप्पेमाणा।

विराधक भद्र प्रकृति मनुष्य—

३१८. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश मे मनुष्य होते है, यथा—
(१) प्रकृति भद्र, (२) शान्त,
(३) स्वभावत क्रोध, मान, माया एवं लोभ की उग्रता से रहित,
(४) मृदु मार्दवसम्पन्न,
(५) गुरुजन के आज्ञापालक, (६) विनयशील,
(७) माता-पिता की सेवा करने वाले,
(८) माता-पिता के वचनो का उल्लघन नहीं करने वाले,
(९) बहुत कम इच्छाएँ रखने वाले,
(१०) कम से कम हिंसा करने वाले,
(११) परिग्रह के अल्प परिमाण से परितुष्ट,
(१२) अल्पारम्भ,
(१३) अल्पसमारम्भ और
(१४) अल्प आरम्भ समारम्भ मे आजीविका चलाने वाले।

बहूइं वासाइं आउयं पालेंति, पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई-जाव-चउद्दसवाससहस्साइं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव सु. ७१

बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—इनकी स्थिति चौदह हजार वर्ष की होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराहगाओ इत्थियाओ—

विराधक स्त्रियाँ—

३१९ से जाओ इमाओ गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु इत्थियाओ भवंति, तं जहा—

१ अतो अंतेउरियाओ,
२. गयपइयाओ,
३ मयपइयाओ,
४. बालविहवाओ,
५ छड्डियल्लियाओ,
६ माइरक्खियाओ,
७. पियरक्खियाओ,
८ भायरक्खियाओ,
९. पइरक्खियाओ,
१०. कुलघररक्खियाओ,
११. ससुरकुलरक्खियाओ,
१२. मित्तनाइनियगसंबंधिरक्खियाओ,
१३. परूढणहकेसकक्खरोमाओ,
१४ ववगयधूवपुप्फगंधमल्लालंकाराओ,
१५ अण्हाणसेयजल्लमल्लपंकपरिताविआओ,
१६ ववगयखीर-दहि- णवणीय- सप्पि-तेल्ल-गुल लोण-महु-मज्ज-मंस-परिचत्तकयाहाराओ,
१७. अप्पिच्छाओ,
१८. अप्पारंभाओ,
१९ अप्पपरिग्गहाओ,
२०. अप्पेणं आरम्भेण,
२१. अप्पेण समारम्भेण,
२२. अप्पेणं आरम्भसमारम्भेण वित्ति कप्पेमाणीओ,
२३ अकामबंभचेरवासेणं,
२४. तामेव पइसेज्जं णाइक्कमंति,

३१९. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश में स्त्रियाँ होती हैं, यथा—

(१) जो अन्तःपुर के अन्दर निवास करती हों,
(२) जिनके पति परदेश गये हो,
(३) जिनके पति मर गये हो,
(४) जो बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई हो,
(५) जो पतियों द्वारा परित्यक्त कर दी गई हो,
(६) जिनका पालन-पोषण, संरक्षण माता-पिता द्वारा होता हो,
(७) जो पिता द्वारा रक्षित हो,
(८) जो भाइयों द्वारा रक्षित हो,
(९) जो पति द्वारा रक्षित हो,
(१०) जो पीहर के अभिभावकों द्वारा रक्षित हो,
(११) जो श्वसुर-कुल के अभिभावकों द्वारा रक्षित हों,
(१२) जो पति या पिता आदि के मित्रों, अपने हितैषियों, मामा, नाना आदि सम्बन्धियों, अपने सगोत्रीय देवर, जेठ आदि पारिवारिकजनों द्वारा रक्षित हो,
(१३) विशेष परिष्कार के अभाव में जिनके नख, केश, काख के बाल बढ़ गये हो,
(१४) जो धूप, पुष्प, सुगन्धित पदार्थ, मालाएँ धारण नहीं करती हो,
(१५) जो अस्नान, स्वेद, मल्ल, पंक से पीड़ित रहती हो,
(१६) जो दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड़, नमक, मधु, मद्य और मांस रहित आहार करती हो,
(१७) जिनकी इच्छाएँ बहुत कम हों,
(१८) जो कम हिंसा करने वाली हों,
(१९) जिनके धन, धान्य आदि परिग्रह बहुत कम हो,
(२०) जो अल्प आरम्भ,
(२१) जो अल्प समारम्भ,
(२२) जो अल्प जीव-परितापन द्वारा अपनी जीविका चलाती हो,
(२३) मोक्ष की अभिलाषा या लक्ष्य के बिना जो ब्रह्मचर्य का पालन करती हो,
(२४) जो पति-शय्या का अतिक्रमण नहीं करती हों।

ताओ ण इत्थियाओ एयारूवेणं विहारेण विहरमाणीओ बहूइं वासाइं आउयं पालेंति, पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए-उववत्तारीओ भवंति, तहिं तेसिं गई-जाव-चउसट्ठिं वाससहस्साइ ठिई -जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव. सु. ७२

इस प्रकार के आचरण द्वारा जीवनयापन करती हुई बहुत वर्षों का आयुष्य पूरा कर, मृत्यु काल आने पर देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोको मे से किसी देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न होती हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है —यावत्—उनकी स्थिति चौंसठ हजार वर्ष की होती है-यावत्- वे परलोक की विराधक होती है।

विराहगा बाल तवस्सी—

३२० से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—

१. दगविइया,

२. दगतइया,

३. दगसत्तमा,

४. दगएक्कारसमा,

५. गोयम,

६. गोव्वइय,

७. गिहिधम्म,

८. धम्मचिंतग,

९. अविरुद्ध,

१०. विरुद्ध,

११. वुड्ढ—

१२. सावगप्पभितयो, तेसि ण मणुयाणं णो कप्पति इमाओ नवरसविगइओ आहारेत्तए, त जहा—

१. खीरं, २. दहिं, ३ णवणीय, ४. सप्पि, ५ तेल्लं ६. फाणियं, ७. महुं, ८. मज्ज, ९ मंसं, णो अण्णत्य एक्काए सरिसवविगइए। ते ण मणुया अप्पिच्छा-जाव-चउरासीइ वाससहस्साइ ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा।
—उव. सु ७३

विराधक बाल तपस्वी—

३२०. जो ये ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश मे मनुष्य होते यथा—

(१) उदक द्वितीय—एक खाद्य पदार्थ तथा दूसरा जल सेवन करने वाले,

(२) उदक तृतीय—दो खाद्य पदार्थ तथा तीसरे जल का सेवन करने वाले,

(३) उदक सप्तम—छह खाद्य पदार्थ तथा सातवें जल का सेवन करने वाले,

(४) उदकैकादश—भात आदि दस पदार्थ तथा ग्यारहवें जल का सेवन करने वाले,

(५) गौतम—प्रशिक्षित बैल द्वारा मनोरजक प्रदर्शन प्रस्तुत कर भिक्षा मांगने वाले,

(६) गोव्रतिक—गो-सेवा का विशेष व्रत स्वीकार करने वाले,

(७) अतिथि सेवा दान आदि गृहस्थ-धर्म को ही कल्याण-कारी मानने वाले,

(८) धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र के पाठक,

(९) अविरुद्ध—वैनयिक-भक्ति मार्गी,

(१०) विरुद्ध—अक्रियावादी-क्रिया-विरोधी,

(११) वृद्ध तापस,

(१२) श्रावक—धर्मशास्त्र के श्रोता, ब्राह्मण आदि,

जो (१) दूध, (२) दही, (३) मक्खन, (४) घृत, (५) तेल, (६) गुड, (७) मधु, (८) मद्य तथा (९) मास को अपने लिए अकल्प्य-अग्राह्य मानते हैं, सरसो के तेल के सिवाय इनमे से किसी का सेवन नही करते, जिनकी आकाक्षाएँ बहुत कम होती हैं, ऐसे मनुष्यो की—यावत्—८४ हजार वर्ष की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराहगा वाणपत्था —

३२१. से जे इमे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवंति, तं जहा—

१. होत्तिया,

२. पोत्तिया,

विराधक वानप्रस्थ—

३२१. जो ये गंगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापस होते हैं, यथा—

(१) अग्नि मे हवन करने वाले,

(२) वस्त्र धारण करने वाले,

३ पोतिया,	(३) पृथ्वी पर सोने वाले,
४ जण्णई,	(४) यज्ञ करने वाले,
५ सड्ढई,	(५) श्राद्ध करने वाले,
६. थालई,	(६) पात्र धारण करने वाले,
७. हुंबउट्ठा,	(७) कुण्डी धारण करने वाले,
८. दंतुक्खलिया,	(८) फल-भोजन करने वाले,
९ उम्मज्जगा,	(९) पानी में एक बार डुबकी लगाकर नहाने वाले,
१० सम्मज्जगा,	(१०) बार-बार डुबकी लगाकर नहाने वाले,
११ निमज्जगा,	(११) पानी में कुछ देर तक डूबे रहकर स्नान करने वाले,
१२ संपक्खाला,	(१२) मिट्टी आदि के द्वारा देह को रगडकर स्नान करने वाले,
१३ दक्खिणकूलगा,	(१३) गंगा के दक्षिणी तट पर रहने वाले,
१४. उत्तरकूलगा,	(१४) गंगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले,
१५. संखधमगा,	(१५) तट पर शंख बजाकर भोजन करने वाले,
१६. कूलधमगा,	(१६) तट पर खडे होकर, शब्द कर भोजन करने वाले,
१७ मिगलुद्धगा,	(१७) व्याधों की तरह हिरणों का मांस खाकर जीवन चलाने वाले,
१८ हत्थितावसा,	(१८) हाथी का वध कर उसका मांस खाकर बहुत काल व्यतीत करने वाले,
१९ उद्दंडगा,	(१९) दण्ड को ऊँचा किये घूमने वाले,
२० दिसापोक्खिणो,	(२०) दिशाओं में जल छिडककर फलफूल इकट्ठे करने वाले,
२१ वाकवासिणो,	(२१) वृक्ष की छाल को वस्त्रों की तरह धारण करने वाले,
२२ बिलवासिणो,	(२२) गुफाओं में निवास करने वाले,
२३ वेलवासिणो,	(२३) समुद्र तट के समीप निवास करने वाले,
२४ जलवासिणो,	(२४) पानी में निवास करने वाले,
२५ रुक्खमूलिया,	(२५) वृक्ष के नीचे निवास करने वाले,
२६ अंबुभक्खिणो,	(२६) जल का आहार करने वाले,
२७. वाउभक्खिणो,	(२७) हवा का ही आहार करने वाले,
२८. सेवालभक्खिणो,	(२८) काई का आहार करने वाले,
२९. मूलाहारा,	(२९) मूल का आहार करने वाले,
३०. कंदाहारा,	(३०) कन्द का आहार करने वाले,
३१ तयाहारा,	(३१) वृक्ष की छाल का आहार करने वाले,
३२ पत्ताहारा,	(३२) वृक्ष के पत्तों का आहार करने वाले,
३३ पुप्फाहारा,	(३३) फूलों का आहार करने वाले,
३४ फलाहारा,	(३४) फलों का आहार करने वाले,
३५. बीयाहारा,	(३५) बीजों का आहार करने वाले,
३६ परिसडिय-कंद मूल-तय-पत्त-पुप्फ-फलाहारा,	(३६) अपने आप गिरे हुए कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प तथा फल का आहार करने वाले,

३७. जलाभिसेयकढिणगायभूया,

(३७) जलाभिषेक करने से जिनका शरीर कठिन हो गया है ऐसे,

३८. आयावणाहिं,

(३८) सूर्य की आतापना से शरीर को तपाने वाले,

३९. पंचग्गितावेहिं,

(३९) पचाग्नि की आतापना से,

४०. इंगालसोल्लियं,

(४०) तपकर कोयले के समान शरीर को बनाने वाले,

४१ कण्डुसोल्लियं,

(४१) भाड मे भुंजे हुए के समान,

४२ कट्ठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहूइं वासाइ परियाग पाउणति, बहूइं वासाइ परियागं पाउणित्ता काल-मासे कालं किच्चा उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति। तहिं तेसिं गई-जाव-पलिओवमं वास-सयसहस्समब्भहिय ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा।

—उव. सु ७४

(४२) काठ के समान शरीर को बनाने वाले, बहुत वर्षो तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन करते हैं और पालन कर मृत्यु-काल आने पर देह त्यागकर वे उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवो मे देव रूप मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—**यावत्**—एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम-प्रमाण की स्थिति होती है—**यावत्**—वे परलोक के विराधक होते है।

विराहगा कंदप्पिया समणा—

विराधक कांदर्पिक श्रमण—

३२२. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—

१. कंदप्पिया,
२ कुक्कुइया,
३. मोहरिया,
४. गीयरइप्पिया,
५ नच्चणसीला।

३२२ जो ये ग्राम, आकर—**यावत्**—सन्निवेश मे प्रव्रजित श्रमण होते हैं, जैसे—

(१) कान्दर्पिक—हसी-मजाक करने वाले,
(२) कोत्कुचिक—भौ, आँख, मुंह, हाथ, पैर आदि से भाडो की तरह कुत्सित चेष्टाएँ कर हँसाने वाले,
(३) मौखरिक—असम्बद्ध या ऊटपटाग बोलने वाले,
(४) गीतरतिप्रिय—गानयुक्त क्रीडा मे विशेष अभिरुचि वाले,
(५) नर्तनशील-नाचने की प्रवृत्ति वाले।

ते णं एएणं विहारेण विहरमाणा बहूइ वासाइं सामण्ण-परियायं पाउणति, बहूइ वासाइ सामण्णपरियाय पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेण सोहम्मे कंदप्पिएसु देवेसु देवत्ताए उवव-त्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई-जाव-पलिओवम वाससय-सहस्समब्भहिय ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा।

—उव सु. ७५

जो अपने-अपने जीवनक्रम के अनुसार आचरण करते हुए बहुत वर्षो तक श्रमण-जीवन का पालन करते हैं, पालन कर अन्त समय मे अपने पाप-स्थानो का आलोचन-प्रतिक्रमण नही करते, गुरु के समक्ष आलोचना कर दोष-निवृत्त नही होते, वे मृत्युकाल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सौधर्म-कल्प मे प्रथम देवलोक मे हास्य-क्रीडा-प्रधान देवो मे उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—**यावत्**—एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम स्थिति होती है—**यावत्**—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराहगा परिव्वायगा—

विराधक परिव्राजक—

३२३. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु परिव्वायगा भवति, तं जहा—

१. संखा,
२. जोगी,
३ काविला,
४ भिउच्चा,
५. हंसा,

३२३ जो ये ग्राम, आकर—**यावत्**—सन्निवेश मे अनेक प्रकार के परिव्राजक होते हैं, जैसे—

(१) सांख्य-पुरुष,
(२) योगी—हठ योग के अनुष्ठाता,
(३) कापिल—महर्षि कपिल को मानने वाले निरीश्वरवादी सांख्य मतानुयायी,
(४) भार्गव—भृगु ऋषि की परम्परा के अनुसर्ता,
(५) हंस,

६. परमहंसा,
७ बहुउदगा,
८. कुलिव्वया,
९ कण्हपरिव्वाया।

(६) परमहंस,
(७) बहूदक,
(८) कुटीचर संज्ञक चार प्रकार के यति एवं,
(९) कृष्ण परिव्राजक आदि।

तत्थ खलु इमे अट्ठ माहणं-परिव्वायगा भवति तं जहा—
१ कण्णे य २ करकंडे य, ३. अवडे य ४ परासरे।
५ कण्हे ६. दीवायणे चेव ७ देवगुत्ते य ८. नारए॥
तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तियपरिव्वायगा भवति, त जहा—
१ सीलई २ ससिहारे य, ३ नग्गई ४. भग्गई ति य।
५. विदेहे ६. रायाराया, ७ राया रामे ८ बलेति य॥

उनमे आठ ब्राह्मण-परिव्राजक होते हैं, जो इस प्रकार हैं—
(१) कर्ण, (२) करकण्ट, (३) अम्बड, (४) पाराशर, (५) कृष्ण, (६) द्वैपायन, (७) देवगुप्त तथा (८) नारद।
उनमे आठ क्षत्रिय परिव्राजक होते हैं, जो इस प्रकार हैं—
(१) शीलधी, (२) शशिधर, (३) नग्नक, (४) भग्नक, (५) विदेह, (६) राजराज, (७) राजराम तथा (८) बल।

ते ण परिव्वायगा रिउव्वेद-यजुव्वेद-सामवेद-अहव्वणवेद इतिहास-पचमाण, निघण्टुछट्ठाणं, संगोवंगाण सरहस्साण चउण्ह वेयाण सारगा पारगा धारगा, सडंगवी, सट्ठितत्तविसारया, संखाणे, सिक्खा, कप्पे, वागरणे, छवे, निरुत्ते, जोइसामयणे, अण्णेसु य बहुसु बंमण्णएसु य सत्थेसु परिव्वायएसु य नएसु सुपरिणिट्ठिया यावि होत्था।

वे परिव्राजक, ऋक्, यजु, साम, अथर्वण—इन चारों वेदों, पाँचवे इतिहास, छठे निघण्टु के अध्येता, वेदो के सांगोपांग रहस्यज्ञाता, चारो वेदो के सम्प्रवर्तक, वेदो के पारगामी-उन्हें स्मृति मे बनाये रखने मे सक्षम तथा वेदो के छहो अंगो के ज्ञाता षष्टितन्त्र मे विशारद, गणित, विद्या, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष शास्त्र तथा अन्य ब्राह्मणो के लिए हितावह शास्त्र अथवा वैदिक विद्वानो के विचारो के सकलनात्मक ग्रन्थ—इन सब मे सुपरिपक्व ज्ञानयुक्त होते हैं।

ते ण परिव्वायगा दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणा, पण्णवेमाणा, परूवेमाणा विहरंति। ज ण अम्ह किं चि असुइ भवइ, त ण उदएण य मट्टियाए य पक्खालियं समाणं सुई भवति। एव खलु अम्हे चोक्खा, चोक्खायारा, सुई, सुइसमायारा भवित्ता अभिसेयजलपूयप्पाणो अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो।

वे परिव्राजक दान-धर्म, शौच-धर्म, तीर्थस्थान का जनसमुदाय मे कथन करते हुए, विशेष रूप से समझाते हुए, युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हुए विचरण करते हैं। उनका कथन है कि हमारे मतानुसार जो कुछ भी अशुचि-अपवित्र प्रतीत हो जाता है, वह मिट्टी लगाकर जल मे धो लेने पर पवित्र हो जाता है। इस प्रकार हम निर्मल देह एव निर्मल आचार युक्त हैं, पवित्र और पवित्राचार युक्त हैं, अभिषेक-स्नान द्वारा जल मे अपने आपको पवित्र कर निर्विघ्नतया स्वर्ग जायेंगे।

तेसि ण परिव्वायगाण णो कप्पइ १. अगडं वा, २ तलाय वा, ३ नइ वा, ४ वावि वा, ५ पोक्खरिणिं वा, ६. दीहियं वा, ७ गुंजालियं वा, ८ सरं वा, ९. सागरं वा, ओगाहित्तए, णण्णत्थ अद्धाणगमणेण।
तेसि ण परिव्वायगाण णो कप्पइ १. सगडं वा, २ रहं वा, ३ जाणं वा, ४ जुग्गं वा, ५. गिल्लि वा, ६. थिल्लि वा, ७ पवहणं वा, ८ सीयं वा, ९ संदमाणियं वा दुरुहित्ता ण गच्छित्तए।

उन परिव्राजको के लिए (१) कुए, (२) तालाब, (३) नदी, (४) बावडी, (५) पुष्करिणी, (६) दीर्घिका, (७) गुंजालिका, (८) तालाब तथा (९) जलाशय मे प्रवेश करना नही कल्पता है। किन्तु मार्ग मे आवे तो इनमे चल सकते हैं।
उन परिव्राजको को (१) गाडी, (२) रथ, (३) यान, (४) युग्म-दो हाथ लम्बे चौडे डोली जैसे यान, (५) गिल्लि—दो आदमियों द्वारा उठाई जाने वाली एक प्रकार की शिबिका, (६) थिल्लि—दो घोडो की बग्घी, (७) शिबिका, (८) पर्देदार पालकी तथा (९) स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालकी पर चढ़कर जाना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाण णो कप्पइ १ आस वा, २. हत्थि वा, ३. उट्टं वा ४. गोण वा, ५ महिसं वा, ६ खरं वा, दुरुहित्ता ण गमित्तए, णण्णत्थ बलाभिओगेण।

उन परिव्राजको को (१) घोडे, (२) हाथी, (३) ऊँट, (४) बैल, (५) भैंसे तथा (६) गधे पर सवार होकर जाना नही कल्पता है किन्तु जबर्दस्ती कोई बैठा दे तो उनकी प्रतिज्ञा खण्डित नहीं होता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ—
१ नडपेच्छा इ वा,
२. नट्टगप्पेच्छा इ वा,
३. जल्लपेच्छा इ वा,
४ मल्लपेच्छा इ वा,
५. मुट्ठियपेच्छा इ वा,
६ वेलबगपेच्छा इ वा,
७ पवगपेच्छा इ वा,
८. कहगपेच्छा इ वा,
९. लासगपेच्छा इ वा,
१०. आइक्खगपेच्छा इ वा,
११, लंखपेच्छा इ वा,
१२. मखपेच्छा इ वा,
१३ तूणइल्लपेच्छा इ वा,
१४. तुववीणियपेच्छा इ वा,
१५. भुयगपेच्छा इ वा,
१६ मागहपेच्छा इ वा, पेच्छित्तए।

उन परिव्राजको को—
(१) नाटक दिखाने वालो के नाटक,
(२) नाचने वालो के नाच,
(३) रस्सी आदि पर चढकर कलाबाजी दिखाने वालो के खेल,
(४) पहलवानो की कुश्तियाँ,
(५) मुक्केबाजो के प्रदर्शन,
(६) मसखरों की ममखरियाँ,
(७) कथको के कथालाप,
(८) उछलने या नदी आदि के तैरने का प्रदर्शन करने वालो के खेल,
(९) रास गाने वालो के वीर गीत,
(१०) शुभ अशुभ बातें बताने वालो के करिश्मे,
(११) बास पर चढकर खेल दिखाने वालो के खेल,
(१२) चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वालो की करतूतें,
(१३) तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका कमाने वालो के करतब,
(१४) पूंगी बजाने वालो के गीत,
(१५) ताली बजाकर मनोविनोद करने वालो के विनोदपूर्ण उपक्रम तथा,
(१६) स्तुति-गायको के प्रशस्तिमूलक कार्य-कलाप आदि देखना, सुनना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ हरियाण १. लेसणया वा, २. घट्टणया वा, ३ थंभणया वा, ४ लूसणया वा, ५. उप्पाडणया वा करित्तए।

उन परिव्राजको के लिए हरी वनस्पति का (१) स्पर्श करना (२) उन्हे परस्पर घिसना, (३) हाथ आदि द्वारा अवरुद्ध करना, (४) शाखाओ, पत्तो आदि को ऊँचा करना या उन्हे मोडना, (५) उखाडना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ १. इत्थिकहा इ वा, २. भत्तकहा इ वा, ३. देसकहा इ वा, ४ रायकहा इ वा, ५ चोरकहा इ वा, ६. जणवयकहा इ वा, अणत्थदंडं करित्तए।

उन परिव्राजको के लिए (१) स्त्री-कथा, (२) भोजन-कथा, (३) देश-कथा, (४) राज-कथा, (५) चोर-कथा, (६) जनपद-कथा, ये जो निरर्थक हैं, उन्हे करना नही कल्पता हैं।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ १. अयपायाणि वा, २ तउअपायाणि वा, ३ तंबपायाणि वा, ४ जसदपायाणि वा, ५. सीसगपायाणि वा, ६. रुप्पपायाणि वा, ७ सुवण्णपायाणि वा अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि धारित्तए, णण्णत्थ १. अलाउपाएण वा, २. दारुपाएण वा, ३. मट्टियापाएण वा।

उन परिव्राजको के लिए (१) तूंबे, (२) काठ तथा (३) मिट्टी के पात्र के सिवाय, (१) लोहे, (२) रागे, (३) तांबे, (४) जसद, (५) शीशे, (६) चांदी या (७) सोने के पात्र या दूसरे बहुमूल्य धातुओ के पात्र धारण करना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ १ अयबंधणाणि वा, २. तउअबंधणाणि वा, ३ तंबबंधणणि वा, ४. जसद-

उन परिव्राजको के लिए (१) लोहे, (२) रांगे, (३) तांबे, (४) जसद—

वंधणाणि वा, ५ सीसगबंधणाणि वा, ६ रूप्पबंधणाणि वा, ७ सुवण्णबंधणाणि वा अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि धारित्तए।

(५) सीसे, (६) चाँदी, (७) स्वर्ण या दूसरे बहुमूल्य बन्धनों से बँधे हुए पात्र रखना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ णाणाविहवण्णरागरत्ताइं वत्थाइं धारित्तए, णण्णत्थ एगाए धाउरत्ताए।

उन परिव्राजकों को गेरूएँ वस्त्रों के सिवाय तरह-तरह के रंगो से रंगे हुए वस्त्र धारण करना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ १. हार वा, २. अद्धहार वा, ३ एगावलि वा, ४ मुत्तावलिं वा, ५ कणगावलि वा, ६ रयणावलि वा, ७ मुरविं वा, ८ कंठमुरविं वा, ९. पालंब वा, १० तिसरयं वा, ११ कडिसुत्तं वा, १२. दसमुद्दिआणंतगं वा, १३. कडयाणि वा, १४ तुडियाणि वा, १५. अगयाणि वा, १६ केऊराणि वा, १७ कुंडलाणि वा, १८. मउडं वा, १९ चूलामणिं वा पिणद्धित्तए, णण्णत्थ एगेणं तंबिएणं पवित्तएणं।

उन परिव्राजकों को तांबे की अंगूठी के अतिरिक्त (१) हार, (२) अर्धहार, (३) एकावली, (४) मुक्तावली, (५) कनकावली, (६) रत्नावली, (७) मुखी-हार विशेष, (८) कण्ठ का आभरण विशेष, (९) लम्बी माला, (१०) तीन लडो का हार, (११) कटिसूत्र, (१२) दशमुद्रिकाएँ, (१३) कडे, (१३) त्रुटित, (१५) अंगद, (१६) बाजूबन्द, (१७) कुण्डल, (१८) मुकुट तथा (१९) चूडामणि धारण करना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ १ गंथिम, २ वेढिम, ३. पुरिम, ४. संघाइमे चउव्विहे मल्ले धारित्तए, णण्णत्थ एगेणं कण्णपूरेणं।

उन परिव्राजकों को फूलों से बने केवल एक कर्णपूर के सिवाय (१) गूंथकर बनाई गई मालाएँ, (२) लपेट कर बनाई गई मालाएँ, (३) फूलों को परस्पर संयुक्त कर बनाई गई मालाएँ या (४) सहित कर परस्पर एक दूसरे मे उलझा कर बनाई गई मालाएँ—ये चार प्रकार की मालाएँ धारण करना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं णो कप्पइ १ अगलुएण वा, २ चंदणेण वा, ३. कुंकुमेण वा गायं अणुलिंपित्तए, णण्णत्थ एक्काए गंगामट्टियाए।

उन परिव्राजकों को केवल गंगा की मिट्टी के अतिरिक्त (१) अगर, (२) चन्दन, (३) कुंकुम या (४) केसर से शरीर को लिप्त करना नही कल्पता है।

तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए पत्थए जलस्स पडिग्गाहित्तए, १ से वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे २. से वि य थिमिओदए, णो चेव णं कद्दमोदए, ३ से वि य बहुप्पसण्णे, णो चेव णं अबहुप्पसण्णे, ४ से वि य परिपूए, णो चेव णं अपरिपूए, ५. से वि य णं दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे, ६ से वि य पिवित्तए, णो चेव णं हत्थ-पाय-चरु-चमस-पक्खालणट्ठाए सिणाइत्तए वा।

उन परिव्राजकों के लिए मगध देश के तोल के अनुसार एक प्रस्थ जल लेना कल्पता है। (१) वह भी बहता हुआ हो, किन्तु तालाब आदि का बन्द जल न हो। (२) वह भी स्वच्छ हो किन्तु कीचडयुक्त न हो, (३) वह भी साफ और निर्मल हो, किन्तु गँदला न हो, (४) वह भी वस्त्र से छाना हुआ हो, किन्तु अनछाना न हो, (५) वह भी दिया गया हो, किन्तु बिना दिया हुआ न हो, (६) वह भी केवल पीने के लिए ग्राह्य है, हाथ पैर, भोजन का पात्र, चम्मच धोने के लिए या स्नान करने के लिए नही।

तेसि णं परिव्वायगाणं कप्पइ मागहए आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए, से वि य वहमाणे, णो चेव णं अवहमाणे-जाव-से वि य णं दिण्णे, णो चेव णं अदिण्णे, से वि य हत्थ-पाय-चरु-चमस-पक्खालणट्ठयाए णो चेव णं पिबित्तए, सिणाइत्तए वा।

उन परिव्राजकों के लिए मागध तोल के अनुसार एक आढक जल लेना कल्पता है। वह भी बहता हुआ हो, एक जगह बँधा हुआ न हो—यावत्—वह भी दिया गया हो—बिना दिया हुआ न हो तो उससे केवल हाथ, पैर, चरु, चमस या चम्मच धोना कल्पता है, किन्तु पीने के लिए या स्नान करने के लिए नहीं कल्पता है।

ते णं परिव्वायगा एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं परियायं पाउणंति, बहूइं वासाइं परियायं पाउणित्ता

वे परिव्राजक इस प्रकार की चर्या द्वारा विचरण करते हुए, बहुत वर्षों तक परिव्राजक-धर्म का पालन करते हैं। बहुत वर्षों

कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गई-जाव-दस सागरोवमाइं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव. सु ७६-८१

तक वैसा कर मृत्युकाल आने पर देह त्याग कर उत्कृष्ट ब्रह्मलोक कल्प मे देव रूप मे उत्पन्न होते हैं। वहां अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—दस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराहगा पडिणीया समणा—

३२४. से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—१ आयरिय-पडिणीया, २. उवज्झाय-पडिणीया, ३. कुल-पडिणीया, ४ गण-पडिणीया, ५. आयरिय-उवज्झायाणं अयसकारगा, ६ अवण्णकारगा, ७ अकित्तिकारया,

वहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं, मिच्छत्ताभिणिवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभय च वुग्गाहेमाणा, वुप्पाएमाणा विहरित्ता, वहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति पाउणित्ता,

तस्स ठाणस्स अणालोइय-अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिब्बिसिएसु देवकिब्बिसियत्ताए उववत्तारो भवंति।

तहिं तेसिं गई-जाव-तेरस सागरोवमाइ ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव. सु ११७

विराधक प्रत्यनीक श्रमण—

३२४. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश मे जो ये प्रव्रजित श्रमण होते हैं, जैसे—(१) आचार्य के विरोधी, (२) उपाध्याय के विरोधी, (३) कुल के विरोधी, (४) गण के विरोधी, (५) आचार्य और उपाध्याय का अपयश करने वाले, (६) अवर्णवाद बोलने वाले, (७) अपकीर्ति या निन्दा करने वाले।

वे वहुत से असत्य आरोपणो से तथा मिथ्यात्व के अभिनिवेशो द्वारा अपने को औरो को तथा दोनो को दुराग्रह में डालते हुए, मजवूत करते हुए इस प्रकार विचरण करते हुए वहुत वर्षों तक श्रमण पर्याय का पालन करते हैं और पालन करके—

अपने पाप-स्थानो की आलोचना प्रतिक्रमण नही करते हुए मृत्यु-काल आ जाने पर मरण प्राप्त कर वे उत्कृष्ट लान्तक नामक छठे देवलोक मे किल्विषिक संज्ञक देवो मे देवरूप मे उत्पन्न होते हैं।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—तेरह सागरोपम प्रमाण की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराहगा आजीविया—

३२५ से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु आजीविया भवति,

तं जहा—१ दुघरतरिया, २. तिघरंतरिया, ३. सत्तघरंतरिया, ४ उप्पलवेंटिया, ५ घरसमुदाणिया, ६. विज्जुयंतरिया, ७ उट्टिया समणा,

ते ण एयारूवेणं विहारेण विहरमाणा वहूइं वासाइं सामण्ण परियाय पाउणंति पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

तहिं तेसिं गई-जाव-बावीस सागरोवमाइं ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव सु. १२०

विराधक आजीविक—

३२५. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश मे जो ये आजीविक (गोशालक के अनुयायी) होते हैं—

यथा—(१) दो, (२) तीन या (३) सात घर वीच-वीच मे छोडकर भिक्षा ग्रहण करने वाले, (४) भिक्षा मे कमल डण्ठल ग्रहण करने वाले, (५) प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले, (६) विजली चमकने पर भिक्षा के लिए नही घूमने वाले और (७) मिट्टी की कोठी मे प्रविष्ट होकर तपस्या करने वाले।

इस प्रकार का आचरण करते हुए वे बहुत वर्षो तक आजीविक पर्याय का पालन कर काल मास में काल करके उत्कृष्ट अच्युत कल्प मे देवरूप में उत्पन्न होते हैं।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—वाईस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते हैं।

विराहगा अत्तुक्कोसिया समणा—

३२६ से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—

विराधक आत्मोत्कर्षक श्रमण—

३२६. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश मे जो ये प्रव्रजित श्रमण होते हैं, यथा—

१ अत्तुक्कोसिया, २. परपरिवाइया, ३. भूइकम्मिया, ४ भुज्जो-भुज्जो कोउयकारगा,

ते ण एयारूवेण विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइ सामण्णपरियाग पाउणंति पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय-अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा उक्कोसेण अच्चुए कप्पे आभिओगिएसु देवेसु, देवत्ताए उववत्तारो भवति।

तहिं तेसिं गई-जाव-बावीस सागरोवमाइ ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव. सु १२१

(१) स्वय के प्रशसक, (२) दूसरो के निंदक, (३) भूमिकर्मिक और (४) बार-बार कौतुक कर्म करने वाले,

इस प्रकार की चर्या से विचरते हुए वे बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते है और पालन करके अपने पाप स्थानो की आलोचना प्रतिक्रमण नही करते हुए मृत्यु काल आने पर देह त्याग कर उत्कृष्ट अच्युत कल्प मे आभियोग वर्ग के देवो मे देव रूप मे उत्पन्न होते है।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—बाईस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते है।

विराहगा णिण्हगा—

३२७ से जे इमे गामागर-जाव-सण्णिवेसेसु णिण्हगा भवति, तं जहा—

१ बहुरया,
२ जीवपएसिया,
३ अव्वत्तिया,
४ सामुच्छेइया,
५. दोकिरिया,
६ तेरासिया,
७ अबद्धिया।

इच्चेते सत्त पवयणणिण्हगा केवलचरियालिंगसामण्णा, मिच्छादिट्ठी बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहिं य अप्पाण च परं च तदुभयं च वुग्गाहेमाणा वुप्पाएमाणा विहरित्ता, बहूइं वासाइं सामण्णपरियाग पाउणति, पाउणित्ता कालमासे काल किच्चा उक्कोसेणं उवरिमेसु गेवेज्जेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति,

तहिं तेसिं गई-जाव-एक्कतीस सागरोवमाइ ठिई-जाव-परलोगस्स विराहगा। —उव सु १२२

विराधक निन्हव—

३२७. ग्राम, आकर—यावत्—सन्निवेश मे जो ये निन्हव होते है, यथा—

(१) अनेक समयो से कार्य की निष्पत्ति मानने वाले,
(२) अन्तिम एक प्रदेश को ही जीव मानने वाले,
(३) सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार को सदिग्ध मानने वाले,
(४) प्रतिक्षण नरकादि अवस्था का विनाश मानने वाले,
(५) एक समय मे दो क्रिया का अनुभव होता है यह मानने वाले,
(६) जीव, अजीव और मिश्र ये तीन राशि मानने वाले,
(७) जीव और कर्म को बद्ध न मानकर मात्र स्पृष्ट मानने वाले।

ये सात प्रवचन निन्हव है वे केवलचर्या और वेश से सयमी होते है किन्तु मिथ्यादृष्टि है।

असत् प्ररूपणाओ और मिथ्या आग्रहो द्वारा अपने को, दूसरो को और दोनो को भ्रमित करते है, पथभ्रष्ट करते है और इस प्रकार का आचरण करते हुए बहुत वर्षो तक श्रमण पर्याय का पालन करते है तत्पश्चात् कालमास मे काल करके उत्कृष्ट उपरितन ग्रैवेयक विमानो मे देवरूप से उत्पन्न होते है।

वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है—यावत्—इकतीस सागरोपम की स्थिति होती है—यावत्—वे परलोक के विराधक होते है।

---

१ प्रस्तुत आराधक-विराधक सम्बन्धी वर्णन मे तीन आराधक है एव तेरह विराधक है—

१ संज्ञी निर्ग्रन्थ पंचेन्द्रिय, २ अल्पारंभी-अल्प परिग्रही।
३. अनारंभी-अपरिग्रही।

१. [illegible] ग्रामी, २. अकाम निर्जरा करने वाले,
३ [illegible] आदि ४. प्रकृतिभद्र,
५ स्त्रियाँ, ६. बाल तपस्वी,
७ वानप्रस्थ, ८. कान्दर्पिक श्रमणादि,

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

कंदप्पियाइ विराहगा समणा—

३२८. कन्दप्पकोवकुइयाइं तह सील-सहाव-हास-विकहाहिं ।
विम्हावेन्तो य परं, कन्दप्पं भावणं कुणइ ॥

मन्ताजोगं काउ भूईकम्म च जे पउंजन्ति ।
सायरसइड्ढिहेउं अभिओगं भावण कुणइ ॥
नाणस्स केवलीण धम्मायरियस्स सघसाहूणं ।
माई अवण्णवाई किव्विसिय भावण कुणइ ॥

कादर्पिक आदि विराधक श्रमण—

३२८. जो काम-कथा करता रहता है, दूसरो को हँसाने की चेष्टा करता रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओ के द्वारा दूसरो को विस्मित करता रहता है, वह कादर्पी भावना का आचरण करता है ।

जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मन्त्र, योग और भूतिकर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है ।

जो ज्ञान, केवली-ज्ञानी धर्माचार्य, सघ तथा साधुओ की निन्दा करता है वह मायावी पुरुष किल्विषिकी भावना का आचरण करता है ।

(टिप्पण पृष्ठ १५२ से चालू)

९. परिव्राजक,
१०. प्रत्यनीक श्रमण,
११ आत्मप्रशसक श्रमणादि,
१२. आजीविक,
१३. निन्हव,

ये तीन आराधक और तेरह विराधक इस प्रकार कुल सोलह श्रेणियो मे विभाजित आत्माओ की मरने पर क्या क्या गति होती है ? इसका उल्लेख प्रस्तुत प्रकरण मे उववाई सूत्र से लिया गया है । वि श. १, उ. २ मे भी वह वर्णन है किन्तु इस विभाग निर्दिष्ट वर्णन मे और व्याख्याप्रज्ञप्ति के वर्णन मे कुछ अन्तर है उसकी जानकारी के लिए तालिका दी जाती है ।

उववाई सूत्र में	व्याख्याप्रज्ञप्ति में
१. संज्ञी तिर्यंच पचेन्द्रिय	११. तिर्यंच,
२. अल्पारंभी अल्पपरिग्रही श्रमणोपासक	४ अविराधित संयमासयमी,
३ अनारम्भी अपरिग्रही श्रमण	२ अविराधित संयमी,
४ एकान्त बाल नरकगामी	× ×
५ अकाम निर्जरा करने वाले	× ×
६ बन्दी आदि	× ×
७ प्रकृति भद्र	× ×
८. कुछ स्त्रियाँ	× ×
९. बाल तपस्वी ,	× ×
१० वानप्रस्थ,	७ तापस
११. कान्दर्पिक श्रमण आदि,	८. कान्दर्पिक श्रमण,
१२. सांख्य आदि परिव्राजक	९. चरक परिव्राजक,
१३ प्रत्यनीक श्रमण	१०. किल्विषिक,
१४ आत्मप्रशसकादि	१२. आभियोगिक,
१५ आजीविक	१३. आजीविक
१६ निन्हव	१४. दर्शन भ्रष्ट वेष धारक
१७ × ×	१. असयत भव्य द्रव्य देव
१८. × ×	३. विराधित सयमी
१९. × ×	५ विराधित सयमा संयमी
२०. × ×	६. असज्ञी

दोनो सूत्रो मे मिलाकर बीस पृच्छा होती हैं । भगवती सूत्र में छ कम होने से चौदह हैं और "उववाई सूत्र" मे चार कम होने से सोलह हैं । दस पृच्छा दोनो सूत्र मे समान हैं । प्रज्ञापना सूत्र पद २० सूत्र १४७० मे भगवती सूत्र के समान ही चौदह पृच्छा हैं ।

अणुवद्धरोसपसरो तह व निमित्तंमि होइ पडिसेवी ।
एएहिं कारणेहिं आसुरियं भावण कुणइ ॥

सत्थग्गहणं विसभक्खण च, जलण च जलप्पवेसो य ।
अणायारभण्डसेवी जम्मणमरणाणि बधति ॥

—उत्त अ ३६, गा २६३-२६७

जो क्रोध को निरन्तर बढावा देता रहता है और निमित्त कहता है वह अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है ।

जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण के द्वारा, अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी मे कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता हुआ मोही भावना का आचरण करता है ।

विराहगाणं सजमस्स अपद्ध सो—

३२९ चउव्विहे अवद्धसे पण्णत्ते, त जहा—

१ आसुरे, २ आभिओगे,
३ संमोहे, ४ देवकिव्विसे ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आसुरत्ताए कम्मं पगरेंति, त जहा—

१ कोवसीलताए,
२ पाहुडसीलताए,
३ ससत्ततवोकम्मेण,
४ णिमित्ताजीवियाए ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा आभिओगत्ताए कम्म पगरेंति, तं जहा—

१ अत्तुक्कोसेण,
२. परपरिवाएण,
३ भूतिकम्मेण,
४ कोउयकरणेण ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा सम्मोहत्ताए कम्म पगरेंति, त जहा—

१ उम्मग्गदेसणाए,
२ मग्गंतराएणं,
३ कामासंसपओगेण,
४ भिज्जाणियाण करणेण ।

चउहिं ठाणेहिं जीवा देवकिव्विसियत्ताए कम्म पगरेंति, तं जहा—

१ अरहताणं अवण्णं वदमाणे,
२. अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्ण वदमाणे,
३ आयरियउवज्झायाणमवण्ण वदमाणे,
४ चाउवण्णस्स संघस्स अवण्ण वदमाणे ।

—ठाण अ ४, उ ४, सु ३५४

विराधको के सयम का विनाश—

३२९ साधना का विनाश चार प्रकार का है—

(१) आसुर-अपध्वंस, (२) अभियोग-अपध्वस,
(३) सम्मोह अपध्वस, (४) देवकिल्विष-अपध्वस ।

चार स्थानो से जीव आसुरत्व-कर्म का अर्जन करता है—

(१) कोपशीलता से,
(२) प्राभृत शीलता अर्थात् कलह स्वभाव से,
(३) ससक्त तप -कर्म—आहार उपधि की प्राप्ति के लिए तप करने से,
(४) निमित्त-जीविता—निमित्त आदि बताकर आहार आदि प्राप्त करने से ।

चार स्थानो से जीव आभियोगित्व-कर्म का अर्जन करता है—

(१) आत्मोत्कर्ष—आत्म-गुणो का अभिमान करने से,
(२) पर-परिवाद—दूसरो का अवर्णवाद बोलने से,
(३) भूतिकर्म—भस्म, लेप आदि के द्वारा चिकित्सा करने से,
(४) कौतुककरण—मन्त्रित जल से स्नान कराने से ।

चार स्थानो से जीव सम्मोहत्व-कर्म का अर्जन करता है—

(१) उन्मार्ग देशना—मिथ्या धर्म का प्ररूपण करने से,
(२) मार्गान्तराय—मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्त व्यक्ति के लिए विघ्न उत्पन्न करने से,
(३) कामाशसाप्रयोग शब्दादि विषयो मे अभिलाषा करने से,
(४) मिथ्यानिदानकरण—गृद्धि-पूर्वक निदान करने से ।

चार स्थानो से जीव देव-किल्विषिकत्व कर्म का अर्जन करता है—

(१) अर्हन्तो का अवर्णवाद बोलने से,
(२) अर्हन्त प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद बोलने से,
(३) आचार्य तथा उपाध्याय का अवर्णवाद बोलने से,
(४) चतुर्विध संघ का अवर्णवाद बोलने से ।



निदान-अनिदान से आराधना-विराधना—४

(१) णिग्गंथस्स माणुस्सग-भोगट्ठा णिदाण करणं—

३३०. एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, पडिपुण्णे, केवले, संसुद्धे, णेआउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निज्जाणमग्गे, निव्वाण-मग्गे, अवितहमविसंदिद्धे, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे ।

इत्थं ठिया जीवा, सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वा-यंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ।

जस्स णं धम्मस्स निग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे, पुरा दिगिंच्छाए, पुरा पिवासाए, पुरा सीताऽऽतवेहिं पुरा पुट्ठे हिं विरूवरूवेहिं परीसहोवसग्गेहिं उदिण्णकामजाए यावि विहरेज्जा से य परक्कमेज्जा, से य परक्कमाणे पासेज्जा जे इमे उग्गपुत्ता महा-माउया भोगपुत्ता महा-माउया ।

तेसिं णं अण्णयरस्स अतिजायमाणस्स वा निज्जायमाणस्स वा पुरओ मह दास-दासी-किंकर-कम्मकर-पुरिसा, छत्त भिंगार गहाय निग्गच्छंति ।

तयाणंतरं च णं पुरओ महाआसा आसवरा, उभओ तेसिं नागा नागवरा पिट्ठओ रहा रहवरा रहसंगेल्लि पुरिस पदाति परिक्खित्त ।

से य उद्धरिय-सेय-छत्ते, अब्भुग्गये भिंगारे, पग्गहिय तालि-यंटे, पवीयमाण-सेय-चामर-वालवीयणीए ।

अभिक्खणं अभिक्खणं अतिजाइ य निज्जाइ य सप्पभा ।

स पुव्वावर च णं ण्हाए-जाव-[1] सव्वालंकारविभूसिए, महति महालियाए कूडागारसालाए, महति महालयंसि सयणिज्जंसि दुहओ उण्णतेमज्झे णतगंभीरे वण्णओ सव्व रातिणिएणं जोइणा झियायमाणेण, इत्थि-गुम्म-परिवुडे महयाहत-नट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय घण मुइंग-मुद्दगल-पडुप्प-वाइय-रवेण उरालाइं माणुसगाइं कामभोगाइं भुंजमाणे विहरति ।

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति —

(१) निर्ग्रन्थ का मनुष्य सम्बन्धी भोगों के लिए निदान करना—

३३०. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है। यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, श्रेष्ठ है, प्रतिपूर्ण है, अद्वितीय है, शुद्ध है, न्यायसगत है, शल्यो का सहार करने वाला है, सिद्धि, मुक्ति, निर्याण एवं निर्वाण का यही मार्ग है, यही यथार्थ है, सदा शाश्वत है और सब दु खो से मुक्त होने का यही मार्ग है ।

इस सर्वज्ञ प्रज्ञप्त धर्म के आराधक सिद्ध बुद्ध मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं और सब दु.खो का अन्त करते हैं ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधन करते हुए निर्ग्रन्थ के भूख-प्यास सर्दी गर्मी आदि अनेक परीषह उपसर्गों से पीडित होने पर काम वासना का प्रबल उदय हो जाए और साथ ही सयम साधना मे पराक्रम करते हुए वह विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवशीय या भोगवशीय राजकुमार को देखे ।

उनमे से किसी के घर मे प्रवेश करते या निकलते समय छत्र, झारी आदि ग्रहण किये हुए अनेक दास दासी किंकर और कर्मकर पुरुष आगे-आगे चलते हैं ।

उसके बाद राजकुमार के आगे उत्तम अश्व, दोनो ओर गजराज और पीछे-पीछे श्रेष्ठ सुसज्जित रथ चलते हैं और वह अनेक पैदल चलने वाले पुरुषो से घिरे हुए रहता है ।

जो कि श्वेत छत्र ऊँचा उठाये हुए, झारी लिये हुए, ताड-पत्र का पखा लिए, श्वेत चामर डुलाते हुए चलते हैं । इस प्रकार के वैभव से वह बारम्बार गमनागमन करता है ।

वह राजकुमार यथासमय स्नान कर—यावत्—सब अल-कारो से विभूषित होकर विशाल कूटागारशाला (राजाप्रासाद) मे दोनो किनारो से उन्नत और मध्य मे अवनत एव गम्भीर (इत्यादि वर्णन जानना) ऐसे सर्वोच्च शयनीय मे सारी रात दीप ज्योति जगमगाते हुए वनितावृन्द से घिरा हुआ कुशल नर्तको का नृत्य देखता है, गायको का गीत सुनता है और वाद्ययन्त्र, तन्त्री, तल-ताल त्रुटित, घन, मृदग मादल आदि महान् शब्द करने वाले वाद्यो की मधुर ध्वनियां सुनता है—इस प्रकार वह उत्तम मानुषिक कामभोगो को भोगता हुआ रहता है ।

उसके द्वारा किसी एक को बुलाये जाने पर चार-पांच बिना बुलाये ही उपस्थित हो जाते हैं और वे पूछते हैं कि—

---

१ ज्ञाता अ १, सु ४७, पृ. १० (अंगसुत्ताणि)

"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं उवणेमो ? किं आहरेमो ? किं आचिट्ठामो ? किं मे हिय-इच्छिय ? कि ते आसगस्स सदति ?"

ज पासित्ता णिग्गथे णिदाण करेइ—

"जइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम-बंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्ति-विसेसे अत्थि, त अहमवि आगमिस्साए इमाइ एयारूवाइ उरालाइ माणुस्सगाइ काम-भोगाइ भुजमाणे विहरामि-से तं साहू ।"

एव खलु समणाउसो ! निग्गथे णिदाण किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय—अप्पडिक्कते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति-महड्ढिएसु महज्जुएसु महब्बलेसु महायसेसु महासुक्खेसु महाणुभागेसु दूरगईसु चिरट्ठितिएसु ।

से ण तत्थ देवे भवइ महड्ढिए-जाव-[1] दिव्वाइ भोगाइ भुजमाणे विहरइ -जाव-[2] से ण तओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएण, अणतरं चय चइत्ता से जे इमे भवति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महा-माउया, तेसिं णं अन्नयरसि कुलसि पुत्तत्ताए पच्चायाति ।

से ण तत्थ दारए भवइ, सुकुमाल-पाणि-पाए, अहीण पडिपुण्ण पचिंदिय सरीरे, लक्खण-वजण-गुणोववेए, ससिसोमागारे, कंते पिय, दसणे, सुरूवे ।

तए णं से दारए उम्मुक्क-बाल-भावे, विण्णाणपरिणयमित्ते, जोवणगमणुप्पत्ते सयमेव पेइयं दाय पडिवज्जति ।

तस्स ण अतिजायमाणस्स वा णिज्जायमाणस्स वा, पुरओ मह दासी-दास किंकर-कम्मकर पुरिसा छत्त भिगार गहाय निग्गच्छति-जाव-[3] तस्स ण एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-चत्तारि पच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो-जाव-[4] किं ते आसगस्स सदति ?"

प०—तस्स ण तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ काल केवलिपण्णत्त धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा ।

"हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? क्या लावें ? क्या अर्पण करें और क्या आचरण करें ? आपकी हार्दिक अभिलाषा क्या है ? आपके मुख को कौन से पदार्थ स्वादिष्ट लगते हैं ?"

उसे देखकर निर्ग्रन्थ निदान करता है कि—

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार के उत्तम मनुष्य सम्बन्धी काम भोगो को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मान् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उस निदान सम्बन्धी सकल्पो की आलोचना एव प्रतिक्रमण किये बिना जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह छोडकर महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महाबल वाले, महायश वाले, महासुख वाले, महाप्रभा वाले, दूर जाने की शक्ति वाले, लम्बी स्थिति वाले किसी देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न होता है ।

वह वहाँ महर्धिक देव होता है—यावत्—देव सम्बन्धी भोगो को भोगता हुआ विचरता है—यावत्—वह आयु भव और स्थिति के क्षय होने से उस देवलोक से च्यव कर शुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्र कुल या भोग कुल में से किसी एक कुल मे पुत्र रूप मे उत्पन्न होता है ।

वहाँ वह बालक सुकुमार हाथ-पैर वाला, शरीर तथा पाँचो इन्द्रियो से प्रतिपूर्ण, शुभ लक्षण-व्यजन-गुणो से युक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य, कात प्रिय दर्शन वाला और सुन्दर रूप वाला होता है ।

बाल्यकाल बीतने पर तथा विज्ञान की वृद्धि होने पर वह बालक यौवन को प्राप्त होता है । उस समय वह स्वय पैतृक सम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है ।

उसके कहीं जाते समय या आते समय आगे छत्र, झारी आदि लेकर अनेक दासी-दास-नौकर चाकर चलते हैं—यावत्—एक को बुलाने पर उसके सामने चार पाँच बिना बुलाये ही आकर खडे हो जाते हैं और पूछते है कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें—यावत्—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते है ?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्तरूप श्रमण-माहण उभयकाल केवलि-प्ररूपित धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ, कहते हैं ।

---

१ ठाण अ ८, सु १० ।

२ ठाणं. अ ८, सु १० .

३ इसी निदान मे ।

४ इसी निदान मे ।

प०—से ण पडिसुणेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे । अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणयाए ।

से य भवइ महिच्छे[1] -जाव-दाहिणगामी नेरइए कण्ह-पक्खिए, आगमिस्साए दुल्लहबोहिए यावि भवइ ।

तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फल-विवागे-जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए । —दसा द १०, सु २२-२५

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—यह सम्भव नही है, क्योकि वह उस धर्म श्रवण के योग्य नही है ।

वह महा इच्छाओ वाला—यावत्—दक्षिण दिशावर्ती नरक मे कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप मे उत्पन्न होता है तथा भविष्य मे उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नही कर सकता है ।

(२) णिग्गंथीए माणुस्सग भोगट्ठा णिदाण करण—

३३१ एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे-जाव[2] सव्वदुक्खाण अतं करेंति ।

जस्स ण धम्मस्स निग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी -जाव-[3] पासेज्जा से जा इमा इत्थिया भवइ-एगा, एगजाया, एगाभरण-पिहाणा, तेल्ल-पेला इव सुसंगोपिता, चेल-पेला इव सुसंपरिगहिया, रयणकरंडकसमाणी ।

तीसे णं अतिजायमाणीए वा, निज्जायमाणीए वा पुरओ महं दासी-दास किंकर-कम्मकर-पुरिसा, छत्तं भिगारं गहाय निग्गच्छंति-जाव-[4] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-चत्तारि पच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति, "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो-जाव-[5] किं ते आसगस्स सदति ?"

ज पासित्ता निग्गंथी णिदाण करेति—

"जइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम-बंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि, तं अहमवि आगमिस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणी विहरामि से तं साहु ।"

एवं खलु समणाउसो ! निग्गंथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारा भवइ-जाव-[6] दिव्वाइं भोगाइं भुंजमाणी विहरति-जाव[7]- सा णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया-भोगपुत्ता महामाउया एतेसिं णं अण्णयरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाति ।

(२) निर्ग्रन्थी का मनुष्य सम्बन्धी भोगो के लिए निदान करना—

३३१. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है । यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—यावत्—सब दुःखो का अन्त करते है ।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर आराधना करती हुई निर्ग्रन्थी—यावत्—एक ऐसी स्त्री को देखती है जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है । वह एक सरीखे (स्वर्ण के या रत्नो के) आभरण एव वस्त्र-पहने हुई है तथा तेल की कुप्पी, वस्त्रो की पेटी एव रत्नो के करडिये के समान संरक्षणीय है और सग्रहणीय है ।

प्रासाद मे आते-जाते हुए उसके आगे छत्र, झारी लेकर अनेक दासी-दास नौकर चाकर चलते हैं—यावत्—एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पाँच विना बुलाये ही आकर खडे हो जाते है और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ?—यावत्—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि—

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एव ब्रह्मचर्य पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार के उत्तम मनुष्य सम्बन्धी काम भोगो को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

हे आयुष्मान् श्रमणो ! वह निर्ग्रन्थी निदान करके उस निदान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण किये विना जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह त्याग कर किसी एक देवलोक मे देवरूप मे उत्पन्न होती है—यावत्—दिव्य भोग-भोगती हुई रहती है —यावत्—आयु भव और स्थिति का क्षय होने पर वह उस देवलोक से च्यवकर विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवंशी या भोगवंशी कुल मे किसी एक कुल मे बालिका रूप मे उत्पन्न होती है ।

---

१ सूय. श्रु २, अ. २, सू. ५८-६१ (अंगसुत्ताणि)

२-७ प्रथम निदान में देखें ।

सा ण तत्थ दारिया भवइ सुकुमाला-जाव-[1] सुरूवा ।

तए ण तं दारियं अम्मा-पियरो उम्मुक्क-बालभाव, विण्णाण-परिणयमित्त, जोव्वणगमणुप्पत्त, पडिरूवेण सुक्केण पडिरूवस्स भत्तारस भारियत्ताए दलयति ।

सा ण तस्स भारिया भवइ एगा, एगजाया, इट्ठा, कता, पिया, मणुण्णा, मणामा, धेज्जा, वेसासिया सम्मया बहुमया, अणुमया, रयण-करंडग-समाणा ।

तीसे ण अतिजायमाणीए वा निज्जायमाणीए वा पुरतो मह दासी-दास-किंकर-कम्मकर पुरिसा छत्त, भिंगारं गहाय निग्गच्छति-जाव-[2] तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो-जाव[3]-किं ते आसगस्स सदति ।"

प०—तीसे ण तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा माहणे वा उभयकाल केवलिपण्णत्तं धम्म आइक्खेज्जा ?

उ०—हता ! आइक्खेज्जा ।

प०—सा ण पडिसुणेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे । अभविया ण सा तस्स धम्मस्स सवणयाए ।

सा य भवति महिच्छा-जाव-[4] दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साए दुल्लभबोहिया यावि भवइ ।

एव खलु समणाउसो ! तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पावए, फल-विवागे-ज णो सचाएति केवलिपण्णत्त धम्म पडिसुणित्तए । —दसा द १०, सु २६-२६

वहाँ वह बालिका सुकुमार—यावत् – सुरूप होती है ।

उसके बाल्य भाव मुक्त होने पर तथा विज्ञान परिणत एव यौवन वय प्राप्त होने पर उसे उसके माता-पिता उस जैसे सुन्दर एव योग्य पति को अनुरूप दहेज के साथ पत्नी रूप मे देते हैं।

वह उस पति की इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, अतीव मनोहर, धैर्य का स्थान, विश्वासपात्र, सम्मत, बहुमत, अनुमत (अतीव मान्य) रत्न करण्ड के समान केवल एक भार्या होती है ।

आते-जाते उसके आगे छत्र झारी लेकर अनेक दासी-दास, नौकर चाकर चलते हैं—यावत्—एक को बुलाने पर उसके सामने चार-पांच बिना बुलाये ही आकर खडे हो जाते है और पूछते हैं कि—"हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ?—यावत्—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते है ?"

प्र०—उस ऋद्धि सम्पन्न स्त्री को तप सयम के मूर्त रूप श्रमण-माहन उभयकाल केवलि प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह (श्रद्धा पूर्वक) सुनती है ?

उ०—यह सम्भव नही है, क्योकि वह उस धर्म श्रवण के लिए अयोग्य है ।

वह उत्कृष्ट अभिलाषाओ वाली—यावत्—दक्षिण दिशावर्ती नरक मे कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप मे उत्पन्न होती है तथा भविष्य मे उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापकारी परिणाम है कि—वह केवलि प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नही कर सकती है ।

३ णिग्गथस्स इत्थित्तट्ठा णिदाणं करण—

(३) निर्ग्रन्थ का स्त्रीत्व के लिए निदान करना—

३३२ एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव निग्गथे पावयणे सच्चे-जाव[5] सव्वदुक्खाण अंत करेंति ।

जस्स णं धम्मस्स सिक्खाए निग्गथे उवट्ठिए विहरमाणे-जाव[6] पासेज्जा—से जा इमा इत्थिया भवति-एगा, एगजाया जाव[7] ज पासित्ता निग्गथे निदाण करेति—

"दुक्खं खलु पुमत्तणए,

जे इमे उग्गपुत्ता महा-माउया, भोगपुत्ता महा-माउया, एतेसिं णं अण्णतरेसु उच्चावएसु महासमर-सगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइ उरसि चेव पडिसवेदेंति । तं दुक्ख खलु पुमत्तणए, इत्थित्तणय साहू ।"

३३२ हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है। यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—यावत्—सब दुखो का अन्त करते हैं ।

कोई निर्ग्रन्थ केवलि प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरते हुए—यावत् —एक स्त्री को देखता है—जो अपने पति की केवल एकमात्र प्राणप्रिया है—यावत्—निर्ग्रन्थ उस स्त्री को देखकर निदान करता है ।

"पुरुष का जीवन दु खमय है,

क्योकि जो ये विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवशी या भोगवशी पुरुष हैं वे किसी छोटे-बडे युद्ध मे जाते हैं और छोटे-बडे शस्त्रो का प्रहार वक्षस्थल में लगने पर वेदना से व्यथित होते है । अत पुरुष का जीवन दुःखमय है और स्त्री का जीवन सुखमय है ।"

१–७ प्रथम निदान मे देखें ।

"जइ इमस्स सुचरिय तव-नियम-बंभचेरवासस्स फलवित्ति-विसेसे अत्थि तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं उरालाइं इत्थिभोगाइं भुंजमाणे विहरामि—से तं साहू।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एवं ब्रह्मचर्य पालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे स्त्री सम्बन्धी इन उत्तम भोगो को भोगता हुआ विचरण करूं, तो यह श्रेष्ठ होगा।"

एव खलु समणाउसो! णिग्गंथे णियाण किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंते-जाव-[1]आगमेस्साए दुल्लहबोहिए यावि भवइ।

हे आयुष्मान् श्रमणो! वह निर्ग्रन्थ निदान करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना—**यावत्**—उसे आगामी काल मे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

एव खलु समणाउसो! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे ज नो संचाएइ केवलिपण्णत्त धम्मं पडिसुणित्तए। —दसा द १०. सु. ३०-३२

हे आयुष्मान् श्रमणो! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि—वह केवलि प्ररूपित धर्म को नही सुन सकता है।

णिग्गंथीए पुमत्तट्ठा णियाण करण—

निर्ग्रन्थी का पुरुषत्व के लिए निदान करना—

३३३. एव खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते इणमेव णिग्गथे पावयणे सच्चे-जाव-[2]सव्वदुक्खाण अतं करेंति।

३३३ हे आयुष्मान् श्रमणो! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है। यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—**यावत्**—सब दुखो का अन्त करते हैं।

जस्स ण धम्मस्स निग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया विहरमाणी -जाव [3]पासेज्जा-जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया-जाव-[4]ज पासित्ता निग्गथी णिदाण करेति।

उस केवलि प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए कोई निर्ग्रन्थी उपस्थित होकर विचरती हुई—**यावत्**—एक पुरुष को देखती है जो कि विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्रवंशी या भोगवशी है —**यावत्**—उसे देखकर निर्ग्रन्थी निदान करती है कि—

'दुक्ख खलु इत्थित्तणए,
दुस्संचराइं गामंतराइ-जाव-[5]सन्निवेसतराइ।

"स्त्री का जीवन दुखमय है"

क्योकि किसी अन्य गाँव को—**यावत्**—अन्य सन्निवेश को अकेली स्त्री नही जा सकती है।

से जहानामए अंब—पेसियाइ वा, मातुलिंगपेसियाइ वा, अबाडग—पेसियाइ वा, उच्छुखंडियाइ वा, संबलि—फलियाइ वा, बहुजणस्स आसायणिज्जा, पत्थणिज्जा, पीहणिज्जा, अभिलसणिज्जा।

जिस प्रकार आम, बिजौरा या आम्रतक की फांकें, इक्षु खण्ड और शाल्मली की फलियाँ अनेक मनुष्यो के आस्वादनीय, प्राप्तकरणीय, इच्छनीय और अभिलषनीय होती है।

एवामेव इत्थिया वि बहुजणस्स आसायणिज्जा-जाव-[6] अभिलसणिज्जा तं दुक्खं खलु इत्थित्तणए, पुमत्तणए ण साहू।"

इसी प्रकार स्त्री का शरीर भी अनेक मनुष्यो के आस्वादनीय—**यावत्**—अभिषलनीय होता है। इसलिए स्त्री का जीवन दुखमय है और पुरुष का जीवन सुखमय है।"

"जइ इमस्स सुचरित-तव-नियम-बंभचेरवासस्स फलवित्ति विसेसे अत्थि, त अहमवि आगमेस्साए इमाइ एयारूवाइ उरालाइं पुरिस-भोगाइ भुंजमाणी विहरामि—से त साहू।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे तप, नियम एव ब्रह्मचर्य पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार के उत्तम पुरुष सम्बन्धी काम भोगो को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा।"

एवं खलु समणाउसो! णिग्गथी णिदाणं किच्चा तस्स ठाणस्स आणालोइय अप्पडिक्कंता-जाव[7]-आगमेस्साए दुल्लहबोहिया यावि भवइ।

इस प्रकार हे आयुष्मान् श्रमणो! वह निर्ग्रन्थी निदान करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना—**यावत्**—उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

---

१ द्वितीय निदान मे देखें
२ प्रथम निदान मे देखें
३ प्रथम निदान मे देखें
४ आ. श्रु २, अ. १, उ. २, सु. ३३८
५ इसी निदान मे देखें
६ प्रथम निदान मे देखें।
७ प्रथम निदान मे देखें।

एव खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फल-विवागे-ज नो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए । —दसा. द. १०, सु. ३३-३४

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि वह केवलि प्रज्ञप्त धर्म का श्रवण भी नहीं कर सकता है ।

(५) णिग्गंथ णिग्गंथीए परदेवी परिचारणा निदान करणं—

(५) निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के द्वारा परदेवी परिचारणा का निदान करना—

३३४ एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते इणमेव णिग्गथे पावयणे सच्चे-जाव[1]-सव्वदुक्खाणमत करेंति ।

३३४ हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है। यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—यावत्—सब दु खो का अन्त करते हैं ।

जस्स णं धम्मस्स निग्गथो वा निग्गथी वा सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे-जाव[2]-से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं निव्वेय गच्छेज्जा —

कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी केवलि प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उपस्थित हो विचरण करते हुए—यावत्—सयम मे पराक्रम करते हुए मानुषी कामभोगो से विरक्त हो जाये और वह यह सोचे कि—

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा, अणितिया, असासया, सडण-पडण-विद्धसणधम्मा ।

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव हैं अनित्य हैं, अशाश्वत हैं, सडने गलने वाले एव नश्वर हैं ।

"उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाणग-वत-पित्त-सुक्क-सोणिय-समुब्भवा ।

मल मूत्र-श्लेष्म, मैल, वात-पित्त-कफ, शुक्र एव शोणित से उद्भूत हैं ।

दुरूव-उस्सास-निस्सासा, दुरत-मुत्त-पुरिस-पुण्णा, वतासवा पित्तासवा, खेलासवा, पच्छा—पुरं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा ।"

दुर्गन्ध युक्त श्वासोच्छ्वास तथा मल-मूत्र से परिपूर्ण हैं। वात-पित्त और कफ के द्वार हैं। पहले या पीछे से अवश्य त्याज्य हैं ।

संति उड्ढं देवा देवलोयसि,

जो ऊपर देवलोक में देव रहते हैं—

ते णं तत्थ अण्णेसिं देवाण देवीओ अभिजुंजिय अभिजुजिय परियारेंति अप्पणो चेव अप्पाण विउव्विय-विउव्विय परियारेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेंति ।

वे वहाँ अन्य देवो की देवियो को अपने अधीन करके उनके साथ विषय सेवन करते हैं, स्वय ही अपनी विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करते हैं और अपनी देवियो के साथ भी विषय सेवन करते हैं ।

"जइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम-बभचेरवासस्स कल्लाणे फल-वित्ति विसेसे अत्थि तं अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइ दिव्वाइ भोगाइ भुजमाणे विहरामि—से त साहू ।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्य पालन का विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे इन उपरोक्त दिव्य भोगो को भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा ।"

एव खलु समणाउसो ! णिग्गथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा जाव[3] देवे भवइ महिड्ढिए जाव[4] दिव्वाइं भोगाइं भुजमाणे विहरइ ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके—यावत्—देव रूप मे उत्पन्न होता है। वह वहाँ महाऋद्धि वाला देव होता है—यावत्—दिव्य भोगो को भोगता हुआ विचरता है ।

से ण तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाण विउव्विय-विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ ।

वह देव वहाँ अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन करता है। स्वय ही अपनी विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करता है। और अपनी देवियो के साथ भी विषय सेवन करता है ।

१–४ प्रथम निदान मे देखें ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव[1] पुमत्ताए पच्चायाति जाव[2] तस्स ण एगमवि आण वेमाणस्स जाव चत्तारि पच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति—"भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो जाव[3] किं ते आसगस्स सयइ।"

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर—यावत्—पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है—यावत्—उसके द्वारा एक को बुलाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते है और पूछते हैं कि—हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ?—यावत्—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हंता ! आइक्खेज्जा।

प०—से णं पडिसुणिज्जा ?

उ०—हता पडिसुणिज्जा।

प०—से ण सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे। अभविए ण से तस्स धम्मस्स सद्दहणयाए।

से य भवति महिच्छे-जाव[4]-दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमेस्साए दुल्लभबोहिए यावि भवति।

एव खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे—ज णो संचाएति केवलिपण्णत्तं धम्मं सद्दहित्तए वा, पत्तियत्तिए वा, रोइत्तए वा। —दसा॰ द १०, सु॰ ३५-३७

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि से युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्त रूप श्रमण-माहन उभय काल केवलि प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हाँ सुनता है।

प्र०—क्या वह केवलि प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति या रुचि करता है ?

उ०—यह सम्भव नही है, क्योकि वह सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करने के अयोग्य है।

किन्तु वह उत्कट अभिलाषायें रखता हुआ—यावत्—दक्षिण दिशावर्ती नरक मे कृष्णपाक्षिक नैरयिक रूप मे उत्पन्न होता है तथा भविष्य मे उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति भी दुर्लभ होती है।

हे आयुष्मान श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापकारी परिणाम है कि—वह केवलि प्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नही रखता है।

(६) णिग्गथ-णिग्गंथीए सगदेवी परिचारणानिदान करणं—

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी द्वारा स्व-देवी परिचारणा का निदान करना—

३३५. एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते-जाव[5]-से य परक्कममाणे माणुस्सएसु काम भोगेसु निव्वेय गच्छेज्जा,

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा-जाव[6]-विप्पजहणिज्जा। सति उड्ढं देवा देवलोयसि ते णं तत्य णो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय—अभिजुंजिय परियारेंति, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्वित्ता परियारेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति।"

"जइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम-बमचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्ति विसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगाइ भुंजमाणे विहरामि, से त साहू।"

३३५ हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का निरूपण किया है—यावत्—संयम की साधना मे पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ, मानव सम्बन्धी काम-भोगो से विरक्त हो जाए और वह यह सोचे कि—

"मानव सम्बन्धी कामभोग अध्रुव हैं—यावत्—त्याज्य हैं।

जो ऊपर देवलोक मे देव हैं—वे वहा अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करते हैं, किन्तु स्वय की विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करते हैं। तथा अपनी देवियो के साथ भी विषय-सेवन करते हैं।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार के दिव्य भोग भोगते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा।"

१-६ प्रथम निदान मे देखें।

एव खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गथी वा णियाणं किच्चा-जाव[1]-देवे भवइ महिड्ढिए-जाव[2]-दिव्वाइ, भोगाइ भुंजमाणे विहरइ ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके—यावत्—देव रूप मे उत्पन्न होता है । वह वहाँ महाऋद्धि वाला देव होता है—यावत्—दिव्य भोगो को भोगता हुआ विचरता है ।

से ण तत्थ णो अण्णेसि देवाणं देवीओ अभिमुंजिय-अभिमुंजिय परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाण विउव्विय विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जयाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ ।

वह देव वहाँ अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करता है, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियो के साथ विषय सेवन करता है और अपनी देवियों के साथ भी विषय सेवन करता है ।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएण-जाव[3]-पुमत्ताए पच्चायाति-जाव[4]-तस्स ण एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-चत्तारि पच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ?-जाव[5]-किं ते आसगस्स सयइ ।"

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर—यावत्—पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है—यावत्—उसके द्वारा एक को बुलाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते हैं कि—"हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें ? —यावत्—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

प०—तस्स ण तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ काल केवली पण्णत्त धम्ममाइक्खेज्जा ?

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप संयम के मूर्त रूप श्रमण माहन उभयकाल केवलि प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हता ! आइक्खेज्जा ।

उ०—हाँ कहते हैं ।

प०—से ण पडिसुणेज्जा ?

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हता पडिसुणेज्जा ।

उ०—हाँ सुनता है ।

प०—से ण सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ?

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे, अण्णत्थ रुई यावि भवति ।

उ०—यह सम्भव नही है, किन्तु वह अन्य दर्शन में रुचि रखता है ।

अण्णरुइमायाए से भवति—

अन्य दर्शन को स्वीकार कर वह इस प्रकार के आचरण वाला होता है—

जे इमे आरण्णिया, आवसहिया, गामतिया, कण्हुइ रहस्सिया । णो बहु-सजया, णो बहु-पडिविरया सव्व-पाण भूय-जीव-सत्तेसु, अप्पणो सच्चामोसाइं एव विपडिवदति—

जैसे कि ये पर्ण कुटियो मे रहने वाले अरण्यवासी तापस और ग्राम के समीप की वाटिकाओ में रहने वाले तापस तथा अदृष्ट होकर रहने वाले जो तान्त्रिक हैं, असंयत हैं । प्राण, भूत, जीव और सत्व की हिंसा से विरत नही है । वे सत्य-मृषा (मिश्र भाषा) का इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि—

"अह ण हतव्वो, अण्णे हंतव्वा ।
अह ण अज्जावेयव्वो, अण्णे अज्जावेयव्वा,
अह ण परियावेयव्वो, अण्णे परियावेयव्वा,
अहं ण परिघेतव्वो, अण्णे परिघेतव्वा,
अह ण उवद्दवेयव्वो, अण्णे उवद्दवेयव्वा,"

"मुझे मत मारो, दूसरो को मारो,
मुझे आदेश मत करो, दूसरो को आदेश करो,
मुझ को पीडित मत करो, दूसरो को पीडित करो,
मुझ को मत पकडो, दूसरो को पकडो,
मुझे भयभीत मत करो, दूसरो को भयभीत करो,

एवामेव इत्थिकामेहिं मुच्छिया गढिया गिद्धा अज्झोववण्णा-जाव[6]-कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु आसुरिएसु किव्विसिएसु ठाणेसु उववत्तारो भवति ।

इसी प्रकार वह स्त्री सम्बन्धी कामभोगो मे भी मूर्च्छित-ग्रथित, गृद्ध एव आसक्त होकर—यावत्—जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह त्याग कर किसी असुर लोक मे किल्विषिक देवस्थान मे उत्पन्न होते है ।

१–५ प्रथम निदान मे देखें ।
६ सूय. श्रु २, अ २, सु ५६ (अंग सुत्ताणि)

ततो विमुच्चमाणो भुज्जो एल-मूयत्ताए पच्चायंति[1]।

वहाँ से वे देह छोडकर पुन भेड-बकरे के समान मनुष्यो मे मूक रूप मे उत्पन्न होते है।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फल-विवागे-जं णो संचाएति केवलि-पण्णत्त धम्मं सद्दहित्तए वा, पत्तिइत्तए वा, रोइत्तए वा।

—दसा द १०, सु. ३८

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान का यह पापकारी परिणाम है कि—वह केवलि प्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि नही रखता है।

(७) णिग्गंथ णिग्गंथीए सहज दिव्वभोग-णिदाण करण—

(७) निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के द्वारा सहज दिव्यभोग का निदान करना—

३३६ एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते-जाव[2]-से य परक्कममाणे माणुस्सएसु काम-भोगेसु निव्वेदं गच्छेज्जा।

३३६. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्ररूपण किया है—**यावत्**—सयम की साधना मे पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ मानव सम्बन्धी काम-भोगो से विरक्त हो जाय और वह यह सोचे कि—

"माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा-जाव[3]-विप्पजहियव्वा। संति उड्ढं देवा देवलोगंसि। ते णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाण देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणो चेव अप्पाणं वेउव्विय-वेउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।"

"मानव सम्बन्धी काम-भोग अध्रुव है—**यावत्**—त्याज्य है। जो ऊपर देवलोक मे देव हैं—वहाँ वे अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करते हैं तथा स्वयं की विकुर्वित देवियो के साथ भी विषय सेवन नही करते हैं, किन्तु अपनी देवियो के साथ कामक्रीडा करते है।"

"जइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम-बंभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्ति विसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए इमाइं एयारूवाइ दिव्वाइ भोगाइं भुंजमाणे विहरामि, से तं साहू।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी काल मे इस प्रकार के दिव्य भोग भोगता हुआ विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा।"

एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाण किच्चा-जाव[4]-देवे भवइ महिड्ढिए-जाव[5]-दिव्वाइं भोगाइ भुंजमाणे विहरइ।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके—**यावत्**—देव रूप मे उत्पन्न होता है। वह वहाँ महाऋद्धि वाला देव होता है—**यावत्**—दिव्य भोगो को भोगता हुआ विचरता है।

से ण तत्थ णो अण्णेसिं देवाण देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय-विउव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय-अभिजुंजिय परियारेइ।

वह देव वहाँ अन्य देवो की देवियो के साथ विषय सेवन नही करता हैं, स्वयं ही अपनी विकुर्वित देवियो के साथ भी विषय सेवन नही करता है, किन्तु अपनी देवियो के साथ विषय सेवन करता है।

से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएण-जाव-[6] पुमत्ताए पच्चायाति-जाव-[7] तस्स ण एगमवि आणवेमाणस्स-जाव-चत्तारि-पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेति[1] "भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो -जाव-[8] किं ते आसगस्स सयइ।"

वह देव उस देवलोक से आयु के क्षय होने पर—**यावत्**—पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है—**यावत्**—उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते है कि "हे देवानुप्रिय ! कहो हम क्या करें—**यावत्**—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं ?"

---

१ यहाँ निदान कृत एक पुरुष सम्बन्धी पृच्छा के बीच मे बहुवचन का पाठ शुरू होकर अन्त तक बहुवचन मे पूर्ण होता है। ऐसा ज्ञात होता है कि लिपि प्रमाद से कोई सम्बन्ध जोडने वाला पाठ छूट गया है।

२-८ प्रथम निदान मे देखें।

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ काल केवलीपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ?

उ०—हता आइक्खेज्जा ।

प०—से ण ! पडिसुणेज्जा ?

उ०—हता ! पडिसुणेज्जा ।

प०—से ण सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हता ! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ।

प०—से णं सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइ पडिवज्जेज्जा ?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे । से ण दसणसावए भवति । अभिगय जीवाजीवे-जाव-[1]अट्ठिमिज्जापेमाणुरागरत्ते—

"अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, एस परमट्ठे, सेसे अणट्ठे ।"

से ण एयारूवेण विहारेण विहरमाणे बहूइं वासाइ समणोवासग-परियायं पाउणइ, पाउणित्ता कालमासे काल किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति ।

एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे—ज णो संचाएति सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइ पडिवज्जित्तए ।

—दसा द १०, सु. ३६-४१

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप सयम के मूर्त रूप श्रमण माहन उभयकाल केवलि प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं ?

उ०—हाँ कहते हैं ।

प्र०—क्या वह सुनता है ?

उ०—हाँ सुनता है ।

प्र०—क्या वह केवलि प्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि रखता है ?

उ०—हाँ वह केवलि प्रज्ञप्त धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि रखता है ।

प्र०—क्या वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास करता है ?

उ०—यह सभव नही है । वह केवल दर्शन-श्रावक होता है । वह जीव अजीव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता होता है —यावत्—उसके अस्थि एव मज्जा मे धर्म के प्रति अनुराग होता है कि—

"हे आयुष्मान् ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही जीवन मे इष्ट है । यही परमार्थ है । अन्य सब निरर्थक है ।"

वह इस प्रकार अनेक वर्षों तक आगार धर्म की आराधना करता है और आराधना करके जीवन के अन्तिम क्षणों मे किसी एक देवलोक मे देव रूप मे उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान का यह पाप रूप परिणाम है कि वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पोषधोपवास नही कर सकता है ।

(८) समणोवासगभवण णिदाण करणं—

३३७ एव खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते-जाव-[2] से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं णिव्वेद गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा कामभोगा अधुवा-जाव-[3] विप्पजहणिज्जा, दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा, अणितिया, असासया, चलाचलण-धम्मा, पुणरागमणिज्जा पच्छा पुव्व च ण अवस्सं विप्पजहणिज्जा ।"

जइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम-बभचेरवासस्स कल्लाणे फल-वित्तिविसेसे अत्थि, अहमवि आगमेस्साए, जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया तेसिं ण

(८) श्रमणोपासक होने के लिए निदान करना—

३३७ हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है —यावत्—सयम साधना मे पराक्रम करते हुए निर्ग्रन्थ दिव्य और मानुषिक कामभोगो से विरक्त हो जाने पर यों सोचे कि—

"मानुषिक कामभोग अध्रुव है—यावत्— त्याज्य है ।

देव सम्बन्धी कामभोग भी अध्रुव है, अनित्य हैं, अशाश्वत हैं, चलाचल स्वभाव वाले हैं, जन्म-मरण बढाने वाले हैं । आगे-पीछे अवश्य त्याज्य हैं ।"

'यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप-नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे जो ये विशुद्ध मातृ-पितृ पक्ष वाले उग्र वशी या भोग-

१ वि श २, उ ५, सु. ११

२ मातवें निदान में देखें ।

३ सातवें निदान मे देखें ।

अन्नयरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चायामि, तत्थ ण समणोवासए भविस्सामि—

अभिगय—"जीवाजीवे-जाव-[1] अहापरिग्गहिएण तवोकम्मेण अप्पाण भावेमाणे विहरिस्सामि, से तं साहू।"

वशी कुल है वहाँ पुरुष रूप मे उत्पन्न होऊँ और श्रमणोपासक बनूँ।"

"जीवा-जीव के स्वरूप को जानूँ—**यावत्**—ग्रहण किये हुए तप मे आत्मा को भावित करते हुए विचरण करूँ तो यह श्रेष्ठ होगा।"

एवं खलु समणाउसो! निग्गंथो वा निग्गंथी वा णिदाणं किच्चा-जाव-[2] देवे भवइ महिड्ढिए-जाव-[3] दिव्वाइ भोगाइ भुंजमाणे विहरइ-जाव-[4] से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएण-जाव-[5] पुमत्ताए पच्चायाति-जाव [6] तस्स ण एगमवि आणवे-माणस्स-जाव-चत्तारि-पंच-अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति 'भण देवाणुप्पिया! किं करेमो-जाव-[7] किं ते आसगस्स सयइ।'

हे आयुष्मान् श्रमणो! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके—**यावत्**—देवरूप मे उत्पन्न होता है। वह वहाँ महाऋद्धि वाला देव होता है—**यावत्**—दिव्य भोगो को भोगता हुआ विचरता है—**यावत्**—वह देव उस देवलोक से आयु क्षय होने पर—**यावत्**—पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है—**यावत्**—उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाँच बिना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते हैं कि 'हे देवानुप्रिय! कहो हम क्या करें—**यावत्**—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलि-पण्णत्त धम्ममाइक्खेज्जा?

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्त रूप श्रमण माहन उभय-काल केवलि-प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं?

उ०—हंता! आइक्खेज्जा।

उ०—हाँ कहते हैं।

प०—से णं पडिसुणेज्जा?

प्र०—क्या वह सुनता है?

उ०—हता! पडिसुणेज्जा।

उ०—हाँ सुनता है।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा?

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है?

उ०—हंता! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा।

उ०—हाँ वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि करता है।

प०—से णं सील-व्वय-जाव-[8] पोसहोववासाइ पडिवज्जेज्जा?

प्र०—क्या वह शीलव्रत—**यावत्**—पौषधोपवास स्वीकार करता है?

उ०—हंता! पडिवज्जेज्जा।

उ०—हाँ वह स्वीकार करता है।

प०—से ण मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा?

प्र०—क्या वह गृहवास को छोडकर मुण्डित होता है एव अनगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है?

उ०—णो तिणट्ठे समट्ठे।

उ०—यह सम्भव नही है।

से णं समणोवासए भवति अभिगय-जीवाजीवे-जाव-[9] पडिलाभेमाणे विहरइ।

वह श्रमणोपासक होता है, जीवाजीव का ज्ञाता—**यावत्**—प्रतिलाभित करता हुआ विचरता है।

से ण एयारूवेणं विहारेण विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासग-परियाग पाउणइ पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा भत्त पच्चक्खाएइ, भत्त पच्चक्खाइत्ता बहूइ भत्ताइ अणसणाइं छेदेइ, बहूइं भत्ताइ अणसणाइ

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करता है, पालन करके रोग उत्पन्न होने या न होने पर भक्त-प्रत्याख्यान करता है, भक्त-प्रत्याख्यान करके अनेक भक्तो का अनशन से छेदन करता है, बहुत से भक्तो का अनशन

१ विया श. २, उ. ५, सु ११
२–८ सातवें निदान मे देखें।
९ विव श. २, उ ५, सु ११

छेदित्ता आलोइय पडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे काल किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति।

एव खलु समणाउसो! तस्स नियाणस्स इमेयारूवे पाव-फलविवागे-ज नो सचाएति सव्वाओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारिय पव्वइत्तए।

—दसा द १०, सु ४२-४६

से छेदन करके आलोचना एव प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है। जीवन के अन्तिम क्षणो मे देह छोडकर किसी देवलोक मे देव होता है।

हे आयुष्मान् श्रमणो! उस निदान शल्य का यह पापरूप परिणाम है कि—वह गृहवास को छोडकर एव सर्वथा मुण्डित होकर अनगार प्रव्रज्या स्वीकार नही कर सकता है।

(९) समणभवण णिदाण करण—

३३८ एव खलु समणाउसो! मए धम्मे पण्णत्ते-जाव-[1] से य परक्कममाणे दिव्वमाणुसस्सएहिं काम-भोगेहिं निव्वेयं गच्छेज्जा—

"माणुस्सगा खलु काम-भोगा अधुवा-जाव-[2] विप्पजहणिज्जा।

दिव्वा वि खलु कामभोगा अधुवा-जाव[3]-पुणरागमणिज्जा, पच्छा-पुव्व च ण अवस्स विप्पजहणिज्जा।

"जइ इमस्स सुचरिय-तव-नियम बभचेरवासस्स कल्लाणे फलवित्ति विसेसे अत्थि अहमवि आगमेस्साए जाइ इमाइ भवति अंतकुलाणि वा, पतकुलाणि वा, तुच्छकुलाणि वा, दरिद्द-कुलाणि वा, किवण-कुलाणि वा, भिक्खाग-कुलाणि वा एएस ण अण्णतरसि कुलसि-पुमत्ताए पच्चायामि एस मे आया परियाए सुणीहडे भविस्सति, से त साहू।"

एव खलु समणाउसो! णिग्गथा वा णिग्गथी वा णियाण किच्चा जाव-[4] देवे भवइ, महिड्ढिए-जाव-[5] दिव्वाइ भोगाइ भुंजमाणे विहरइ-जाव-[6] से ण ताओ देवलोगाओ आउक्ख-एण-जाव-[7] पुमत्ताए पच्चायाति-जाव-[8] तस्स ण एगमवि आणवेमाणस्स जाव-चत्तारि-पच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "भण देवाणुप्पिया! किं करेमो-जाव-[9] किं ते आसगस्स सयइ?"

प०—तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ काल केवलि-पण्णत्त धम्ममा-इक्खेज्जा?

उ०—हता! आइक्खेज्जा।

प०—से ण पडिसुणेज्जा?

उ०—हता! पडिसुणेज्जा।

(९) श्रमण होने के लिए निदान करना—

३३८ हे आयुष्मान श्रमणो! मैंने धर्म का निरूपण किया है—**यावत्**—सयम की साधना मे प्रयत्न करता हुआ निर्ग्रन्थ दिव्य मानुषिक काम भोगो से विरक्त हो जाए और वह यह सोचे कि—

"मानुषिक काम-भोग अध्रुव—**यावत्**—त्याज्य है।

दिव्य कामभोग भी अध्रुव—**यावत्**—भव परम्परा बढाने वाले हैं तथा पहले या पीछे अवश्य त्याज्य हैं।"

"यदि सम्यक् प्रकार से आचरित मेरे इस तप नियम एव ब्रह्मचर्य-पालन का कल्याणकारी विशिष्ट फल हो तो मैं भी भविष्य मे जो ये अतकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, कृपण कुल या भिक्षु कुल हैं इनमे से किसी एक कुल मे पुरुष बनूं जिससे मैं प्रव्रजित होने के लिए सुविधापूर्वक गृहस्थ छोड सकूं तो यह श्रेष्ठ होगा।"

हे आयुष्मान् श्रमणो! इस प्रकार निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (कोई भी) निदान करके—**यावत्**—देव रूप मे उत्पन्न होता है। वह वहाँ महाऋद्धि वाला देव होता है—**यावत्**—दिव्य भोग भोगता हुआ विचरता है—**यावत्**—वह देव उस देवलोक से आयु क्षय होने पर—**यावत्**—पुरुष रूप मे उत्पन्न होता है—**यावत्**—उसके द्वारा किसी एक को बुलाने पर चार-पाँच विना बुलाये ही उठकर खडे हो जाते हैं और पूछते हैं कि "हे देवानुप्रिय! कहो हम क्या करें—**यावत्**—आपके मुख को कौन से पदार्थ अच्छे लगते हैं?"

प्र०—इस प्रकार की ऋद्धि युक्त उस पुरुष को तप-सयम के मूर्तरूप श्रमण माहण उभय काल केवलि प्रज्ञप्त धर्म कहते हैं?

उ०—हाँ कहते है।

प्र०—क्या वह सुनता है?

उ०—हाँ सुनता है।

१-९ पहले या सातवें णियाणे मे देखें।

प०—से णं सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा ?

उ०—हंता ! सद्दहेज्जा, पत्तिएज्जा, रोएज्जा।

प०—से ण सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासाइ पडिवज्जेज्जा ?

उ०—हता ! पडिवज्जेज्जा।

प०—से ण मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा ?

उ०—हता ! पव्वइज्जा।

प०—से ण तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झेज्जा-जाव-1 सव्वदुक्खाण अत करेज्जा ?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे।

से ण भवइ-से जे अणगारा भगवंतो इरियासमिया-जाव-2 बंभयारी।

से ण एयारूवेण विहारेण विहरमाणे बहूइं वासाइं सामण्ण परियाग पाउणइ, बहूइ वासाइं सामण्ण परियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पन्न सि वा अणुप्पन्न सि वा भत्त पच्चक्खाएइ, भत्त पच्चक्खाइत्ता, बहूइ भत्ताइं अणसणाइं छेदेइ, बहूइं भत्ताइं अणसणाइ छेदेत्ता आलोइय पडिक्कते समाहिपत्ते काल मासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति।

एव खलु समणाउसो ! तस्स णिदाणस्स इमेयारूवे पावए फल-विवागे जं नो संचाएइ तेणेव भवग्गहणेण सिज्झित्तए -जाव-3 सव्व दुक्खाण अंत करेत्तए।

—दसा द १०, सु ४७-४९

प्र०—क्या वह श्रद्धा, प्रतीति एव रुचि रखता है ?

उ०—हाँ वह श्रद्धा, प्रतीति, रुचि करता है।

प्र०—क्या वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास स्वीकार करता है ?

उ०—हाँ स्वीकार करता है।

प्र०—क्या वह गृहवास को छोडकर मुण्डित होता है एवं अणगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है ?

उ०—हाँ वह अणगार प्रव्रज्या स्वीकार करता है।

प्र०—क्या वह उसी भव मे सिद्ध हो सकता है—यावत्—सब दु खो का अन्त कर सकता है ?

उ०—यह सम्भव नही है।

वह अणगार भगवत ईर्या-समिति का पालन करने वाला —यावत्—ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला होता है।

इस प्रकार के आचरण से वह अनेक वर्षों तक सयम पर्याय का पालन करता है, अनेक वर्षों तक सयम पर्याय का पालन करके रोग उत्पन्न होने या न होने पर भी भक्त-प्रत्याख्यान करता है, भक्त-प्रत्याख्यान करके अनेक भक्तो का अनशन से छेदन करता है, अनेक भक्तो का अनशन से छेदन करके आलोचना एवं प्रतिक्रमण द्वारा समाधि को प्राप्त होता है और जीवन के अतिम क्षणो मे देह छोड कर किसी देवलोक मे देव रूप मे उत्पन्न होता है।

हे आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान शल्य का यह पापरूप परिणाम है कि—वह उस भव से सिद्ध नही होता है—यावत्—सब दु खो का अन्त नही कर पाता है।

णियाण रहियस्स विमुत्ति—

३३९ एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते-इणमेव निग्गथे पावयणे सच्चे-जाव4- सव्वदुक्खाणमतं करेंति।

जस्स ण धम्मस्स सिक्खाए निग्गंथे उवट्ठिए विहरमाणे से य परक्कमेज्जा से य परक्कममाणे सव्वकाम-विरत्ते, सव्वराग-विरत्ते, सव्वसंगातीते, सव्वहा सव्व-सिणेहातिक्कते सव्व-चरित्त परिवुडे।

तस्स ण भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं, अणुत्तरेण दंसणेण -जाव5- अणुत्तरेण परिनिव्वाणमग्गेण अप्पाणं भावेमाणस्स

निदान रहित की मुक्ति—

६३९. हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने धर्म का प्रतिपादन किया है। यह निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है—यावत्—सब दु खो का अन्त करते हैं।

इस धर्म की आराधना के लिए उपस्थित होकर विचरता हुआ वह निर्ग्रन्थ तप सयम मे पराक्रम करता हुआ तप संयम की उग्र साधना करते समय काम-राग से सर्वथा विरक्त हो जाता है। सग, स्नेह से सर्वथा रहित हो जाता है और सम्पूर्ण चारित्र की आराधना करता है।

उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन और चारित्र—यावत्—मोक्ष मार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उस अणगार भगवन्त को

१-२ पहले या सातवें णियाणे मे देखें।

४ प्रथम निदान मे देखें।

३ दशा द. ५, सु ६

५ दसा. द. १०, सु. ३३, नवसुत्ताणि

अणते, अणुत्तरे, निव्वाघाए, निरावरणे, कसिणे, पडिपुण्णे, केवल-वर-नाण-दसणे समुपज्जेज्जा।

तए ण से भगव अरहा भवति, जिणे, केवली, सव्वण्णू, सव्वभाव-दरिसी, सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पज्जाए जाणइ त जहा—

आगई, गई, ठिई, चवण, उववाय, भुत्त, पोय, कड, पडिसेविय, आवीकम्म, रहोकम्म, लवियं, कहिय, मणो-माणसिय।

सव्वलोए सव्वजीवाण सव्वभावाइ जाणमाणे पासमाणे विहरइ।

से ण एयारूवेण विहारेण विहरमाणे बहूइ वासाइ केवलि-परियाग पाउणइ पाउणित्ता अप्पणो आउसेस आभोएइ, आभोएत्ता भत्त पच्चक्खाएइ, पच्चक्खाइत्ता बहूइ भत्ताइ अणसणाइ छेदेइ, तओ पच्छा चरमेहिं ऊसास-नीसासेहिं सिज्झइ-जाव-[1] सव्वदुक्खाणमत करेइ।

एव खलु समणाउसो! तस्स अणिदाणस्स इमेयारूवे कल्लाणे फल-विवागे ज तेणेव भवग्गहणेण सिज्झति-जाव-सव्वदुक्खाण अत करेइ।

तेए ण ते बहवे निग्गथा य निग्गथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिए एयमट्ठ सोच्चा णिसम्म समण भगव महावीर वदति नमसति, वदित्ता नमसित्ता तस्स ठाणस्स आलोयति पडिक्कमति-जाव-अहारिहं पायच्छित्त तवोकम्म पडिवज्जति। —दसा द १०, सु ५०-५४

अनन्त, सर्व प्रधान, बाधा एव आवरण रहित, सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवल दर्शन उत्पन्न होता है।

उस समय वह अरहन्त भगवन्त, जिन, केवलि, सर्वज्ञ-सर्व-दर्शी हो जाता है, वह देव मनुष्य असुर आदि लोक के पर्यायों को जानता है यथा—

जीवो की आगति, गति, स्थिति, च्यवन, उत्पत्ति तथा उनके द्वारा खाये-पीये गये पदार्थों एव उनके द्वारा सेवित प्रगट एव गुप्त सभी क्रियाओं को तथा वार्तालाप, गुप्तवार्ता और मानसिक चिंतन को प्रत्यक्ष रूप से जानते देखते हैं।

वह सम्पूर्ण लोक मे स्थित सर्व जीवो के सर्व भावो को जानते देखते हुए विचरण करता है।

वह इस प्रकार केवलि रूप मे विचरण करता हुआ अनेक वर्षों की केवलिपर्याय को प्राप्त होता है और अपनी आयु का अन्तिम भाग जानकर वह भक्त प्रत्याख्यान करता है, भक्त-प्रत्याख्यान करके अनेक भक्तो को अनशन से छेदन करता है। उसके बाद वह अन्तिम श्वासोच्छ्वास के द्वारा सिद्ध होता है —यावत्—सब दुःखो का अन्त करता है।

हे आयुष्मान् श्रमणो! उस निदान रहित साधनामय जीवन का यह कल्याण कारक परिणाम है कि वह उसी भव से सिद्ध होता हैं—यावत्—सब दुःखो का अन्त करता है।

उस समय उस अनेक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो ने श्रमण भगवान महावीर से इन निदानो का वर्णन सुनकर श्रमण भगवान महावीर को वदना, नमस्कार किया और उस पूर्वकृत निदान शल्यो की आलोचना प्रतिक्रमण करके—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वरूप तप स्वीकार किया।

तवस्स फलकंखा णिसेहो—

३४० से भिक्खू अकिरिए, अलूसए, अकोहे, अमाणे, अमाए, अलोभे, उवसते, परिनिव्वुडे, णो आसंस पुरओ करेज्जा—"इमेण मे दिट्ठेण वा, सुएण वा, मएण वा, विण्णाएण वा, इमेण वा सुचरिय-तवनियम-बभचेर-वासेण, इमेण वा जायामायावुत्तिएणं धम्मेण इतो चुते पेच्चा देवे सिया, कामभोगा वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुहे, एत्य वि सिया, एत्य वि णो सिया। —सूय. सु. २, अ १, सु. ६८२

तप की फलाकाक्षा का निषेध—

३४० वह भिक्षु सावद्य क्रियाओ से रहित, अहिंसक क्रोध मान माया और लोभ रहित, उपशान्त एव समाधियुक्त होकर रहे और भविष्य के लिए आकाक्षा न करे कि "मेरे इस दर्शन, श्रुत, मनन, विज्ञान, उत्तम आचरण, तप नियम, ब्रह्मचर्य सयम यात्रा और आहार की मात्रा के पालन रूप धर्म के फलस्वरूप यहाँ से शरीर छोडने के पश्चात् मैं देव हो जाऊँ, समस्त काम-भोग मेरे अधीन हो जाए अथवा मैं सब सुख-दुःख से रहित सिद्ध हो जाऊँ। क्योकि (इस प्रकार आशसा करने पर भी) फल की प्राप्ति कभी होती है और कभी नही होती है। अतः ऐसी आकाक्षाएँ नही करना चाहिए।



१ प्रथम निदान मे देखें।

बाल पण्डित मरण से आराधना विराधना—५

अणेगविहा मरणा—

३४१. सत्तरसविहे मरणे पण्णत्ते, त जहा—

१ आवीइमरणे, २ ओहिमरणे,
३. आयंतियमरणे, ४ वलयमरणे,
५ वसट्टमरणे ६. अतोसल्लमरणे,
७ तब्भवमरणे, ८. बालमरणे,
६ पडितमरणे, १०. बालपंडितमरणे,
११ छउमत्थमरणे, १२. केवलिमरणे,
१३. वेहाणसमरणे, १४ गिद्धपुट्ठमरणे,
१५. भत्तपच्चक्खाणमरणे, १६. इगिणिमरणे,
१७ पाओवगमणमरणे। —सम. सम. १७, सु. १

अनेक प्रकार के मरण—

३४१. मरण सत्तरह प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) आवीचि-मरण, (२) अवधि मरण,
(३) आत्यन्तिक-मरण, (४) वलय मरण,
(५) वशार्त-मरण, (६) अन्त शल्य-मरण,
(७) तद्भव-मरण, (८) बाल-मरण,
(६) पडित-मरण, (१०) बाल-पडित-मरण,
(११) छद्मस्थ-मरण, (१२) केवलि-मरण,
(१३) वेहाणस-मरण, (१४) गृद्धस्पृष्ट-मरण,
(१५) भक्तप्रत्याख्यान-मरण, (१६) इगिनी-मरण,
(१७) पादोपगमन-मरण।

बालमरणप्पगारा—

३४२ प०—से किं तं बालमरणे ?

उ०—बालमरणे दुवालसविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१ वलयमरणे,
२. वसट्टमरणे,
३ अतोसल्लमरणे,
४. तब्भवमरणे,
५ गिरिपडणे,
६ तरुपडणे,
७. जलप्पवेसे,
८ जलणप्पवेसे,
६ विसभक्खणे,
१० सत्थोपाडणे,
११. वेहाणसे,
१२ गिद्धपुट्ठे[1], —वि स १३, उ. ७, सु ४१

बालमरण के प्रकार—

३४२. प्र०—वह बाल मरण क्या है—उसके कितने भेद है ?

उ०—बालमरण बारह प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) गला दबाकर मरना।
(२) विरह व्यथा से पीडित होकर मरना।
(३) शरीर मे तीर भाला आदि शस्त्र घुसा कर मरना।
(४) उसी भव मे पुन उत्पन्न होने के सकल्प से मरना।
(५) पर्वत पर से गिरकर मरना।
(६) झाड पर से गिरकर मरना।
(७) पानी मे डूबकर मरना।
(८) अग्नि मे जलकर मरना।
(६) विष खाकर मरना।
(१०) तलवार आदि शस्त्र से कटकर मरना।
(११) गले मे फाँसी लगाकर मरना।
(१२) गीध आदि पक्षियो के द्वारा शरीर का भक्षण करवा कर मरना।

दो मरणाइ समणेणं भगवया महावीरेण समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वन्नियाइ, णो णिच्च कित्तियाइ, णो णिच्च वुइयाइं, णो णिच्चं पसत्थाइ, णो णिच्च अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—

१. वलयमरणे चेव,
२ वसट्टमरणे चेव,
एवं—१. णियाणमरणे चेव,

श्रमण भगवान महावीर द्वारा श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए सदा दो-दो मरण वर्णित, कीर्तित, कथित, प्रशंसित एव अनुमत नही हैं, यथा—

(१) वलय मरण—गला दबा कर मरना।
(२) वशार्त मरण—विरह व्यथा से पीडित होकर मरना।

इसी प्रकार—(१) निदान मरण—तप-सयम के फल की कामना करके मरना।

---

१ वि. स. २, उ. १, सु २६।

२ तब्भवमरणे चेव,

(२) तद्भव मरण—वर्तमान भव को पुन. प्राप्त करने के संकल्प से मरना।

१ गिरिपडणे चेव,
२ तरुपडणे चेव,
१ जलप्पवेसे चेव,
२. जलणप्पवेसे चेव,
१ विसभक्खणे चेव,
२ सत्थोपाडणे चेव,

(१) गिरिपतन मरण—पहाड से गिरकर मरना।
(२) तरुपतन मरण—वृक्ष से गिरकर मरना।
(१) जल प्रवेश मरण—जल मे प्रवेश करके मरना।
(२) ज्वलन प्रवेश मरण—अग्नि मे प्रवेश करके मरना।
(१) विष भक्षण मरण—जहर खाकर मरना।
(२) शस्त्रोत्पाटन मरण—शस्त्र से कट कर मरना।

दो मरणाइं-जाव-णो णिच्च अब्भणुण्णायाइं भवति, कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइं, त जहा—
१ वेहाणसे चेव,
२. गिद्धपुट्ठे चेव। ठाण अ २, उ. ४, सु. ११३

दो मरण—यावत्—सदा अनुमत नही हैं किन्तु कारण से वे निषिद्ध भी नही हैं यथा—
(१) वेहानस मरण—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए फांसी लगा कर मरना।
(२) गृद्ध स्पृष्ट मरण—हाथी आदि के बड़े कलेवर मे प्रवेश करके गिद्धो से अपना मास नुचवाकर मरना।

मरणस्सप्पगारा—

मरण के प्रकार—

३४३. तिविहे मरणे पण्णत्ते, त जहा—
१. बालमरणे, २ पंडियमरणे, ३. बालपंडियमरणे।
बालमरणे तिविहे पण्णत्ते, त जहा—
१ ठितलेस्से,
२. सकिलिट्ठलेस्से,
३ पज्जवजातलेस्से।
पंडियमरणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—
१. ठितलेस्से,
२ असकिलिट्ठलेस्से,
३. पज्जवजातलेस्से।
बालपंडियमरणे तिविहे पण्णत्ते, त जहा—
१. ठितलेस्से,
२ असकिलिट्ठलेस्से,
३ अपज्जवजातलेस्से। —ठाण. अ ३, उ ४, सु २२२

३४३. मरण के तीन प्रकार हैं। यथा—
(१) बालमरण, (२) पण्डितमरण, (३) बालपडितमरण।
बालमरण तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) स्थिर सक्लिष्ट लेश्यावाला,
(२) सक्लेश वृद्धि से युक्त लेश्यावाला,
(३) प्रवर्धमान लेश्यावाला।
पण्डितमरण तीन प्रकार का कहा गया है—
(१) विशुद्ध स्थिर लेश्यावाला,
(२) सक्लेश रहित लेश्यावाला,
(३) प्रवर्धमान विशुद्ध लेश्यावाला।
बाल-पण्डित मरण के तीन प्रकार हैं, जैसे—
(१) स्थितलेश्य—स्थिर विशुद्ध लेश्यावाला,
(२) असक्लिष्टलेश्य—सक्लेश से रहित लेश्यावाला,
(३) अपर्यवजातलेश्य—अप्रवर्धमान विशुद्ध लेश्यावाला।

अण्णवंसि महोहंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे।
तत्थ एगे महापन्ने, इमं पण्हमुदाहरे॥

इस महा-प्रवाह वाले दुस्तर संसार समुद्र से कई महापुरुष तिर गए है उनमे से एक महाप्रज्ञ श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने यह उपदेश दिया है कि—

सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।
अकाम-मरण चेव, सकाम-मरणं तहा॥

मृत्यु के समय होने वाले दो स्थान कहे गये हैं, यथा—
(१) अकाम-मरण, (२) सकाम-मरण।

बालाणं अकाम तु, मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकाम तु, उक्कोसेण सइं भवे॥
—उत्त. अ, ५, गा. १-३

बाल जीवो के अकाम-मरण बार-बार होते हैं किन्तु पंडितो का सकाम-मरण उत्कृष्ट एक बार ही होता है।

अण्णाणीणं बालमरणाइं—

३४४. बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि ।
मरिहिंति ते वराया, जिणवयणं जे न जाणन्ति ॥
—उत्त. अ. ३६, गा. २६१

बालमरण सरूवं—

३४५. तत्थिमं पढम ठाण, महावीरेण देसियं ।
काम-गिद्धे जहा बाले, भिसं कूराइं कुव्वइ ॥

जे गिद्धे काम-भोगेसु, एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खु-दिट्ठा इमा रई ॥

हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥

"जणेण सद्धिं होक्खामि", इइ बाले पगब्भई ।
काम-भोगाणुराएण, केस सपडिवज्जई ॥

तओ से दण्ड समारंभई, तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगाम विहिंसई ॥

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुजमाणे सुरं मसं, सेयमेयं ति मन्नई ॥

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मल सचिणई, सिसुणागोव्व मट्टियं ॥

तओ पुट्ठो आयकेण, गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥

सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूर-कम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥

तत्थोववाइय ठाणं, जहा मेयमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो, सो पच्छा परितप्पई ॥

अज्ञानियों के बालमरण—

३४४ जो प्राणी जिन वचनो से परिचित नही है, वे बेचारे अनेक बार बालमरण तथा बहुत बार अकाम-मरण से मृत्यु को प्राप्त होगे ।

बालमरण का स्वरूप—

३४५. भगवान महावीर स्वामी ने उन दो स्थानो मे पहला स्थान इस प्रकार का बताया है कि कामासक्त बाल-जीव अनेक प्रकार के क्रूर-कर्म करते हैं ।

जो काम-भोगो मे आसक्त होते है, उनमे से कई नरक मे जाते हैं । वे अज्ञानी इस प्रकार कथन करते हैं कि —"परलोक तो हमने देखा ही नही है किन्तु यह इहलौकिक आनन्द तो आँखो के सामने ही है ।"

ये काम-भोग हाथ मे आये हुए हैं किन्तु भविष्य मे होने वाले सुख तो संदिग्ध हैं, कौन जानता है—"परलोक है या नही ?"

कोई बाल जीव धृष्टतापूर्वक इस प्रकार कथन करता है कि 'जो गति अन्य की होगी वही मेरी होगी' ऐसा सोच कर वह काम-भोग मे अनुरक्त होकर क्लेश को प्राप्त होता है ।

फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवो के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश या बिना प्रयोजन ही प्राणी समूह की हिंसा करता है ।

हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चुगली खाने वाला और धूर्त वह अज्ञानी मनुष्य मद्य और मास का भोग करता हैं और "यह कल्याणकारी है" ऐसा मानता है ।

वह शरीर और वाणी से मत्त होता है, धन और स्त्रियो मे गृद्ध होता है तथा राग और द्वेष दोनो से उसी प्रकार कर्म-मल का सचय करता है जैसे केंचुआ मुख और शरीर दोनो से मिट्टी का सचय करता है ।

फिर कभी रोग आतक से ग्लान बना हुआ वह परिताप करता है । और अपने कर्मों का विचार कर परलोक के दुःख से भयभीत होता है ।

वह सोचता है कि शील रहित पुरुषो की जो गति होती है उस नरक गति के विषय मे मैंने सुना है कि वहाँ क्रूरकर्मी अज्ञानी जीवो को अत्यन्त वेदना होती हैं ।

उन नरको मे उत्पन्न होने का जो स्थान है वह भी मैंने सुना है । आयुष्य क्षीण होने पर वह बाल जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार वहाँ जाकर पीछे परिताप करता है ।

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गंमि सोयई ॥

जैसे कोई गाडीवान समतल राजमार्ग को जानता हुआ भी उसे छोडकर विषम मार्ग से चल पडता है और गाडी की धुरी टूट जाने पर खेद करता है।

एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चु-मुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

उसी प्रकार धर्म का उल्लघन कर अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख मे पडा हुआ अज्ञानी जीव धुरी टूटे हुए गाडीवान की तरह खेद करता है।

तओ से मरणन्तमि बाले सन्तस्सई भया ।
अकाम-मरणं मरई, धुत्ते व कलिणा जिए ॥
—उत्त. अ. ५, गा. ४-१६

फिर मरण के समय वह अज्ञानी परलोक के भय से सत्रस्त होता है और एक ही दाव मे हारे हुए जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम मरण से मरता है।

जे इह आरम्भणिस्सिया, आयदड एगतलूसगा ।
गता ते पावलोगय, चिररायं असुरियं दिसं ॥

जो साधक इस लोक मे आरम्भ मे आसक्त अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं तथा एकान्त रूप से जीव-हिंसक हैं वे चिर-काल तक के लिए नरकादि पापलोको मे जाते हैं तथा वे असुर योनि मे जाते हैं।

ण य सखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई ।
पच्चुप्पण्णेण कारियं, के द्दट्ठु, परलोगमागए ॥
—सूय. सु १, अ २, उ. ३, गा. ९-१०

(टूटे हुए) जीवन को साधा नही जा सकता है। फिर भी अज्ञानी मनुष्य धृष्टता करता है, हिंसा आदि मे प्रवृत्त होता है। मुझे वर्तमान से प्रयोजन है, परलोक को देखकर कौन लौटा है।

पडिय-मरण सरूवं—

पण्डितमरण का स्वरूप—

३४६ एयं अकाम-मरणं, बालाणं तु पवेइयं ।
एत्तो सकाम-मरणं, पण्डियाणं सुणेह मे ॥
मरणं पि सपुण्णाणं, जहा मे तमणुस्सुयं ।
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं वुसीमओ ॥

३४६ यह अज्ञानियो के अकाम-मरण का प्रतिपादन किया है। अब पण्डितो के सकाम-मरण को मुझ से सुनो।

जैसा मैंने सुना है कि पुण्यशाली सयमी और जितेन्द्रिय पुरुषो का पण्डितमरण होता है जो प्रसन्नता युक्त आघात रहित होता है।

न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु ।
नाणा-सीला य गारत्था, विसम-सीला य भिक्खुणो ॥

यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओ को और न सभी गृहस्थों को प्राप्त होता है। क्योकि गृहस्थ विविध प्रकार के आचार वाले होते हैं और भिक्षु भी विषम आचार वाले होते हैं।

सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था सजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहिं, साहवो सजमुत्तरा ।
—उत्त अ ५, गा. १७-२०

कुछ भिक्षुओ से गृहस्थो का सयम श्रेष्ठ होता है, और सब गृहस्थो से साधुओ का सयम श्रेष्ठ होता है।

तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, सजयाण वुसीमओ ।
न सतसन्ति मरणन्ते, सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

उन परम पूजनीय, सयमी और जितेन्द्रिय भिक्षुओ के स्वरूप को सुनकर शीलवान और बहुश्रुत भिक्षु मरण काल मे भी सत्रस्त नही होते।

तुलिया विसेसमादाय, दया-धम्मस्स खन्तिए ।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहा-भूएण अप्पणा ॥
—उत्त. अ. ५, गा. २९-३०

मेधावी पुरुष दोनो मरणो का तुलनात्मक चिन्तन करके दयाधर्म एव क्षमा से उपशान्त आत्मा द्वारा श्रेष्ठतम पण्डित मरण स्वीकार कर प्रसन्न रहे।

बालमरण-पडियमरण फलं—

बालमरण और पण्डितमरण का फल—

३४७ कन्दप्पमाभिओगं किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च ।
एयाओ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होन्ति ॥

३४७ कांदर्पी, आभियोगी, किल्विषिक, मोही तथा आसुरी ये पाँच भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यक् दर्शन आदि की विराधना करती हैं।

मिच्छादंसणरत्ता, सन्नियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥
सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा, सुलहा तेसिं भवे बोही ॥
मिच्छादसणरत्ता सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥

मिथ्या-दर्शन मे अनुरक्त, निदान सहित और हिंसक दशा मे जो मरते हैं उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती हैं।

सम्यग् दर्शन मे अनुरक्त निदान रहित और शुक्ल-लेश्या मे प्रवर्तमान होते हुए जो जीव मरते है, उनके लिए बोधि सुलभ है।

मिथ्या दर्शन मे रक्त, सनिदान और कृष्ण-लेश्या मे प्रवर्तमान होते हुए जो जीव मरते है उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती हैं।

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयण जे करेन्ति भावेण।
अमला असकिलिट्ठा, ते होन्ति परित्तसंसारी ॥
—उत्त अ. ३६, गा. २५६-२६०

जो जिन-वचन मे अनुरक्त हैं तथा जिन वचनो का भाव पूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असक्लिष्ट होकर अल्प जन्म मरण वाले हो जाते है।

जिणाणुमयं वेहाणस बालमरणं—

३४८. जस्स णं भिक्खुस्स एव भवइ पुट्ठो खलु अहमंसि, नालहमसि सीतफासं अहियासेत्तए से वसुमं सव्वसमण्णागतपण्णाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु त सेय जमेगे विहमादिए।

तत्थावि तस्स कालपरियाए, से वि तत्थ वियंतिकारए।

इच्चेत विमोहायतण हिय सुह खमं णिस्सेयस आणुगामियं।
—आ. सु १, अ. ८, उ ४, सु. २१५

वीतराग सम्मत वेहानस बालमरण—

३४८. जिस भिक्षु को यह प्रतीत हो कि मैं अनुकूल परीषहो से आक्रान्त हो गया हूँ और मैं इसे सहन करने मे समर्थ नही हूँ। प्रज्ञावान् संयमी मुनि यदि अब्रह्मचर्य रूप अकृत्य के लिए तत्पर हो रहा हो तो उस तपस्वी भिक्षु को यही उचित है कि वह फाँसी लगाना स्वीकार कर ले (किन्तु कुशील सेवन न करे।)

ऐसा करने मे उसका मरण हो सकता है और वह मृत्यु भी मोहकर्म का अन्त करने वाली होती है।

इस प्रकार यह मोह से मुक्त कराने वाला मरण भिक्षु के लिए हितकर, सुखकर, कर्मक्षय मे समर्थ, कल्याणकर तथा परलोक मे माथ चलने वाला होता है।

बालमरण-पससा-पायच्छित्त सुत्तं—

३४९ जे भिक्खू—

१. गिरि-पडणाणि वा,
२ मरु-पडिणाणि वा
३. भिगु-पडणाणि वा,
४. तरु-पडणाणि वा,
५. गिरि-पक्खदणाणि वा,
६. मरु-पक्खदणाणि वा,
७. भिगु-पक्खदणाणि वा,
८ तरु-पक्खंदणाणि वा,
९. जल-पवेसाणि वा,
१०. जलण-पवेसाणि वा,
११. जल-पक्खदणाणि वा,
१२. जलण-पक्खदणाणि वा

बालमरण की प्रशसा के प्रायश्चित्त सूत्र—

३४९. जो भिक्षु—

(१) पर्वत से दृश्य स्थान पर गिरकर मरना,
(२) पर्वत से अदृश्य स्थान पर गिरकर मरना।
(३) खाई कुए आदि मे गिरकर मरना।
(४) वृक्ष से गिरकर मरना।
(५) पर्वत से दृश्य स्थान पर कूद कर मरना,
(६) पर्वत से अदृश्य स्थान पर कूद कर मरना।
(७) खाई कुए आदि मे कूद कर मरना।
(८) वृक्ष से कूद कर मरना।
(९) जल मे प्रवेश करके मरना।
(१०) अग्नि मे प्रवेश कर के मरना।
(११) जल मे कूद कर मरना,

१६ वसट्ट-मरणाणि वा,
१७ तब्भव-मरणाणि वा,
१८ अतोसल्ल-मरणाणि वा,
१९. वेहाणस मरणाणि वा,
२०. गिद्ध पुट्ठमरणाणि वा।

अण्णयराणि वा तहप्पगाराणि बाल मरणाणि पसंसइ पसंसंत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाण अणुग्घाइय।
—नि उ ११, सु. ९२

(१६) विरह व्यथा से पीडित होकर मरना,
(१७) वर्तमान भव को प्राप्त करने के सकल्प से मरना,
(१८) तीर भाला आदि से बीधकर मरना,
(१९) फांसी लगाकर मरना।
(२०) गीध आदि पक्षियो द्वारा शरीर का भक्षण करवाकर मरना।

इन आत्मघात रूप बालमरणो की तथा अन्य भी इस प्रकार के बालमरणो की प्रशसा करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।



७. अनाचार

अनाचार-निषेध—१

अणायार णिसेहो—

३५०. आदाय बंभचेरं च, आसुपण्णे इमं वइ।
अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि॥
—सूय सु. २ अ. ५, गा. १

से जाणमजाण वा, कट्टु आहम्मियं पयं।
सवरे खिप्पमप्पाणं, बीयं तं न समायरे॥

अणायार परक्कम, नेव गूहे न निण्हवे।
सूई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइदिए॥
—दस. अ ८, गा. ३१ ३२

अनाचार का निषेध—

३५० संयम धारण कर कुशाग्र बुद्धि साधक इस अध्ययन में कथित धर्मों मे कभी भी अनाचार का आचरण न करे।

जान या अनजान मे कोई अधर्म कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार वह कार्य न करे।

अनाचार का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे किन्तु सदा पवित्र, स्पष्ट, अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।

मुच्छा, अविरति य णिसेहो—

३५१ से भिक्खू सद्देहिं अमुच्छिए, रूवेहिं अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए, रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए, विरए कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोभाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायातो, अरतिरतीओ, मायामोसाओ, मिच्छादसणसल्लाओ इति से महता अदाणातो उवसंत उवट्ठिते पडिविरते।
—सूय सु २, अ १, सु. ६८३

मूर्च्छा और अविरति का निषेध—

३५१ जो भिक्षु मनोज्ञ शब्दो, रूपो, गन्धो, रसो एव कोमल स्पर्शो मे अनासक्त रहता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, दोषारोपण, चुगली, परनिन्दा, सयम मे अरति, असयम मे रति, मायामृषा एव मिथ्यादर्शन रूप शल्य से विरत रहता है, इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मो के बन्ध से रहित हो जाता है, वह सुसंयम मे उद्यत हो जाता है तथा पापो से निवृत्त हो जाता है।



अनाचार परिहार उपदेश—२

भिक्खुस्स विविह अणायरणीय ठाणाइं—

३५२ १ धोयणं २ रयणं चेव, ३ वत्थीकम्म ४ विरेयण।
५ वमण ६ जण पलिमंथं, त विज्जं परिजाणिया॥

७ गध-मल्ल-सिणाण च, १० दतपक्खालणं तहा।
११-१२ परिग्गहित्थिकम्म च, तं विज्जं परिजाणिया॥

१३ उद्देसिय १४ कीयगड, १५ पामिच्च चेव १६ आहडं।
१७ पूतिं १८ अणेसणिज्ज च, त विज्ज परिजाणिया॥

१९-२० आसूणिमक्खिराग च २१ गिद्धव २२ घायकम्मग।
२३ उच्छोलणं च २४ कक्कं च, तं विज्ज परिजाणिया॥

२५ सपसारी २६ कयकिरिए २७ पसिणायतणाणि य।
२८ सागारियंपिडं च, त विज्जं परिजाणिया॥

२९ अट्ठापदं ण सिक्खवेज्जा, ३० वेहाईय च णो वये।
३१ हत्थकम्म ३२ विवाद च, त विज्ज परिजाणिया॥

३३ पाणहाओ य ३४ छत्तं च, ३५ णालियं ३६ वालवीयणं।
३७ परकिरिय ३८ अन्नमन्न च, त विज्जं परिजाणिया॥

३९ उच्चार पासवणं हरितेसु ण करे मुणी।
४० वियडेण वा वि साहट्टु, णायमेज्ज कयाइ वि॥
४१ परमत्ते अन्नपाण च, ण भुञ्जेज्जा कयाइ वि।
४२ परवत्थमचेलो वि, तं विज्ज परिजाणिया॥

भिक्षु के विविध अनाचरणीय स्थान—

३५२. (१) हाथ पैर और वस्त्र आदि धोना, तथा (२) उन्हे रंगना, (३) वस्तिकर्म करना, (४) जुलाब लेना, (५) वमन करना, (६) आंखो मे अजन लगाना इत्यादि सयम को नष्ट करने वाले कार्यों को जानकर विद्वान साधक इनका त्याग करे।

(७) शरीर मे सुगन्धित पदार्थ लगाना, (८) पुष्पमाला धारण करना, (९) स्नान करना, (१०) दाँतो को धोना, (११) परिग्रह रखना, (१२) स्त्री के साथ मैथुन सेवन करना, इत्यादि को पाप का कारण जानकर विद्वान मुनि इनका परित्याग करे।

(१३) औद्देशिक, (१४) क्रीत, (१५) प्रामित्य, (१६) आहृत (१७) पूतिकर्म तथा (१८) अनैषणीय आहार को संसार का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे।

(१९) शक्तिवर्धक रसायन आदि का सेवन करना, (२०) आँखो मे रग लगाना, (२१) विषयो मे आसक्त होना, (२२) प्राणियो का घात करना, (२३) हाथ-पैर आदि धोना, (२४) शरीर पर कल्क आदि से उवटन करना इन सबको कर्मबन्ध के कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका परित्याग करे।

(२५) गृहस्थ के सासारिक कार्य करना, (२६) असयम से किये जाने वाले कार्यों की प्रशसा करना, (२७) ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नो का उत्तर देना और (२८) सागारिक का आहार ग्रहण करना इन सबको ससार का कारण जानकर विद्वान मुनि इनका त्याग करे।

(२९) जुआ आदि खेलना न सीखे, (३०) धर्म के विरुद्ध वचन न वोले (३१) हस्तकर्म न करे, (३२) व्यर्थ का विवाद न करे। इन सबको संसार भ्रमण का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका त्याग करे।

(३३) जूता पहनना, (३४) छाता लगाना, (३५) जुआ खेलना, (३६) पखे से हवा करना, (३७) गृहस्थ आदि से पैर दबवाना, (३८) साधुओ का परस्पर शरीर परिकर्म करना इन सबको विद्वान साधक कर्मबन्ध के कारण जानकर इनका परित्याग करे।

(३९) मुनि हरी वनस्पति वाले स्थानो मे मल-मूत्र-विसर्जन न करे और वहाँ

(४०) अचित्त जल से भी कदापि आचमन न करे।

(४१) गृहस्थ के बर्तन मे आहार-पानी न करे।

(४२) वस्त्र न हो तो भी गृहस्थ का वस्त्र काम में न ले इन सबको कर्मबन्ध का कारण जानकर विद्वान् मुनि इनका परित्याग करे।

४३ आसदी ४३ पलियंके य, ४५ णिसिज्जं च गिहंतरे।
४६ संपुच्छणं च, ४७ सरण च त विज्ज परिजाणिया॥

(४३) बेंत आदि की कुर्सी पर बैठना, (४४) पलग पर बैठना, (४५) गृहस्थ के घर मे बैठना, (४६) गृहस्थ का कुशल क्षेम पूछना, (४७) कामक्रीडा का स्मरण करना, विद्वान् साधु इन्हें अनर्थकारक समझकर इनका परित्याग करे।

४८ जस ४९ कित्ति, ५० सिलोग च जा य ५१ वदण-
५२ पूयणा।
सव्वलोयसि जे कामा, तं विज्जा परिजाणिया॥

(४८) समग्रलोक मे यश, (४९) कीर्ति, (५०) प्रशसा, (५१) वदना और (५२) पूजा-प्रतिष्ठा आदि की जो कामनाएँ होती है, विद्वान मुनि उन्हे संयम के अपकारी समझकर इनका त्याग करे।

५३ जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्न पाणं तहाविह।
५४ अणुप्पदाणमन्नेसिं, तं विज्ज परिजाणिया॥
—सूय सु. १, अ. ९, गा. १२-२३

(५३) इस जगत् में जिन पदार्थों से साधु के सयम का निर्वाह हो सके वैसे ही आहार पानी ग्रहण करे। (५४) वह आहार-पानी असयमी को देना अनर्थकर जानकर तत्त्वज्ञ मुनि नही देवे। उसे सयम विघातक जानकर साधु उसका त्याग करे।

५५ णण्णत्थ अतराएण, परगेहे ण णिसीयए।
५६ गामकुमारिय किड्ड, ५७ नातिवेल हसे मुणी॥
—सूय सु १, अ ९, गा २९

(५५) किसी कारण के बिना साधु गृहस्थ के घर मे न बैठे, (५६) ग्राम के लडके-लडकियो का खेल न खेले एव (५७) मर्यादा का उल्लघन करके न हँसे।

छ उम्मायट्ठाणाइ—

३५३ छहिं ठाणेहिं आया उम्मायं पाउणेज्जा, त जहा—
१ अरहंताण अवण्ण वदमाणे।
२. अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवण्ण वदमाणे।
३ आयरिय-उवज्झायाण अवण्ण वदमाणे।
४ चाउव्वण्णस्स सघस्स अवण्ण वदमाणे।
५. जक्खावेसेण चेव।
६ मोहणिज्जस्स चेव कम्मस्स उदएण।
—ठाण अ ६, सु ५०१

छ उन्माद स्थान—

३५३ छह स्थानों से आत्मा उन्माद को प्राप्त होता है—
(१) अर्हन्तो का अवर्णवाद करता हुआ।
(२) अर्हंत-प्रज्ञप्त धर्म का अवर्णवाद करता हुआ।
(३) आचार्य तथा उपाध्याय का अवर्णवाद करता हुआ।
(४) चतुर्वर्ण संघ का अवर्णवाद करता हुआ।
(५) यक्षावेश मे।
(६) मोहनीय कर्म के उदय से।

सामुदाणिय-गवेसणा अकारओ पावसमणो—

३५४ नायाइपिण्ड जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणे त्ति वुच्चई।
—उत्त. अ. १७, गा. १९

सामुदानिक गवेषणा नही करने वाला पाप श्रमण—

३५४ जो ज्ञातिजनो के घरो मे ही आहार ग्रहण करता है, सामुदानिकी (सभी कुलो से) गोचरी नही लेता है और गृहस्थ की शय्या पर बैठता है वह पाप श्रमण कहलाता है।

सछंद विहारी पावसमणो—

३५५. जे केइ उ पव्वइए णियंट्ठे, धम्म सुणित्ता विणओववन्ने।
सुदुल्लह लहिउ बोहिलाभ, विहरेज्ज पच्छा य जहासुह तु॥
—उत्त अ. १७, गा १

गुरुपरिभावए निच्च पावसमणे त्ति वुच्चइ।
—उत्त. अ १७, गा १०

स्वच्छन्द विहारी पाप श्रमण—

३५५. जो कोई निर्ग्रन्थ धर्म को सुनकर दुर्लभतम बोधि-लाभ को प्राप्त कर विनय से युक्त हो प्रव्रजित होता है किन्तु प्रव्रजित होने के पश्चात् स्वच्छन्द-विहारी हो जाता है, वह पाप श्रमण कहलाता है।

गुरु का तिरस्कार करने वाला पाप श्रमण है।

सुयणाणोवेक्खा—

३५६. सेज्जा दढा पाउरणम्मि अत्थि,
उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउ।

श्रुतज्ञान की उपेक्षा—

३५६. गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर वह कहता है—"मुझे रहने को अच्छा उपाश्रय मिल रहा है, कपडा भी मेरे

जाणामि जं वट्टइ आउसु ! त्ति,
किं नाम काहामि सुएण भन्ते ॥
—उत्त. अ १७, गा. २

पास हैं, खाने-पीने को भी मिल जाता है। आयुष्मन् ! जो हो रहा है, उसे भी मैं जानता हूँ। भन्ते ! फिर मैं श्रुत का अध्ययन करके क्या करूँगा ?"

असविभागी पावसमणो—

३५७. बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई ॥
—उत्त. अ. १७, गा. ११

असविभागी पापश्रमण—

३५७. जो बहुत कपटी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण न रखने वाला, भक्त-पान आदि का सविभाग न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

आरभजीविस्स पावासत्ति—

३५८. आवंती केयावती लोयंसि आरंभजीवी, एतेसु चेव आरंभजीवी।
एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमति पावेहिं कम्मेहिं, असरणे सरणं ति मण्णमाणे —आ. सु. १, अ. ५, उ. १, सु. १५०
अट्टा पया माणव ! कम्मकोविया,
जे अणुवरता अविज्जाए पलिमोक्खमाहु आवट्टमेव अणुपरियट्टन्ति। —आ. सु. १, अ. ५, उ १, सु १५१(ख)

आरम्भ-जीवी को पापासक्ति—

३५८ इस लोक मे जितने भी मनुष्य आरम्भजीवी है वे विषयो की अभिलाषा से हिंसा का आचरण करते हैं।

अज्ञानी साधक इस असंयमी जीवन मे भी विषय पिपासा से छटपटाता हुआ अशरण को ही शरण मानकर पापकर्मों मे रमण करता है। हे मानव ! ससार मे अनेक प्राणी विषय-कषायो से पीडित हैं, कर्म-बन्धन करने मे चतुर हैं, पापो से विरत नही है तथा अविद्या से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते है, वे ससार के चक्र मे बारम्बार परिभ्रमण करते हैं।

अभिक्खण आहारकारगो पावसमणो—

३५९. अत्थ तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥
—उत्त अ १७, गा. १६

बार-बार आहार करने वाला पापश्रमण—

३५९. जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार खाता रहता है, तथा "ऐसा नही करना चाहिए" इस प्रकार कहने वाले का अनादर करते हुए प्रत्युत्तर देता है, वह पापश्रमण कहलाता है।



प्रमाद-निषेध—३

पमाय-णिसेहो—

३६०. दुमपत्तए पण्डुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीविय, समय गोयम ! मा पमायए ॥

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोव चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाणजीविय, समय गोयम ! मा पमायए ॥

इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम ! पा पमायए ॥
—उत्त अ. १०, गा. १-३

प्रमाद निषेध—

३६० रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पान जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

कुश की नोक पर लटकते हुए ओसबिन्दु की अवधि जैसे अल्प होती है वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

यह आयुष्य क्षण-भंगुर है, यह जीवन विघ्नो से भरा हुआ है, इसलिए हे गौतम ! तू पूर्व-सचित कर्म-रज को दूर कर और क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले य हायई, समय गोयम ! मा पमायए ॥

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और श्रोत्रेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

परिजूरई ते सरीरय, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुबले य हायई, समय गोयम ! मा पमायए ॥

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और चक्षुओ का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

परिजूरइ ते सरीरय, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से घाणबले य हायई, समय गोयम ! मा पमायए ॥

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और घ्राणेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

परिजूरई ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से जिब्भबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तेरा शरीर जीण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और जिह्वा का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से फासबले य हायई, समय गोयम ! मा पमायए ॥

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और स्पर्शेन्द्रिय का बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

परिजूरइ ते सरीरय, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
—उत्त. अ. १०, गा २१-२६

तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और सारे शरीर का बल क्षीण हो रहा हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

अकलेवरसेणिमुस्सिया, सिद्धि गोयम ! लोय गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं, समय गोयम ! मा पमायए ॥

हे गौतम ! तू शैलेषी अवस्था प्राप्त करके निरुपद्रव कल्याणकारी सर्वोत्तम सिद्ध गति को प्राप्त करेगा अत. हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरे व संजए।
सन्तिमग्ग च वूहए, समय गोयम ! मा पमायए ॥

तू गाँव मे या नगर मे सयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शान्ति मार्ग पर बढ, हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

बुद्धस्स निसम्म भासिय, सुकहियमट्ठपओवसोहिय।
रागं दोसं च छिन्दिया, सिद्धिगइ गए गोयमे ॥
—उत्त. अ १०, गा. ३५-३७

अर्थ और पद से सुशोभित एव सुकथित भगवाण् की वाणी को सुन कर राग और द्वेष का छेदन कर गौतम स्वामी सिद्ध-गति को प्राप्त हुए।

सव्वओ पमत्तस्स भय, सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भय।
—आ सु १, अ ३, उ ४, सु १२९(ख)

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है, अप्रमत्त को कहीं से भी भय नही होता है।

इच्चेव समुट्ठिते अहोविहाराए। अतर च खलु इम सपेहाए।
धीरो मुहुत्तमवि णो पमायए। वओ अच्चेति जोव्वणं च।

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ मनुष्य सयम-साधना के लिए उद्यत हो जाए। इस जीवन को स्वर्णिम अवसर समझकर धीर पुरुष मुहूर्त मात्र भी प्रमाद न करे। क्योकि उम्र बीत रही है, यौवन चला जा रहा है।

जीविते इह जे पमत्ता से हता छेत्ता भेत्ता लुपित्ता विलुपित्ता उद्दवेत्ता उत्तासयित्ता, अकड करिस्सामि त्ति मण्णमाणे।
—आ. सु. १, अ २, उ. १, सु ६५-६६

किन्तु जो इस जीवन के प्रति आसक्त है, वह हनन, छेदन, भेदन, चोरी, लूटपाट, उपद्रव और पीड़ित करना आदि प्रवृत्तियो मे लगा रहता है। "जो आज तक किसी ने नही किया वह काम मैं करूँगा" इस प्रकार का मनोरथ करता रहता है।

असखय जीवियं मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एव वियाणाहि जणे पमत्ते, किण्णूविहिंसा अजया गहिन्ति ॥
—उत्त. अ. ४, गा. १

जीवन साधा नही जा सकता, इसलिए प्रमाद मत करो। बुढापा आने पर कोई रक्षा नही करता है। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार करो।

डहरा वुड्ढा य पासहा, गब्भत्था वि चयंति माणवा।
तेणे जह वट्टयं हरे, एव आउखयम्मि तुट्टती॥
—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. २

बालक, बूढे और गर्भस्थ मनुष्य भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार वाज बटेर का हरण करता है उसी प्रकार आयु के क्षीण होने पर मृत्यु जीवन का हरण करती है, जिससे जीवन सूत्र टूट जाता है।

देवा गंधव्व-रक्खसा, असुरा भूमिचरा सिरीसिवा।
राया नर-सेट्ठि-माहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया॥

देव, गन्धर्व, राक्षस, असुर, पातालवासी नागकुमार, राजा, जनसाधारण, श्रेष्ठी और ब्राह्मण—ये सभी दु खपूर्वक अपने-अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं।

कामेहि य संथवेहि य, गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुते, एवं आउखयम्मि तुट्टती॥
—सूय. सु १, अ. २, उ १, गा ५-६

विषय-भोगो की तृष्णा मे तथा माता-पिता, स्त्री, पुत्र, आदि परिचितजनो मे आसक्त रहने वाले प्राणी कर्मफल के उदय के समय अपने कर्मों का फल भोगते हुए आयु के टूटने पर ऐसे गिरते हैं, जैसे बन्धन से टूटा हुआ तालफल नीचे गिर जाता है।

अरई गण्ड विसूइया, आयका विविहा फुसन्ति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम! मा पमायए॥
—उत्त. अ. १०, गा. २७

पित्त-रोग, फोडा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्र-घाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं, जिससे यह शरीर शक्तिहीन होकर नष्ट होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

अपमत्तचरण उवएसो—

३६१ सुत्तेसु यावि पडिबुद्ध-जीवी,
न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारण्ड-पक्खी व चरेऽपमत्तो॥
चरे पयाइ परिसंकमाणो,
जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभन्तरे जीविय बूहइत्ता,
पच्छा परिन्नाय मलावधंसी॥

अप्रमत्त होकर आचरण करने का उपदेश—

३६१. आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुए व्यक्तियो के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद मे विश्वास न करे। मुहूर्त क्रूर है, शरीर निर्बल है। यह विचार करता हुआ भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

पग-पग पर सयम के दोषो से भय खाता हुआ, थोडे से दोष को भी बन्धन रूप मानता हुआ चले। जब तक ज्ञान आदि का लाभ हो तब तक आहार आदि के द्वारा इस शरीर का रक्षण करता रहे। इसके वाद शरीर का अन्त जानकर अनशन के द्वारा कर्म मल को दूर करे।

छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं,
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽपमत्तो,
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥

कवच युक्त सुशिक्षित घोडे की तरह स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि पूर्वों या वर्षों तक अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा,
एसोवमा सासय-वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयंमि,
कालोवणीए सरीरस्स भेए॥

जो पूर्व जीवन मे अप्रमत्त नही होता, वह पिछले जीवन मे भी अप्रमत्त नही हो सकता। "पिछले जीवन मे अप्रमत्त हो जायेंगे" ऐसा निश्चय-वचन शाश्वतवादियो के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीर-भेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं,
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी,
अप्पाण-रक्खी चरेऽपमत्तो॥
—उत्त. अ. ४, गा. ६-१०

कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नही कर सकता। इसलिए काम-भोगादि विषयो का परित्याग करके संयम मे उद्यत होकर लोक के प्राणियो को आत्मा के समान समझकर उनकी तथा आत्मा की रक्षा करता हुआ महर्षि अप्रमत्त होकर विचरण करे।



प्रमाद के प्रकार—४

छ कप्पस्स विग्घकरा ठाणा—

३६२. कप्पस्स छ पलिमथू पण्णत्ता, त जहा—

१. कोक्कुइए सजमस्स पलिमथू ।

२. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमथू ।

३. चक्खुलोलुए ईरियावहियाए पलिमंथू ।

४. तितिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू ।

५. इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमथू ।

६ भिज्जानियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमथू ।

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था[1] ।

—कप्प. उ ६, सु १९

छ कल्प के विघ्न करने वाले स्थान—

३६२ कल्प=साध्वाचार के घातक छ प्रकार के कहे गये हैं। यथा—

(१) देखे विना या प्रमार्जन किये विना कायिक प्रवृत्ति करना सयम का घातक है ।

(२) वाचालता-सत्य वचन का घातक है ।

(३) इधर उधर देखते हुए गमन करना—ईर्यासमिति का घातक है ।

(४) आहारादि के अलाभ से खिन्न होकर चिढना—एषणा-समिति का घातक है ।

(५) उपकरण आदि का अति लोभ, अपरिग्रह का घातक है ।

(६) लोभवश निदान (तप के फल की कामना) करना, मोक्ष मार्ग का घातक है ।

क्योकि भगवान ने सर्वत्र अनिदानता=निस्पृहता प्रशस्त कही है ।

छव्विहे पमाए—

३६३. छव्विए पमाए पण्णत्ते, तं जहा—

१. मज्जपमाए, २ णिद्दपमाए,
३ विसयपमाए, ४ कसायपमाए,
५ जूतपमाए, ६. पडिलेहणापमाए ।

—ठाणं अ. ६, सु. ५०२

छ प्रकार के प्रमाद—

३६३. प्रमाद के छह प्रकार हैं, यथा—

(१) मद्यप्रमाद, (२) निद्राप्रमाद,
(३) विषयप्रमाद, (४) कषायप्रमाद,
(५) द्यूतप्रमाद, (६) प्रतिलेखना प्रमाद ।

दस धम्मघायगा—

३६४ दसविधे उवघाते पण्णत्ते, त जहा—

१. उग्गमोवघाते,

२ उप्पायणोवघाते,

३ एसणोवघाते[2],

४ परिकम्मोवघाते,

५ परिहारणोवघाते[3],

दस धर्म के घातक—

३६४ उपघात दस प्रकार का कहा गया है। जैसे—

(१) भिक्षा सम्बन्धी उद्गम दोषों से होने वाला चारित्र का उपघात ।

(२) भिक्षा सम्बन्धी उत्पादन से होने वाला चारित्र का उपघात ।

(३) भिक्षा सम्बन्धी एषणा के दोष से होने वाला चारित्र का उपघात ।

(४) वस्त्र-पात्र आदि के परिकर्म से होने वाला चारित्र का उपघात ।

(५) अकल्प्य उपकरणों के उपभोग से होने वाला चारित्र का उपघात ।

---

१ ठाणं अ ६, सु ५२९

२ ठाण अ ३, उ. ४, सु. १७८

३ ठाण अ ५, उ २, सु. ४२५

६. णाणोवघाते,

७. दंसणोवघाते,

८. चरित्तोवघाते,

९. अचियत्तोवघाते,

१०. सारक्खणोवघाते। —ठाण अ. १०, सु. ७३८(१)

(६) प्रमाद आदि से होने वाला ज्ञान का उपघात।

(७) शंका आदि से होने वाला दर्शन का उपघात।

(८) समितियों के यथाविधि पालन न करने से होने वाला चारित्र का उपघात।

(९) अप्रीति या अविनय से होने वाला विनय गुण का उपघात।

(१०) शरीर, उपधि आदि में मूर्च्छा रखने से होने वाला परिग्रह महाव्रत का उपघात।

दस धम्मविसोहि—

३६५. दसविधा विसोही पण्णत्ता, तं जहा—

१. उग्गमविसोही, २. उप्पायणविसोही,
३ एसणाविसोही,[1] ४. परिकम्मविसोही,
५. परिहरणविसोही,[2] ६. णाणविसोही,
७. दंसणविसोही, ८ चरित्तविसोही,
९. अचियत्तविसोही,
१०. सारक्खणविसोही। —ठाण. अ. १०, सु. ७३८(२)

दश धर्मविशोधि—

३६५. विशोधि दस प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) उद्गम की विशोधि, (२) उत्पादन की विशोधि।
(३) एषणा की विशोधि, (४) परिकर्म की विशोधि।
(५) परिहरण की विशोधि, (६) ज्ञान की विशोधि,
(७) दर्शन की विशोधि, (८) चारित्र की विशोधि,
(९) अप्रीति की विशोधि,
(१०) संरक्षण-विशोधि—संयम के साधनभूत उपकरण रखने से होने वाली विशोधि।

अट्ठारस पावट्ठाणा—

३६६. अट्ठारस पावठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

१. पाणाइवाए, २. मुसावाए, ३. अदिण्णादाणे,
४. मेहुणे, ५. परिग्गहे, ६. कोहे,
७. माणे, ८ माया, ९. लोभे,
१०. पेज्जे, ११ दोसे, १२. कलहे,
१३. अब्भक्खाणे, १४. पेसुण्णे, १५. परपरिवाए,
१६. अरतिरति, १७. मायामोसे १८. मिच्छादंसणसल्ले[3]।
—वि स १, उ. ६, सु. ११

अठारह प्रकार के पाप स्थान—

३६६. अठारह पापस्थान कहे गये हैं। यथा—

(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान,
(४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध,
(७) मान, (८) माया, (९) लोभ,
(१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह,
(१३) अभ्याख्यान (कलंक), (१४) पैशुन्य (चुगली),
(१५) परपरिवाद (निन्दा), (१६) अरतिरति, (हर्ष शोक)
(१७) मायामृषा, (१८) मिथ्यादर्शनशल्य।



औद्देशिकादि अनाचार—५

ओद्देसियाइं अणायाराइं—

३६७. संजमे सुट्ठिअप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं।
तेसिमेयमणाइण्ण, निग्गथाण महेसिण॥

औद्देशिकादि अनाचार—

३६७ संयम में सुस्थित बाह्याभ्यंतर परिग्रह से मुक्त, छः काय के रक्षक निर्ग्रन्थ महर्षियों के ये आचरण के अयोग्य स्थान हैं—

---

१ ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. १७८
३ (क) वि. स. २, उ. १, सु. ५०
(ग) वि. स. १७, उ. २, सु. १७

२ ठाण. अ. ५, उ. २, सु ४२५
(ख) वि स. ७, उ. १०, सु. १६
(घ) वि. स. १८, उ. ४, सु. २

१ उद्देसियं २ कीयगडं,
३ नियाग ४ म भिहडाणि य।
५ राइभत्ते ६ सिणाणे य,
७ गंध ८ मल्ले य ९ वीयणे॥

(१) निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, (२) निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया, (३) निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला और (४) निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया आहारादि लेना, (५) रात्रि भोजन करना, (६) स्नान करना, (७) सुगन्धित पदार्थ सूंघना, (८) पुष्पादि की माला पहनना, (९) पखा आदि से हवा करना।

१० सन्निही ११ गिहिमत्ते य,
१२ रायपिंडे १३ किमिच्छए।
१४ संवाहणा १५ दंतपहोयणा य,
१६ संपुच्छणा १७ देहपलोयणा य॥

(१०) खाद्य वस्तुओं का संग्रह करना, (११) गृहस्थ के पात्र मे भोजन करना, (१२) मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना, (१३) "तुम्हें क्या चाहिये", यों पूछकर दिया जाने वाला आहारादि लेना, (१४) हाथ पैर आदि दबाना, (१५) दांतो का प्रक्षालन करना, (१६) गृहस्थ का कुशल क्षेम पूछना, (१७) दर्पण आदि मे मुख देखना।

१८ अट्ठावए य १९ नालीए,
२० छत्तस्स य धारणट्ठाए।
२१ तेगिच्छं २२ पाणहा पाए,
२३ समारंभं च जोइणो॥

(१८) शतरंज खेलना, (१९) नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना, (२०) छत्र धारण करना, (२१) गृहस्थ की चिकित्सा करना, (२२) पैरों मे जूते पहनना, (२३) अग्नि जलाना।

२४ सेज्जायरपिंडं च, २५. आसंदीपलियंकए।
२६ गिहंतरनिसेज्जा य, २७ गायस्सुव्वट्टणाणि य॥

(२४) शय्यातरपिण्ड ग्रहण करना, (२५) बेंत आदि की कुर्सी पर बैठना, पलग पर बैठना, (२६) गृहस्थ के घर मे बैठना, (२७) शरीर पर उबटन करना।

२८ गिहिणो वेयावडियं, जा य २९ आजीववत्तिया।
३० तत्तानिव्वुडभोइत्तं, ३१ आउरस्सरणाणि य॥

(२८) गृहस्थ की सेवा करना, (२९) जाति कुल आदि बता कर भिक्षा प्राप्त करना, (३०) अर्द्ध-पक्व-मिश्र पदार्थों का उपभोग करना, (३१) क्षुधा आदि से पीडित होकर भुक्त भोगों का स्मरण करना।

३२ मूलए ३३ सिंगबेरे य, ३४ उच्छुखंडे अनिव्वुडे।
३५ कंदे ३६ मूले य ३७ सचित्ते, फले ३८ बीए य आमए॥

(३२) सचित्त मूला, (३३) अदरख, (३४) इक्षुखंड, (३५) कंद, (३६) मूल, (३७) फल, (३८) बीज आदि ग्रहण करना।

३९ सोवच्चले ४० सिंधवे लोणे ४१ रोमालोणे य आमए।
४२ सामुद्दे ४३ पंसुखारे य ४४ कालालोणे य आमए॥

(३९) सचित्त सौवर्चल नमक, (४०) सैन्धव नमक, (४१) रोम नमक, (४२) समुद्र-नमक, (४३) पृथ्वी खार, (४४) काला लवण आदि ग्रहण करना।

४५ धूवणेत्ति ४६ वमणे य ४७ वत्थीकम्म ४८ विरेयणे।

(४५) वस्त्रादि को धूप आदि से सुगन्धित करना, (४६) अकारण औषध द्वारा वमन करना, (४७) वस्तिकर्म करना, (४८) औषध द्वारा विरेचन करना।

४९ अंजणे ५० दंतवणे[1] य ५१ गायब्भंगविभूसणे[2]॥

(४९) आँखों मे अंजन आंजना, (५०) दांतों को दतौन से घिसना व मस्सी लगाना, (५१) शरीर की तेल आदि से मालिश करना, (५२) शरीर को विभूषित करना।

१ सूय सु २, अ. १, सु. ६८१

२ आगमों मे श्रमण वर्ग के आचारों एवं अनाचारों का अनेक जगह प्ररूपण है। कहीं संख्या का निर्देश है और कहीं नहीं है। स्थानांग मे दस यति धर्म, आचारांग श्रुतस्कन्ध २ अ. १५ मे और प्रश्नव्याकरण के पाँचवें संवर द्वार मे पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ, दशवैकालिक अ ६ मे और समवायांग मे अठारह स्थान इस प्रकार संख्या निर्देश पूर्वक आचारों का आगमों मे अनेक जगह प्ररूपण है।

(शेष अ ले पृष्ठ पर)

सव्वमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिण ।
सजमम्मि य जुत्ताणं लहुभूयविहारिण ।।
—दस. अ. ३, गा. १-१०

जो सयम मे लीन और वायु की तरह मुक्त विहारी महर्षि निर्ग्रन्थ हैं उनके ये सव अनाचीर्ण हैं ।



शबल दोष—६

एगवीसं सबला—

३६८. एगवीसं सवला पण्णत्ता, तं जहा—

१. हत्थकम्म करेमाणे सवले ।
२. मेहुण पडिसेवमाणे सबले ।
३ राइ-भोयणं भुंजमाणे सबले ।
४. आहाकम्मं भुंजमाणे सवले ।
५ रायपिंड भुंजमाणे सबले ।
६. उद्देसियं वा कीयं वा, पामिच्चं वा, आच्छिज्ज वा, अणिसिट्ठं वा, अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं वा भुंजमाणे सवले ।
७ अभिक्खणं-अभिक्खणं पडियाइक्खिताण भुंजमाणे सवले ।
८. अंतो छण्ह् मासाणं गणाओ गणं सकममाणे सवले ।
९. अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सवले ।
१० अंतो मासस्स तओ माइट्ठाणे करेमाणे सवले ।
११ सागारियपिंडं भुंजमाणे सबले ।

इकवीस शबल दोष—

३६८. इक्कीस शबल दोष इस प्रकार कहे गये हैं । यथा—

(१) हस्तकर्म करने वाला शबल दोष-युक्त है ।
(२) मैथुन सेवन करने वाला शवल दोष-युक्त है ।
(३) रात्रि भोजन करने वाला शबल दोष-युक्त है ।
(४) आधाकर्मिक आहार खाने वाला शबल दोष-युक्त है ।
(५) राजपिंड को खाने वाला शबल दोष-युक्त है ।
(६) साधु के उद्देश्य से निर्मित, साधु के लिए मूल्य से खरीदा हुआ, उधार लाया हुआ, निर्बल से छीनकर लाया हुआ, बिना आज्ञा के लाया हुआ या साधु के स्थान पर लाकर दिये हुए आहार को खाने वाला शबल दोषयुक्त है ।
(७) पुन. पुनः प्रत्याख्यान करके आहारादि भोगने वाला शवल दोष युक्त है ।
(८) छह मास के भीतर ही एक गण से दूसरे गण मे जाने वाला शवल दोष युक्त है ।
(९) एक माम मे तीन वार उदक लेप (जल-संस्पर्श) करने वाला शवल दोषयुक्त है ।
(१०) एक मास के भीतर तीन वार माया करने वाला शवल दोष युक्त है ।
(११) शय्यातर का आहारादि खाने वाला शवल दोष युक्त है ।

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

बीस असमाधिस्थानो का, तीस महा मोहनीय कर्म वन्ध का, इक्कीस सवल दोषो का दशाश्रुतस्कन्ध और समवायाग मे कथन है । इस प्रकार सख्या निर्देश पूर्वक अनाचारो का आगमो मे अनेक जगह प्ररूपण है ।
किन्तु दशवैकालिक अ. ३ मे उक्त अनाचारो के साथ सख्या का निर्देश नही है फिर भी इनके साथ ५२ की संख्या जोड़ दी गई है, यह उचित नही है । क्यो कि जहाँ पाठ मे सख्या का कथन न हो वहाँ अल्प या अधिक सख्या का प्ररूपण भ्रामक होता है । यदि अनाचारो की सख्या निश्चित होती तो दशवैकालिक के टीकाकार या चूर्णीकार आदि व्याख्याकार सख्या का उल्लेख अवश्य करते । अथवा अन्य समवायाग आदि आगमो मे भी कही न कही ५२ की संख्या का उल्लेख मिलता ।
किन्तु अनाचारो की निश्चित सख्या का कथन किसी भी आगम या उसके व्याख्या-ग्रन्थो मे नही मिलता है ।
अत साधु के अनाचार ५२ ही नही समझ लेना चाहिये किन्तु आगमो मे जहाँ भी जितने भी निषिद्ध कार्य हैं वे सभी साधु के लिए अनाचरणीय है जिनकी सख्या निर्धारित नही की जा सकती ।

१२. आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले।

(१२) जान-बूझ कर जीवों की हिंसा करने वाला शबल दोष युक्त है।

१३ आउट्टियाए मुसावायं वदमाणे सबले।

(१३) जान-बूझ कर असत्य बोलने वाला शबल दोषयुक्त है।

१४. आउट्टियाए अदिण्णादाणं गिण्हमाणे सबले।

(१४) जान-बूझ कर अदत्त वस्तु को ग्रहण करने वाला शबल दोष युक्त है।

१५. आउट्टियाए अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा, चेएमाणे सबले।

(१५) जान-बूझ कर सचित्त पृथ्वी के निकट की भूमि पर कायोत्सर्ग शयन एवं स्वाध्याय आदि करने वाला शबल दोष युक्त है।

१६ आउट्टियाए ससिणिद्धाए पुढवीए, ससरक्खाए पुढवीए ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा, चेएमाणे सबले।

(१६) जान-बूझ कर सस्निग्ध पृथ्वी पर और सचित्त रज से युक्त पृथ्वी पर कायोत्सर्ग, शयन एवं स्वाध्याय आदि करने वाला शबल दोष युक्त है।

१७ आउट्टियाए चित्तमताए सिलाए, चित्तमताए लेलुए, कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्ठिए, सअंडे-जाव-मक्कडा-संताणए, ठाणं वा, सेज्जं वा, निसीहियं वा चेएमाणे सबले।

(१७) जान-बूझ कर सचित्त शिला पर, सचित्त पत्थर के ढेले पर, घुन लगे हुए या दीमक लगे हुए जीव-युक्त काष्ठ तथा अन्डे-युक्त—यावत्—मकड़ी के जालों से युक्त स्थान पर कायोत्सर्ग शयन एवं स्वाध्याय आदि करने वाला शबल दोष युक्त है।

१८. आउट्टियाए मूलभोयणं वा, कंद-भोयणं वा, खंध-भोयणं वा, तया भोयणं वा, पवाल-भोयणं वा, पत्तभोयणं वा, पुप्फ-भोयणं वा, फल-भोयणं वा, बीय-भोयणं वा, हरिय-भोयणं वा भुंजमाणे सबले।

(१८) जान-बूझ कर के मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, कोंपल, पत्र, पुष्प, फल, बीज और हरी वनस्पति का भोजन करने वाला शबल दोष युक्त है।

१९. अंतो संवच्छरस्स दस दगलेवे करेमाणे सबले।

(१९) एक वर्ष के भीतर दश बार उदक-लेप लगाने वाला शबल दोष युक्त है।

२० अंतो संवच्छरस्स दस माइट्ठाणाइं करेमाणे सबले।

(२०) एक वर्ष के भीतर दश बार मायास्थान सेवन करने वाला शबल दोष युक्त है।

२१. आउट्टियाए सीतोदय-वग्घारिय-हत्थेण वा, मत्तेण वा, दव्वीए वा, भायणेण वा, असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिगाहित्ता भुंजमाणे सबले।[1]

—दसा द. २, सु. २

(२१) जान-बूझ कर शीतल सचित्त जल से गीले हाथ, पात्र, चम्मच या भाजन से, अशन, पान, खादिम और स्वादिम को लेकर खाने वाला शबल दोष युक्त है।



१ (क) सम. सम. २१, सु. १

(ख) समवायांग में राजपिंड पाँचवाँ है और सागारिय पिंड ११ वां है। दशाश्रुतस्कन्ध में सागारिय पिंड पाँचवाँ है और राजपिंड ११ वां है। समवायांग में १७वें सबल दोष में "चित्तमताए पुढविए" पाठ अधिक है।

असमाधि-स्थान—७

वीसं असमाहिठाणा—

३६९. बीस असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता, त जहा—

१. दवदवचारी यावि भवइ,
२. अप्पमज्जियचारी यावि भवइ।
३. दुप्पमज्जियचारी यावि भवइ।
४. अतिरित्त-सेज्जासणिए यावि भवइ।
५ रातिणिअ-परिभासी यावि भवइ।
६. थेरोवघाइए यावि भवइ।
७. भूओवघाइए यावि भवइ।
८. संजलणे यावि भवइ।
९. कोहणे यावि भवइ।
१०. पिट्ठिमसिए यावि भवइ।
११. अभिक्खण-अभिक्खणं ओहारइत्ता भवइ।
१२. णवाणं अहिगरणाणं अणुप्पण्णाण उप्पाइत्ता भवइ।
१३. पोराणाणं अहिगरणाणं खामिअ-विउसवियाण पुणो-उदीरेत्ता भवइ।
१४. अकाले सज्झायकारए यावि भवइ।
१५. ससरक्ख-पाणि-पाए यावि भवइ।
१६ सद्दकरे यावि भवइ।
१७. झझकरे (भेदकरे) यावि भवइ।
१८. कलहकरे यावि भवइ।
१९. सूरप्पमाण-भोई यावि भवइ।
२०. एसणाए असमाहिए यावि भवइ।[1]

—दसा. द १, सु. ३-४

बीस असमाधि स्थान—

३६९. बीस असमाधि स्थान इस प्रकार कहे हैं। जैसे—

(१) अतिशीघ्र चलना।
(२) प्रमार्जन करे बिना (अन्धकार मे) चलना।
(३) उपेक्षा भाव से प्रमार्जन करना।
(४) अतिरिक्त शय्या-आसन रखना।
(५) रत्नाधिक के सामने परिभाषण करना।
(६) स्थविरो का उपघात करना।
(७) पृथ्वी आदि का घात करना।
(८) क्रोध भाव मे जलना।
(९) क्रोध करना।
(१०) पीठ पीछे निन्दा करना।
(११) बार-बार निश्चयात्मक भाषा बोलना।
(१२) नवीन अनुत्पन्न कलहो को उत्पन्न करना।
(१३) क्षमापना द्वारा उपशान्त पुराने क्लेश को फिर से उभारना।
(१४) अकाल मे स्वाध्याय करना।
(१५) सचित्तरज से युक्त हाथ पाँव आदि का प्रमार्जन न करना।
(१६) अनावश्यक बोलना या वाक् युद्ध करना (जोर-शोर से बोलना)
(१७) सघ मे भेद उत्पन्न करने वाला वचन बोलना।
(१८) कलह करता झगडा करना।
(१९) सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक कुछ न कुछ खाते रहना।
(२०) एषणा समिति से असमित होना अर्थात् (अनेषणीय भक्त-पानादि ग्रहण करना।)



मोहनीय स्थान—८

तीसं महा-मोहणिज्ज-ठाणाइं—

३७०. "अज्जो!" त्ति समणे भगवं महावीरे बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—

तीस महामोहनीय स्थान—

३७०. श्रमण भगवान् महावीर ने सभी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को आमन्त्रित कर इस प्रकार कहा—

---

१ सम. सम. २०, सु. १

"एवं खलु अज्जो ! तीस मोहणिज्ज-ठाणाइं जाइं इमाइं इत्थी वा पुरिसो वा अभिक्खणं-अभिक्खणं आयारेमाणे वा, समायारेमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेइ" तं जहा—

१. जे केइ तसे पाणे, वारिमज्झे विगाहिआ ।
उदएणाऽक्कम्म मारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

"हे आर्यो ! जो स्त्री या पुरुष इन तीस मोहनीय स्थानों का सामान्य या विशेष रूप से पुन. पुनः आचरण करते हैं वे मोहनीय कर्म का बन्ध करते हैं ।" वे इस प्रकार हैं—

(१) जो कोई त्रस प्राणियों को जल मे डुबोकर या प्रचण्ड वेग वाली तीव्र जलधारा डालकर उन्हें मारता है वह महा-मोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

२. पाणिणा संपिहित्ताणं, सोयमावारिय पाणिणं ।
अंतो नदंतं मारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

(२) जो प्राणियों के मुंह, नाक आदि श्वास लेने के द्वारों को हाथ आदि से अवरुद्ध कर अव्यक्त शब्द करते हुए प्राणियों को मारता है वह महामोहनीय कर्म बांधता है ।

३. जायतेयं समारब्भ, बहुं ओरुम्भिया जणं ।
अंतो धूमेण मारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

(३) जो अनेक प्राणियों को एक घर में घेर कर अग्नि के धुएँ से उन्हें मारता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

४. सीसम्मि जो पहणइ, उत्तमंगम्मि चेयसा ।
विभज्ज मत्थयं फाले, महामोहं पकुव्वइ ॥

(४) जो किसी प्राणी के उत्तमांग-शिर पर शस्त्र से प्रहार कर उसका भेदन करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

५. सीसं वेढेण जे केइ, आवेढेइ अभिक्खणं ।
तिव्वासुभ - समायारे, महामोहं पकुव्वइ ॥

(५) जो तीव्र अशुभ परिणामों से किसी प्राणी के सिर को गीले चर्म के अनेक वेस्टनों से वेष्टित करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

६. पुणो-पुणो पणिहिए, हणित्ता उवहसे जणं ।
फलेणं अदुव दंडेणं, महामोहं पकुव्वइ ॥

(६) जो किसी प्राणी को धोखा देकर के भाले से या डंडे से मारकर हँसता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

७. गूढायारी निगूहिज्जा, मायं मायाए छायए ।
असच्चवाई णिण्हाइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

(७) जो गूढ आचरणों से अपने मायाचार को छिपाता है, असत्य बोलता है और सूत्रों के यथार्थ अर्थों को छिपाता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

८. धंसेइ जो अभूएणं, अकम्मं अत्तकम्मुणा ।
अदुवा तुमकासित्ति, महामोहं पकुव्वइ ॥

(८) जो निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या आक्षेप करता है, अपने दुष्कर्मों का उस पर आरोपण करता है अथवा तूने ही ऐसा कार्य किया है इस प्रकार दोषारोपण करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

९ जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासए ।
अक्खीण झंझे-पुरिसे, महामोहं पकुव्वइ ॥

(९) जो कलहशील है और भरी सभा मे जान-बूझकर मिश्र भाषा बोलता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

१० अणायगस्स नयवं, दारे तस्सेव धंसिया ।
विउलं विक्खोभइत्ताणं, किच्चा णं पडिबाहिरं ॥
उवगसंतंपि, झंपित्ता, पडिलोमाहिं वग्गुहिं ।
भोग-भोगे वियारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

(१०) जो कूटनीतिज्ञ मंत्री राजा के हितचिन्तकों को भरमाकर या अन्य किसी बहाने से राजा को राज्य से बाहर भेजकर राज्य लक्ष्मी का उपभोग करता है, रानियों का शील खण्डित करता है और विरोध करने वाले सामन्तों का तिरस्कार करके उनके भोग्य पदार्थों का विनाश करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

११. अकुमारभूए जे केई, "कुमार-भूए त्ति हं" वए ॥
इत्थी - विसय - सेवी य, महामोहं पकुव्वइ ॥

(११) जो बालब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी अपने आपको बालब्रह्मचारी कहता है और स्त्री विषयक भोगों मे गृद्ध होता है, वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है ।

१२ अबंभयारी जे केई, "बंभयारी त्ति हं" वए ।
गद्दहेव्व गवां मज्झे, विस्सरं नयइ नदं ॥

(१२) जो ब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी "मैं ब्रह्मचारी हूँ" इस प्रकार कहता है वह मानों गायों के बीच गधे के समान

अप्पणो अहिए बाले, मायामोसं बहु भसे ।
इत्थी-विसय-गेही य, महामोह पकुव्वइ ॥

वेसुरा बकता है और अपनी आत्मा का अहित करने वाला वह मूर्ख माया युक्त झूठ बोलकर स्त्रियो मे आसक्त रहता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१३ जं निस्सिए उव्वहइ, जस्साहिगमेण वा ।
तस्स लुब्भइ वित्तम्मि, महामोहं पकुव्वइ ॥

(१३) जो जिसका आश्रय पाकर आजीविका कर रहा है और जिसकी सेवा करके समृद्ध हुआ है उसी के धन का अपहरण करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१४. ईसरेण अदुवा गामेणं, अणीसरे ईसरीकए ।
तस्स सपय-हीणस्स, सिरी अतुलमागया ॥
ईसा-दोसेण आविट्ठे, कलुसाविल - चेयसे ।
जे अंतरायं चेएइ, महामोह पकुव्वइ ॥

(१४) जो किसी स्वामी का या ग्रामवासियों का आश्रय पाकर उच्च स्थान को प्राप्त करता है और जिनकी सहायता से सर्व साधन सम्पन्न बना है यदि ईर्ष्या युक्त एव कलुषित चित्त होकर उन आश्रयदाताओ के लाभ मे वह अन्तराय उत्पन्न करता है तो महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१५. सप्पी जहा अंडउडं, भत्तारं जो विहिंसइ ।
सेनावइं पसत्थार, महामोह पकुव्वइ ॥

(१५) सर्पिणी जिस प्रकार अपने ही अण्डो को खा जाती है उसी प्रकार जो पालन कर्ता, सेनापति तथा कलाचार्य या धर्माचार्य को मार देता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१६. जे नायग च रट्ठस्स नेयार निगमस्स वा ।
सेट्ठिं बहुरव हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥

(१६) जो राष्ट्रनायक को, निगम के नेता को तथा लोकप्रिय श्रेष्ठी को मार देता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१७. बहुजणस्स णेयारं, दीवत्ताणं च पाणिण ।
एयारिसं नर हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥

(१७) जो अनेक जनो के नेता को तथा समुद्र मे द्वीप के समान अनाथ जनो के रक्षक को मार देता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१८. उवट्ठिय पडिविरय, सजय सुत्तवस्सिय ।
विउक्कम्म धम्माओ भसेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

(१८) जो पापो से विरत दीक्षार्थी को और तपस्वी साधु को धर्म से भ्रष्ट करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

१९. तहेवाणत - णाणीणं, जिणाणं वरदंसिण ।
तेसिं अवण्णव बाले, महामोह पकुव्वइ ॥

(१९) जो अज्ञानी अनन्त ज्ञान-दर्शन सम्पन्न जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद निन्दा करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२०. नेयाइअस्स मग्गस्स, दुट्ठे अवयरइ बहुं ।
तं तिप्पयन्तो भावेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

(२०) जो दुष्टात्मा अनेक भव्य जीवो को न्याय मार्ग से भ्रष्ट करता है और न्यायमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२१. आयरिय-उवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिंसइ बाले, महामोह पकुव्वइ ॥

(२१) जिन आचार्य या उपाध्यायो से श्रुत और आचार ग्रहण किया है उनकी ही जो अवहेलना करता है वह महामोहनीय कर्म का वन्ध करता है।

२२. आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ ।
अप्पडिपूयए थद्धे, महामोहं पकुव्वइ ॥

(२२) जो व्यक्ति आचार्य उपाध्याय की सम्यक् प्रकार से सेवा नही करता है तथा उनका आदर सत्कार नही करता है और अभिमान करता है वह महामोहनीय कर्म का बध करता है।

२३. अबहुस्सुए य जे केई, सुएणं पविकत्थइ ।
सज्झाय - वाय - वयइ, महामोहं पकुव्वइ ॥

(२३) जो बहुश्रुत नही होते हुए भी अपने आपको बहुश्रुत, स्वाध्यायी और शास्त्रो के रहस्य का ज्ञाता कहता है वह महामोहनीय कर्म का वन्ध करता है।

२४. अतवस्सीए जे केइ तवेण पविकत्थइ ।
सव्वलोय - परे तेणे, महामोहं पकुव्वइ ॥

(२४) जो तपस्वी नही होते हुए भी अपने आपको तपस्वी कहता है वह इस विश्व मे सबसे बडा चोर है, अत वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२५ साहारणट्ठा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिए ।
पभू न कुणइ किच्च, मज्झपि से न कुव्वइ ॥
सढे नियडी - पण्णाणे, कलुसाउल - चेयसे ।
अप्पणो य अ बोहीए, महामोह पकुव्वइ ॥

(२५) जो समर्थ होते हुए भी रोगी की सेवा का महान् कार्य नही करता है अपितु "मेरी इसने सेवा नही की है अत मैं भी इसकी सेवा क्यो करू" इस प्रकार कहता है वह महामूर्ख मायावी एवं मिथ्यात्वी कलुषित चित्त होकर अपनी आत्मा का अहित करता है ऐसा व्यक्ति महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२६ जे कहाहिगरणाइ, संपउंजे पुणो-पुणो ।
सव्व तित्थाण- भेयाए, महामोह पकुव्वइ ॥

(२६) चतुर्विध संघ में मतभेद पैदा करने के लिए जो कलह के अनेक प्रसग उपस्थित करता है वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है।

२७ जे य आहम्मिए जोए, सपउजे पुणो-पुणो ।
सहा-हेउ सही-हेउं, महामोह पकुव्वइ ॥

(२७) जो श्लाघा या मित्रगण के लिए अधार्मिक योग करके वशीकरणादि का बार-बार प्रयोग करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२८ जे य माणुस्सए भोए, अदुवा पारलोइए ।
तेऽतिप्पयतो आसयइ, महामोह पकुव्वइ ॥

(२८) जो मानुषिक और देवी भोगो की तृप्ति से उनकी बार-बार अभिलाषा करता है वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

२६. इड्ढी जुई जसो वण्णो, देवाणं बलवीरियं ।
तेसिं अवण्णव वाले, महामोह पकुव्वइ ॥

(२६) जो व्यक्ति देवो की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण और बल-वीर्य का अवर्णवाद बोलता है वह महामोहनीय कर्म का बध करता है।

३० अपस्समाणो पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्झगे ।
अण्णाणी जिण-पूयट्ठी, महामोहं पकुव्वइ ॥

(३०) जो अज्ञानी जिनदेव की पूजा के समान अपनी पूजा का इच्छुक होकर देव, यक्ष और असुरो को नही देखता हुआ भी कहता है कि "मैं इन सबको देखता हू" वह महामोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

एते मोहगुणा वुत्ता, कम्मंता चित्त-वद्धणा ।
जे उ भिक्खू विवज्जेज्जा, चरिज्जत्तगवेसए ॥

ये मोह से उत्पन्न होने वाले, अशुभ कर्म का फल देने वाले, चित की मलीनता को बढाने वाले दोष कहे गये हैं अत भिक्षु इनका आचरण न करे किन्तु आत्म-गवेषी होकर विचरे।

जं पि जाणे इतो पुव्वं, किच्चाकिच्चं बहु जढ ।
तं वता ताणि सेविज्जा, जेहिं आयारव सिया ॥

भिक्षु पूर्व मे किये हुए अपने कृत्याकृत्यो को जानकर उनका पूर्ण रूप से परित्याग करे और उन सयम स्थानो का सेवन करे जिनसे कि वह आचारवान् बने।

आयार-गुत्ती सुद्धप्पा, धम्मे ठिच्चा अणुत्तरे ।
ततो वमे सए दोसे, विसमासीविसो जहा ॥

जो भिक्षु यथाचार के पालन से सुरक्षित है, शुद्धात्मा है और अनुत्तर धर्म में स्थित है, वह अपने दोषो को त्याग दे जिस प्रकार आशीविष-सर्प विष का वमन कर देता है।

सुचत्त-दोसे सुद्धप्पा, धम्मट्ठी विदितापरे ।
इहेव लभते कित्ति, पेच्चा य सुगतिं वरे ॥

इस प्रकार दोषो को त्याग कर शुद्धात्मा धर्मार्थी भिक्षु मोक्ष के स्वरूप को जानकर इस लोक मे कीर्ति प्राप्त करता है और परलोक मे वह सुगति को प्राप्त होता है।

एवं अभिसमागम्म सूरा दढ परक्कमा ।
सव्व-मोह-विणिमुक्का, जाइ-मरणमतिच्छिया[1] ॥
—दसा. द. ९, गा. १-३९

जो दृढ़ पराक्रमी, शूरवीर भिक्षु सभी स्थानो को जानकर उन मोहबन्ध के कारणो का त्याग करता है वह जन्म-मरण का अतिक्रमण कर देता है, अर्थात् ससार से मुक्त हो जाता है ।



क्रियास्थान—९

तेरस किरिया ठाणा—

३७१. तेरस किरिया ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

१ अट्ठादंडे,
२. अणट्ठादडे,
३. हिंसादडे,
४. अकम्हादंडे,
५. दिट्ठिविप्परिआसिआदंडे,
६. मुसावायवत्तिए,
७. अदिण्णादाणवत्तिए,
८. अज्झत्थिए,
९ माणवत्तिए,
१०. मित्तदोसवत्तिए,
११ मायावत्तिए,
१२. लोभवत्तिए,
१३. ईरियावहिए, नामं तेरसमे ।[2]—सम सम. १३, सु. १

तेरह क्रियास्थान—

३७१. तेरह क्रियास्थान कहे गये हैं । जैसे—

(१) सप्रयोजन हिंसा ।
(२) निष्प्रयोजन हिंसा ।
(३) सकल्प युक्त हिंसा ।
(४) अचानक होने वाली हिंसा ।
(५) मतिभ्रम से होने वाली हिंसा ।
(६) मृषावाद के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
(७) अदत्तादान के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
(८) बाह्य निमित्त के बिना स्वतः मन से उत्पन्न होने वाली क्रिया ।
(९) अभिमान के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
(१०) मित्र के प्रति अप्रिय भाव के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
(११) माया के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
(१२) लोभ के निमित्त से होने वाली क्रिया ।
(१३) कषाय रहित योगो के निमित्त से होने वाली क्रिया ।



---

१ (क) सम. स. ३०, सु. १
(ख) दशाश्रुतस्कन्ध और समवायांग सूत्र मे समान वर्णन है किन्तु दूसरे स्थान से पांचवें स्थान तक चार स्थानो के क्रम मे अन्तर है, जो लिपि दोषजन्य सम्भव है ।
यह अन्तर इस प्रकार है—

		समवायाग में		दशाश्रुतस्कन्ध मे
(१) श्वास रोक कर मारना	—	तीसरा है	—	दूसरा है ।
(२) धुंए आदि से मारना,	—	चौथा है	—	तीसरा है ।
(३) मस्तक का भेदन करके मारना	—	पांचवां है	—	चौथा है ।
(४) मस्तक पर गीला चमडा बांधकर मारना	—	दूसरा है	—	पांचवा है ।

शेष सभी का क्रम समान है ।

२ सूय. सु. २, अ. २, सु. १

निमित्त कथन—१०

अट्ठविहा महाणिमित्ता—

३७२. अट्ठविहे महाणिमित्ते पण्णत्ते, तं जहा—
१. भोमे, २ उप्पाते, ३ सुविणे,
४. अंतलिक्खे, ५ अगे, ६ सरे
७ लक्खणे, ८ वंजणे ।[1] —ठाणं. अ ८, सु. ६०८

आठ प्रकार के महानिमित्त –

३७२ महानिमित्त आठ प्रकार के होते हैं। यथा—
(१) भौम, (२) उत्पात (उपद्रव,) (३) स्वप्न,
(४) अन्तरिक्ष, (५) आग, (६) स्वर,
(७) लक्षण, (८) व्यजन (तिल, मसा आदि)

णिमित्त वागरण णिसेहो—

३७३ जे लक्खण सुविण पउजमाणे, निमित्ते कोऊहल सपगाढे ।
कुहेड विज्जा-सवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले ।
—उत्त. अ. २१, गा. ४५

जे लक्खण च सुविणं च, अगविज्ज च जे पउंजति ।
न हु ते समणा वुच्चति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ॥
—उत्त. अ ८, गा. १३

छिन्न सरं भोमं अतलिक्ख, सुविणं लक्खण-दड-वत्थुविज्जं ।
अगवियार सरस्स विजय, जे विज्जाहिं न जीवई स भिक्खू ॥
—उत्त. अ १५, गा. ७

नक्खत्त सुमिणं जोगं, निमित्त मत भेसज ।
गिहिणो त न आइक्खे, भूयाहिगरणं पयं ॥
—दस. अ ८, गा. ५१

निमित्त कथन निषेध—

३७३. जो लक्षणशास्त्र और स्वप्नशास्त्र का प्रयोग करता है, जो निमित्तशास्त्र और कौतुक-कार्य मे लगा रहता है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाली आश्रव युक्त विद्याओ से आजीविका करता है, वह मरण के समय किसी की शरण नही पा सकता।

जो साधक लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र एव अगविद्या का प्रयोग करते हैं उन्हे सच्चे अर्थों मे श्रमण नही कहा जाता, ऐसा आचार्यों ने कहा है।

जो छेदन, स्वर (उच्चारण), भौम, अतरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दंड, वास्तु विद्या, अंगस्फुरण और स्वर विज्ञान आदि विद्याओ के द्वारा आजीविका नही करता है वह भिक्षु है।

नक्षत्र, स्वप्न, वशीकरण योग, निमित्त, मन्त्र और भेपज—ये जीवो की हिंसा के स्थान हैं, इसलिए मुनि गृहस्थो को इनके फलाफल न बताए।

निमित्त प्पओगी पावसमणो—

३७४ सय गेहं परिचज्ज, परगेहंसि वावडे ।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥
—उत्त. अ. १७, गा. १८

निमित्त का प्रयोक्ता पाप-श्रमण—

३७४. जो अपना घर छोडकर दूसरो के घर मे जाकर उनका कार्य करता है और निमित्त शास्त्र से शुभाशुभ बताकर जीवन व्यवहार चलाता है वह पाप-श्रमण कहलाता है।



कषाय-निषेध—११

कषाय-णिसेहो—

३७५. पलिऊंचण च भयण च, थंडिलुस्सयणाणि य ।
धुणाऽऽदाणाइं लोगंसि, त विज्ज परिजाणिया ॥
—सूय सु १, अ ९, गा ११

कषाय निषेध—

३७५ माया और लोभ तथा क्रोध और मान को नष्ट कर डालो क्योकि ये सब (कषाय) लोक मे कर्मबन्ध के कारण हैं, अत विद्वान् साधक ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनका त्याग करे।

---

१ समवाय २९, सु १

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

क्रोध, मान, माया और लोभ ये पाप को बढाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाले को इन चारो दोषो, दोषो को छोड देना चाहिये।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥

क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मैत्री का विनाश करता है और लोभ सभी सद्‌गुणो का नाश करने वाला है।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥

उपशम से क्रोध का हनन करे, मृदुता से मान को जीते, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीते।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभा य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥
—दस. अ. ८, गा. ३६-३९

वश मे नही किये हुए क्रोध और मान, बढ़े हुए माया और लोभ ये सम्पूर्ण चारो कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जडो का सिंचन करती है।

जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिए माहणे भिक्खुए सिया ।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए, तिव्वं से कम्मेहिं किच्चती ॥

मायामय अनुष्ठानो मे आसक्त पुरुष चाहे बहुश्रुत हो चाहे वे धर्माचरणशील हो, ब्राह्मण हो या माहण हो अथवा भिक्षु हो वे कर्मों द्वारा अत्यन्त पीडित किये जाते हैं।

अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिण्णे इह भासई धुवं ।
णाहिसि आरं कओ परं ? वेहासे कम्मेहिं किच्चई ॥

हे शिष्य! यह देखो कि—कई साधक संयम स्वीकार करके कषाय विजय मे सफल नही होते हुए भी संयम का कथन करते हैं उनका यह लोक भी नही सुधरता है तो परलोक कैसे सुधरेगा ? अर्थात् नही सुधरता है और बीच मे ही वे कर्मों से पीडित होते रहते हैं।

जइ वि य णिगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो ।
जे इहमायाइ मिज्जती, आगंता गब्भायऽणंतसो ॥
—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. ७-९

यदि कोई भिक्षु नग्न रहता है, देह को कृश करता है और मास-मास के अन्त मे एक बार खाता है, फिर भी माया आदि से परिपूर्ण होने के कारण वह अनन्त बार जन्म-मरण करता है।

कसायाणं अग्गी उवमा—

कषायों को अग्नि की उपमा—

३७६. प०—सपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा ।
जे डहन्ति सरीरत्था, कह विज्झाविया तुमं ? ॥

३७६ प्र०—(केशीकुमार पूछते हैं) हे गौतम ! प्राणिमात्र के शरीर मे घोर अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं और आत्मा के गुणो को भस्म कर रही हैं उन अग्नियो को आपने कैसे बुझाया ?

उ०—महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं ।
सिंचामि सययं तेउ, सित्ता नो व डहन्ति मे ॥

उ०—महामेघ से उत्पन्न स्रोत मे से पवित्र-जल को लेकर मैं उन अग्नियो का निरन्तर सिंचन करता हूँ। अत सिंचन की गई वे अग्नियाँ मुझे नही जलाती हैं।

प०—अग्गी य इइ के वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥

प्र०—"वे कौन-सी अग्नियाँ हैं ?" केशी ने गौतम को कहा। केशी के पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

उ०—कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय-सील-तवो जलं ।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥
—उत्त. अ. २३, गा. ५०-५३

उ०—"कषायो को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप यह जल है। श्रुत-शील-तप-रूप-जल-धारा से बुझी हुई और नष्ट हुई अग्नियाँ मुझे नही जलाती हैं।"

अट्ठमयप्पगारा—

आठ प्रकार के मद—

३७७ अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—

१. जातिमए, २. कुलमए, ३. बलमए,
४ रूवमए, ५. तवमए, ६. सुत्तमए,
७. लाभमए, ८. इस्सरियमए ।
—ठाणं. अ. ८, सु. ६०६

३७७. मद आठ प्रकार के कहे गये हैं। यथा—

(१) जातिमद, (२) कुलमद, (३) बलमद,
(४) रूपमद, (५) तपमद, (६) श्रुतमद,
(७) लाभमद, (८) ऐश्वर्यमद ।

मदणिसेहो—

३७८ पण्णामय चेव तवोमयं च, णिण्णामए गोयमय च भिक्खू ।
आजीवग चेव चउत्थमाहु, से पंडिते उत्तमपोग्गले से ॥

एताइं मदाइं विगिंच धीरा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा
ते सव्वगोत्तावगता महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयति ॥
—सूय सु १, अ १३, गा १५-१६

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥
—दस अ १०, गा. १९

न बाहिर परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे ।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसिबुद्धिए ॥
—दस अ ८, गा. ३०

तयस व जहाइ से रय, इति संखाय मुणी य मज्जई ।
गोयण्णतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसि इखिणी ॥

जो परिभवई पर जण, संसारे परिवत्तई महं ।
अदु इखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥
—सूय. सु. १, अ. २, उ. २, गा १-२

मद निषेध—

३७८ भिक्षु प्रज्ञा का मद, तप का मद, गोत्र का मद और चौथा आजीविका का मद मन से सम्पूर्ण रूप से निकाल दे । जो ऐसा करता है, वही पण्डित और उत्तम आत्मा है ।

धीर पुरुष इन मदो को आत्मा से पृथक् कर दे । क्योकि धैर्यवान् साधक उन जाति आदि मदो का सेवन नही करते । वे सब प्रकार के गोत्रादि मदो से रहित महर्षिगण नाम-गोत्रादि से रहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं ।

जो जाति का मद नही करता, जो रूप का मद नही करता, जो लाभ का मद नही करता, जो श्रुत का मद नही करता, जो सब मदो का वर्जन करता हुआ धर्म-ध्यान मे रत रहता है—वह भिक्षु है ।

भिक्षु दूसरे का तिरस्कार न करे । अपना बडप्पन न दिखाए । श्रुत, लाभ, जाति सम्पन्नता, तप और बुद्धि का मद न करे ।

जैसे सर्प अपनी केंचुली को छोड देता है वैसे ही कल्याण का इच्छुक मुनि कर्म रज को दूर कर देता है ऐसा जानकर अहिंसक मुनि गोत्रादि का मद न करे तथा कल्याण का नाश करने वाली दूसरो की निन्दा भी न करे ।

जो साधक दूसरो का तिरस्कार करता है, वह चिर काल तक ससार मे परिभ्रमण करता है तथा परनिन्दा पापो की जननी ही है, यह जानकर मुनि किसी प्रकार का अहकार न करे ।

रूवमद-णिसेहो—

३७९. जे केई सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
"मणसा कायवक्केण" सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥

आवन्ना दीहमद्धाण, ससारम्मि अणतए ।
तम्हा सव्वदिसं पस्स, अप्पमत्तो परिव्वए ॥
—उत्त अ. ६, गा ११-१२

रूपमद निषेध—

३७९. जो कोई मन, वचन और काया से शरीर के वर्ण रूप आदि मे सर्वशः आसक्त होते हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं ।

वे इस अनन्त ससार मे जन्म-मरण के लम्बे मार्ग को प्राप्त किए हुए हैं । इसलिए सब दिशाओ का भली भाँति विचार कर मुनि अप्रमत्त होकर विचरे ।

लज्जा-णिसेहो—

३८०. जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया ।
जे मोणपद उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे ॥
—सूय. सु १, अ. २, उ. २, गा ३

लज्जा निषेध—

३८० जो पूर्व मे चक्रवर्ती राजा आदि हो अथवा जो दासो का भी दास हो किन्तु अब यदि वह सयम मार्ग मे उपस्थित हो गया तो उसे लज्जा या अभिमान न करते हुए सदैव सम्यक् प्रकार से सयम का आचरण करना चाहिए ।

कसाय-गारव-णिसेहो—

३८१ अतिमाणं च माय च, त परिण्णाय पंडिते ।
गारवाणि य सव्वाणि, निव्वाणं संधए मुणि ॥
—सूय. सु १, अ ९ गा ३६

कषाय और गर्व का निषेध—

३८१. पण्डित मुनि अति मान और माया तथा सभी गर्वो को जानकर उनका परित्याग करे और स्वयं निर्वाण की साधना मे लगे ।

णिक्किचणे भिक्खू सुलूहजीवी,
आजी जे गारवं होइ सिलोयगामी।
चमेयं तु अबुज्झमाणे,
पुणो-पुणो विप्परियासुवेइ ॥

जे भासवं भिक्खू सुसाधुवाई,
पडिहाणवं होइ विसारए य।
आगाढपण्णे सुविभावियप्पा,
अण्णं जणं पण्णया परिभवेज्जा ॥

एवं ण से होइ समाहिपत्ते,
जे पण्णवं भिक्खू विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते,
अण्णं जणं खिंसति बालपण्णे ॥

—सूय. सु. १, अ १३, गा. १२-१४

जो साधु अपरिग्रही है, रूखा-सूखा आहार करता है वह यदि गर्व और प्रशसा की आकाक्षा करता हैं तो उसकी भिक्षा-वृत्ति आदि केवल आजीविका के साधन हैं। परमार्थ को न जानने वाला वह अज्ञानी पुन. पुन ससार मे परिभ्रमण करता है।

जो भिक्षु भाषाविज्ञ है, जो हितमित-प्रिय भाषण करता हैं जो बुद्धि सम्पन्न है, जो शास्त्र मे निपुण है, जो सूक्ष्म तत्वो को समझने वाला है, सयम मे अपनी आत्मा को भावित करता है। (परन्तु इन गुणो से युक्त होने पर भी जो) दूसरे लोगो को अपनी बुद्धि से तिरस्कृत करता है वह समाधि को प्राप्त नही करता।

जो भिक्षु प्रज्ञावान् होकर अपनी जाति, बुद्धि आदि का गर्व करता है, अथवा जो लाभ के मद से मत्त होकर दूसरो की निंदा करता है वह बालबुद्धि (मूर्ख) समाधि को प्राप्त नही होता है।

सांपराइय-कम्माणं-तिकरण-णिसेहो—

३८२ से भिक्खू जं पि य इमं सपराइयं कम्मं कज्जइ, णो तं सयं करेति, नेवऽन्नेण कारवेति, अन्न पि करेंतं णाणुजाणति, इति से महता आदाणातो उवसते उवट्ठिते पडिविरते।

—सूय. सु. २, अ. १ सु. ६८६

साम्परायिक कर्मों का त्रिकरण निषेध—

३८२ जो यह साम्परायिक (कषाययुक्त) कर्मबन्ध किया जाता है, उसे वह भिक्षु स्वय नही करता है, न दूसरो से कराता है और न ही करते हुए का अनुमोदन करता है। इस कारण वह भिक्षु महान कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है तथा शुद्ध सयम मे रत और पापो से विरत रहता है।

कोहविजय-फलं—

३८३. प०—कोहविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—कोहविजएणं खन्ति जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

—उत्त. अ. २९, सु ६९

क्रोध-विजय का फल—

३८३. प्र०—भन्ते ! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—क्रोध-विजय से वह क्षमा को प्राप्त करता है। वह क्रोध-वेदनीय कर्म का बन्ध नही करता और पूर्वबद्ध कर्म को क्षीण करता है।

माणविजय-फलं—

३८४. प०—माणविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।—उत्त. अ २९, सु ७१

मान-विजय का फल—

३८४. प्र०—भन्ते ! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—मान-विजय से वह मृदुता को प्राप्त करता। वह मान-वेदनीय कर्म का बन्ध नही करता और पूर्व-बद्ध कर्म को क्षीण करता है।

मायाविजय-फल—

३८५. प०—मायाविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

—उत्त अ. २९, सु. ७०

माया-विजय का फल—

३८५. प्र०—भन्ते ! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—माया-विजय से वह सरलता को प्राप्त करता है। वह माया-वेदनीय कर्म का बन्ध नही करता और पूर्व-बद्ध कर्म को क्षीण करता है।

लोभविजय-फल—

३८६ प०—लोभविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभ-विजय का फल—

३८६. प्र०—भन्ते ! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—लोभविजएणं मतोसीभाव जणयइ, लोभवेयणिज्ज कम्म न वन्धइ, पुव्वबद्ध च निज्जरेइ।
—उत्त अ. २६, सु ७२

उ०—लोभ-विजय से वह सन्तोष को प्राप्त करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म का वन्ध नही करता और पूर्वबद्ध कर्म को क्षीण करता है।



अनाचार प्रायश्चित्त–१२

अट्टहास पायच्छित्त सुत्त—

३८७. जे भिक्खू मुहं विप्फालिय-विप्फालिय हसइ, हसत वा साइज्जइ।
तं सेवमाणे आवज्जइ मासिय परिहारट्ठाण उग्घाइय।
—नि उ ४, सु. २७

अधिक हँसने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३८७ जो भिक्षु मुँह फाड-फाड कर (जोर-जोर से) हसता है, हसाता है या हसने वाले का अनुमोदन करता है।
उसे मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

सिप्पाई सिक्खावण पायच्छित्त सुत्त—

३८८. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थिय वा—
१. सिप्पं वा, २ सिलोग वा, ३. अट्ठावय वा,
४. कक्कडगं वा, ५. वुग्गह वा,
६ सलाह वा सिक्खावेइ, सिक्खावेंत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि उ १३, सु. १२

शिल्पकलादि सिखाने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३८८. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को—
(१) शिल्प, (२) गुण कीर्तन, (३) जूआ खेलना,
(४) काकरी खेलना, (५) युद्ध करना,
(६) पद्य रचना करना, सिखाता है, सिखवाता है या सिखाने वाले का अनुमोदन करता है।
उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

आगाढ-फरुसवयण पायच्छित्त सुत्ताइ

३८९ जे भिक्खू अण्णउत्थिय वा गारत्थिय वा आगाढ वयइ, वयंत वा साइज्जइ।
जे भिक्खू अण्णउत्थिय वा गारत्थिय वा फरुसं वयइ, वयतं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू अण्णउत्थिय वा गारत्थिय वा आगाढं फरुसं वयइ वयत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं उग्घाइय।
—नि उ. १३, सु. १३-१५

अपशब्द और कठोर वचन के प्रायश्चित्त सूत्र—

३८९ जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आवेश युक्त वचन कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।
जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को कठोर वचन कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।
जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को आवेश युक्त कठोर शब्द कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।
उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

अच्चासायणा पायच्छित्त सुत्त—

३९०. जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थिय वा अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चाएइ अच्चामाएंतं वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाण उग्घाइय।
—नि. उ १३, सु १६

आशातना का प्रायश्चित्त सूत्र—

३९० जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ की किसी भी प्रकार की आशातना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।
उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

सचित्त गंध जिघण पायच्छित्त सुत्तं—

३९१. जे भिक्खू सचित्त पइट्ठिय गंधं जिघइ जिघंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

—नि. उ. १, सु. १०

सचित्त गंध सूंघने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३९१ जो भिक्षु सचित्त पदार्थ मे स्थित सुगन्ध को सूंघता है या सूंघने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

कोउगकम्मस्स पायच्छित्त सुत्तं—

३९२. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा कोउगकम्म[1] करेइ करेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।

—नि उ. १३, सु. १७

कौतुक कर्म का प्रायश्चित्त सूत्र—

३९२ जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थो का कौतुक कर्म करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

भूइकम्मकरणस्स पायच्छित्त सुत्त—

३९३. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा भूइकम्म[2] करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइय ।

—नि. उ. १३, सु. १८

भूतिकर्म करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३९३. जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थो का भूतिकर्म करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

पसिणाइ-कहणस्स पायच्छित्त सुत्ताइं—

३९४. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिण[3] कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा पसिणापसिण[4] कहेइ, कहेंत वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइयं ।

—नि उ १३, सु. १९-२०

प्रश्नादि कहने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३९४. जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो से कौतुक प्रश्न करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो के कौतुक प्रश्नों के उत्तर देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

लक्खण-वंजण-सुमिणफल-कहणमाणस्स पायच्छित्तसुत्ताइं—

३९५. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा लक्खण कहेइ, कहेंत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा वजणं कहेइ, कहेतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा सुमिणं कहेइ, कहेंत वा साइज्जइ ।

लक्षण-व्यंजन-स्वप्नफल कहने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३९५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो को उनके (शरीर के रेखा आदि) लक्षणो का फल कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो को (उनके) तिल-मस आदि व्यजनो का फल कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो को स्वप्न का फल कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

---

१ कौतुककर्म=मृतवत्सा की चिकित्सा के लिए कराया जाने वाला एक तान्त्रिक प्रयोग ।

२ भूतिकर्म=दृष्टि दोष आदि की निवृत्ति के लिए तंत्रोक्त पदार्थों के सम्मिश्रण से एक रक्षा पोटली तैयार करना, भूतिकर्म है ।

३ प्रश्न=प्रश्नव्याकरण मे उक्त तीन सौ चौवीस प्रश्नो मे से पूछे गये प्रश्नो का उत्तर देना ।

४ प्रश्नाप्रश्न=स्वप्नशास्त्र से स्वप्नो का फल कहना ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइयं। —नि. उ १३, सु. २२-२४

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

विज्जाइ पउंजणस्स पायच्छित्त सुत्ताइं—

३९६. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा विज्जं[1] पउंजइ, पउंजत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा मतं[2] पउंजइ, पउंजत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा जोगं[3] पउंजइ पउंजत वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइयं। —नि उ १३, सु २५-२७

विद्यादि का प्रयोग करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३९६ जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो के लिए "विद्या" का प्रयोग करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो के लिए "मन्त्र" का प्रयोग करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो के लिए "योग" का प्रयोग करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

मग्गाइ पवेयणस्स पायच्छित्त सुत्त

३९७ जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा नट्ठाणं, मूढाण विप्परियासियाण मग्गं वा पवेदेइ, संधिं वा पवेदेइ, मग्गाओ वा संधिं पवेदेइ, संधीओ वा मग्ग पवेदेइ पवेदंत वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइयं। —नि उ १३, सु २८

मार्गादि बताने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३९७ जो भिक्षु मार्ग भूले हुए, दिशामूढ हुए या विपरीत दिशा मे गये हुए अन्यतीर्थिको या गृहस्थो को मार्ग बताता है, मार्ग की संधि बताता है, मार्ग से संधी बताता है अथवा संधी से मार्ग बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

धाउ-णिहि पवेयणस्स पायच्छित्त सुत्ताइ—

३९८. जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा धाउं पवेदेइ पवेदत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा णिहिं पवेदेइ पवेदत वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइयं। —नि उ. १३, सु. २९-३०

धातु और निधि बताने के प्रायश्चित्त सूत्र—

३९८ जो भिक्षु अन्यतीर्थिकों या गृहस्थो को धातु बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको को या गृहस्थो को निधि (खजाना) बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

अप्पणो आयरिय-लक्खण-वागरणस्स पायच्छित्त सुत्त—

३९९. जे भिक्खू अप्पणो आयरियत्ताए लक्खणाइ वागरेइ वागरेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइयं। —नि उ १७, सु १३३

अपने आपको आचार्य के लक्षण युक्त कहने का प्रायश्चित्त सूत्र—

३९९. जो भिक्षु स्वयं अपने को आचार्य के लक्षणो से सम्पन्न कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

---

१ विज्ज=विशेष प्रकार की साधना से जो सिद्ध की जाती है वह 'विद्या' कही जाती है।

२ मंतं=जाप करने से सिद्ध होने वाला 'मन्त्र' कहा जाता है।

३ जोगं=वशीकरणादि के प्रयोग 'योग' कहे जाते हैं।

निमित्त वागरणस्स पायच्छित्त सुत्ताइं—

४००. जे भिक्खू तीयं णिमित्तं वागरेइ वागरेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।
—नि. उ. १३, सु २१

जे भिक्खू पडुप्पण्णं निमित्तं वागरेइ वागरेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अणागयं निमित्तं वागरेइ वागरेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं । —नि. उ. १०, सु. ७-८

निमित्त कथन के प्रायश्चित्त सूत्र—

४००. जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो को भूत काल सम्बन्धी निमित्त बताता है या बताने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु वर्तमान काल सम्बन्धी निमित्त कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु भविष्य काल सम्बन्धी निमित्त कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

बीभावणस्स पायच्छित्त-सुत्ताइं—

४०१. जे भिक्खू अप्पाणं बीभावेइ बीभावेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू परं बीभावेइ बीभावेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं । —नि. उ ११, सु. ६४-६५

भयभीत करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४०१. जो भिक्षु स्वयं को डराता है, डरवाता है या डराने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दूसरे को डराता है, डरवाता है या डराने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

विम्हावणस्स पायच्छित्त-सुत्ताइं—

४०२ जे भिक्खू अप्पाणं विम्हावेइ विम्हावेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू परं विम्हावेइ विम्हावेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं । —नि. उ. ११, सु ६६-६७

विस्मित करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४०२. जो भिक्षु स्वयं को विस्मित करता है, विस्मित करवाता है या विस्मित करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दूसरे को विस्मित करता है, विस्मित करवाता है या विस्मित करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

विप्परियासणस्स पायच्छित्त-सुत्ताइं—

४०३. जे भिक्खू अप्पाणं विप्परियासेइ विप्परियासेंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू परं विप्परियासेइ विप्परियासेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।
—नि. उ. ११, सु. ६८-६९

विपर्यासकरण प्रायश्चित्त—

४०३ जो भिक्षु स्वयं को विपरीत बनाता है, विपरीत बनवाता है या विपरीत बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दूसरे को विपरीत बनाता है, विपरीत बनवाता है या विपरीत बनाने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

अण्णतित्थिय पससाकरणस्स पायच्छित्त सुत्तं—

४०४. जे भिक्खू मुहवण्णं करेइ करेंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं । —नि. उ. ११, सु. ७०

अन्यतीर्थिकों की प्रशंसा करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

४०४. जो भिक्षु अन्य धर्म प्रवर्तकों की प्रशंसा करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

अहाछंदं पससण पायच्छित्त-सुत्ताइं—

४०५. जे भिक्खू अहाछंदं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अहाछंदं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं । —नि. उ. ११, सू. ८२-८३

स्वच्छन्दाचारी की प्रशंसा एवं वन्दना करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४०५. जो भिक्षु "यथा छन्द" (स्वच्छदाचारी) की प्रशसा करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु "यथा छन्द" को वन्दना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।



८. संघ व्यवस्था

संघ व्यवस्था—१

तित्थ सरूवं—

४०६. प०—तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ?

उ०—गोयमा ! अरहा ताव णियमं तित्थगरे, तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणं संघे, तं जहा—

१. समणा, २. समणीओ,
३. सावया, ४. सावियाओ[1] ।

—वि. स. २०, उ. ८, सु. १४

तीर्थ का स्वरूप—

४०६. प्र०—हे भगवन् ! "तीर्थ" को तीर्थ कहते हैं या तीर्थंकर को तीर्थ कहते हैं ।

उ०—गौतम ! अरिहन्त तो अवश्य तीर्थंकर हैं और चार वर्णों से व्याप्त श्रमण संघ तीर्थ है । यथा—

(१) श्रमण, (२) श्रमणी,
(३) श्रावक, (४) श्राविका ।

तित्थपवत्तण कालं—

४०७. प०—जम्बुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवतियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्सति ?

उ०—गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एक्कवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसज्जिस्सति ।

प०—जहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं एक्कवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसज्जिस्सति, तहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेस्साणं चरिमतित्थगरस्स केवतियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्सति ?

तीर्थ प्रवर्तन का काल—

४०७. प्र०—भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में आप देवानुप्रिय का तीर्थ कितने काल तक रहेगा ?

उ०—गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में मेरा तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा ।

प्र०—भगवन् ! जिस प्रकार जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल में आप देवानुप्रिय का तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा । उसी प्रकार जम्बूद्वीप नामक द्वीप के भरत क्षेत्र में भावी तीर्थंकरों में से अन्तिम तीर्थंकर का तीर्थ कितने काल तक अविच्छिन्न रहेगा ?

---

१ (क) वि. स. १६, उ. ६, सु. २१
(ख) चउव्विहे संघे पण्णत्ते, तं जहा—
(१) समणा, (२) समणीओ, (३) सावगा, (४) सावियाओ । —ठा. अ. ४, उ. ४, सु. ३६३

उ०—गोयमा ! जावतिए णं उसभस्स अरहओ कोसलियस्स जिणपरियाए तावतियाइं सखेज्जाइं वासाइं आगमेस्साण चरिमतित्थगरस्स तित्थे अणुसज्जिस्सति ।

—वि. स. २०, उ ८, सु. १२-१३

उ०—गौतम ! कौशलदेशोत्पन्न ऋषभदेव अरहन्त का जितना जिनपर्याय है उतने (एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व) वर्ष तक भावी तीर्थंकरो मे से अन्तिम तीर्थंकर का तीर्थ रहेगा ।

जिणप्पगारा—

४०८. तओ जिणा पण्णत्ता, त जहा—

१. ओहिणाणजिणे, २. मणपज्जवणाणजिणे,
३. केवलणाण जिणे । —ठा. अ. ३, उ ४, सु. २२०

जिन के प्रकार—

४०८. जिन तीन प्रकार के कहे गये हैं—यथा—

(१) अवधिज्ञानी जिन, (२) मन पर्यवज्ञानी जिन,
(३) केवलज्ञानी जिन ।

केवली-पगारा—

४०९. तओ केवली पण्णत्ता, तं जहा—

१. ओहिणाण केवली, २. मणपज्जवणाण केवली,
३. केवलणाण केवली । —ठाणं अ. ३, उ. ४, सु. २२०

केवली के प्रकार—

४०९. केवली तीन प्रकार के कहे गये है, यथा—

(१) अवधिज्ञान केवली, (२) मन पर्यवज्ञान केवली,
(३) केवलज्ञान केवली ।

अरिहन्तपगारा—

४१०. तओ अरहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. ओहिणाण अरहा, २. मणपज्जवणाण अरहा,
३. केवलणाण अरहा । —ठाणं. अ. ३, उ. ४, सु. २२०

अरिहन्त के प्रकार—

४१०. अर्हन्त तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) अवधिज्ञानी अर्हन्त, (२) मन पर्यवज्ञानी अर्हन्त,
(३) केवलज्ञानी अर्हन्त ।

रायणिय पुरिसप्पगारा—

४११. तओ पुरिसज्जाया पण्णत्ता, तं जहा—

१. णाणपुरिसे, २ दसणपुरिसे,
३. चरित्तपुरिसे । —ठाणं. अ. ३, उ. १, सु. १३७

रात्निक पुरुषो के प्रकार—

४११. पुरुष तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) ज्ञान पुरुष, (२) दर्शन पुरुष,
(३) चारित्र पुरुष ।

रायणिंयिदप्पगारा—

४१२ तओ इदा पण्णत्ता, तं जहा—

१. णाणिंदे,
२. दसणिंदे,
३. चरित्तिंदे । —ठाण. अ. ३, उ. १, सु. १२७

रात्निक इन्द्रो के प्रकार—

४१२. इन्द्र तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) ज्ञानेन्द्र (विशिष्ट श्रुतज्ञानी या केवली),
(२) दर्शनेन्द्र (क्षायिक सम्यग्दृष्टि),
(३) चारित्रेन्द्र (यथाख्यात चारित्रवान् ।)

थविरप्पगारा—

४१३. तओ थेरभूमिओ पण्णत्ताओ, त जहा—

१. जाइ-थेरे, २. सुय-थेरे,
३. परियाय-थेरे ।

१. सट्ठिवासजाए समणे निग्गथे जाइ-थेरे ।
२. ठाण समवायांगधरे समणे निग्गथे सुय-थेरे ।
३ वीसवासपरियाए समणे निग्गथे परियाय-थेरे ।

—वव. उ. १०, सु. १८

स्थविर के प्रकार—

४१३ स्थविर तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) वय-स्थविर, (२) श्रुत-स्थविर,
(३) पर्याय-स्थविर ।

(१) साठ वर्ष की आयु वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ वय स्थविर हैं ।

(२) स्थानाग समवायाग के धारक श्रमण निर्ग्रन्थ श्रुत स्थविर हैं ।

(३) वीस वर्ष की दीक्षा पर्याय के धारक श्रमण निर्ग्रन्थ पर्याय स्थविर हैं ।

दस थेरा पण्णत्ता, तं जहा—

१. गामथेरा, २. णगरथेरा,

स्थविर दस प्रकार के होते हैं—

(१) ग्रामस्थविर, (२) नगरस्थविर,

३ रट्ठथेरा, ४ पसत्थथेरा,
५. कुलथेरा, ६. गणथेरा,
७. संघथेरा, ८ जातिथेरा,
९. सुयथेरा, १० परियायथेरा।
—ठाणं. अ १०, सु. ७६१

(३) राष्ट्रस्थविर, (४) प्रशासक स्थविर,
(५) कुलस्थविर, (६) गणस्थविर,
(७) संघस्थविर, (८) जातिस्थविर,
(९) श्रुतस्थविर, (१०) पर्यायस्थविर।

महव्वय-धम्म-परूवगा—

४१४ प०—एएसु णं भंते! पंचसु महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं पण्णवयंति?

उ०—णो इणट्ठे समट्ठे।

एएसु णं पंचसु भरहेसु, पंचसु एरवएसु, पुरिम-पच्छिमगा दुवे अरहंता भगवंतो पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं पण्णवयंति।

अवसेसा णं अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति। एएसु णं पंचसु महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति।

—वि स. २०, उ. ८, सु ६

महाव्रत धर्म के प्ररूपक—

४१४ प्र०—हे भगवन्! पांच महाविदेह क्षेत्र में अरिहन्त भगवन्त पांच महाव्रत और सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश करते हैं?

उ०—हे गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

पांच भरत और पांच ऐरवत क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम ये दो अरिहन्त भगवन्त पांच महाव्रत और सप्रतिक्रमण धर्म का उपदेश करते हैं।

शेष अरिहन्त भगवन्त चार याम रूप धर्म का उपदेश करते हैं और पांच महाविदेह क्षेत्र में भी अरिहन्त भगवान् चार याम रूप धर्म का उपदेश करते हैं।

दुग्गम-सुगमठाणाइं—

४१५ पंच ठाणाइं पुरिम—पच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवति, तं जहा—

१ दुआइक्खं,
२. दुव्विभज्जं,
३ दुपस्सं,
४ दुतितिक्खं,
५ दुरणुचरं।

पंच ठाणाइं मज्झिमगाणं जिणाणं सुगमं भवति, तं जहा—

१ सुआइक्खं,
२ सुविभज्जं,
३. सुपस्सं,
४ सुतितिक्खं,
५ सुरणुचरं। —ठाणं अ. ५, उ १, सु ३९६

दुर्गम-सुगम स्थान—

४१५. प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में पांच स्थान दुर्गम होते हैं। यथा—

(१) धर्मतत्व का कथन करना दुर्गम होता है।
(२) तत्व का नय—विभाग से समझाना दुर्गम होता है।
(३) तत्व का युक्तिपूर्वक निर्देश करना दुर्गम होता है।
(४) उपसर्ग-परीषहादि का सहन करना दुर्गम होता है।
(५) धर्म का आचरण करना दुर्गम होता है।

मध्यवर्ती (बाईस) तीर्थंकरों के शासन में पांच स्थान सुगम होते हैं, यथा—

(१) धर्मतत्व का व्याख्यान करना सुगम होता है।
(२) तत्व का नय—विभाग से समझाना सुगम होता है।
(३) तत्व का युक्ति पूर्वक निर्देश करना सुगम होता है।
(४) उपसर्ग-परीषहादि का सहन करना सुगम होता है।
(५) धर्म का आचरण करना सुगम होता है।

पंचविहा ववहारा—

४१६ प०—कइविहे णं भंते! ववहारे पण्णत्ते?

उ०—गोयमा! पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा—

१ आगम, २ सुत, ३ आणा,
४ धारणा, ५ जीए।

पांच प्रकार के व्यवहार—

४१६. प्र०—भन्ते! व्यवहार (दोषानुसार प्रायश्चित्त का निर्णय) कितने प्रकार का कहा गया है?

उ०—गौतम! व्यवहार पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—

(१) आगम, (२) श्रुत, (३) आज्ञा,
(४) धारणा, (५) जीत।

१. जहा से तत्थ आगमे सिया, आगमेण ववहार पट्ठवेज्जा ।
२. णो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुते सिया, सुएणं ववहार पट्ठवेज्जा ।
३ णो से तत्थ सुए सिया, जहा से तत्थ आणा सिया, आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा ।
४. णो से तत्थ आणा सिया, जहा से तत्थ धारणा सिया, धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा ।
५. णो से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थ जीए सिया, जीएण ववहारं पट्ठवेज्जा ।
इच्चेएहिं पंचहिं ववहारेहिं ववहारं पट्ठवेज्जा, त जहा—
१. आगमेणं, २. सुएणं, ३. आणाए,
४ धारणाए, ५. जीएणं ।
जहा जहा से आगमे, सुए, आणा, धारणा, जीए, तहा तहा ववहार पट्ठवेज्जा ।[1]

(१) जहाँ आगम (केवलज्ञान धारक—यावत्—नवपूर्व धारक) ज्ञानी हो वहाँ उनके निर्देशानुसार व्यवहार करें ।
(२) जहाँ आगम ज्ञानी न हो तो वहाँ श्रुत (जघन्य आचार प्रकल्प उत्कृष्ट नवपूर्व से कम के ज्ञाता) ज्ञानी के निर्देशानुसार व्यवहार करें ।
(३) जहाँ श्रुतज्ञानी न हो तो वहाँ गीतार्थों की आज्ञानुसार व्यवहार करें ।
(४) जहाँ गीतार्थों की आज्ञा न हो तो वहाँ स्थविरो की धारणानुसार व्यवहार करें ।
(५) जहाँ स्थविरो की धारणा ज्ञात न हो तो वहाँ सर्वानुमत परम्परानुसार व्यवहार करें ।
इन पाँच व्यवहारो के अनुसार व्यवहार करें ।
यथा—(१) आगम, (२) श्रुत, (३) आज्ञा,
(४) धारणा, (५) जीत ।
आगमज्ञानी, श्रुतज्ञानी, गीतार्थ आज्ञा, स्थविरो की धारणा और परम्परा इन मे से जिस समय जो उपलब्ध हो उस समय उसी से क्रमश व्यवहार करें ।

प०—से किमाहु भंते ?
उ०—आगमबलिया समणा निग्गंथा ।

प्र०—भन्ते ! ऐसा क्यो कहा ?
उ०—श्रमण निर्ग्रन्थ आगमानुसार व्यवहार करने वाले होते है ।

इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया-जया, जहिं-जहिं, तया-तया, तहिं-तहिं अणिस्सिओवस्सियं सम्मं ववहरमाणे समणे निग्गथे आणाए आराहए भवइ ।
—वि. स. ८, उ. ८, सु. ८-९

इन पाँच प्रकार के व्यवहारो मे से जब-जब जिस-जिस विषय मे जो प्रमुख व्यवहार उपलब्ध हो तब-तब उस-उस विषय मे मध्यस्थ भाव से व्यवहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिनाज्ञा का आराधक होता है ।

अणुण्णापगारा—

४१७. तिविधा अणुण्णा पण्णत्ता, त जहा—
१. आयरियत्ताए, २. उवज्झायत्ताए,
३. गणित्ताए । —ठाणं अ. ३, उ. ३, सु. १८०

अनुज्ञा के प्रकार—

४१७. अनुज्ञा (आज्ञा) तीन प्रकार की कही गई है, यथा—
(१) आचार्य की, (२) उपाध्याय की,
(३) गणी की ।

समणुण्णा पगारा—

४१८. तिविधा समणुण्णा पण्णत्ता, त जहा—
१. आयरियत्ताए, २. उवज्झायत्ताए,
३. गणित्ताए । —ठाण. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

समनुज्ञा के प्रकार—

४१८. समनुज्ञा (विशेष आज्ञा) तीन प्रकार की कही गई है, यथा—
(१) आचार्य की, (२) उपाध्याय की,
(३) गणी की ।

उवसंपया पगारा—

४१९. तिविधा उवसपया पण्णत्ता, त जहा—

उपसम्पदा के प्रकार—

४१९. उपसम्पदा (समीप रहना) तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

---

1 (क) ठाण अ. ५, उ २, सु ४२१
(ख) वव. उ. १०, सु. ५

१ आयरियत्ताए, २ उवज्झायत्ताए,
३ गणित्ताए। —ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु. १८०

(१) आचार्य की, (२) उपाध्याय की,
(३) गणी की।

विजहणा पगारा—

४२० तिविधा विजहणा पण्णत्ता, त जहा—
१. आयरियत्ताए, २ उवज्झायत्ताए,
३. गणित्ताए। —ठाण. अ ३, उ. ३, सु १८०

पदत्याग के प्रकार—

४२०. पद का परित्याग तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) आचार्य का, (२) उपाध्याय का,
(३) गणी का।

तिविहा आयरक्खा—

४२१ तओ आयरक्खा पण्णत्ता, त जहा—
१ धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवति,
२ तुसिणीए वा सिया।
३. उट्ठित्ता वा आताए एगतमवक्कमेज्जा।
—ठाण अ ३, उ ३, सु. १८०

तीन प्रकार से आत्म-रक्षा—

४२१ तीन प्रकार से आत्म-रक्षा होती है, यथा—
(१) अकरणीय कार्य मे प्रवृत्त व्यक्ति को धार्मिक बुद्धि से प्रेरित करने से।
(२) प्रेरणा न देने की स्थिति मे मौन धारण करने से।
(३) मौन और उपेक्षा न करने की स्थिति मे वहाँ से उठकर स्वय एकान्त स्थान मे चला जाने से।

हरदसमो आयरियो—

४२२. से बेमि, त जहा—

अवि हरए पडिपुण्णे चिट्ठति समसि भोमे उवसंतरए सारक्खमाणे। से चिट्ठति सोतमज्झए।

से पास सव्वतो गुत्ते। पास लोए महेसिणो। जे य पण्णाणमता। पबुद्धा आरंभोवरता सम्ममेत ति पासहा। कालस्स कंखाए परिव्वयति।

—आ. सु १, अ. ५, उ ५, सु १६६

जलाशय जैसे आचार्य—

४२२ भगवान् ने आचार्य के गुणो का जैसा वर्णन किया वैसा मैं कहता हूँ। जैसे—

एक जलाशय जो जल से परिपूर्ण है, समभूभाग मे स्थित है, कीचड रहित है अनेक जलचर जीवो का सरक्षण करता हुआ स्रोत के मध्य मे स्थित है।

हे शिष्य तू देख कि ऐसे ही आचार्य भी अनेक सद्गुणो से परिपूर्ण होते हैं तथा सर्व प्रकार से गुप्त होते हैं। हे शिष्य तू लोक मे उन महर्षियो को देख! जो उत्कृष्ट ज्ञानवान् हैं, प्रबुद्ध हैं और आरम्भ से विरत हैं। वे ही सम्यक् आराधना करने वाले है और पण्डित मरण की आकाक्षा करते हुए सयम मे विचरण करते हैं।

आयरियप्पगारा—

४२३ चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, त जहा—
१. पव्वावणायरिए नामेगे, नोउवट्ठावणायरिए,
२ उवट्ठावणायरिए नामेगे, नो पव्वावणायरिए,
३. एगे पव्वावणायरिए वि, उवट्ठावणायरिए वि,
४. एगे नो पव्वावणायरिए, नोउवट्ठावणायरिए-धम्मायरिए।

आचार्य के प्रकार—

४२३. चार प्रकार के आचार्य कहे गए हैं, यथा—
(१) कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) प्रव्रज्या देने वाले होते हैं किन्तु महाव्रतो का आरोपण करने वाले नही होते हैं।
(२) कोई आचार्य महाव्रतो का आरोपण करने वाले होते हैं किन्तु प्रव्रज्या देने वाले नही होते हैं।
(३) कोई आचार्य प्रव्रज्या देने वाले भी होते हैं और महाव्रतो का आरोपण करने वाले भी होते हैं।
(४) कोई आचार्य न प्रव्रज्या देने वाले होते हैं और न महाव्रतो का आरोपण करने वाले होते हैं। किन्तु केवल धर्मोपदेश देने वाले होते हैं।

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, त जहा—

चार प्रकार के आचार्य कहे गए हैं, यथा—

१. उद्देसणायरिए नामेगे, नो वायणायरिए,

२ वायणायरिए नामेगे, नो उद्देसणायरिए,

३. एगे उद्देसणायरिए वि, वायणायरिए वि,

४. एगे नो उद्देसणायरिए, नो वायणायरिए-धम्मायरिए।[1]

—वव उ १०, सु. १४-१५

(१) कोई आचार्य (किसी एक शिष्य की अपेक्षा) वाचना देने की आज्ञा देने वाले होते हैं, किन्तु वाचना देने वाले नहीं होते हैं।

(२) कोई आचार्य वाचना देने वाले होते हैं किन्तु वाचना देने की आज्ञा देने वाले नही होते हैं।

(३) कोई आचार्य वाचना देने वाले भी होते हैं और वाचना देने की आज्ञा देने वाले भी होते है।

(४) कोई आचार्य वाचना देने वाले भी नही होते है और वाचना देने की आज्ञा देने वाले भी नही होते है वे केवल धर्माचार्य होते हैं।

अंतेवासिस्सप्पगारा—

४२४ चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, त जहा—

१ पव्वावणतेवासी नामेगे नो उवट्ठावणतेवासी,

२ उवट्ठावणंतेवासी नामेगे, नो पव्वावणतेवासी,

३ एगे पव्वावणंतेवासी वि उवट्ठावणंतेवासी वि,

४. एगे नो पव्वावणतेवासी, नो उवट्ठावणतेवासी, धम्मंतेवासी।

चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तं जहा—

१ उद्देसणंतेवासी नामेगे, नो वायणतेवासी,

२. वायणतेवासी नामेगे, नो उद्देसणतेवासी,

३. एगे उद्देसणंतवासी वि, वायणतेवासी वि,

४. एगे नो उद्देसणंतेवासी, नो वायणंतेवासी, धम्मंतेवासी।[2]

—वव अ १०, सु. १६-१७

शिष्य के प्रकार —

४२४. अन्तेवासी (शिष्य) चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—

(१) कोई प्रव्रज्या शिष्य है, परन्तु उपस्थापना शिष्य नही है।

(२) कोई उपस्थापना शिष्य है, परन्तु प्रव्रज्या शिष्य नही है।

(३) कोई प्रव्रज्या शिष्य भी है और उपस्थापना शिष्य भी है।

(४) कोई न प्रव्रज्या शिष्य है और न उपस्थापना शिष्य है। किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है।

पुन अन्तेवासी चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—

(१) कोई उद्देशन अन्तेवासी है, परन्तु वाचना अन्तेवासी नही है।

(२) कोई वाचना-अन्तेवासी है परन्तु उद्देशन-अन्तेवासी नही है।

(३) कोई उद्देशन-अन्तेवासी भी है और वाचना-अन्तेवासी भी है।

(४) कोई न उद्देशन-अन्तेवासी है और न वाचना-अन्तेवासी है।

किन्तु धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है।

विविहा गणवेयावच्च करा—

४२५. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—

१. अट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे,

२. माणकरे नामं एगे, नो अट्ठकरे,

३. एगे अट्ठकरे वि, माणकरे वि,

४ एगे नो अट्ठकरे, नो माणकरे।

विविध प्रकार के गण की वैयावृत्य करने वाले –

४२५ चार प्रकार के साधु पुरुष कहे गये हैं। जैसे—

(१) कोई साधु कार्य करता है किन्तु मान नही करता है।

(२) कोई मान करता हैं किन्तु कार्य नहीं करता है।

(३) कोई कार्य भी करता है और मान भी करता है।

(४) कोई कार्य भी नही करता है और मान भी नही करता है।

---

१ ठाण. अ ४, उ. ३, सु ३२०

२ ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३२०

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—
१ गणट्ठकरे नामं एगे, नो माणकरे,
२. माणकरे नाम एगे, नो गणट्ठकरे,
३. एगे गणट्ठकरे वि, माणकरे वि,
४ एगे नो गणट्ठकरे, नो माणकरे।

(पुन) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
(१) कोई गण का काम करता है, परन्तु मान नहीं करता है।
(२) कोई मान करता है, परन्तु गण का काम नहीं करता है।
(३) कोई गण का काम भी करता है और मान भी करता है।
(४) कोई न गण का काम करता है और न मान ही करता है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—
१. गणसगहकरे नामं एगे, नो माणकरे,
२ माणकरे नामं एगे, नो गणसगहकरे,
३ एगे गणसगहकरे वि, माणकरे वि,
४ एगे नो गणसगहकरे, नो माणकरे।

(पुन) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
(१) कोई गण के लिए सग्रह करता है, परन्तु मान नही करता है।
(२) कोई मान करता है, परन्तु गण के लिए सग्रह नही करता है।
(३) कोई गण के लिए सग्रह भी करता है और मान भी करता है।
(४) कोई न गण के लिए सग्रह करता है और न मान ही करता है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—
१ गणसोहकरे नामं एगे, नो माणकरे,
२. माणकरे नाम एगे, नो गणसोहकरे,
३ एगे गणसोहकरे वि, माणकरे वि,
४. एगे नो गणसोहकरे, नो माणकरे।

(पुनः) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
(१) कोई गण की शोभा करता है, किन्तु मान नही करता है।
(२) कोई मान करता है, किन्तु गण की शोभा नही करता है।
(३) कोई गण की शोभा भी करता है और मान भी करता है।
(४) कोई न गण की शोभा करता है और न मान ही करता है।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, त जहा—
१ गणसोहिकरे नाम एगे, नो माणकरे,
२. माणकरे नामं एगे, नो गणसोहिकरे,
३ एगे गणसोहिकरे वि, माणकरे वि.
४. एगे नो गणसोहिकरे, नो माणकरे।
—वव उ १०, सु. ६-१०

(पुन) चार प्रकार के (साधु) पुरुष कहे गये हैं। जैसे—
(१) कोई गण की शुद्धि करता है, परन्तु मान नहीं करता है।
(२) कोई मान करता है, परन्तु गण की शुद्धि नहीं करता है।
(३) कोई गण की शुद्धि भी करता है और मान भी करता है।
(४) कोई न गण की शुद्धि करता है और न मान ही करता है।



आचार्य के अतिशय—२

आयरियाइ अइसया—

४२६. आयरिय-उवज्झायस्स गणंसि सत्त अइसेसा पण्णत्ता, त जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाए निगिज्झिय-निगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा नाइक्कमइ।

२. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स उच्चार-पासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

३. आयरिय-उवज्झाए पभू इच्छा वेयावडियं करेज्जा, इच्छा णो करेज्जा।

४. आयरिय-उवज्झाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

५. आयरिय-उवज्झाए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।[1]

६. उवकरणातिसेसे।

७. भत्तपाणातिसेसे।

—ठाण अ ७, सु ५७०

गणावच्छेइयस्स ण गणसि दो अइसेसा पण्णत्ता, त जहा—

१ गणावच्छेइए अतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

२. गणावच्छेइए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा एगओ वसमाणे नाइक्कमइ।

—वव. उ. ६, सु. ११

आचार्य आदि के अतिशय—

४२६ गण में आचार्य और उपाध्याय के सात अतिशय कहे गये हैं, यथा—

(१) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर धूल से भरे अपने पैरों को पकड-पकड कर कपडे से पोछे या प्रमार्जन करे तो मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

(२) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के अन्दर मल-मूत्रादि को त्यागे तथा शुद्धि करे तो मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

(३) सशक्त आचार्य या उपाध्याय इच्छा हो तो किसी की सेवा करे, इच्छा न हो तो न करे—फिर भी मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

(४) आचार्य और उपाध्याव उपाश्रय के अन्दर (किसी विशेष कारण से) यदि एक दो रात अकेले रहें तो भी मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

(५) आचार्य और उपाध्याय उपाश्रय के बाहर (किसी विशेष कारण से) यदि एक दो रात अकेले रहे तो भी मर्यादा का उल्लंघन नही होता है।

(६) आचार्य और उपाध्याय अन्य साधुओं की अपेक्षा उज्ज्वल वस्त्र पात्रादि रखें तो मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

(७) आचार्य और उपाध्याय सविभाग किये विना विशिष्ट आहार करे तो मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

गण मे गणावच्छेदक के दो अतिशय कहे गए हैं, यथा—

(१) गणावच्छेदक उपाश्रय के अन्दर (किसी विशेष कारण मे) यदि एक दो रात अकेले रहे तो मर्यादा का उल्लघन नही होता है।

(२) गणावच्छेदक उपाश्रय के बाहर (किसी विशेष कारण से) यदि एक दो रात अकेले रहे तो मर्यादा का उल्लघन नहीं होता है।

इड्ढी पगारा—

४२७. गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. णाणिड्ढी,

२ दंसणिड्ढी,

३. चरित्तिड्ढी।

ऋद्धि के प्रकार—

४२७. गणि-ऋद्धि तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) ज्ञान ऋद्धि—विशिष्ट श्रुत-सम्पदा।

(२) दर्शन ऋद्धि—प्रभावशाली प्रवचनशक्ति आदि।

(३) चारित्र ऋद्धि—निरतिचार चारित्र प्रतिपालना।

---

१ (क) ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४३८ (ख) वव. उ. ६, सु. १०

अहवा—गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता, त जहा—
१ सचित्ता,
२. अचित्ता,
३ मीसिता। —ठाण अ ३, उ. ४, सु. २१४

अथवा गणि-ऋद्धि तीन प्रकार की कही गई है, यथा—
(१) सचित्त-ऋद्धि—शिष्य-परिवार आदि।
(२) अचित्त-ऋद्धि—वस्त्र, पात्र, शास्त्र-सग्रहादि।
(३) मिश्र-ऋद्धि—वस्त्र पात्रादि से युक्त शिष्य-परिवारादि।

गि संपया—

८ अट्ठविहा गणि-सपया पण्णत्ता, त जहा—

१ आयार-सपया, २ सुय-संपया,
३. सरीर-संपया, ४. वयण-संपया,
५ वायणा-संपया, ६ मइ-सपया,
७. पओग-सपया, ८. संगह-परिण्णा णाम अट्ठमा संपया[1]।

—ठाण. अ. ८, सु. ६०१

गणि सम्पदा—

४२८. आठ प्रकार की गणि सम्पदा कही गई है। जैसे—

(१) आचारसम्पदा, (२) श्रुतसम्पदा
(३) शरीरसम्पदा, (४) वचनसम्पदा,
(५) वाचनासम्पदा, (६) मतिसम्पदा,
(७) प्रयोगसम्पदा, (८) सगहपरिज्ञासम्पदा

ायार सपया—

९ प०—से किं त आयार-सपया ?
उ०—आयार-सपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
१ संजम-धुव-जोग-जुत्ते यावि भवइ,
२. असपग्गहिय-अप्पा,
३. अणियत-वित्ती,
४. वुड्ढ-सीले यावि भवइ।
से त आयार सपया। —दसा द ४, सु ३

आचार-सम्पदा—

४२९ प्र० भगवन्! वह आचारसम्पदा कितने प्रकार की है?
उ०—आचारसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
(१) सयम क्रियाओ मे ध्रुव योग युक्त होना।
(२) अहकार रहित होना।
(३) अप्रतिबद्ध विहार करना।
(४) वृद्धो के समान गम्भीर स्वभाव वाला होना।
यह आचार सम्पदा है।

ुयसपया—

१० प०—से किं त सुय-सपया ?
उ०—सुय-सपया चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—
१ बहुस्सुए यावि भवइ,
२ परिचिय-सुए यावि भवइ,
३ विचित्त-सुए यावि भवइ,
४ घोस-विसुद्धिकारए यावि भवइ।
से त सुय-सपया। —दसा द ४, सु ४

श्रुत-सम्पदा—

४३०. प्र०—भगवन्! श्रुतसम्पदा कितने प्रकार की है?
उ०—श्रुतसम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
(१) अनेक शास्त्रो का ज्ञाता होना।
(२) सूत्रार्थ से भली-भाँति परिचित होना।
(३) स्व-समय और पर-समय का ज्ञाता होना।
(४) शुद्ध उच्चारण करने वाला होना।
यह श्रुत सम्पदा है।

रीर सपया—

३१ प०—से किं त सरीर संपया ?
उ०—सरीर-सपया चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—
१. आरोह-परिणाह-संपन्ने यावि भवइ,
२ अणोतप्प-सरीरे यावि भवइ,
३ थिरसघयणे यावि भवइ,
४ बहुपडिपुण्णिंदिए यावि भवइ।
से त सरीर-संपया। —दसा. द. ४, सु ५

शरीर-सम्पदा—

४३१. प्र०—भगवन्! शरीर सम्पदा कितने प्रकार की है?
उ०—शरीर सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—
(१) शरीर की लम्बाई-चौडाई का उचित प्रमाण होना।
(२) लज्जास्पद शरीर वाला न होना।
(३) शरीर का सहनन सुदृढ होना।
(४) सर्व इन्द्रियो का परिपूर्ण होना।
यह शरीर सम्पदा है।

---

१ दसा द ४ सु १-२

वयण संपया—

४३२ प०—से किं तं वयण-संपया ?

उ०—वयण-संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१ आदेय-वयणे यावि भवइ,

२. महुर-वयणे यावि भवइ,

३. अणिस्सिय-वयणे यावि भवइ,

४. असंदिद्ध यावि भवइ।

से तं वयण-संपया। —दसा द. ४, सु. ६

वायणा संपया

४३३. प०—से किं तं वायणा-संपया ?

उ०—वायणा-संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. विजय उद्दिसइ,

२. विजय वाएइ,

३. परिनिव्वाविय वाएइ,

४. अत्थनिज्जावए यावि भवइ,

से तं वायणा संपया। —दसा. द. ४, सु. ७

मइ संपया—

४३४ प०—से किं तं मइ-संपया ?

उ०—मइ-संपया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१ उग्गह-मइ-संपया,

२. ईहा-मइ-संपया,

३. अवाय-मइ-संपया,

४ धारणा-मइ-संपया।

प०—से किं तं उग्गह-मइ-संपया ?

उ०—उग्गह-मइ-संपया छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. खिप्पं उगिण्हेइ,

२. बहुं उगिण्हेइ,

३ बहुविह उगिण्हेइ,

४. धुवं उगिण्हेइ,

५. अणिस्सिय उगिण्हेइ,

६. असंदिद्धं उगिण्हेइ।

एवं ईहा-मई वि।

एवं अवाय-मई वि।

प०—से किं तं धारणा-मइसंपया ?

वचन-सम्पदा—

४३२. प्र०—भगवन् ! वचन सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—वचन सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) सर्वजन-आदरणीय वचन वाला होना।

(२) मधुर वचन वाला होना।

(३) राग-द्वेष रहित वचन वाला होना।

(४) सन्देह-रहित वचन वाला होना।

यह वचन-सम्पदा है।

वाचना सम्पदा—

४३३. प्र०—भगवन् ! वाचना-सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—वाचना सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) शिष्य की योग्यता का निश्चय करने वाला होना।

(२) विचार पूर्वक अध्यापन कराने वाला होना।

(३) योग्यतानुसार उपयुक्त पढाने वाला होना।

(४) अर्थ संगति पूर्वक नय-प्रमाण से अध्यापन कराने वाला होना।

यह वाचना सम्पदा है।

मति-सम्पदा—

४३४. प्र०—भगवन् ! मति-सम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—मतिसम्पदा चार प्रकार की कही गई हैं। जैसे—

(१) अवग्रह—सामान्य रूप से अर्थ को जानना।

(२) ईहा मतिसम्पदा-सामान्य रूप से जाने हुए अर्थ को विशेष रूप से जानने की इच्छा होना।

(३) ईहित वस्तु का विशेष रूप मे निश्चय करना।

(४) ज्ञात वस्तु का कालान्तर मे स्मरण रखना।

प्र०—भगवन् ! अवग्रह-मतिसम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—अवग्रह-मतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) प्रश्न आदि को शीघ्र ग्रहण करना।

(२) बहुत प्रश्नो को ग्रहण करना।

(३) अनेक प्रकार के प्रश्नो को ग्रहण करना।

(४) निश्चित रूप से ग्रहण करना।

(५) किसी के आधीन न रहकर अपनी प्रतिभा से ग्रहण करना।

(६) सन्देह रहित होकर ग्रहण करना।

इसी प्रकार ईहा मतिसम्पदा भी छह प्रकार की होती है।

इसी प्रकार अवाय-मतिसम्पदा भी छह प्रकार की होती है।

प्र०—भगवन् ! धारणा—मतिसम्पदा कितने प्रकार की है ?

उ०—धारणा-मइसपया छव्विहा पण्णत्ता, त जहा—

१. बहु धरेइ,
२. बहुविह धरेइ,
३ पोराणं धरेइ,
४ दुद्धर धरेइ,
५. अणिस्सिय धरेइ,
६ असंदिद्ध धरेइ।

से तं मइ-सपया। —दसा द ४ सु. ८-१२

उ०—धारणामतिसम्पदा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) बहुत अर्थो को धारण करना।
(२) अनेक प्रकार के अर्थों को धारण करना।
(३) पुरानी बात को धारण करना।
(४) कठिन से कठिन बात को धारण करना।
(५) अनुक्त अर्थ को अपनी प्रतिभा द्वारा धारण करना।
(६) ज्ञात अर्थ को सन्देह-रहित धारण करना।

यह मतिसम्पदा है।

पओग संपया—

प्रयोग-सम्पदा—

४३५ प०—से किं तं पओग-संपया?

उ०—पओग-सपया चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—

१ आय विदाय वायं पउंजित्ता भवइ,
२ परिसं विदाय वायं पउञ्जित्ता भवइ,
३ खेत्तं विदाय वाय पउञ्जित्ता भवइ,
४ वत्थुं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ,

से त पयोग-सपया। —दसा. द ४, सु १३

४३५ प्र०—भगवन्! प्रयोग-सम्पदा कितने प्रकार की है?

उ०—प्रयोग सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) अपनी शक्ति को जानकर वाद-विवाद करना।
(२) परिषद् के भावो को जानकर वाद-विवाद करना।
(३) क्षेत्र को जानकर वाद-विवाद करना।
(४) वस्तु के (प्रतिपाद्य) विषय को जानकर वाद-विवाद करना।

यह प्रयोग सम्पदा है।

संगह परिण्णा संपया—

संग्रह-परिज्ञा-सम्पदा—

४३६ प०—से किं त सगह-परिण्णा णाम सपया?

उ०—सगह-परिण्णा णाम सपया चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—

१ बहुजण पाउग्गयाए वासावासेसु खेत्त पडिलेहित्ता भवइ,
२ बहुजण—पाउग्गयाए पाडिहारिय-पीढ-फलग-सेज्जा संथारय उग्गिण्हित्ता भवइ।
३ कालेण काल समायरित्ता भवइ,
४ अहागुरु संपूएत्ता भवइ।

से त सगह-परिण्णा णामं संपया। —दसा. द ४, सु. १४

४३६ प्र०—भगवन! सग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा कितने प्रकार कहे है?

उ०—संग्रहपरिज्ञा नामक सम्पदा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) वर्षावास मे अनेक मुनिजनो के रहने योग्य क्षेत्र का प्रतिलेखन करना।
(२) अनेक मुनिजनो के लिए प्रातिहारिक-पीठ-फलक-शय्या और संस्तारक ग्रहण करना।
(३) समयानुसार कार्य करना।
(४) गुरुजनों का यथायोग्य पूजा-सत्कार करना।

यह सग्रह परिज्ञा नामक सम्पदा है।

सत्त सगह-असगहट्ठाणा—

सात सग्रह-असग्रह स्थान—

४३७. आयरिय-उवज्झायस्स ण गणंसि सत्त सगहठाणा पण्णत्ता, त जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए ण गणसि आण वा धारणं वा सम्म पउंजित्ता भवति,
२. आयरिय-उवज्झाए ण गणंसि आधारातिणियाए किति कम्म सम्मं पउंजित्ता भवति,

४३७. आचार्य तथा उपाध्याय के लिए गण मे सात सग्रह स्थान कहे है। यथा—

(१) आचार्य तथा उपाध्याय गण मे आज्ञा व धारण का सम्यक् प्रयोग करते हैं।
(२) आचार्य तथा उपाध्याय गण मे बडे छोटे के क्रम से वन्दना का सम्यक् प्रयोग करते हैं।

३ आयरिय-उवज्झाए ण गणंसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले काले सम्ममणुप्पवाइत्ता भवति ।

४ आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं सम्म-मब्भुट्ठित्ता भवति ।

५ आयरिय-उवज्झाए ण गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवति, णो अणाणुपुच्छियचारी ।

६ आयरिय-उवज्झाए णं गणसि अणुप्पण्णाइ उवगरणाइ सम्मं उप्पाइत्ता भवति ।

७. आयरिय-उवज्झाए ण गणंसि पुव्वुप्पण्णाइ उवकरणाइं सम्मं सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति, णो असम्म सारक्खेत्ता संगोवित्ता भवति ।

आयरिय-उवज्झायस्स ण गणसि सत्त असंगहठाणा पण्णत्ता, त जहा—

१ आयरिय-उवज्झाए णं गणसि आणं वा धारणं वा णो सम्म पउज्जित्ता भवति ।

२. आयरिय-उवज्झाए णं गणसि आधारातिणियाए किति-कम्मं णो सम्मं पउज्जित्ता भवति ।

३ आयरिय-उवज्झाए ण गणसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले काले णो सम्ममणुप्पवाइत्ता भवति ।

४ आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि गिलाणसेहवेयावच्चं णो सम्मगब्भुट्ठित्ता भवति ।

५ आयरिय-उवज्झाए णं गणसि अणापुच्छियचारी यावि भवइ, णो अणाणुपुच्छियचारी ।

६. आयरिय-उवज्झाए ण गणसि अणुप्पण्णाइं उवगरणाइ णो सम्म उप्पाइत्ता भवति ।

७ आयरिय-उवज्झाए णं गणसि पच्चुप्पण्णाण उवगरणाणं णो सम्म सारक्खेत्ता सगोवेत्ता, भवति ।

—ठाण अ. ७, सु. ५४४

(३) आचार्य तथा उपाध्याय जिन-जिन सूत्र पर्यवजातों को धारण करते है, उनकी उचित समय पर गण को सम्यक् वाचना देते है ।

(४) आचार्य तथा उपाध्याय गण के ग्लान तथा नवदीक्षित साधुओं की यथोचित सेवा के लिए सतत जागरूक रहते हैं ।

(५) आचार्य तथा उपाध्याय गण को पूछकर अन्य प्रदेश मे विहार करते हैं, उन्हे पूछे बिना विहार नही करते हैं ।

(६) आचार्य तथा उपाध्याय गण के लिए अनुपलब्ध उप-करणो को यथाविधि उपलब्ध करते है ।

(७) आचार्य तथा उपाध्याय गण मे प्राप्त उपकरणो का सम्यक् प्रकार से सरक्षण तथा सगोपन करते हैं, असम्यक् प्रकार से संरक्षण और सगोपन नही करते हैं ।

आचार्य तथा उपाध्याय के लिए गण मे सात असंग्रह स्थान हैं, यथा—

(१) आचार्य तथा उपाध्याय गण मे आज्ञा व धारणा का सम्यक् प्रयोग नही करते हैं ।

(२) आचार्य तथा उपाध्याय गण मे यथारात्निक कृतिकर्म का सम्यक् प्रयोग नही करते हैं ।

(३) आचार्य तथा उपाध्याय जिन-जिन सूत्र-पर्यवजातो को धारण करते हैं, उनकी उचित समय पर गण को सम्यक् वाचना नहीं देते हैं ।

(४) आचार्य तथा उपाध्याय ग्लान तथा नवदीक्षित साधुओं की यथोचित सेवा के लिए सतत जागरूक नही रहते हैं ।

(५) आचार्य तथा उपाध्याय गण को पूछे बिना अन्य प्रदेशो मे विहार करते हैं, उसे पूछकर विहार नही करते हैं ।

(६) आचार्य तथा उपाध्याय गण के लिए अनुपलब्ध उप-करणो को यथाविधि उपलब्ध नही करते हैं ।

(७) आचार्य तथा उपाध्याय गण मे प्राप्त उपकरणों का सम्यक् प्रकार से संरक्षण और सगोपन नही करते हैं ।



निर्ग्रन्थ पद-व्यवस्था—४

आयरिय उवज्झाय पदारिहा णिग्गंथा—

४३८ पंचवास परियाए समणे णिग्गथे—

आयार-कुसले, सजम-कुसले, पवयण-कुसले, पण्णत्ति-कुसले, सगह-कुसले, उवग्गह-कुसले,

आचार्य उपाध्याय पद योग्य निर्ग्रन्थ -

४३८. पाँच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—

यदि आचारकुशल, सयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो ।

अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे।

जहण्णेण दसा-कप्प-ववहारधरे, कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

अट्ठवास-परियाए समणे निग्गंथे—
आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असबलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए, बब्भागमे,

जहण्णेणं ठाणं-समवाय-धरे, कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

प०—से किमाहु भंते!?

उ०—अत्थि णं थेराण तहारूवाणि कुलाणि कडाणि, पत्तियाणि, थेज्जाणि वेसासियाणि, सम्मयाणि, सम्मुइकराणि, अणुमयाणि बहुमयाणि भवंति।

तेहिं कडेहिं, तेहिं पत्तिएहिं, तेहिं थेज्जेहिं,
तेहिं वेसासिएहिं, तेहिं सम्मएहिं, तेहिं सम्मुइकरेहिं,
तेहिं अणुमएहिं, तेहिं बहुमएहिं।
जं से निरुद्धपरियाए समणे निग्गंथे,
कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं।
—वव. उ ३, सु ५, ७, ९

अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशवल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहु आगमज्ञ हो,

एवं जघन्य दशा, कल्प एवं व्यवहार का धारक हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—
यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल और उपग्रहकुशल हो। अक्षत चारित्र वाला, अभिन्न चारित्र वाला, अशवल चारित्र वाला और असंक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एवं बहुआगमज्ञ हो,

एवं जघन्य स्थानांग-समवायांग का धारक हो तो उसे आचार्य उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना कल्पता है।

निरुद्ध पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जिस दिन दीक्षित हो उसी दिन उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

उ०—स्थविरों के द्वारा तथारूप से भावित प्रीति युक्त, स्थिर, विश्वस्त सम्मत, प्रमुदित, अनुमत और बहुमत अनेक कुल होते हैं।

उन भावित प्रीतियुक्त स्थिर विश्वस्त सम्मत प्रमुदित, अनुमत और बहुमत कुल से दीक्षित जो निरुद्ध पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ है उसे उसी दिन आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है।

आयरिय उवज्झायपदाऽणरिहा णिग्गंथा—

४३९. सच्चेव णं से पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे—
नो आयार-कुसले, नो संजम-कुसले, नो पवयण-कुसले, नो पण्णत्ति-कुसले, नो संगह-कुसले, नो उवग्गह-कुसले, खयायारे भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए, अप्पागमे,
नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

सच्चेव णं से अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे—
नो आयारकुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पन्नत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारचित्ते, अप्पसुए अप्पागमे,
नो कप्पइ आयरियत्ताए, उवज्झायत्ताए, गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।

आचार्य उपाध्याय पद के अयोग्य निर्ग्रन्थ—

४३९ वह पांच वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—
यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शवल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

वह आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—
यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शवल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत और अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक पद देना नहीं कल्पता है।

निरुद्धवास परियाए समणे णिग्गथे—
कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, समुच्छेयकप्पसि ।
तस्स ण आयार-पकप्पस्स देसे अवट्ठिए,
से य "अहिज्जिस्सामि" त्ति अहिज्जेज्जा,
एव से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ।
से य "अहिज्जिस्सामि" त्ति नो अहिज्जेज्जा,
एवं से नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ।
—वव उ ३, सु ६, ८, १०

आचार्य के दिवंगत होने पर निरुद्ध वर्ष पर्याय वाले श्रमण को आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है ।

उसके आचार प्रकल्प का कुछ अश अध्ययन करना शेष हो और वह अध्ययन पूर्ण करने का संकल्प रखकर पूर्ण कर ले तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना कल्पता है ।

किन्तु यदि वह शेष अध्ययन पूर्ण करने का सकल्प रखकर भी उसे पूर्ण न करे तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नही कल्पता है ।

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स पदद-ाण विहाणं—

४४० एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झायाण इत्तरियं दिसं वा, अणुदिस वा, उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ।
—वव उ. २, सु. २६

एकपक्षीय भिक्षु को पद देने का विधान—

४४०. आचार्य या उपाध्याय के स्थान पर एक पक्षीय अर्थात् एक ही आचार्य के पास दीक्षा और श्रुत ग्रहण करने वाले भिक्षु को ही अल्पकाल के लिए अथवा यावज्जीवन के लिए आचार्य या उपाध्याय के पद पर स्थापित करना या उसे धारण करना कल्पना है । अथवा परिस्थितिवश गण का हित हो वैसे भी किया जा सकता है ।

गिलाण आयरियाइणा पद-दाण निद्देसो—

४४१. आयरिय-उवज्झाए गिलायमाणे अन्नयरं वएज्जा—"अज्जो ! ममंसि ण कालगयसि समाणंसी अय समुक्कसियव्वे ।"

से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे,

से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे,

अत्थि य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे,

नत्थि य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे,

तसि च ण समुक्किट्ठसि परो वएज्जा—

"दुस्समुक्किट्ठ ते अज्जो ! निक्खिवाहि ।"
तस्स ण निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा ।

जे साहम्मिया अहाकप्पेण नो उट्ठाए विहरति सव्वेसि तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा , —वव उ ४, सु १३

ग्लान आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश—

४४१. रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय किसी प्रमुख साधु से कहे कि "हे आर्य ! मेरे कालगत होने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना ।"

यदि आचार्य निर्दिष्ट वह उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए ।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नही करना चाहिए ।

यदि सघ मे अन्य कोई साधु पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए ।

यदि सघ मे अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो आचार्य निर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए ।

उस को उस पद पर स्थापित करने के वाद कोई गीतार्थ साधु कहे कि—
"हे आर्य ! तुम इस पद के अयोग्य हो । अत इस पद को छोड दो"—(ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड दे तो वह दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र नही होता है ।

जो साधर्मिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोड़ने के लिए न कहे तो वे सभी साधर्मिक साधु उक्त कारण से दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त पात्र होते हैं ।

ओहायमाण-आयरियाइणा पद-दाण निद्देसो—

संयम त्याग कर जाने वाले आचार्यादि के द्वारा पद देने का निर्देश—

४४२ आयरिय-उवज्झाए ओहायमाणे अन्नयरं वएज्जा "अज्जो ! ममसि ण ओहावियंसि ममाणंसि अयं समुक्कसियव्वे।"

४४२ संयम का परित्याग कर जाने वाले आचार्य या उपाध्याय किसी प्रमुख साधु से कहे कि—"हे आर्य ! मेरे चले जाने पर अमुक साधु को मेरे पद पर स्थापित करना।"

से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे,

यदि आचार्य निर्दिष्ट वह साधु उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नही करना चाहिए।

अत्थि य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे।

यदि संघ मे अन्य कोई साधु उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

नत्थि य इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे।

यदि संघ मे अन्य कोई भी साधु उस पद के योग्य न हो तो आचार्य निर्दिष्ट साधु को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

तं सि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा—

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद यदि गीतार्थ साधु कहे कि—

"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो निक्खिवाहि।"
तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।

"हे आर्य ! तुम इस पद के अयोग्य हो, अतः इस पद को छोड दो" (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड दे तो वह दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र नही होता है।

जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति।
सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

—वव उ ४, सु १४

जो साधर्मिक साधु कल्प के अनुसार उसे आचार्यादि पद छोडने के लिए न कहे तो वे सभी साधर्मिक साधु उक्त कारण से दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

पावजीवी बहुस्सुयाण पद-निसेहो—

पाप जीवी बहुश्रुतो को पद देने का निषेध—

४४३ भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

४४३. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार माया पूर्वक मृषा बोले या पाप श्रुतो से अपवित्र आजीविका करे तो उसे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य—यावत् गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

गणावच्छेइए बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहु-आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार माया पूर्वक मृषा बोले या पाप श्रुतो से अपवित्र आजीविका करे तो उसे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

आयरिय-उवज्झाए बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो-बहु आगाढा-गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ आचार्य या उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या पापश्रुतो से आजीविका करे तो उसे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

बहवे भिक्खुणो बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा-

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु अनेक प्रगाढ कारणो के

गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पावजीवी, जाव-ज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

बहवे गणावच्छेइया बहुस्सुया, बब्भागमा, बहुसो बहु-आगाढा गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई, असुई, पापजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

बहवे आयरिय-उवज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा गाढेसु कारणेसु माई, मुसावाई असुई, पापजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

बहवे भिक्खुणो, बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरिय-उव-ज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहु-आगाढा गाढेसु कारणेसु, माई, मुसावाई, असुई, पापजीवी, जावज्जीवाए तेसिं-तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

—वव उ. ३, सु २३-२९

होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या पापश्रुतो से आजीविका करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य —**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक गणावच्छेदक अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या पापश्रुतो से आजीविका करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक आचार्य या अनेक उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणों के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या पापश्रुतो से आजीविका करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ अनेक भिक्षु अनेक गणावच्छेदक या अनेक आचार्य उपाध्याय अनेक प्रगाढ कारणो के होने पर यदि अनेक बार मायापूर्वक मृषा बोले या पापश्रुतो से आजीविका करे तो उन्हे उक्त कारणो से यावज्जीवन आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

आयारकप्पपरिभट्ठस्स पद दाण विहि-णिसेहो—

४४४ निग्गंथस्स णं नव-डहर-तरुणस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, से य पुच्छियव्वे—

"केण ते कारणेण अज्जो! आयारपकप्पे नाम-अज्झयणे परिब्भट्ठे? किं आबाहेण उदाहु पमाएण?"

से य वएज्जा नो आबाहेण, पमाएणं, जावज्जीव तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

से य वएज्जा—"आबाहेणं, नो पमाएणं, से य "संठवेस्सा-मित्ति" संठवेज्जा एवं से कप्पइ आयरित्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

से य 'संठवेस्सामि'' त्ति नो सठवेज्जा, एव से नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। —वव उ. ५, सु. १५

थेराण थेरभूमिपत्ताण आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे परि-ब्भट्ठे सिया, कप्पइ तेसिं संठवेत्ताण वा, असठवेत्ताणं वा आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

आचार प्रकल्प विस्मृत को पद देने का विधि-निषेध—

४४४. नव दीक्षित बाल एव तरुण निर्ग्रन्थ यदि आचारप्रकल्प (निशीथ आदि) का अध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछना चाहिए कि—

"हे आर्य! तुम किस कारण से आचार प्रकल्प अध्ययन को भूल गए हो क्या व्याधि से भूले हो या प्रमाद से?"

यदि वह कहे कि—"व्याधि से नही अपितु प्रमाद से विस्मृत हुआ" तो उसे उक्त कारण से जीवन पर्यन्त आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

यदि वह कहे कि—"व्याधि से विस्मृत हुआ हूँ प्रमाद से नही। अब मैं आचार प्रकल्प पुन कण्ठस्थ कर लूंगा"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ कर ले तो उसे आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि वह आचार प्रकल्प को पुन कण्ठस्थ कर लेने का कह कर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

स्थविरत्व प्राप्त स्थविर यदि आचार प्रकल्प अध्ययन विस्मृत हो जाये और पुन. कण्ठस्थ करे या न करे तो भी उन्हे आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

थेराण थेरभूमिपत्ताण आयार-पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया कप्पइ तेसिं सन्निसण्णाणं वा, संतुयट्टाणं वा, उत्ताणयाण वा, पासिल्लयाण वा आयारपकप्प नाम अज्झयण दोच्चंपि तच्चंपि पडिपुच्छित्तए वा, पडिसारेत्तए वा।[1] —वव उ ५, सु १७-१८

स्थविरत्व प्राप्त स्थविर यदि आचार प्रकल्प अध्ययन विस्मृत हो जाये तो उन्हें बैठे हुए, शयन किये हुए, अर्धशयन किये हुए या पार्श्वभाग से शयन किये हुए को भी पुनः आचार प्रकल्प अध्ययन का दो-तीन बार पूछकर श्रवण करना और याद करना कल्पता है।

अबंभसेवीणं पय-दाण विहि-णिसेहो—

अब्रह्मसेवी को पद देने के विधि-निषेध—

४४५ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म मेहुण धम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

४४५ यदि कोई भिक्षु गण को छोड़कर मैथुन—धर्म का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य —यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह वेदोदय से उपशान्त, मैथुन से निवृत्त, मैथुन सेवन से ग्लानि प्राप्त और विषय-वासना रहित हो जाए तो उसे आचार्य —यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्त अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा, उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़े बिना मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोड़कर मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य —यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स, उवरयस्स पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोड़े बिना मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्त निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपने पद को छोड़कर मैथुन धर्म का प्रतिसेवन करे तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसंतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। —वव. उ. ३, सु १३-१७

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष में प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

---

१ अल्पकाल का दीक्षित साधु स्थविर को आचार प्रकल्प अध्ययन का स्मरण कराए—उसको "परिसारण" संज्ञा है और स्थविर द्वारा स्मरण करने की "प्रतिच्छन" संज्ञा है।

ओहावियाणं पद-दाण विहि-णिसेहो—

४४६. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव- गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कतेहिं चउत्थगसि सवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एव से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्त अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

गणावच्छेइए गणावच्छेयइत्त निक्खिवित्ता ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं सवच्छरेहिं वीइक्कतेहिं, चउत्थगसि संवच्छरसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एव से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

आयरिय-उवज्झाए आयरिय-उवज्झायत्त निक्खिवित्ता ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तिय नो कप्पइ आयरियत्त वा-जाव-गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

तिहिं सवच्छरेहिं वीइक्कतेहिं चउत्थगसि सवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स, उवसतस्स, उवरयस्स, पडिविरयस्स, निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा-जाव-गणावच्छेइयत्त वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। —वव. उ ३, सु १८-२२

सयम त्याग कर जाने वालो को पद देने का विधि-निषेध—

४४६ यदि कोई भिक्षु गण व संयम का परित्याग कर वेष को छोडकर चला जावे और बाद मे पुन दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद दे । या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोडे बिना संयम का परित्याग कर चला जावे और बाद मे पुन दीक्षित हो जाये तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

यदि कोई गणावच्छेदक अपना पद छोडकर तथा सयम का परित्याग कर चला जावे और बाद मे पुन दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोडे बिना संयम का परित्याग कर चला जावे और बाद मे पुन दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से यावज्जीवन आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय अपना पद छोडकर तथा संयम का परित्याग कर चला जावे और बाद मे पुप दीक्षित हो जाए तो उसे उक्त कारण से तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर और चौथे वर्ष मे प्रवेश करने पर यदि वह उपशान्त, उपरत, प्रतिविरत और निर्विकार हो जाए तो उसे आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक पद देना या धारण करना कल्पता है।

उवज्झाय पद-दाण विहि-णिसेहो—

४४७. तिवासपरियाए समणे निग्गथे—

आयारकुसले, सजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संगहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, अभिन्नायारे, असवलायारे, असंकिलिट्ठायारे, बहुस्सुए बब्भागमे, जहण्णेणं आयारपकप्प-धरे, कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

उपाध्याय पद देने के विधि-निषेध—

४४७ तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ—

यदि आचार, सयम प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह करने मे कुशल हो तथा अक्षत, अभिन्न, अशबल और असक्लिष्ट आचार वाला हो, बहुश्रुत एव बहु आगमज्ञ हो और जघन्य आचार प्रकल्पधर हो तो उसे उपाध्याय पद देना कल्पता है।

सच्चेव ण से तिवास परियाए समणे निग्गंथे—नो आयार-कुसले, नो संजमकुसले, नो पवयणकुसले, नो पण्णत्तिकुसले, नो संगहकुसले, नो उवग्गहकुसले, खयायारे, भिन्नायारे, सबलायारे, संकिलिट्ठायारे, अप्पसुए, अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए। —वव. उ ३, सु. ३-४

वह (तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण निर्ग्रन्थ) यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो तथा क्षत, भिन्न, शबल और संक्लिष्ट आचार वाला हो, अल्पश्रुत एवं अल्प आगमज्ञ हो तो उसे उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता है।

अणवट्ठप्प-पारंचिय-भिक्खुस्स उवट्ठावणा—

४४८. अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए।

अणवट्ठप्पं भिक्खुं पारंचियं वा भिक्खुं अगिहिभूयं वा गिहिभूयं वा, कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावित्तए, जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया। —वव उ २, सु १८-२२

अनवस्थाप्य और पाराचिक भिक्षु की उपस्थापना—

४४८ अनवस्थाप्य नामक नौवें प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराए बिना पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है।

अनवस्थाप्य भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराके पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है।

पारंचित नामक दसवें प्रायश्चित्त के पात्र भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराए बिना पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता है।

पारंचित भिक्षु को गृहस्थ वेष धारण कराके पुनः संयम में उपस्थापन करना गणावच्छेदक को कल्पता है।

अनवस्थाप्य भिक्षु को और पारंचित भिक्षु को (परिस्थिति-वश) गृहस्थ का वेष धारण कराके या गृहस्थ का वेष धारण कराए बिना ही पुनः संयम में उपस्थापित करना गणावच्छेदक को कल्पता है जिससे कि गण का हित संभव हो।

आयरिय अणिस्साए विहरण णिसेहो—

४४९ निग्गंथस्स णं नव-डहर-तरुणस्स आयरिय-उवज्झाए वीस-भेज्जा। नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झाइए होत्तए।

कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ पच्छा उवज्झायं।

प०—से किमाहु भंते?

उ०—दु-संगहिए समणे निग्गंथे, तं जहा—

१ आयरिएण, २ उवज्झाएण य। —वव उ ३, सु ११

आचार्य के नेतृत्व के बिना विचरने का निषेध—

४४९ नवदीक्षित, बालक या तरुण निर्ग्रन्थ के आचार्य और उपाध्याय की मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य और उपाध्याय के बिना रहना नहीं कल्पता है।

उसे पहले आचार्य की और बाद में उपाध्याय की निश्रा अधीनता स्वीकार करके ही रहना चाहिये।

प्र०—हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

उ०—श्रमण निर्ग्रन्थ दो के नेतृत्व में ही रहते हैं—

यथा—(१) आचार्य (२) उपाध्याय।

गणधारण अरिहा अणगारा—

४५० छहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अरिहति गणं धारित्तए, तं जहा—

१ सड्ढी पुरिसजाते, २ सच्चे पुरिसजाते,
३ मेहावी पुरिसजाते, ४ बहुस्सुते पुरिसजाते,
५ सत्तिमं ६ अप्पाधिकरणे, —ठाण. अ ६, सु ४७५

गणधारण करने योग्य अणगार—

४५०. छह स्थानों से सम्पन्न अनगार गण को धारण करने में समर्थ होता है, यथा—

(१) श्रद्धाशील पुरुष, (२) सत्यवादी पुरुष,
(३) मेधावी पुरुष, (४) बहुश्रुत पुरुष,
(५) शक्तिशाली पुरुष, (६) कलहरहित पुरुष।

गणधारण विहि-णिसेहो—

४५१ भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, भगवं च से अपलिछन्ने एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए।

गणधारण करने का विधि-निषेध—

४५१. यदि कोई भिक्षु गण को धारण करना (अग्रणी होना) चाहे और वह सूत्र ज्ञान आदि योग्यता से रहित हो तो उसे गणधारण करना नहीं कल्पता है।

भगवं च से पलिछन्ने,
एवं से कप्पइ गण धारेत्तए,
भिक्खू य इच्छेज्जा गण धारेत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारेत्तए।
कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारेत्तए।
थेरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ गण धारेत्तए।

थेरा य नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ गणं धारेत्तए।

जं ण थेरेहिं अविइण्ण गण धारेज्जा से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।
जे साहम्मिया उट्ठाए विहरंति, नत्थि णं तेसिं केइ छेए वा परिहारे वा। —वव. उ. ३, सु १-२

यदि वह भिक्षु सूत्र ज्ञान आदि योग्यता से युक्त हो तो उसे गणधारण करना कल्पता है।

यदि योग्य भिक्षु गणधारण करना चाहे तो उसे स्थविरो को पूछे बिना गणधारण करना करना नही कल्पता है।

स्थविरो को पूछ करके ही गणधारण करना कल्पता है।

यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान करें तो गणधारण करना कल्पता है।

यदि स्थविर अनुज्ञा प्रदान न करें तो गणधारण करना नही कल्पता है।

यदि स्थविरो की अनुज्ञा प्राप्त किये बिना ही गणधारण करता है तो वह उक्त कारण से दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है, किन्तु उसके साथ जो सार्धमिक साधु विचरते हैं वे दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त के पात्र नही होते है।

गणं पमुहस्स कालगए समाणे भिक्खुस्स किच्चाइं—

४५२ गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू ज पुरओ कट्टु विहरइ, से य आहच्च वीसंभेज्जा, अत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसपज्जणारिहे से उवसपज्जियव्वे।

नत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसपज्जणारिहे तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्ण जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति त ण त णं दिस उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तिय वत्थए।
तसि च ण कारणसि निट्ठियसि परो वएज्जा—
"वसाहि अज्जो! एगराय वा दुरायं वा" एवं से कप्पइ एगराय वा दुराय वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से सतरा छेए वा परिहारे वा।

वासावासं पज्जोसविओ भिक्खू य जं पुरओ कट्टु विहरइ से य आहच्च वीसंभेज्जा अत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे।

नत्थि य इत्थ अन्ने केइ उवसपज्जणारिहे तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्ण दिसं अन्ने साहम्मिया विहरति तं णं तं ण दिस उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।
कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।
तसि च णं कारणसि निट्ठियसि परो वएज्जा—

अग्रणी के काल करने पर भिक्षु का कर्तव्य—

४५२ ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु जिन को अग्रणी मानकर विहार कर रहा हो उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष भिक्षुओ मे जो भिक्षु योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वय ने भी आचार प्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग मे विश्राम के लिए एक एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा मे अन्य स्वधर्मी विचरते हो उस दिशा मे जाना कल्पता है।

मार्ग मे उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है।
यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है।
रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—
"हे आर्य! एक या दो रात और ठहरो" तो उसे एक या दो रात ठहरना कल्पता है किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नही कल्पता है। जो भिक्षु वहाँ (कारण समाप्त होने के बाद) एक या दो रात से अधिक ठहरता है वह मर्यादा उल्लघन के कारण दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

वर्षावास मे रहा हुआ भिक्षु जिन को अग्रणी मानकर रह रहा हो उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष भिक्षुओ मे जो भिक्षु योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए।

यदि अन्य कोई भिक्षु अग्रणी होने योग्य न हो और स्वय ने भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग मे विश्राम के लिये एक एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा मे अन्य स्वधर्मी विचरते हो उस दिशा मे जाना कल्पता है।

मार्ग मे उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नही कल्पता है।
यदि रोगादि का कारण हो तो अधिक ठहरना कल्पता है।
रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—

"वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा" एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए।
जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा। —वव उ ४, सु. ११-१२

"हे आर्य ! एक या दो रात और ठहरो" तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है। जो भिक्षु एक या दो रात से अधिक ठहरता है वह मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त का पात्र होता है।



निर्ग्रन्थी पद व्यवस्था—४

गिलाण पवत्तिणिणा पद-दाण णिद्देसो—

४५३ पवत्तिणी य गिलायमाणी अन्नयरं वएज्जा—"मए णं अज्जे ! कालगयाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा।"

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा।

सा य नो समुक्कसिणारिहा नो समुक्कसियव्वा।

अत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्कसियव्वा।
नत्थि या इत्थ अन्ना काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा।

ताए व णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे ! निक्खिवाहि" ताए णं निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।

जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।
—वव उ. ५, सु १३

ग्लान प्रवर्तिनी के द्वारा पद देने का निर्देश—

४५३ रुग्णा प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि—"हे आर्ये ! मेरे कालगत होने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना।"

यदि प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

यदि वह उस पद पर स्थापन करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नहीं करना चाहिए।

यदि समुदाय में अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

यदि समुदाय में अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये ! तुम इस पद के अयोग्य हो अत इस पद को छोड दो।" (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड दे तो वह दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र नहीं होती है।

जो स्वधर्मिणी साध्वियाँ कल्प के अनुसार उसे प्रवर्तिनी आदि पद छोडने के लिए न कहें तो वे सभी स्वधर्मिणी साध्वियाँ उक्त कारण से दीक्षा छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

ओहायमाणी पवत्तिणिणा पद-दाण निद्देसो—

४५४. पवत्तिणीय ओहायमाणी अन्नयरं वएज्जा—"मए णं अज्जे ! ओहावियाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा।"

संयम परित्याग करने वाली प्रवर्तिनी द्वारा पद देने का निर्देश—

४५४ संयम परित्याग कर जाने वाली प्रवर्तिनी किसी प्रमुख साध्वी से कहे कि "हे आर्ये ! मेरे चले जाने पर अमुक साध्वी को मेरे पद पर स्थापित करना।"

सा य समुक्कसिणारिहा समुक्कसियव्वा,

यदि वह साध्वी उस पद पर स्थापन करने योग्य हो तो उसे उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

सा य नो समुक्कसिणारिहा सो समुक्कसियव्वा।

यदि वह उस पद पर स्थापित करने योग्य न हो तो उसे स्थापित नही करना चाहिए।

अत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसिणारिहा सा समुक्कसियव्वा।

यदि समुदाय मे अन्य कोई साध्वी उस पद के योग्य हो तो उसे स्थापित करना चाहिए।

नत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसिणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा।

यदि समुदाय मे अन्य कोई भी साध्वी उस पद के योग्य न हो तो प्रवर्तिनी-निर्दिष्ट साध्वी को ही उस पद पर स्थापित करना चाहिए।

ताए य णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा—"दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे! निक्खिवाहि।" ताए ण निक्खिवमाणाए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा।

उस को उस पद पर स्थापित करने के बाद कोई गीतार्थ साध्वी कहे कि—"हे आर्ये! तुम इस पद के अयोग्य हो अतः इस पद को छोड दो" (ऐसा कहने पर) यदि वह उस पद को छोड दे तो वह दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र नही होती है।

जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पं नो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा।

—वव. उ. ५, सु १४

जो स्वधर्मिणी साध्वियाँ कल्प के अनुसार उसे प्रवर्तिनी आदि पद छोडने के लिए न कहे तो वे सभी स्वधर्मिणी साध्वियाँ उक्त कारण से दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं।

णिग्गंथीए आयरिय-उवज्झाय पदारिह निग्गंथ—

निर्ग्रन्थी के लिए आचार्य उपाध्याय पद योग्य निर्ग्रन्थ—

४५५ तिवासपरियाए समणे निग्गंथे तीस वासपरियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

४५५. तीस वर्ष की श्रमण पर्याय वाली निर्ग्रन्थियो को उपाध्याय के रूप मे तीन वर्ष के श्रमण पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

पचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवासपरियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

—वव. उ. ७, सु. १९-२०

साठ वर्ष की श्रमण पर्याय वाली निर्ग्रन्थिनी को आचार्य या उपाध्याय के रूप मे पाँच वर्ष के श्रमण पर्याय वाले निर्ग्रन्थ को स्वीकार करना कल्पता है।

आयार-पकप्प-पब्भट्ठाए णिग्गंथीए पद-दाणं विहि-णिसेहो—

आचार प्रकल्प विस्मृत निर्ग्रन्थी को पद देने का विधि-निषेध—

४५६. निग्गंथीए-नव-डहर-तरुणाए आयार-पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा—

"केण भे कारणेण अज्जे! आयार-पकप्पे नाम अज्झयणे परिब्भट्ठे? किं आबाहेणं उदाहु पमाएणं?"

सा य वएज्जा "नो आबाहेण, पमाएण" जावज्जीव तीसे तप्पत्तियं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्त वा उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा।

सा य वएज्जा—"आबाहेणं, नो पमाएण"—सा य "संठवेस्सामि" त्ति संठवेज्जा एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा।

४५६. नवदीक्षित, बाल एवं तरुण निर्ग्रन्थी यदि आचार प्रकल्प अध्ययन विस्मृत हो जाये तो उसे पूछना चाहिए कि—

"हे आर्ये! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प अध्ययन भूल गई हो? क्या व्याधि से भूली हो या प्रमाद से?"

यदि वह कहे कि मैं व्याधि से नही अपितु प्रमाद से विस्मृत हुई हूँ – तो उसे उक्त कारण से जीवन पर्यन्त प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नही कल्पता है।

यदि वह कहे कि—"व्याधि से विस्मृत हुई हूँ, प्रमाद से नही अब मैं पुनः आचारप्रकल्प को कण्ठस्थ कर लूंगी"—ऐसा कहकर कण्ठस्थ करले तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना कल्पता है।

सा य "संठवेस्सामि" त्ति नो संठवेज्जा, एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा—उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा। —वव उ. ५, सु. १६

यदि वह आचारप्रकल्प को पुनः कण्ठस्थ कर लेने का कह कर भी कण्ठस्थ न करे तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना या धारण करना नहीं कल्पता है।

आयरियाइ अणिस्साए णिग्गंथीए विहार णिसेहो—

आचार्यादि के नेतृत्व के बिना निर्ग्रन्थी के रहने का निषेध—

४५७. निग्गंथीए णं नव-डहर-तरुणीए आयरिय-उवज्झाए, पवत्तिणी य वीसंभेज्जा नो से कप्पइ अणायरिय-उवज्झाइयाए अपवत्तिणियाए होत्तए।

कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ उवज्झायं तओ पच्छा पवत्तिणिं।

प०—से किमाहु भंते ?

उ०—ति-संगहिया समणी निग्गंथी, तं जहा—

१ आयरिएणं, २ उवज्झाएणं, ३. पवत्तिणीए य। —वव उ ३, सु १२

४५७. नवदीक्षिता, बालिका या तरुणी निर्ग्रन्थी के आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी की यदि मृत्यु हो जावे तो उसे आचार्य उपाध्याय और प्रवर्तिनी के बिना रहना नहीं कल्पता है।

उसे पहले आचार्य की, बाद में उपाध्याय की और बाद में प्रवर्तिनी की निश्रा आधीनता स्वीकार करके ही रहना चाहिये।

प्र०—हे भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है ?

उ०—श्रमणी निर्ग्रन्थी तीन के नेतृत्व में ही रहती है। यथा—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तिनी।

गण पमुहाए कालगयाए समाणीए णिग्गंथीए किच्चाइ—

अग्रणी साध्वी के काल करने पर साध्वी का कर्तव्य—

४५८. गामाणुगामं दूइज्जमाणी णिग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ, सा य आहच्च वीसंभेज्जा अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा।

नत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—

"वसाहि अज्जे ! एगरायं वा दुरायं वा" एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जा तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ सा सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

४५८. ग्रामानुग्राम विहार करती हुई साध्वियाँ जिस को अग्रणी मानकर विहार कर रही हों उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष साध्वियों में जो साध्वी योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं ने भी निशीथ आदि का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य साधर्मिणी साध्वियाँ विचरती हों उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है।

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—

"हे आर्ये ! एक या दो रात और ठहरो" तो उन्हें एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता है जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है वह मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

वासावासं पज्जोसविया निग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ, सा आहच्च वीसंभेज्जा, अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा।

नत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए।

नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए।

कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए।

वर्षावास में रही हुई साध्वियाँ जिसको अग्रणी मानकर रह रही हों उनके कालधर्म प्राप्त होने पर शेष साध्वियों में जो साध्वी योग्य हो उसे अग्रणी बनाना चाहिए।

यदि अन्य कोई साध्वी अग्रणी होने योग्य न हो और स्वयं ने भी आचारप्रकल्प का अध्ययन पूर्ण न किया हो तो उसे मार्ग में एक-एक रात्रि ठहरते हुए जिस दिशा में अन्य साधर्मिणी साध्वियाँ विचरती हों उस दिशा में जाना कल्पता है।

मार्ग में उसे विचरने के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता है।

यदि रोगादि का कारण हो तो ठहरना कल्पता है।

तसि च ण कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा—"वसाहि अज्जे ! एगराय वा दुरायं वा", एवं से कप्पइ एगरायं वा दुराय वा वत्थए। नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जा तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ सा संतरा छेए वा परिहारे वा।

—वव अ ५, सु. ११-१२

रोगादि के समाप्त होने पर यदि कोई कहे कि—

'हे आर्ये ! एक या दो रात और ठहरो तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नही कल्पता हैं। जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है वह मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त की पात्र होती है।



विनय-व्यवहार—५

पव्वज्जा परियायाणुक्कमेण वदणा विहाणो—

४५९. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—अहारायणियाए किइकम्मं करेत्तए। —कप्प. उ. ३, सु. २०

प्रव्रज्या पर्याय के अनुक्रम से वन्दना का विधान—

४५९. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को चारित्र पर्याय के क्रम से वन्दन करना कल्पता है।

सेहस्स राइणियस्स य ववहारा—

४६०. दो साहम्मिया एगयओ विहरति, त जहा—सेहे य, राइणिए य।

तत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने, राइणिए अपलिच्छन्ने।

सेहतराएण राइणिए उवसपज्जियव्वे, भिक्खोववाय च दलयइ कप्पागं।

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तं जहा—सेहे य, राइणिए य।

तत्थ राइणिए पलिच्छन्ने, सेहतराए अपलिच्छन्ने।

इच्छा राइणिए सेहतरागं उवसपज्जेज्जा, इच्छा नो उवसपज्जेज्जा, इच्छा भिक्खोववायं दलेज्जा कप्पागं, इच्छा नो दलेज्जा कप्पागं। —वव. उ. ४, सु. २४-२५

शैक्ष और रत्नाधिक का व्यवहार—

४६० दो सार्धमिक भिक्षु एक साथ विचरते हो यथा—अल्प दीक्षा पर्याय वाला और अधिक दीक्षा पर्याय वाला।

उनमे यदि अल्प दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न हो और अधिक दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न न हो।

फिर भी अल्प दीक्षा पर्याय वाले को अधिक दीक्षा पर्याय वाले की विनय वैयावृत्य करना, आहार लाकर देना, समीप मे रहना और अलग विचरने के लिए शिष्य देना आदि कर्तव्य पालन करना चाहिये।

दो सार्धमिक भिक्षु एक साथ विचरते हो, यथा—अल्प दीक्षा पर्याय वाला और अधिक दीक्षा पर्याय वाला।

उनमे यदि अधिक दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न हो और अल्प दीक्षा पर्याय वाला श्रुत सम्पन्न तथा शिष्य सम्पन्न न हो।

तो अधिक दीक्षा पर्याय वाला इच्छा हो तो अल्प दीक्षा पर्याय वाले की वैयावृत्य करे इच्छा न हो तो न करे। इच्छा हो तो आहार लाकर दे इच्छा न हो तो न दे। इच्छा हो तो समीप मे रखे इच्छा न हो तो न रखे। इच्छा हो तो अलग विचरने के लिये शिष्य दे इच्छा न हो तो न दे।

राइणियं उवसंपज्जित्ता विहार विहाणं—

४६१. दो भिक्खुणो एगयओ विहरति, नो ण कप्पइ अन्नमन्न उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए,

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

रत्नाधिक को अग्रणी मानकर विचरने का विधान—

४६१. दो भिक्षु एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ मे विचरना नही कल्पता है,

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

दो गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए

दो गणावच्छेदक एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ में विचरना नही कल्पता है,

कप्पइ ण अहाराइणियाए अन्नमन्न उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

दो आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

दो आचार्य या दो उपाध्याय एक साथ विचरते हो तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है।

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

बहवे भिक्खुणो एगयओ विहरंति, नो ण कप्पइ अन्नमन्न उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

बहुत से भिक्षु एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है,

कप्पइ ण अहाराइणियाए अन्नमन्न उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

बहवे गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, नो ण कप्पइ अन्नमन्नं उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

बहुत से गणावच्छेदक एक साथ विचरते हो तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है,

कप्पइ ण अहाराइणियाए अन्नमन्न उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर साथ विचरना कल्पता है।

बहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरंति, नो ण कप्पइ अन्नमन्न उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हो तो उन्हे परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है,

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्न उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है।

बहवे भिक्खुणो, बहवे गणावच्छेइया, बहवे आयरिय-उवज्झाया एगयओ विहरन्ति, नो ण कप्पइ अन्नमन्नं उवसपज्जित्ताण विहरित्तए।

बहुत से भिक्षु, बहुत से गणावच्छेदक और बहुत से आचार्य या उपाध्याय एक साथ विचरते हो तो उन्हें परस्पर एक दूसरे को समान स्वीकार कर साथ विचरना नही कल्पता है,

कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्न उवसपज्जित्ताण विहरित्तए। —वव उ. ४, सु. २६-३२

किन्तु रत्नाधिक को अग्रणी स्वीकार कर विचरना कल्पता है।



अध्यापन-व्यवस्था—६

समणस्स अज्झयणकमो—

४६२. तिवास-परियायस्स[1] समणस्स निग्गथस्स कप्पइ आयार-पकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

चउवास-परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अगे उद्दिसित्तए।

पचवास-परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ-दसाकप्प-ववहारे उद्दिसित्तए।

अट्ठवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाण-समवाए उद्दिसित्तए।

दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ वियाहे नामं अगे उद्दिसित्तए।

एक्कारसवास परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ खुड्डिया विमाण-पविभत्ती, महल्लिया-विमाण-पविभत्ती, अंगचूलिया, वग्गचूलिया, वियाहचूलिया नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

बारसवास परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ अरुणोववाए, गरुलोववाए, धरणोववाए, वरुणोववाए, वेसमणोववाए, वेलधरोववाए नाम अज्झयणे उद्दिसित्तए।

तेरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए, समुट्ठाणसुए, देविंदपरियावणिए, नागपरियावणिए नाम अज्झयणे उद्दिसित्तए।

चोद्दसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ सुमिण-भावणा नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

पन्नरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ चारण-भावणा नाम अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सोलसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ तेय-णिसग्गे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

सत्तरसवास-परियायस्स समणस्स णिग्गथस्स कप्पइ आसी-विसभावणा णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

अट्ठारसवास-परियायस्स समणस्स निग्गथस्स कप्पइ दिट्ठि-विसभावणा णामं अज्झयणे उद्दिसित्तए।

एगूणवीसवास-परियायस्स समणस्स निग्गथस्स कप्पइ दिट्ठिवाए नाम अगे उद्दिसित्तए।

वीसवास परियाए समणे णिग्गथे सव्वसुयाणुवाई भवइ।

—वव. उ. १०, सु. २४-३८

श्रमण का अध्ययन क्रम—

४६२. तीन वर्ष की दीक्षापर्याय वाले (योग्य) श्रमण-निर्ग्रन्थ को आचार-प्रकल्प नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

चार वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को सूत्रकृताग नामक दूसरा अंग पढाना कल्पता है।

पाँच वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को (१) दशा, (२) कल्प, (३) व्यवहार सूत्र पढाना कल्पता है।

आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्थानाग और समवायाग सूत्र पढाना कल्पता है।

दश वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक अग पढाना कल्पता है।

ग्यारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को क्षुल्लिका विमानप्रविभक्ति, महल्लिका विमानप्रविभक्ति, अगचूलिका, वर्ग-चूलिका और व्याख्याचूलिका नाम का अध्ययन पढाना कल्पता है।

बारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण निर्ग्रन्थ को अरुणोपपात, गरुडोपपात, धरुणोपपात, वरुणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलन्धरोपपात नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

तेरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को उत्थान-श्रुत, समुत्थान श्रुत, देवेन्द्रपरियापनिका और नागपरियापनिका नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

चौदह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्वप्न-भावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

पन्द्रह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को चारण-भावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

सोलह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को तेजो-निसर्ग नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

सत्तरह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को आसी-विष भावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

अठारह वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टि-विष भावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

उन्नीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टि-वाद नामक बारहवा अंग पढाना कल्पता है।

बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सर्वश्रुतानु-वादी हो जाता है।

---

१ व्यव उ. ३, मे तीन वर्ष की सयम पर्याय वाले उपाध्याय योग्य भिक्षु को बहुश्रुत बहु आगमज्ञ कहा तथा कम से कम आचार प्रकल्प धारण करने वाला कहा। अत इस सूत्र का भावार्थ यह समझना योग्य है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले योग्य शिष्य को कम से कम इसका वाचन करा देना चाहिए।

आयारपकप्पस्स अज्झयण जोग्गो वओ—

४६३ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अव्वंजणजायस्स आयारपकप्पे णाम अज्झयणे उद्दिसित्तए।

कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारपकप्पे णाम अज्झयणे उद्दिसित्तए।

—वव. उ. १०, सु २२-२३

आचार प्रकल्प के अध्ययन योग्य वय का विधि निषेध—

४६३. अव्यजनजात (अप्राप्त यौवन) वाल भिक्षु या भिक्षुणी को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को नही कल्पता है।

किन्तु यौवन प्राप्त भिक्षु-भिक्षुणी को आचार-प्रकल्प नामक अध्ययन पढाना निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को कल्पता है।



विचरण-व्यवस्था—७

आयरियाइ सह णिग्गथाण संखा—

४६४ नो कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स एगाणियस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पबिइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स हेमन्त-गिम्हासु चारए।

नो कप्पइ आयरिय उवज्झायस्स अप्पबिइयस्स वासावास वत्थए।

कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावास वत्थए।

नो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए।

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पचउत्थस्स वासावास वत्थए।

से गामसि वा-जाव-रायहाणिंसि वा-बहूण आयरिय-उवज्झायाण अप्पबिइयाणं, बहूण गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं कप्पइ हेमत-गिम्हासु चारए अन्नमन्न निस्साए।

से गामसि वा-जाव-रायहाणिंसि वा, बहूणं आयरिय-उवज्झायाण अप्पतइयाणं बहूण गणावच्छेइयाण अप्पचउत्थाण कप्पइ वासावास वत्थए अन्नमन्न निस्साए।

—वव. उ ३, सु १-१०

आचार्यादि के साथ रहने वाले निर्ग्रन्थो की सख्या—

४६४. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे आचार्य या उपाध्याय को अकेला विहार करना नही कल्पता है।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे आचार्य या उपाध्याय को एक साधु साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे गणावच्छेदक को एक ही साधु के साथ विहार करना नही कल्पता है।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे गणावच्छेदक को दो अन्य साधु को साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

वर्षाकाल मे आचार्य या उपाध्याय को एक साधु के साथ रहना नही कल्पता है।

किन्तु वर्षा काल मे आचार्य या उपाध्याय को अन्य दो साधुओ के साथ रहना कल्पता है।

वर्षाकाल में गणावच्छेदक को दो साधुओ के साथ रहना नही कल्पता है।

किन्तु वर्षाकाल मे गणावच्छेदक को अन्य तीन साधुओ के साथ रहना कल्पता है।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे अनेक आचार्य या उपाध्यायो को ग्राम—यावत्—राजधानी में अपनी-अपनी नेश्राय मे एक-एक साधु के साथ और अनेक गणावच्छेदको को दो-दो साधुओ के साथ रहकर विहार करना कल्पता है।

वर्षा ऋतु मे अनेक आचार्य या उपाध्यायो को ग्राम–यावत्–राजधानी मे अपनी-अपनी नेश्राय मे तीन-तीन साधुओ के साथ और अनेक गणावच्छेदको को चार-चार साधुओ के साथ रहना कल्पता है।

पवत्तिणि आईणं सहविहरमाणी णिग्गंथी संखा—

४६५. नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-बिइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-तइयाए हेमंत-गिम्हासु चारए।

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-तइयाए हेमत-गिम्हासु चारए।

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-चउत्थाए हेमत-गिम्हासु चारए।

नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-तइयाए वासावास वत्थए।

कप्पइ पवत्तिणीए अप्प-चउत्थाए वासावासं वत्थए।

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प-चउत्थाए वासावास वत्थए।

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्प पंचमाए वासावास वत्थए।

से गामंसि वा-जाव-रायहाणिंसि वा, बहूणं पवत्तिणीणं अप्प-तइयाणं, बहूण गणावच्छेइणीण अप्पचउत्थाणं कप्पइ हेमत-गिम्हासु चारए अन्नमन्नं नीसाए।

से गामसि वा-जाव-रायहाणिंसि वा, बहूणं पवत्तिणीणं अप्प-चउत्थाणं, बहूणं गणावच्छेइणीण अप्प-पचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्न नीसाए।

—वव. उ ५, सु १-१०

प्रवर्तिनी आदि के साथ विचरने वाली निर्ग्रन्थियों की संख्या—

४६५. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे प्रवर्तिनी साध्वी को एक अन्य साध्वी को साथ लेकर विहार करना नही कल्पता है।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे प्रवर्तिनी को अन्य दो साध्वी साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे गणावच्छेदिनी को अन्य दो साध्वी साथ लेकर विहार करना नही कल्पता है।

किन्तु हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वी साथ लेकर विहार करना कल्पता है।

वर्षावास मे प्रवर्तिनी को अन्य दो साध्वियो के साथ रहना नही कल्पता है।

किन्तु वर्षावास मे प्रवर्तिनी को अन्य तीन साध्वियो के साथ रहना कल्पता है।

वर्षावास मे गणावच्छेदिनी को अन्य तीन साध्वियो के साथ रहना नही कल्पता है।

किन्तु वर्षावास मे गणावच्छेदिनी को अन्य चार साध्वियो के साथ रहना कल्पता है।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे अनेक प्रवर्तिनी को ग्राम-**यावत्**-राजधानी मे अपनी-अपनी निश्रा मे दो-दो अन्य साध्वियो के साथ और अनेक गणावच्छेदिनी को तीन-तीन अन्य साध्वियो के साथ रहकर विहार करना कल्पता है।

वर्षावास मे अनेक प्रवर्तिनी साध्वियो को ग्राम—**यावत्**—राजधानी मे अपनी अपनी नेश्राय मे तीन-तीन अन्य साध्वियो के साथ और अनेक गणावच्छेदिनी साध्वियो को चार-चार अन्य साध्वियो के साथ रहना कल्पता है।

एगाणियाए णिग्गंथीए गमण णिसेहो—

४६६. नो कप्पइ निग्गथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिण्डवाय पडियाए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

नो कप्पइ निग्गथीए एगाणियाए बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

नो कप्पइ निग्गथीए एगाणियाए-गामाणुगाम दूइज्जित्तए वा, वासावासं वा वत्थए। —कप्प उ. ६, सु. १६-१८

अकेली निर्ग्रन्थी को जाने का निषेध—

४६६ अकेली निर्ग्रन्थी को आहार के लिए गृहस्थ के घर मे आना-जाना नही कल्पता है।

अकेली निर्ग्रन्थी को शौच के लिए तथा स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना नही कल्पता है।

अकेली निर्ग्रन्थी को एक गाँव से दूसरे गाँव जाना तथा वर्षावास करना नही कल्पता है।

णिग्गथ णिग्गथीण विहार खेत्त मेरा—

४६७. कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—
पुरत्थिमेणं-जाव-अगमगहाओ एत्तए,
दक्खिणेणं-जाव-कोसम्बीओ एत्तए,
पच्चत्थिमेण-जाव-थूणाविसयाओ एत्तए,

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विचरण क्षेत्र की मर्यादा——

४६७. निर्ग्रन्थो को और निर्ग्रन्थियो को,
पूर्व दिशा मे अंग-मगध तक,
दक्षिण दिशा मे कोशाम्वी तक,
पश्चिम दिशा मे स्थूण देश तक,

उत्तरेण-जाव-कुणालाविसयाओ एत्तए,
एतावताव कप्पइ,
एतावताव आरिए खेत्ते,
नो से कप्पइ एत्तो बाहिं,
तेण परं जत्थ नाण-दसण-चरित्ताइं उस्सप्पन्ति ।

—कप्प उ १, सु. ३१

उत्तर दिशा मे कुणाल देश तक विचरना कल्पता है ।
इतना ही विचरना कल्पता है ।
इतना ही आर्य क्षेत्र है ।
इससे बाहर विचरना नही कल्पता है ।
इसके उपरान्त भी जहाँ ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र अर्थात् सयम की उन्नति हो वहाँ विचरना कल्पता है ।

णिग्गंथ-णिग्गंथीणं विहार करण विहि-णिसेहो—

४६८. नो कप्पइ निग्गथाण वा, निग्गंथीण वा, वासावासासु चारए ।
कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा हेमन्त-गिम्हासु चारए।

—कप्प. उ. १, सु ३७-३८

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के विहार करने का विधि-निषेध—

४६८. निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को वर्षावास मे विहार करना नही कल्पता है ।
निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे विहार करना कल्पता है ।

विइकिट्ठिय खेत्ते गमण विहि-णिसेहो—

४६९ नो कप्पइ निग्गंथीण विइकिट्ठिय दिस वा अणुदिस वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।
कप्पइ निग्गंथाण विइकिट्ठिय दिस वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ।

—वव उ. ७, सु. १०-११

विकट क्षेत्र मे जाने का विधि-निषेध—

४६९ निर्ग्रन्थियो को दूरस्थ या अति दूरस्थ विकट क्षेत्र की ओर स्वय जाना या अन्य को अनुज्ञा देना नही कल्पता है ।
किन्तु निर्ग्रन्थ को दूरस्थ या अति दूरस्थ विकट क्षेत्र की ओर स्वय जाना या अन्य को जाने के लिए अनुज्ञा देना कल्पता है ।

राइए बाहिं गमणस्स विहि-णिसेहो—

४७०. नो कप्पइ निग्गथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।
कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा, अप्पतइयस्स वा, राओ वा वियाले वा, वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।
नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा, वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।
कप्पइ से अप्पबिइयाए वा, अप्पतइयाए वा, अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले, वा वहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ।

—कप्प. उ. १, सु. ४८-५१

रात्रि मे उपाश्रय से बाहर जाने का विधि-निषेध—

४७०. अकेले निर्ग्रन्थ को रात्रि मे या विकाल मे शौच के लिए या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना नही कल्पता है ।
किन्तु उसे एक या दो निर्ग्रन्थो को साथ लेकर रात्रि में या विकाल मे शौच के लिए या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना कल्पता है ।
अकेली निर्ग्रन्थी को रात्रि मे या विकाल मे शौच के लिए या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना नहीं कल्पता है ।
एक दो या तीन निर्ग्रन्थियो को साथ लेकर रात्रि मे या विकाल मे शौच के लिए या स्वाध्याय के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना कल्पता है ।

णिग्गंथ-णिग्गंथीणं सहविहार पायच्छित्त सुत्तं—

४७१. जे भिक्खू सगणिच्चियाए वा, परगणिच्चियाए वा, णिग्गथीए सद्धिं गामाणुगाम दूइज्जमाणे पुरओ गच्छमाणे, पिट्ठओ रीयमाणे, ओहयमणसंकप्पे चिंता-सोयसागरसपविट्ठे, करयलपल्हत्यमुहे, अट्टज्झाणोवगए, विहार वा करेइ-जाव-असमणपाउग्ग कहं कहेइ, कहेंतं वा साइज्जइ ।

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के साथ विहार करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

४७१. जो भिक्षु स्वगण की या अन्य गण की साध्वी के साथ आगे या पीछे ग्रामानुग्राम विहार करते हुए सकल्प विकल्प करता है, चितातुर रहता है, शोक सागर मे डूबा हुआ रहता है, हथेली पर मुँह रखकर आर्त ध्यान करता रहता है—**यावत्**—साधु के न कहने योग्य काम कथा कहता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

तं सेवमाण आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण अणुग्घाइयं।
—नि उ. ८, सु. ११

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

अतेउर पवेसे कारणाइं—

४७२. पचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे रायंतेउरमणुपविसमाणे णाइवकमति, तं जहा—

१. णगरे सिया सव्वतो समता गुत्ते, गुत्तदुवारे, बहवे समण माहणा णो संचाएंति भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा तेसिं विण्णवणट्ठयाए रायंतेउरमणुपविसेज्जा।

२. पाडिहारियं वा पीढ-फलग-सेज्जा-संथारग पच्चप्पिणमाण रायंतेउरमणुपविसेज्जा।

३. हयस्स वा गयस्स वा दुट्ठस्स आगच्छमाणस्स भीते रायतेउरमणुपविसेज्जा।

४. परो वा णं सहसा वा, बलसा वा, बाहाए गहाय-रायंतेउरमणुपविसेज्जा।

५. बहिया वा ण आरामगयं वा, उज्जाणगयं वा रायतेउरजणो सव्वतो समंता संपरिक्खित्ता णं संणिवेसिज्जा।

इच्चेतेहिं पचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे रायतेउरमणुपविसेमाणे नाइक्कमति। —ठाणं. अ. ५, उ. २, सु. ४१५

अन्त पुर में प्रवेश के कारण—

४७२. पाँच कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ राजा के अन्तःपुर मे प्रवेश करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है। जैसे—

(१) यदि नगर सब ओर से घिरा हो, उसके द्वार बन्द हो, बहुत से श्रमण माहण भक्त-पान के लिए नगर से बाहर न निकल सकें या न प्रवेश कर सकें, तब उनका प्रयोजन बतलाने के लिए राजा के अन्तःपुर मे प्रवेश कर सकता है।

(२) प्रातिहारिक पीठ, फलक, शय्या संस्तारक को वापिस देने के लिए राजा के अन्त पुर मे प्रवेश कर सकता है।

(३) दुष्ट घोडे या हाथी के सामने आने पर भयभीत साधु रक्षा के लिए राजा के अन्त पुर मे प्रवेश कर सकता है।

(४) कोई अन्य व्यक्ति सहसा या बलपूर्वक पकड़कर ले जाए तो राजा के अन्त पुर मे प्रवेश कर सकता है।

(५) कोई साधु बाहर पुष्पोद्यान या वृक्षोद्यान मे ठहरा हो और वहाँ राजा का अन्त.पुर (राजा की रानियाँ) आ जावे तथा सर्व ओर से घेर कर बैंठ जावे तो वहाँ बैठ सकता है।

इन पाँच कारणो से श्रमण-निर्ग्रन्थ राजा के अन्त.पुर मे प्रवेश करता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।



निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के सामूहिक व्यवहार—८

णिग्गंथ-णिग्गंथीणं आलाव-संलाव कारणाइं—

४७३. चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथे णिग्गथि आलवमाणे वा सलवमाणे वा णाइक्कमइ, तं जहा—

१ पथं पुच्छमाणे वा, २. पंथं देसमाण वा,
३. असणं वा-जाव-साइम वा दलयमाणे वा,
४. असणं वा-जाव-साइमं वा दलावेमाणे वा।
—ठाण अ ४, उ. २, सु. २९०

साधु-साध्वी के वार्तालाप करने के कारण—

४७३ निर्ग्रन्थ चार कारणों से निर्ग्रन्थी के साथ अलाप-सलाप करता हुआ जिनाज्ञा का उल्लघन नही करता हैं। जैसे—

(१) मार्ग पूछता हुआ, (२) मार्ग बताता हुआ,
(३) अशन—यावत्—स्वाद्य देता हुआ।
(४) गृहस्थो के घर से अशन—यावत्—स्वाद्य दिलाता हुआ।

णिग्गंथ-णिग्गंथीणं एगतथ आवास कारणाइं—

४७४. पंचहिं ठाणेहिं णिग्गंथा णिग्गथीओ य एगयओ ठाणं वा, सेज्जं वा, णिसीहियं वा चेतेमाणा णातिक्कमंति, तं जहा—

साधु-साध्वी के एक स्थान पर ठहरने के कारण—

४७४. पाँच कारणो से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ एक स्थान पर अवस्थान (ठहरना), शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं। जैसे—

१ अत्थेगइया णिग्गंथा य णिग्गथीओ य एग मह अगामियं छिण्णावाय दीहमद्धमडविमणुपविट्ठा तत्थ एगयओ ठाणं वा, सेज्ज वा, णिसीहिय वा चेतेमाणा णातिक्कमति ।

(१) यदि कदाचित् कुछ निग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ किसी बडी भारी, ग्रामशून्य, आवागमन रहित लम्बे मार्ग वाली अटवी मे अनुप्रविष्ट हो जावें तो वहाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं।

२ अत्थेगइया णिग्गथा य णिग्गथीओ य गामसि वा-जाव-रायहाणिसि वा वास उवागता एगइया तत्थ उवस्सय लभति, एगइया णो लभति, तत्थ एगयओ ठाण वा, सेज्ज वा, णिसीहियं वा चेतेमाणा णातिक्कमति ।

(२) यदि कुछ निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थियाँ किसी ग्राम—यावत्—राजधानी मे पहुँचे, वहाँ दोनो मे से किसी एक वर्ग को उपाश्रय मिला और एक को नही मिला तो वहाँ वे एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं।

३. अत्थेगइया णिग्गथा य णिग्गथीओ य णागकुमारावाससि वा, सुवण्णकुमारावाससि वा वास उवागता तत्थ एगयओ ठाणं वा सेज्ज वा, णिसीहिय वा, चेतेमाणा णातिक्कमति ।

(३) कदाचित् कुछ निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ नागकुमार या सुवर्णकुमार आदि देवालय मे निवास के लिए एक साथ पहुँचें तो वहाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं।

४ आमोसगा दीसति, ते इच्छति णिग्गथीओ चीवरपडियाए पडिगाहित्तए तत्थ एगयओ ठाण वा सेज्जं वा, णिसीहिय वा चेतेमाणा णातिक्कमंति ।

(४) जहाँ चोरो का उपद्रव दिखाई देवे और वे निर्ग्रन्थियो के वस्त्रो को चुराना चाहते हो तो वहाँ साधु-साध्वी एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं।

५ जुवाणा दीसति, ते इच्छति णिग्गथीओ मेहुणपडियाए पडिगाहित्तए, तत्थ एगयओ ठाणं वा सेज्ज वा णिसीहियं वा चेतेमाणा णातिक्कमति ।

(५) जहाँ गुडे युवक दिखाई देवें और वे निर्ग्रन्थियो के साथ मैथुन सेवन की इच्छा से उन्हें पकडना चाहते हो तो वहाँ निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन और स्वाध्याय क्रिया करें तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं।

इच्चेतेहिं पचहिं ठाणेहिं णिग्गथा णिग्गथीओ य एगयओ ठाणं वा सेज्ज वा णिसीहिय वा चेतेमाणा णातिक्कमति ।

—ठाण अ. ५, उ २, सु ४१७

इन पांच कारणों से निर्ग्रन्थ एव निर्ग्रन्थियाँ एक स्थान पर अवस्थान, शयन एव स्वाध्याय करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं।

सचेलिया सह अचेलस्स सवसणं कारणाइं—

४७५. पचहि ठाणेहिं समणे-णिग्गथे अचेलए, सचेलियाहिं णिग्गथीहिं सद्धि सवसमाणे णातिक्कमति, त जहा—

१ खित्तचित्ते समणे-णिग्गथे णिग्गथेहिं अविज्जमाणेहिं "अचेलए सचेलियाहिं" णिग्गथीहिं सद्धि सवसमाणे णातिक्कमति ।

२ दित्तचित्ते समणे-णिग्गथे णिग्गथेहिं अविज्जमाणेहिं "अचेलए सचेलियाहिं" णिग्गंथीहिं सद्धि सवसमाणे णातिक्कमति ।

३ जक्खाइट्ठे समणे णिग्गथे, णिग्गथेहिं अविज्जमाणे "अचेलए सचेलियाहिं" णिग्गथीहिं सद्धि सवसमाणे णातिक्कमति ।

४ उम्मायपत्ते समणे-णिग्गथे, णिग्गंथेहिं अविज्जमाणेहिं "अचेलए सचेलियाहिं" णिग्गंथीहिं सद्धि संवसमाणे णातिक्कमति ।

अचेलक के सचेलिका के साथ रहने के कारण—

४७५ पांच कारणो से वस्त्ररहित श्रमण निर्ग्रन्थ सचेलक निर्ग्रन्थियों के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है। जैसे—

(१) शोक आदि से विक्षिप्त चित्त वाला अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थो के अभाव मे सचेलक निर्ग्रन्थियो के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

(२) हर्षातिरेक से उन्मत्तचित्त वाला अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थो के अभाव मे सचेलक निर्ग्रन्थियो के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

(३) यक्षाविष्ट कोई अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थो के अभाव मे सचेलक निर्ग्रन्थियो के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

(४) वायु के प्रकोपादि से उन्माद को प्राप्त कोई अचेलक श्रमण-निर्ग्रन्थ अन्य निर्ग्रन्थो के अभाव मे सचेलक निर्ग्रन्थियो के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

५. णिग्गंथीपव्वाइए समणे, णिग्गथेहिं अविज्जमाणेहिं "अचेलए सचेलियाहिं" णिग्गंथीहिं सद्धि संवसमाणे णातिक्कमति।
—ठाण अ ५, उ २, सु ४१७

(५) निर्ग्रन्थी के द्वारा दीक्षित (पुत्र आदि) अचेलक श्रमण अन्य निर्ग्रन्थो के अभाव मे सचेलक निर्ग्रन्थियो के साथ रहता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

णिग्गंथि अवलबणे कारणा —

निर्ग्रन्थी को अवलम्बन देने के कारण —

४७६ पर्चाहिं ठाणेहिं समणे-णिग्गंथे णिग्गंथि गिण्हमाणे वा अवलबमाणे वा णातिक्कमति, त जहा—

१. णिग्गंथि च णं अण्णयरे पसुजातिए वा, पक्खिजातिए वा, ओहावेज्जा, तत्थ णिग्गथे णिग्गंथि गिण्हमाणे वा अवलबमाणे वा णातिक्कमति।

२. णिग्गंथे णिग्गंथि दुग्गंसि वा, विसमसि वा, पक्खलमाणि वा, पवडमाणि वा, गिण्हमाणे वा, अवलबमाणे वा णातिक्कमति।

३ णिग्गंथे णिग्गंथि सेयसि वा, पणगंसि वा, पकंसि वा, उदगंसि वा, उक्कसमाणि वा, उवुज्झमाणि वा, गिण्हमाणे वा, अवलंबमाणे वा णातिक्कमति।

४ णिग्गंथे णिग्गंथि णाव आरुहमाणि वा, ओरोहमाणि वा गिण्हमाणे वा अवलबमाणे वा णातिक्कमति।

५ खित्तचित्तं, दित्तचित्तं, जक्खाइट्ठ, उम्मायत्त, उवसग्गपत्त, साहिगरणं, सपायच्छित्त, भत्तपाणपडियाइक्खियं, अट्ठजायं वा णिग्गंथि णिग्गथे गेण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णातिक्कमति[1]। —ठा अ ५, उ २, सु ४३७

४७६ पाँच कारणो से श्रमण-निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी को अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है, जैसे—

(१) कोई पशु या पक्षी निर्ग्रन्थी पर आक्रमण करे तो वहाँ निर्ग्रन्थ उसे बचाता हुआ या सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

(२) दुर्गम या विषम स्थान मे फिसलती या गिरती हुई निर्ग्रन्थी को ग्रहण करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

(३) दल-दल में, कीचड मे, काई मे फंसी हुई या जल मे गिरती हुई या डूबती हुई निर्ग्रन्थी को पकडता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

(४) नौका पर चढती हुई या नौका से उतरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

(५) विक्षिप्त चित्त वाली, उन्मत्त चित्त वाली, भूत-प्रेतादि से पीडित, उन्माद प्राप्त, उपसर्ग से भयभीत, कलह मे संलग्न, कठोर प्रायश्चित्त से चलचित्त, सथारा युक्त तथा दुर्लभ द्रव्यो की प्राप्ति या अप्राप्ति से अशान्त चित्त निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ पकडता हुआ या सहारा देता हुआ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

णिग्गंथ-णिग्गथीण साहम्मिय अत किच्चाइं—

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के सामूहिक साधर्मिक अन्त्यकर्म—

४७७ छहिं ठाणेहिं णिग्गथा णिग्गथीओ य साहम्मियं कालगत समायरमाणा णाइक्कमति, तं जहा -

१ अंतोहिंतो वा बाहिं णीणेमाणा।
२. बाहीहिंतो वा णिव्वाहिं णीणेमाणा।
३. उवेहेमाणा वा।
४ उवासमाणा वा।
५. अणुण्णवेमाणा वा।
६. तुसिणीए वा संपव्वयमाणा। —ठाणं. अ. ६, सु ४७७

४७७ छह प्रकार से निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी साथ-साथ अपने काल-प्राप्त साधर्मिक के अन्तिम कार्य करते हुए जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करते हैं। जैसे—

(१) उसे अन्दर मे बाहर लाते हुए।
(२) उपाश्रय से बाहर लाते हुए।
(३) देखभाल करते हुए।
(४) शव के समीप रहकर रात्रि भर जागरण करते हुए।
(५) उसके स्वजन या गृहस्थो को संभालते हुए।
(६) मौन भाव से परठने के लिए ले जाते हुए।

णिग्गथ-णिग्गंथीणं अण्णमण्ण-वेयावच्च करण विहाणा—

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी के परस्पर सेवा करने के विधान—

४७८ निग्गंथस्स य अहे पायंसि-खाणू वा, कटए वा, हीरए वा, सक्करे वा परियावज्जेज्जा तं च निग्गंथे नो संचाएइ

४७८. निर्ग्रन्थ के पैर मे तीक्ष्ण, शुष्क, ठूंठ, कटक, तीक्ष्ण काष्ठ या तीक्ष्ण पाषाण खण्ड लग जावे उसे निकालने मे या शोधन

---

१ (क) ठाण. अ. ६, सु. ४७६
(ख) कप्प. उ. ६, सु. ७-१८

नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा। तं च निग्गथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ।

निग्गंथस्स य अच्छिसि पाणे वा, वीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गंथे नो संचाएइ नीहरित्तए वा, विसोहेत्तए वा। त च निग्गथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ।

निग्गथीए य अहे पायंसि खाणू वा, कटए वा, हीरए वा, सक्करे वा, परियावज्जेज्जा, तं च निग्गथी नो सचाएइ, नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, त च निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ।

निग्गथीए य अच्छिसि पाणे वा, वीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा, तं च निग्गथी नो सचाएइ नीहरित्तए वा, विसोहेत्तए वा, त च निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ। —कप्प उ ६, सु ३-६

करने मे निर्ग्रन्थ समर्थ न हो उस समय यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधन करे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करती है।

निर्ग्रन्थ की आँख मे मच्छर आदि प्राणी, बीज या रज गिर जावे उसे निकालने मे या शोधन करने मे निर्ग्रन्थ समर्थ न हो उस समय यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधन करे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करती है।

निर्ग्रन्थी के पैर मे तीक्ष्ण-शुष्क, ठूंठ, कटक, तीक्ष्ण काष्ठ या पाषाण खण्ड लग जावे उसे निकालने मे या शोधन करने मे निर्ग्रन्थी समर्थ न हो उस समय यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधन करे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

निर्ग्रन्थी की आँख मे मच्छर आदि प्राणी, बीज या रज गिर जावे उसे निकालने मे या शोधन करने मे निर्ग्रन्थी समर्थ न हो उस समय यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधन करे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है।

अण्णमण्ण वेयावच्च करण विहि-णिसेहो—

४७९ जे निग्गथा य निग्गथीओ य सभोइया सिया, नो ण कप्पइ अन्नमन्नेण वेयावच्च कारवेत्तए।

अत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे, कप्पइ ण तेण वेयावच्चं कारवेत्तए,

नत्थि य इत्थ णं केइ वेयावच्चकरे, एव णं कप्पइ अन्नमन्नेण वेयावच्चं कारवेत्तए। —वव उ. ५, सु. २०

परस्पर सेवा करने का विधि-निषेध—

४७९ साधु और साध्वियाँ साभोगिक हैं उन्हें परस्पर एक दूसरे की वैयावृत्य कराना नही कल्पता है।

यदि स्वपक्ष मे कोई वैयावृत्य करने वाला हो तो उससे वैयावृत्य करना कल्पता है।

यदि स्वपक्ष मे वैयावृत्य करने वाला कोई न हो तो साधु-साध्वी को परस्पर वैयावृत्य करना कल्पता है।

अण्णमण्ण आलोयणा करण विहि-णिसेहो—

४८०. जे निग्गथा य निग्गंथीओ य सभोइया सिया, नो ण कप्पइ अन्नमन्नस्स अतिए आलोएत्तए।

अत्थि य इत्थ ण केइ आलोयणारिहे कप्पइ णं तस्स अतिए आलोइत्तए,

नत्थि य इत्थ ण केइ आलोयणारिहे एव ण कप्पइ अन्नमन्नस्स अतिए आलोएत्तए। —वव. उ. ५, सु १९

परस्पर आलोचना करने के विधि-निषेध—

४८० जो साधु और साध्वियाँ साभोगिक हैं उन्हें परस्पर एक दूसरे के समीप आलोचना करना नहीं कल्पता है।

यदि स्वपक्ष मे कोई आलोचना सुनने योग्य हो तो उनके समीप आलोचना करना कल्पता है।

यदि स्वपक्ष मे आलोचना सुनने योग्य कोई न हो तो साधु-साध्वी को परस्पर आलोचना करना कल्पता है।

अण्णमण्णस्स मोय गहण विहि-णिसेहो—

४८१. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आपिवित्तए वा आयमित्तए वा नन्नत्थ गाढाऽगाढेसु रोगायंकेसु। —कप्प. उ ५, सु. ४६

परस्पर प्रस्रवण ग्रहण करने का विधि-निषेध—

४८१. निर्ग्रन्थो और निर्ग्रन्थियो को एक दूसरे का मूत्र पीना या शरीर के लगाना नहीं कल्पता है केवल उग्र रोग एवं आतकों मे कल्पता है।



सांभोगिक संबंध व्यवस्था—९

समणाणं अण्णमण्ण ववहारा—

४८२. दुवालसविहे सभोगे पण्णत्ते, त जहा—
उवहि सुय भत्तपाणे, अंजलीपग्गहे ति य ।
दायणे य निकाए य, अब्भुट्ठाणे ति आवरे ॥
कितिकम्मस्स य करणे, वेयावच्चकरणे ति य ।
समोसरण सन्निसेज्जा य, कहाए य पबधणे ॥
—सम. सम. १२, सु. १

श्रमणो के पारस्परिक व्यवहार—

४८२. व्यवहार बारह प्रकार के कहे गए हैं । यथा—
(१) उपधि आदान प्रदान व्यवहार ।
(२) श्रुत के अध्ययन अध्यापन का व्यवहार,
(३) भक्त-पान आदान-प्रदान व्यवहार,
(४) एक दूसरे को हाथ जोडने का व्यवहार,
(५) शिष्य आदि के आदान-प्रदान का व्यवहार,
(६) परस्पर निमन्त्रण देने का व्यवहार,
(७) खडे होकर आदर देने का व्यवहार,
(८) परस्पर वन्दन व्यवहार,
(९) परस्पर सेवा करने का व्यवहार,
(१०) एक दूसरे से मिलने का व्यवहार,
(११) आसन देने का व्यवहार,
(१२) एक पाट पर बैठकर धर्म कथा करने का व्यवहार ।

विसंभोगकरणे कारणा—

४८३. तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गथे साहम्मियं समोगिय विसंभोगिय करेमाणे णातिक्कमति,
तं जहा—
१. सयं वा दट्ठु,
२. सड्ढिस्स वा निसम्म,
३. तच्चं मोसं आउट्टति, चउत्थ नो आउट्टति ।
—ठाण अ ३, उ. ३, सु १८०

पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे साहम्मियं संभोइय विसभोइयं करेमाणे णातिक्कमति,
तं जहा—
१. सकिरियट्ठाणं पडिसेवित्ता भवति ।
२ पडिसेवित्ता णो आलोएइ ।
३. आलोइत्ता णो पट्ठवेति ।
४ पट्ठवेत्ता णो णिव्विसंति ।
५ जाइ इमाइं थेराणं ठितिपकप्पाइं भवति ताइ अतियचिय अतियंचिय पडिसेवेति, 'से हंदहं पडिसेवामि, किं मे थेरा करिस्सति ?' —ठाण अ. ५, उ १, सु ३९८

णवहिं ठाणेहिं समणे णिग्गथे साहम्मियं संभोइयं विसभोइयं करेमाणे णातिक्कमति, त जहा—
१. आयरियपडिणीयं ।

सम्बन्ध विच्छेद करने के कारण—

४८३. तीन कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ अपने सार्धर्मिक, साभोगिक साधु को विसम्भोगिक करता हुआ भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता है । यथा—
(१) स्वय किसी को प्रतिकूल आचरण करता देखकर ।
(२) विश्वस्त श्रावक या साधु से सुनकर ।
(३) तीन वार असत्य भाषण क्षम्य होता है चौथी वार असत्य भाषण क्षम्य नही होता है अत विसभोग करे ।

पांच स्थानो से श्रमण निर्ग्रन्थ अपने साम्भोगिक सार्धमिक को विसंभोगिक करे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नही करता है । यथा—
(१) जो अकृत्य कार्य का प्रतिसेवन करता है ।
(२) जो अकृत्य कार्य का प्रतिसेवन कर आलोचना नही करता है ।
(३) जो आलोचना कर प्रायश्चित्त स्वीकार नही करता है ।
(४) जो प्रायश्चित्त का पूर्ण सेवन नही करता है ।
(५) जो स्थविरो के आवश्यक आचार के विपरीत धृष्टतापूर्वक आचरण कर कहे कि "मैं इन दोषो का सेवन करता हूँ, स्थविर मेरा क्या कर लेंगे ।"

नौ कारणो से श्रमण निर्ग्रन्थ अपने साधर्मिक को साभोगिक से विसभोगिक करता हुआ अतिक्रमण नही करता है ।
(१) आचार्य के प्रतिकूल आचरण करने वाले को ।

२. उवज्झायपडिणीणं, (२) उपाध्याय के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।
३ थेरपडिणीय, (३) स्थविर के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।
४ कुलपडिणीयं, (४) कुल के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।
५ गणपडिणीय, (५) गण के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।
६ संघपडिणीयं, (६) सघ के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।
७. णाणपडिणीय, (७) सम्यक्ज्ञान के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।
८ दंसणपडिणीयं, (८) मम्यक्दर्शन के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।
९ चरित्तपडिणीयं। —ठाण अ ९, सु. ६६१ (९) सम्यक्चारित्र के प्रतिकूल आचरण करने वाले को।

विसंभोग करण विहि-णिसेहो—

४८४ जे निग्गथा य निग्गथीओ य संभोइया सिया, नो ण कप्पइ निग्गथ पारोक्ख पाडिएक्कं सभोइय विसंभोग करेत्तए।

कप्पइ णं पच्चक्ख पाडिएक्कं संभोइय विसभोग करेत्तए।

जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एव वएज्जा—
"अह ण अज्जो! तुमए सद्धि इमम्मि कारणम्मि पच्चक्ख पाडिएक्कं सभोइयं विसभोग करेमि।"

से य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पच्चक्ख पाडिएक्क सभोइय विसभोगं करेत्तए।

से य नो पडितप्पेज्जा, एव से कप्पइ पच्चक्ख पाडिएक्क सभोइय विसभोग करेत्तए।

जे णिग्गथा य णिग्गथीओ य सभोइया सिया, नो णं कप्पइ णिग्गथीण पच्चक्ख पाडिएक्क सभोइय विसभोग करेत्तए।

कप्पइ णं पारोक्ख पाडिएक्कं संभोइय विसभोग करेत्तए।

जत्थेव ताओ अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा तत्थेव एव वएज्जा—
"अहं ण भते! अमुगीए अज्जाए सद्धि इमम्मि कारणम्मि पारोक्ख पाडिएक्क संभोइय विसभोग करेमि।"

सा य पडितप्पेज्जा, एवं से नो कप्पइ पारोक्ख पाडिएक्क सभोइय विसभोग करेत्तए।

सा य नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पारोक्ख पाडिएक्क सभोइय विसभोग करेत्तए। —वव उ ७, सु ४-५

सम्बन्ध विच्छेद करने का विधि-निषेध—

४८४ जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ साभोगिक हैं, उनमे से किसी एक निर्ग्रन्थ को परोक्ष मे साभोगिक व्यवहार वन्द करके विसभोगी करना नही कल्पता है।

किन्तु प्रत्यक्ष मे साभोगिक व्यवहार वन्द करके उसे विसभोगी करना कल्पता है।

जब एक दूसरे से मिले तब ही इस प्रकार कहे कि—
"हे आर्य! मैं अमुक कारण से तुम्हारे साथ साभोगिक व्यवहार वन्द करके तुम्हे विसम्भोगी करता हूँ।"

इस प्रकार कहने पर वह यदि पश्चात्ताप करे तो प्रत्यक्ष में भी उसके साथ साभोगिक व्यवहार वन्द करके उसे विसम्भोगी करना नही कल्पता है।

यदि वह पश्चात्ताप न करे तो प्रत्यक्ष मे उसके साथ साभोगिक व्यवहार वन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियाँ साभोगिक हैं उनमे निर्ग्रन्थिनी को प्रत्यक्ष मे साभोगिक व्यवहार वन्द करके विसम्भोगी करना नही कल्पता है।

किन्तु परोक्ष मे साभोगिक व्यवहार वन्द करके उसे विसभोगी करना कल्पता है।

जब वे अपने आचार्य या उपाध्याय की सेवा मे पहुँचे तब उन्हे इस प्रकार कहे—
"हे भन्ते! मैं अमुक आर्या के साथ अमुक कारण से परोक्ष रूप मे साभोगिक व्यवहार वन्द करके उसे विसम्भोगी करना चाहती हूँ।"

तब वह निर्ग्रन्थी यदि (आचार्य-उपाध्याय के समीप अपने सेवित दोष का पश्चात्ताप करे तो उसके साथ परोक्ष रूप मे भी साभोगिक व्यवहार वन्द करना व उसे विसम्भोगी करना नही कल्पता है।

यदि वह पश्चात्ताप न करे तो परोक्ष रूप मे उसके साथ साभोगिक व्यवहार वन्द करके उसे विसम्भोगी करना कल्पता है।

समणुण्णं-असमणुण्णाणं ववहारा—

४८५. से समणुण्णस्स वा असमणुण्णस्स वा असण वा-जाव-साइमं वा, वत्थ वा-जाव पायपुंछण वा णो पाएज्जा, णो णिमतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडिय-परं आढायमाणे।

धुवं चेत जाणेज्जा—असण वा-जाव-साइम वा, वत्थं वा-जाव-पायपुंछण वा लभिय, भुंजिय, पथ वियत्ता विओकम्म।

विभत्त धम्म झोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाएज्जा वा, णिमतेज्जा वा, कुज्जा वेयावडिय पर अणाढायमाणे।

—आ सु. १, अ. ८, उ. १, सु १९९

से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा-जाव-साइमं वा, वत्थ वा-जाव-पायपुंछण वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे।

धम्ममायाणह पवेदितं माहणेण मइमया समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा-जाव-साइम वा, वत्थ वा-जाव-पायपुछण वा, पाएज्जा, णिमतेज्जा, कुज्जा वेयावडिय परं आढायमाणे।

—आ. सु. १, अ ८, उ २, सु २०७-२०८

समनोज्ञ-असमनोज्ञो के व्यवहार—

४८५ भिक्षु समनोज्ञ (असाभोगिक) तथा अमनोज्ञ (शाक्यादि) को अशन—**यावत्**—स्वाद्य, वस्त्र—**यावत्**—पादप्रोछन आदरपूर्वक न दे, न निमन्त्रित करे और न उनकी अन्य वैयावृत्य भी करे।

यदि शाक्यादि भिक्षु मुनि से कहे कि—'हे मुनिवर! आपको अशन—**यावत्**—स्वाद्य, वस्त्र—**यावत्**—पादप्रोछन प्राप्त हो या न हो, उनका उपयोग कर लिया हो या न कर लिया हो, मार्ग सीधा हो या टेढा हो, तो भी हमारे यहाँ अवश्य आना।

भिन्न धर्म का आचरण करने वाले वे कभी उपाश्रय मे आकर कहे, कभी मार्ग मे चलते हुए कहे, अथवा अशनादि दे या निमन्त्रित करे या वैयावृत्य करे तो मुनि उसके निमन्त्रण का आदर न करे।

वह समनोज्ञ (सुशील) भिक्षु असमनोज्ञ (कुशील) साधु को अशन—**यावत्**—स्वाद्य, वस्त्र—**यावत्**—पादप्रोछन आदरपूर्वक न दे, न निमन्त्रित करे और न उनकी वैयावृत्य करे।

दान धर्म के स्वरूप को जानकर केवलज्ञानी भगवान् ने प्रतिपादित किया है कि समनोज्ञ साधु समनोज्ञ (समान आचार वाले साभोगिक) साधु को आदरपूर्वक अशन—**यावत्**—स्वाद्य, वस्त्र—**यावत्**—पादप्रोछन आदि दे, उन्हे देने के लिये निमंत्रित करे तथा उनकी वैयावृत्य भी करे।

सरिसगस्स सवास अदाण पायच्छित सुत्ताइ—

४८६. जे णिग्गथे णिग्गथस्स सरिसगस्स "अते ओवासे सते" ओवास न देइ, न देंत वा साइज्जइ।

जा णिग्गंथी णिग्गंथीए सरिसियाए "अंते ओवासे सते" ओवास न देइ, न देंतं वा साइज्जइ।

—नि उ १७, सु. १२१-१२२

सदृश आचारवान को स्थान न देने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४८६ जो निर्ग्रन्थ सदृश आचार वाले निर्ग्रन्थ को अपने उपाश्रय मे अवकाश होते हुए भी ठहरने के लिये स्थान नही देता है या नही देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो निर्ग्रन्थी सदृश आचार वाली निर्ग्रन्थी को अपने उपाश्रय मे अवकाश होते हुए भी ठहरने के लिए स्थान नही देती है या नही देने वाले का अनुमोदन करती है।

(उसे लघु चौमासी प्रायश्चित्त आता है।)

सभोगे पच्चक्खाण फलं।

४८७ प०—संभोगपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उ०- सभोगपच्चक्खाणेण आलम्बणाइं खवेइ। निरालबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति।

सएणं लाभेणं सतुस्सइ, परलाभ नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणास्साए-

सम्भोग प्रत्याख्यान का फल—

४८७. प्र०—भन्ते! सम्भोग-प्रत्याख्यान (एक मांडलिक आहार का त्याग) करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—सम्भोग-प्रत्याख्यान से जीव का परालम्बीपन छूट जाता है। उस परालम्बन के छूट जाने से मुनि के सारे कार्य स्वावलम्बन युक्त हो जाते हैं।

वह स्वयं जो कुछ मिलता है उसी मे सन्तुष्ट हो जाता है। दूसरे मुनियो के लाभ का आस्वादन उपयोग नही करता, कल्पना

माणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे दुच्च सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।
—उत्त अ. २९, सु. ३५

नही करता, चाहना नही करता प्रार्थना नही कर... लापा नही करता है। इस प्रकार दूसरे के लाभ ... कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न कर... सुख-शय्या (सयम और स्वावलम्बीपन) को प्राप्... करता है।



गृहस्थ के साथ व्यवहार—१०

सप्पदंस तिगिच्छाए विहि-णिसेहो—

४८८. निग्गंथं च ण राओ वा वियाले वा दीहपट्ठो लूसेज्जा, इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा, पुरिसो वा इत्थीए ओमावेज्जा, एवं से कप्पइ, एव से चिट्ठइ, परिहार च से नो पाउणइ, एस कप्पे थेरकप्पियाणं।

एव से नो कप्पइ, एव से नो चिट्ठइ, परिहार च से पाउणइ एस कप्पे जिण-कप्पियाणं। —वव. उ ५, सु. २१

सर्पदंश चिकित्सा के विधि-निषेध—

४८८ यदि किमी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को रा... (सन्ध्या) मे सर्प डम ले तो स्त्री निर्ग्रन्थ की और ... की सर्प दशचिकित्सा करे तो इस प्रकार से उ... उनको कल्पता है। इम प्रकार उपचार कराने ... साधुता रहती है तथा वे प्रायश्चित्त के पात्र नह... स्थविरकल्पी साधुओं का आचार है।

जिनकल्प वालो को इस प्रकार उपचार करा... है। इस प्रकार उपचार कराने पर उनका जिनक... है, और वे प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। जिनकल... यही आचार है।

गारत्थियाईहिं सद्धिं भिक्खट्ठा गमण णिसेहो—

४८९ से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइकुल पिंडवाय पडियाए पविसित्तु कामे णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा, परिहारिओ अपरिहारिएण सद्धिं गाहावतिकुल पिंडवाय पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।
—आ. सु २, अ १, उ १, सु ३२७

गृहस्थ आदि के साथ भिक्षार्थ जाने का निषे...

४८९ गृहस्थ के घर मे भिक्षा के निमित्त प्रवेश क... भिक्षु या भिक्षुणी अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के सा... हारिक (उत्तम) साधु अपारिहारिक (पार्श्वस्थ) ... भिक्षा के लिए जावे आवे नही।

गारत्थियाहिं सद्धिं भिक्खट्ठा गमण पायच्छित्त सुत्तं—

४९०. जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धिं गाहावइकुल पिंडवाय पडियाए णिक्खमइ वा पविसइ वा णिक्खमत वा, पविसत वा साइज्जइ।
त सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि उ २, सु ४०

गृहस्थ आदि के साथ भिक्षार्थ जाने का प्राय...

४९० जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ त... साधु अपारिहारिक साधु के साथ गृहस्थ के घ... लिये जावे-आवे या जाने आने वाले का अनुमोदन ...

उमे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्...

गारत्थियाईणं असणाइ दाण णिसेहो—

४९१ से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइकुल पिंडवाय पडियाए अणुपविट्ठे समाणे णो अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ अपरिहारियस्स वा असणं वा-जाव-साइमं वा देज्जा वा अणुपदेज्जा वा।
—आ. सु २, अ. १, उ. १, सु ३३०

गृहस्थ आदि को अशनादि देने का निषेध—

४९१. गृहस्थ के घर मे भिक्षा के लिए प्रविष्ट भि... अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को तथा पारिहारिक भिक्षु ... भिक्षु को अशन—यावत्—स्वाद्य, न तो स्व... किसी से दिलाए।

ओभासिय जयणाए पायच्छित्त सुत्ताइ—

४९२ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा, गाहावइ-कुलेसु वा, परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असण वा-जाव-साइम वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा असणं वा-जाव-साइम वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु व अण्णउत्थिणीं वा गारत्थिणीं वा असण वा-जावं साइम वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा असणं वा-जाव-साइम वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा "कोउहल्ल वडियाए पडियागय समाण" अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असण वा-जाव-साइम वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा "कोउहल्ल वडियाए पडियागयं समाणं" अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा असण वा-जाव-साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा "कोउहल्ल-वडियाए पडियागयं समाण" अण्णउत्थिणीं वा गारत्थिणीं वा असण वा-जाव-साइमं वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा "कोउहल्ल-वडियाए पडियागयं समाण" अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा असण वा-जाव-साइम वा ओभासिय-ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा असण वा-जाव-साइम वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय-अणुवत्तिय, परिवेढिय-परिवेढिय, परिजविय-परिजविय, ओभासिय-ओभासिय जायइं, जायतं वा साइज्जइ।

माग-माग कर याचना करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४९२ जो भिक्षु धर्मशालाओ मे, उद्यानगृहो मे, गृहस्थो के घरो मे अथवा आश्रमो मे अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माग कर याचना करता है, करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे, अन्य-तीर्थिको या गृहस्थो से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे, अन्य-तीर्थिक या गृहस्थ स्त्री से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे, अन्य-तीर्थिक या गृहस्थ स्त्रियो से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे कौतुहलवश अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे कौतूहलवश अन्यतीर्थिको से या गृहस्थो से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माँग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे कौतूहलवश अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्री से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे, कौतूहलवश अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्रियो से अशन—**यावत्**—स्वाद्य माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—**यावत्**—आश्रमो मे, अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के द्वारा अशन—**यावत्**—स्वाद्य सामने लाकर देते हुए का निषेध करके पुन उसी के पीछे-पीछे जाकर या उसी के आसपास व सामने जाकर या मिष्ट वचन बोलकर माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा असणं वा-जाव-साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय अणुवत्तिय -जाव-ओभासिय ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—यावत्—आश्रमो मे, अन्यतीर्थिक या गृहस्थो के द्वारा अशन—यावत्—स्वाद्य सामने लाकर देते हुए का निषेध करके पुन उसी के पीछे-पीछे जाकर—यावत्—माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अण्णउत्थिणीए वा गारत्थिणीए वा असणं वा-जाव-साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय अणुवत्तिय -जाव-ओभासिय ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—यावत्—आश्रमों मे अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्री के द्वारा अशन—यावत्—स्वाद्य सामने लाकर देते हुए का निषेध करके पुन उसी के पीछे-पीछे जाकर—यावत्—माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अण्णउत्थिणीहिं वा गारत्थिणीहिं वा असणं वा-जाव-साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहेत्ता तमेव अणुवत्तिय-अणुवत्तिय-जाव-ओभासिय-ओभासिय जायइ जायंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु धर्मशालाओ मे—यावत्—आश्रमो में अन्यतीर्थिक या गृहस्थ स्त्री के द्वारा अशन—यावत्—स्वाद्य सामने लाकर देते हुए का निषेध करके पुन उसी के पीछे-पीछे जाकर—यावत्—माग-माग कर याचना करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि उ. ३, सु. १-१२

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

गारत्थिएहिं उवहिं वहावण पायच्छित्त सुत्ताइं—

४९३ जे भिक्खू अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिं वहावेइ, वहावेंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू तण्णीसाए असणं वा-जाव-साइमं वा देइ देंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि उ. १२, सु ४०-४१

गृहस्थ से उपधि वहन कराने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४९३ जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ से उपधि वहन करवाता है, या करवाने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को उपधि वहन कराने के बदले में अशन - यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

गारत्थिया आहार दाण पायच्छित्त सुत्तं—

४९४ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा, गारत्थियस्स वा असणं वा -जाव-साइमं वा देइ देंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि. उ १५, सु ७५

गृहस्थ को आहार देने का प्रायश्चित्त सूत्र—

४९४ जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को अशन - यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

गारत्थिय सद्धिं आहार करण पायच्छित्त सुत्ताइं—

४९५ जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा सद्धिं भुंजइ भुंजतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा आवेढिय-परिवेढिय भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि. उ. १६, सु. ३७-३८

गृहस्थो के साथ आहार करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

४९५. जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो के साथ (समीप मे बैठकर) आहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो से घिरकर (कुछ दूर बैठे या खडे हो तो) आहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।



गणापक्रमण—११

भिक्खुणा गणपरिच्चाओ—

४९६. सत्तविहे गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—

१ सव्वधम्मा रोएमि ।

२. एगइया रोएमि, एगइया णो रोएमि ।

३. सव्वधम्मा वितिगिच्छामि ।

४. एगइया वितिगिच्छामि, एगइया नो वितिगिच्छामि ।

५ सव्वधम्मा जुहुणामि ।

६. एगइया जुहुणामि, एगइया णो जुहुणामि ।

७. इच्छामि णं भंते ! एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । —ठाण. अ ७, सु ५४१

भिक्षु द्वारा गण-परित्याग—

४९६. सात प्रकार का गणपरित्याग कहा गया है, यथा—

(१) सर्व श्रुत चारित्र धर्मों के पालन की रुचि रखता हूँ (इस गण मे सम्भव नही है अत इस का परित्याग करता हूँ ।)

(२) इस गण के कुछ श्रुत चारित्र धर्मों के पालन मे रुचि रखता हूँ और कुछ के पालन मे रुचि नही रखता हूँ (अत इस गण का परित्याग करता हूँ)

(३) इस गण के सभी श्रुत-चारित्र धर्मों के पालन मे सशय रखता हूँ (अत. इस गण का परित्याग करता हूँ)

(४) इस गण के कुछ श्रुत-चारित्र धर्मों के पालन मे सशय रखता हूँ और कुछ के पालन मे सशय नही रखता हूँ (अत इस गण का परित्याग करता हूँ)

(५) सभी श्रुत-चारित्र धर्म (योग्य पात्र को देना चाहता हूँ) इस गण मे ऐसा योग्य पात्र कोई नही है अत इस गण का परित्याग करना चाहता हूँ ।)

(६) कुछ श्रुत-चारित्र धर्म योग्य पात्र को देना चाहता हूँ और कुछ नही देना चाहता हूँ (इस गण मे ऐसा कोई योग्य पात्र नही है अत इस गण का परित्याग करना चाहता हूँ)

(७) भन्ते ! मैं एकल विहार पडिमा स्वीकार करना चाहता हूँ (अत. इस गण का परित्याग करता हूँ ।)

आयरिय उवज्झाएहिं गणपरिच्चाओ—

४९७ पचहिं ठाणेहिं आयरिय-उवज्झायस्स गणावक्कमणे पण्णत्ते, तं जहा—

१. आयरिय-उवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा णो सम्मं पउंजित्ता भवति ।

२. आयरिय-उवज्झाए गणंसि अधारायणियाए कितिकम्मं वेणइयं णो सम्मं पउंजित्ता भवति ।

३. आयरिय-उवज्झाए गणंसि जे सुयपज्जवजाते धारेति, ते काले णो सम्ममणुप्पवादेता भवति ।

४. आयरिय-उवज्झाए गणंसि सगणियाए वा परगणियाए वा णिग्गंथीए वहिल्लेसे भवति ।

५. मित्ते णातिगणे वा से गणाओ अवक्कमेज्जा, तेसिं संगहो-वग्गहट्ठयाए गणावक्कमणे पण्णत्ते ।

—ठाण. अ. ५, उ. २, सु. ४३९

आचार्य-उपाध्याय द्वारा गणपरित्याग—

४९७. पाँच कारणो से आचार्य-उपाध्याय का गण परित्याग कहा गया है—

(१) गण मे आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा या धारणा का पूर्ण पालन न होता हो तो वे गण का परित्याग करते हैं ।

(२) गण मे दीक्षा पर्याय के क्रम से विनय तथा वन्दन व्यवहार न होता हो तो आचार्य या उपाध्याय गण का परित्याग कर देते हैं ।

(३) गण मे जितने श्रुतधर हैं वे समय-समय पर (शिष्य समुदाय को) आगम वाचना न देते हों तो आचार्य या उपाध्याय गण का परित्याग कर देते हैं ।

(४) गण मे स्वगण या परगण की निर्ग्रन्थी मे आसक्ति रखने वाला कोई हो तो आचार्य या उपाध्याय गण का परित्याग कर देते हैं ।

(५) आचार्य या उपाध्याय के मित्र या स्वजन गण का परित्याग कर दें तो वे उन्हे गण मे लाने के लिए या उन पर उपकार करने के लिए गण का परित्याग करते हैं ।

सुय गहणट्ठा अण्ण-गण गमण विहि-णिसेहो—

९८ भिक्खु य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता—

१. आयरियं वा, २. उवज्झायं वा, ३ पवत्तयं वा,
४ थेरं वा, ५ गणिं वा, ६ गणहरं वा,
७. गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए—

नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए—

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

श्रुत ग्रहण के लिये अन्य गण में जाने का विधि-निषेध—

४९८ यदि कोई भिक्षु स्वगण को छोड़कर अन्यगण को श्रुत ग्रहण के लिए स्वीकार करना चाहे तो उसे—

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक,
(४) स्थविर, (५) गणी, (६) गणधर या
(७) गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

यदि गणावच्छेदक स्वगण को छोड़कर श्रुत ग्रहण के लिये अन्य गण को स्वीकार करना चाहे तो—

उसे अपने पद का त्याग किए बिना अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

उसे अपने पद का त्याग करके अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना उसे अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो उसे अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो उसे अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

आचार्य या उपाध्याय यदि स्व गण को छोड़कर अन्य गण को श्रुत ग्रहण के लिये स्वीकार करना चाहे तो—

उन्हे अपने पद का त्याग किये बिना अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

अपने पद का त्याग करके अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे बिना उन्हे अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दे तो उन्हें अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गण उवसपज्जित्ता णं विहरित्तए[1]। —कप्प उ ४, सु. २०-२२

यदि वे आज्ञा न दें तो उन्हे अन्य गण को स्वीकार करना नही कल्पता है।

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अन्न गण उवसपज्जित्ताणं विहरेज्जा,

विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए यदि कोई भिक्षु अपना गण छोडकर अन्य गण को स्वीकार कर विचर रहा हो उस समय—

तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा—

उसे उस गण मे देखकर कोई स्वधर्मी भिक्षु पूछे कि—

प०—"क अज्जो ! उवसंपज्जित्ता विहरसि ?"

प्र०—'हे आर्य ! तुम किस की निश्रा मे विचर रहे हो ?'

उ०—जे तत्थ सव्वराइणिए त वएज्जा।

उ०—तब वह उस गण मे जो दीक्षा मे सबसे बडा हो उसका नाम कहे।

प०—"अह भन्ते ! कस्स कप्पाए ?"

प्र०—पुनः पूछे कि—'हे भदन्त ! किस बहुश्रुत की प्रमुखता मे हो ?'

उ०—जे तत्थ सव्व-बहुस्सुए त वएज्जा, ज वा से भगव वक्खइ तस्स आणा-उववाय-वयण निद्देसे चिट्ठिस्सामि। —वव. उ. ४, सु. १८

उ०—तब उस गण मे जो सबसे अधिक बहुश्रुत हो उसका नाम कहे तथा वे जिनकी आज्ञा मे रहने के लिए कहे उनकी ही आज्ञा एवं उनके समीप मे रहकर उनके ही वचनो के निर्देशानुसार मैं रहूँगा"—ऐसा कहे।

सभोग वडियाए अण्ण-गण-गमण विहि-णिसेहो—

साभोगिक व्यवहार के लिए अन्य गण मे जाने का विधि-निषेध—

४९९ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्न गण सभोगवडियाए उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए—

४९९. भिक्षु यदि स्व-गण से निकलकर अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना चाहे तो—

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेइयं वा, अन्नं गणं संभोगवडियाए उवसपज्जित्ता णं विहरित्तए।

उसे आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य गण को सांभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइय वा जाव-गणावच्छेइय वा अन्नं गणं संभोगवडियाए उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए।

किन्तु आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

ते य से वियरेज्जा, एव से कप्पइ अन्नं गण संभोगवडियाए उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

ते य से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्नं गण संभोगवडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

जत्थुत्तरिय धम्मविणय लभेज्जा एव से कप्पइ अन्न गणं सभोगवडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

यदि सयम धर्म की उन्नति होती हो तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

जत्थुत्तरिय धम्मविणय नो लभेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्नं गण सभोगवडियाए उवसपज्जित्ता णं विहरित्तए।

किन्तु यदि संयम धर्म की उन्नति न होती हो तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्न गणं सभोगवडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए—

गणावच्छेदक यदि स्वगण से निकलकर अन्यगण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना चाहे तो—

---

१ एक गण मे अनेक आचार्य हो तो गण छोडने मे वह अन्य बडे आचार्य को पूछता है या अन्य प्रमुख गणावच्छेदक आदि कोई पदवीधर हो तो उन्हे पूछता है।

अथवा अन्य कोई पदवीधर गण मे न हो तो अन्य को आचार्य बनाकर फिर उसे पूछकर उसकी आज्ञा लेकर अन्य गण मे जा सकता है।

नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्त अनिक्खिवित्ता अन्न गण संभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्त निक्खिवित्ता अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइय वा अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेइय वा अन्नं गण सभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एव से कप्पइ अन्नं गणं सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता णं विहरित्तए।

जत्युत्तरिय धम्मविणय लभेज्जा, एव से कप्पइ अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

जत्युत्तरिय धम्मविणय नो लभेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्त अनिक्खिवित्ता अन्न गणं सभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्त निक्खिवित्ताण अन्न गणं सभोगपडियाए उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेइय वा अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेइय वा अन्न गण संभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

ते य से वियरेज्जा, एव से कप्पइ अन्न गण सभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता ण विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

जत्युत्तरिय धम्मविणय लभेज्जा, एवं से कप्पइ अन्न गणं सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता णं विहरित्तए।

जत्युत्तरिय धम्मविणयं नो लभेज्जा, एव से नो कप्पइ, अन्न गण सभोगपडियाए उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए।

—कप्प उ. ४, सु. २३-२५

उसे गणावच्छेदक का पद छोडे विना अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु गणावच्छेदक का पद छोडकर अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

यदि सयम धर्म की उन्नति होती हो तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

किन्तु यदि संयम धर्म की उन्नति न होती हो तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

आचार्य या उपाध्याय यदि स्वगण से निकलकर अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना चाहे तो—

उन्हे अपने पद का त्याग किए विना अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु अपने पद का त्याग करके अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे विना उन्हे अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

किन्तु आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना नही कल्पता है।

यदि उत्कृष्ट श्रुत एव चारित्र धर्म की प्राप्ति होती हो तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिये स्वीकार करना कल्पता है।

किन्तु यदि सयम धर्म की उन्नति न होती हो तो अन्य गण को साभोगिक व्यवहार के लिए स्वीकार करना नही कल्पता है।

संभोग वडियाए गण संकमण पायच्छित्त सुत्तं—

५००. जे भिक्खू वुसिराइयाओ गणाओ अवुसिराइय गणं संकमइ, संकमतं वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं उग्घाइय ।
—नि. उ. १६, सु. १६

सांभोगिक व्यवहार के लिये गणसंक्रमण का प्रायश्चित्त सूत्र—

५००. जो भिक्षु विशेष चारित्र गुण सम्पन्न गण से अल्प चारित्र गुण वाले गण मे सक्रमण करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

आयरियाईणं वायणट्ठाए अण्ण-गण-गमण विहि-णिसेहो—

५०१. भिक्खू य इच्छेज्जा, अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए,

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से वियरेज्जा एव से कप्पइ अन्न आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

ते य से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अन्न आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

गणावच्छेइए य इच्छेज्जा अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए,

नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्त अनिक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता अन्नं आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्नं आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।

आचार्य आदि को वाचना देने के लिये अन्य गण में जाने का विधि-निषेध—

५०१. भिक्षु यदि अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—

अपने आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नही कल्पता है।

किन्तु अपने आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नही कल्पता है।

उन्हे कारण वताये विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नही कल्पता है।

किन्तु उन्हें कारण वताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

गणावच्छेदक यदि अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—

उसे अपना पद छोडे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है।

किन्तु अपना पद छोडकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना कल्पता है।

अपने आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है।

किन्तु अपने आचार्य—**यावत्**—गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।

ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।
ते य से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्न आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
नो से कप्पइ तेसिं कारण अदीवेत्ता अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अन्नं आयरिय वा उवज्झाय वा उद्दिसावेत्तए।
आयरिय-उवज्झाए य इच्छेज्जा अन्न आयरिय-उवज्झाय-उद्दिसावेत्तए,

नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।
कप्पइ से आयरिय-उवज्झायत्त निक्खिवित्ता अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरिय वा-जाव-गणावच्छेइय वा अन्न आयरियं-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइय वा अन्नं आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।
ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।
ते य से नो वियरेज्जा, एव से नो कप्पइ अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए।
नो से कप्पइ तेसिं कारण अदीवेत्ता अन्न आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अन्न आयरिय-उवज्झाय उद्दिसावेत्तए। —कप्प. उ. ४, सु २६-२८

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना कल्पता है।
वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।
उन्हे कारण वताए विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना नही कल्पता।
किन्तु उन्हें कारण वताकर ही अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।
आचार्य या उपाध्याय अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये (या उनका नेतृत्व करने के लिये) जाना चाहे तो—
उन्हें अपना पद छोडे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है।
किन्तु अपना पद छोडकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।
उन्हे अपने आचार्य—यावत्—गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।
किन्तु उन्हे पूछकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।
वे यदि आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना कल्पता है।
वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नही कल्पता है।
अपने आचार्य या उपाध्याय को कारण वताए विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिये जाना नहीं कल्पता है।
किन्तु उन्हे कारण वताकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को वाचना देने के लिए जाना कल्पता है।

अण्णगणाओ आगयाणं गणपवेसस्स विहि-णिसेहो—

५०२. नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा निग्गथिं अण्णगणाओ आगय खुयायारं, सवलायारं, भिन्नायारं, संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता, अनिंदावेत्ता, अगरहावेत्ता, अविउट्टावेत्ता, अविसोहावेत्ता, अकरणाए, अणब्भुट्ठावेत्ता, अहारिह पायच्छित्त अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा, संभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिस वा, अणुदिस वा, उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

अन्य गण से आये हुओ को गण मे सम्मिलित करने के विधि-निषेध—

५०२. खण्डित शवल, भिन्न और संक्लिष्ट आहार वाली अन्य गण से आई हुई निर्ग्रन्थी को सेवित दोप की आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एव आत्म-शुद्धि न करा लें और भविष्य मे पुन पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा कराके दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करा ले तव तक निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियो को उसे पुन चारित्र मे उपस्थापित करना, उसके साथ सांभोगिक व्यवहार करना और साथ मे रखना नही कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना नही कल्पता है।]

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा निग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं वा, भिन्नायारं, संकिलिट्ठायार तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता, पडिक्कमावेत्ता, निंदावेत्ता, गरहावेत्ता, विउट्टावेत्ता, विसोहावेत्ता, अकरणाए अब्भुट्ठावेत्ता, अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा, सभुजित्तए वा, सवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं वा, दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

खण्डित, शबल, भिन्न और सक्लिष्ट आचार वाली अन्य गण से आई हुई निर्ग्रन्थी को सेवित दोष की आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा, व्युत्सर्ग एव आत्मशुद्धि कराले तथा भविष्य मे पुन पापस्थान सेवन न करने की प्रतिज्ञा के साथ दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करा लें तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को उसे पुनः चारित्र में उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ मे रखना कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अणुदिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा निग्गंथं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं-जाव-संकिलिट्ठायार तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता-जाव-अहारिहं पायच्छित्त अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा, सभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तस्स इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाले अन्य गण से आये हुए निर्ग्रन्थ को सेवित दोष की आलोचना—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न कराले तब तक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को उसे पुन चारित्र मे उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ मे रखना नही कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना नही कल्पता है।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा निग्गथं अन्नगणाओ आगयं खुयायार वा-जाव-सकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता-जाव-अहारिहं पायच्छित्त पडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा, संभुजित्तए वा, सवसित्तए वा, तस्स इत्तरिग दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।
—वव. उ. ६, सु. १८-२१

खण्डित—यावत्—सक्लिष्ट आचार वाले अन्य गण से आये हुए निर्ग्रन्थ को—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार करा लें तो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियो को उसे पुन॰ चारित्र मे उपस्थापित करना, उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ में रखना कल्पता है, तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अणुदिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता है।

जे निग्गथा वा निग्गथीओ य संभोइया सिया, नो कप्पइ निग्गथीणं निग्गंथे अणापुच्छित्ता निग्गंथिं अन्नगणाओ आगय खुयायारं-जाव-संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता-जाव-अहारिह पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, सभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरिय दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ साभोगिक हैं और निर्ग्रन्थी के समीप यदि कोई अन्य गण से खण्डित—यावत्—सक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थिनी आए तो निर्ग्रन्थ को पूछे बिना और उसके पूर्व सेवित दोष की आलोचना—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराये बिना उसकी सुख-शाता पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र मे पुन उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ रखना नही कल्पता है। तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना नहीं कल्पता है।

जे निग्गथा य निग्गथीओ य सभोइया सिया कप्पइ निग्गंथीणं निग्गथे आपुच्छित्ता निग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं-जाव-संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता-जाव-पायच्छित्त पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, सभुजित्तए वा, सवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिस वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा।

जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ साभोगिक है और निर्ग्रन्थी के समीप यदि कोई अन्य गण से खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाली निर्ग्रन्थिनी आए तो निर्ग्रन्थ को पूछकर तथा सेवित दोष की आलोचना—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराके उसे सुख-शाता पूछना, वाचना देना, चारित्र मे पुन. उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करना और साथ रखना कल्पता है। उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता है।

जे निग्गथा य निग्गंथीओ य संभोइया सिया, कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीओ आपुच्छित्ता वा, अणापुच्छित्ता वा, निग्गंथिं

जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियाँ साभोगिक है और निर्ग्रन्थ के समीप यदि कोई अन्य गण से खण्डित—यावत्—संक्लिष्ट आचार वाली

अन्नगणाओ आगय खुयायार-जाव-संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता-जाव-पायच्छित्त पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा, वाएत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरिय दिसं वा, अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा, धारेत्तए वा, तं च निग्गथीओ नो इच्छेज्जा, सयमेव नियं ठाण।

—वव. उ. ७, सु. १-३

निर्ग्रन्थिनी आए तो निर्ग्रन्थिनियो को पूछकर या विना पूछे भी सेवित दोष की आलोचना—यावत्—दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार कराके उसकी सुख-शाता पूछना, उसे वाचना देना, चारित्र मे पुन. उपस्थापित करना, उसके साथ बैठकर भोजन करने की और साथ रखने की आज्ञा देना कल्पता है। उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना कल्पता है। किन्तु यदि निर्ग्रन्थिनियाँ उसे न रखना चाहे तो उसे चाहिए कि वह पुनः अपने गण मे चली जाए।



एकल विहार चर्या—१२

एगल्ल विहारिस्स अट्ठ गुणा—

५०३. अट्ठ हिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे एगल्ल विहारपडिम उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए, तं जहा—

१. सड्ढी पुरिसजाते, २ सच्चे पुरिसजाते,
३. मेहावी पुरिसजाते, ४. बहुस्सुत्ते पुरिसजाते,
५. सत्तिमं,
६ अप्पधिगरणे,
७ धितिमं, ८. वीरिय संपण्णे।

—ठाणं. अ ८, सु ५९४

एकलविहारी के आठ गुण—

५०३. आठ गुणो से सम्पन्न अणगार एकल विहार प्रतिज्ञा को स्वीकार कर विहार करने के योग्य होता है, यथा—

१. श्रद्धावान् पुरुष, २. सत्यशील पुरुष,
३ मेधावी पुरुष, ४. बहुश्रुत पुरुष,
५. शक्तिमान् पुरुष,
६. अल्प कषाय या अल्प उपधि वाला पुरुष,
७ धृतिमान् पुरुष, ८ वीर्य (उत्साह) सम्पन्न पुरुष,

एगागी समणस्स आवास विहि-णिसेहो—

५०४. से गामंसि वा-जाव-सन्निवेसंसि वा अभिनिव्वगडाए, अभिनिद्दुवाराए अभिनिक्खमण-पवेसणाए,

नो कप्पइ बहुस्सुयस्स बब्भागमस्स एगणियस्स भिक्खुस्स वत्थए किमगपुण अप्पसुयस्स अप्पागमस्स ?

से गामसि वा-जाव-सन्निवेससि वा एगवगडाए, एगदुवाराए, एगनिक्खमण पवेसाए,

कप्पइ बहुस्सुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए दुहओ कालं भिक्खुभाव पडिजागरमाणस्स।

—वव अ ६, सु. १४-१५

अकेले भिक्षु के रहने का विधि-निषेध—

५०४. भिन्न-भिन्न वाड, भिन्न-भिन्न प्राकार वाले, भिन्न-भिन्न द्वार वाले और भिन्न-भिन्न निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम—यावत्—सन्निवेश मे,

अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु को भी वसना नही कल्पता है तो अल्पश्रुत और अल्पआगमज्ञ भिक्षु को वसना कैसे कल्प सकता है ? अर्थात् नही कल्पता है।

एक वाड या एक प्राकार वाले, एक द्वार वाले और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम—यावत्—सन्निवेश मे,

अकेले बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ भिक्षु को दोनो समय सयम भाव की जागृति रखते हुए रहना कल्पता है।

अवियत्त एगागी भिक्खुस्स दोसाइं—

५०५. गामाणुगाम दूइज्जमाणस्स दुज्जात दुप्परक्कत भवति अवियत्तस्स भिक्खुणो।

अपरिपक्व एकाकी भिक्षु के दोष—

५०५ जो भिक्षु अपरिपक्व अवस्था मे है उसका अकेले ग्रामानुग्राम विहार करना दुःखप्रद और पतन का कारण होता है।

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा ।
उण्णतमाणे य णरे महता मोहेण मुज्झति ।

सबाहा बहवे मुज्जो भुज्जो दुरतिक्कमा अजाणतो अपासतो ।

एय ते मा होउ ।
एयं कुसलस्स दंसण ।—आ. सु १, अ. ५, उ. ४, सु. १६२

क्योकि कुछ साधक प्रतिकूल वचन सुनकर भी कुपित हो जाते हैं । स्वयं को उन्नत मानते हुए कोई अभिमानी साधक प्रबल मोह से मूढ हो जाता है ।

उस अज्ञानी अतत्वदर्शी के लिए बार बार आने वाली अनेक परीषह रूप बाधाओ को पार करना अत्यन्त कठिन होता है ।

तीर्थंकर भगवान् का यह उपदेश है कि ऐसी अवस्था तुम्हारी न हो अत. अव्यक्त साधक को गुरु के सान्निध्य मे ही रहना चाहिए ।

अववाए एगागी विहार विहाणं—

५०६. न वा लभेज्जा निउण सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥[1]
—उत्त. अ. ३२, गा. ५

अपवाद में एकाकी विहार का विधान—

५०६. यदि अपने से अधिक गुणवान् या अपने समान गुणी कोई निपुण सहायक न मिले तो भिक्षु पापो का वर्जन करता हुआ, विषयो मे अनासक्त रहकर अकेला ही विहार करे ।

एगागी भिक्खुस्स पसत्था विहार चरिया—

५०७. इहमेगेसिं एगचरिया होति ।

तत्थियतराइत्तरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेधावी परिव्वए, सुब्भि अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति । ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासेज्जासि ।
—आ. सु. १, अ. ६, उ. २, सु. १८६

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।
भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झप्पसवुडे ॥

णो पीहे णावऽवंगुणे, दार सुन्नघरस्स संजते ।
पुट्ठो ण उदाहरे वयं, न समुच्छे नो य संथरे तण ॥

जत्थऽत्थमिए अणाउले, सम-विसमाणि मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सिरीसिवा सिया ॥

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया ।
लोमादीयं पि ण हरिसे, सुन्नागारगते महामुणी ॥
णो अभिकंखेज्जा जीवियं, णो वि य पूयणपत्थए सिया ।
अब्भत्थमुवेंति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥

एकाकी भिक्षु की प्रशस्त विहार चर्या—

५०७ इस जिनशासन मे कुछ साधुओ द्वारा एकाकी चर्या स्वीकृत की जाती है ।

उनमे मेधावी साधु विभिन्न कुलो से शुद्ध एषणा और सर्वेषणा से संयम का पालन करता हुआ विचरे । अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति मे समभाव रखे । अथवा यदि इस चर्या मे हिंसक प्राणी प्राणो को क्लेश पहुँचाए, तो उन दु खो का स्पर्श होने पर भी धीर मुनि उन्हे सम्यक् प्रकार से सहन करे ।

भिक्षु वचन से गुप्त, मन से गुप्त तथा तपोबली होकर विचरण करे तथा कायोत्सर्ग, आसन और शयन भी अकेला ही करता हुआ समाधियुक्त होकर रहे ।

वह भिक्षु यदि शून्य गृह मे ठहरा हो तो वहाँ द्वार न खोले और न ही बन्द करे, किसी से पूछने पर भी न बोले, उस मकान का कचरा न निकाले, और घास भी न बिछाए । (किन्तु अपने आवश्यक स्थान को पूज कर बैठे या सोवे) ।

जहाँ सूर्य अस्त हो जाए वही क्षोभ रहित होकर रह जाए । सम-विषम स्थान हो तो उसे सहन करे । वहाँ यदि डाँस-मच्छर आदि हो, अथवा भयंकर प्राणी या साँप आदि हो तो भी मुनि इन परीषहो को सम्यक् रूप से सहन करे ।

शून्य गृह मे स्थित महामुनि तिर्यंच मनुष्य एव देवजनित त्रिविध उपसर्गो को सहन करे । किन्तु भय से रोमांचित न होवे ।

साधु न तो असयम जीवन की आकाक्षा करे और न ही सत्कार-प्रशसा का अभिलाषी बने । शून्य गृह स्थित भिक्षु को धीरे-धीरे भयानक प्राणी भी सह्य हो जाते हैं ।

१ दस. चू. २, गा. १० ।

उवणीततरस्स ताइणो, भयमाणस्स विवित्तमासणं।
सामाइयमाहु तस्स ज, जो अप्पाण भए ण दसए॥

उसिणोदगतत्तमोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो।
संसग्गि असाहु रायिहिं, असमाही उ तहागयस्स वि॥
—सूय सु १, अ २, उ २, गा १२२-१२८

जो सयम सम्पन्न छह काय रक्षक भिक्षु विविक्त-एकान्त स्थान का सेवन करता है तथा जो भयभीत नही होता है उस साधु को तीर्थंकरो ने सामायिक चारित्रवान् कहा है।

गर्म जल पीने वाले तथा अग्निपक्व अचित्त आहार करने वाले धर्म में स्थित संयमवान् मुनि को राजा आदि से ससर्ग करना अच्छा नहीं है। क्योकि उससे शास्त्रोक्त आचार-पालक मुनि की समाधि भी भंग हो सकती है।

एगागी भिक्खुस्स अपसत्था विहार चरिया—

५०८. इहमेगेसिं एगचरिया भवति। से बहुकोहे, बहुमाणे, बहुमाए, बहुलोभे, बहुरते, बहुणडे, बहुसढे, बहुसकप्पे, आसवसक्की, पलिओछण्णे, उट्ठितवाद पवदमाणे, मा मे केइ अदक्खु, अण्णाण-पमायदोसेणं। सतत मूढे धम्म णाभिजाणति।
—आ. सु १, अ ५, उ. १, सु १५१

एकाकी भिक्षु की अप्रशस्त विहार चर्या—

५०८ इस संसार मे कुछ साधक विषय कषाय के कारण अकेले विचरण करते हैं वे अत्यन्त क्रोध, अतीव मान, अत्यन्त माया, अति लोभ करने वाले अति आसक्त नट के समान रूप वदलने वाले, अत्यन्त धूर्त और वहुत सकल्प करने वाले होते हैं। वे हिंसादि आस्रवो मे आसक्त, कर्मों मे लिप्त होते हैं, वे अपने को धर्म के लिए उद्यत वताते हुए भी "मुझे कोई न देख ले" इस आशका से छिप-छिपकर अनाचार सेवन करते हैं अज्ञान और प्रमाद के दोष से सतत मूढ वने वे धर्म को नही जानते हैं।

एकल विहारिस्स गणे पुणरागमण—

५०९. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्च पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए।
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा।
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिम उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्च पि तमेव गण उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए,
पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए।

पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा,
पुणो छेय-परिहारस्स उवट्ठाएज्जा।
—वव. उ १, सु. २३-२५

एकाकी विहारी का गण में पुनरागमन—

५०९. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर एकल विहार चर्या धारण करके विचरण करे और वाद मे वह पुन उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—

उस विचरण काल सम्वन्धी पूर्ण आलोचना प्रतिक्रमण करे।

तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

यदि कोई गणावच्छेदक गण से निकलकर एकल विहार चर्या को धारण करके विचरण करे और वाद मे वह पुन उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—

उस विचरण काल सम्वन्धी पूर्ण आलोचना प्रतिक्रमण करे।

तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

यदि कोई आचार्य या उपाध्याय गण से निकलकर एकल विहार प्रतिज्ञा को धारण करके विचरण करे और वाद मे वे पुन उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—

उस विचरण काल सम्वन्धी पूर्ण आलोचना प्रतिक्रमण करे।

तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

एगागिस्स समाहि—

५१० एगत्तमेव अभिपत्थएज्जा, एव पमोक्खो ण मुस ति पास।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वी, अकोहणे सच्चरए तवस्सी॥
—सूय सु. १, अ. १०, गा. १२

एकाकी विहारी को समाधि—

५१०. साधु एकत्व (अकेलेपन) की इच्छा करे। ऐसा करने से भी मोक्ष होता है इसे मिथ्या नहीं समझना चाहिये। यह एकत्व से मुक्ति मिथ्या नहीं, सत्य और श्रेष्ठ भी है। जो साधु सयम में रत एव तपस्वी है। (वही समाधि भाव को प्राप्त करता है।)

पार्श्वस्थ आदि के साथ व्यवहार व्यवस्था—१३

पारिहारिएण सह भिक्खट्ठा गमण पायच्छित्त सुत्तं—

५११. जे भिक्खू अपरिहारिएण[1] परिहारिय बूया—

एहि अज्जो ! तुमं च अहं च एगओ असण वा-जाव-साइमं वा पडिग्गाहेत्ता तओ पच्छा पत्तेय-पत्तेय भोक्खामो वा पाहामो वा जे तं एव वदइ वदतं वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ मासिय परिहारट्ठाण उग्घाइयं ।

—नि उ ४, सु. ११२

पारिहारिक के साथ भिक्षार्थ जाने का प्रायश्चित्त सूत्र—

५११. जो अपारिहारिक भिक्षु पारिहारिक भिक्षु को कहे कि—

"हे आर्य चलो ! तुम और मैं एक साथ अशन—**यावत्**—स्वाद्य लेकर आयें, उसके बाद अलग-अलग खायेंगे पीयेंगे", जो ऐसा कहता है, कहलवाता है या कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

पासत्थस्स आयाण-पयाण करण पायच्छित्त सुत्ताइं—

५१२. जे भिक्खू पासत्थस्स सघाडयं देइ देंत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू पासत्थस्स संघाडयं पडिच्छइ पडिच्छतं वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइय ।

—नि. उ. ४, सु. २८-२९

जे भिक्खू पासत्थस्स असण वा-जाव-साइम वा देइ देंत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू पासत्थस्स असणं वा-जाव-साइम वा पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइय ।

—नि. उ. १५, सु. ७७-७८

जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थ वा, पडिग्गहं वा, कवल वा पायपुंछणं वा, देइ देंत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थं वा, पडिग्गह वा, कंवलं वा, पायपुंछण वा पडिच्छइ पडिच्छंत वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं उग्घाइय ।

—नि. उ. १५, सु. ८९-९०

पार्श्वस्थ के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५१२ जो भिक्षु पार्श्वस्थ को सघाडा (साधु) देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ से संघाडा लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ को अशन—**यावत्**—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ से अशन—**यावत्**—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वस्त्र, पात्र, कवल या पादप्रोछन देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ का वस्त्र, पात्र, कंवल या पादप्रोछन लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

ओसण्णस्स आयाण-पयाण करण पायच्छित्त सुत्ताइं—

५१३. जे भिक्खू ओसण्णस्स संघाडयं देइ, देंत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू ओसण्णस्स संघाडय पडिच्छइ, पडिच्छत वा साइज्जइ ।

अवसन्न के साथ देन-लेन करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५१३ जो भिक्षु अवसन्न को संघाडा देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न से सघाडा लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

---

१ पारिहारिक—महाव्रतो के या समिति-गुप्ति आदि के अतिचारो का पूर्ण परिहार करने वाला पारिहारिक कहलाता है । अथवा परिहार तप रूप प्रायश्चित्त वहन करने वाला भी पारिहारिक कहलाता है ।

अपारिहारिक—महाव्रतो के या समिति गुप्ति आदि के अतिचारो का पूर्ण परिहार नहीं करने वाला अपारिहारिक कहलाता है अथवा परिहार तप रूप प्रायश्चित्त को वहन न करने वाला अपारिहारिक कहलाता है ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं उग्घाइयं। उसे उद्‌घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

—नि उ. १५, सु ९५-९६

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

पार्श्वस्यादि को वदनादि करने, सघाडा देने, आहार, वस्त्र, पात्रादि देने के प्रायश्चित्त सूत्रो की तालिका—

वदन प्रशंसा का व्यवहार

नि. उ.

१०.	अहाछदा	गुरु चौ
१३.	पार्श्वस्य	लघु. चौ.
१३.	अवसन्न	,, ,,
१३.	कुशील	,, ,,
१३.	संसक्त	,, ,,
१३	नित्यक	,, ,,
१३.	काथिक	,, ,,
१३.	प्राश्निक	,, ,,
१३	मामक	,, ,,
१३	साप्रसारिक	,, ,,

सिंघाडा देने का व्यवहार

नि. उ

४.	पार्श्वस्य	लघु मासिक
४.	अवसन्न	,, ,,
४.	कुशील	,, ,,
४.	संसक्त	,, ,,
४.	नित्यक	,, ,,

आहार वस्त्रादि देने का व्यवहार

१५.	पार्श्वस्य	लघु चौमासी
१५	अवसन्न	,, ,,
१५	कुशील	,, ,,
१५.	संसक्त	,, ,,
१५	नित्यक	,, ,,

गच्छ से अलग विचरकर पुन गच्छ मे आने वाले को

१. एकल विहार चर्या व्यव. उ. १
२. पार्श्वस्थ विहार चर्या
३ यथाछंद विहार चर्या
४ कुशील विहार चर्या
५ अवसन्न विहार चर्या
६ ससक्त विहार चर्या
७ परपासड लिंग धारण।

यथाछद को वंदन व्यवहार के प्रायश्चित्त सूत्र नि उ १० मे हैं किन्तु आहारादि लेन-देन सम्बन्धी प्रायश्चित्त सूत्र कही उपलब्ध नही है सम्भव है किसी युग मे ये सूत्र विछिन्न हो गये होंगे। उन्हे दसवें उद्देशक मे समझ लेना चाहिए।

अत वदन व्यवहार के अनुसार उनके साथ आहारादि लेन-देन का भी गुरु चौमासी प्रायश्चित्त समझ लेना चाहिए।

पार्श्वस्य अवसन्न, कुशील, ससक्त और यथाछंद ये अपनी आगम विपरीत प्रवृत्तियो के कारण गच्छ से अलग कर दिये जाते हैं या वे स्वय अलग हो जाते हैं। यदि वे गण में आना चाहे और यत्किंचित् संयमी जीवन व्यतीत कर रहे हो तो उन्हे प्रायश्चित्त से शुद्ध होने के बाद गण मे वापिस लिए जा सकते हैं।

पार्श्वस्यादि की परिभाषा—

१ पार्श्वस्य—ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना मे जो पुरुषार्थ नही करता है तथा अनेक अतिचारो या अनाचारो मे प्रवृत्ति करता है वह "पार्श्वस्य" कहा जाता है।

२. अवसन्न—जो संयम समाचारी से विपरीत या अल्पाधिक आचरण करता है वह "अवसन्न" कहा जाता है।

३ कुशील—सयम जीवन मे जो मन्त्र, विद्या, निमित्त कथन या चिकित्सा आदि निषिद्ध कार्य हैं उन्हे करता है वह "कुशील" कहा जाता है।

४. ससक्त—जैसो के साथ रहता है वैसा ही हो जाता है—अर्थात् उन्नत आचार वालो के साथ रहता है तो उन्नत आचार का पालन करने लगता है और जो शिथिलाचार वालो के साथ रहता है तो शिथिलाचारी हो जाता है। वह "ससक्त" कहा जाता है।

५ नित्यक—जो अकारण, कल्प मर्यादा का भग करके सदा एक स्थान पर रहता है वह "नित्यक" कहा जाता है।

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

पासत्थ विहारिस्स गणे पुणरागमण—

५१७ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म पासत्थविहारपडिम उवसपज्जित्ताण विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्च पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताण विहरित्तए अत्थि य इत्थ सेसे। पुणो अ लोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

—वव. उ. १, सु २६

पार्श्वस्थ विहारी का गण में पुनरागमन—

५१७. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर पार्श्वस्थ चर्या को अगीकार करके विचरे और बाद मे वह पार्श्वस्थ विहार छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे। तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा छेद या तप रूप प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

अहाछद विहारिस्स गणे पुणरागमण—

५१८ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अहाछंद विहार-पडिमं उवसंपज्जित्ताण विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्च पि तमेव गणं उवसपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

—वव उ. १, सु. २७

यथाच्छन्दविहारी का गण में पुनरागमन—

५१८. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर यथाछन्द चर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद मे वह यथाछन्द विहार छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे। तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

कुसील विहारिस्स गणे पुणरागमण—

५१९. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म कुसीलविहारपडिम उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

—वव उ. १, सु. २८

कुशील विहारी का गण में पुनरागमन—

५१९. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर कुशील चर्या को अंगीकार करके विचरे और बाद मे वह कुशील विहार छोड़कर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे। तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दे उसे स्वीकार करे।

ओसन्न विहारिस्स गणे पुणरागमण—

५२०. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओसन्नविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताण विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गण उवसपज्जित्ताण विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेय परिहारस्स उवट्ठाएज्जा।

—वव. उ. १, सु. २९

अवसन्नविहारी का गण में पुनरागमन—

५२०. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर अवसन्न चर्या को अगीकार करके विचरे और बाद मे वह अवसन्न विहार छोडकर उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर जो दीक्षा छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दें उसे स्वीकार करे।

संसत्त विहारिस्स गणे पुणरागमण—

५२१. भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म संसत्तविहारपडिम उवसपज्जित्ताण विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गण उव-

संसत्तविहारी का गण में पुनरागमन—

५२१. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर ससक्त चर्या को अगीकार करके विचरे और वाद मे वह संसक्त विहार को छोड़कर

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

६. काथिक—जो स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्यों की उपेक्षा करके देश कथा आदि विकथाओ मे समय लगाता है वह "काथिक" कहा जाता है।

७ प्राश्निक प्रेक्षणिक—जो नाटक, नृत्य आदि दृश्य देखने की अभिलाषा रखता है व प्रवृत्ति करता है वह "प्रेक्षणिक" कहा जाता है। अथवा जो लौकिक प्रश्नो का समस्याओ का समाधान करता रहता है वह "प्राश्निक" कहा जाता है।

८. मामक—जो शिष्य, क्षेत्र, उपधि आदि मे "ममत्व" रखता है वह "मामक" कहा जाता है।

९. साम्प्रसारिक—जो लेन-देन, गमनागमन आदि लौकिक कार्यों के मुहूर्तों का कथन करता है या उनमे विशेष रुचि रखता है वह "साम्प्रसारिक" कहा जाता है।

१०. यथाछद—जो आगम विपरीत मनमाना प्ररूपण या आचरण करता है वह "यथाछंद" कहा जाता है।

सपज्जित्ताण विहरित्तए, अत्थि य इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा।
—वव उ १, सु ३०

उसी गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो—यदि उसका चारित्र कुछ शेष हो तो वह उस पूर्व अवस्था की पूर्ण आलोचना एव प्रतिक्रमण करे तथा आचार्य उसकी आलोचना सुनकर दीक्षा छेद या तप रूप जो प्रायश्चित्त दें उसे स्वीकार करे।

अण्णलिंग गहणाणंतरे गणे पुणरागमण—

५२२ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म परपासडपडिमं उवसपज्जित्ताण विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गण उवसपज्जित्ताण विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केइ छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए आलोयणाए।
—वव. उ. १, सु. ३१

अन्यलिंग ग्रहण के बाद गण मे पुनरागमन—

५२२ यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर किसी परिस्थिति से अन्यलिंग को धारण कर विहार करे और कारण समाप्त होने पर पुन स्वलिंग को धारण कर गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उसे आलोचना के अतिरिक्त लिंग परिवर्तन का दीक्षा छेद या तप रूप कोई प्रायश्चित्त नही आता है।



कलह और उसकी उपशान्ति—१४

संकिलेसप्पगारा—

५२३ दसविधे सकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—
१ उवहि-सकिलेसे,
२. उवस्सय-सकिलेसे,
३ कसाय-सकिलेसे,
४. भत्तपाण-संकिलेसे,
५. मण-संकिलेसे,
६. वइ-संकिलेसे,
७ काय-संकिलेसे,
८ णाण-सकिलेसे,
९ दंसण-सकिलेसे,
१०. चरित्त-सकिलेसे[1]।   —ठाण अ १०, सु ७३९

क्लेश के प्रकार—

५२३. दस प्रकार का कलह कहा गया है। यथा—
(१) उपधि के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(२) उपाश्रय के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(३) क्रोधादि के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(४) आहारादि के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(५) मन के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(६) वचन के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(७) शरीर के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(८) ज्ञान के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(९) दर्शन के निमित्त से होने वाला क्लेश।
(१०) चारित्र के निमित्त से होने वाला क्लेश।

असंकिलेसप्पगारा—

५२४. दसविहे असकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—
१. उवहिअसकिलेसे,
२. उवस्सयअसकिलेसे,
३ कसायअसकिलेसे,
४ भत्तपाणअसकिलेसे,
५. मणअसकिलेसे,
६. वइअसकिलेसे,

असक्लेश के प्रकार—

५२४ असक्लेश (कलह का अभाव) दस प्रकार का कहा गया है। जैसे—
(१) उपधि के निमित्त से क्लेश न होना।
(२) निवासस्थान के निमित्त से क्लेश न होना।
(३) कषाय के निमित्त से क्लेश न होना।
(४) आहारादि के निमित्त से क्लेश न होना।
(५) मन के निमित्त से क्लेश न होना।
(६) वचन के निमित्त से क्लेश न होना।

---

१ ठाणं. अ ३, उ. ४, सु. १९८।

७. कायअसंकिलेसे,
८ णाणअसंकिलेसे,
९. दसणअसंकिलेसे,
१०. चरित्तअसकिलेसे ।[1] —ठाणं. अ १०, सु ७३९

(७) शरीर के निमित्त से क्लेश न होना ।
(८) ज्ञान के निमित्त से क्लेश न होना ।
(९) दर्शन के निमित्त मे क्लेश न होना ।
(१०) चारित्र के निमित्त से क्लेश न होना ।

अहितकारगा ठाणा—

५२५ तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए, अणिस्सेयसाए, अणाणुगामियत्ताए भवंति, त जहा—
१ कूअणता,
२. कक्करणता,
३. अवज्झाणता । —ठाणं. अ. ३, उ. ३, सु १८८

अहित करने वाले स्थान—

५२५. तीन स्थान निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो के लिए अहितकर, अशुभ, अक्षम (अयुक्त) अकल्याणकर, अमुक्तिकारी होते हैं, यथा—
(१) आर्तस्वर से करुण क्रन्दन करना ।
(२) शय्या उपधि आदि के दोष प्रकट करने के लिए वड-वडाट करना ।
(३) आर्त्त और रौद्रध्यान करना ।

हितकारगा ठाणा—

५२६. तओ ठाणा णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हिताए, सुहाए, खमाए, णिस्सेयसाए, आणुगामियत्ताए भवति, तं जहा—
१. अकूअणता,
२. अकक्करणता,
३. अणवज्झाणता । —ठाण. अ. ३, उ ३, सु १८८

हित करने वाले स्थान—

५२६. तीन स्थान निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियो के लिए हितकर, शुभ, क्षम, कल्याण एव मुक्ति-प्राप्ति के लिए होते है—
(१) आर्तस्वर मे करुण क्रन्दन नही करना ।
(२) शय्या आदि के दोषो को प्रकट करने के लिए वड-वडाट नही करना ।
(३) आर्त्त-रौद्ररूप दुर्ध्यान नही करना ।

गण वुग्गह कारणा—

५२७. आयरिय-उवज्झायस्स ण गणंसि पच वुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—
१. आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि आणं वा धारण वा णो सम्म पउंजित्ता भवति ।
२ आयरिय-उवज्झाए णं गणसि अहाराइ णियाए किति-कम्मं वेणतितं णो सम्मं पउंजित्ता भवति ।
३ आयरिय-उवज्झाए णं गणसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले-काले णो सम्ममणुप्पवाइत्ता भवति ।
४. आयरिय-उवज्झाए णं गणसि गिलाणसेहवेयावच्च णो सम्ममब्भुट्ठित्ता भवति ।
५. आयरिय-उवज्झायाए ण गणंसि अणापुच्छियचारी यावि हवइ, णो आपुच्छियचारी ।
—ठाण. अ. ५, उ. १, सु. ३९९

गण विग्रह के कारण—

५२७. आचार्य या उपाध्याय के गण मे पांच विग्रह (कलह) स्थान कहे गए है । यथा—
(१) आचार्य या उपाध्याय गण मे आज्ञा तथा धारणा का सम्यक् प्रयोग नही करे ।
(२) आचार्य या उपाध्याय गण मे दीक्षा पर्याय के क्रम से वन्दन तथा विनय का सम्यक् प्रयोग नहीं करे ।
(३) आचार्य या उपाध्याय जितने सूत्रार्थ के धारक हैं उतने का गण मे समय-समय पर सम्यक् प्रकार से अध्यापन नही करावे ।
(४) आचार्य या उपाध्याय गण मे ग्लान और शैक्ष की समुचित सेवा नही करे (नही करावे) ।
(५) आचार्य या उपाध्याय गण को विना पूछे ही प्रवृत्ति करे, पूछकर नही करे ।

गण अवुग्गह कारणा—

५२८. आयरिय-उवज्झाय स ण गणंसि पंच अवुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता, त जहा—

गण में विग्रह न होने के कारण—

५२८. आचार्य और उपाध्याय के लिए गण मे कलह न होने के पांच कारण कहे गये हैं । जैसे—

१ ठाण. अ. ३, उ. ४, सु. १९८ ।

१ आयरिय-उवज्झाए णं गणंसि आणं वा धारणं वा सम्मं पउजित्ता भवति।
२ आयरिय-उवज्झाए ण गणंसि अहारायणियाए सम्म किइकम्म वेणइय पउजित्ता भवति।
३ आयरिय-उवज्झाए ण गणसि जे सुत्तपज्जवजाते धारेति ते काले-काले सम्म अणुप्पवाइत्ता भवति।
४. आयरिय-उवज्झाए णं गणसि गिलाण सेह वेयावच्च सम्मं अब्भुट्ठित्ता भवति।
५ आयरिय-उवज्झाए णं गणसि आपुच्छियचारी यावि भवति, णो अणापुच्छियचारी।

—ठाण अ. ५, उ. १, सु. ३९९

(१) आचार्य और उपाध्याय गण मे आज्ञा तथा धारणा का सम्यक् प्रयोग करते हो।
(२) आचार्य और उपाध्याय गण मे यथारात्निक वन्दन व विनय व्यवहार का सम्यक् प्रयोग करते हो।
(३) आचार्य और उपाध्याय जिन सूत्र के अर्थ प्रकारों को धारण करते हैं, उनकी यथासमय गण को सम्यक् वाचना देते हो।
(४) आचार्य और उपाध्याय गण मे रोगी तथा नवदीक्षित साधुओ की वैयावृत्य कराने के लिए समुचित व्यवस्था करते हो।
(५) आचार्य और उपाध्याय गण मे अन्य को पूछकर कार्य करते हो, विना पूछे नही करते हो।

कलह उवसमणस्स विहि-णिसेहो—

कलह उपशमन के विधि-निषेध—

५२९ नो कप्पइ निग्गंथाणं विइकिट्ठाइ पाहुडाइ विओसवेत्तए।

कप्पइ निग्गथीण विइकिट्ठाइ पाहुडाइ विओसवेत्तए।

—वव उ. ७, सु १२-१३

५२९. निर्ग्रन्थो मे यदि कलह हो जावे तो उन्हें दूरवर्ती क्षेत्र मे रहे हुए उपशमन करना और खमाना नही कल्पता है।

किन्तु निर्ग्रन्थियो मे यदि कलह हो जावे तो उन्हें दूरवर्ती क्षेत्र में रहे हुए उपशमन करना और खमाना कल्पता है।

अण्णस्स अणुवसते वि अप्पणो उवसमण णिद्देसो—

अन्य के अनुपशात रहने पर भी स्वय को उपशात होने का निर्देश—

५३०. भिक्खू य अहिगरणं कट्टु, त अहिगरणं विओसवित्ता विओसवियपाहुडे।

१ इच्छाए परो आढाएज्जा, इच्छाए परो णो आढाएज्जा।
२ इच्छाए परो अब्भुट्ठेज्जा, इच्छाए परो णो अब्भुट्ठेज्जा।
३. इच्छाए परो वन्देज्जा, इच्छाए परो नो वन्देज्जा।
४ इच्छाए परो सभुंजेज्जा, इच्छाए परो नो संभुंजेज्जा।
५. इच्छाए परो सवसेज्जा, इच्छाए परो नो संवसेज्जा।
६ इच्छाए परो उवसमेज्जा, इच्छाए परो नो उवसमेज्जा।
७. जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा,
तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्व।
प०—से किमाहु भन्ते!
उ०—"उवसमसारं खु सामण्णं।"— कप्प. उ. १, सु ३६

५३०. भिक्षु किसी से कलह होने पर उस कलह को उपशान्त करके स्वय सर्वथा कलह रहित हो जावे, उसके बाद जिसके साथ क्लेश हुआ हो—

(१) वह इच्छा हो तो आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे।
(२) वह इच्छा हो तो उसके सन्मान मे उठे, इच्छा न हो तो न उठे।
(३) वह इच्छा हो तो वन्दना करे, इच्छा न हो तो वन्दना न करे।
(४) वह इच्छा हो तो उसके साथ भोजन करे, इच्छा न हो तो भोजन न करे।
(५) वह इच्छा हो तो उसके साथ रहे, इच्छा न हो तो न रहे।
(६) वह इच्छा हो तो उपशान्त होवे, इच्छा न हो तो उपशात न होवे।
जो उपशान्त होता है उसके सयम की आराधना होती है।
किन्तु जो उपशान्त नही होता है उसके सयम की आराधना नहीं होती है।
इसलिए अपने आपको ही उपशान्त कर लेना चाहिए।
प्र०—हे भन्ते! ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है?
उ०—उपशान्त रहना ही श्रमण जीवन का सार है।

अणुवसमस्स भिक्खुस्स पुणरवि सगणे पट्ठवण—

५३१. भिक्खू य अहिगरण कट्टु त अहिगरणं अविओसवेत्ता अन्न गण उवसंपज्जित्ताणं विहरत्तिए,
कप्पइ तस्स पंचराइंदिय छेयं कट्टु परिणिव्वाविय परिणिव्वाविय दोच्च पि तमेव गणं पडिनिज्जाएयव्वे सिया,
जहा वा तस्स गणस्स पत्तिय सिया।—कप्प. उ. ५, सु, ५

अनुपशान्त भिक्षु को पुनः स्वगण मे भेजना—

५३१ भिक्षु कलह करके उसे उपशान्त किये विना अन्य गण मे सम्मिलित होकर रहना चाहे तो उस गण के स्थविर को चाहिए कि वह उसे पाँच दिन-रात की दीक्षा का छेद देकर और उसे सर्वथा शान्त प्रशान्त करके पुन उसी गण मे लौटा दे। अथवा जिस गण से वह आया है उस गण को जिस प्रकार की प्रतीति हो उसे उसी तरह करना चाहिए।

खमावणाफलं—

५३२. प०—खमावणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—खमावणयाए ण पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव सत्तेसु, मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ। —उत्त. अ २९, सु १९

क्षमापना का फल—

५३२. प्र०—भन्ते ! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—क्षमा करने से वह मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। चित्त प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सव प्राण, भूत, जीव और सत्वो के प्रति मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावो को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

अहिगरण करण पायच्छित्त सुत्ताइं—

५३३ जे भिक्खू णवाइं अणुप्पण्णाइ अहिगरणाइ उप्पाएइ, उप्पाएंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू पोराणाइ अहिगरणाइ खामिय-विओसवियाइं पुणो उदीरेइ, उदीरेंतं वा साइज्जइ।

तं सेवमाणे आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि. उ ४, सु २५-२६

कलह करने के प्रायश्चित्त सूत्र—

५३३. जो भिक्षु नवीन अनुत्पन्न कलह को उत्पन्न करता है, उत्पन्न करवाता है या उत्पन्न करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु क्षमापना द्वारा उपशान्त पुराने झगडो को पुन. उत्तेजित करता है, उत्तेजित करवाता है या उत्तेजित करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

एगागी आगय समणस्स सवसावण पायच्छित्त सुत्तं—

५३४ जे भिक्खू वहियावासिय आएस पर तिरायाओ अविफालेत्ता संवसावेइ, संवसावेंत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं अणुग्घाइय।
—नि. उ. १०, सु १३

एकाकी आगन्तुक भिक्षु को विना निर्णय रखने का प्रायश्चित्त सूत्र—

५३४. जो भिक्षु वाहर से आये हुए आगन्तुक अकेले भिक्षु को पूछताछ कर निर्णय किये विना तीन दिन से अधिक रखता है, रखवाता है या रखने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

कलह कारगेहिं सद्धि आहार करण पायच्छित्त सुत्त—

५३५. जे भिक्खू साहिगरण अविओसविय पाहुडं अकडपायच्छित्त पर तिरायाओ विप्फालिय अविप्फालिय समुंजइ समुंजतं वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।
—नि. उ. १०, सु. १४

कलह करने वालो के साथ आहार करने का प्रायश्चित्त सूत्र—

५३५. कोई भिक्षु कलह करके उसका स्वय उपशमन न करे और न प्रायश्चित्त ले तो उसे उस सम्वन्ध मे पूछताछ कर या विना पूछताछ किये तीन दिन से अधिक उसके साथ एक मण्डल मे वैठकर जो भिक्षु आहार करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

वुग्गह वक्कताणं आयाण-पयाण करण पायच्छित्त सुत्ताइं—

५३६. जे भिक्खू वुग्गह वक्कंताणं असणं वा-जाव-साइम वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कंताण असण वा-जाव-साइम वा पडिच्छइ, पडिच्छंत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कताण वत्थ वा-जाव-पायपुछण वा देइ, देंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कताण वत्थ वा-जाव-पायपुछणं वा पडिच्छइ पडिच्छत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कताण वसहिं देइ, देंत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कंताणं वसहिं पडिच्छइ, पडिच्छंत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कताण वसहिं अणुपविसइ, अणुपविसत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कताण सज्झायं देइ, देंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू वुग्गह वक्कताण सज्झायं पडिच्छइ, पडिच्छत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाण उग्घाइयं।

—नि. उ १६, सु १७-२५

कदाग्रही के साथ लेन-देन करने के प्रायश्चित सूत्र—

५३६ जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओ को अशन—यावत्—स्वाद्य देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रही भिक्षुओ का अशन—यावत्—स्वाद्य लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रह से अलग विचरने वाले (निन्ह्व आदि) को वस्त्र—यावत्—पादप्रोछन देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रही से वस्त्र—यावत्—पादप्रोछन लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रह से अलग विचरने वाले (निन्ह्व आदि) को उपाश्रय देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रही से उपाश्रय लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रही के उपाश्रय मे प्रवेश करता है, करवाता है या करने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रही को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु कदाग्रही से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

आगमाणुसारी पायच्छित्त दाण गहण विहाणो—

५३७. भिक्खू य अहिगरण कट्टु, त अहिगरण अविओसवेत्ता,

नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,

नो से कप्पइ वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा,

नो से कप्पइ गामाणुगाम वा दुइज्जित्तए,

गणाओ वा गणं सकमित्तए, वासावास वा वत्थए।

जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाय पासेज्जा बहुस्सुयं, बब्भागम, कप्पइ से तस्सतिए आलोएत्तए, पडिक्कमित्तए, निन्दित्तए, गरिहित्तए, विउट्टित्तए, विसोहित्तए, अकरणाए, अब्भुट्ठित्तए, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जित्तए।

से य सुएणं पट्ठविए आइयव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आइयव्वे सिया।

से य सुएण पट्ठविज्जमाणे नो आइयइ से निज्जूहियव्वे सिया।

—कप्प. उ. ४, सु ३०

आगम के अनुसार प्रायश्चित्त देने व ग्रहण करने का विधान—

५३७. यदि कोई भिक्षु कलह करके उसे उपशान्त न करे तो—

उसे गृहस्थों के घरो मे भक्त-पान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना नही कल्पता है।

उसे उपाश्रय से वाहर स्वाध्याय भूमि मे या उच्चार-प्रस्रवण भूमि मे जाना आना नही कल्पता है।

उसे ग्रामानुग्राम विहार करना नही कल्पता है। उसे एक गण से गण न्तर मे सक्रमण करना और वर्षावास रहना नही कल्पता है।

किन्तु जहाँ अपने बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ आचार्य और उपाध्याय हो उनके समीप आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, पाप से निवृत्त होवे, पाप फल से शुद्ध होवे, पुन पाप कर्म न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होवे और यथा योग्य तप रूप प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

वह प्रायश्चित्त यदि श्रुतानुसार दिया जावे तो ग्रहण करना चाहिए। श्रुतानुसार न दिया जावे तो ग्रहण नही करना चाहिए।

यदि श्रुतानुसार प्रायश्चित्त दिये जाने पर भी जो स्वीकार न करे तो उसे गण से निकाल देना चाहिए।



॥ तवायारो ॥

बारसविहंमि वि तवे,
सब्भिंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे ।
अगिलाए अणाजीवी,
णायव्वो सो तवायारो ॥

—निशीथभाष्य; भाग १, गा० ४२

चरणानुयोग

[तपाचार]

१. तपाचार (बाह्य)

तप का स्वरूप एवं प्रकार—१
[बाह्य]

तवसरूवं—

५३८ जहा उ पावगं कम्मं, रागदोस समज्जिअं।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण॥

पाणवह मुसावाया, अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राईभोयण-विरओ, जीवो भवइ अणासवो॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो॥
एएसिं तु विवच्चासे, रागद्दोस-समज्जियं।
जहा खवयइ भिक्खू, त मे एगमणो सुण॥

जहा महातलास्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे॥

एवं तु सजयस्सावि पावकम्म निरासवे।
भवकोडी संचियं कम्म, तवसा णिज्जरिज्जई॥
—उत्त अ ३०, गा १-६

तेसिं पि तवो सुद्धो, णिक्खंता जे महाकुला।
अवमाणिते परेण तु, ण सिलोगं वयंति ते॥[1]
—सूय सु. १, अ. ८, गा. २४

धुणे उराल अणुवेहमाणे, चेच्चाण सोय अणपेक्खमाणे॥
—सूय. सु १, अ १०, गा. ११ (ख)

धुणिया कुलियं व लेववं, किसए देहमणसणादिहि।
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो॥

सउणी जह पंसु गुंडिया, विधुणिय धंसयती सिय रयं।
एव दविओवहाणवं, कम्म खवति तवस्सी माहणे॥
—सूय सु १, अ. २, उ १, गा १४-१५

तप का स्वरूप—

५३८ जिस तपानुष्ठान द्वारा भिक्षु राग-द्वेष से अर्जित पाप कर्मों का क्षय करता है, उस तप के स्वरूप को एकाग्र मन होकर सुनो।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एव रात्रि भोजन से विरत जीव अनास्रवी होता है।

पाँच समिति एव तीन गुप्ति से युक्त, कषाय रहित, जितेन्द्रिय, गर्व एव शल्य से रहित जीव अनास्रवी होता है।

उपरोक्त गुणो से विपरीत आचरण करने पर राग-द्वेष से जो कर्मोपार्जन होता है, उन कर्मों को मुनि किस प्रकार क्षय करता है, उसको मुझ से एकाग्र मन होकर सुनो।

किसी बडे तालाव मे जल आने के मार्गों को रोक देने पर उसमे रहे हुए पानी को वाहर निकाल देने पर तथा सूर्य के ताप द्वारा सूखने पर जिस प्रकार उसका जल क्रमश क्षीण हो जाता है।

इसी प्रकार नवीन पाप कर्मों को रोक देने पर सयमी साधुओ के भी करोडो भवो के सचित कर्म तप के द्वारा क्षय हो जाते हैं।

जो वडे कुलो से अभिनिष्क्रमण कर मुनि बनते हैं और दूसरो के द्वारा अपमानित होने पर भी अपनी श्लाघा नही करते अर्थात् अपने वडप्पन का परिचय नही देते उनका तप शुद्ध होता है।

आस्रवो को छोडकर किसी प्रकार की अपेक्षा न रखता हुआ साधु विवेकपूर्वक औदारिक शरीर को कृश करे।

जैसे गोवर आदि से लीपी हुई दीवार के लेप को उतार कर पतली कर दी जाती है, वैसे ही मुनि अनशन आदि के द्वारा देह को कृश करे तथा अहिंसा आदि धर्मों का पालन करे। यह मोक्षानुकूल धर्म है, जिसका प्ररूपण सर्वज्ञ प्रभु ने किया है।

जैसे धूल से भरी हुई पक्षिणी अपने पखो को फडफडाकर लगी हुई रज को झाड देती है, इसी प्रकार सयमवान् तपस्वी मुनि तपस्या के द्वारा कर्मों को क्षय कर देता है।

पाठान्तर—

१ तेसिं पि तवो ण सुद्धो णिक्खता जे महाकुला। ज नेवन्ने वियाणन्ति, णं सिलोगं पवेयए॥

तवप्पगारा—

५३९ दुविहे तवे पण्णत्ते, त जहा—
१ वाहिरए य,　२. आब्भितरे य।[1]
—वि. स. २५, उ ७, सु १९६

प०—से किं त वाहिरए ?
उ०—छव्विहे वाहिरए तवे पण्णत्ते, तं जहा—
१. अणसण, २. ओमोयरिया, ३ भिक्खायरिया।
४. रसपरिच्चाए, ५ कायकिलेसो, ६ पडिसलीणता।[2]
—वि स २५, उ ७, सु १९७

तप के प्रकार—

५३९ तप दो प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) वाह्य,　(२) आभ्यन्तर।

प्र०—वाह्य तप क्या है ? कितने प्रकार का है ?
उ०—वाह्य तप छ प्रकार का कहा गया है,
यथा—(१) अनशन, (२) अवमोदरिका, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसलीनता।

आजीवियतवप्पगारा—

५४० आजीवियाण चउव्विहे तवे पण्णत्ते, तं जहा—
१ उग्गतवे,　२. घोरतवे,
३ रसणिज्जूहणता,　४ जिब्भिंदियपडिसंलीणता।
—ठाण. अ ४, उ २, सु ३०९

आजीविक तप के प्रकार—

५४० आजीविको के तप चार प्रकार के हैं, यथा—
(१) उग्रतप,　(२) घोरतप,
(३) रस परित्याग,　(४) जिव्हेन्द्रिय प्रतिसलीनता।



अनशन-तप—२

अणसणप्पगारा—

५४१ प०-से किं त अणसणे ?
उ०—अणसणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—
१ इत्तरिए,
२. आवकहिए य।[3]
—वि स २५, उ ७, सु. १९८

इत्तरिया मरणकाला य, दुविहा अणसणा भवे।
इत्तरिया सावकंखा, निरवकखा य विइज्जिया॥
—उत्त. अ ३०, गा. ९

अनशन के प्रकार—

५४१. प०—अनशन क्या है—वह कितने प्रकार का है ?
उ०—अनशन दो प्रकार का है, यथा—
(१) इत्वरिक (मर्यादित समय के लिए आहार का त्याग)
(२) यावत्कथिक—(जीवन भर के लिए आहार का त्याग)

इत्वरिक और मरण पर्यन्त इस प्रकार अनशन दो प्रकार का होता है। इत्वरिक अनशन आहार की आकाक्षा सहित होता है और मरण काल का अनशन आहार की आकाक्षा रहित होता है।

इत्तरिय तवभेया—

५४२ प०—से किं त इत्तरिए ?

इत्वरिक तप के भेद—

५४२. प्र०—इत्वरिक तप क्या है ? वह कितने प्रकार का है ?

---

१ (क) सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरऽब्भंतरो तहा। वाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भतरो तवो॥ —उत्त अ. ३०, गा ७
(ख) उत्त अ २८, गा ३४
(ग) तेसि णं भगवन्ताणं एएण विहारेण विहरमाणाणं इमे एयारूवे अब्भतरवाहिरए तवोवहाणे होत्था। तंजहा—अब्भितरए छव्विहे, वाहिरए वि छव्विहे। —उव सु ३०

२ (क) ठाण अ. ६, सु ५११
(ख) सम सम ६, सु १७
भिक्खायरिया के स्थान पर 'वित्ति संखेवो'
(ग) उत्त अ. ३०, गा ८
(घ) उव. सु ३०

३ उव सु ३०

उ०—इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते, त जहा—
१. चउत्थभत्ते,
२. छट्ठभत्ते,
३. अट्ठमभत्ते,
४. दसमभत्ते,
५. दुवालसभत्ते,
६. चउद्दसभत्ते,
७. सोलसभत्ते,
८. अद्धमासिएभत्ते,
९. मासिएभत्ते,
१०. दोमासिएभत्ते,
११. तेमासिएभत्ते,
१२ चउमासिएभत्ते,
१३. पचमासिएभत्ते,
१४. छम्ममासिएभत्ते,
से तं इत्तरिए।[1] —उव सु. ३०

जो सो इत्तरिय तवो, सो समासेण छव्विहो।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य॥
तत्तो य वग्गवग्गो उ, पंचमो छट्ठओ पइण्णतवो।
मणइच्छिय चित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ॥[2]
—उत्त. अ. ३०, गा १०-११

उ०—इत्वरिक तप अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) चतुर्थ भक्त—उपवास,
(२) षष्ठभक्त—दो उपवास-वेला,
(३) अष्टभक्त—तीन उपवास-तेला,
(४) दशमभक्त—चार दिन के उपवास,
(५) द्वादशभक्त—पाँच दिन के उपवास,
(६) चतुर्दशभक्त—छह दिन के उपवास,
(७) षोडशभक्त—सात दिन के उपवास,
(८) अर्द्ध मासिकभक्त—पन्द्रह दिन के उपवास,
(९) मासिक भक्त—एक महीने के उपवास,
(१०) द्वैमासिक भक्त—दो महीने के उपवास,
(११) त्रैमासिक भक्त—तीन महीने के उपवास,
(१२) चातुर्मासिक भक्त—चार महीने के उपवास,
(१३) पंचमासिक भक्त—पांच महीने के उपवास,
(१४) षण्मासिक भक्त—छह महीने के उपवास।
यह इत्वरिक तप है।

जो इत्वरिक तप है वह सक्षेप मे छह प्रकार का है—
(१) श्रेणि-तप, (२) प्रतर-तप,
(३) घन-तप, (४) वर्ग-तप
(५) वर्ग-वर्ग-तप, (६) प्रकीर्ण-तप।
इस प्रकार अपनी इच्छानुसार किया जाने वाला अनेक प्रकार का यह इत्वरिक तप जानना चाहिये।

तवस्सी भिक्खुस्स कप्पणिज्ज पाणगाइं—

५४३. चउत्थभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए, तं जहा—
१. उस्सेइमे,
२. संसेइमे,
३. चाउलधोवणे।

छट्ठभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पति तओ पाणगाइ पडिगाहित्तए, तं जहा—
१. तिलोदए,
२. तुसोदए,
३. जवोदए।

तपस्वी भिक्षु के कल्पनीय पानी—

५४३ चतुर्थभक्त (एक उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी ग्रहण करना कल्पता है, यथा—
(१) उत्स्वेदिम—आटे का धोवन।
(२) संस्वेदिम—सिझाये हुए कैर आदि का धोया हुआ पानी।
(३) तन्दुलोदक—चावलों का धोवन।

षष्ठ भक्त (दो उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी ग्रहण करना कल्पता है—
(१) तिलोदक—तिलो का धोया हुआ जल।
(२) तुषोदक—तुष-भूसे का धोया हुआ जल।
(३) यवोदक—जौ का धोया हुआ जल।

---

१ वि. स. २५, उ ७, सु. १९९

२ भगवती सूत्र तथा उववाई सूत्र मे "इत्तरिय" तप के अनेक भेद है ऐसा कहा गया है पर किसी विशेष सख्या का उल्लेख नही है। यहाँ उत्तराध्ययन सूत्र मे "इत्तरिय" तप के भेदो की संख्या ६ बताकर आगे इस संकलन मे अनेक प्रकार के होते हैं यह भी कहा गया है। अत रत्नावली आदि तपो का उल्लेख इत्वरिक तप मे ही समझना चाहिए। इन रत्नावली, कनकावली आदि महातपो के लिए धर्मकथानुयोग—स्कन्ध ३, सूत्र २६८ से २७९ तक पृ. ११७-१२० देखें।

अट्ठमभत्तियस्स णं भिक्खुस्स कप्पति तओ पाणगाइ पडिगाहित्तए, तं जहा—
१ आयामए,
२ सोवीरए,
३. सुद्धवियडे। —ठाणं. अ. ३, सु. १८८

अष्टम भक्त (तीन उपवास) करने वाले भिक्षु को तीन प्रकार के पानी लेना कल्पता है—
(१) आयामक—उबाले हुए चावलो का माड आदि।
(२) सौवीरक—काजी छाछ के ऊपर का पानी।
(३) शुद्ध विकट—शुद्ध अचित्त शीतल जल।

आवकहिय अणसण—

५४४ जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियारा अवियारा, कायचेट्ठं पई भवे॥

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया।
निहारीमनीहारी, आहारच्छेओ य दोसु वि॥
—उत्त अ ३०, गा. १२-१३

आजीवन अनशन—

५४४. जो मरणकालिक अनशन है वह शारीरिक चेष्टा की अपेक्षा से दो प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) सविचार—शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया युक्त, (२) अविचार—शरीर की हलन-चलन आदि क्रिया रहित।

अथवा अन्य प्रकार से भी दो-दो भेद कहे गये हैं, यथा—
(१) सपरिकम—शरीर की परिचर्या युक्त,
(२) अपरिकर्म—शरीर की परिचर्या रहित।
अथवा—(१) निर्हारिम, (२) अनिर्हारिम।
इन सभी दो-दो भेदो मे आहार का त्याग निश्चित है।

सलेहणा करणकालं—

५४५ तओ बहूणि वासाणि, सामण्णमणुपालिया।
इमेण कमजोगेण, अप्पाणं संलिहे मुणी॥
बारसेव उ वासाइं, संलेहुक्कोसिया भवे।
सवच्छर मज्झिमिया, छम्मासा य जहन्निया॥
पढमे वासचउक्कम्मि, विगईनिज्जूहण करे।
बिइए वासचउक्कम्मि, विचित्तं तु तवं चरे॥

एगन्तरमायाम, कट्टु संवच्छरे दुवे।
तओ संवच्छरऽद्ध तु, नाऽइविगिट्ठं तवं चरे॥

तओ सवच्छरऽद्ध तु, विगिट्ठं तु तव चरे।
परिमिय चेव आयामं, तमि संवच्छरे करे॥
कोडी सहियमायाम, कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएण तु, आहारेण तव चरे॥
—उत्त अ ३६, गा २५०-२५५

संलेखना का काल क्रम—

५४५ मुनि अनेक वर्षों तक संयम का पालन कर इस क्रमिक तप से अपनी आत्मा की सलेखना करे।

सलेखना उत्कृष्ट बारह वर्ष, मध्यम एक वर्ष तथा जघन्य छह मास की होती है।

बारह वर्ष की सलेखना करने वाला मुनि पहले चार वर्ष मे विगयो का परित्याग करे। दूसरे चार वर्षों मे फुटकर विचित्र तप का आचरण करे।

फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप करे व पारणे के दिन आयविल करे। ग्यारहवें वर्ष के पहले छ. महीनो मे कठिन तप न करे।

ग्यारहवें वर्ष के पिछले छ महीनो मे कठिन तप करे। इस पूरे वर्ष मे पारणे के दिन आयविल करे।

बारहवें वर्ष मे मुनि कोटि सहित आयविल करे फिर पक्ष या मास का अनशन तप करे।

पंडिय मरण सरूवं—

५४६. अणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइ धीरा समासज्ज।
वसुमंतो मतिमंतो, सव्व णच्चा अणेलिस॥
—आ. सु १, अ. ८, उ. ८, गा १(१६)
तओ काले अभिपेए सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज-लोम हरिस, भेय देहस्स कखए॥

पडित मरण का स्वरूप—

५४६ मैं अनुक्रम से पण्डित मरण का स्वरूप कहूँगा। धैर्यवान्, बुद्धिमान सयमी भिक्षु उसे पूर्ण रूप से जानकर तथा स्वीकार कर अनुपम समाधि को प्राप्त करे।

जब मरण समय प्राप्त हो, उस समय जिस श्रद्धा से मुनि-धर्म को स्वीकार किया है, वैसी ही श्रद्धा से भिक्षु रोमाचकारी मृत्यु भय को दूर करके गुरु के समीप अनशन के द्वारा शरीर के त्याग की इच्छा करे।

अह कालंमि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
सकाम-मरणं मरइ, तिण्हमन्नयरं मुणी ॥
—उत्त. अ. ५, गा. ३१-३२

मुनि मरण-काल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्त प्रत्याख्यान, इगित मरण या पादोपगमन—इन तीनो में से किसी एक को स्वीकार कर सकाम-मरण से मरता है।

पंडिय मरणप्पगारा—

५४७ प०—से किं तं पडियमरणे ?

उ०—पडियमरणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—

१. पाओवगमणे य,

२. भत्तपच्चक्खाणे य।[1]

प०—से किं त पाओवगमणे ?

उ०—पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. नीहारिमे य,

२. अनीहारिमे य,

नियमा अप्पडिकम्मे से त्त पाओवगमणे।

प०—से किं त भत्तपच्चक्खाणे ?

उ०—भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—

१. नीहारिमे य, २. अनीहारिमे य,

नियमा सपडिकम्मे। से त्तं भत्तपच्चक्खाणे।[2]

—विया. स. २, उ. १, सु. २७-२६

प०—से किं तं पाओवगमणे ?

उ०—पाओवगमणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—

१. वाघाइमे य,

२ निव्वाघाइमे य।

नियमा अप्पडिकम्मे। से त्तं पाओवगमणे।

प०—से किं त भत्तपच्चक्खाणे ?

उ०—भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते, त जहा—

पण्डित मरण के प्रकार—

५४७ प्र०—पण्डित मरण क्या है ?

उ०—पण्डित मरण दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) पादोपगमन—वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह निश्चल रहना।

(२) भक्त-प्रत्याख्यान—यावज्जीवन तीन या चारो आहारो का त्याग करना।

प्र०—पादोपगमन (मरण) क्या है ?

उ०—पादोपगमन दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) निर्हारिम—ग्रामादि मे किया जाने वाला,

(२) अनिर्हारिम—जंगल गुफा आदि मे किया जाने वाला।

ये दोनो नियम से अप्रतिकर्म होते हैं। यह पादोपगमन का स्वरूप है।

प्र०—भक्तप्रत्याख्यान (मरण) क्या है ?

उ०—भक्तप्रत्याख्यान मरण दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) निर्हारिम, (२) अनिर्हारिम।

ये दोनो नियम से सप्रतिकर्म होते हैं। यह भक्तप्रत्याख्यान का स्वरूप है।

प्र०—पादोपगमन क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—पादोपगमन दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) व्याघातिम—(उपद्रव के कारण किया जाने वाला)

(२) निर्व्याघातिम—(विना उपद्रव के किया जाने वाला)

ये दोनो नियम से अप्रतिकर्म होते हैं। यह पादोपगमन है।

प्र०—भक्त प्रत्याख्यान क्या है ? उसके कितने भेद हैं ?

उ०—भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है, यथा—

---

१ पण्डित मरण के ये दो प्रकार यावत्कथिक तप के ही दो भेद हैं। जिनका कथन भगवती सूत्र स. २५, उ ७ तथा उववाई सूत्र मे इस प्रकार है—

(क) प०—से किं तं आवकहिए ?
उ०—आवकहिए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—
(१) पाओवगमणे य, (२) भत्तपच्चक्खाणे य। —विया. स. २५, उ. ७, सु. २००

(ख) उव सु. ३०

२ (क) विया. स. १३, उ. ७, सु. ४२-४४ (ख) विया. स. २५, उ ७, सु. २०१-२०२

(ग) ठाण. अ. २, उ. ४, सु. ११३

१ वाघाइमे य, २ निव्वाघाइमे य ।
नियमा सपडिकम्मे । से त्त भत्तपच्चक्खाणे ।
—उव सु ३०

(१) व्याघातिम (२) निर्व्याघातिम ।
ये दोनो नियम से सप्रतिकर्म होते हैं। यह भक्त प्रत्याख्यान है।

भत्त-पच्चक्खाण-अणसणे—

५४८ दुविहं पि विदित्ता ण, बुद्धा धम्मस्स पारगा ।
अणुपुव्वीए संखाए, कम्मुणा य तिउट्टति ॥

कसाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारो तितिक्खए ।
अह भिक्खू गिलाएज्जा, अहारस्सेव अंतियं ॥

जीविय णाभिकंखेज्जा, मरणं णो वि पत्थए ।
दुहतो वि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तहा ॥

मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए ।
अंतो बहिं वियासेज्ज, अज्झत्थ सुद्धमेसए ॥

जं किंचुवक्कम जाणे, आउखेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अतरद्धाए खिप्पं, सिक्खेज्ज पंडिते ॥

गामे अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया ।
अप्पपाण तु विण्णाय, तणाइं संथरे मुणी ॥
अणाहारो तुवट्टेज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए ।
णातिवेल उवचरे, माणुस्सेहिं वि पुट्ठवं ॥

संसप्पगा य जे पाणा, जे य उड्ढमहेचरा ।
भुंजते मससोणियं, ण छणे ण पमज्जए ॥

पाणा देहं विहिंसंति, ठाणातो ण वि उब्भमे ।
आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणोऽहियासए ॥

गथेहिं विवित्तेहिं, आयुकालस्स पारए ।
पग्गहियतरगं चेतं, दवियस्स वियाणतो ॥
—आ सु. १, अ. ८, उ ८, गा २-११ (१७-२७)

भक्त-प्रत्याख्यान अनशन—

५४८. वे धर्म के पारगामी तत्वज्ञ मुनि आभ्यतर और बाह्य दोनो प्रकार की सलेखना जानकर अनुक्रम से विचार कर आराधन करके कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।

सलेखना का इच्छुक भिक्षु कषायो को कृश करके, अल्पाहारी बनकर समय व्यतीत करे। ऐसा करते हुए यदि ग्लानि को प्राप्त हो तो आहार का त्याग कर तप स्वीकार करे।

भिक्षु न तो जीने की अकाक्षा करे और न मरने की अभिलाषा करे। जीवन और मरण दोनो मे से किसी मे भी आसक्त न हो।

निर्जरा का इच्छुक मुनि—जीवन और मरण मे माध्यस्थ भाव रखकर समाधि भाव मे रहे। कषाय और आहारादि का त्याग करता हुआ शुद्ध आत्मचिंतन मे लीन रहे।

यदि अपनी आयु के क्षेम मे जरा सा भी उपक्रम जान पड़े तो पण्डित मुनि उस सलेखना काल के मध्य मे ही शीघ्र पंडित मरण को स्वीकार कर ले।

ग्राम मे अथवा वन मे अनशन योग्य भूमि का प्रतिलेखन करे, जीव जन्तु रहित स्थान जानकर मुनि वहाँ घास बिछा ले।

फिर आहार का त्याग कर सस्तारक पर शयन करे। परीषहो और उपसर्गों से आक्रान्त होने पर सहन करे। मनुष्य आदि के उपसर्गों से भी अपनी मर्यादा का उल्लघन न करे।

जो रेंगने वाले प्राणी हैं, जो ऊपर आकाश मे उडने वाले हैं या जो नीचे बिलो मे रहते हैं, वे कदाचित अनशनधारी मुनि के शरीर का मास नोंचे और रक्त पीएँ तो मुनि न तो उन्हे मारे और न ही रजोहरणादि से प्रमार्जन करे।

'ये प्राणी मेरे शरीर का ही नाश कर रहे हैं, ज्ञानादि आत्मगुणो का नही', ऐसा विचार कर उन्हे न हटाए और न ही स्थान से उठकर अन्यत्र जाए। आस्रवो से रहित अध्यवसायो के द्वारा वेदना को अमृत के समान समझकर सहन करे।

विद्वान मुनि विभिन्न कष्टो को मृत्यु पर्यन्त सहन करे और इस पण्डित मरण को मोक्ष का उत्तम साधन समझकर आराधन करे।

भत्त पच्चक्खायगस्स अणगारस्स परभवे आहारो—

५४९ प०—भत्तपच्चक्खायए णं भंते ! अणगारे मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे आहारमाहारेइ अहे ण वीससाए काल करेइ, तओ पच्छा अमुच्छिए-जाव-अणज्झोववण्णे आहारमाहारेइ ?

भक्त प्रत्याख्यात अणगार का परभव मे आहार—

५४९ प्र०—भन्ते ! भक्तप्रत्याख्यान अनशन करने वाला अणगार यदि उस अवस्था मे काल कर जाये तो वह पहले मूच्छित, गृद्ध, ग्रथित और अत्यन्त आसक्त होकर आहार करता है और इसके बाद अमूच्छित—यावत्—अनासक्त होकर आहार करता है ?

उ०—हंता गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे-जाव-अणज्झोववण्णे आहारमाहारेइ।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ "भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे-जाव-अणज्झोववण्णे आहारमाहारेइ ?"

उ०—गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारस्स मुच्छिए-जाव-अज्झोववण्णे आहारे भवइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ, तओ पच्छा अमुच्छिए-जाव-अज्झोववण्णे आहारे भवइ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे-जाव-अणज्झोववण्णे आहारमाहारेइ।

—वि. स. १४, उ. ७, सु. ११

उ०—हाँ गौतम ! भक्त प्रत्याख्यान अनशन करने वाला अणगार—यावत्—अनासक्त होकर आहार करता है।

प्र०—भन्ते ! ऐसा क्यों कहा गया है कि—'भक्तप्रत्याख्यान अनशन करने वाला अणगार—यावत्—अनासक्त होकर आहार करता है ?''

उ०—गौतम ! भक्तप्रत्याख्यान अनशन करने वाला अणगार यदि उस अवस्था में काल करे तो उसके स्वाभाविक ही प्रथम मूर्च्छित—यावत्—अत्यन्त आसक्त भाव से आहार होता है और बाद में अमूर्च्छित—यावत्—अनासक्त भाव से आहार होता है।

इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि—भक्तप्रत्याख्यान अनशन करने वाला अणगार—यावत्—अनासक्त होकर आहार करता है।

इगिणीमरण अणसणस्स गहण विहि—

५५० अयं से अवरे धम्मे, णायपुत्तेण साहिते।
आयवज्जं पडियारं, विजहेज्जा तिधा तिधा॥

हरिएसु ण णिवज्जेज्जा, थंडिलं मुणिआ सए।
विउसेज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थ अहियासए॥

इन्दिएहिं गिलायंतो, समियं साहरे मुणी।
तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए॥

अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए।
कायसाहारणट्ठाए, एत्थ वा वि अचेयणे॥

परिक्कमे परिकिलंते, अदुवा चिट्ठे अहायते।
ठाणेण परिकिलंते, णिसीएज्ज य अंतसो॥

आसीणेऽणेलिसं मरणं, इन्दियाणि समीरते।
कोलावासं समासज्ज, वितहं पादुरेसए॥

जतो वज्जं समुप्पज्जे, ण तत्थ अवलंबए।
ततो उक्कसे अप्पाणं, सव्वे फासे अहियासए॥

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ८, गा. २७-३३

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—

"से गिलामि च खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए" से अणुपुव्वेण आहारं संवट्टेज्जा,

इगिनिमरण अनशन ग्रहण विधि—

५५० ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने यह दूसरा इगितमरण अनशन रूप धर्म का प्रतिपादन किया है। इस अनशन में भिक्षु मन, वचन और काया से दूसरे का सहारा न ले, न लिवावे, न लेने वाले का अनुमोदन करे।

मुनि हरियाली पर शयन न करे, निर्दोष स्थण्डिल को देख कर वहाँ सोए। आहार और शरीर आदि के ममत्व का त्याग कर परीषहों तथा उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे।

मुनि इन्द्रियों से ग्लान होने पर समित होकर हाथ-पैर आदि सिकोड़े। यदि समाधि अचल रहती हो तो शरीर से चेष्टा करता हुआ वह धर्म का अतिक्रमण नहीं करता है।

भिक्षु शारीरिक समाधि के लिए तथा शरीर सधारणार्थ गमन और आगमन करे, हाथ-पैर आदि को सिकोड़े और पसारे। यदि शरीर में शक्ति हो तो अचेतन की तरह निश्चेष्ट रहे।

यदि घूमते हुए थक जाय तो कभी सीधा खड़ा रहे। यदि खड़ा रहने में कष्ट होता हो तो अंत में बैठ जाए।

इस अद्वितीय मरण की साधना में लीन मुनि अपनी इन्द्रियों को सम्यक् रूप से प्रवृत्त करे। दीमक वाले काष्ठ पट्ट के प्राप्त होने पर उससे भिन्न जीव रहित पाट का अन्वेषण करे।

किन्तु जिससे पाप कर्म उत्पन्न हो, ऐसे दीमक आदि से युक्त पाट आदि का सहारा न ले। उससे अपने आपको दूर हटा ले और उपस्थित सभी दुःखदायी स्पर्शों को सहन करे।

जिस भिक्षु के मन में ऐसा संकल्प होता है कि—

"मैं इस समय इस शरीर को वहन करने में क्रमशः असमर्थ होता जा रहा हूँ", तो वह क्रमशः आहार का संक्षेप करे।

अणुपुव्वेण आहार संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा, समाहियच्चे, फलगावयट्ठी, उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुडच्चे ।

क्रमशः आहार को संक्षेप करते हुए कषायो को कृश कर आत्मा को समाधि मे स्थापित करे । फलकवत् सहनशील बनकर पण्डित मरण के लिये उद्यत होकर शरीर के संताप से रहित बने ।

अणुपविसित्ता गाम वा-जाव-रायहाणिं वा तणाइ जाएज्जा, तणाइ जाइत्ता सेत्तमायाए एगतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे-जाव-मक्कडा-सताणए पडिलेहिय-पडिलेहिय पमज्जिय-पमज्जिय तणाइं सथरेज्जा, तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए 'इत्तरियं' कुज्जा ।

अनशन का इच्छुक भिक्षु ग्राम—यावत्—राजधानी मे प्रवेश करके घास की याचना करे, घास की याचना करके उसे लेकर एकान्त मे चला जाए, एकान्त स्थान मे जाकर अण्डे—यावत्—मकडी के जाले रहित स्थान का भली भाँति प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके घास को बिछावे, घास बिछाकर वहाँ उचित अवसर देखकर इत्वरिक अनशन स्वीकार करे ।

त सच्चं, सच्चवादी ओए तिण्णे छिण्णकहकहे आतीतट्ठे अणातीते,

वह अनशन सत्य है । वह अनशन स्वीकार करने वाला सत्यवादी है । राग द्वेष रहित है, संसार-सागर को पार करने वाला है । सशयो से मुक्त है । सर्वथा कृतार्थ है, परिस्थितियो से अप्रभावित रहता है ।

चेच्चाण भिउरं काय संविहूणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिविसमणयाए भेरवमणुचिन्ने,

वह शरीर को क्षणभगुर जानकर विविध परीषहो और उपसर्गों को सहन कर जिनवचन मे श्रद्धा रखता हुआ अति कठिन इंगितमरण अनशन का अनुपालन करता है ।

तत्थावि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ वियंतिकारए,

इस अनशन की आराधना से वह मृत्यु को प्राप्त करता है और उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया करने वाला होता है ।

इच्चेत विमोहायतण-हियं, सुह, खमं, णिस्सेयस, आणुगामिय ।
—आ सु १, अ ८, उ ६, सु २२४

यह मोह से मुक्त कराने वाला अनशन भिक्षु को हितकर, सुखकर, कर्मक्षय करने मे समर्थ, कल्याणकारी और भवान्तर मे (फलदायी) साथ चलने वाला होता है ।

पाओवगमण अणसण गहण विही—

पादपोपगमन अनशन ग्रहण विधि—

५५१ जस्स ण भिक्खुस्स एव भवति,

"से गिलामि च खलु अह इमम्मि समए इम सरीरगं अणुपुव्वेण परिवहित्तए" से अणुपुव्वेण आहार सवट्टेज्जा,

अणुपुव्वेण आहारं सवट्टेत्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे, फलगावयट्ठी, उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे,

अणुपविसित्ता गाम वा-जाव-रायहाणिं वा तणाइं जाएज्जा -जाव तणाइं सथरेत्ता एत्थ वि समए काय च जोगं च इरियं च पच्चक्खाएज्जा ।

त सच्च-जाव-इच्चेत विमोहायतण हियं, सुह, खम, णिस्सेयसं, आणुगामिय ।
—आ. सु १, अ ८, उ. ७, सु २२८

५५१ जिस भिक्षु के मन मे यह सकल्प होता है कि—

'मैं इस समय इस शरीर को क्रमश वहन करने मे असमर्थ हो रहा हू", तो वह भिक्षु क्रमश आहार का संक्षेप करे ।

आहार को क्रमश घटाता हुआ कषायो को स्वल्प कर आत्मा को समाधि मे स्थापित करे, फलकवत् सहनशील बनकर पण्डित मरण मे लिए उद्यत होकर शरीर के सन्ताप से रहित बने ।

अनशन का इच्छुक भिक्षु ग्राम—यावत्—राजधानी मे प्रवेश करके घास की याचना करे—यावत्—घास का बिछौना बिछाकर उसी समय शरीर, शरीर की प्रवृत्ति और गमनागमन आदि का प्रत्याख्यान करे ।

यह अनशन सत्य है—यावत्—यह मोह से मुक्त कराने वाला है । यह भिक्षु को हितकर, सुखकर, कर्मक्षय करने मे समर्थ, कल्याणकारी और भवान्तर मे (फलदायी) साथ चलने वाला होता है ।

पाओवगमण अणसणे—

५५२. अय चाततरे सिया, जे एव अणुपालए।
सव्व-गाय-णिरोधे वि, ठाणातो ण वि उब्भमे ॥

अय से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे।
अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठ माहणे ॥

अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं।
वोसिरे सव्वसो कायं, ण मे देहे परीसहा ॥

जावज्जीवं परीसहा, उवस्सग्गा य संखाय।
संवुडे देह भेदाए, इति पण्णेऽहियासए ॥

भेउरेसु णं रज्जेज्जा, कामेसु वहुतरेसु वि।
इच्छालोभं ण सेवेज्जा, धुववण्णं सपेहिया ॥

सासएहिं णिमंतेज्जा, दिव्वमाय ण सद्दहे।
तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं नूमं विधूणिया ॥

सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आयुकालस्स पारए।
तितिक्ख परमं णच्चा, विमोहण्णतरं हित ॥

—आ. सु. १, अ. ८, उ. ८, गा ३४-४०

पादोपगमन अनशन—

५५२. यह पादपोपगमन अनशन भक्त प्रत्याख्यान से और इगित-मरण से भी विशिष्टतर है। जिसका इस प्रकार पालन किया जाता है, वह सारा शरीर कुचल दिये जाने पर भी अपने स्थान से चलित नही होता है।

यह पादोपगमन अनशन उत्तम धर्म है। यह पूर्व अनशनो से प्रकृष्टतर है। भिक्षु जीव जन्तु रहित स्थण्डिल (स्थान) का सम्यक् निरीक्षण करके वहाँ अचेतनवत् स्थिर होकर रहे।

अचित्त स्थान को प्राप्त करके वहाँ अपने आपको स्थापित कर दे। शरीर का सब प्रकार से व्युत्सर्ग कर दे। परीषह उपस्थित होने पर ऐसी भावना करे 'यह शरीर ही मेरा नही है, तब परीषह जनित दुःख मुझे कैसे होगे ?'

जब तक जीवन है तब तक ये परीषह और उपसर्ग होते है, यह विचार कर शरीर को विसर्जित करने वाला तथा शरीरभेद के लिए समुद्यत प्राज्ञ भिक्षु उन्हे समभाव से सहन करे।

भिक्षु क्षणभगुर विविध प्रकार के काम-भोगो मे आशक्त न होवे तथा संयम के स्वरूप का सम्यक् विचार करके इच्छा रूप लोभ का भी सेवन न करे।

कोई दिव्यभोगो के लिए निमन्त्रित करे तब भिक्षु उस देव माया पर श्रद्धा न करे, उस माया को सर्व प्रकार से कर्म बन्ध का कारण जानकर उससे दूर रहे।

सभी प्रकार के विषयो मे अनासक्त और मृत्युकाल के पार तक पहुँचाने वाला मुनि तितिक्षा को सर्वश्रेष्ठ जानकर हितकर अनशनो मे से किसी एक का आराधन करे।

अणसण गहणस्स दिसाओ—

५५३ दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पति णिग्गथाण वा णिग्गथीण वा अपच्छिममारणंतियसलेहणा झूसणा झूसियाणं, भत्तपाणपडियाइक्खित्ताण पाओवगताणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए, त जहा—
१. पाईणं चेव, २. उदीणं चेव।

—ठाणं. अ २, उ १, सु ६६(ख)

अनशन ग्रहण करने की दिशाएँ—

५५३. जो निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ अपश्चिम मारणान्तिक-संलेखना की आराधना से युक्त हैं, जो भक्त-पान का प्रत्याख्यान कर चुके हैं जो पादोपगमन अनशन से युक्त है, जो मरणकाल की आकाक्षा नही करते हुए विचर रहे हैं, उन्हे दो दिशाओ की ओर मुँह कर रहना चाहिये। यथा—(१) पूर्व और (२) उत्तर।

अणसण फलं—

५५४. निज्जूहिऊण आहार, कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुसं वोदि, पहू दुक्खे विमुच्चई ॥

—उत्त. अ. ३५, गा. २०

अनशन का फल—

५५४. समर्थ मुनि कालधर्म के उपस्थित होने पर आहार का परित्याग करके मनुष्य शरीर को छोड़कर दुःखो से विमुक्त हो जाता है।



अवमोदरिका—३

ओमोयरियाए भेया—

५५५ प०—से किं त ओमोयरिया ?

उ०—ओमोयरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

१ दव्वोमोयरिया य,

२. भावोमोयरिया य1—वि. स. २५, उ. ७, सु. २०३

ओमोयरिय पंचहा, समासेण वियाहिय ।
दव्वओ खेत्त-कालेणं भावेण पज्जवेहि य ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. १४

अवमोदरिका के भेद—

५५५. प्र०—अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं, यथा—

(१) द्रव्य-अवमोदरिका—भूख से कम खाना।

(२) भाव अवमोदरिका—कषाय कलह आदि कम करना।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्याय के भेद से उनोदरी तप सक्षेप मे पाँच प्रकार का है।

दव्वोमोयरिया सरूव—

५५६ जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओम तु जो करे ।
जहन्नेणेग - सित्थाई, एव दव्वेण उ भवे ॥

—उत्त. अ. ३०, गा. १५

द्रव्य अवमोदरिका का स्वरूप—

५५६ जिसका जितना आहार है, उससे कम खाता है अर्थात जघन्य एक कवल भी कम खाता है, वह द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है।

दव्वोमोयरियाए भेयप्पभेया—

५५७. प०—से किं तं दव्वोमोयरिया ?

उ०—दव्वोमोयरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—

१ उवगरण-दव्वोमोयरिया य,

२. भत्तपाण-दव्वोमोयरिया य,[2]

प०—से किं तं उवगरण-दव्वोमोयरिया ?

उ०—उवगरण-दव्वोमोयरिया तिविहा पण्णत्ता, त जहा—

१ एगे वत्थे,   २. एगे पाए,

३. चियत्तोवकरण-साइज्जणया,[3]

से त्त उवगरण-दव्वोमोयरिया ।

प०—से किं त भत्तपाण-दव्वोमोयरिया ?

उ०—भत्तपाण-दव्वोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता, त जहा—

द्रव्य अवमोदरिका के भेद-प्रभेद—

५५७ प्र०—द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—द्रव्य-अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये है, यथा—

(१) उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका—वस्त्र आदि उपयोगी सामग्री का कम उपयोग करना।

(२) भक्त-पान अवमोदरिका—खाद्य, पेय पदार्थो का कम मात्रा मे उपयोग करना।

प्र०—उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका क्या हैं—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—उपकरण-द्रव्य अवमोदरिका के तीन भेद बतलाये गये हैं, यथा—

(१) एक वस्त्र रखना,   (२) एक पात्र रखना,

(३) त्यक्त (परिभुक्त) उपकरण ग्रहण करना।

यह उपकरण द्रव्य अवमोदरिका है।

प्र०—भक्तपान-द्रव्य अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—भक्तपान-द्रव्य अवमोदरिका के अनेक भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार है—

---

१ उव सु ३०

२ भगवती सूत्र और औपपातिक सूत्र मे ये भेद समान हैं किन्तु ठाणाग सूत्र के तीसरे ठाणे मे ऊणोदरी तप के तीन भेद इस प्रकार किये हैं—

तिविधा ओमोयरिया पण्णत्ता, त जहा—

(१) उवगरणोमोयरिय (२) भत्तपाणोमोयरिया, (३) भावोमोयरिया। —ठाण. अ. ३, उ. ३, सु १८८ (क)

३ ठाण. अ. ३, उ. ३, सु. १८८ (ग)

१ अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहार आहारेमाणे अप्पाहारे ।

२ दुवालस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहार आहारेमाणे अवड्ढ मोयरिया ।

३. सोलस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे दुभागपत्तोमोयरिया ।

४. चउवीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे तिभागपत्ते, असिया ओमोयरिया ।

५. एक्कतीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहार आहारेमाणे किंचूणोमोयरिया ।

६. वत्तीस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहार आहारेमाणे पमाणपत्ते ।

७. एत्तो एगेण वि घासेणं ऊणयं आहारमाहारेमाणे समणे णिग्गंथे णो पकामभोइत्ति वत्तव्व सिया ।
से त्तं भत्तपाण-दव्वोमोयरिया, से त्तं दव्वोमोयरिया ।[1]

वि. स. २५, उ ७, सु. २०४-२०६

(१) अपने मुख प्रमाण आठ कवल आहार करने से अल्पाहार कहा जाता है ।

(२) अपने मुख प्रमाण वारह कवल आहार करने से कुछ कम अर्ध ऊनोदरिका कही जाती है ।

(३) अपने मुख प्रमाण सोलह कवल आहार करने से द्विभाग प्राप्त अर्ध ऊणोदरी कही जाती है ।

(४) अपने मुख प्रमाण चौवीस कवल आहार करने से त्रिभाग प्राप्त आहार और एक भाग ऊनोदरिका कही जाती है ।

(५) अपने मुख प्रमाण एकतीस कवल आहार करने से किंचित् ऊणोदरिका कही जाती है ।

(६) अपने मुख प्रमाण वत्तीस कवल आहार करने से प्रमाण प्राप्त आहार कहा जाता है ।

(७) इससे एक ग्रास भी कम आहार करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ प्रकामभोजी नही कहा जा सकता है ।

यह भक्तपान द्रव्य अवमोदरिका है । यह द्रव्य अवमोदरिका है ।

खेत्त ओमोयरिया—

५५८. गामे नगरे तह रायहाणि, निगमे य आगरे पल्ली ।
खेडे कव्वड - दोणमुह, पट्टण - मडम्ब संवाहे ॥

आसमपए विहारे, सन्निवेसे समाय-घोसे य ।
थलि सेणा खधारे, सत्थे संवट्ट-कोट्टे य ॥

वाडेसु व रच्छासु व, घरेसु वा एवमित्तियं खेत्त ।
कप्पइ उ एवमाई, एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥

पेडा य अद्धपेडा, गोमुत्ति-पयंगवीहिया चेव ।
सम्बुक्कावट्टाययगतु, पच्चागया छट्ठा ॥[2]

—उत्त. अ. ३०, गा. १६-१९

क्षेत्र अवमोदरिका—

५५८. ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेडा, कर्वट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, संवाध,

आश्रम-पद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, सवर्त, कोट,

पाडा, गलियाँ अथवा घर आदि में "मुझे अमुक निर्धारित क्षेत्र मे भिक्षा के लिए जाना कल्पता है ।" ऐसी प्रतिज्ञा करने पर क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है ।

(प्रकारान्तर से)—(१) पेटा, (२) अर्द्ध पेटा, (३) गोमूत्रिका, (४) पतग-वीथिका, (५) शम्बूकावर्ता और (६) जाते या पुन आते ।

इन छह प्रकार की प्रतिज्ञा से आहार ग्रहण करना भी क्षेत्र से अवमौदर्य तप है ।

काल ओमोयरिया—

५५९. दिवसस्स पोरिसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एव चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वो ॥

काल-अवमोदरिका—

५५९ दिवस के चार प्रहरो मे जितना अभिग्रह-काल किया है, उसमे ही भिक्षा के लिए विचरण करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है ।

---

१ (क) वि. स ७, उ. १, सु. १९ (ख) उव सु. ३० (ग) वव उ. ८, सु. १७

२ (क) ठाणं. अ. ६, सु ५१४ (ख) दसा. द. ७, सु. ६

अहवा तइयाए पोरिसीए, ऊणाइ घासमेसतो ।
चउभागूणाए वा, एव कालेण ऊ भवे ॥
—उत्त. अ ३०, गा. २०-२१

अथवा तीसरे प्रहर मे ही चतुर्थ भाग आदि न्यून करके शेष काल मे जो भिक्षा की एषणा करता है, ऐसा करने पर भी काल से अवमौदर्य तप होता है ।

भाव ओमोयरिया—

५६०. इत्थी वा पुरिसो वा, अलकिओवाऽणलकिओ वा वि ।
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेण व वत्थेणं ॥
अन्नेण विसेसेणं, वण्णेण भावमणुमुयन्ते उ ।
एव चरमाणो खलु, भावोमाण मुणेयव्वो ॥[1]
—उत्त अ. ३०, गा २२-२३

प०—से किं तं भावोमोयरिया ?

उ०—भावोमोयरिया अणेगविहा पण्णत्ता, त जहा—

अप्पकोहे, अप्पमाणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पतुमतुमे । से त्त भावोमोयरिया ।
से त्त ओमोयरिया ।—वि. स २५, उ. ७, सु. २०७

भाव-अवमोदरिका—

५६० स्त्री या पुरुष, अलकृत या अनलंकृत, अमुक वय वाले या अमुक वस्त्र वाले, अमुक वर्ण वाले या अमुक भाव वाले, इत्यादि किसी भी विशेषता से युक्त हो ऐसे दाता से भिक्षा ग्रहण करूंगा अन्यथा नही—इस प्रकार की प्रतिज्ञा से चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है ।

प्र० —भाव-अवमोदरिका क्या है ?

उ०—भाव-अवमोदरिका अनेक प्रकार की बतलाई गई है, यथा—

क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति कम करना, क्रोध आदि के आवेश से होने वाली शब्द प्रवृत्ति को, कलहोत्पादक वचन को तथा तुमन्तुम की प्रवृत्ति को कम करना । यह भाव अवमोदरिका का स्वरूप है, यह अवमोदरिका है ।

पज्जव ओमोयरिया—

५६१. दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य, आहिया उ जे भावा ।
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥
—उत्त अ. ३०, गा. २४

पर्यव अवमोदरिका—

५६१. द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऊणोदरी मे जो भाव कहे गए हैं, जो भिक्षु एक साथ इन चारो प्रकार की ऊणोदरी से चर्या करता है उसके पर्यव अवमौदर्य तप होता है ।



भिक्षाचर्या–४

भिक्खायरियासरूव—

५६२. [2]अट्ठविहगोयरग्गं तु, तहा सत्तेव एसणा ।
अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥
—उत्त अ ३०, गा. २५

भिक्षाचर्या का स्वरूप—

५६२. आठ प्रकार की भिक्षाचरी, सात प्रकार की पिंडेषणा तथा और भी जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षाचर्या तप कहा जाता है ।

---

१ (क) उव सू. ३०
(ख) विवाहपण्णत्ती एव उववाई सूत्र मे "ऊणोदरी" तप के दो भेद हैं और उत्तराध्ययन मे "ऊणोदरी" तप के सक्षेप मे ५ भेद हैं, यद्यपि ५ की अपेक्षा दो सख्या अल्प है फिर भी विवाहपण्णत्ती एव उववाई सूत्र के दो भेदो मे आहार, उपकरण और कषाय आदि से सभी प्रकार की ऊणोदरी का कथन है और उत्तराध्ययन मे केवल आहार की अपेक्षा ही पाँचों भेदो का विवेचन किया गया है । उपकरण और कषाय ऊणोदरी का कथन नही किया है ।

२ उत्त अ ३० गा १९ मे क्षेत्र अवमोदरिका मे गोचरी के ६ प्रकार कहे हैं । दशा द. ७, सु ६ मे प्रतिमाधारी भिक्षु के ६ प्रकार की गोचरी कही है । उसे ही यहां एक अपेक्षा मे आठ प्रकार की भिक्षाचरी कहा है । सम्बावर्त के आभ्यतर व बाह्य दो भेद करने से तथा गतप्रत्यागता के 'जाते समय' और 'आते समय' यों दो भेद करने से ये गोचरी के आठ प्रकार होते हैं ।

भिक्खायरिया पगारा—

५६३. प०—से किं त भिक्खायरिया[1] ?

उ०—भिक्खायरिया अणेगविहा पण्णत्ता, त जहा—

१. दव्वाभिग्गहचरए।
२ खेत्ताभिग्गहचरए।
३ कालाभिग्गहचरए।
४. भावाभिग्गहचरए।
५. उक्खित्तचरए।
६. निक्खित्तचरए।
७. उक्खित्त-निक्खित्तचरए।
८. निक्खित्त-उक्खित्तचरए।
९. वट्टिज्जमाणचरए।
१०. साहरिज्जमाणचरए।
११. उवणीयचरए।
१२. अवणीयचरए।
१३. उवणीय-अवणीयचरए।
१४. अवणीय-उवणीयचरए।
१५. ससट्ठचरए।
१६. असंसट्ठचरए।[2]

भिक्षाचर्या के प्रकार—

५६३. प्र०—भिक्षाचर्या कितने प्रकार की है ?

उ०—भिक्षाचर्या अनेक प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) द्रव्यो की मर्यादा का अभिग्रह करके आहार लेना।

(२) ग्रामादि क्षेत्रो मे से किसी एक क्षेत्र का अभिग्रह करके आहार लेना।

(३) दिन के अमुक भाग मे आहार लेने का अभिग्रह करना।

(४) अमुक वय या वर्ण वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(५) किसी वर्तन मे भोजन निकालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(६) किसी वर्तन मे भोजन डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(७) किसी एक वर्तन मे भोजन लेकर दूसरे वर्तन मे डालने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(८) किसी एक वर्तन मे निकाले हुए भोजन को दूसरे वर्तन मे लेने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(९) किसी के लिए थाली मे परोसा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।

(१०) थाली में ठारे हुए भोजन को अन्य वर्तन मे लेने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(११) आहार की प्रशसा करके देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(१२) आहार की निन्दा करके देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(१३) जो आहार की पहले प्रशंसा करके बाद मे निन्दा करे उससे आहार लेने का अभिग्रह करना।

(१४) जो आहार की पहले निन्दा करके बाद मे प्रशसा करे उससे आहार लेने का अभिग्रह करना।

(१५) लिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना।

(१६) अलिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का अभिग्रह करना।

---

१ "भिक्षाचर्या" यद्यपि छ प्रकार के वाह्यतपो मे से एक प्रकार का तप है और वह निर्जरा का हेतु है तथापि अभिग्रह युक्त भिक्षाचर्या ही तप रूप है अत. उसका वर्णन तपाचार मे लिया गया है और सामान्य भिक्षाचर्या एपणा समिति का विषय है इसलिए उसका सम्पूर्ण वर्णन "एपणा समिति" मे दिया है।

२ असंसृष्ट चरक—अलिप्त हाथ, पात्र या चम्मच से आहार लेने का निपेध आ. श्रु २, अ १, उ. ६, सु. ३६० मे तथा दशवैकालिक अ. ५, उ. १, गा. ३२ मे है क्योकि लिप्त हाथ आदि को धोने से पश्चात् कर्म दोष लगता है।

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

१७. तज्जायसंसट्ठचरए।	(१७) देय पदार्थ से लिप्त हाथ, पात्र या चम्मच द्वारा दिये जाने वाले आहार को लेने का अभिग्रह करना।
१८. अण्णायचरए।	(१८) अज्ञात स्थान (जहाँ भिक्षु की प्रतीक्षा न करते हो) से आहार लेने का अभिग्रह करना।
१९. मोणचरए।	(१९) मौन रखकर आहार लेने का का अभिग्रह करना।
२० दिट्ठलाभिए।[1]	(२०) दिखता हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।
२१. अदिट्ठलाभिए।[2]	(२१) नही दिखता हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।
२२. पुट्ठलाभिए,	(२२) "तुम्हे क्या चाहिए" इस प्रकार पूछकर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।
२३. अपुट्ठलाभिए,	(२३) विना पूछे देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।
२४. भिक्खलाभिए,[3]	(२४) "मुझे भिक्षा दो" ऐसा कहने पर देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।
२५. अभिक्खलाभिए,[4]	(२५) "भिक्षा दो" आदि कुछ भी कहे विना ही स्वत देने वाले से आहार लेने का अभिग्रह करना।
२६. अण्णगिलायए,[5]	(२६) आज का बना हुआ नही लेने का अभिग्रह करना।
२७. ओवणिहिए,	(२७) दाता के समीप मे पड़ा हुआ आहार लेने का अभिग्रह करना।
२८. परिमिय-पिंडवाइए,	(२८) परिमित द्रव्यों के लेने का अभिग्रह करना।

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

यदि कही पश्चात कर्म दोष न लगने जैसा ज्ञात हो तो ही इस अभिग्रह वाले आहार ले सकते हैं। सभी व्याख्याकारो ने यही स्पष्टीकरण किया है।

आचा. श्रु २, अ १, उ. ११ मे पिंडैषणा मे भी पहली पडिमा (प्रतिज्ञा) है—"असंसृष्ट हाथ, पात्र या चम्मच से ही आहार लेना।" भुने हुए चने, चावल, जो, ज्वार, मक्की आदि खाद्य पदार्थ अलिप्त आहार है। ऐसे अलेप आहार लेने पर पश्चात कर्म दोष लगने की सम्भावना नही रहती है। भिक्षादाता यदि विवेक से लेप वाले पदार्थ दे तो लेप वाले पदार्थ लेने मे भी पश्चात कर्म दोष नही लगता।

इस 'असंसृष्टचरक' अभिग्रह मे ऐसे ही विवेकपूर्वक आहार लिया जाता है।

१ दिट्ठलाभिए—गृहस्थ के घर मे जितने खाद्य पदार्थ सामने दीख रहे हो उनमे से ही अपनी आवश्यकतानुसार आहार लेना "दिट्ठलाभिए" अभिग्रह है।

२ अदिट्ठलाभिए—गृहस्थ के घर मे जो खाद्य पदार्थ सामने न दीखें ऐसे पड़े हो उनमे से ही आहार लेना "अदिट्ठलाभिए" अभिग्रह है।

३ भिक्खलाभिए—दाता अपनी ओर से भिक्षा न दे ऐसी स्थिति मे श्रमण स्वयं गृहस्थ से कहे—प्रासुक एषणीय शुद्ध आहार हो तो मुझे दो—ऐसा कहने पर जो आहार दाता से मिले—वही ले, यह "भिक्खलाभिए" अभिग्रह है।

४ अभिक्खलाभिए—भिक्षु के कुछ भी कहे विना दाता स्वयं जो कुछ प्रासुक एवं एषणीय आहार दे वही लेना "अभिक्खलाभिए" अभिग्रह है।

यद्यपि सभी श्रमण भिक्षावृत्ति से ही आहारादि लेते हैं फिर भी भिक्खलाभिए और अभिक्खलाभिए ये दोनों अभिग्रह हैं। अतः यहाँ इनकी यह विशेष व्याख्या की गई है।

५ अण्णगिलायए—जो खाद्य पदार्थ रुचिकर न हो ऐसे खाद्य पदार्थों को या अनेक दिन पहले बने हुए खाद्य पदार्थों को लेना "अण्णगिलायए" अभिग्रह है।

२९. सुद्धेसणिए[1]

(२९) एषणा मे कोई भी अपवाद सेवन न करने का अभिग्रह करना ।

३०. संखादत्तिए[2],

(३०) दत्ति का परिमाण निश्चित्त करके आहार लेने का अभिग्रह करना ।

से त्तं भिक्खायरिया । —वि स. २५, उ ७, सु. २०८

यह भिक्षाचर्या तप है ।

पच ठाणाइ समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गथाण -जाव-अब्भणुन्नायाइं भवंति, त जहा—

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए पाँच अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

१ उक्खित्तचरए,

(१) उत्क्षिप्तचरक—राधने के पात्र से निकाला हुआ आहार ग्रहण करना ।

२. णिक्खित्तचरए,

(२) निक्षिप्तचरक—राधने के पात्र मे से आहार ग्रहण करना ।

३. अंतचरए,

(३) अन्तचरक—परिवार वालो के भोजन कर लेने के वाद वचा हुआ आहार ग्रहण करना ।

४. पंतचरए,

(४) प्रान्तचरक—तुच्छ आहार लेने का अभिग्रह करना ।

५. लूहचरए ।

(५) रूक्षचरक—सर्व प्रकार के रसो से रहित रूखा आहार ग्रहण करना ।

पच ठाणाइं समणेण भगवया महावीरेण समणाणं निगंथाणं -जाव-अब्भणुन्नायाइं भवति, तं जहा —

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए पाँच अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

१ अण्णायचरए,

(१) अज्ञातचरक—अपनी जाति-कुलादि वताये विना अथवा अज्ञात गृहस्थ से भिक्षा लेना ।

२. अण्णगिलायचरए,

(२) अन्नग्लाय चरक—आज का वना हुआ न हो ऐसा आहार लेना ।

३. मोणचरए,

(३) मौनचरक—मौन रहकर भिक्षा लाना ।

४. संसट्ठकप्पिए,

(४) संसृष्टकल्पिक—लिप्त हाथ या कड़छी आदि से ही भिक्षा लेना ।

५. तज्जातससट्ठकप्पिए ।

(५) तज्जात-ससृष्टकल्पिक—देय द्रव्य से लिप्त हाथ आदि से ही भिक्षा लेना ।

पंच ठाणाइं समणेण भगवया महावीरेण समणाण निग्गंथाणं -जाव-अब्भणुन्नायाइं भवति, त जहा—

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए पाँच अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

१. उवणिहिए,

(१) औपनिधिक—समीप मे रखे हुए आहार को ही लेना ।

२. सुद्धेसणिए,

(२) शुद्धैषणिक— निर्दोष आहार की ही गवेषणा करना ।

३. सखादत्तिए,

(३) संख्यादत्तिक—सीमित संख्या मे दत्तियो का नियम करके आहार लेना ।

४. दिट्ठलाभिए,

(४) दृष्टलाभिक—सामने रखा हुआ आहार-पानी ही लेना ।

---

१ सुद्धेसणिए—आहार, उपाश्रय, वस्त्र, पात्र, पीढ, फलक आदि आवश्यक सामग्री की सर्वदा अपवाद रहित शुद्ध एषणा ही करना "सुद्धेसणिए" अभिग्रह है ।

२ (क) सूय सु. २, अ. २, सु ७१४ (ख) उव. सु ३०

५. पुट्ठलाभिए ।

पच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाण निग्गथाण -जाव-अब्भणुन्नायाइं भवंति, तं जहा—

१. आयविलिए,

२ णिव्विइए,

३. पुरिमड्ढिए,

४ परिमियपिंडवाइए,

५. भिण्ण पिंडवाइए ।

—ठाण अ ५, उ १, सु. ३९६

(५) पृष्टलाभिक—क्या लोगे ? यह पूछे जाने पर ही भिक्षा लेना ।

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए पाँच अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

(१) आचाम्लिक—आयविल करने वाला ।

(२) निर्विकृतिक—घी आदि विकृतियो का त्याग करने वाला ।

(३) पूर्वार्धिक—दिन के पूर्वार्ध मे आहार नही करने के नियम वाला ।

(४) परिमितपिण्डपातिक—परिमित द्रव्यो की भिक्षा लेने वाला ।

(५) भिन्नपिण्डपातिक—खड-खड किये हुए पदार्थो की भिक्षा लेने वाला ।



रस-परित्याग—५

रस-परिच्चाय सरूव—

५६४ खीर-दहि-सप्पिमाई, पणीय पाणभोयणं ।
परिवज्जणं रसाण तु, भणियं रसविवज्जणं ॥

—उत्त. अ ३०, गा २६

रस-परिच्चाय-पगारा—

५६५. प०—से किं त रसपरिच्चाए ?

उ०—रसपरिच्चाए अणेगविहे पण्णत्ते, त जहा—

१ निव्वीइए,

२ पणीय-रस-परिच्चाए,

३. आयविलिए,

४. आयामसित्यभोई,

५ अरसाहारे,

६. विरसाहारे,

७. अंताहारे,

रस परित्याग का स्वरूप—

५६४. दूध, दही, घृत आदि स्निग्ध पान-भोजन और रसो के वर्जन को रसविवर्जन तप कहा जाता है ।

रस-परित्याग के प्रकार—

५६५ प्र०—रस-परित्याग क्या है ? वह कितने प्रकार का है ?

उ०—रस-परित्याग अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) निर्विकृतिक—विगय रहित आहार करना ।

(२) प्रणीत रसपरित्याग—अतिस्निग्ध और सरस आहार का त्याग करना ।

(३) आयविल—नमक आदि षट्रस तथा विगय रहित एक द्रव्य को अचित्त पानी में भिगोकर दिन मे एक ही बार खाना ।

(४) आयाम सित्थभोजी—ओसामन आदि के पानी मे रहे हुए अन्न कणो को खाना । अथवा अत्यल्प पदार्थ लेकर आयबिल करना ।

(५) अरसाहार—बिना मिर्च मसाले का आहार करना ।

(६) विरसाहार—बहुत पुराने अन्न से बना हुआ आहार करना ।

(७) अन्ताहार—भोजन के बाद बचा हुआ आहार करना ।

८. पंताहारे,

(८) प्रान्ताहार—मलिचा आदि तुच्छ धान्यो से बना हुआ आहार करना।

९. लूहाहारे,[1]

(९) रूक्षाहार—रूखा-सूखा आहार करना।

१०. से तं रसपरिच्चाए।[2]

ये रस परित्याग है।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २०९

पंच ठाणाइ समणेणं भगवया महावीरेण समणाणं निग्गथाणं -जाव-अब्भणुण्णायाइं भवंति, तं जहा—

श्रमण भगवान महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए पांच अभिग्रह स्थान की—यावत्—आज्ञा दी है, यथा—

१. अरसजीवी,

(१) अरसजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्वे समय तक) रस रहित आहार लेना।

२. विरसजीवी,

(२) विरसजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्वे समय तक) विरस आहार लेना।

३. अंतजीवी,

(३) अंत्यजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्वे समय तक) वचा हुआ आहार लेना।

४. पतजीवी,

(४) प्रान्तजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्वे समय तक) तुच्छ आहार लेना।

५. लूहजीवी,

(५) रूक्षजीवी—जीवन पर्यन्त (या लम्वे समय तक) रूखे-सूखे आहार लेना।

—ठाणं. अ. ५, उ १, सु. ३९६



काय-क्लेश—६

कायकिलेस सरूवं—

५६६. ठाणा वीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा घरिज्जन्ति, कायकिलेस तमाहियं॥

—उत्त. अ. ३०, गा. २७

काय-क्लेश का स्वरूप—

५६६ आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि कठिन आसनो का जो सेवन किया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहा जाता है।

अणेगविहे कायकिलेसे—

५६७. प०—से किं त कायकिलेसे?

उ०—कायकिलेसे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१ ठाणट्ठिइए,

२. उक्कुडुयासणिए,

३. पडिमट्ठाई,

४. वीरासणिए,

काय-क्लेश के प्रकार—

५६७ प्र०—कायक्लेश क्या है—वह कितने प्रकार का है?

उ०—काय-क्लेश अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—

(१) स्थानस्थितिक—एक आसन से स्थिर रहना।

(२) उत्कुटुकासनिक—पुट्ठो को भूमि पर न टिकाते हुए केवल पांवो के वल पर वैठकर मस्तक पर अजली करना।

(३) प्रतिमास्थायी—एक रात्रि आदि का समय निश्चित कर कायोत्सर्ग करना।

(४) वीरासनिक—कुर्सी पर वैठे व्यक्ति के नीचे से कुर्सी निकालने पर जो स्थिति होती है उस आसन से स्थिर रहना।

---

१ ठाणं. अ ५, उ. १, सु. ३९६ मे अरसाहारे आदि पांच प्रकार हैं।

२ उव. सु. ३०

५ नेसज्जिए,
६ आयावए,
७ अवाउडए,
८ अकंडूयए,
९ अणिट्ठूहए
१०. सव्वगाय-परिकम्म-विभूसा य विप्पमुक्के,

से तं कायक्लिेसे,[1] —वि स २५, उ ७, सु २१०

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं -जाव-अब्भणुण्णायाइं भवंति तं जहा—

१. दंडायतिए,
२ लगंडसाई,
३. आतावए,
४ अवाउडए,
५ अकंडूयए, —ठाण अ ५, उ १, सु ३९६

पंच णिसिज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. उक्कुडया
२ गोदोहिया,
३. समपायपुत्ता,
४ पलियंका,
५. अद्धपलियंका। —ठाण अ ५, उ १, सु. ४००

(५) नैषधिक —पुट्ठे टिकाकर पालथी लगाकर बैठना।
(६) आतापक—धूप आदि की आतापना लेना।
(७) अप्रावृतक—देह को कपड़े आदि से नहीं ढकना।
(८) अकण्डूयक—खुजली चलने पर भी देह को नहीं खुजलाना।
(९) अनिष्ठीवक—थूंक कफ आदि आने पर भी नहीं थूकना।
(१०) सर्व-गात्र परिकर्म एवं विभूषा विप्रमुक्त—देह के सभी सस्कार तथा विभूषा आदि करने से मुक्त रहना।

यह काय-क्लेश का विस्तार है।

श्रमण भगवन्त महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच स्थान सदा आचरण योग्य कहे हैं—यावत्—स्वीकृत किये हैं। यथा—

(१) दण्डायतिक—दण्डे के समान सीधे लम्बे पैर करके सोना।
(२) लगण्डशायी—शिर और एड़ी को जमीन पर टिकाकर शेष शरीर को ऊपर उठाकर सोना।
(३) आतापक—सरदी तथा गर्मी सहना।
(४) अप्रावृतक—वस्त्र न रखना।
(५) अकण्डूयक—खाज न खुजलाना।

पाँच बैठने के प्रकार कहे हैं, यथा—

(१) उत्कटुका—नितम्ब टिकाये बिना पैरों को टिकाकर बैठना।
(२) गोदोहिका—गाय दुहने की तरह बैठना।
(३) समपादपुता—दोनों पैरों को और नितम्बों को भूमि पर टिकाकर बैठना।
(४) पर्यंका—पालथी लगाकर बैठना।
(५) अर्ध पर्यंका—आधी पालथी लगाकर बैठना अर्थात् एक पैर से पालथी लगाकर और एक पैर लम्बा करके बैठना।

णिग्गंथीणं णिसिद्धा विहियाय आयावणा—

५६८. नो कप्पइ निग्गंथीए बहियागामस्स वा-जाव-रायहाणिस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए।

निर्ग्रन्थियों के लिए आतापना का विधि-निषेध—

५६८. निर्ग्रन्थी को गाँव के बाहर—यावत्—राजधानी के बाहर भुजाओं को ऊपर की ओर करके, सूर्य की ओर मुँह करके तथा एक पैर से खड़े होकर आतापना लेना नहीं कल्पता है।

---

1 (क) उव. सु ३०
(ख) पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं-जाव-अब्भणुण्णायाइं भवंति तं जहा—
(१) ठाणातिए (२) उक्कुडु आसणिए, (३) पडिमट्ठाई, (४) वीरासणिए, (५) णेसज्जिए। —ठाण. अ ५, उ १, सु. ३९६
(ग) सत्तविधे कायकिलेसे पण्णत्ते, तं जहा—
(१) ठाणातिए, (२) उक्कुडुयासणिए, (३) पडिमट्ठाई, (४) वीरासणिए, (५) णेसज्जिए, (६) दंडायतिए, (७) लगंडसाई। —ठा. अ. ७, सु ५५४

कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए सघाडिया पडिवद्धाए पलवियबाहुयाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए । —कप्प. उ. ५, सु. २२

किन्तु उपाश्रय के अन्दर पर्दा लगाकर के भुजाएँ नीची लटकाकर दोनो पैरो को समतल कर तथा खडे होकर आतापना लेना कल्पता है ।

णिग्गंथीणं णिसिद्ध कायकिलेसे—

निर्ग्रन्थियो के लिए निषिद्ध कायक्लेश—

५६९. नो कप्पइ निग्गथीए ठाणाइयाए होत्तए ।

५६९. निर्ग्रन्थी साध्वी को खडे रहकर कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को एक रात्रि आदि का समय निश्चित करके कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गथीए उक्कुडुयासणियाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को उत्कुटुकासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए निसज्जियाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को निषद्याओ से स्थित रखने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए वीरासणियाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को वीरासन से रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए दण्डासणियाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को दण्डासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए लगण्डसाइयाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को लकुटासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए ओमथियाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को अधोमुखी सोकर स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए उत्तासणियाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को उत्तानासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गंथीए अम्बखुज्जियाए होत्तए ।

निर्ग्रन्थी साध्वी को आम्र-कुब्जिकासन से स्थित रहने का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गथीए एगपासियाए होत्तए । —कप्प उ. ५, सु. २३-३३

निर्ग्रन्थी साध्वी को एक पार्श्व से शयन का अभिग्रह करना नही कल्पता है ।

नो कप्पइ निग्गथीए अचेलियाए होत्तए ।
नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए होत्तए ।
नो कप्पइ निग्गथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए । —कप्प. उ ५, सु. १९-२१

निर्ग्रन्थी साध्वी को वस्त्र रहित होना नही कल्पता है ।
निर्ग्रन्थी साध्वी को पात्र रहित होना नही कल्पता है ।
निर्ग्रन्थी साध्वी को निश्चित समय के लिए शरीर को वोसिरा कर रहना नही कल्पता है ।



प्रतिसंलीनता—७

पडिसंलीणयाए भेया—

५७०. प०—से किं तं पडिसंलीणया ?

उ०—पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. इंदियपडिसंलीणया, २ कसायपडिसंलीणया,

प्रतिसंलीनता के भेद—

५७०. प्र०—प्रतिसंलीनता क्या है —वह कितने प्रकार की है ?

उ०—प्रतिसंलीनता चार प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) इन्द्रिय प्रतिसंलीनता, (२) कषाय प्रतिसंलीनता,

३. जोगपडिसंलीणया,

४ विवित्तसयणासणसेवणया।

—वि. स. २५, उ ७, सु २११

(३) योग प्रतिसलीनता,

(४) विविक्त शयनासन-सेवन प्रतिसलीनता।

इंदिय पडिसंलीणयाए भेया—

५७१ प०—से किं त इदियपडिसलीणया ?

उ०—इंदियपडिसंलीणया पचविहा पण्णत्ता, त जहा—

१. सोइन्दियविसयप्पयारनिरोहो वा, सोइन्दियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा।

२ चक्खिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, चक्खिदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा।

३. घाणिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, घाणिदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा।

४. जिब्भिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, जिब्भिदियपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा।

५ फासिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, फासिदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा।

से त इन्दियपडिसलीणया।[1]

—वि स. २५, उ ७, सु २१२

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के भेद—

५७१. प्र०—इन्द्रिय प्रतिसलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है ?

उ०—इन्द्रिय प्रतिसलीनता पाँच प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय के विषय मे प्रवृत्त रहने का निरोध करना अथवा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमे राग-द्वेष का निग्रह करना।

(२) चक्षुरिन्द्रिय के विषय मे प्रवृत्त रहने का निरोध करना अथवा चक्षुरिन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमे राग-द्वेष का निग्रह करना।

(३) घ्राणेन्द्रिय के विषय मे प्रवृत्त रहने का निरोध करना अथवा घ्राणेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमे राग-द्वेष का निग्रह करना।

(४) जिव्हेन्द्रिय के विषय मे प्रवृत्त रहने का निरोध करना अथवा जिव्हेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमें राग-द्वेष का निग्रह करना।

(५) स्पर्शेन्द्रिय के विषय में प्रवृत्त रहने का निरोध करना अथवा स्पर्शेन्द्रिय के विषय प्राप्त होने पर उनमे राग-द्वेष का निग्रह करना।

यह इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप है।

कसाय पडिसलीणयाए भेया—

५७२ प०—से किं त कसायपडिसलीणया ?

उ०—कसायपडिसलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—

१. कोहस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं।

२ माणस्सुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा माणस्स विफलीकरण।

३ मायाउदयणिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा मायाए विफलीकरण।

कषाय प्रतिसलीनता के भेद—

५७२ प्र०—कषाय प्रतिसलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है ?

उ०—कषाय प्रतिसलीनता चार प्रकार की है, यथा—

(१) क्रोध के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त क्रोध को निष्फल करना।

(२) मान के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त मान को निष्फल करना।

(३) माया के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त माया को निष्फल करना।

---

१ (क) पंच पडिसलीणा पन्नत्ता, त जहा—

(१) सोतिदियपडिसलीणे, (२) चक्खिदियपडिसलीणे, (३) घाणिदियपडिसंलीणे, (४) जिब्भिदियपडिसलीणे, (५) फासिदियपडिसलीणे। —ठाणं अ. ५, उ २, सु. ४२७

(ख) उव सु ३०

४. लोहस्सुदयणिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा लोहस्स विफलीकरण ।

से तं कसायपडिसंलीणया ।[1]

—वि स २५, उ. ७, सु. २१३

(४) लोभ के उदय का निरोध करना अथवा उदय प्राप्त लोभ को निष्फल करना ।

यह कषायप्रतिसंलीनता तप है ।

जोगपडिसंलीणयाए भेया—

५७३. प०—से किं तं जोगपडिसलीणया ?

उ०—जोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता, त जहा—

१ मणजोगपडिसलीणया,

२. वयजोगपडिसंलीणया,

३. कायजोगपडिसंलीणया[2] ।

प०—से किं तं मणजोगपडिसलीणया ?

उ०—मणजोगपडिसंलीणया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—

१ अकुसलमणणिरोहो वा,

२. कुसलमणउदीरण वा,

३ मणस्स वा एगत्तीभाव करणं ।

से तं मणजोगपडिसंलीणया ।

प०—से किं त वयजोगपडिसलीणया ?

उ०—वयजोगपडिसलीणया तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—

१. अकुसलवयणिरोहो वा,

२ कुसलवयउदीरणं वा,

३. वइए वा एगत्ती भावकरणं ।

से तं वयजोगपडिसंलीणया ।

प०—से किं तं कायजोगपडिसंलीणया ?

उ०—कायजोगपडिसंलीणया जं णं सुसमाहिय पसत साहरिय पाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए अल्लीणे पल्लीणे चिट्ठइ ।

से त कायजोगपडिसंलीणया ।

से त जोग पडिसंलीणया ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु २१४-२१५

योग प्रतिसलीनता के भेद—

५७३. प्र०—योग-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है ?

उ०—योग-प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की बतलाई गई है, यथा—

(१) मनोयोग-प्रतिसलीनता,

(२) वचन योग-प्रतिसलीनता ।

(३) काययोग-प्रतिसलीनता ।

प्र०—मनोयोग-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है ?

उ०—मनोयोग-प्रतिसलीनता तीन प्रकार की है, यथा—

(१) अशुभ मन का निरोध करना ।

(२) शुभ मन का उदीरण करना ।

(३) मन को एकाग्र करना ।

यह मनोयोग प्रतिसंलीनता है ।

प्र०—वचन योग-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है ?

उ०—वचन योग-प्रतिसंलीनता तीन प्रकार की है, यथा—

(१) अशुभ वचन का निरोध अर्थात् दुर्वचन नही बोलना ।

(२) सद्वचन बोलने का अभ्यास करना ।

(३) मौन रहना ।

यह वचनयोग प्रतिसलीनता है ।

प्र०—काययोग-प्रतिसंलीनता क्या है ?

उ०—हाथ, पैर आदि सुसमाहित शात और सकुचित कर, कछुए के सदृश अपनी इन्द्रियो को गुप्त कर, सारे शरीर को सवृत कर सुस्थिर होना काययोग प्रतिसंलीनता है।

य काययोग प्रतिसंलीनता है ।

यह योग-प्रतिसलीनता है ।

---

१ (क) उव. सु ३०

(ख) चत्तारि पडिसलीणा पन्नत्ता, तं जहा—

(१) कोहपडिसंलीणे, (२) माणपडिसंलीणे, (३) मायापडिसंलीणे, (४) लोहपडिसंलीणे ।

—ठाणं अ. ४, उ. २, सु. २७८

२ चत्तारि पडिसलीणा पण्णत्ता, तं जहा—

(१) मणपडिसलीणे, (२) वइपडिसलीणे, (३) कायपडिसंलीणे, (४) इंदियपडिसंलीणे ।

—ठा. अ ४, उ. २, सु. २७८

विवित्त-सयणासण-सेवणया सरूवं—

५७४ एगन्तमणावाए, इत्थी-पसुविवज्जिए।
मयणासणसेवणया, विवित्तसयणासणं॥
—उत्त. अ ३०, गा २८

प०—से किं तं विवित्तसयणासण सेवणया?

उ०—विवित्त-सयणासण-सेवणया जं णं आरामेसु वा, उज्जाणेसु वा, देवकुलेसु वा, सहासु वा, पवासु वा, पणिय-गिहेसु वा, पणियसालासु वा, इत्थी-पसु पडगसंसत्त-विरहियासु वसहीसु फासुएसणिज्ज पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

से तं पडिसंलीणया[1]।

से तं बाहिरए तवे। —वि स. २५ उ. ७, सु २१६

एकान्त शयनासन के सेवन का स्वरूप—

५७४ जहाँ कोई आता-जाता न हो ऐसे एकान्त स्थान का तथा स्त्री पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करता विविक्त शयनासन तप है।

प्र०—विविक्त शयनासन सेवनता क्या है?

उ०—आराम-पुष्पप्रधान बगीचा, उद्यान, पुष्प फल युक्त बगीचा, देवकुल, सभा स्थान, प्याऊ, क्रयविक्रयोचित वस्तुएँ रखने के घर, क्रय-विक्रय योग्य वस्तुएँ रखने की शालाएँ। इन स्थानों में जो स्त्री पशु तथा नपुंसक से रहित हो, प्रासुक एषणीय पीठ, फलक, शय्या संस्तारक प्राप्त कर विचरण करना विविक्त शय्यासन सेवनता है।

यह प्रतिसंलीनता है।

यह बाह्यतप का वर्णन सम्पन्न हुआ।

विवित्तसयणासण सेवणया फलं—

५७५ प०—विवित्त सयणासणयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?

उ०—विवित्त सयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ, चरित्त गुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे, दढचरित्ते एगंतरए मोक्खभाव पडिवन्ने अट्ठविह कम्मगंठिं निज्जरेइ।
—उत्त. अ २९, सु. ३३

विविक्त शयनासन के सेवन का फल—

५७५. प्र०—भन्ते! विविक्त शयनासन के सेवन से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—विविक्त शयनासन के सेवन से वह चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है, चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला, दृढ चारित्र वाला, एकान्त में रत, अन्त करण से मोक्ष साधना में लगा हुआ आठ प्रकार के कर्मों की गांठ को तोड देता है।

अणेगविहा अपडिसंलीणा—

५७६ चत्तारि अपडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—
१ कोहअपडिसंलीणे, २. माणअपडिसंलीणे,
३ मायाअपडिसंलीणे, ४. लोभअपडिसंलीणे।
चत्तारि अपडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—
१. मणअपडिसंलीणे, २ वइअपडिसंलीणे,
३ कायअपडिसंलीणे, ४ इन्दियअपडिसंलीणे।
—ठाणं अ ४, उ २, सु २७८

अनेक प्रकार के अप्रतिसंलीन—

५७६. अप्रतिसंलीन चार प्रकार के कहे गये हैं, यथा—
(१) क्रोध अप्रतिसंलीन, (२) मान अप्रतिसंलीन,
(३) माया-अप्रतिसंलीन, (४) लोभ-अप्रतिसंलीन।
अप्रतिसंलीन चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—
(१) मन-अप्रतिसंलीन, (२) वचन-अप्रतिसंलीन,
(३) काय-अप्रतिसंलीन, (४) इन्द्रिय-अप्रतिसंलीन।

पंच अपडिसंलीणा पण्णत्ता, तं जहा—
१. सोतिंदिय अपडिसंलीणे,
२ चक्खिंदिय अपडिसंलीणे,
३. घाणिंदिय अपडिसंलीणे,

अप्रतिसंलीन पाँच प्रकार का कहा गया है—
(१) श्रोत्रेन्द्रिय-अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ शब्दों में राग-द्वेष करने वाला।
(२) चक्षुरिन्द्रिय-अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ रूपों में राग-द्वेष करने वाला।
(३) घ्राणेन्द्रिय अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ गन्ध में राग-द्वेष करने वाला।

---

१ उव सु ३०

४. जिब्भिंदिय अपडिसलीणे,

५. फासिंदिय अपडिसंलीणे ।

—ठाण. अ. ५, उ. २, सु. ४२७

(४) जिव्हेन्द्रिय अप्रतिसलीन—शुभ-अशुभ रसो मे राग द्वेष करने वाला ।

(५) स्पर्शेन्द्रिय अप्रतिसंलीन—शुभ-अशुभ स्पर्शो मे राग-द्वेष करने वाला ।



प्रतिमायें—८-(१)

अणेगविहाओ पडिमाओ—

५७७ पच पडिमाओ पण्णत्ताओ, त जहा—

१. भद्दा, २ सुभद्दा,

३ महाभद्दा, ४. सव्वतोभद्दा,[1]

५ भद्दुत्तरपडिमा । —ठा अ ५, उ १, सु. ३९२

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. समाहिपडिमा, २ उवहाणपडिमा,

३. विवेगपडिमा, ४ विउस्सग्गपडिमा[2] ।

चत्तारि पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. खुड्डिया मोयपडिमा, २. महल्लिया मोयपडिमा,

३. जवमज्झा, ४. वइरमज्झा[3] ।

—ठाणं अ. ४, उ १, सु २५१

अनेक प्रकार की प्रतिमायें—

५७७. प्रतिमाएँ पांच प्रकार कही गई हैं, जैसे—

(१) भद्रा प्रतिमा, (२) सुभद्रा प्रतिमा,

(३) महाभद्रा प्रतिमा, (४) सर्वतोभद्रा प्रतिमा,

(५) भद्रोत्तर प्रतिमा ।

प्रतिमा चार प्रकार की कही गई हैं, जैसे—

(१) समाधि प्रतिमा, (२) उपधान-प्रतिमा,

(३) विवेक-प्रतिमा, (४) व्युत्सर्ग प्रतिमा ।

पुन प्रतिमा चार प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) छोटी मोकप्रतिमा, (२) बडी मोकप्रतिमा ।

(३) यवमध्या, (४) वज्र मध्या ।



भिक्षु प्रतिमाएँ—८-(२)

भिक्खू पडिमाओ—[4]

५७८. बारस भिक्खु-पडिमाओ पण्णत्ताओ, त जहा—

१. मासिया भिक्खु पडिमा,

२. दो-मासिया भिक्खु-पडिमा,

३. ति-मासिया भिक्खु-पडिमा,

४. चउ-मासिया भिक्खु-पडिमा,

५. पच-मासिया भिक्खु पडिमा,

६. छ-मासिया भिक्खु-पडिमा,

भिक्षु प्रतिमायें—

५७८ बारह भिक्षु-प्रतिमाएँ कही गई हैं, यथा—

(१) मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ।

(२) द्विमासिकी भिक्षु-सतिमा ।

(३) त्रैमासिकी भिक्षु-प्रतिमा ।

(४) चातुर्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा ।

(५) पंचमासिकी भिक्षु प्रतिमा ।

(६) षण्मासिकी भिक्षु प्रतिमा ।

---

१ (क) ठाण अ. ४, उ. १, सु. २५१
(ख) ठाणं. अ. २, उ ३, सु. ७७

२ ठाणं. अ. २, उ. ३, सु ७७

(३) ठाण. अ २, उ. ३, सु. ७७

४ उपासक पडिमाओ के वर्णन के लिये चारित्राचार गृहस्थ धर्म प्रकरण देखें ।

७ सत्त-मासिया भिक्खु-पडिमा,
८ पढमा-मासिया राइदिया भिक्खु-पडिमा,
९. दोच्चा सत्त-राइदिया भिक्खु-पडिमा,
१० तच्चा सत्त-राइदिया भिक्खु-पडिमा,
११. अहो राइया भिक्खु-पडिमा,
१२ एग-राइया भिक्खु-पडिमा[1]। —सम सम. १२, सु. १

(७) सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा।
(८) प्रथमा सप्त रात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा।
(९) द्वितीया सप्त रात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा।
(१०) तृतीया सप्त-रात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा।
(११) अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा।
(१२) एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा।

पडिमा आराहणकाले उवसग्गा—

५७९. मासिय ण भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्च वोसट्ठकाए चियत्त देहे[2] जे केइ उवसग्गा उववज्जेज्जा, त जहा—

प्रतिमा आराधन काल मे उपसर्ग—

५७९ नित्य शरीर की परिचर्या एवं ममत्व भाव से रहित एक मासिकी भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को जो कोई उपसर्ग आवे, जैसे कि—

---

१ (क) दसा द ७, सु १-२

(ख) दशाश्रुतस्कन्ध की छठी दशा मे श्रमणोपासक की इग्यारह प्रतिमाओ का कथन है, इनमे से पहली दूसरी तीसरी और चौथी प्रतिमा के आराधना काल का स्पष्ट कथन नहीं है, किन्तु पाँचवी प्रतिमा से इग्यारहवी प्रतिमा तक का जघन्य और उत्कृष्ट आराधना काल स्पष्ट कहा है। वह उत्कृष्ट काल इस प्रकार है—

पाँचवी प्रतिमा का उत्कृष्ट आराधना काल पाँच मास और छठी प्रतिमा से इग्यारहवी प्रतिमा तक एक-एक मास क्रमश बढाने पर इग्यारहवी प्रतिमा का उत्कृष्ट आराधना काल इग्यारह मास होता है।

उपासक दशा के टीकाकार ने आनन्द श्रमणोपासक का संपूर्ण प्रतिमा आराधना काल साडे पाँच वर्ष का कहा है, वहाँ पहली प्रतिमा का आराधना काल एक मास और इसी क्रम से इग्यारहवी प्रतिमा का आराधना काल इग्यारह मास कहा है।

दशाश्रुतस्कन्ध की सातवी दशा मे भिक्षु की बारह प्रतिमाओ का वर्णन है, वहाँ उनका जघन्य उत्कृष्ट आराधना काल स्पष्ट नही कहा है। किन्तु पहली भिक्षु प्रतिमा का नाम मासिक भिक्षु प्रतिमा, दूसरी का दो मासिक भिक्षु प्रतिमा और क्रमश सातवी भिक्षु प्रतिमा का नाम सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा कहा गया है।

तथा आठवी-नौवी और दसवी का नाम प्रथम सप्तअहोरात्रिकी, द्वितीय सप्तअहोरात्रिकी, तृतीय सप्त अहोरात्रिकी प्रतिमा, इग्यारहवी का एक अहोरात्रि की और बारहवी का एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा कहा है। किन्तु पहली प्रतिमा की आराधना के विधानो मे प्रतिमा आराधक को परिचित क्षेत्र मे एक रात से अधिक और अपरिचित क्षेत्र मे एक या दो रात से अधिक रहने पर दीक्षा छेद का या परिहार तप का प्रायश्चित्त विधान है। अत चातुर्मास में इन प्रतिमाओं का आराधन नही किया जा सकता है।

टीकाकार आदि ने इन प्रतिमाओ का सम्पूर्ण आराधन काल नही बताया है अत उसका तीन प्रकार से अनुमान किया जा सकता है।

१. पहली प्रतिमा से सातवी प्रतिमा तक प्रत्येक प्रतिमा का नाम प्रथम मासिकी भिक्षु प्रतिमा—यावत्—सप्तम मासिकी भिक्षु प्रतिमा मान कर उनका एक-एक मास आराधन काल मानें तो आठ महिने मे ही बारह प्रतिमाओ का आराधन हो सकता है।

२ उपलब्ध नाम के अनुसार काल मानकर तथा चातुर्मास मे प्रतिमा आराधन न करने पर सम्पूर्ण आराधन काल ४ वर्ष होता है।

३ चातुर्मास मे भी प्रतिमाराधन करना माना जाये तो सम्पूर्ण आराधन काल २ वर्ष ५ मास होता है।

इनमे प्रथम अनुमान-सूत्र विधान से निर्विरोध है। दूसरा अनुमान कम दीक्षा पर्याय वालो के आराधन वर्णन से विरोध प्राप्त है। तीसरा अनुमान भी चातुर्मास मे विहार करने रूप होने से निर्विरोध नही रहता है।

२ विया. स. १०, उ २, सु. ६

दिव्वा वा, माणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पण्णे सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा, अहियासेज्जा।

—दसा. द. ७, सु ३

देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी या तिर्यंच सम्बन्धी उन्हे वह सम्यक् प्रकार से सहन करे, क्षमा करे, दैन्य भाव नही रखे, वीरता पूर्वक सहन करे।

मासिया भिक्खु पडिमा—

५८० मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पति एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहित्तए, एगा पाणगस्स।

अण्णाय उच्छं, सुद्धोवहडं,

निज्जूहित्ता बहवे दुप्पय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किविण-वणीमगे,

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए।

णो दुण्हं, णो तिण्ह, णो चउण्ह, णो पंचण्हं, णो गुव्विणीए, णो बालवच्छाए, णो दारगं पेज्जमाणीए।

णो से कप्पई अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए णो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए।

अह पुण एवं जाणेज्जा, एगं पायं अंतो किच्चा, एगं पायं बाहिं किच्चा, एलुयं विक्खंभइत्ता, एवं से दलयति, कप्पति से पडिगाहित्तए,

एवं से नो दलयति, नो से कप्पति पडिगाहित्तए।

—दसा द ७, सु. ४

मासिकी भिक्षु प्रतिमा—

५८०. मासिकी भिक्षु-प्रतिमा धारी अनगार को एक दत्ति भोजन की और एक दत्ति पानी की लेना कल्पता है—

वह भी अज्ञात स्थान से, अल्पमात्रा मे और दूसरो के लिए बना हुआ हो तथा—

अनेक द्विपद, चतुष्पद, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण और भिखारी आदि भोजन लेकर चले गये हो उसके बाद ग्रहण करना कल्पता है।

जहाँ एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो वहाँ से आहार-पानी की दत्ति लेना कल्पता है।

किन्तु दो, तीन, चार या पाँच एक साथ बैठकर भोजन करते हो वहाँ से लेना नही कल्पता है। गर्भिणी, बालवत्सा और बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री से लेना नही कल्पता है।

जिसके दोनो पैर देहली के अन्दर या दोनो पैर देहली के बाहर हो ऐसी स्त्री से लेना नही कल्पता है।

किन्तु यह ज्ञात हो जाये कि एक पैर देहली के अन्दर है और एक पैर बाहर है इस प्रकार देहली को पाँवो के मध्य मे किये हुए हो और वह देना चाहे तो उससे लेना कल्पता है।

इस प्रकार न दे तो लेना नही कल्पता है।

पडिमापडिवण्णस्स गोयरकाला—

५८१. मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स तओ गोयर-काला पण्णत्ता, तं जहा—

१. आइमे, २ मज्झे,
३. चरिमे।

१. आइमे चरेज्जा, नो मज्झे चरेज्जा, णो चरिमे चरेज्जा।

२. मज्झे चरिज्जा, नो आइमे चरिज्जा, नो चरिमे चरेज्जा।

३. चरिमे चरेज्जा, नो आइमे चरेज्जा, नो मज्झिमे चरेज्जा। —दसा. द. ७, सु. ५

प्रतिमाधारी के भिक्षा काल—

५८१ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के भिक्षाचर्या करने के तीन काल कहे गये हैं, यथा—

(१) दिन का प्रथम भाग, (२) दिन का मध्य भाग,
(३) दिन का अन्तिम भाग।

(१) यदि दिन के प्रथम भाग मे भिक्षाचर्या के लिए जावे तो मध्य और अन्तिम भाग मे न जावे।

(२) यदि दिन के मध्य भाग मे भिक्षाचर्या के लिए जावे तो प्रथम और अन्तिम भाग मे न जावे।

(३) यदि दिन के अन्तिम भाग मे भिक्षाचर्या के लिए जावे तो प्रथम और मध्य भाग में न जावे।

पडिमापडिवण्णस्स गोयर चरिया—

५८२. मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स छव्विहा गोयरचरिया पण्णत्ता, तं जहा—

१. पेडा,
२. अद्धपेडा,

प्रतिमाधारी की गोचर चर्या—

५८२. एक मास की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार के छ प्रकार की गोचरी कही गई है। यथा—

(१) चोकोर पेटी के आकार मे भिक्षाचर्या करना।
(२) अर्ध पेटी के आकार से भिक्षाचर्या करना।

३ गोमुत्तिया,
४ पतगवीहिया,
५. सवुक्कावट्टा,
६ गतुपच्चागया।[1] —दसा द ७, सु ६

(३) बैल के मूत्रोत्सर्ग के आकार से भिक्षाचर्या करना।
(४) पतगिये के गमन के आकार से भिक्षाचर्या करना।
(५) शंखावर्त के आकार से भिक्षाचर्या करना।
(६) जाते या पुन आते भिक्षाचर्या करना।

पडिमापडिवण्णस्स वसइ वसण कालो—

५८३ मासिय ण भिक्खु-पडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थ ण केइ जाणइ कप्पइ से तत्थ एगराइय वसित्तए।
जत्थ ण केइ न जाणइ, कप्पइ से तत्थ एग-रायं वा, दु-राय वा वसित्तए।
नो से कप्पइ एग-रायाओ वा, दु-रायाओ वा पर वत्थए।
जे तत्थ एग-रायाओ वा दु-रायाओ वा परं वसति, से सतरा छेए वा परिहारे वा। —दसा द. ७, सु ७

प्रतिमाधारी का वसतिवास काल—

५८३ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को जहाँ कोई जानता हो तो वहाँ उसे एक रात रहना कल्पता है।
जहाँ कोई नही जानता हो तो वहाँ उसे एक या दो रात रहना कल्पता है।
किन्तु एक या दो रात से अधिक रहना नही कल्पता है।
यदि एक या दो रात से अधिक रहता है तो वह इस कारण से दीक्षा छेद या परिहार तप का पात्र होता है।

पडिमापडिवण्णस्स कप्पणिज्जाओ भासाओ—

५८४ मासिय ण भिक्खु-पडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पति चत्तारि भासाओ भासित्तए, त जहा—
१ जायणी,
२ पुच्छणी,
३ अणुण्णवणी,
४ पुट्ठस्स वागरणी।[2] —दसा. द ७, सु ८

प्रतिमाधारी की कल्पनीय भाषायें—

५८४. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को चार भाषाएँ बोलना कल्पता है। यथा—
(१) याचनी—आहारादि की याचना करने के लिए।
(२) पृच्छनी—मार्ग आदि पूछने के लिए।
(३) अनुज्ञापनी—आज्ञा लेने के लिए।
(४) पृष्ठ व्याकरणी—प्रश्न का उत्तर देने के लिए।

पडिमापडिवण्णस्स कप्पणीया उवस्सया—

५८५ मासिय ण भिक्खु-पडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ तओ उवस्सया पडिलेहित्तए, त जहा—
१ अहे आराम-गिहसि वा,
२ अहे वियड-गिहसि वा,
३ अहे रुक्खमूल-गिहसि वा,
एव तओ उवस्सया अणुण्णवेत्तए, उवाइणित्तए य।[3] —दसा. द ७, सु. ९-११

प्रतिमाधारी के कल्पनीय उपाश्रय—

५८५. एक मास की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयो का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—
(१) उद्यान मे बने हुए गृह मे,
(२) चारो ओर से खुले हुए गृह मे,
(३) वृक्ष के नीचे या वहाँ बने हुए गृह मे,
इसी प्रकार तीन उपाश्रय की आज्ञा लेना और ठहरना कल्पता है।

पडिमापडिवण्णस्स कप्पणीया सथारगा—

५८६ मासिय ण भिक्खु-पडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पति तओ सथारगा पडिलेहित्तए, त जहा—
१. पुढवि सिल वा,
२. कट्ठ-सिल वा,
३ अहा संथडमेव वा संथारगं।[4]
एव तओ सथारगा अणुण्णवेत्तए, उवाइणित्तए य। —दसा द ७, सु. १२-१४

प्रतिमाधारी के कल्पनीय सस्तारक—

५८६. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को तीन प्रकार के सस्तारको का प्रतिलेखन करना कल्पता है, यथा—
(१) पत्थर की शिला,
(२) लकडी का पाट,
(३) पहले से बिछा हुआ सस्तारक।
इसी प्रकार तीन सस्तारक की आज्ञा लेना और ग्रहण करना कल्पता है।

---

१ ठाण अ ६, सु ५१४
३ ठाण. अ ३, उ ४, सु. १९६
२ ठाण अ ४, उ. १, सु. २३७
४ ठाण. अ. ३, उ. ४, सु १९६

पडिमा पडिवण्णस्स इत्थी पुरिस उवसग्गो—

५८७. मासियं णं भिक्खुपडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स इत्थी वा, पुरिसे वा उवस्सय उवागच्छेज्जा, णो से कप्पति तं पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा। —दसा द ७, सु. १५

प्रतिमाधारी को स्त्री-पुरुष का उपसर्ग—

५८७ एक मास की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय मे यदि कोई स्त्री या पुरुष आ जावे तो उन्हे देखकर उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नही कल्पता है।

पडिमा पडिवण्णस्स अगणी उवसग्गो—

५८८. मासिय ण भिक्खु-पडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स केइ उवस्सयं अगणिकाएण झामेज्जा, णो से कप्पति त पडुच्च निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा।

तत्थ णं केइ बाहाए गहाय आगसेज्जा, नो से कप्पति त अवलंबित्तए वा पलंबित्तए वा, कप्पति अहारिय रिइत्तए। —दसा द. ७, सु १६

प्रतिमाधारी को अग्नि का उपसर्ग—

५८८ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के उपाश्रय मे कोई अग्नि लगा दे तो उसे उपाश्रय से बाहर जाना या बाहर हो तो अन्दर आना नही कल्पता है।

यदि कोई उसे भुजा पकडकर बलपूर्वक बाहर निकालना चाहे तो उसका अवलम्बन प्रलम्बन करना नही कल्पता है किन्तु ईर्या समिति पूर्वक बाहर निकलना कल्पता है।

पडिमा पडिवण्णस्स खाणूआइ-णिहरण-णिसेहो—

५८९ मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स पायंसि खाणू वा, कटए वा, हीरए वा, सक्करए वा अणुपवेसेज्जा, नो से कप्पइ नीहरित्तए वा, विमोहित्तए वा, कप्पति से अहारिय रियत्तए। —दसा. द. ७, सु. १७

प्रतिमाधारी को ठूंठा आदि निकालने का निषेध—

५८९. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के पैर मे यदि तीक्ष्ण ठूंठ लकडी तिनका आदि काटा, काच, ककर लग जावे तो उसे निकालना या उसकी विशुद्धि करना नही कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमिति पूर्वक चलते रहना कल्पता है।

पडिमापडिवण्णस्स पाणीआइ-णिहरण णिसेहो—

५९०. मासिय ण भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स अच्छिसि पाणाणि वा, बीयाणि वा, रए वा परियावज्जेज्जा, नो से कप्पति नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा कप्पति से अहारिय रियत्तए। —दसा. द. ७, सु १८

प्रतिमाधारी को प्राणी आदि निकालने का निषेध—

५९०. एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के आंख मे सूक्ष्म प्राणी, बीज, रज आदि गिर जावे तो उसे निकालना या विशुद्ध करना नही कल्पता है, किन्तु उसे सावधानी से ईर्यासमिति पूर्वक चलते रहना कल्पता है।

सूरिए अत्थमिए विहार णिसेहो—

५९१. मासिय ण भिक्खु-पडिवन्नस्स अणगारस्स जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा,

जलसि वा, थलसि वा,
दुग्गंसि वा, निण्णसि वा,
पव्वयसि वा, विसमसि वा,
गड्डाए वा, दरिए वा,

कप्पति से त रयणी तत्थेव उवाइणावित्तए नो से कप्पति पयमवि गमित्तए।

कप्पति से कल्ल पाउप्पभाए रयणीए-जाव-जलते पाइणाभिमुहस्स वा, दाहिणाभिमुहस्स वा, पडीणाभिमुहस्स वा, उत्तराभिमुहस्स वा अहारियं रियत्तए। —दसा द. ७, सु १९

सूर्यास्त होने पर विहार का निषेध—

५९१ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को विहार करते हुए जहाँ सूर्यास्त हो जाये—

वहाँ चाहे जल हो या स्थल हो,
दुर्गम स्थान हो या निम्नस्थान हो,
पर्वत हो या विषम स्थान हो,
गर्त हो या गुफा हो,

तो भी उसे पूरी रात वही रहना कल्पता है किन्तु एक कदम भी आगे बढना नही कल्पता है।

रात्रि समाप्त होने पर प्रात काल मे —यावत्—जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर उसे ईर्यासमिति पूर्वक गमन करना कल्पता है।

सचित्त पुढवी समीवे णिद्दाइ णिसेहो—

५९२ मासियं ण भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स णो से कप्पइ अणंतरहियाए पुढवीए निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा।

सचित्त पृथ्वी के निकट निद्रा लेने का निषेध—

५९२ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार सूर्यास्त हो जाने के कारण यदि सचित्त पृथ्वी के निकट ठहरा हो तो उसे वहाँ निद्रा लेना या ऊँघना नही कल्पता है।

केवली बूया—"आयाणमेयं।"

से तत्थ निद्दायमाणे वा, पयलायमाणे वा हत्थेहिं भूमिं परामुसेज्जा।

अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए।

—दसा द. ७, सु २०

केवली भगवान् ने कहा है—'यह कर्मबन्ध का कारण है।'

क्योंकि वहाँ पर नींद लेता हुआ या ऊँघता हुआ वह अपने हाथ आदि से सचित्त पृथ्वी का स्पर्श करेगा, जिससे पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा होगी।

अतः उसे सावधानी पूर्वक वहाँ स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

मलावरोहण णिसेहो—

५६३ उच्चार-पासवणेण उव्वाहिज्जा, नो से कप्पति उगिण्हित्तए वा णिगिण्हित्तए वा।

कप्पति से पुव्वपडिलेहिए थंडिले उच्चार पासवण परिट्ठावित्तए तमेव उवस्सयं आगम्म अहाविहिमेव ठाणं ठवित्तए।

—दसा द ७, सु २०

मलावरोध का निषेध—

५६३ यदि वहाँ उसे मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो धारण करना या रोकना नहीं कल्पता है। किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र का त्याग करना कल्पता है और पुनः उसी स्थान पर आकर सावधानी पूर्वक स्थिर रहना या कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

ससरक्खेण कायेण भिक्खायरियागमण णिसेहो—

५६४ मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति ससरक्खेण काएणं गाहावइ-कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा।

अह पुण एवं जाणेज्जा—ससरक्खे सेयत्ताए वा, जल्लत्ताए वा, मल्लत्ताए वा, पंकत्ताए वा परिणते, एवं से कप्पति गाहावइ-कुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। —दसा. द ७, सु. २१

सचित्त रजयुक्त शरीर से गोचरी जाने का निषेध—

५६४ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को सचित्त रज-युक्त काया से गृहस्थों के घरों में आहार पानी के लिए जाना और आना नहीं कल्पता है।

यदि यह ज्ञात हो जाये कि शरीर पर लगा हुआ सचित्त रज—पसीना, सूखा पसीना, मैल या पंक के रूप में परिणत हो गया हो तो उसे गृहस्थों के घरों में आहार पानी के लिए जाना-आना कल्पता है।

हत्थाइ पधोवण णिसेहो—

५६५ मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति सीओदग-वियडेण वा, उसिणोदग-वियडेण वा, हत्थाणि वा, पायाणि वा, दंताणि वा, अच्छीणि वा, मुहं वा, उच्छोलित्तए वा, पधोइत्तए वा।

नन्नत्थ लेवालेवेण वा भत्तामासेण वा।

—दसा द ७, सु २२

हस्तादि धोने का निषेध—

५६५ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को अचित्त शीतल या उष्ण जल से हाथ, पैर, दांत, नेत्र या मुख एक बार धोना अथवा बार-बार धोना नहीं कल्पता है।

किन्तु किसी प्रकार के लेप युक्त अवयव को और आहार से लिप्त हाथ आदि को धोकर शुद्ध कर सकता है।

दुट्ठ आसाइ ओवयमाणे भय णिसेहो—

५६६. मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स नो कप्पति आसस्स वा, हत्थिस्स वा, गोणस्स वा, महिसस्स वा, सीहस्स वा, वग्घस्स वा, विगस्स वा, दीवियस्स वा, अच्छस्स वा, तरच्छस्स वा, परासरस्स वा, सीयालस्स वा, विरालस्स वा, कोकंतियस्स वा, ससगस्स वा, चित्ताचिल्लडयस्स वा, सुणगस्स वा, कोलसुणगस्स वा, दुट्ठस्स आवयमाणस्स पयमवि पच्चोसक्कित्तए।

अदुट्ठस्स आवयमाणस्स कप्पइ जुगमित्तं पच्चोसक्कित्तए।

—दसा. द. ७, सु २३

दुष्ट अश्वादि का उपद्रव होने पर भयभीत होने का निषेध—

५६६ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार के सामने अश्व, हस्ती, वृषभ, महिष, सिंह, व्याघ्र, भेडिया, चीता, रीछ, तेंदुआ, अष्टापद, शृगाल, बिल्ला, लोमडा, खरगोश, चिल्लडक, श्वान, जंगली शूकर आदि दुष्ट प्राणी आ जाये तो उनसे भयभीत होकर एक पैर भी पीछे हटना नहीं कल्पता है।

यदि कोई दुष्टता रहित पशु स्वाभाविक ही मार्ग में सामने आ जाय तो उसे मार्ग देने के लिए युगमात्र अर्थात् कुछ अलग हटना कल्पता है।

सीतातव सहण विहाणो—

५९७ मासियं णं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पति छायाओ "सीयं ति" नो उण्हं एत्तए, उण्हाओ "उण्हं ति" नो छायं एत्तए।

जं जत्थ जया सिया तं तत्थ अहियासए।

—दसा द. ७, सु. २४

सरदी और गरमी सहन करने का विधान—

५९७ एक मास की भिक्षु-प्रतिमाधारी अनगार को—"यहाँ शीत अधिक है" ऐसा सोचकर छाया से धूप मे तथा "यहाँ गर्मी अधिक है" ऐसा सोचकर धूप से छाया मे जाना नही कल्पता है।

किन्तु जब जहाँ जैसा हो वहाँ वैसे ही सहन करना चाहिए।

पडिमाण सम्मआराहणं—

५९८. एवं खलु एसा मासिया भिक्खु-पडिमा अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं, सम्मं काएणं, फासित्ता, पालित्ता, सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टइत्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता भवइ। —दसा द. ७, सु २५

भिक्षु प्रतिमाओं का सम्यग् आराधन—

५९८. इस प्रकार यह एक मास की भिक्षु प्रतिमा-सूत्र कल्प और मार्ग के अनुसार यथातथ्य सम्यक् प्रकार काया से स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

दो मासिया भिक्खुपडिमा—

५९९. दो-मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।

नवरं दो दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहित्तए दो पाणगस्स।

—दसा द ७, सु २६

द्वि मासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

५९९. दो मासिकी भिक्षु प्रतिमा प्रतिपन्न अणगार के—**यावत्**—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन दो दत्तियाँ आहार की और दो दत्तियाँ पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

तिमासिया भिक्खु पडिमा—

६००. ति-मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।

नवरं तओ दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए तओ पाणगस्स।[1]

—दसा. द. ७, सु २७

त्रैमासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

६००. तीन मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपन्न अणगार के—**यावत्**—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन तीन दत्तियाँ भोजन की और तीन दत्तियाँ पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

चउमासिया भिक्खु पडिमा—

६०१. चउ मासियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं चत्तारि दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए चत्तारि पाणगस्स। —दसा. द. ७, सु. २८

चातुर्मासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

६०१. चार मास की भिक्षु-प्रतिमा प्रतिपन्न अणगार के—**यावत्**—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन चार दत्तिया आहार की और चार दत्तिया पानी की ग्रहण करना कल्पता है।

पंचमासिया भिक्खुपडिमा—

६०२ पंच मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।

णवरं पंच दत्तिओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पंच पाणगस्स।[2]

—दसा. द. ७, सु. २९

पंचमासिकी भिक्षु-प्रतिमा—

६०२. पाँच मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपन्न अणगार के—**यावत्**—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की पाँच दत्तियाँ और पानी की पाँच दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है।

छ: मासिया भिक्खुपडिमा—

६०३ छ मासियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।

षण्मासिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०३. छ मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपन्न अणगार के—**यावत्**—वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

---

१ ठाण. अ ३, उ. ३, सु. १८८

२ ठाण. अ. ५, उ. २, सु ४२४

णवरं छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए छ पाणगस्स ।
—दसा द ७, सु. ३०

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की छः दत्तियां और पानी की छ दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है ।

सत्तमासिया भिक्खुपडिमा—

६०४. सत्त मासियं भिक्खु पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ ।

णवरं सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए सत्त पाणगस्स ।
—दसा द ७, सु. ३१

सप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०४. सात मास की भिक्षु प्रतिमा प्रतिपन्न अणगार के-यावत्-वह प्रतिमा जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है ।

विशेष यह है कि उसे प्रतिदिन भोजन की सात दत्तियां और पानी की सात दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है ।

पढमा सत्तराइदिया भिक्खु पडिमा—

६०५ पढमं सत्त-राइदियं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स-जाव-अहियासेज्जा ।

कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा-जाव-रायहाणिए वा उत्ताणस्स वा, पासिल्लगस्स वा, नेसिज्जयस्स वा, ठाणं ठाइत्तए ।

तत्थ से दिव्व-माणुस्स-तिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्पज्जेज्जा, ते णं उवसग्गा पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, णो से कप्पइ पयलित्तए वा पवडित्तए वा ।

तत्थ णं उच्चार-पासवणेणं उव्वाहिज्जा, णो से कप्पइ उच्चार-पासवणं उगिण्हित्तए वा, णिगिण्हित्तए वा, कप्पइ से पुव्व-पडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चार-पासवणं परिट्ठवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ।

एवं खलु एसा पढमा सत्त-राइदिया भिक्खु-पडिमा अहासुयं-जाव-अणुपालित्ता भवइ । —दसा द. ७, सु ३२

प्रथम सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०५ प्रथम सात दिन रात की भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार—यावत्—शारीरिक सामर्थ्य से सहन करे ।

उसे निर्जल उपवास करके ग्राम—यावत्—राजधानी के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन या निषद्यासन से कायोत्सर्ग करके स्थित रहना चाहिए ।

वहाँ यदि देव, मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग हो और वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान से विचलित करें या पतित करें तो उसे विचलित होना या पतित होना नहीं कल्पता है ।

यदि मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो उसे धारण करना या रोकना नहीं कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र त्यागना कल्पता है । पुनः यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायोत्सर्ग करना कल्पता है ।

इस प्रकार यह प्रथम सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा यथा सूत्र—यावत्—जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

दोच्चा सत्तराइदिया भिक्खुपडिमा—

६०६ एवं दोच्चा सत्त-राइदिया वि ।

नवरं दण्डाइयस्स वा, लगंडसाइस्स वा, उक्कुडुयस्स वा, ठाणं ठाइत्तए, सेसं तं चेव-जाव-अणुपालित्ता भवइ ।
—दसा. द ७, सु ३३

द्वितीय सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०६ इसी प्रकार दूसरी सात दिन-रात की भिक्षु प्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधन-काल में दण्डासन, लकुटासन और उत्कुटुकासन से स्थित रहना चाहिए । शेष वर्णन पूर्ववत्—यावत्—जिनाज्ञा के अनुसार यह प्रतिमा की जाती है ।

तच्चा सत्तराइदिया भिक्खुपडिमा—

६०७. एवं तच्चा सत्त-राइंदिया वि ।

नवरं-गोदोहियाए वा, वीरासणीयस्स वा, अबखुज्जस्स वा, ठाणं ठाइत्तए । सेसं तं चेव-जाव-अणुपालित्ता भवइ ।
—दसा. द. ७, सु ३४

तृतीय सप्त अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०७ इसी प्रकार तीसरी सात दिन-रात की भिक्षु-प्रतिमा का भी वर्णन है ।

विशेष यह है कि इस प्रतिमा के आराधन-काल में गोदोह-निकासन, वीरासन और आम्रकुब्जासन से स्थित रहना चाहिए । शेष पूर्ववत्—यावत्—यह प्रतिमा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है ।

अहोराइया भिक्खु पडिमा—

६०८ एवं आहेराइयावि।

नवरं-छट्ठेणंभत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा-जाव-रायहाणिस्स वा ईसिं पब्भार गएण काएणं दो वि पाए साहट्टु वग्घारिय-पाणिस्स ठाण ठाइत्तए। सेस तं चेव-जाव-अणुपालित्ता भवइ। —दसा. द. ७, सु ३५

अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०८. इसी प्रकार अहोरात्रिकी प्रतिमा का भी वर्णन है।

विशेष यह है कि निर्जल षष्ठ भक्त करके ग्राम—यावत्—राजधानी के बाहर शरीर को थोडा सा झुकाकर दोनो पैरो को सकुचित कर और दोनो भुजाओ को जानु पर्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग करना चाहिए। शेष पूर्ववत्—यावत्—यह प्रतिमा जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

एगराइया भिक्खु पडिमा -

६०९ एग-राइयं भिक्खु-पडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स-जाव-अहियासेज्जा।

कप्पइ से अट्ठमेण भत्तेण अपाणएणं बहिया गामस्स वा-जाव-रायहाणिस्स वा ईसिं पब्भारगएण काएण एग पोग्गलट्ठिताए दिट्ठीए अणिमिसनयणेहिं अहापणिहितेहिं गुत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए।

एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमा—

६०९. एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार—यावत्—शारीरिक क्षमता से उन्हे सहन करे।

उसे निर्जल अष्टम भक्त करके ग्राम—यावत्—राजधानी के बाहर शरीर को थोडा सा आगे की ओर झुकाकर, एक पदार्थ पर दृष्टि स्थिर रखते हुए अनिमेष नेत्रो से और निश्चल अगो से सर्व इन्द्रियो को गुप्त रखते हुए दोनो पैरो को सकुचित कर एव दोनो भुजाओ को जानुपर्यन्त लम्बी करके कायोत्सर्ग से स्थित रहना चाहिये।

तत्थ से दिव्व-माणुस्स-तिरिक्खजोणिया उवसग्गा समुप्पज्जेज्जा ते ण उवसग्गा पयलेज्ज वा पवडेज्ज वा नो से कप्पइ पयलित्तए वा पवडित्तए वा।

वहाँ यदि देव, मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग हो और वे उपसर्ग उस अनगार को ध्यान मे विचलित करें या पतित करे तो उसे विचलित होना या पतित होना नही कल्पना है।

तत्थ ग उच्चार-पासवणेणं उव्वाहिज्जा, नो से कप्पइ उच्चार-पासवण उगिण्हित्तए वा णिगिण्हित्तए वा। कप्पइ से पुव्वपडिलेहियसि थडिलंसि-उच्चारपासवण परिट्ठवित्तए। अहाविहिमेव ठाण ठाइत्तए।

यदि मल मूत्र की वाधा हो जाय तो उसे रोकना नही कल्पता है, किन्तु पूर्व प्रतिलेखित भूमि पर मल मूत्र त्यागना कल्पता है। पुन यथाविधि अपने स्थान पर आकर उसे कायोत्सर्ग करना कल्पता है।

एगराइयं भिक्खु-पडिम सम्मं अणणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा अहियाए, असुभाए, अक्खमाए, अणिसेस्साए, अणणुगामियत्ताए भवति तं जहा—

१. उम्माय वा लभेज्जा,
२. दीहकालिय वा रोगायक पाउणिज्जा,
३. केवलि-पणत्ताओ वा धम्माओ भसिज्जा।

एक रात्रिकी भिक्षु प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन न करने पर अनगार के लिए ये तीन स्थान अहितकर, अशुभ, असामर्थ्यकर, अकल्याणकर एव दु:खद भविष्य वाले होते हैं।

यथा—(१) उन्माद की प्राप्ति,
(२) चिरकालिक रोग एवं आतंक की प्राप्ति,
(३) केवली प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट होना।

एग-राइय भिक्खु-पडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हियाए, सुहाए, खमाए, निस्सेसाए, अणुगामियत्ताए भवंति, त जहा—

१. ओहिनाणे वा से समुपज्जेज्जा,
२. मण-पज्जवनाणे वा से समुपज्जेज्जा,
३ केवल नाणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुपज्जेज्जा।

एक रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाले अनगार के लिए ये तीन स्थान हितकर, शुभ, सामर्थ्यकर, कल्याणकर एव सुखद भविष्य वाले होते हैं।

यथा—(१) अवधिज्ञान की उत्पत्ति,
(२) मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति,
(३) अनुत्पन्न केवलज्ञान की उत्पत्ति।

एव खलु एगराइयं भिक्खु-पडिमं, अहासुत्त, अहाकप्पं, अहामग्ग, अहातच्च, सम्मं काएणं फासित्ता, पालित्ता,

इस प्रकार यह एक रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग और यथातथ्य रूप से सम्यक् प्रकार काया से

सोहित्ता, तीरित्ता, किट्टित्ता, आराहित्ता, आणाए अणुपालित्ता या वि भवति[1]। — दसा द ७, सु ३६-३९

स्पर्श कर, पालन कर, शोधन कर, पूर्ण कर, कीर्तन कर और आराधन कर जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

पडिमागहणेण विमुत्ति—

६१० पिण्डोग्गहपडिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले॥
—उत्त अ ३१, गा ९

उवासगाण पडिमासु, भिक्खूणं पडिमासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मण्डले॥
—उत्त अ ३१, गा. ११

प्रतिमा ग्रहण करने से मुक्ति—

६१० जो भिक्षु आहार-ग्रहण की सात प्रतिमाओं मे और सात भयस्थानो मे सदा यत्न करता है वह ससार मे नही रहता है।

जो भिक्षु उपासको की ग्यारह प्रतिमाओ तथा भिक्षुओं की बारह प्रतिमाओं मे सदा यत्न करता है, वह ससार मे नही रहता।



एषणा प्रतिमाएँ—८(३)

सत्त आहारेसण पडिमाओ—

६११ इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खु जाणेज्जा-सत्त पिंडेसणाओ[2]

१. तत्थ खलु इमा पढमा पिंडेसणा—असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते।

तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा, मत्तएण वा, असण वा, खाइम वा, साइम वा, सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। पढमा पिंडेसणा।

२. अहावरा दोच्चा पिंडेसणा—संसट्ठे हत्थे, संसट्ठे मत्ते।

तहप्पगारेण संसट्ठेण हत्थेण वा, मत्तएण वा, असण वा, खाइम वा, साइम वा सय वा ण जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। दोच्चा पिंडेसणा।

३ अहावरा तच्चा पिंडेसणा-इह खलु पाईणं वा-जाव-उदीणं वा, संतेगतिया सड्ढा भवति-गाहावती वा-जाव-कम्मकरी वा।

तेसिं च णं अण्णतरेसु विरूवरूवेसु भायणजायेसु उवणिक्खित्त-पुव्वे सिया। त जहा—

आहार लेने की सात प्रतिमाएँ—

६११ पूर्वोक्त (पिंडेषणा वर्णित) दोषो को छोडता हुआ भिक्षु ये सात पिंडेषणाएँ (आहार की प्रतिमाएँ) जानें।

(१) उन मे से पहली पिंडेषणा यह है कि 'असंसृष्ट हाथ और असंसृष्ट पात्र,

यदि दाता का हाथ और वर्तन किसी भी वस्तु से अलिप्त हो तो अशन, खाद्य, स्वाद्य, आहार की स्वय याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर— यावत् - ग्रहण कर ले। यह पहली पिंडेषणा है।

(२) इसके बाद दूसरी पिंडेषणा यह है कि 'संसृष्ट हाथ और संसृष्ट पात्र।'

यदि दाता का हाथ और वर्तन किसी वस्तु से लिप्त है तो उससे वह अशन, खाद्य, स्वाद्य आहार की स्वय याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह दूसरी पिंडेषणा है।

(३) इसके बाद तीसरी पिंडेषणा यह है कि इस क्षेत्र मे पूर्व—यावत्—उत्तर दिशा मे कई श्रद्धालु व्यक्ति रहते हैं, जैसे कि गृहपति—यावत्—नौकरानियाँ।

उनके यहाँ अनेक प्रकार के वर्तनो मे पहले से भोजन रखा हुआ है। जैसे कि—

१ आया. सु २, अ. १, उ. ११, सु ४०८। (आचा. श्रु २, अ. १, उ. ११, सु ४०८ ।)

२ ठाणं अ. ७, सु ५४५।

थालंसि वा, पिढरगंसि वा, सरगंसि वा, परगंसि वा, वरगंसि वा।

अह पुणेवं जाणेज्जा—असंसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे, असंसट्ठे मत्ते। से य पडिग्गहधारी सिया, पाणि-पडिग्गहए वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—

"आउसो! ति वा भगिणि! ति वा, एतेण तुमं असंसट्ठेण हत्थेण, संसट्ठेण मत्तेण, संसट्ठेण वा हत्थेण, असंसट्ठेण मत्तेण अस्सिं खलु पडिग्गहंसि वा, पाणिंसि वा णिहट्टु ओवित्तु दलयाहि।

तहप्पगारं भोयणजातं सयं वा ण जाएज्जा, परो वा से देज्जा। फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। तच्चा पिंडेसणा।

४ अहावरा चउत्था पिंडेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे सेज्जं पुणं जाणेज्जा-पिहुयं वा, बहुरयं वा, भुज्जियं वा, मथुं वा, चाउलं वा, चाउलपलंबं वा,

अस्सिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पे पज्जवजाते।

तहप्पगारं पिहुयं वा-जाव चाउलपलंबं वा सयं वा ण जाएज्जा परो वा से देज्जा फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा।

चउत्था पिंडेसणा।

५. अहावरा पंचमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उग्गहियमेव भोयणजातं जाणेज्जा। तं जहा—

सरावंसि वा, डिंडिमंसि वा, कोसगंसि वा।

अह पुणेवं जाणेज्जा—बहुपरियावण्णे पाणीसु दगलेवे।

तहप्पगारं असणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। पंचमा पिंडेसणा।

६ अहावरा छट्ठा पिंडेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे पग्गहियमेव भोयणजातं जाणेज्जा जं च सयट्ठाए पग्गहितं, च परट्ठाए पग्गहितं,

तं पायपरियावण्णं तं पाणिपरियावण्णं असणं वा, खाइमं वा, साइमं वा सयं वा ण जाएज्जा परो वा से देज्जा फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। छट्ठा पिंडेसणा।

थाली मे, तपेली मे, सूप मे, छबडी मे तथा बहुमूल्य पात्र मे,

उस समय साधु यह जाने कि—गृहस्थ का हाथ अलिप्त है किन्तु वर्तन लिप्त है अथवा हाथ लिप्त है, वर्तन अलिप्त है, तब वह पात्रधारी या कर-पात्री साधु पहले ही उसे कहे—

"हे आयुष्मन् गृहस्थ! या आयुष्मती बहन! तुम इस असंसृष्ट हाथ और संसृष्ट वर्तन से अथवा संसृष्ट हाथ और असंसृष्ट बर्तन से लेकर इस पात्र मे या हाथ मे झुकाकर दो।"

उस प्रकार के भोजन की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—**यावत्**—ग्रहण कर ले। यह तीसरी पिंडेषणा है।

(४) इसके बाद चौथी पिंडेषणा इस प्रकार है—वह भिक्षु—**यावत्**—प्रवेश करने पर यह जाने कि—गृहस्थ के यहाँ अग्नि से सिके हुए या चूर्ण किये हुए अचित्त गेहूँ आदि के सिट्टे, ज्वार, जौ आदि के सिट्टे तथा चावल या उसके टुकडे हैं।

जिनके ग्रहण करने पर पात्र के लेप नही लगता है और न ही तुष आदि परठने पडते हैं।

इस प्रकार के धान्य के सिट्टे—**यावत्**—भग्न शालि आदि अचित्त पदार्थ की साधु स्वय याचना कर ले अथवा गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—**यावत्**—ग्रहण कर ले।

यह चौथी पिंडेषणा है।

(५) इसके बाद पाँचवी पिंडेषणा इस प्रकार है—वह भिक्षु—**यावत्**—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ के यहाँ अपने खाने के लिए किसी वर्तन मे भोजन ले रखा है। जैसे कि—

सकोरे मे, कासे के वर्तन मे या मिट्टी के किसी वर्तन मे।

फिर यह भी जान जाये कि उसके हाथ कच्चे पानी से लिप्त नही है पूर्ण सूख गये हैं।

उस प्रकार के अशन, खाद्य, स्वाद्य आहार की साधु स्वय याचना कर ले या गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—**यावत्**—ग्रहण कर ले। यह पाँचवी पिंडेषणा है।

(६) इसके बाद छठी पिंडेषणा इस प्रकार है—वह भिक्षु—**यावत्**—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ ने अपने लिए या दूसरे के लिए वर्तन आदि मे या हाथ मे भोजन ग्रहण किया है।

ऐसा वह गृहस्थ के पात्र मे या हाथ मे रहा हुआ अशन, खाद्य, स्वाद्य साधु स्वयं याचना कर ले या गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—**यावत्**—ग्रहण कर ले। यह छट्ठी पिंडेषणा है।

७. अहावरा सत्तमा पिंडेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उज्झित-धम्मिय भोयणजाय जाणेज्जा,

जं चऽण्णे बहवे दुपय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा णावकंखति।

तहप्पगारं उज्झित-धम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। सत्तमा पिंडेसणा। —आ. सु. २, अ. १, उ. ११, सु. ४०९

(७) इसके बाद सातवी पिंडेषणा इस प्रकार है—वह भिक्षु —यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ के फेंकने योग्य आहार है।

जिसे अन्य बहुत से द्विपद-चतुष्पद-श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्री, और भिखारी लोग नही चाहते,

ऐसे फेंकने योग्य भोजन की स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह सातवी पिंडेषणा है।

सत्त-पाणेसण पडिमाओ—

पानी लेने की सात प्रतिमायें—

६१२. इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा-सत्त पाणेसणाओ[1]—

१. तत्थ खलु इमा पढमा पाणेसणा—असंसट्ठे हत्थे, असंसट्ठे मत्ते।

तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा, असंसट्ठेण मत्तएणं वा पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा पढमा पाणेसणा।

२ अहावरा दोच्चा पाणेसणा—संसट्ठे हत्थे, संसट्ठे मत्ते।

तहप्पगारेण असंसट्ठेण हत्थेण वा असंसट्ठेण मत्तएण वा, पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। दोच्चा पाणेसणा।

३ अहावरा तच्चा पाणेसणा—इह खलु पाईणं वा-जाव-उदीणं वा संतेगतिया सड्ढा भवंति गाहावती वा-जाव-कम्मकरी वा।

तेसिं च णं अण्णतरेसु विरूवरूवेसु भायणजायेसु उवणिक्खित्त-पुव्वे सिया, तं जहा—

थालंसि वा, पिढरगंसि वा, सरगंसि वा, परगंसि वा, वरगंसि वा।

अह पुणेवं जाणेज्जा—असंसट्ठे हत्थे-संसट्ठे मत्ते, संसट्ठे वा हत्थे असंसट्ठे मत्ते। से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहए वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा।

"आउसो ! ति वा, भगिणी ! ति वा एतेण तुमं असंसट्ठेण हत्थेण, संसट्ठेण मत्तेण, संसट्ठेण वा हत्थेण, असंसट्ठेण मत्तेण, अस्सिं खलु पडिग्गहंसि वा पाणिंसि वा णिहट्टु ओयित्तु दलयाहि। तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। तच्चा पाणेसणा।

६१२ पूर्वोक्त (पाणैषणा वर्णित) दोनो को छोडता हुआ भिक्षु ये सात पाणैषणाएँ (पानी की प्रतिमा) जानें—

(१) इनमे से प्रथम पाणैषणा यह है कि—असंसृष्ट हाथ और असंसृष्ट पात्र।

यदि दाता का हाथ और बर्तन किसी वस्तु से अलिप्त हो तो उससे पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह प्रथम पाणैषणा है।

(२) इसके बाद दूसरी पाणैषणा यह है—संसृष्ट हाथ और संसृष्ट पात्र।

यदि दाता का हाथ और बर्तन अचित्त वस्तु से लिप्त है तो उससे पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह द्वितीय पाणैषणा है।

(३) इसके बाद तीसरी पाणैषणा यह है—इस क्षेत्र में पूर्व —यावत्—उत्तर दिशा में कई श्रद्धालु व्यक्ति रहते हैं, जैसे कि वे गृहपति—यावत्—नौकरानियाँ।

उनके यहाँ अनेक प्रकार के बर्तनो मे पहले से पानी रखा हुआ है, जैसे—

थाली मे, तपेली मे, सूप मे, छबडी मे, बहुमूल्य पात्र मे।

उस समय साधु यह जाने कि—गृहस्थ का हाथ अलिप्त है किन्तु बर्तन लिप्त है अथवा हाथ लिप्त है और बर्तन अलिप्त है, तब वह पात्रधारी या कर-पात्री साधु पहले ही उसे कहे—

"हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या गृहस्वामिनी ! तुम इस असंसृष्ट हाथ और संसृष्ट बर्तन से अथवा संसृष्ट हाथ और असंसृष्ट बर्तन से लेकर इस पात्र मे या हाथ मे पानी दो, इस प्रकार के पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले।

यह तीसरी पाणैषणा है।

1 ठाणं. अ. ७, सु. ५४५

४ अहावरा चउत्था पाणेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे से ज्जं पुण पाणगजायं जाणेज्जा । तं जहा—
तिलोदगं वा, तुसोदगं वा, जवोदग वा, आयामं वा, सोवीर वा, सुद्धवियडं वा ।

अस्सि खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे, अप्पे पज्जव-जाए ।
तहप्पगार तिलोदग वा-जाव-सुद्धवियडं वा सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । चउत्था पाणेसणा ।

५. अहावरा पचमा पाणेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उग्गहियमेव पाणगजायं जाणेज्जा । त जहा—

सरावसि वा, डिंडिमंसि वा, कोसगसि वा ।
अह पुणेवं जाणेज्जा-बहुपरियावण्णे पाणीसु दगलेवे ।

तहप्पगारं पाणगजाय सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । पंचमा पाणेसणा ।

६. अहावरा छट्ठा पाणेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे पग्गहियमेव पाणगजायं जाणेज्जा-ज च सयट्ठाए पग्गहितं ज च परट्ठाए पग्गहितं ।
त पायपरियावण्ण त पाणिपरियावण्णं पाणगजायं सय वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुय-जाव-पडिगाहेज्जा । छट्ठा पाणेसणा ।

७. अहावरा सत्तमा पाणेसणा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उज्झित धम्मियं पाणगजायं जाणेज्जा ।
ज चऽण्णे बहवे दुपय-चउप्पय-समण-माहण-अतिहि-किवण-वणीमगा णावकंखति ।

तहप्पगारं उज्झितधम्मिय पाणगजायं सय वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । सत्तमा पाणेसणा । —आ. सु २, अ १, उ. ११, सु. ४०९

(४) इसके वाद चौथी पाणैंपणा यह है। वह भिक्षु–यावत्–प्रवेश करने पर यह जाने कि—
यहाँ तिल का धोवन, तुप का धोवन, जौ का धोवन, चावल आदि का ओसामण, काजी का पानी या शुद्ध अचित्त शीतल जल है।
इनमे से किसी प्रकार का पानी ग्रहण करने पर पात्र के अन्न आदि का लेप नही लगता है तथा कुछ भी फेंकना नही पडता है।
ऐसे तिल का धोवन—यावत्—शुद्ध अचित्त शीतल जल की स्वयं याचना करे या गृहस्थ दे उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह चौथी पाणैंपणा है।

(५) इसके वाद पाँचवी पाणैंषणा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि—यहाँ किसी वर्तन मे पानी रखा हुआ है, यथा—
सकोरे मे, कासे के वर्तन मे या मिट्टी के वर्तन मे।
फिर यह भी जान जाए कि पानी देने वाले के हाथ सचित्त पानी से अलिप्त हो गये हैं, पूर्ण सूख गये हैं।
उस प्रकार के पानी की स्वय याचना करे या वह गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह पाँचवी पाणैंपणा है।

(६) इसके वाद छठी पाणैंपणा यह है—वह भिक्षु–यावत्–प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ ने अपने लिए या दूसरे के लिए पानी निकाला है।
ऐसा वह गृहस्थ के पात्र मे व हाथ मे रहा हुआ पानी साधु स्वय याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह छठी पाणैंपणा है।

(७) इसके वाद सातवी पाणैंपणा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि—
गृहस्थ के फेंकने योग्य पानी है जिसे अन्य वहुत से द्विपद-चतुष्पद-श्रमण-ब्राह्मण, अतिथि, दरिद्री और भिखारी लोग नही चाहते,
ऐसे फेंकने योग्य पानी की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण कर ले। यह सातवी पाणैंपणा है।

पडिमा धारगस्स वयणं विवेगो—

६१३. इच्चेयासि सत्तण्हं पिंडेसणाण, सत्तण्हं पाणेसणाणं अण्णतरं पडिम पडिवज्जमाणे णो एव वदेज्जा—"मिच्छा पडिवण्णा खलु एते भयतारो, अहमेगे सम्मं पडिवण्णे"

प्रतिमा धारण करने वाले का वचन विवेक—

६१३. इन सात पिंडेपणाओ और सात पाणैंपणाओ मे से किसी एक प्रतिमा को स्वीकार करने वाला भिक्षु इस प्रकार अवहेलना करता हुआ न कहे कि—"इन साधु भगवन्तो ने असम्यक् प्रतिमाएँ स्वीकार की हैं, एक मात्र मैंने ही सम्यक् प्रतिमा स्वीकार की है।"

"जे एते भयतारो एताओ पडिमाओ पडिवज्जित्ताण विहरति, जे य अहमवि एय पडिम पडिवज्जित्ताण विहरामि, सव्वेवि ते उ जिणाणाए उवट्ठित्ता अण्णोण्णसमाहीए, एव च ण विहरति। —आ सु २, अ १, उ. ११, सु. ४१०

अपितु वह इस प्रकार कहे—"जो ये साधु भगवन्त इन प्रतिमाओ को स्वीकार करके विचरण करते हैं और जो मैं इस प्रतिमा को स्वीकार करके विचरण करता हूँ, ये हम सभी अपनी अपनी शक्ति समाधि के अनुसार जिनाज्ञा मे उद्यत होकर इस प्रकार विचरण करते हैं।

चत्तारि संथारेसण पडिमाओ—

६१४ इच्चेयाइ आयतणाइ उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा-इमाहिं चउहिं पडिमाहिं संथारग एसित्तए[1]।

१ तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उद्दिसिय उद्दिसिय सथारग जाएज्जा, त जहा—

१. इक्कडं वा, २ कढिण वा,
३ जंतुय वा, ४ परगं वा,
५. मोरग वा, ६ तणं वा,
७ कुसं वा,
८. कुच्चग वा,
९. पिप्पलगं वा, १०. पलालगं वा।

से पुव्वामेव आलोएज्जा—"आउसो ! ति वा, भगिणी ! ति वा, दाहिसि मे एत्तो अण्णतर सथारग ?"

तहप्पगार सथारगं सय वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुय-जाव-पडिगाहेज्जा। पढमा पडिमा।

२ अहावरा दोच्चा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा पेहाए सथारग जाएज्जा। त जहा—

गाहावति वा-जाव-कम्मकरि वा।

से पुव्वामेव आलोएज्जा—"आउसो ! ति वा भगिणि ! ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतर संथारगं।"

तहप्पगार संथारग सय वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुय -जाव-पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा।

३. अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा जस्सुवस्सए सयमेज्जा जे तत्थ अहासमण्णागते, तं जहा—

इक्कडे वा-जाव-पलाले वा,

तस्स लाभे सवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा। तच्चा पडिमा।

संस्तारक लेने की चार प्रतिमाएँ—

६१४ पूर्वोक्त (शय्यैषणा मे वर्णित) दोषो को छोडकर भिक्षु इन चार प्रतिमाओ से सस्तारक की एषणा करे।

१ इनमे से पहली प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी नामोल्लेख कर-करके सस्तारक की याचना करे, जैसे—

१. इक्कड नामक तृण से निष्पन्न, २ बांस की चटाई,
३. जन्तुक नामक तृण से निष्पन्न, ४ फूल गूँथने का तृण,
५. मोर की पाँखो से निष्पन्न, ६ सामान्य तृण,
७. कुश (दोव) से निष्पन्न,
८ कूर्चक तृण से निष्पन्न (जिससे पुताई करने की कूची बनती है)।
९ पीपल के काष्ठ मे निष्पन्न, १० पराल शालि का तृण।

साधु पहले से ही इस प्रकार कहे—"हे आयुष्मन् गृहस्थ या बहन ! क्या तुम मुझे इन सस्तारको मे से अमुक सस्तारक दोगे ?"

इस प्रकार सस्तारक की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करले। यह प्रथम प्रतिमा है।

२ इसके बाद दूसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी गृहस्थ के मकान मे सामने रखे दिखते हुए सस्तारक को देखकर उसकी याचना करे। यथा—

गृहपति—यावत्—नौकरानियाँ,

उनसे पहले ही इस प्रकार कहे कि—"हे आयुष्मन् गृहस्थ! या बहिन ! तुम मुझे इन सस्तारको मे से अमुक सस्तारक दोगे ?"

इस प्रकार के संस्तारक की स्वय याचना करे या गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करले। यह द्वितीय प्रतिमा है।

३ इसके बाद तीसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी जिस उपाश्रय मे निवास करे उसी उपाश्रय मे जो सस्तारक विद्यमान हो। यथा—

इक्कड—यावत्—पराल।

इनके प्राप्त होने पर आज्ञा लेकर शयन करे। न प्राप्त होने पर उत्कटुकासन या निषद्यासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे। यह तीसरी प्रतिमा है।

---

१. ठाण. अ ४, उ ३, सु ३३१

४ अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अहासथडमेव संथारग जाएज्जा । त जहा—

पुढविसिल वा, कट्ठसिलं वा अहासथडमेव वा सयारगं,

तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा । चउत्था पडिमा ।

इच्चेयाण चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे -जाव अण्णोण्णसमाहीए एव च ण विहरति ।

—आ. सु. २, अ २, उ. ३, सु ४५६-४५७

४. इसके वाद चौथी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी उपाश्रय मे पहले से ही विछे हुए संस्तारक की याचना करे। यथा—

पत्थर की शिला, लकडी का पाट या विछा हुआ तृण मय संस्तारक ।

इनके प्राप्त होने पर आज्ञा लेकर उस पर शयन करे। न मिले तो उत्कटुकासन या निषद्यासन आदि आसनो से वैठकर रात्रि व्यतीत करे । यह चौथी प्रतिमा है ।

इन चारो प्रतिमाओ मे से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं ।

चत्तारि वत्थेसण पडिमाओ—

६१५ इच्चेयाइं आयतणाइ उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा—इमाहिं चउहिं पडिमाहिं वत्थं एसित्तए।[1]

१ तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा – से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उद्दिसिय उद्दिसिय वत्थ जाएज्जा, तं जहा—

१. जंगियं वा, २. भंगियं वा, ३ साणयं वा,
४ पोत्तगं वा, ५. खोमिय वा, ६. तुलकड वा ।

तहप्पगारं वत्थ सय वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुय-जाव-पडिगाहेज्जा । पढमा पडिमा ।

२ अहावरा दोच्चा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा पेहाए वत्थ जाएज्जा तं जहा—गाहावति वा-जाव-कम्मकरि वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा—''आउसो ति वा भगिणि ! ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णतर वत्थ,

तहप्पगार वत्थ-सय वा ण जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुय-जाव-पडिगाहेज्जा । दोच्चा पडिमा ।

३. अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे से ज्ज पुण वत्थं जाणेज्जा, तं जहा—

अंतरिज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा,

तहप्पगार वत्थं सयं वा ण जाएज्जा, परो वा से देज्जा फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा । तच्चा पडिमा ।

४ अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उज्झिय धम्मिय वत्थ जाणेज्जा,

ज चऽण्णे वहवे समण-जाव-वणीमगा णावकखति,

वस्त्र लेने की चार प्रतिमाएँ—

६१५. पूर्वोक्त (वस्त्रैषणा मे वर्णित) दोषो को छोडकर भिक्षु इन चार प्रतिमाओ से वस्त्र की एषणा करे—

१. इनमे से पहली यह है—भिक्षु या भिक्षुणी नामोल्लेख कर-करके वस्त्र की याचना करे, जैसे—

१. जागमिक, २. भागिक, ३. सानज,
४. पोत्रक, ५ क्षोमिक, ६. तुलनिर्मित वस्त्र

ऐसे वस्त्र की स्वय याचना करे अथवा गृहस्थ स्वयं दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह प्रथम प्रतिमा है ।

२. उसके वाद दूसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी वस्त्र को पहले ही देखकर गृहस्वामी—यावत्—नौकरानी आदि से इस प्रकार कहे—''हे आयुष्मन् गृहस्थ ! या वहन ! क्या तुम इन वस्त्रो मे से कोई वस्त्र मुझे दोगे ?''

इस प्रकार स्वयं वस्त्र की या ना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे । यह दूसरी प्रतिमा है ।

३. इसके वाद तीसरी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर वस्त्र के सम्वन्ध मे यह जाने—जैसे कि—

नीचे के भाग मे पहना हुआ वस्त्र या ऊपर के भाग में पहना हुआ वस्त्र ।

ऐसे वस्त्र की स्वयं याचना करे या गृहस्थ स्वयं दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्— ग्रहण करे । यह तीसरी प्रतिमा है ।

४. इसके वाद चौथी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि गृहस्थ ने वस्त्र को पहन कर छोड दिया है ।

जिसे कि वहुत से अन्य श्रमण—यावत्—भिखारी लोग भी लेना न चाहते हों,

---

१. ठाणं. अ. ४, उ. ३, सु. ३३१

तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं सयं वा ण जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। चउत्था पडिमा।

इच्चेयासिं चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे -जाव-अण्णोण्णसमाहीए एवं च णं विहरंति।

—आ. सु. २, अ. ५, उ. १, सु. ५५६-५६०

ऐसे छोड़े हुए वस्त्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे। यह चौथी प्रतिमा है।

इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं।

चत्तारि पत्तेसण पडिमाओ—

६१६ इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा—इमाहिं चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए।[1]

१. तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उद्दिसिय-उद्दिसिय पायं जाएज्जा, तं जहा—

१ लाउयपायं वा, २ दारुपायं वा,

३ मट्टियापायं वा,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। पढमा पडिमा।

२. अहावरा दोच्चा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा पेहाए पायं जाएज्जा तं जहा—

गाहावतिं वा-जाव-कम्मकरिं वा,

से पुव्वामेव आलोएज्जा—"आउसो! ति वा, भगिणी! ति वा, दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं पायं, तं जहा—

लाउयपायं वा-जाव-मट्टियापायं वा,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा।

३. अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे से ज्जं पुण पायं जाणेज्जा-संगतियं वा, वेजयंतियं वा,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा, फासुयं-जाव-पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।

४. अहावरा चउत्था पडिमा—से भिक्खू वा-जाव-समाणे उज्झियधम्मियं पायं जाएज्जा—जं चऽण्णे बहवे समण-जाव-वणीमगा णावकंखंति,

तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं जाव पडिगाहेज्जा चउत्था पडिमा।

इच्चेयासिं चउण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे -जाव-अण्णोण्णसमाहिए एवं च णं विहरंति।

—आ. सु. २, अ. ६, उ. १, सु. ५६४-५६५

पात्र लेने की चार प्रतिमाएँ—

६१६. पूर्वोक्त (वस्त्रैषणा में वर्णित) दोषों का परित्याग करके भिक्षु इन चार प्रतिमाओं से पात्र की एषणा करे—

१. इनमें से पहली प्रतिमा यह है कि—भिक्षु या भिक्षुणी नामोल्लेख पूर्वक प्रतिज्ञा करके पात्र की याचना करे, जैसे—

१ तुम्बे का पात्र, २. लकडी का पात्र,

३. मिट्टी का पात्र।

ऐसे पात्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे। यह पहली प्रतिमा है।

२ इसके बाद दूसरी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी (सामने दिखते हुए पात्र को लेने की प्रतिज्ञा करके) पात्रों को पहले ही देखकर गृहपति—यावत्—कर्मकारिणी आदि से इस प्रकार कहे,

"हे आयुष्मन् गृहस्थ! या बहन! क्या मुझे इनमें से अमुक पात्र दोगे?" जैसे कि—

तुम्बा, काष्ठ या मिट्टी का पात्र,

इस प्रकार के पात्र की स्वयं याचना करे या गृहस्थ स्वयं दे तो उसे प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे। यह दूसरी प्रतिमा है।

३ इसके बाद तीसरी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर ऐसा पात्र जाने कि वह गृहस्थ के द्वारा उपयोग में लिया जा चुका है या उपयोग में लिया जा रहा है।

ऐसे पात्र की स्वयं याचना करे अथवा वह गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे। यह तीसरी प्रतिमा है।

४ इसके बाद चौथी प्रतिमा यह है—वह भिक्षु—यावत्—प्रवेश करने पर यह जाने कि—गृहस्थ ने पात्र को उपयोग में लेकर छोड़ दिया है। जिसे कि अन्य बहुत से श्रमण—यावत्—भिखारी भी लेना नहीं चाहते,

ऐसे पात्र की स्वयं याचना करे अथवा गृहस्थ दे तो प्रासुक जानकर—यावत्—ग्रहण करे। यह चौथी प्रतिमा है।

इन चारों प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं।

---

१. ठाणं अ. ४, उ. ३, सु. ३३१

चत्तारि ठाणं-काउस्सग पडिमा—

६१७ इच्चेयाइं आयतणाइ उवातिकम्म अह भिक्खू इच्छेज्जा—चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए[1]

१. तत्थिमा पढमा पडिमा —"अचित्त खलु उवसज्जिस्सामि, अवलंबिस्सामि, काएण विप्परिकम्मिस्सामि, सवियार ठाण ठाइस्सामि त्ति ।" पढमा पडिमा ।

२. अहावरा दोच्चा पडिमा - "अचित्तं खलु उवसज्जिस्सामि, अवलंबिस्सामि काएण विप्परिकम्मिस्सामि, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि त्ति ।" दोच्चा पडिमा ।

३ अहावरा तच्चा पडिमा—"अचित्त खलु उवसज्जिस्सामि, अवलंबिस्सामि णो काएण विप्परिकम्मिस्सामि, णो सवियार ठाइस्सामि त्ति ।" तच्चा पडिमा ।

४ अहावरा चउत्था पडिमा—"अचित्त खलु उवसज्जिस्सामि, णो अवलंबिस्सामि, णो काएण विप्परिकम्मिस्सामि, णो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि, वोसट्ठकाए वोसट्ठकेस-मसु-रोम णहे संनिरुद्ध वा ठाणं ठाइस्सामि त्ति ।" चउत्था पडिमा ।

इच्चेयासिं चउण्हं पडिमाण अण्णतर पडिम पडिवज्जमाणे -जाव-अण्णोण्ण-समाहीए एव च ण विहरति ।

—आ सु २, अ. ८, उ १, सु ६३८-६३९

खड़े रहकर कायोत्सर्ग करने की चार प्रतिमाएँ—

६१७ पूर्वोक्त स्थान सम्बन्धी दोषो को छोडकर भिक्षु इन चार प्रतिमाओ मे मे किसी एक प्रतिमा से कायोत्सर्ग करने की इच्छा करे—

१ उनमे से प्रथम प्रतिमा यह है—"मैं अचित्त मर्यादित स्थान मे रहूँगा, दीवार आदि का सहारा लूंगा, हाथ-पैर आदि का सकोचन-प्रसारण करूँगा तथा वही पर थोडा-सा विचरण करूँगा," यह प्रथम प्रतिमा है ।

२ इसके वाद दूसरी प्रतिमा यह है—"मैं अचित्त मर्यादित स्थान मे रहूँगा, दीवार आदि का सहारा लूंगा, हाथ-पैर आदि का संकोचन प्रसारण करूँगा, किन्तु थोडा-सा भी विचरण नही करूँगा," यह दूसरी प्रतिमा है ।

३. इसके वाद तृतीय प्रतिमा यह है—"मैं अचित्त मर्यादित स्थान मे रहूँगा, दीवार आदि का सहारा लूंगा, किन्तु हाथ-पैर आदि का सकोचन-प्रसारण नही करूँगा तथा भ्रमण भी नही करूँगा " यह तीसरी प्रतिमा है ।

४ इसके वाद चतुर्थ प्रतिमा यह है—'मैं अचित्त स्थान मे स्थित रहूँगा । उस समय न तो दीवार आदि का सहारा लूंगा, न हाथ-पैर आदि का सकोचन-प्रसारण करूँगा और न ही भ्रमण करूँगा, अपितु शरीर का ममत्व तथा केश, दाढी, मूँछ, रोम और नख आदि के परिकर्म का त्याग कर सम्यक् प्रकार से काया का निरोध कर इम स्थान मे कायोत्सर्ग करके स्थित रहूँगा," यह चौथी प्रतिमा है ।

इन चारो प्रतिमाओ मे से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं ।

सत्त अवग्गह पडिमाओ—

६१८. इच्चेयाइ आयतणाइ उवातिकम्म अह भिक्खू जाणेज्जा इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गह ओगिण्हित्तए[2]

१. जत्य खलु इमा पढमा पडिमा—से आगतारेसु वा-जाव-परियावसहेसु वा अणुवीइ उग्गह जाएज्जा-जाव तेण परं विहरिस्सामो । पढमा पडिमा ।

२. अहावरा दोच्चा पडिमा— जस्स ण भिक्खुस्स एव भवति "अह च खलु अण्णेसिं भिक्खूण अट्ठाए उग्गह ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसिं भिक्खूणं उग्गहिते उग्गहे उवल्लिस्सामि ।" दोच्चा पडिमा ।

अवग्रह लेने की सात प्रतिमाएँ —

६१८. पूर्वोक्त अवग्रह सम्बन्धी दोषो का परित्याग करके भिक्षु इन सात प्रतिमाओ के अनुसार अवग्रह ग्रहण करे—

१. इनमे से पहली प्रतिमा यह है कि—वह साधु पथिक-शाला—यावत्—परिव्राजको के आश्रम मे सम्यक् विचार करके अवग्रह की याचना करे—यावत्—उसके वाद हम विहार कर देंगे, यह प्रथम प्रतिमा है ।

२. इसके वाद दूसरी प्रतिमा यह है कि—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि "मैं अन्य भिक्षुओ के लिए अवग्रह की याचना करूँगा और अन्य भिक्षुओ के द्वारा याचित अवग्रह मे निवास करूँगा ।" यह द्वितीय प्रतिमा है ।

---

१ ठाणं. अ ४, उ ३, सु ३३१

२ ठाण. अ. ७, सु. ५४५ ।

३. अहावरा तच्चा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसिं च उग्गहिते उग्गहे णो उवल्लिस्सामि।" तच्चा पडिमा।

४. अहावरा चउत्था पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति "अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं अट्ठाए उग्गहं णो ओगिण्हिस्सामि, अण्णेसिं च उग्गहिते उग्गहे उवल्लिस्सामि" चउत्था पडिमा।

५ अहावरा पंचमा पडिमा—जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति "अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं णोओगिण्हिस्सामि, णो दोण्हं, णो तिण्हं, णो चउण्हं, णो पंचण्हं" पंचमा पडिमा।

६. अहावरा छट्ठा पडिमा। से भिक्खू वा भिक्खूणी वा जस्सेव उग्गहे उवल्लिएज्जा, जे तत्थ अहासमण्णागते। तं जहा—

इक्कडे वा-जाव-पराले वा, तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा। छट्ठा पडिमा।

७ अहावरा सत्तमा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अहासंथडमेव उग्गहं जाएज्जा, तं जहा—

पुढविसिलं वा, कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव वा संथारगं तस्स लाभे संवसेज्जा, तस्स अलाभे उक्कुडुए वा णेसज्जिए वा विहरेज्जा। सत्तमा पडिमा।

इच्चेयासिं सत्तण्हं पडिमाणं अण्णतरं पडिमं पडिवज्जमाणे -जाव-अण्णोण्ण-समाहीए एवं च णं विहरति।

—आ. सु. २, अ. ७, उ. २, सु. ६३३-६३४

३. इसके बाद तीसरी प्रतिमा यह है कि—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि "मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना करूँगा परन्तु अन्य भिक्षुओं के द्वारा याचित स्थान में नहीं ठहरूँगा," यह तृतीय प्रतिमा है।

४ इसके बाद चतुर्थ प्रतिमा यह है—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि "मैं दूसरे भिक्षुओं के लिए अवग्रह की याचना नहीं करूँगा परन्तु अन्य साधु द्वारा याचित स्थान में ठहरूँगा।" यह चतुर्थ प्रतिमा है।

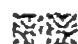
५ इसके बाद पाँचवीं प्रतिमा यह है—जिस भिक्षु का इस प्रकार का अभिग्रह होता है कि—"मैं अपने लिए ही अवग्रह की याचना करूँगा अन्य दो, तीन, चार, पाँच के लिए नहीं।" यह पाँचवीं प्रतिमा है।

६ इसके बाद छट्ठी प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी जिस अवग्रह की याचना करके ठहरता है उस स्थान में पहले से ही जो शय्यासंस्तारक विद्यमान है। जैसे—

इक्कड नामक तृण विशेष—यावत्—पराल आदि इनके मिलने पर उनका अवग्रह ग्रहण करके रहे और नहीं मिलने पर उत्कटुकासन या निषद्यासन आदि आसनों से बैठकर रात्रि व्यतीत करे। यह छट्ठी प्रतिमा है।

७ इसके बाद सातवीं प्रतिमा यह है—भिक्षु या भिक्षुणी जिस स्थान की अनुज्ञा ले वहाँ यदि पृथ्वी शिला, काष्ठशिला तथा पराल आदि बिछा हुआ प्राप्त हो तो उसका अवग्रह ग्रहण कर वहाँ रहे यदि प्राप्त न हो तो उत्कटुका आसन या निषद्यासन द्वारा रात्रि व्यतीत करे। यह सातवीं प्रतिमा है।

इन सात प्रतिमाओं में से किसी एक प्रतिमा को धारण करने वाला साधु—यावत्—सभी अपनी-अपनी समाधि के अनुसार विचरण करते हैं।



दत्ति-पडिमाएँ—८(४)

सत्त-सत्तमिया भिक्खुपडिमा—

६१९ सत्त-सत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपन्नाए राइंदिएहिं एगेण छन्नउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालिता भवइ।[1]

—ठाणं अ. ७, सु. ५४५

सप्तसप्तमिका भिक्षु प्रतिमा—

६१९. सप्त-सप्तदिवसीय भिक्षु-प्रतिमा (४९) उनचास अहोरात्र में भिक्षा में प्राप्त हुए आहार की (१९६) एक सौ छियानवे दत्तियों से सूत्रानुसार—यावत्—जिन आज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

1 (क) सम. सम. ४९, सु. १ (ख) वव. उ. ९, सु. ३७

अट्ठ-अट्ठमिया भिक्खुपडिमा—

६२०. अट्ठ-अट्ठमिया णं भिक्खु-पडिमा चउसट्ठीए-राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासिएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।[1] —ठाण. अ. ८, सु. ६४५

अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा—

६२० अष्ट-अष्टदिवसीय भिक्षु-प्रतिमा (६४) चौंसठ अहोरात्र मे भिक्षा मे प्राप्त हुए आहार की (२८८) दो सौ अठ्यासी दत्तियो से सूत्रानुसार—*यावत्*—जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

नव-नवमिया भिक्खु पडिमा—

६२१. नव-नवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहिं य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।[2] —ठाण. अ ९, सु ६८७

नव-नवमिका भिक्षु प्रतिमा—

६२१ नौ-नौ दिवसीय भिक्षु प्रतिमा (८१) इक्कासी अहोरात्र मे भिक्षा मे प्राप्त आहार की (४०५) चार सौ पाँच दत्तियो से सूत्रानुसार—*यावत्*—जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

दस-दसमिया भिक्खु पडिमा—

६२२ दस-दसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइदियसएण अद्ध छट्ठेहिं य भिक्खासएहिं अहासुत्त-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।[3] —ठाणं अ १०, सु ७७७

दश-दशमिका भिक्षु प्रतिमा—

६२२ दश-दश दिवसीय भिक्षु-प्रतिमा (१००) सौ अहोरात्र मे भिक्षा मे प्राप्त आहार की (५५०) पाँच सौ पचास दत्तियो मे सूत्रानुसार—*यावत्*—जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

दुविहा चंदपडिमाओ—

६२३. दो पडिमाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—

१ जवमज्झा य चंदपडिमा,

२. वइरमज्झा य चंदपडिमा।[4] —वव उ १०, सु. १

दो प्रकार की चन्द्र प्रतिमाएँ—

६२३. दो प्रतिमायें कही गई हैं, यथा—

(१) यवमध्य चन्द्र प्रतिमा,

(२) वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा।

जवमज्झा चंदपडिमा—

६२४. जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा दिव्वा वा, माणुस्सगा वा, तिरिक्खजोणिया वा, अणुलोमा वा, पडिलोमा वा,

तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा, नमंसिज्जा वा, सक्कारेज्जा वा, सम्माणेज्जा वा, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासेज्जा,

पडिलोमा ताव अन्नयरेणं दंडेण वा, अट्ठिणा वा, जोत्तेण वा, वेत्तेण वा, कसेण वा काए आउट्टेज्जा, ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहेज्जा, खमेज्जा, तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा—

६२४ यवमध्य चन्द्रप्रतिमा स्वीकार करने वाला अणगार एक मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित होकर रहे और देव, मनुष्य एवं तिर्यंचकृत अनुकूल या प्रतिकूल जितने परीषह एवं उपसर्ग होवें,

उनमे अनुकूल परीषह एवं उपसर्ग ये हैं—

कोई वन्दना नमस्कार करे, सत्कार सम्मान करे, कल्याणरूप, मगलरूप, देवरूप और ज्ञानरूप मानकर पर्युपासना करे।

उनमे प्रतिकूल परीषह एव उपसर्ग ये हैं—

किसी दण्ड, हड्डी, जोत, बेंत और चाबुक से शरीर पर प्रहार करे तो वह इन सब अनुकूल प्रतिकूल परीषह एव उपसर्गों को (प्रसन्न या खिन्न न होकर) समभाव से, क्षमा भाव युक्त, वीरता पूर्वक और शाति से सम्यक् सहन करे।

---

१ (क) सम. सम. ६४, सु. १ (ख) वव. उ ९, सु ३८

२ (क) सम. सम. ८१, सु. १ (ख) वव उ ९, सु ३९

३ (क) सम. सम १००, सु १ (ख) वव. उ. ९, सु. ४०

(ग) सप्तसप्तमिका भिक्षु प्रतिमा मे प्रथम सात दिन मे आहार की एक-एक दत्ति ग्रहण की जाती है, दूसरे सात दिन मे आहार की दो-दो दत्ति ग्रहण की जाती है,—*यावत्*—सातवें सात दिनो मे आहार की सात-सात दत्तियां ग्रहण की जाती हैं।
अष्ट अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा मे आठ-आठ दिन से एक-एक दत्ति की वृद्धि की जाती है।
नवनवमिया भिक्षु प्रतिमा मे नव नव दिन से एक-एक दत्ति की वृद्धि की जाती है।
दशदशमिया भिक्षु प्रतिमा मे दस दस दिन से एक-एक दत्ति की वृद्धि की जाती है।

४ ठाणं. अ. २, उ. ३, सु. ७७

जवमज्झं च चंदपडिम पडिवन्नस्स अणगारस्स

यवमध्य चन्द्र प्रतिमा के आराधक अणगार को,

सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स।

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है।

सव्वेहिं दुप्पय चउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं, अन्नायउंछ सुद्धोवहडं

आहार की आकांक्षा करने वाले सभी द्विपद चतुष्पद प्राणी आहार लेकर लौट गये हों तब उसे अज्ञात स्थान से शुद्ध (अल्प-लेप वाला) अल्प आहार लेना कल्पता है।

निज्जूहित्ता बहवे समण-जाव-वणीमगा।

अनेक श्रमण—यावत्—भिखारी आहार लेकर लौट गये हो अर्थात् वहाँ खडे न हो तो आहार लेना कल्पता है।

कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिग्गाहेत्तए नो दोण्ह, नो तिण्ह, नो चउण्ह, नो पंचण्ह।

एक व्यक्ति के भोजन मे से आहार लेना कल्पता है, किन्तु दो, तीन, चार या पाँच व्यक्ति के भोजन मे से लेना नहीं कल्पता है।

नो गुव्विणीए, नो बालवच्छाए, नो दारग पेज्जमाणीए।

गर्भवती, छोटे बच्चो वाली और बच्चे को दूध पिलाने वाली के हाथ से आहार लेना नहीं कल्पता है।

नो अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, नो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए।

दाता के दोनो पैर देहली के अन्दर हो या बाहर हो, उससे आहार लेना नहीं कल्पता है।

अह पुण एवं जाणेज्जा—एगं पायं अंतो किच्चा, एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खम्भइत्ता—

यदि ऐसा जाने कि—दाता एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर देहली के बाहर रखकर देहली को पैरों के बीच मे करके दे तो उसके हाथ से आहार लेना कल्पता है।

एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा, णो आहारेज्जा।

इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह मे एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

बिइयाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दोण्णि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा, नो आहारेज्जा।

शुक्ल पक्ष के द्वितीया के दिन प्रतिमाधारी अणगार को भोजन और पानी की दो-दो दत्तियाँ लेना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले यदि इस प्रकार के नियमो मे एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

तइयाए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा, नो आहारेज्जा।

तीज के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले यदि इस प्रकार के नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

चउत्थीए से कप्पइ चउदत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउपाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

चौथ के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

पंचमीए से कप्पइ पंचदत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

पाचम के दिन भोजन और पानी की पाँच-पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

छट्ठीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए छ पाणस्स -जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

छठ के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

सत्तमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसयाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

सातम के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

आठम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

नवमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

नवमी के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

दसमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

दसमी के दिन भोजन और पानी की दस-दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

एगारसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

बारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे वो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

बारम के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

तेरसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

तेरम के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

चोद्दसमीए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चोद्दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

चौदस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

पन्नरसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

पूर्णिमा के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—**यावत्**—इस प्रकार के अभिग्रह से करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पति चोद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

बिइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

तइयाए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

तीज के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

चउत्थीए से कप्पइ एक्कारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एक्कारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

चौथ के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

पंचमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

पाँचम के दिन भोजन और पानी की दस-दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

छट्ठीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

छठ के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

अट्ठमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

आठम के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

नवमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

नवमी के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

दसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

दसमी के दिन भोजन और पानी की पाँच-पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमों से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

एक्कारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

बारसमीए से कप्पइ तिण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिण्णि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

बारस के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

तेरसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए दो पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

तेरस के दिन भोजन और पानी की दो दो दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

चउदसमीए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा नो आहारेज्जा।

चौदस के दिन भोजन और पानी की एक-एक दत्ती ग्रहण करना करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ले, यदि इस प्रकार के नियमो से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न ले।

आमावासाए से य अब्भत्तट्ठे भवइ।

अमावस के दिन वह उपवास करता है।

एव खलु एसा जवमज्झ चंदपडिमा अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालिया भवइ। —वव. उ. १०, सु. १-२

इस प्रकार यह जवमध्य चन्द्र प्रतिमा सूत्रानुसार—यावत्—जिनाज्ञा के अनुसार पालन की जाती है।

वइरमज्झा चंदपडिमा—

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा—

६२५. वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मास वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जेज्जा -जाव-अहियासेज्जा।

६२५. वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा स्वीकार करने वाला अणगार एक मास तक शरीर के परिकर्म से तथा शरीर के ममत्व से रहित होकर रहे और जो कोई परीषह एव उपसर्ग होवे—यावत्—उन्हें शान्ति से सहन करे।

वइरमज्झं ण चदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स, बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पन्नरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

वज्रमध्य-चन्द्र-प्रतिमा स्वीकार करने वाले अणगार को, कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ भोजन और पानी की लेना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो ग्रहण न करे।

बिइयाए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एनमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

तइयाए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

तीज के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो ग्रहण न करे।

चउत्थीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

चौथ के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो ग्रहण न करे।

पंचमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

पाँचम के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

छट्ठीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

छठ के दिन भोजन और पानी की दस-दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

सत्तमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, नव पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

सातम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

अट्ठमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

आठम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

नवमीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स जाव एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

नवमी के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

दसमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

दसमी के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

एगारसमीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पंच पाणस्स-जाव एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की पाँच-पाँच दत्तिय ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

वारसमीए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

वारस के दिन भोजन और पानी की चार-चार ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अ। एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इ के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो · न करे।

तेरसमीए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

तेरस के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इ. के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो त न करे।

चउदसमीए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो भोयणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

चौदस के दिन भोजन और पानी की दो-दो द करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस अ अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण

आमावासाए से कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगा पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

अमावस्या के दिन भोजन और पानी की ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभि एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न करे।

सुक्कपक्खस्स पडिवए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दो पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन भोजन और पानी की दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के ग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त तो ग्रहण न करे।

बिइज्जाए से कप्पइ तिन्नि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तिन्नि पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

द्वितीया के दिन भोजन और पानी की तीन-तीन ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभि एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न करे।

तइयाए से कप्पइ चउ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

तीज के दिन भोजन और पानी की चार-चार द ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभि एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो न करे।

चउत्थीए से कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पंच पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

चौथ के दिन भोजन और पानी की पांच-पांच दत्तियां करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से । करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रक अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रह करे।

पंचमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए छ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

पांचम के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

छट्ठीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

छठ के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

अट्ठमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए नव पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

आठम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

नवमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

नवमी के दिन भोजन और पानी की दस दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत् इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

दसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

दसमी के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

एगारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तियां ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

बारसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स-जाव एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

बारस के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

तेरसमीए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

चउद्दसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

पुण्णिमाए से य अब्भत्तट्ठे भवइ।

एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालिया भवइ। —वव. उ. १०, सु ३-४

तेरस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के ग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न क

शुक्ल पक्ष की चौदस के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्र अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त तो ग्रहण न करे।

पूर्णिमा के दिन वह उपवास करता है।

इस प्रकार यह वज्र-मध्य चन्द्र प्रतिमा सूत्रानुसार जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

दत्तिपरिमाण निरूवणं—

६२६ संखादत्तियस्स भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुपविट्ठस्स,

जावइयं जावइयं केइ अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्व सिया।

तत्थ से केइ छब्बएण वा, दूसएण वा, वालएणं वा, अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्व सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ति वत्तव्व सिया।

संखादत्तियस्स ण भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहियस्स गाहावइकुल पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठस्स,

जावइय जावइयं केइ अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्व सिया।

तत्थ से केइ छब्बएण वा, दूसएण वा, वालएण वा अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्व सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सय सय पिण्ड साहणिय अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा सव्वा वि णं एगा दत्ती वत्तव्व सिया। —वव. उ. ६, सु ४३-४४

दत्ति प्रमाण निरूपण—

६२६ दत्तियो की संख्या का अभिग्रह करने वाला पात्र निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रवेश करे उस सम

(१) आहार देने वाला गृहस्थ पात्र मे जितनी बार झु (नमाकर) आहार दे उतनी ही "दत्तिया" कहनी चाहिये।

(२) आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबड़ी से, वस्त्र चलनी से बिना रुके पात्र मे झुकाकर दे वह सब एक दत्ती क चाहिए।

(३) आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हो और वे अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके पात्र मे झुक दें वह सब "एक दत्ती" कहनी चाहिए।

दत्तियो की सख्या का अभिग्रह करने वाला कर पात्र निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रवेश करे उस स

(१) आहार देने वाला गृहस्थ जितनी वार झुकाकर हाथ मे आहार दे उतनी ही "दत्तियाँ" कहनी चाहिए।

(२) आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबडी से, वस्त्र चलनी से बिना रुके भिक्षु के हाथ मे जितना आहार दे वह "एक दत्ती" कहनी चाहिए।

(३) आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हो और वे अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके भिक्षु के हा झुकाकर दे वह सब "एक दत्ती" कहनी चाहिए।

मोयपडिमा विहाणं—

६२७. दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१. खुड्डिया वा मोयपडिमा, २. महल्लिया वा मोयपडिमा।

खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढम-सरय-काल समयंसि वा चरम-निदाह-काल समयंसि वा, बहिया गामस्स वा-जाव-सन्निवेसस्स वा वणंसि वा, वणदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयदुग्गंसि वा।

मोक-प्रतिमा-विधान—

६२७ दो प्रतिमाएँ कही गई हैं, यथा—

(१) छोटी प्रस्रवण प्रतिमा, (२) बडी प्रस्रवण प्रति

छोटी प्रस्रवण प्रतिमा शरद्काल के प्रारम्भ मे अथवा ग्री काल के अन्त मे ग्राम के बाहर—यावत्—सन्निवेश के व वन मे या वन दुर्ग मे, पर्वत पर या पर्वत दुर्ग मे अणगार धारण करना कल्पता है।

मोच्चा आरुभइ, चोद्दसमेण पारेइ,

अमोच्चा आरुभइ, सोलसमेण पारेइ।

जाए जाए मोए आगच्छइ, ताए ताए आईयव्वे।

दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्तिं आगच्छइ नो आईयव्वे।

सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अपाणे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।

सबीए मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अबीए मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।

ससिणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आईयव्वे, अससिणिद्धे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।

ससरक्खे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे, अससरक्खे मत्ते आगच्छइ आईयव्वे।

जावइए जावइए मोए आगच्छइ, तावइए तावइए सव्वे आईयव्वे, तं जहा—

अप्पे वा, बहुए वा।

एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालित्ता भवइ।

महल्लियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ से पढम-सरय-काल-समयंसि वा, चरम-निदाह-काल-समयंसि वा, बहिया गामस्स वा-जाव-सन्निवेसस्स वा वणंसि वा, वणदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयदुग्गंसि वा,

भोच्चा आरुभइ, सोलसमेण पारेइ,

अभोच्चा आरुभइ, अट्ठारसमेणं पारेइ।

जाए जाए मोए आगच्छइ, ताए ताए आईयव्वे।

दिया आगच्छइ आईयव्वे, रत्तिं आगच्छइ नो आईयव्वे -जाव-एवं खलु एसा महल्लिया मोयपडिमा अहासुत्तं-जाव-अणुपालित्ता भवइ। —वव. उ. ६, सु. ४१-४२

यदि भोजन करके उस दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो छह उपवास से इसे पूर्ण करता है।

यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है।

इस प्रतिमा मे भिक्षु को जितनी बार मूत्र आवे उतनी बार पी लेना चाहिए।

दिन मे आवे तो पीना चाहिए किन्तु रात मे आवे तो नही पीना चाहिए।

कृमि युक्त आवे तो नही पीना चाहिए, किन्तु कृमि रहित आवे तो पीना चाहिए।

वीर्य सहित आवे तो नही पीना चाहिए किन्तु वीर्य रहित आवे तो पीना चाहिए।

चिकनाई सहित आवे तो नही पीना चाहिए किन्तु चिकनाई रहित आवे तो पीना चाहिए।

रज (रक्त कण) सहित आवे तो नही पीना चाहिए किन्तु रज रहित आवे तो पीना चाहिए।

जितना-जितना मूत्र आवे उतना-उतना सब पी लेना चाहिए, यथा—

अल्प हो या अधिक।

इस प्रकार यह छोटी प्रस्रवण प्रतिमा सूत्रानुसार—यावत्—जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

बडी प्रस्रवण प्रतिमा शरद्काल के प्रारम्भ मे या ग्रीष्मकाल के अन्त मे ग्राम के बाहर—यावत्—सन्निवेश के बाहर वन मे या वन दुर्ग में, पर्वत पर या पर्वत दुर्ग मे अणगार को धारण करना कल्पता है।

यदि भोजन करके उसी दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो सात उपवास से इसे पूर्ण करता है।

यदि भोजन किये बिना अर्थात् उपवास के दिन इस प्रतिमा को धारण करता है तो आठ उपवास से इसे पूर्ण करता है।

इस प्रतिमा मे भिक्षु को जब-जब मूत्र आवे तब-तब पी लेना चाहिए।

यदि दिन मे आवे तो पीना चाहिए किन्तु रात मे आवे तो नही पीना चाहिए—यावत्—इस प्रकार यह बडी प्रस्रवण प्रतिमा सूत्रानुसार—यावत्—जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।



प्रतिमा-संग्रह—८(५)

पडिमा संगहो—	प्रतिमाओ का संग्रह—
६२८. वाणउई पडिमाओ पण्णत्ताओ।[1] —सम. स. ९२, सु. १	६२८ प्रतिमाएँ ९२ (बानवें) कही गई है।

---

१ समवायाग की टीका के अनुसार ९२ पडिमाओ का विवरण,

मूल पडिमाएँ पांच—

(१) समाधि पडिमा, (२) उपधान पडिमा, (३) विवेक पडिमा (४) प्रतिसलीनता पडिमा,
(५) एकल विहार पडिमा।

समाधि पडिमा दो प्रकार की है—

(१) श्रुत समाधि पडिमा (२) चारित्र समाधि पडिमा।

श्रुत समाधि पडिमा के ६२ भेद हैं—

आचाराग प्रथम श्रुतस्कंध मे ५ पडिमा,
द्वितीय श्रुत स्कध मे ३७ पडिमायें,
स्थानाग मे २६ पडिमायें,
व्यवहार सूत्र मे ४ पडिमायें,
इस प्रकार ५+३७+१६+४ ये सब मिलकर ६२ पडिमायें हुई हैं।

उपधान पडिमा के २३ भेद हैं—

भिक्षु पडिमा के १२ भेद,
श्रमणोपासक पडिमा के ११ भेद ये २३ हुए। एक विवेक पडिमा और एक-प्रतिसलीनता पडिमा ये २५ हुए। ५ चारित्र पडिमायें। सब मिलाकर ९२ पडिमायें हैं।
ये ९२ भेद टीकाकार ने दशा. निर्युक्ति मे उद्धृत किये हैं।
टीकाकार कृत इस विवरण मे पाँच मूल पडिमायें किस आगम मे कही गई है ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है।
पाँच मूल पडिमाओ मे से पाँचवी एकल विहार पडिमा को ९२ भेदो मे लेने का निषेध करके शेष चार पडिमायें ही लेने का कथन है।
यदि ऐसा ही अभीष्ट था तो स्थानाग अ ४, उ १ मे उक्त चार पडिमाओ को मूल पडिमा क्यो नही कहा गया?
समवायाग टीकाकार कृत विवरण मे केवल पडिमाओ की सख्या का निर्देश है। किन्तु किस आगम मे से कौन-सी पडिमायें यहाँ ली गई हैं—ऐसा स्पष्ट कथन नही है।
विवरण मे निर्दिष्ट पडिमाओं की सख्या और आगमो मे उपलब्ध पडिमाओ की संख्या इस प्रकार है—

निर्दिष्ट सख्या	उपलब्ध सख्या
आचाराग श्रुत. १ मे—५	अभिग्रह—१८
आचाराग श्रुत २ मे—३७	एषणा पडिमायें—३७
ठाण सूत्र मे—१६	पडिमायें और अभिग्रह—१८
वव. सूत्र में—४	पडिमायें—१५
दशाश्रुत सूत्र मे—२३	पडिमायें—२३
उववाई-सूत्र—×	भिक्षाचरी अभिग्रह अन्य अनेक अभिग्रह—३०

पाँच चारित्र, विवेक पडिमा और प्रतिसंलीनता पडिमा—ये अभिग्रह नही हैं फिर भी इन्हें पडिमाओ मे गिना है।
दशाश्रुतस्कन्ध दशा. ७ की निर्युक्ति के अनुसार ये ९२ पडिमायें अभिग्रह रूप हैं अत यहाँ अन्य प्रकार से ९२ पडिमाओ का संकलन किया गया है। वह इस प्रकार है—

(शेष टिप्पण अगले पृष्ठ पर)

विणय वेयावच्च पडिमाओ—

६२९. एक्काणउई परवेयावच्चकम्मपडिमाओ पण्णत्ताओ।[1]

—सम. सम ९१, सु. १

विनय वैयावृत्य की प्रतिमाएँ—

६२९ पर-वैयावृत्यकर्म प्रतिमाएँ इक्यानवें (९१) कही गई हैं।

(शेष टिप्पण पिछले पृष्ठ का)

आचा श्रु २ में—३७ एषणा पडिमायें

दशा. द. ७ में—१२ भिक्षु पडिमायें

वव. उ. ९, १० में—८ पडिमा (चार दत्ति पडिमा, दो चन्द्र पडिमा दो मोक पडिमा)

स्थानाग—अ ५ भद्रा आदि ५ पडिमायें। औपपातिक सूत्र (भिक्षाचरी तप वर्णन) मे ३० अभिग्रह पडिमा। ये सब मिलकर ९२ पडिमायें हैं। ये सब अभिग्रह रूप हैं। तथा ये सभी श्रमण की तप रूप ही पडिमायें हैं।

१ पर-वैयावृत्य प्रतिमायें इक्यानवें कही गई हैं—वे इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन ज्ञान चारित्रादि से गुणाधिक पुरुषो का सत्कार करना।

(२) उनके आने पर खडा होना,

(३) वस्त्रादि देकर सम्मान करना,

(४) उनके बैठने के लिए आसन बिछाना,

(५) आसनानुप्रदान करना—उनके आसन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना,

(६) कृतिकर्म करना—वन्दना करना,

(७) अंजली करना—हाथ जोडना,

(८) गुरुजनो के आने पर उनके सामने जाकर स्वागत करना,

(९) गुरुजनो के गमन करने पर उनके पीछे चलना,

(१०) उनके बैठने पर बैठना। यह दस प्रकार का शुश्रूषा—विनय है।

तथा—(१) तीर्थंकर, (२) केवलि प्रज्ञप्त धर्म, (३) आचार्य, (४) वाचक (उपाध्याय), (५) स्थविर, (६) कुल, (७) गण, (८) संघ, (९) साम्भोगिक, (१०) क्रिया (आचार) विशिष्ट, (११) विशिष्ट मतिज्ञानी, (१२) श्रुतज्ञानी, (१३) अवधिज्ञानी, (१४) मन पर्यवज्ञानी और (१५) केवलज्ञानी इन पन्द्रह विशिष्ट पुरुषो की,

(१) आशातना नही करना, (२) भक्ति करना, (३) बहुमान करना, (४) और वर्णवाद (गुण-गान करना) ये चार कर्तव्य उक्त पन्द्रह पद वालो के करने पर (१५×४=६०) साठ भेद हो जाते हैं।

सात प्रकार का औपचारिक विनय कहा गया है—

(१) अभ्यासन—वैयावृत्य के योग्य व्यक्ति के पास बैठना,

(२) छन्दोऽनुवर्तन—उसके अभिप्राय के अनुकूल कार्य करना।

(३) कृतप्रतिकृति—"प्रसन्न हुए आचार्य हमें सूत्रादि देंगे" इस भाव से उनको आहारादि देना।

(४) कारितनिमित्तकरण—पढे हुए शास्त्र पदों का विशेष रूप से विनय करना और उनके अर्थ का अनुष्ठान करना।

(५) दुःख से पीडित की गवेषणा करना।

(६) देश-काल को जानकर तदनुकूल वैयावृत्य करना।

(७) रोगी के स्वास्थ्य के अनुकूल अनुमति देना।

पाँच प्रकार के आचारो के आचरण कराने वाले आचार्य पाँच प्रकार के होते हैं उनके सिवाय उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, सघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्य करने से वैयावृत्य के १४ भेद होते हैं।

इस प्रकार शुश्रूषा विनय के १० भेद, तीर्थंकरादि के अनाशातनादि के ६० भेद, औपचारिक विनय के ७ भेद और आचार्य आदि के वैयावृत्य के १४ भेद। इन्हें मिलाने पर (१०+६०+७+१४=९१) इक्यानवें भेद हो जाते हैं।

१०. प्रायश्चित्त (क) (आभ्यन्तर तप) (१)

अब्भितर-तव-परूवणं—

६३०. एसो बाहिरग तवो, समासेण वियाहिओ।
अब्भिन्तर तव एत्तो, वुच्छामि अणुपुव्वसो॥
—उत्त. अ ३०, गा. २९

आभ्यंतर तप का प्ररूपण—

६३०. यह बाह्य तप संक्षेप मे कहा गया है। अब मैं अनुक्रम से आभ्यन्तर तप को कहूँगा।

अब्भितर-तव-भेया—

६३१. प०—से किं तं अब्भितरए तवे?

उ०—अब्भितरए तवे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—

१. पायच्छित्तं, २. विणओ,
३. वेयावच्च, ४ सज्झाओ,
५ झाणं, ६ विउसग्गो[1]।
—वि स. २५, उ. ७, सु. २१७

आभ्यंतर तप के भेद—

६३१. प्र०—आभ्यन्तर तप क्या है—वह कितने प्रकार है?

उ०—आभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय,
(३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय,
(५) ध्यान, (६) व्युत्सर्ग।

पायच्छित्त जोग्गा चरित्ता—

६३२. चत्तारि कुम्भा पण्णत्ता, तं जहा—

१ भिण्णे, २. जज्जरिए,
३ परिस्साई,
४. अपरिस्साई।

एवामेव चउव्विहे चरित्ते पण्णत्ते, तं जहा—

१ भिण्णे,
२. जज्जरिए,
३. परिस्साई,
४. अपरिस्साई। —ठाण. अ. ४, उ. ४, सु. ३६०

प्रायश्चित्त योग्य चारित्र—

६३२. कुम्भ चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—

(१) भिन्न (फूटा) कुम्भ, (२) जर्जरित (पुराना) कुम्भ,
(३) परिस्रावी (झरने वाला) कुम्भ,
(४) अपरिस्रावी (नही झरने वाला) कुम्भ।

इसी प्रकार चारित्र भी चार प्रकार का कहा गया है। जैसे—

(१) भिन्न-चारित्र—मूल प्रायश्चित्त के योग्य।
(२) जर्जरित-चारित्र—छेद प्रायश्चित्त के योग्य।
(३) परिस्रावी-चारित्र—सूक्ष्म अतिचार वाला।
(४) अपरिस्रावी-चारित्र—सर्वथा निर्दोष चारित्र।

पायच्छित्त-जोग्गा-पडिसेवणप्पगारा—

६३३. प०—कइविहा ण भंते! पडिसेवणा पण्णत्ता?

उ०—गोयमा! दसविहा पडिसेवणा पण्णत्ता, तं जहा—

दप्प
प्पमाद
ऽणाभोगे,
आउरे

आवतीति य
संकिण्णे

प्रायश्चित्त योग्य प्रतिसेवना के प्रकार—

६३३. प्र०—भन्ते! प्रतिसेवना (दोष सेवन) कितने प्रकार की कही गई हैं?

उ०—गौतम प्रतिसेवना दस प्रकार की कही गई है, यथा—

(१) दर्प प्रतिसेवना—अहंकार से दोष सेवन,
(२) प्रमाद प्रतिसेवना—आलस्य से दोष सेवन,
(३) अनाभोग प्रतिसेवना—असावधानी से दोष सेवन,
(४) आतुर प्रतिसेवना—भूख, प्यास आदि से पीडित होने पर दोष सेवन,
(५) आपत् प्रतिसेवना—आपत्ति आने पर दोष सेवन,
(६) संकीर्ण प्रतिसेवना—क्षेत्र की संकीर्णता से दोष सेवन,

---

१ (क) ठाणं. अ ६, सु. ५११ (ख) सम. स ६, सु. १
(ग) उव. सु ३० (घ) उत्त. अ. ३०, गा. ३०

सहसक्कारे, भय प्पदोसा य वीमसा[1]।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. १९०

(७) सहसाकार प्रतिसेवना—अकस्मात् अनजान से अनिच्छा से दोष सेवन,
(८) भय-प्रतिसेवना—भय से दोष सेवन,
(९) प्रद्वेष प्रतिसेवना—रोष या द्वेष से दोष सेवन,
(१०) विमर्श प्रतिसेवना—शिष्यों की परीक्षा के लिए दोष सेवन।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता तं जहा—
१ संपागडपडिसेवी णामेगे, णो पच्छण्णपडिसेवी,
२ पच्छण्णपडिसेवी णामेगे, णो संपागडपडिसेवी,
३ एगे संपागडपडिसेवी वि, पच्छण्णपडिसेवी वि,
४ एगे णो संपागडपडिसेवी, णो पच्छण्णपडिसेवी।

—ठाण अ ४, उ २, सु २७२

पुरुष चार प्रकार के होते हैं—
यथा—(१) कुछ पुरुष प्रकट में दोष सेवन करते हैं, किन्तु छिपकर नहीं करते,
(२) कुछ पुरुष छिपकर दोष सेवन करते हैं, किन्तु प्रकट में नहीं करते,
(३) कुछ पुरुष प्रकट में भी दोष सेवन करते हैं और छिपकर भी,
(४) कुछ पुरुष न प्रकट में दोष सेवन करते हैं और न छिपकर ही।

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—
१ संपागडपडिसेवी णाममेगे,
२. पच्छण्णपडिसेवी णाममेगे,
३. पडुप्पण्णणंदी णाममेगे,
४. णिस्सरणणंदी णाममेगे।

—ठाण. अ. ४, उ. २, सु २९२ (१)

पुरुष चार प्रकार के होते हैं, यथा—
(१) प्रकट में दोष सेवन करने वाला,
(२) छिपकर दोष सेवन करने वाला,
(३) इष्ट वस्तु की उपलब्धि होने पर आनन्द मनाने वाला,
(४) दूसरों के चले जाने पर आनन्द मनाने वाला।

पायच्छित्त सरूवं—

६३४ आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं॥

—उत्त अ. ३०, गा ३१

प्रायश्चित्त का स्वरूप—

६३४. आलोचना के योग्य आदि जो दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिनका भिक्षु सम्यक् प्रकार से पालन करता है, वही प्रायश्चित्त कहा जाता है।

पायच्छित्तप्पगारा—

६३५ प०—से किं तं पायच्छित्ते ?
उ०—दसविहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—
१. आलोयणारिहे, २ पडिक्कमणारिहे,
३ तदुभयारिहे[2], ४. विवेगारिहे,
५ विउसग्गारिहे, ६ तवारिहे[3],
७. छेदारिहे, ८. मूलारिहे[4]
९. अणवट्ठप्पारिहे[5] १० पारंचियारिहे[6]।

—वि स २५, उ. ७, सु. १९५

प्रायश्चित्त के प्रकार—

६३५ प्र०—प्रायश्चित्त क्या है, वह कितने प्रकार का है ?
उ०—प्रायश्चित्त दस प्रकार कहा गया है, यथा—
(१) आलोचना के योग्य, (२) प्रतिक्रमण के योग्य,
(३) तदुभय दोनों के योग्य, (४) विवेक के योग्य,
(५) व्युत्सर्ग के योग्य, (६) तप के योग्य,
(७) छेद के योग्य, (८) मूल के योग्य,
(९) अनवस्थाप्य के योग्य, (१०) पारांचिक के योग्य।

---

१ ठाणं. अ १०, सु. ७३२
२ ठाणं अ. ३, उ ४, सु १९८
३ ठाण अ. ६, सु. ४८९
४ ठाण अ. ८, सु ६०५
५ ठाणं अ ९, सु. ६८८
६ (क) वि स. २५, उ ७, सु २१८ (ख) ठाण. अ १०, सु ७३३ (ग) उव सु. ३०

चउव्विहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, तं जहा—
१. णाण-पायच्छित्ते,
२. दसण पायच्छित्ते,
३. चरित्त पायच्छित्ते,[1]
४. वियत्तकिच्चे पायच्छित्ते।

प्रायश्चित्त चार प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) ज्ञान रूप प्रायश्चित्त,
(२) दर्शन रूप प्रायश्चित्त,
(३) चारित्र रूप प्रायश्चित्त,
(४) गीतार्थ रूप प्रायश्चित्त।

चउव्विहे पायच्छित्ते पण्णत्ते, त जहा—
१. पडिसेवणा पायच्छित्ते,
२ सजोयणा पायच्छित्ते,
३ आरोवणा पायच्छित्ते,
४. पलिउचणा पायच्छित्ते।
—ठाण. अ ४, उ १, सु २६३

प्रायश्चित्त चार प्रकार का कहा गया है,
यथा—(१) प्रतिसेवना (दोष सेवन का) प्रायश्चित्त,
(२) सयोजना (अनेक संयुक्त दोषो का) प्रायश्चित्त,
(३) आरोपणा (वहन कराया जाने वाला अथवा, चल रहे प्रायश्चित्त के बीच मे दिया जाने वाला) प्रायश्चित्त।
(४) परिकुचना (दोष छिपाने पर दिया जाने वाला विशेष) प्रायश्चित्त।

पचविहे आयारकप्पे पण्णत्ते, त जहा—
१. मासिए उग्घातिए,
२ मासिए अणुग्घातिए,
३. चाउम्मासिए उग्घातिए,
४. चाउम्मासिए अणुग्घातिए,
५. आरोवणा। —ठाण अ ५, उ. २, सु. ४३३

आचार प्रकल्प (निशीथ सूत्रोक्त प्रायश्चित्त) पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—
(१) मासिक-उद्घातिक-लघुमास रूप प्रायश्चित्त।
(२) मासिक-अनुद्घातिक-गुरुमास रूप प्रायश्चित्त।
(३) चातुर्मासिक-उद्घातिक-लघु चार मास रूप प्रायश्चित्त।
(३) चातुर्मासिक-अनुद्घातिक-गुरु चार मास रूप प्रायश्चित्त।
(५) आरोपणा वहन कराया जाने वाला आरोपणा रूप प्रायश्चित्त।



आरोपणा—१(ख)

पंच-विहा आरोवणा—

६३६. आरोवणा पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—
१. पट्ठविया,
२ ठविया,
३ कसिणा,
४ अकसिणा,

आरोपणा के पांच प्रकार—

६३६. आरोपणा पांच प्रकार की कही गई है, जैसे—
(१) प्रस्थापिता आरोपणा—वहन कराई जाने वाली आरोपणा।
(२) स्थापिता आरोपणा—कुछ समय स्थापित कर रखी जाने वाली आरोपणा।
(३) कृत्स्ना आरोपणा—निरनुग्रह परिपूर्ण (एक मास की एक मास) दी जाने वाली आरोपणा।
(४) अकृत्स्ना आरोपणा—अनुग्रह युक्त अपूर्ण (एक मास की १५ दिन, दो मास की २० दिन आदि) दी जाने वाली आरोपणा)।

---

[1] ठाण. अ. ३, उ. ४, सु २०३

सदसराइय-तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं चत्तारि मासा।

तीन मास और दस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने पर चार मास की प्रस्थापना होती है।

चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं सवीसइराइया चत्तारि मासा।

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से चार मास और बीस दिन की प्रस्थापना होती है।

सवीसराइयं चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं सदसराया पंचमासा।

चार मास और बीस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से पाँच मास और दस दिन की प्रस्थापना होती है।

सदसराइयं पंचमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दो मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं छम्मासा।

—नि. उ. २०, सु. २७-३१

पाँच मास और दस रात्रि का प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक बीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से छ मास की प्रस्थापना होती है।

मासियस्स ठविया आरोवणा—

एक मास प्रायश्चित्त की स्थापिता आरोपणा—

६४० छम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो।

६४० छ मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन कर ले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

पंच मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दिवड्ढो मासो।

पंच मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोष सेवन करले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया

चातुर्मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में प्रयो-

आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउं सकारण अहीण-मइरित्तं तेण पर दिवड्ढो मासो।

जन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुन दोष सेवन करले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

तेमासियं परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउ सकारण अहीण-मइरित्त तेण पर दिवड्ढो मासो।

तीन मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष का आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके बाद पुनः दोप सेवन करले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

दो मासियं परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारण अहीण-मइरित्त तेण पर दिवड्ढो मासो।

दो मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोप का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके वाद पुन दोप सेवन करले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

मासियं परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अंतरा मासिय परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउ सकारण अहीण-मइरित्त तेण पर दिवड्ढो मासो।

—नि. उ २०, सु. ३२-३७

मासिक प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित वहन काल के प्रारम्भ में, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। उसके वाद पुन दोष सेवन करले तो डेढ मास का प्रायश्चित्त आता है।

मासियस्स पट्ठविया आरोवणा वुड्ढि—

६४१. दिवड्ढ मासिय परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं दो मासा।

एक मास प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा वृद्धि—

६४१. डेढ मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला-अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे सयुक्त करने से दो मास की प्रस्थापना होती है।

दोमासिय परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अतरा मासियं परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा—अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउ सकारण अहीण-मइरित्तं तेणं पर अड्ढाइज्जा मासा।

दो मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे सयुक्त करने से ढाई मास की प्रस्थापना होती है।

अड्ढाइज्ज-मासियं परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अतरा मासिय परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउं सकारण अहीणमइरित्त तेणं पर तिण्णिमासा।

ढाई मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य में या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे सयुक्त करने से तीन मास की प्रस्थापना होती है।

तेमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीण-मइरित्तं तेण परं अद्धट्ठा मासा।

तीन मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढे तीन मास की प्रस्थापना होती है।

अद्धट्ठमासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीण-मइरित्तं तेण परं चत्तारिमासा।

साढे तीन मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से चार की प्रस्थापना होती है।

चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीण-मइरित्तं तेण परं अड्ढपंचमासा।

चार मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढे चार मास की प्रस्थापना होती है।

अड्ढ-पंच-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं पंचमासा।

साढे चार मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से पाँच मास की प्रस्थापना होती है।

पंच-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीण-मइरित्तं तेण परं अद्धछट्ठा मासा।

पाँच मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से साढे पाँच मास की प्रस्थापना होती है।

अद्ध-छट्ठ-मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारणं अहीणमइरित्तं तेण परं छम्मासा।

—नि. उ २०, सु ३८-४६

साढे पाँच मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोष सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से छह मास की प्रस्थापना होती है।

मासियस्स दोमासियस्स य पट्ठविया आरोवणा वुड्ढि—

मासिक और दो मासिक प्रायश्चित्त की प्रस्थापिता आरोपणा वृद्धि—

६४२. दो मासियं परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया

६४२. दो मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन,

आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउं सकारण अहीण-मइरित्त, तेण परं अड्ढाइज्जा मासा।

हेतु या कारण से मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोप सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से ढाई मास की प्रस्थापना होती है।

अड्ढाइज्ज मासिय परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारण अहीणमइरित्त, तेण परं सपचराइया तिण्णिमासा।

ढाई मास प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मासिक प्रायश्चित्त योग्य दोप सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक वीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से तीन मास और पाँच रात्रि की प्रस्थापना होती है।

सपंचराइय-तेमासिय परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अतरा मासिय परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउ सकारण अहीणमइरित्त, तेण पर सवीसइराइया तिण्णि मासा।

तीन मास और पाँच रात्रि प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोप का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे सयुक्त करने से तीन मास और वीस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

सवीसइराइय तेमासिय परिहारट्ठाणं पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउ सकारणं अहीणमइरित्त, तेण परं सदसराइया चत्तारि मासा।

तीन मास और वीस रात्रि प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोप का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक वीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे संयुक्त करने से चार मास और दस रात्रि की प्रस्थापना होती है।

सदसराइय-चाउम्मासियं परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अतरा मासिय परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउ सकारण अहीणमइरित्तं, तेण पर पचूणा पंचमासा।

चार मास और दस रात्रि प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोप का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे सयुक्त करने से पाँच मास मे पाँच दिन कम की प्रस्थापना होती है।

पंचूण-पंच-मासिय परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अंतरा दोमासिय परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा वीसइराइया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठ सहेउ सकारण अहीणमइरित्त, तेण परं अड्ढछट्ठामासा।

पाँच मास मे पाँच दिन कम प्रायश्चित्त वहन करने वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त व न काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से दो मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक वीस रात्रि की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे सयुक्त करने से साढे पाँच मास की प्रस्थापना होती है।

अड्ढछट्ठमासियं परिहारट्ठाण पट्ठविए अणगारे अंतरा मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा-अहावरा पक्खिया आरोवणा आदिमज्झावसाणे सअट्ठं सहेउं सकारण अहीणमइरित्तं, तेण पर छम्मासा।

—नि. उ. २०, सु ४७-५३

साढे पाँच मास प्रायश्चित्त वहन करवे वाला अणगार यदि प्रायश्चित्त वहन काल के प्रारम्भ मे, मध्य मे या अन्त मे प्रयोजन, हेतु या कारण से एक मास प्रायश्चित्त योग्य दोष का सेवन करके आलोचना करे तो उसे न कम न अधिक एक पक्ष की आरोपणा का प्रायश्चित्त आता है। जिसे सयुक्त करने से छ मास की प्रस्थापना होती है।



आलोचना—१(ग)

आलोयणा कारणा—

६४३ तिहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टु आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, णिंदेज्जा, गरिहेज्जा, विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, अहारिह पायच्छित्त तवोकम्म पडिवज्जेज्जा, तं जहा—

१. मायिस्स ण अस्सि लोगे गरहिते भवंति।
२. उववाते गरहिते भवति,
३ आयाती गरहिता भवति,[1]

तिहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोकम्म पडिवज्जेज्जा, त जहा—

१ अमायिस्स ण अस्सि लोगे पसत्थे भवति,
२ उववाते पसत्थे भवति,
३. आयाती पसत्था भवति,

तिहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा त जहा—

१. णाणट्ठयाए,
२. दंसणट्ठयाए,
३. चरित्तट्ठयाए। —ठाण. अ. ३, उ. ३, सु १७६

आलोचना के कारण—

६४३ तीन कारणों से मायावी माया करके आलोचना करता है, प्रतिक्रमण करता है, निन्दा करता है, गर्हा करता है, व्यावृत्ति करता है, विशुद्धि करता है, पुन वैसा नही करूँगा ऐसा कहने को उद्यत होता है, यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करता है, यथा—

(१) मायावी का यह लोक गर्हित होता है।
(२) परलोक गर्हित होता है।
(३) आगामी जीवन गर्हित होता है।

तीन कारणो से मायावी माया करके आलोचना करता है—यावत्—तप कर्म स्वीकार करता है। यथा—

(१) सरल मनुष्य का वर्तमान जीवन प्रशस्त होता है।
(२) परलोक प्रशस्त होता है।
(३) आगामी जीवन प्रशस्त होता है।

तीन कारणो से मायावी माया करके आलोचना करता है—यावत्—तप कर्म स्वीकार करता है। यथा—

(१) ज्ञान के लिए,
(२) दर्शन के लिए,
(३) चारित्र के लिए।

आलोयणा दोसा—

६४४ दस आलोयणादोसा पण्णत्ता, तं जहा—

१ आकपइत्ता,
२ अणुमाणइत्ता,
३ ज दिट्ठं,
४ बायरं च,
५. सुहुम वा,
६. छण्ण,
७ सद्दाउलगं,
८ बहुजण,
९ अव्वत्त,
१०. तस्सेवी[2]। —ठाण अ. १०, सु. ७३२

आलोचना के दोष—

६४४ आलोचना के दश दोष कहे गये हैं। जैसे—

(१) सेवा आदि के द्वारा प्रसन्न करके आलोचना करना।
(२) "मैं दुर्बल हूँ, मुझे अल्प प्रायश्चित्त देवें" इस भाव से अनुनय करके आलोचना करना।
(३) दृष्ट दोष की आलोचना करना।
(४) केवल बड़े दोषो की आलोचना करना।
(५) केवल छोटे दोषो की आलोचना करना।
(६) इस प्रकार से आलोचना करना कि गुरु सुनने न पावें।
(७) जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना।
(८) एक के पास आलोचना कर फिर उसी दोष की दूसरे के पास आलोचना करना।
(९) अगीतार्थ के पास आलोचना करना।
(१०) अपने समान दोष वाले के पास आलोचना करना।

---

१ ठाण अ ८, सु ५९७(ख)
२ वि. स. २५, उ ७, सु. १९१

आलोयणा करण-कमो—

६४५. भिक्खू य अन्नयर अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोएत्तए, जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा, तस्संतियं आलोएज्जा-जाव अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

नो चेव अप्पणो आयरिय-उवज्झाए पासेज्जा, जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा-बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतियं आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

नो चेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतियं आलोएज्जा जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

नो चेव णं अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं जत्थेव सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा-जाव-आहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा।

नो चेव णं सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा-बहुस्सुयं बब्भागमं, कप्पइ से तस्संतिए आलोएत्तए वा-जाव-आहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेत्तए वा।

नो चेव णं समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव सम्मं भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, कप्पइ से तस्संतिए आलोएज्जा वा पडिक्कमेत्तए वा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेत्तए वा।

नो चेव सम्मं भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा-बहिया गामस्स वा-जाव-सन्निवेसस्स वा पाईणाभिमुहे वा, उदीणाभिमुहे वा, करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वएज्जा —

'एवइया मे अवराहा, एवइ-क्खुत्तो अहं अवरद्धो" अरिहंताणं सिद्धाणं अन्तिए आलोएज्जा-जाव-अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा। वव. उ १, सु ३३

आलोचना करने का क्रम—

६४५ भिक्षु किसी अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन कर उस की आलोचना करना चाहे तो जहाँ पर अपने आचार्य या उपाध्याय को देखे वहाँ उनके समीप आलोचना करे—**यावत्**—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

यदि अपने आचार्य या उपाध्याय न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर साम्भोगिक (समान समाचारी वाले) सार्धमिक साधु को देखे (मिले) "जो कि बहुश्रुत एवं बहु आगमज्ञ हो" उसके समीप आलोचना करे—**यावत्**—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

यदि साम्भोगिक साधर्मी बहुश्रुत बहुआगमज्ञ साधु न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर अन्य साम्भोगिक सार्धमिक साधु को देखे—"जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो" वहाँ उसके समीप आलोचना करे—**यावत्**—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

यदि अन्य साम्भोगिक सार्धमिक बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ साधु न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर अपने सारूप्य साधु को देखे (मिले) "जो बहुश्रुत हो और बहुआगमज्ञ हो" वहाँ उसके समीप आलोचना करे—**यावत्**—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

यदि सारूप्य साधु बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ न दिखे (न मिले) तो—जहाँ पर पश्चात्कृत (संयम त्यागी) श्रमणोपासक को देखे (मिले) जो बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ हो वहाँ उसके समीप आलोचना करे—**यावत्**—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

यदि पश्चात्कृत श्रमणोपासक बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ न दिखे (न मिले) तो जहाँ पर सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष (समभावी-स्व-पर-विवेकी सम्यक् दृष्टि व्यक्ति) को देखे (मिले) तो वहाँ उसके समीप आलोचना करे—**यावत्**—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

यदि सम्यक् भावित ज्ञानी पुरुष न दिखे (न मिले) तो ग्राम —**यावत्**—सन्निवेश के बाहर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख हो करतल जोडकर मस्तक के आवर्तन करे और मस्तक पर अंजली करके इस प्रकार बोले—

"इतने मेरे दोष हैं और इतनी बार मैंने इन दोषों का सेवन किया है" इस प्रकार बोलकर अरहन्तों और सिद्धों के समीप आलोचना करे—**यावत्**—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करे।

आलोयणा सवण जोग्गा—

६४६. दसहिं ठाणेहिं संपण्णे अणगारे अरिहति आलोयणं पडिच्छित्तए, तं जहा—

१ आयारवं,
२. आहारव,
३. ववहारवं,
४. ओवीलए,
५ पकुव्वए,
६ अपरिस्साई,
७ निज्जावए,
८ अवायदसी,
९. पियधम्मे,
१० दढधम्मे[1]। —ठाणं अ. १०, सु ७३२

बहुआगम विन्नाणा, समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेण, अरिहा आलोयण सोउं॥
—उत्त. अ ३६, गा २६७

आलोचना श्रवण के योग्य—

६४६ दस स्थानो से सम्पन्न अणगार आलोचना सुनने के योग्य होता है, यथा —

(१) आचारवान्—जो ज्ञान आदि पचाचार से युक्त हो।

(२) आधारवान्—आलोचना लेने वाले के द्वारा आलोचना किये जाने वाले समस्त दोषो का जानने वाला हो।

(३) व्यवहारवान् – आगम आदि पाँच व्यवहारो का जानने वाला हो।

(४) अपव्रीडक—लज्जा या संकोच छुडाने मे कुशल हो।

(५) प्रकुर्वक—आलोचना कराने मे समर्थ हो।

(६) अपरिश्रावी—आलोचना करने वाले के दोष दूसरो के सामने प्रकट करने वाला न हो।

(७) निर्यापक—प्रायश्चित्त के अनुसार तपाचरण कर सके ऐसा प्रायश्चित्त देने वाला हो।

(८) अपायदर्शी—आलोचना न करने के दुष्फलो को वताने मे समर्थ हो।

(९) प्रियधर्मा—धर्म से प्रेम रखने वाला हो, धर्म मे अत्यन्त अनुराग हो।

(१०) दृढधर्मा—आपत्तिकाल मे भी धर्म मे दृढ रहने वाला हो।

जो अनेक शास्त्रो के विज्ञाता, आलोचना करने वाले के मन मे समाधि उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते हैं, वे अपने इन्ही गुणो के कारण आलोचना सुनने के अधिकारी होते हैं।

आलोयणा करण जोग्गा—

६४७. दसहिं ठाणेहिं सपण्णे अणगारे अरिहइ अत्तदोस आलोइत्तए, तं जहा—

१ जाइसपण्णे, २ कुलसपण्णे,
३ विणयसंपण्णे, ४ णाणसंपण्णे,
५ दंसणसपण्णे, ६. चरित्तसपण्णे,
७ खते, ८ दंते,
९ अमायी, १० अपच्छाणुतावी[2]
—ठाण अ १०, सु ७३२

आलोचना करने के योग्य—

६४७ दस गुणो से युक्त आलोचना करने योग्य होते हैं, यथा—

(१) जाति सम्पन्न, (२) कुल सम्पन्न,
(३) विनय सम्पन्न, (४) ज्ञान सम्पन्न,
(५) दर्शन सम्पन्न, (६) चारित्र सम्पन्न,
(७) क्षान्त, (८) दान्त,
(९) अमायी, (१०) अपश्चात्तापी।

साहम्मियाणं आलोयणा तह पट्ठवणा विही—

६४८ दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं।

मार्धर्मिको की आलोचना तथा प्रस्थापना विधि—

६४८ दो सार्धर्मिक साधु एक साथ विचरते हो और उनमे से यदि एक साधु किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे प्रायश्चित्त तप मे स्थापित करके अन्य सार्धर्मिक भिक्षु को उसकी वैयावृत्य करनी चाहिए।

१ (क) ठाण अ. ८, सु ६०४ (ख) वि स. २५, उ ७, सु १९३
२ (क) ठाण अ ८, सु ६०४ (ख) वि स २५, उ. ७, सु. १९२

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, दो वि ते अन्नयर अकिच्च-ट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पाणं ठवइत्ता एगे निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा।

दो सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हो और वे दोनो ही साधु किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उनमे से एक को कल्पाक अग्रणी स्थापित करे और एक परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त को वहन करे। उसका प्रायश्चित्त पूर्ण होने के बाद वह (अग्रणी) भी प्रायश्चित्त को वहन करे।

बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा ठवणिज्ज ठवइत्ता करणिज्ज वेयावडियं।

बहुत से सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हो और उनमे से एक साधु किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो (उनमे जो प्रमुख स्थविर हो वह) उसे प्रायश्चित्त वहन करावे और दूसरे भिक्षु को उसकी वैयावृत्य के लिए नियुक्त करे।

बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, सव्वे वि अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एग तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसा निव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि निव्विसेज्जा। —वव उ. २, सु १-४

बहुत से सार्धमिक साधु एक साथ विचरते हो और वे सब किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करें तो उनमे से किसी एक को कल्पाक स्थापित करके शेष सब प्रायश्चित्त वहन करें। बाद मे वह कल्पाक साधु भी प्रायश्चित्त वहन करे।

अणालोयणस्स अत्तज्झाण—

६४९. मायी णं माय कट्टु,

आलोचना न करने वाले का आर्तध्यान—

६४९ अकरणीय कार्य करने के बाद मायावी उसी प्रकार भीतर ही भीतर जलता है,

से जहाणामए—अयागरेति वा, तवागरेति वा, तउआगरेति वा, सीसागरेति वा, रुप्पागरेति वा, सुवण्णागरेति वा, तिलागणीति वा, तुसागणीति वा, भुसागणीति वा, णलागणीति वा, दलागणीति वा, सोडियालिछाणि वा, भडियालिछाणि वा, गोलियालिछाणि वा, कुंभारावाएति वा, कवेल्लुआवाएति वा, इट्टावाएति वा, जतवाडचुल्लीति वा, लोहारबरिसाणि वा।

जैसे—लोहे को गलाने की भट्टी, ताबे को गलाने की भट्टी, जस्ता को गलाने की भट्टी, शीशे को गलाने की भट्टी, चादी को गलाने की भट्टी, सोने को गलाने की भट्टी, तिल की अग्नि, तुष की अग्नि, भूसा की अग्नि, नल की अग्नि, पत्ते की अग्नि, मदिरा का चूल्हा, भण्डिका का चूल्हा, गोलिका का चूल्हा, घडो का पजावा, खप्परो का पजावा, ईंटो का पजावा, गुड बनाने की भट्टी, लोहकार की भट्टी,

तत्ताणि, समजोतिभूताणि, किंसुकफुल्लसमाणाणि उक्कासहस्साइ विणिम्मुयमाणाइं-विणिम्मुयमाणाइ, जालासहस्साइ पमुंचमाणाइ-पमुंचमाणाइं इगालसहस्साइ पविक्खिरमाणाइ-पविक्खिरमाणाइ, अतो अतो झियायति, एवामेव मायी माय कट्टु अतो अंतो झियाइ।

तपती हुई, अग्निमय होती हुई, किंशुक के फूल के समान लाल होती हुई सहस्रो उल्काओ और सहस्रो ज्वालाओ को छोडती हुई, सहस्रो अग्निकणो को फेंकती हुई, भीतर ही भीतर जलती है उसी प्रकार मायावी माया करके भीतर ही भीतर जलता है।

जवि य ण अण्णे केइ वदति तंपि य ण मायी जाणाति, "अहमेसे अभिसंकिज्जामि-अभिसंकिज्जामि।"

—ठाण. अ. ८, सु ५९७(ग)

यदि कोई अन्य पुरुष आपस मे बात करते हैं तो मायावी समझता है कि "ये मेरे विषय मे ही शका कर रहे हैं।"

आलोयणा करणकारणाइ—

६५० अट्ठहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टु आलोएज्जा-जाव-अहारिहं पायच्छित्त तवोकम्म पडिवज्जेज्जा, त जहा—

१ मायिस्स ण अस्सिं लोए गरहिते भवति,

२ उववाए गरहिते भवति,

आलोचना करने के कारण—

६५० आठ कारणो से मायावी माया करके उसकी आलोचना करता है—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तप कर्म स्वीकार करता है। जैसे—

(१) मायावी का यह लोक गर्हित होता है।

(२) परलोक गर्हित होता है।

३ आयाती गरहिता भवति ।[1]

४ एगमवि मायी माय कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-अहारिह पायच्छित्त तवोकम्म णो पडिवज्जेज्जा णत्थि तस्स आराहणा ।

५. एगमवि मायी माय कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोकम्म पडिवज्जेज्जा, अत्थि तस्स आराहणा ।

६ बहुओवि मायी माय कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-तवोकम्म णो पडिवज्जेज्जा, णत्थि तस्स आराहणा ।

७ बहुओवि मायी माय कट्टु आलोएज्जा-जाव-तवोकम्म पडिवज्जेज्जा, अत्थि तस्स आराहणा ।

८ आयरिय उवज्झायस्स वा मे अतिसेसे णाणदसणे समुप्पज्जेज्जा से य मममालोएज्जा मायी णं एसे ।

—ठाण. अ. ८, सु. ५९७(ख)

(३) भविष्य गर्हित होता है ।

(४) जो मायावी एक भी मायाचार करके आलोचना नही करता है—यावत्—तप कर्म स्वीकार नही करता है, उसके आराधना नहीं होती है ।

(५) जो मायावी एक वार भी मायाचार करके उसकी आलोचना करता है—यावत्—यथायोग्य प्रायश्चित्त और तप कर्म स्वीकार करता है, उसके आराधना होती है ।

(६) जो मायावी अनेक वार मायाचार करके उसकी आलोचना नही करता है—यावत्—तप कर्म स्वीकार नही करता है, उसके आराधना नही होती है ।

(७) जो मायावी अनेक वार मायाचार करके उसकी आलोचना करता है—यावत्—तप कर्म स्वीकार करता है, उसके आराधना होती हैं ।

(८) मेरे आचार्य या उपाध्याय को अतिशय ज्ञान और दर्शन उत्पन्न हो जाय तो वे जान लेंगे कि यह मायावी है ।

आलोयणा अकरण कारणाइं—

६५१ तिहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टु णो आलोएज्जा, णो पडिक्कमेज्जा, णो णिंदेज्जा, णो गरहेज्जा, णो विउट्टेज्जा, णो विसोहेज्जा, णो अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, णो अहारिह पायच्छित्त तवोकम्मं पडिवज्जेज्जा, त जहा—

१ अकरिंसु चाह,
२ करेमि चाहं,
३ करिस्सामि चाहं,

तिहिं ठाणेहिं मायी मायं कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-तवोकम्मं णो पडिवज्जेज्जा, त जहा—

१ अकित्ती वा मे सिया,
२ अवण्णे वा मे सिया,
३. अविणए वा मे सिया ।

तिहिं ठाणेहिं मायी माय कट्टु णो आलोएज्जा-जाव-तवोकम्म णो पडिवज्जेज्जा, तं जहा—

१. कित्ती वा मे परिहाइस्सइ,
२. जसे वा मे परिहाइस्सइ,[2]
३. पूयासक्कारे वा मे परिहाइस्सइ ।

—ठाण अ ३, उ. ३, सु. १७६

आलोचना न करने के कारण—

६५१. तीन कारणो से मायावी माया करके न उसकी आलोचना करता है, न प्रतिक्रमण करता है, न निन्दा करता है, न गर्हा करता है, न व्यावृत्ति करता है, न विशुद्धि करता है, न पुन वैसा नही करूँगा ऐसा कहने को उद्यत होता है, न यथायोग्य प्रायश्चित्त रूप तपःकर्म को स्वीकार करता है । यथा—

(१) मैंने अकरणीय कार्य किया है ।
(२) मैं अकरणीय कार्य कर रहा हूँ ।
(३) मैं अकरणीय कार्य करूँगा ।

तीन कारणो से मायावी माया करके न उसकी आलोचना करता है—यावत्—न तप कर्म को स्वीकार करता है । यथा—

(१) मेरी अकीर्ति होगी,
(२) मेरा अवर्णवाद होगा ।
(३) मेरा अविनय होगा ।

तीन कारणो से मायावी माया करके न उसकी आलोचना करता है—यावत्—न तप कर्म को स्वीकार करता है, यथा—

(१) मेरी कीर्ति कम हो जाएगी ।
(२) मेरा यश कम हो जायगा ।
(३) मेरा पूजा-सत्कार कम हो जायगा ।

---

१ ठाण अ. ३, उ. ३, सु १७६
२ ठाणं अ. ८, सु ५९७(क)

मालोयणा अकरण फलं—

६५२. मायी णं मायं कट्टु अणालोइय-अपडिक्कते कालमासे काल किच्चा अण्णतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवति, त जहा—णो महिड्ढिएसु-जाव-णो चिरट्ठितिएसु से ण तत्थ देवे भवइ, णो महिड्ढिए-जाव-णो चिरट्ठिइए।

जावि य से तत्थ बाहिरब्भंतरिया परिसा भवति, सावि य णं णो आढाति, णो परिज्जाणाति, णो महरिहेण आसणेणं उवणिमतेति, भास पि य से भासमाणस्स-जाव-चत्तारि पंच देवा अणुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति "मा बहु देवे! भासउ-भासउ।"

से ण ततो देवलोगाओ आउक्खएणं, भवक्खएणं, ठितिक्खएण, अणतरं चय चइत्ता इहेव माणुस्सए भवे जाइ इमाइ कुलाइ भवंति, तं जहा—अतकुलाणि वा, पतकुलाणि वा, तुच्छ-कुलाणि वा, दरिद्दकुलाणि वा, भिक्खागकुलाणि वा, किवण-कुलाणि वा, तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पच्चायाति।

से णं तत्थ पुमे भवति दुरूवे दुवण्णे दुग्गधे दुरसे दुफासे अणिट्ठे अकते अप्पिए अमणुण्णे, हीणस्सरे, दीणस्सरे, अणिट्ठस्सरे, अकतस्सरे, अप्पियस्सरे, अमणुण्णस्सरे, अम-णामस्सरे अणाएज्जवयणे पच्चायाते।

जावि य से तत्थ बाहिरब्भतरिया परिसा भवति, सावि य ण णो आढाति-जाव-चत्तारि पंच जणा अणुत्ता चेव अब्भु-ट्ठेंति "मा बहुं अज्जउत्तो। भासउ-भासउ।"

—ठाण. अ ८, सु. ५९७(घ)

आलोचना न करने का फल—

६५२ कोई मायावी माया करके उसकी आलोचना या प्रतिक्रमण किये बिना ही काल-मास मे काल करके किसी देवलोक मे देव रूप से उत्पन्न होता है, किन्तु वह महाऋद्धि वाले—यावत्—दीर्घस्थिति वाले देव लोक मे उत्पन्न नही होता। वह देव होता है, किन्तु महाऋद्धि वाला—यावत्—दीर्घ स्थिति वाला देव नही होता।

वहाँ देवलोक मे उसकी जो बाह्य और आभ्यन्तर परिषद होती है, वह भी न उसको आदर देती है, न उसे स्वामी के रूप मे मानती है और न महान् व्यक्ति के योग्य आसन पर बैठने के लिए निमन्त्रित करती है। जब वह भाषण देना प्रारम्भ करता है, तब चार पाँच देव बिना कहे ही खडे हो जाते हैं और कहते हैं—"देव! बहुत मत बोलो, बहुत मत बोलो।"

पुन वह देव आयुक्षय, भवक्षय और स्थितिक्षय के अनन्तर देवलोक से च्युत होकर यही मनुष्य भव मे जो ये अन्तकुल है, प्रान्तकुल हैं, तुच्छकुल हैं, दरिद्रकुल हैं, भिक्षुकुल है, कृपणकुल हैं, या इसी प्रकार के अन्य हीन कुल हैं, उनमे मनुष्य के रूप मे उत्पन्न होता है।

वहाँ वह कुरूप, कवर्ण, दुर्गन्ध देह वाला, अनिष्ट रस और कठोर स्पर्श वाला पुरुष होता है। वह अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अमनोज्ञ और अमनोहर होता है। वह हीनस्वर, दीनस्वर, अनिष्टस्वर, अकान्तस्वर, अप्रियस्वर, अमनोज्ञ स्वर, अरुचिकर स्वर और अनादेय वचन वाला होता है।

वहाँ उसकी जो बाह्य आभ्यन्तर परिषद होती है वह भी उसका न आदर करती है—यावत्—चार-पाँच मनुष्य बिना कहे ही खडे हो जाते हैं और कहते हैं—"आर्यपुत्र! बहुत मत बोलो, बहुत मत बोलो।"

आलोयणा करण फलं—

६५३. मायी णं माय कट्टु आलोइय पडिक्कते-जाव- चिरट्ठिति-एसु। से ण तत्थ देवे भवति, महिड्ढिए-जाव-चिरट्ठितिए।

हार-विराइय वच्छे कडक-तुडित थमित-भुए अगद-कुडल-मट्ठ-गडतल-कण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणे, विचित्तवत्था-भरणे, विचित्तमालामउली कल्लाणग-पवर-वत्थ-परिहिते, कल्लाणग-पवर-गध मल्लाणुलेवणधरे-भासुरबोंदी पलव-वण-मालधरे, दिव्वेण

आलोचना करने का फल—

६५३. कोई मायावी माया करके उसकी आलोचना प्रतिक्रमण कर—यावत्—दीर्घ स्थिति वाले देव लोक मे उत्पन्न होता है। वहाँ वह महाऋद्धि वाला—यावत्—दीर्घ स्थिति वाला देव होता है।

उसका वक्ष स्थल हार मे सुशोभित होता है, वह भुजाओ मे कडे त्रुटित और बाजूबन्द पहने रहता है। उसके कानो मे चंचल तथा कपोल तक कानो का स्पर्श करने वाले कुण्डल होते हैं। वह विचित्र हस्ताभरणो, विचित्र वस्त्राभरणो, विचित्र मालाओ और सेहरो वाले मांगलिक एव उत्तम वस्त्रो को पहने हुए होता है, वह मांगलिक श्रेष्ठ सुगन्धित पुष्प और विलेपन को धारण किये हुए होता है। उसका शरीर तेजस्वी होता है, वह लम्बी लटकती हुई मालाओ को धारण किये रहता है। वह दिव्य वर्ण, दिव्य गन्ध, दिव्य

जे भिक्खू बहुसो वि पचमासिय परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउचिय आलोएमाणस्स पचमासियं, पलिउचिय आलोएमाणस्स छम्मासिय।

तेण पर पलिउचिय वा अपउलिचिए वा ते चेव छम्मासा।

जे भिक्खू मासिय वा-जाव-पंचमासिग वा एएसिं परिहारट्ठाणं अण्णयर परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा

अपलिउचिय आलोएमाणस्स मासिय वा-जाव-पचमासिय वा, पलिउचिय आलोएमाणस्स दो मासिय वा-जाव-छम्मासिय वा।

तेण पर पलिउचिय वा अपलिउचिए वा ते चेव छम्मासा।

जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा-जाव-बहुसो वि पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयर परिहारट्ठाण पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउचिय आलोएमाणस्स मासियं वा-जाव-पचमासिय वा, पलिउचिय आलोएमाणस्स दो मासिय वा-जाव-छम्मासिय वा।

तेण पर पलिउचिए वा अपलिउचिए वा ते चेव छम्मासा।

जे भिक्खू चाउम्मासिय वा, साइरेग-चाउम्मासियं वा, पचमासिय वा साइरेग-पंचमासिय वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयर परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासिय वा, पंचमासियं वा साइरेग पचमासिय वा,

पलिउचिय आलोएमाणस्स पचमासियं वा, साइरेग पंचमासिय वा, छम्मासिय वा,

तेण परं पलिउचिए वा अपलिउचिए वा ते चेव छम्मासा।

जे भिक्खु बहुसो वि चाउम्मासियं वा, बहुसो वि साइरेग-चाउम्मासिय वा, बहुसो वि पचमासिय वा, बहुसो वि साइरेग-पचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाण अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

जो भिक्षु अनेक बार पचमासिक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे माया रहित आलोचना करने पर पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त माया-सहित या माया-रहित आलोचना करने पर भी वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु मासिक—**यावत्**—पचमासिक—इन परिहारस्थानो मे से किसी परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

माया-रहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक—**यावत्**—पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्वैमासिक—**यावत्**—षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त माया-सहित या माया-रहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु मासिक—**यावत्**—पंचमासिक इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की अनेक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे

माया-रहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार मासिक—**यावत्**—पचमासिक प्रायश्चित्त आता है और माया-सहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार द्वैमासिक—**यावत्**—षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त माया-सहित या माया-रहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक—इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की एक बार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

मायारहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और

माया-सहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार पंचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक या षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त माया-सहित या माया-रहित आलोचना करने पर वही षाण्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

जो भिक्षु अनेक बार चातुर्मासिक या अनेक बार कुछ अधिक चातुर्मासिक, अनेक बार पचमासिक या अनेक बार कुछ अधिक पंचमासिक परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे

अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासिय वा, पचमासियं वा, साइरेग-पचमासिय वा,

पलिउंचिय आलोएमाणस्स पचमासिय वा, साइरेग-पचमासिय वा, छम्मासिय वा।

तेण पर पलिउंचिए वा, अपलिउचिए वा ते चेव छम्मासा।[1]

—वव उ १, सु. १-१४

मायां-रहित आलोचना करने पर आसेवित परिहारस्थान के अनुसार चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और

माया-सहित आलोचना करने पर पंचमासिक या कुछ अधिक पंचमासिक या छमासिक प्रायश्चित्त आता है।

इसके उपरान्त माया-सहित या माया-रहित आलोचना करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

पट्ठवणाए पडिसेवणाकरणे आरोवणा—

६५६ जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेग-चाउम्मासिय वा, पंचमासिय वा, साइरेग-पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अण्णयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा—

अपलिउचिय आलोएमाणे ठवणिज्ज ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडिय।

ठविए वि पडिसेवित्ता, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया।

१. पुव्वि पडिसेवियं पुव्वि आलोइय,
२ पुव्वि पडिसेवियं पच्छा आलोइय,
३ पच्छा पडिसेविय पुव्विं आलोइय,
४ पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं,
१. अपलिउचिए अपलिउंचियं,
२. अपलिउ चिए पलिउ चियं,
३. पलिउंचिए अपलिउंचिय,
४ पलिउ चिए पलिउ चियं,

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकय साहणिय आरूहेयव्वे,

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, ते वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया।

प्रस्थापना में प्रतिसेवना करने पर आरोपणा—

६५६ जो भिक्षु चातुर्मासिक या कुछ अधिक चातुर्मासिक, पचमासिक या कुछ अधिक पचमासिक—इन परिहारस्थानो मे से किसी एक परिहारस्थान की एक वार प्रतिसेवना करके आलोचना करे तो उसे—

माया-रहित आलोचना करने पर आसेवित प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार तप मे स्थापित करके उसकी योग्य वैयावृत्य करनी चाहिये।

यदि वह परिहार तप रूप मे स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिये।

(१) पूर्व मे प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
(२) पूर्व मे प्रतिसेवित दोष की पीछे आलोचना की हो,
(३) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पहले आलोचना की हो,
(४) पीछे से प्रतिसेवित दोष की पीछे से आलोचना की हो।
(१) माया-रहित आलोचना करने का सकल्प करके माया-रहित आलोचना की हो,
(२) माया-रहित आलोचना करने का सकल्प करके माया-सहित आलोचना की हो,
(३) माया-सहित आलोचना करने का सकल्प करके माया-रहित आलोचना की हो,
(४) माया-सहित आलोचना करने का सकल्प करके माया-सहित आलोचना की हो।

इनमे से किसी भी प्रकार के भग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध के प्रायश्चित्त को सयुक्त करके पूर्व-प्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप मे स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुन किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्वप्रदत्त प्रायश्चित्त मे आरोपित कर देना चाहिए।

---

१ नि, उ २०, सु. १-१६

आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकय साहणियं आरूहेयव्वे,

इनमे से किसी भी प्रकार के भग से आलोचना करने पर उसके सर्व स्वकृत अपराध प्रायश्चित्त को सयुक्त करके पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त मे सम्मिलित कर देना चाहिए।

जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवेइ, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया[1]।

—वव. उ. १, सु. १५-१८

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार तप मे स्थापित होकर वहन करते हुए भी पुन किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रदत्त प्रायश्चित्त मे आरोपित कर देना चाहिए।



आलोचना और प्रायश्चित्त—१(घ)

अक्खेव-कराण पायच्छित्तं—

६५७ कप्पस्स छ पत्थारा पण्णत्ता, त जहा—

१ पाणाइवायस्स वाय वयमाणे,
२ मुसावायस्स वाय वयमाणे,
३. अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे,
४ अविरइयावाय वयमाणे,
५. अपुरिसवाय वयमाणे,
६ दासवायं वयमाणे।

इच्चेए छ कप्पस्स पत्थारे पत्थरेत्ता सम्म अप्पडिपूरेमाणे तट्ठाण पत्ते सिया।[2]

—कप्प उ. ६, सु २

आक्षेप लगाने वालो को प्रायश्चित्त—

६५७ कल्प साध्वाचार के छह विशेष प्रकार के प्रायश्चित्त स्थान कहे गये हैं। यथा—

(१) प्राणातिपात का आरोप लगाये जाने पर।
(२) मृषावाद का आरोप लगाये जाने पर,
(३) अदत्तादान का आरोप लगाये जाने पर,
(४) ब्रह्मचर्य भंग करने का आरोप लगाये जाने पर
(५) नपुसक होने का आरोप लगाये जाने पर,
(६) दास होने का आरोप लगाये जाने पर,

सयम के इन विशेष प्रायश्चित्त स्थानो का आरोप लगाकर उसे सम्यक् प्रमाणित नही करने वाला साधु उसी प्रायश्चित्त स्थान का भागी होता है।

अणुग्घाइय पायच्छित्तारिहा—

६५८ पच अणुग्घाइया पण्णत्ता, तं जहा—

१ हत्थ कम्म करेमाणे,
२. मेहुण पडिसेवेमाणे,
३ राई भोयणं भुजमाणे[3],
४. सागारियपिंड भुंजेमाणे,
५ रायपिंड भुजेमाणे। —ठाण अ ५, उ. २, सु ४१४

अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के योग्य—

६५८ पाँच अनुद्घातिक (गुरु) प्रायश्चित्त के योग्य कहे हैं, यथा—

(१) हस्तकर्म करने वाला,
(२) मैथुन-सेवन करने वाला,
(३) रात्रि भोजन करने वाला,
(४) शय्यातर पिण्ड को खाने वाला,
(५) राजपिण्ड को खाने वाला।

अणवट्ठप्प पायच्छित्तारिहा—

६५९. तओ अणवट्ठप्पा पण्णत्ता, त जहा—

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य—

६५९. तीन अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य कहे गये हैं, यथा—

---

१ नि उ २०, सु १७-२०
२ ठाणं अ. ६, सु. ५२९
३ (क) ठाणं. अ ३, उ. ४, सु २०३ (ख) कप्प. उ. ४, सु १

१. साहम्मियाण तेण्णं करेमाणे,
२. अण्णधम्मियाण तेण्णं करेमाणे,
३ हत्थाताल दलयमाणे ।[1] —ठाण अ ३, उ. ४, सु २०३

(१) साधर्मिको की चोरी करने वाला,
(२) अन्यधर्मिको की चोरी करने वाला,
(३) हस्तताल देने वाला अर्थात् मारक प्रहार करने वाला ।

अणवठप्प-गिलाणस्स-लहुपायच्छित्त-दाण-विहाण—

६६० अणवट्ठप्पं भिक्खु गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए । अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडिय, -जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ।
—वव उ २, सु ७

अनवस्थाप्य ग्लान भिक्षु को लघु प्रायश्चित्त देने का विधान—

६६० अनवस्थाप्य भिक्षु (नवमा प्रायश्चित्त को वहन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीडित हो जाये (उस प्रायश्चित्त को वहन न कर सके) तो उसे गण से बाहर करना नही कल्पता है किन्तु जब तक वह रोग-आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से वैयावृत्य करानी चाहिए । बाद मे (गणावच्छेदक) उस अनवस्थाप्य साधु को अत्यल्प प्रायश्चित्त दें ।

छेओवट्ठावणा पायच्छित्तारिहा—

६६१ भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहावेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गण उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, नत्थि ण तस्स तप्पत्तिय केइ छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए छेओवट्ठावणियाए । —वव उ. १, सु. ३२

छेदोपस्थापनीय प्रायश्चित्त के योग्य—

६६१. यदि कोई भिक्षु गण से निकलकर सयम का त्याग कर दे और बाद मे वह उसी गण को स्वीकार कर रहना चाहे तो उसके लिए केवल "छेदोपस्थापना" प्रायश्चित्त है इसके अतिरिक्त उसे दीक्षा-छेद या परिहार तप आदि कोई प्रायश्चित्त नही है ।

पारंचिय पायच्छित्तारिहा—

६६२ पंचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे साहम्मियं पारंचित करेमाणे णातिक्कमति, तं जहा—

१. कुले वसति कुलस्स भेदाए अब्भुट्ठेत्ता भवति ।

२ गणे वसति गणस्स भेदाए अब्भुट्ठेत्ता भवति ।

३ हिंसप्पेहि,

४. छिद्दप्पेही,

५. अभिक्खण अभिक्खण पसिणायतणाइं पउजित्ता भवति ।
—ठाण. अ ५, उ १, सु. ३९८

तओ पारंचिया पण्णत्ता, त जहा—
१. दुट्ठे पारंचिए,
२ पमत्ते पारंचिए,
३ अन्नमन्न करेमाणे पारंचिए ।[2]
—ठाण. अ. ३, उ ४, सु २०३

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के योग्य —

६६२. पाँच कारणो से श्रमण-निर्ग्रन्थ अपने साधर्मिक को पाराञ्चित्त (दसवा) प्रायश्चित्त देता हुआ भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता है । जैसे—

(१) जो साधु जिस कुल मे रहता है, उसी मे भेद डालने का प्रयत्न करता है ।

(२) जो साधु जिस गण मे रहता है, उसी मे भेद डालने का प्रयत्न करता है ।

(३) जो साधु कुल या गण के सदस्यो का घात करना चाहता है ।

(४) जो कुल या गण के सदस्यो का एव अन्य जनो का छिद्रान्वेषण करता है ।

(५) जो बार-बार अगुष्ठ आदि प्रश्न विद्याओ का प्रयोग करता है ।

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पात्र ये तीन कहे गये हैं, यथा—
(१) दुष्ट पाराञ्चिक,
(२) प्रमत्त पाराञ्चिक,
(३) परस्पर मैथुनसेवी पाराञ्चिक ।

---

१ (क) कप्प उ ४, सु ३
(ख) ठाण. अ. ३, उ. ४, सु. २०३
२ कप्प. उ ४, सु २

पारंचिय गिलाणस्स लहुपायच्छित्त-दाण-विहाण —

६६३ पारंचिय भिक्खुं गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्ज वेयावडियं, -जाव तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

—वव उ २, सु ८

पारंचित ग्लान भिक्षु को लघु प्रायश्चित्त देने का विधान —

६६३ पारंचित भिक्षु (दशवें प्रायश्चित्त तप को वहन करने वाला साधु) यदि रोगादि से पीड़ित हो जाय (उस प्रायश्चित्त को वहन न कर सके) तो गणावच्छेदक को उसे गण से बाहर करना नही कल्पता है। किन्तु जब तक वह रोग आतक से मुक्त न हो जाय तब तक उसकी अग्लान भाव से वैयावृत्य करानी चाहिए। बाद मे (गणावच्छेदक) उस पारंचित भिक्षु को अत्यल्प प्रायश्चित्त दें।

लहुपायच्छित्त जोग्गा —

६६४ खित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं, -जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

दित्तचित्तं भिक्खु गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्ज वेयावडियं, -जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं, -जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

उम्माय-पत्त भिक्खु गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडिय, -जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

उवसग्ग-पत्त भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडिय, -जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

साहिगरण भिक्खु गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडिय, -जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

लघु प्रायश्चित के योग्य—

६६४. विक्षिप्त चित्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतंक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

दिप्त चित्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

यक्षाविष्ट ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

उन्माद प्राप्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

उपसर्ग प्राप्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

कलह युक्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

सपायच्छित्त भिक्खुं गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं, -जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

प्रायश्चित्त प्राप्त ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

भत्तपाणपडियाइक्खियं भिक्खुं गिलायमाण नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्ज वेयावडिय,-जाव तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

भक्त प्रत्याख्यानी ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव मे सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

अट्ठ जाय भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्ज वेयावडियं, -जाव-तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

—वव. उ. २, सु ६-१७

प्रयोजनाविष्ट (आकाक्षा युक्त) ग्लान भिक्षु को गण से बाहर निकालना उसके गणावच्छेदक को नही कल्पता है। जब तक वह उस रोग आतक से मुक्त न हो तब तक उसकी अग्लान भाव से सेवा करानी चाहिए। उसके बाद उसे (गणावच्छेदक) अत्यल्प प्रायश्चित्त मे प्रस्थापित करे।

पायच्छित्त फलं—

६६५. प०—पायच्छित्त-करणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उ०—पायच्छित्तकरणेणं पावकम्म विसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च ण पायच्छित्त पडिवज्जमाणे मग्ग च मग्गफल च विसोहेइ, आयारं च आयार फल च आराहेइ। —उत्त अ २९, सु १८

प्रायश्चित्त का फल—

६६५ प्र०—भन्ते! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—प्रायश्चित्त करने से वह पापकर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला वीतराग मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचार फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

अत्त-णिंदा-फलं—

६६६ प०—निन्दणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उ०—निन्दणयाए ण पच्छाणुताव जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। करणगुणसेढी पडिवन्ने य ण अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ। —उत्त. अ २९, सु. ८

आत्मनिंदा का फल—

६६६ प्र०—भन्ते! आत्म-निन्दा! से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—आत्म-निन्दा से वह पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। पश्चात्ताप से वैराग्य को प्राप्त होता हुआ वह जीव क्षपक श्रेणी को प्राप्त होता है। क्षपक श्रेणी को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीय कर्म को क्षीण कर देता है।

विविहा गरहा—

६६७ तिविहा गरहा पण्णत्ता, त जहा—

१ मणसा वेगे गरहति,
२. वयसा वेगे गरहति,
३. कायसा वेगे गरहति—पावाण कम्माण अकरणयाए।
अहवा-गरहा तिविहा पण्णत्ता तं जहा—

१. दीहपेगे अद्ध गरहति,

अनेक प्रकार की गर्हा—

६६७ गर्हा तीन प्रकार की कही गई है, यथा—

पाप कर्मों को नही करने के लिए—
(१) कोई मन से गर्हा करते हैं,
(२) कोई वचन से गर्हा करते हैं,
(३) कोई काया से गर्हा करते हैं।
अथवा गर्हा तीन प्रकार की कही गई है—
पाप कर्मों को नही करने के लिए—
(१) कोई दीर्घकाल तक पाप-कर्मों की गर्हा करते हैं,

२ रहस्सपेगे अद्धं गरहति,

३ कायपेगे पडिसाहरंति—पावाणं कम्माणं अकरणाए।

—ठाण अ ३, उ १, सु १३५

(२) कोई अल्प काल तक पाप-कर्मों की गर्हा करते हैं,

(३) कोई काया को पापकर्म में निवृत्त कर लेते हैं।

चउव्विहा गरहा पण्णत्ता, त जहा—

१ उवसंपज्जामित्तेगा गरहा,

२. वितिगिच्छामित्तेगा गरहा,

३ ज किंचिमिच्छामित्तेगा गरहा,

४ एव पि पण्णत्तेगा गरहा।

—ठाण. अ ४, उ. २, सु २८८

गर्हा चार प्रकार की कही गई है। जैसे—

(१) अपने दोष को निवेदन करने के लिए गुरु के समीप जाऊँ इस प्रकार का विचार करना, यह एक गर्हा है।

(२) अपने निन्दनीय दोषो का निराकरण करूँ इस प्रकार का विचार करना, यह दूसरी गर्हा है।

(३) जो कुछ मैंने असद् आचरण किया हैं, वह मेरा मिथ्या हो, इस प्रकार के विचार से प्रेरित हो ऐसा कहना यह तीसरी गर्हा है।

(४) ऐसा भी भगवान् ने कहा है कि अपने दोष की गर्हा करने से दोषो की शुद्धि होती है, ऐसा विचार करना यह चौथी गर्हा है।

अत्त गरहणा फलं—

६६८. प०—गरहणयाए ण भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उ०—गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए ण जीवे अप्पसत्थेहिंतो, जोगेहिंतो नियत्तेइ पसत्थे य पवत्तइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणन्त घाइपज्जवे खवेइ। —उत्त अ २९ सु ६

आत्म गर्हा का फल—

६६८ प्र०—भन्ते! आत्म-गर्हा से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—आत्म गर्हा से वह जीव अवज्ञा को प्राप्त होता है। अवज्ञा को प्राप्त हुआ जीव अप्रशस्त प्रवृत्तियो से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियो को अगीकार करता है। प्रशस्त योगो से युक्त हुआ अनगार आत्मा के अनन्त ज्ञान दर्शनादि की घात करने वाली कर्म पर्यायो को क्षीण कर देता है।



पारिहारिक तप—१ (ङ)

पारिहारिय-अपारिहारियाण णिसेज्जाइ ववहारो—

६६९ बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिसेज्जं वा, अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।

कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्ज वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।

थेरा य ण वियरेज्जा, एव कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।

थेरा य ण वियरेज्जा, एवं ण णो कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए।

पारिहारिक और अपारिहारिको का निषद्यादि व्यवहार -

६६९ अनेक पारिहारिक भिक्षु और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक साथ रहना या बैठना चाहे तो स्थविर भिक्षु को पूछे बिना एक साथ रहना या एक साथ बैठना नही कल्पता है।

स्थविर भिक्षु को पूछ करके ही वे एक साथ रह सकते हैं या बैठ सकते हैं।

यदि स्थविर भिक्षु आज्ञा दें तो उन्हे एक साथ रहना या एक साथ बैठना कल्पता है।

स्थविर भिक्षु आज्ञा न दें तो उन्हें एक साथ रहना या बैठना नही कल्पता है।

जो ण थेरेहिं अविइण्णे, अभिनिसेज्ज वा अभिनिसीहिय वा चेएइ, से सतरा छेए वा परिहारे वा ।

—वव. उ १, सु १६

यदि स्थविर की आज्ञा के विना वे एक साथ रहें या बैठें तो उन्हें उस मर्यादा उल्लंघन का दीक्षा छेद या परिहार तप प्रायश्चित्त आता है ।

पारिहारिय-अपारिहारियाणं अण्णमण्णं आहार ववहार—

पारिहारिक और अपारिहारिको के परस्पर आहार सम्बन्धी व्यवहार—

६७० बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ एगमास वा, दुमासं वा, तिमास वा, चाउमासं वा, पचमास वा वत्थए। ते अन्नमन्न सभुजति, अन्नमन्नं नो सभुजति। मासते, तओ-पच्छा सव्वे वि एगयओ सभुजति ।

६७० अनेक पारिहारिक और अनेक अपारिहारिक भिक्षु यदि एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ मास पर्यन्त एक साथ रहना चाहे तो पारिहारिक भिक्षु पारिहारिक भिक्षु के साथ और अपारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ बैठकर आहार कर सकते हैं और पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिक भिक्षु के साथ बैठकर आहार नही कर सकते है, किन्तु छ मास तप के और एक माम पारणे का वीतने पर वे सभी (पारिहारी और अपारिहारी) भिक्षु एक साथ बैठकर आहार कर सकते हैं ।

परिहार-कप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ असण वा-जाव-साइम वा दाउ वा अणुप्पदाउ वा ।

अपारिहारिक भिक्षु को पारिहारिक भिक्षु के लिए अशन —यावत्—स्वादिम आहार देना या निमन्त्रण करके देना नही कल्पता है ।

थेरा य ण वएज्जा—"इम ता अज्जो ! तुम एएसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा,"

यदि स्थविर कहे कि—"हे आर्य ! तुम इन पारिहारिक भिक्षुओ को यह आहार दो या निमन्त्रण कर के दो ।"

एव से कप्पइ दाउ वा, अणुप्पदाउं वा ।

ऐसा कहने पर उसे आहार देना या निमन्त्रण करके देना कल्पता है ।

कप्पइ से लेव अणुजाणावेत्तए,

परिहार कल्पस्थित भिक्षु यदि लेप (घृतादि विकृति) लेना चाहे तो स्थविर की आज्ञा से उसे लेना कल्पता है ।

"अणुजाणह भते ! लेवाए"

"हे भगवन् ! मुझे घृतादि विकृति लेने की आज्ञा प्रदान करें ।"

एव से कप्पइ लेव समासेवित्तए ।

इस प्रकार स्थविर से आज्ञा लेने के बाद उसे घृतादि विकृति का सेवन करना कल्पता है ।

परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं वहिया अप्पणो वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य ण वएज्जा ।

परिहारकल्प मे स्थित भिक्षु अपने पात्रों को ग्रहण कर अपने लिए आहार लेने जावे, उसे जाते हुए देखकर स्थविर कहे कि—

"पडिग्गाहेहि अज्जो ! अह पि भोक्खामि वा पाहामि वा,"

'हे आर्य ! मेरे योग्य आहार पानी भी लेते आना, मैं भी खाऊँगा पिऊँगा ।"

एव से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ।

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के लिए आहार लाना कल्पता है ।

तत्थ नो कप्पइ अपरिहारिएण परिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा-जाव साइम वा भोत्तए वा पायए वा ।

अपारिहारिक स्थविर को पारिहारिक भिक्षु के पात्र मे अशन—यावत्—स्वाद्य खाना पीना नही कल्पता है ।

कप्पइ से सयसि वा, पडिग्गहसि, सयसि वा पलासगसि, सयसि वा कमण्डलगसि, सयसि वा खुब्भगसि वा, सयसि वा पाणिसि उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा ।

किन्तु उसे अपने ही पात्र मे, पलासक मे, जलपात्र मे, दोनो हाथ मे या एक हाथ मे ले-ले कर खाना-पीना कल्पता है ।

एस कप्पो अपरिहारियस्स परिहारियाओ ।

यह अपारिहारिक भिक्षु का पारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से आचार कहा गया है ।

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहेणं वहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा थेरा य णं वएज्जा—

परिहार कल्प मे स्थित भिक्षु स्थविर के पात्रो को लेकर उसके लिए आहार-पानी लाने को जावे तव स्थविर उसे कहे कि—

"पडिग्गाहेहि अज्जो ! तुमंपि पच्छा भोक्खसि वा पाहिसि वा"

"हे आर्य ! तुम अपने लिए भी साथ मे ले आना और वाद मे खा लेना पी लेना।"

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए।

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के पात्रो मे अपने लिए भी आहार लाना कल्पता है।

तत्थ नो कप्पइ परिहारिएणं अपरिहारियस्स पडिग्गहंसि असण वा-जाव-साइमं वा भोत्तए वा पायए वा।

अपारिहारिक स्थविर के पात्र मे पारिहारिक भिक्षु को अशन — यावत्—स्वाद्य खाना-पीना नहीं कल्पता है।

कप्पइ से सयसि वा पडिगहंसि, सयसि वा पलासगसि, सयसि वा कमण्डलगसि, सयसि वा खुम्भगसि, सयसि वा पाणिंसि उद्धट्टु-उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा।

किन्तु उसे अपने ही पात्र में, पलाशक मे, कमण्डल मे, दोनो हाथ मे या एक हाथ मे ले लेकर खाना-पीना कल्पता है।

एस कप्पो परिहारियस्स अपरिहारियाओ।

—वव. उ २, सु २७-३०

यह पारिहारिक भिक्षु का अपारिहारिक भिक्षु की अपेक्षा से आचार कहा गया है।

परिहारकप्पट्ठियस्स गिलाणस्स लहु पायच्छित्त दाण विहाण—

परिहारकल्पस्थित रुग्ण भिक्षु को अल्प प्रायश्चित्त देने का विधान—

६७१ परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खू गिलाएमाणे अन्नयरं अकिच्च-ट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

६७१ परिहार तप रूप प्रायश्चित्त करने वाला भिक्षु यदि रुग्ण होने पर किसी अकृत्य स्थान की प्रतिसेवना कर आलोचना करे तो --उसके प्रायश्चित्त के सम्वन्ध मे तीन विकल्प हैं—

१ से य सथरेज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्ज वेयावडियं।

(१) यदि वह परिहार तप करने मे समर्थ हो तो आचार्यादि उसे परिहार तप रूप प्रायश्चित्त दे और उसकी आवश्यक सेवा करावे।

२ से य नो संथरेज्जा अणुपरिहारिएणं तस्स करणिज्ज वेयावडियं।

(२) यदि वह समर्थ न हो तो आचार्यादि उसकी वैयावृत्य के लिए अनुपारिहारिक भिक्षु को नियुक्त करे।

३ से य संते वले अणुपारिहारिएण कीरमाणं वेयावडिय साइज्जेज्जा, से वि कसिणे तत्थेव आरूहेयव्वे सिया।

(३) यदि वह पारिहारिक भिक्षु सवल होते हुए भी अनु-पारिहारिक भिक्षु से वैयावृत्य करावे तो उस का प्रायश्चित्त भी पूर्व प्रायश्चित्त के साथ आरोपित करे।

परिहार-कप्पट्ठिए भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स निज्जूहित्तए। अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं,-जाव-तओ रोगायकाओ विप्पमुक्को। तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

—वव. उ २, सु ५-६

परिहार तप रूप प्रायश्चित्त करने वाला भिक्षु यदि रोगादि से पीडित हो जाय तो गणावच्छेदक को उसे गण से वाहर करना नहीं कल्पता है। किन्तु जव तक वह रोग के आतक से मुक्त न हो तव तक उसकी अग्लान भाव से वैयावृत्य करानी चाहिए वाद मे गणावच्छेदक उस पारिहारिक भिक्षु को अत्यल्प प्रायश्चित्त दे।

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू वहिया थेराण वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमेज्जा, त च थेरा जाणिज्जा —अप्पणो आगमेणं, अन्नेसिं वा अंतिए सोच्चा, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया।

—कप्प. उ ५, सु. ५१

परिहारकल्पस्थित भिक्षु यदि स्थविरो की वैयावृत्य के लिए कही वाहर जावे और कदाचित् कोई दोष सेवन कर ले—यह वृत्तात स्थविर अपने ज्ञान से या अन्य से सुनकर जान ले तो वैयावृत्य से निवृत्त होने के वाद उसे अल्प प्रायश्चित्त दे।

परिहारकप्पट्ठियस्स वेयावडियं—

६७२. परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झायाण तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावेत्तए।

तेणं परं नो से कप्पइ असणं वा-जाव साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करेत्तए, तं जहा—

उट्ठावणं वा, निसीयावणं वा, तुयट्टावणं वा, उच्चार-पासवण-खेल-जल्लसिंघाणाणं विगिंचणं वा विसोहेणं वा करेत्तए।

अह पुण एवं जाणेज्जा—छिन्नावाएसु पयेसु आउरे झिंझिए पिवासिए तवस्सी दुब्बले, किलंते मुच्छेज्ज वा पवडेज्ज वा, एवं से कप्पइ असणं वा-जाव-साइमं वा दाउं वा, अणुप्पदाउं वा। —कप्प. उ. ३, सु. ३१-३३

परिहार कल्पस्थित भिक्षु की वैयावृत्य—

६७२ जिस दिन परिहार तप स्वीकार करे उस दिन परिहार कल्पस्थित भिक्षु को एक घर से आहार दिलाना आचार्य या उपाध्याय को कल्पता है।

उसके बाद उसे अशन—यावत्—स्वादिम देना या बार-बार देना नहीं कल्पता है—किन्तु आवश्यक होने पर कोई वैयावृत्य करना कल्पता है यथा—

परिहार कल्पस्थित भिक्षु को उठावे, बिठावे, करवट बदलावे, उसके मल मूत्र श्लेष्मादि परठे, मल-मूत्रादि से लिप्त उपकरणो को शुद्ध करे।

यदि आचार्य या उपाध्याय यह जाने कि—ग्लान बुभुक्षित तृषित तपस्वी दुर्बल एवं क्लान्त होकर गमनागमन-रहित मार्ग मे कही मूर्च्छित होकर गिर जायेगा तो अशन—यावत्—स्वादिम देना या बार-बार देना कल्पता है।



नोट —विनय के लिए देखिए ज्ञानाचार—चरणानुयोग प्रथम भाग पृष्ठ ७० से ९९ तक

वैयावृत्य–२

वेयावच्च सरूवं—

६७३. आयरियमाईए, वेयावच्चम्मिदसविहे।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं॥
—उत्त अ. ३०, गा ३३

वैयावृत्य स्वरूप—

६७३ आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार की वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्य कहा जाता है।

वेयावच्च करण चउभंगो—

६७४ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—

१ आतवेयावच्चकरे णाममेगे, णो परवेयावच्चकरे,

२ परवेयावच्चकरे णाममेगे, णो आतवेयावच्चकरे,

३ एगे आतवेयावच्चकरे वि, परवेयावच्चकरे वि,

४. एगे णो आतवेयावच्चकरे, णो परवेयावच्चकरे।
—ठाणं. अ ४, उ. ३, सु ३१९

वैयावृत्य करने वालो की चौभंगी—

६७४

(१) कई अपनी सेवा करते है किन्तु दूसरो की सेवा नही करते।

(२) कई दूसरे की सेवा करते हैं किन्तु अपनी सेवा नही करते हैं।

(३) कई अपनी सेवा करते हैं और दूसरे की सेवा भी करते हैं।

(४) कई अपनी सेवा भी नही करते और दूसरे की सेवा भी नहीं करते हैं।

वेयावच्च पगारा—

६७५ तिविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा

१. आयवेयावच्चे,

वैयावृत्य के प्रकार—

६७५. वैयावृत्य तीन प्रकार का है, यथा—

(१) आत्मवैयावृत्य—अपनी सेवा

परिहारकप्पट्ठियस्स वेयावडिय—

६७२. परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झायाण तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावेत्तए।

तेणं परं नो से कप्पइ असणं वा-जाव साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करेत्तए, तं जहा—

उट्ठावणं वा, निसीयावणं वा, तुयट्टावणं वा, उच्चार-पासवण-खेल-जल्लसिंघाणाण विगिंचणं वा विसोहेणं वा करेत्तए।

अह पुण एवं जाणेज्जा—छिन्नावाएसु पथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए तवस्सी दुब्बले, किलंते मुच्छेज्ज वा पवडेज्ज वा, एवं से कप्पइ असणं वा-जाव-साइमं वा दाउं वा, अणुप्पदाउं वा। —कप्प. उ. ३, सु ३१-३३

परिहार कल्पस्थित भिक्षु की वैयावृत्य—

६७२. जिस दिन परिहार तप स्वीकार करे उस दिन परिहार कल्पस्थित भिक्षु को एक घर से आहार दिलाना आचार्य या उपाध्याय को कल्पता है।

उसके बाद उसे अशन—यावत्—स्वादिम देना या बार-बार देना नहीं कल्पता है—किन्तु आवश्यक होने पर कोई वैयावृत्य करना कल्पता है यथा—

परिहार कल्पस्थित भिक्षु को उठावे, बिठावे, करवट बदलावे, उसके मल मूत्र श्लेष्मादि परठे, मल-मूत्रादि से लिप्त उपकरणो को शुद्ध करे।

यदि आचार्य या उपाध्याय यह जाने कि—ग्लान बुभुक्षित तृषित तपस्वी दुर्बल एवं क्लान्त होकर गमनागमन-रहित मार्ग में कही मूर्च्छित होकर गिर जायेगा तो अशन—यावत्—स्वादिम देना या बार-बार देना कल्पता है।



नोट —विनय के लिए देखिए ज्ञानाचार—चरणानुयोग प्रथम भाग पृष्ठ ७० से ९९ तक

वैयावृत्य—२

वेयावच्च सरूवं—

६७३. आयरियमाईए, वेयावच्चम्मिदसविहे।
आसेवणं जहाथामं, वेयावच्चं तमाहियं॥
—उत्त अ. ३०, गा. ३३

वैयावृत्य स्वरूप—

६७३ आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार की वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्य कहा जाता है।

वेयावच्च करण चउभंगो—

६७४. चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—

१ आतवेयावच्चकरे णाममेगे, णो परवेयावच्चकरे,

२ परवेयावच्चकरे णाममेगे, णो आतवेयावच्चकरे,

३ एगे आतवेयावच्चकरे वि, परवेयावच्चकरे वि,

४. एगे णो आतवेयावच्चकरे, णो परवेयावच्चकरे।
—ठाणं अ ४, उ. ३, सु. ३१९

वैयावृत्य करने वालो की चौभंगी—

६७४.

(१) कई अपनी सेवा करते हैं किन्तु दूसरो की सेवा नही करते।

(२) कई दूसरे की सेवा करते हैं किन्तु अपनी सेवा नहीं करते हैं।

(३) कई अपनी सेवा करते हैं और दूसरे की सेवा भी करते हैं।

(४) कई अपनी सेवा भी नही करते और दूसरे की सेवा भी नही करते हैं।

वेयावच्च पगारा—

६७५ तिविहे वेयावच्चे पण्णत्ते, तं जहा

१. आयवेयावच्चे,

वैयावृत्य के प्रकार—

६७५ वैयावृत्य तीन प्रकार का है, यथा—

(१) आत्मवैयावृत्य—अपनी सेवा

२ परवेयावच्चे,
३. तदुभयवेयावच्चे। —ठाण अ ३, उ. ३, सु. १९४
प० – से किं त वेयावच्चे ?
उ० - वेयावच्चे दसविहे पण्णत्ते, तं जहा —
१ आयरिय-वेयावच्चे, २ उवज्झाय-वेयावच्चे,
३ थेर-वेयावच्चे, ४. तवस्सी-वेयावच्चे,
५. गिलाण-वेयावच्चे, ६. सेह-वेयावच्चे,
७. कुल वेयावच्चे, ८. गण-वेयावच्चे,
९ सघ-वेयावच्चे, १०. साहम्मिय-वेयावच्चे।[1]
—वि स २५ उ ७, सु २३५

(२) पर-वैयावृत्य—दूसरे की सेवा,
(३) तदुभय वैयावृत्य- दोनो की सेवा।
प्र० —वैयावृत्य क्या है, उसके कितने भेद हैं ?
उ० —वैयावृत्य दश प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) आचार्य-वैयावृत्य, (२) उपाध्याय-वैयावृत्य,
(३) स्थविर-वैयावृत्य (४) तपस्वी वैयावृत्य,
(५) ग्लान वैयावृत्य, (६) शैक्ष-वैयावृत्य,
(७) कुल-वैयावृत्य, (८) गण-वैयावृत्य,
(९) सघ-वैयावृत्य, (१०) साधर्मिक-वैयावृत्य।

वेयावच्च विहाण—

६७६ इम च धम्ममादाय कासवेण पवेदित।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए॥[2]
—सूय सु. १, अ ३, उ ३, सु २०
वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्प हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइ कुव्वई सया॥
—उत्त अ १, गा ४४

वैयावृत्य-विधान—

६७६ भगवान महावीर के द्वारा बताये गये इस धर्म को स्वीकार कर भिक्षु अग्लान भाव से समाधियुक्त होकर रुग्ण भिक्षु की वैयावृत्य करे।

विनयवान् शिष्य सदा गुरु के द्वारा प्रेरणा किये बिना ही उनका कार्य करता है और गुरु के प्रेरणा करन पर शीघ्र ही उस कार्य को कर देता है तथा सदैव गुरु के आदेशानुसार ही सभी कार्य भलीभाति सम्पन्न कर लेता है।

गिलाणट्ठापेसियं आहारस्स विहि-णिसेहो—

६७७ भिक्खागा णामेगे एवमाहसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगाम दूइज्जमाणे वा मणुण्ण भोयणजात लभित्ता –

"से य भिक्खु गिलाइ, से हवह ण तस्साहरह से य भिक्खू णो भुंजेज्जा तुम चेव ण भुंजेज्जासि।"

"से एगतितो 'भोक्खामि" त्ति कट्टु पलिउंचिय पलिउ चिय आलोएज्जा, त जहा—'इमे पिंडे, इमे लोए, इमे तित्तए, इमे कडुयए, इमे कसाए, इमे अंबिले, इमे महुरे, णो खलु एत्तो किंचि वि गिलाणस्स सदति" त्ति माइट्ठाणं संफासे। णो एव करेज्जा। तहाठितं आलोएज्जा जहाठितं गिलाणस्स सदति, तं जहा—तित्तय तित्तए ति वा-जाव-महुरं महुरे ति।

ग्लान के निमित्त भेजे गये आहार का विधि निषेध—

६७७ एक क्षेत्र मे स्थिरवासी अथवा मास कल्प आदि रहने वाले या ग्रामानुग्राम विचरण करके पहुँचने वाले साधु भिक्षा में मनोज्ञ भोजन प्राप्त होने पर किसी भिक्षु से कहे कि—

"वह भिक्षु रुग्ण है अत आप उसके लिए यह आहार ले जाकर दे दो, अगर वह रोगी भिक्षु न खाए तो तुम खा लेना।"

मनोज्ञ आहार मे लोलुपी कोई भिक्षु "इस आहार को मैं ही खाऊं" ऐसा सोचकर रोगी के पास कपट युक्त कहे, यथा—"यह आहार तो मात्र पिंड रूप है, यह तो रूक्ष है, यह तो तीखा है, यह तो कडवा है, यह तो कसैला है, यह तो खट्टा है, यह तो मीठा है इसमे कुछ भी ग्लान के अनुकूल नहीं लगता है।" इस प्रकार कपटाचरण करने वाला भिक्षु माया का स्पर्श करता है। भिक्षु को ऐसा नही करना चाहिए। किन्तु जिस तरह ग्लान को अनुकूल हो तथा जैसा आहार हो, वैसा ही दिखलाए, यथा—तिक्त को तिक्त—यावत्—मीठे को मीठा बताए।

१ (क) वव उ. १०, सु. ३९ (ख) उव. सु ३० (ग) ठाण. अ. १०, सु ७१२
(घ) पर वैयावृत्य कर्म प्रतिमा के ९१ प्रकार भी हैं। —सम सम ९१ सु १
(ङ) ठाण अ १०, सु. ७१२ तथा ठाणं. अ ५, उ १, सु ३९७ तथा वि श. २५, उ. ७, सु. २३५ मे उपरोक्त क्रम है किन्तु उववाई और व्यवहार सूत्र मे कुछ व्युत्क्रम से १० प्रकार के वैयावृत्य कहे गये हैं।
२ सूय सु १, अ. ३, उ. ४, गा. २१

भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगाम दूइज्जमाणे वा मणुण्ण भोयणजात लभित्ता—

"से य भिक्खू गिलाइ, से हदह ण तस्साहरह,
से य भिक्खू णो भुज्जेज्जा, आहरेज्जासि।"

से य—"णो खलु मे अंतराए आहरिस्सामि।"
—आ. सु २, अ. १, उ ११, सु ४०७-४०८

स्थिरवासी साधु अथवा मासकल्प आदि रहने वाले या ग्रामानुग्राम विचरण करके पहुँचने वाले साधुओ को मनोज्ञ भोजन प्राप्त होने पर किसी भिक्षु से कहे कि—

वह भिक्षु रोगी है उसके लिए यह मनोज्ञ आहार ले जाओ, अगर वह रोगी भिक्षु इसे न खाए तो यह आहार वापस हमारे पास ले आना क्योकि हमारे यहाँ भी रोगी साधु है।

इस पर आहार लेने वाला साधु ऐसा कहे कि—"यदि मुझे आने मे कोई विघ्न उपस्थित न हुआ तो यह आहार वापस ले आऊँगा।"

विसिट्ठ चरियाए सेवाकरण सकप्पा—

६७८ जस्स ण भिक्खुस्स अयं पगप्पे,

अहं च खलु पडिण्णत्तो अपडिण्णत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि,

अहं वावि खलु अपडिण्णत्तो पडिण्णत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए।

१. आहट्टु परिण्णं आणक्खेस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि,

२ आहट्टु परिण्ण आणक्खेस्सामि आहडं च नो सातिज्जिस्सामि,

३. आहट्टु परिण्णं नो आणक्खेस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि।

४ आहट्टु परिण्ण णो आणक्खेस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि।

लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमण्णागते भवति।

जहेतं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

एव से अहाकिट्टियमेव धम्म समभिजाणमाणे सते विरते सुसमाहितलेस्से। तत्थावि तस्स कालपरियाए से वि तत्थ वियन्तिकारए।

विशिष्ट चर्या में सेवा करने के सकल्प—

६७८ जिस भिक्षु की यह आचार मर्यादा (प्रतिज्ञा) होती है कि—

यदि मैं रोगादि से पीडित हो जाऊँ तो अन्य साधु को यह नही कहूँगा कि तुम मेरी वैयावृत्य करो। किन्तु कोई निरोग सार्धमिक साधु विना कहे ही वैयावृत्य करना चाहेगा तो मैं उसे स्वीकार करूँगा।

यदि मैं निरोग अवस्था मे होऊं तब कोई सार्धमिक साधु रोगादि से पीडित हो और वह सेवा कराना चाहे तो मैं भी उसके विना कहे उसकी वैयावृत्य करूँगा।

इस प्रकार के विकल्प रखते हुए कोई भिक्षु ऐसी प्रतिज्ञा लेता है कि—

(१) मैं अपने सार्धमिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा और उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार भी करूँगा।

(२) मैं अपने सार्धमिक भिक्षु के लिए आहारादि लाऊँगा लेकिन उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार नही करूँगा।

(३) मैं सार्धमिको के लिये आहारादि नही लाऊँगा किन्तु, उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा।

(४) मैं सार्धमिको के लिए आहारादि नही लाऊँगा और उनके द्वारा लाये हुए को स्वीकार भी नही करूँगा।

उक्त प्रतिज्ञाओ मे से किसी प्रतिज्ञा को ग्रहण करने पर भिक्षु लाघवता को प्राप्त कर तप को प्राप्त करता है।

भगवान ने जिस रूप मे इसका प्रतिपादन किया है उसे उसी रूप मे जानकर सब प्रकार से सर्वथा समत्व का आचरण करे।

इस प्रकार वह भिक्षु तीर्थंकरो द्वारा उपदिष्ट (भक्त प्रत्याख्यान) धर्म को सम्यक् रूप से जानता हुआ और आचरण करता हुआ शान्त विरत और प्रशस्त लेश्या मे अपनी आत्मा को सुसमाहित करने वाला होता है। इस प्रकार आराधना काल मे मरण को प्राप्त करता है और वह मरण भी उसे अन्तक्रिया कराने वाला होता है।

इच्चेयं विमोहायतणं हितं सुहं खमं णिस्सेयसं आणुगामियं।
—आ. सु. १, अ. ८, उ. ५, सु. २१९

इस प्रकार यह मरण भिक्षुओं को कर्मों से विमुक्त कराने मे आश्रय रूप है, हितकर है, सुखकर है, सक्षम है, कल्याणकर है और परलोक मे भी साथ चलने वाला है।

१. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति 'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्टु दलयिस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि।'

(१) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि 'मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर दूंगा और उनके द्वारा लाये हुए का सेवन करूंगा।

२. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्टु दलयिस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि'।

(२) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि "मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर दूंगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए का सेवन नही करूंगा।"

३. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्टु णो दलयिस्सामि आहडं च सातिज्जिस्सामि'।

(३) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि "मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर नही दूंगा, लेकिन उनके द्वारा लाये हुए का सेवन करूंगा।"

४. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—'अहं च खलु अण्णेसिं भिक्खूणं असणं वा-जाव-साइमं वा आहट्टु णो दलयिस्सामि आहडं च णो सातिज्जिस्सामि'।

(४) जिस भिक्षु की ऐसी प्रतिज्ञा होती है कि "मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन—यावत्—स्वाद्य लाकर नही दूंगा और उनके द्वारा लाया हुआ सेवन भी नहीं करूंगा।"

अहं च खलु तेण अहातिरित्तेण—अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेणं वा-जाव-साइमेण वा अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए।

मैं अपनी आवश्यकता से अधिक एषणीय एवं लाए हुए अशन—यावत्—स्वाद्य मे से यदि कोई साधर्मिक साधु लेना चाहेगा तो उसे वैयावृत्य की भावना से दूंगा।

अहं वावि तेण अहातिरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा-जाव-साइमेण वा अभिकख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि।

अथवा कोई साधर्मिक मुनि अपनी आवश्यकता से अधिक एषणीय ग्रहण कर लाए हुए अशन—यावत्—स्वाद्य में से वैयावृत्य की भावना से देना चाहेगा तो उसे स्वीकार करूंगा।

लाघवियं आगममाणे-जाव-सम्मत्तमेव समभिजाणिया
—आ. सु. १, अ. ८, उ. ७, सु. २२७

इनमे से कोई भी प्रतिज्ञा धारण करने वाला भिक्षु लाघवता को प्राप्त कर यावत्—समत्व का आचरण करता है।

वेयावच्च फलं—

वैयावृत्य का फल—

६७९. पचहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं जहा—

६७९. पाँच स्थानो से श्रमण निर्ग्रन्थ महान निर्जरा करने वाला और महापर्यवसान (संसार का सर्वथा उच्छेद करने वाला) होता है। जैसे—

१. अगिलाए आयरिय वेयावच्चं करेमाणे,

(१) ग्लानि—रहित होकर आचार्य की वैयावृत्य करता हुआ।

२. अगिलाए उवज्झाय वेयावच्चं करेमाणे,

(२) ग्लानि—रहित होकर उपाध्याय की वैयावृत्य करता हुआ।

३. अगिलाए थेरे वेयावच्चं करेमाणे,

(३) ग्लानि—रहित होकर स्थविर की वैयावृत्य करता हुआ।

४. अगिलाए तवस्सि वेयावच्चं करेमाणे

(४) ग्लानि—रहित होकर तपस्वी की वैयावृत्य करता हुआ।

५. अगिलाए गिलाण वेयावच्चं करेमाणे।

(५) ग्लानि—रहित होकर रोगी-मुनि की वैयावृत्य करता हुआ।

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, त जहा—

१ अगिलाए सेहवेयावच्च करेमाणे,

२. अगिलाए कुलवेयावच्चं करेमाणे,

३. अगिलाए गणवेयावच्च करेमाणे,

४. अगिलाए संघवेयावच्च करेमाणे,

५. अगिलाए साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे ।[1]

—ठाण. अ. ५, उ. १, सु ३९७

प०—वेयावच्चेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्तं कम्म निबन्धइ ।

—उत्त अ. २९, सु ४५

पांच स्थानो से श्रमण-निर्ग्रन्थ महान् कर्म निर्जरा करने वाला और महापर्यवसान वाला होता है । जैसे—

(१) ग्लानि रहित होकर नवदीक्षित की वैयावृत्य करता हुआ ।

(२) ग्लानि रहित होकर कुल (एक आचार्य के शिष्य समूह) की वैयावृत्य करता हुआ ।

(३) ग्लानि रहित होकर गण की वैयावृत्य करता हुआ ।

(४) ग्लानि रहित होकर सघ की वैयावृत्य करता हुआ ।

(५) ग्लानि रहित होकर साधर्मिक की वैयावृत्य करता हुआ ।

प्र०—भन्ते ! वैयावृत्य से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—वैयावृत्य करने से वृह तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करता है ।

वेयावच्चअकरणाइ पायच्छित्त सुत्ताइं—

६८० जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा ण गवेसइ ण गवेसत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू गिलाण सोच्चा णच्चा उम्मग्ग वा पडिपहं वा गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू गिलाण-वेयावच्चे अब्भुट्ठिए सएण लामेणं असथरमाणे जो तस्स न तडितप्पइ न पडितप्पंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू गिलाण-वेयावच्चे अब्भुट्ठिए गिलाणपाउग्गे दव्वजाए अलब्भमाणे जो त न पडियाइक्खइ न पडियाइक्खंतं वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।

—नि. उ. १०, सु ३६-३९

वैयावृत्य न करने आदि का प्रायश्चित्त सूत्र—

६८०. जो भिक्षु रोगी के सम्वन्ध मे सुनकर या जानकर उसकी गवेषणा नही करता या नही करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु रोगी के सम्वन्ध मे सुनकर या जानकर उन्मार्ग से या अन्य मार्ग से जाता है या जाने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु रोगी की सेवा के लिए उद्यत हुआ है और अपने लाये हुए आहार से रोगी सन्तुष्ट नही हो तो उसका खेद प्रकट नही करता है या नही करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु रोगी की सेवा के लिए उद्यत हुआ है उसे रोगी योग्य द्रव्य न मिलने पर उसको पुन आकर नही कहता है या नही कहने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

असमत्थेण वेयावच्चकारावण पायच्छित्त सुत्तं—

६८१ जे भिक्खू नायगेण वा अनायगेण वा, उवासएण वा, अणुवासएण वा अणलेण वेयावच्च कारेइ कारेंत वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइय ।

—नि. उ. ११, सु ८६

असमर्थ से सेवा करवाने का प्रायश्चित्त सूत्र—

६८१. जो भिक्षु असमर्थ स्वजन से, अन्य से, उपासक से या अनुपासक से वैयावृत्य करवाता है या करवाने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।



१ वव. उ. १०, सु. ४०-४९

स्वाध्याय—३

सज्झायभेया—

६८२. प०—से किं त सज्झाए ?

उ०—पचविहे सज्झाए पन्नत्ते, त जहा—

१. वायणा,

२. पडिपुच्छणा,

३. परियट्टणा,

४. अणुप्पेहा—

५. धम्मकहा[1]।

से त सज्झाए। —वि स. २५, उ. ७, सु २३६

स्वाध्याय के भेद —

६८२. प्र०—स्वाध्याय क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ?

उ० स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

(१) वाचना—यथाविधि यथासमय श्रुत-वाङ्मय का अध्ययन और अध्यापन।

(२) प्रतिपृच्छना—अध्ययन किये हुए विषय मे विशेष स्पष्टीकरण हेतु पूछना, शका-समाधान करना।

(३) परिवर्तना—सीखे हुए ज्ञान को बार बार दुहराना।

(४) अनुप्रेक्षा—आगम तत्वो का चिन्तन मनन करना।

(५) धर्मकथा—श्रुत-धर्म की व्याख्या-विवेचना करना।

यह स्वाध्याय का स्वरूप है।

सुत्त-सिक्खण-हेउणो—

६८३. पचहिं ठाणेहिं सुत्त सिक्खेज्जा, त जहा—

१. णाणट्ठयाए,

२. दंसणट्ठयाए,

३. चरित्तट्ठयाए,

४ वुग्गहविमोयणट्ठायाए,

५. जहत्थे वा भावे जाणिस्सामीति कट्टु।

—ठाण अ. ५, उ. ३, सु ४६७

सूत्र सीखने के हेतु—

६८३. पाँच कारणो से सूत्र को सीखना चाहिए। जैसे—

(१) ज्ञानार्थ—नये-नये तत्वो के परिज्ञान के लिए।

(२) दर्शनार्थ—श्रद्धान के उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए।

(३) चारित्रार्थ—चारित्र की निर्मलता के लिए।

(४) व्युद्ग्रहविमोचनार्थ—दूसरो के दुराग्रह को छुडाने के लिये।

(५) यथार्थ भाव ज्ञानार्थ—सूत्र शिक्षण से मैं यथार्थ भावो को जानूगा, इसलिए।

सज्झाय फलं—

६८४ प०—सज्झाएण भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सज्झाए नाणावरणिज्ज कम्मं खवेइ।

—उत्त अ. २९, सु २०

तव चिमं संजमजोगय च,
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे,
अलमप्पणो होइ अल परेसिं॥

सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो,
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जसि मल पुरेकड,
समीरिय रुप्पमल व जोइणा॥

स्वाध्याय का फल—

६८४ प्र०—भन्ते! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

जो मुनि इस तप, सयम योग और स्वाध्याय योग मे सदा प्रवृत्त रहता है, वह सेना से घिर जाने पर आयुधो से सुसज्जित वीर की तरह अपनी और दूसरो की रक्षा करने मे समर्थ होता है।

स्वाध्याय और सद्ध्यान मे लीन, छ काय रक्षक, निष्पाप मन वाले और तप मे रत मुनि का पूर्वसचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मैल।

---

१ (क) उव. सु ३०

(ख) ठाणं. अ. ५, उ ३, सु ४६५

(ग) उत्त अ. ३०, गा ३४

(घ) विशेष विस्तार ज्ञानाचार मे देखें।

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए,
सुयेण जुत्ते अममे अकिंचण ।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए
कसिणऽब्भपुडावगमे व चंदिमे ॥
—दस. अ. ८, गा. ६१-६३

जो पूर्वोक्त गुणो से युक्त है, दु खो को सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान है, ममत्व-रहित और अकिंचन है, वह कर्म समूह के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्रपटल से रहित चन्द्रमा ।

सज्झायभूमिसु अण्णउत्थियाइ सद्धिगमण पायच्छित्त सुत्त—

६८५. जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धि वहिया वियारभूमि वा विहारभूमि वा निक्खमइ वा, पविसइ वा, निक्खमत वा, पविसत वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ मासिय परिहारट्ठाण उग्घाइय ।
—नि उ. २, सु ४१

अन्यतीर्थिकादि के साथ स्वाध्याय भूमि गमन प्रायश्चित्त सूत्र —

६८५ जो भिक्षु अन्यतीर्थिक या गृहस्थ के साथ तथा पारिहारिक साधु अपारिहारिक के साथ (उपाश्रय से) वाहर की स्वाध्याय-भूमि मे या मल विसर्जन भूमि मे प्रवेश करता है या निष्क्रमण करता है, प्रवेश कराता है या निष्क्रमण कराता है, प्रवेश करने वाले का या निष्क्रमण करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

दुगुन्छिय कुलेसु सज्झाय उद्देसण पायच्छित्त सुत्तं—

६८६ जे भिक्खू दुगुछियकुलेसु सज्झाय उद्दिसइ उद्दिसत वा साइज्जइ ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ।
—नि. उ. १६, सु ३०

निन्दित कुल मे स्वाध्याय देने का प्रायश्चित्त सूत्र—

६८६ जो भिक्षु घृणित कुलो मे स्वाध्याय का उद्देश (मूल पाठ वाचन करना) करता है, करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है ।

सुत्त वायणाहेउणो—

६८७. पचहि ठाणेहि सुत्त वाएज्जा, त जहा—
१ संगहट्ठयाए,
२. उवग्गहट्ठयाए,
३. णिज्जरट्ठयाए,
४ सुत्ते वा मे पज्जवयाते भविस्सइ ।
५ सुत्तस्स वा अवोच्छित्ति-णयट्ठयाए ।
—ठाण. अ. ५, उ. ३, सु ४६७

सूत्र-वाचना के हेतु—

६८७ पाँच कारणो से सूत्र की वाचना देनी चाहिए । जैसे—
(१) शिष्यो को श्रुत-सम्पन्न बनाने के लिए ।
(२) शिष्य वर्ग पर अनुग्रह पूर्वक उपकार करने के लिए ।
(३) कर्मों की निर्जरा के लिए ।
(४) वाचना देने से मेरा श्रुत परिपुष्ट होगा, इस कारण से ।
(५) श्रुत के पठन-पाठन की परम्परा अविच्छिन्न रखने के लिए ।

सुयवायणिज्जा—

६८८ चत्तारि वायणिज्जा पण्णत्ता, त जहा—
१ विणीए,
२. अविगतिपडिवद्धे,
३ विओसवियपाहुडे,
४ अमाई ।[1]
—ठाणं अ ४, उ. ३, सु ४६७

सूत्र वाचना के योग्य—

६८८. चार वाचना देने के योग्य होते हैं, यथा—
(१) विनीत—सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनयभाव करने वाला ।
(२) विकृति अप्रतिबद्ध—घृतादि विकृतियो मे आसक्त न रहने वाला ।
(३) व्यवशमित प्राभृत—उपशान्त कलह वाला ।
(४) अमायावी ।

---

१ (क) तओ कप्पति वाएताए, तं जहा—
(१) विणीए, (२) नो विगइ पडिबद्धे, (३) विओसवियपाहुडे । —कप्प. उ ४, सु. ११
(ख) ठाण. अ ३, उ. ४, सु. २०४

स्वाध्याय—३

सज्झायभेया—

६८२ प०—से किं तं सज्झाए ?

उ०—पंचविहे सज्झाए पन्नत्ते, तं जहा—

१. वायणा,

२ पडिपुच्छणा,

३. परियट्टणा,

४. अणुप्पेहा—

५. धम्मकहा[1]।

से तं सज्झाए। —वि स. २५, उ ७, सु २३६

स्वाध्याय के भेद —

६८२. प्र०—स्वाध्याय क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ?

उ० स्वाध्याय पांच प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—

(१) वाचना—यथाविधि यथासमय श्रुत-वाङ्मय का अध्ययन और अध्यापन।

(२) प्रतिपृच्छना—अध्ययन किये हुए विषय मे विशेष स्पष्टीकरण हेतु पूछना, शंका-समाधान करना।

(३) परिवर्तना—सीखे हुए ज्ञान को बार-बार दुहराना।

(४) अनुप्रेक्षा—आगम तत्वो का चिन्तन मनन करना।

(५) धर्मकथा—श्रुत-धर्म की व्याख्या-विवेचना करना।

यह स्वाध्याय का स्वरूप है।

सुत्त-सिक्खण-हेउणो—

६८३. पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं सिक्खेज्जा, तं जहा—

१. णाणट्ठयाए,

२. दंसणट्ठयाए,

३. चरित्तट्ठयाए,

४ वुग्गहविमोयणट्ठायाए,

५. जहत्थे वा भावे जाणिस्सामीति कट्टु।

—ठाणं अ. ५, उ. ३, सु ४६७

सूत्र सीखने के हेतु—

६८३. पांच कारणो से सूत्र को सीखना चाहिए। जैसे—

(१) ज्ञानार्थ—नये-नये तत्वो के परिज्ञान के लिए।

(२) दर्शनार्थ—श्रद्धान के उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए।

(३) चारित्रार्थ—चारित्र की निर्मलता के लिए।

(४) व्युद्ग्रहविमोचनार्थ—दूसरो के दुराग्रह को छुडाने के लिये।

(५) यथार्थ भाव ज्ञानार्थ—सूत्र शिक्षण से मैं यथार्थ भावों को जानूंगा, इसलिए।

सज्झाय फलं—

६८४ प०—सज्झाएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—सज्झाए नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।

—उत्त अ. २६, सु. २०

तव चिमं संजमजोगयं च,
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए समत्तमाउहे,
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं॥
सज्झाय सज्झाणरयस्स ताइणो,
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं,
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा॥

स्वाध्याय का फल—

६८४. प्र०—भन्ते ! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

जो मुनि इस तप, सयम योग और स्वाध्याय योग मे सदा प्रवृत्त रहता है, वह सेना से घिर जाने पर आयुधो से सुसज्जित वीर की तरह अपनी और दूसरो की रक्षा करने मे समर्थ होता है।

स्वाध्याय और सद्ध्यान मे लीन, छः काय रक्षक, निष्पाप मन वाले और तप मे रत मुनि का पूर्वसचित मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मैल।

---

१ (क) उव सु. ३०
(ग) उत्त अ. ३०, गा. ३४
(ख) ठाणं. अ ५, उ ३, सु ४६५
(घ) विशेष विस्तार ज्ञानाचार मे देखें।

जे भिक्खू अव्वत्तं वाएइ वाएत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अव्यक्त (अप्राप्त यौवन वय वाले) को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू वत्तं न वाएइ न वाएत वा साइज्जइ।[1]

जो भिक्षु व्यक्त (प्राप्त यौवन वय वाले) को वाचना नही देता है, नही दिलवाता है, या नही देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू दोण्हं सरिसगाण एक्कं सचिक्खावेइ, एक्क न सचिक्खावेइ, एक्क वाएइ, एक्क न वाएइ, त करत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु दो समान योग्यता वाले शिष्यो मे से एक को शिक्षित करता है और एक को नही करता है, एक को वाचना देता है एक को नही देता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू आयरिय-उवज्झाएहिं अविदिण्णं गिर आइयइ आइयंतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु आचार्य और उपाध्याय के दिये विना वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ वाएत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा पडिच्छइ पडिच्छंत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइय।

—नि. उ. १६, सु. १७,३०

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

पासत्थाईणं वायणा दाणे पायच्छित्त सुत्ताइं—

पार्श्वस्थादि को वाचना देने के प्रायश्चित्त सूत्र—

६६३. जे भिक्खू पासत्थं वाएइ वाएतं वा साइज्जइ।

६६३. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ पडिच्छतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू ओसण्ण वाएइ वाएत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अवसन्न को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू ओसण्णं पडिच्छइ पडिच्छतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु अवसन्न से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू कुसीलं वाएइ वाएत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु कुशील को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू कुसील पडिच्छइ पडिच्छंत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु कुशील से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू ससत्तं वाएइ वाएत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु ससक्त को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू ससत्त पडिच्छइ पडिच्छत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु ससक्त से वाचना लेता है लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू णितियं वाएइ वायत वा साइज्जइ।

जो भिक्षु नित्यक को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ पडिच्छतं वा साइज्जइ।

जो भिक्षु नित्यक से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

---

१ भाष्य मे २१-२२ एव २५-२६ सु १६-२० के समान हैं, पुनरावृत्ति हुई है।

सुय अवायणिज्जा—

६८९ चत्तारि अवायणिज्जा पण्णत्ता, त जहा—

१. अविणीए,

२ विगइ-पडिवद्धे,

३ अविओसविय पाहुडे,

४ मायी[1]। —ठाण अ. ४, उ. ३, सु. ३२६

सूत्र वाचना के अयोग्य—

६८९. चार वाचना देने के योग्य नही होते हैं, यथा—

(१) अविनीत—सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनय भाव न करने वाला।

(२) विकृति प्रतिवद्ध—घृतादि विकृतियो मे आसक्त रहने वाला।

(३) अव्यवशमित प्राभृत—अनुपशान्त कलह वाला।

(४) मायावी।

सुयवायणाए फलं—

६९०. प०—वायणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वायणाए निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणासायणाए वट्टइ। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलम्बइ। तित्थधम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ। —उत्त अ २९, सु. २१

सूत्र वाचना का फल—

६९० प्र०—भन्ते ! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उ०—वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की आशातना के दोप से वच जाता है। श्रुत की आशातना से वचने वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्वन करता है, तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला जीव कर्मों की महा निर्जरा और संसार का अन्त करने वाला होता है।

दुगुछिय कुले-वायणादाणादाण पायच्छित्त सुत्ताइ—

६९१ जे भिक्खू दुगुंछिय कुलेसु सज्झाय वाएइ, वाएतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू दुगुछिय कुलेसु सज्झाय पडिच्छइ, पडिच्छत वा साइज्जइ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं। —नि. उ १९, सु. ३१-३२

घृणित कुल मे वाचना देने-लेने के प्रायश्चित्त सूत्र—

६९१ जो भिक्षु घृणित कुलो मे स्वाध्याय की वाचना (सूत्रार्थ) देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु घृणित कुलों में स्वाध्याय की वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

अविहीए वायणा-दाणे पायच्छित्त-सुत्ताइं—

६९२ जे भिक्खू हेट्ठिल्लाइ समोसरणाइ अवाएत्ता उवरिल्लाइं समोसरणाइ वाएइ वायत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू णवबंभचेराइ अवाएत्ता उत्तम सुय वाएइ वायत वा साइज्जइ।

जे भिक्खू अपत्तं वाएइ वाएंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू पत्तं ण वाएइ ण वाएतं वा साइज्जइ।

अविधि से वाचना देने के प्रायश्चित्त सूत्र—

६९२. जो भिक्षु प्रारम्भ के समोसरण (अंग सूत्र, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक) की वाचना न देकर वाद के समोसरण (अध्ययन उद्देशो) की वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु नव ब्रह्मचर्य (आचाराग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध) की वाचना न देकर छेद सूत्र आदि की वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु अपात्र (अयोग्य) को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है।

जो भिक्षु पात्र (योग्य) को वाचना नहीं देता है, नही दिलवाता है या नही देने वाले का अनुमोदन करता है।

---

१ (क) तओ नो कप्पति वाएत्तए, त जहा—

(१) अविणीए, (२) विगइ-पडिवद्धे, (३) अविओसविय पाहुडे। —कप्प उ ४, सु. १०

(ख) ठाण. अ ३, उ. ४, सु २०४

जे भिक्खू अव्वत्त वाएइ वाएतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू वत्तं न वाएइ न वाएत वा साइज्जइ ।[1]

जे भिक्खू दोण्हं सरिसगाण एक्क सचिक्खावेइ, एक्क न सचिक्खावेइ, एक्क वाएइ, एक्क न वाएइ, त करत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू आयरिय-उवज्झाएहिं अविदिण्णं गिर आइयइ आइयंत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ वाएत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा पडिच्छइ पडिच्छत वा साइज्जइ ।

त सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासिय परिहारट्ठाण उग्घाइय ।

—नि. उ. १६, सु. १७,३०

जो भिक्षु अव्यक्त (अप्राप्त यौवन वय वाले) को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु व्यक्त (प्राप्त यौवन वय वाले) को वाचना नही देता है, नही दिलवाता है, या नही देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु दो समान योग्यता वाले शिष्यो मे से एक को शिक्षित करता है और एक को नही करता है, एक को वाचना देता है एक को नही देता है अथवा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु आचार्य और उपाध्याय के दिये बिना वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिको या गृहस्थो को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अन्यतीर्थिक से या गृहस्थ से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

पासत्थाईणं वायणा दाणे पायच्छित्त सुत्ताइं—

६६३. जे भिक्खू पासत्थं वाएइ वाएतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ पडिच्छतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू ओसण्ण वाएइ वाएत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू ओसण्णं पडिच्छइ पडिच्छंतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू कुसीलं वाएइ वाएत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू कुसील पडिच्छइ पडिच्छंत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू ससत्तं वाएइ वाएतं वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू ससत्त पडिच्छइ पडिच्छत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू णितियं वाएइ वायत वा साइज्जइ ।

जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ पडिच्छतं वा साइज्जइ ।

पार्श्वस्थादि को वाचना देने के प्रायश्चित्त सूत्र—

६६३. जो भिक्षु पार्श्वस्थ को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु पार्श्वस्थ से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु अवसन्न से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कुशील को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु कुशील से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु ससक्त को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु ससक्त से वाचना लेता है लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु नित्यक को वाचना देता है, दिलवाता है या देने वाले का अनुमोदन करता है ।

जो भिक्षु नित्यक से वाचना लेता है, लिवाता है या लेने वाले का अनुमोदन करता है ।

---

१ भाष्य मे २१-२२ एव २५-२६ सु १६-२० के समान हैं, पुनरावृत्ति हुई है ।

तं सेवमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं।
—नि. उ १६, सु ३१-४०

उसे चातुर्मासिक उद्घातिक परिहारस्थान (प्रायश्चित्त) आता है।

पडिपुच्छणा फलं—

६६४ प०—पडिपुच्छणयाए ण भते! जीवे किं जणयइ?

उ०—पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थ-तदुभयाइ विसोहेइ। कखा-मोहणिज्ज कम्म वोच्छिन्दइ।
—उत्त. अ २६, सु. २२

प्रतिप्रश्न का फल—

६६४ प्र०—भन्ते! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—प्रतिप्रश्न करने से वह सूत्र, अर्थ और उन दोनो से सम्बन्धित सन्देहो को दूर करता है और काक्षा-मोहनीय कर्म का विनाश करता है।

परियट्टणा फलं—

६६५ प०—परियट्टणाए ण भते! जीवे किं जणयइ?

उ०—परियट्टणाए ण वजणाइ जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ।
—उत्त. अ. २६, सु २३

पुनरावृत्ति का फल—

६६५ प्र०—भन्ते! परावर्तना (पठित पाठ के पुनरावर्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—परावर्तना से वह अक्षरो को उत्पन्न करता है अर्थात् स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि (पदानुसारिणि लब्धि) को प्राप्त करता है।

अणुप्पेहा फल—

६६६ प०—अणुप्पेहाए ण भते! जीवे किं जणयइ?

उ०—अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियवन्धणबद्धाओ सिढिलवन्धणबद्धाओ पकरेइ।

दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ।
तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ।
बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ।
आउय च ण कम्म सिय बन्धइ सिय नो बन्धइ।

असायावेयणिज्जं च णं कम्म नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ,
अणाइय च णं अणवदग्गं दीहमद्ध चाउरन्त संसार कन्तारं खिप्पामेव वीइवयइ।
—उत्त. अ. २६, सु. २४

अनुप्रेक्षा का फल—

६६६ प्र०—भन्ते! अनुप्रेक्षा (अर्थ चिन्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है?

उ०—अनुप्रेक्षा से वह आयुष-कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की गाढ-बन्धन से बन्धी हुई प्रकृतियो को शिथिल-बन्धन वाली कर देता है।

उनकी दीर्घ-कालीन स्थिति को अल्प कालीन कर देता है,
उनके तीव्र अनुभाग को मन्द कर देता है।
उनके बहु-प्रदेशो को अल्प कर देता है।
आयुष्-कर्म का बन्धन कदाचित् करता है, कदाचित् नही भी करता है।

असाता-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नही करता है।

अनादि-अनन्त लम्बे-मार्ग वाली तथा चतुर्गति-रूप संसार अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है।

कहाए भेया—

६६७ तिविहा कहा पण्णत्ता, त जहा—
१. अत्थकहा,
२. धम्मकहा,
३. कामकहा। —ठाण. अ ३, उ. ३, सु १६४

तिविहे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा--
१. सुयधम्मे, २ चरित्तधम्मे,
३ अत्थिकायधम्मे। —ठाणं. अ. ३, उ ३, सु. १६४(६)

कथा के भेद—

६६७. कथा तीन प्रकार की कही गई है। यथा—
(१) अर्थ कथा—धन के उत्पादन उपार्जन विषयक कथा।
(२) धर्म कथा—जिसके कहने सुनने से धर्म की भावना बढे वह कथा।
(३) काम कथा—जिसके श्रवण करने से विषय वासना उत्पन्न हो वैसी कथा।

धर्म तीन प्रकार का होता है—
(१) श्रुत-धर्म, (२) चरित्र-धर्म,
(३) अस्तिकाय-धर्म।

चउव्विहा कहा पण्णत्ता, त जहा —
१. अक्खेवणी,
२. विक्खेवणी,
३. संवेगणी,
४. निव्वेज्जणी।

कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा—
(१) आक्षेपणी—ज्ञान और चारित्र के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने वाली कथा।
(२) विक्षेपणी—सन्मार्ग की स्थापना करने वाली कथा।
(३) सवेगनी -जीवन की नश्वरता और दु ख बहुलता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा।
(४) निर्वेदनी—कृत कर्मों के शुभाशुभ फल दिखलाकर ससार के प्रति उदासीन बनाने वाली कथा।

अक्खेवणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
१. आयार अक्खेवणी,
२. ववहार अक्खेवणी,
३ पण्णत्ति अक्खेवणी,
४. दिट्ठिवाय अक्खेवणी।

आक्षेपणी कथा चार प्रकार की कही गई हैं। यथा—
(१) आचार आक्षेपणी – साधु और श्रावक के आचार का वर्णन वाली।
(२) व्यवहार आक्षेपणी – व्रतो के दोष लगने पर प्रायश्चित्त का वर्णन करने वाली।
(३) प्रज्ञप्ति आक्षेपणी—सशयग्रस्त श्रोता को मधुर वचनो से उपदेश देकर सशय दूर करने वाली।
(४) दृष्टिपात आक्षेपणी—श्रोता की योग्यता के अनुसार विविध नयो (दृष्टियो) से तत्व का निरूपण करने वाली।

विक्खेवणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—
१. ससमयं कहेति, ससमयं कहेत्ता, परसमयं कहेति,
२ परसमयं कहेत्ता, ससमयं ठावतित्ता भवति,
३. सम्मावात कहेति, सम्मावात कहेत्ता, मिच्छावातं कहेति,
४ मिच्छावात कहेत्ता, सम्मवात ठावत्तित्ता भवति।

विक्षेपणी कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा—
(१) वक्ता अपने सिद्धात का कथन कर फिर दूसरो के सिद्धात का कथन करता हैं।
(२) दूसरो के सिद्धात का कथन कर फिर अपने सिद्धात की स्थापना करता है।
(३) वक्ता सम्यग्वाद का कथन कर फिर मिथ्यावाद का कथन करता है।
(४) वक्ता मिथ्यावाद का कथन कर फिर सम्यग्वाद की स्थापना करता है।

सवेगणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
१ इहलोगसंवेगणी,
२ परलोगसंवेगणी,
३. आतसरीरसवेगणी,
४ परसरीरसवेगणी।

सवेगनी कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा—
(१) इहलोक सवेगनी—मनुष्य जीवन की असारता तथा अनित्यता दिखाने वाली कथा।
(२) परलोक सवेगनी—देवादि भवो मे जो नाना प्रकार के दु खो का अनुभव करते हैं उनकी कथा।
(३) आत्म शरीर सवेगनी—अपने शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करने वाली कथा।
(४) परशरीर संवेगनी—दूसरे के शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करने वाली कथा।

णिव्वेज्जणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
१ इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसजुत्ता भवति,
२. इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवति,

निर्वेदनी कथा चार प्रकार की कही गई है, यथा –
(१) इस लोक मे किये हुए दुष्कर्म इसी लोक मे दु खरूप फल देने वाले होते हैं।
(२) इस लोक मे किये हुए दुष्कर्म परलोक मे दु खरूप फल देने वाले होते हैं।

३ परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति,

४. परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा परलोगे दुहफलविवागसजुत्ता भवति,

१ इहलोगे सुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवंति,

२. इहलोगे सुच्चिण्णा कम्मा परलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति,

३. परलोगे सुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति,

४. परलोगे सुच्चिण्णा कम्मा परलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति। —ठाण अ. ४, उ. २, सु. २८२

(३) परलोक मे किये हुए दुष्कर्म इस लोक मे दु खरूप फल देने वाले होते हैं।

(४) परलोक मे किये हुए दुष्कर्म परलोक मे ही दु खरूप फल देने वाले होते हैं।

(१) इस लोक में किये हुए शुभ कर्म इसी लोक मे सुखमय फल देने वाले होते हैं।

(२) इस लोक मे किये हुए शुभ कर्म परलोक मे सुखमय फल देने वाले होते हैं।

(३) परलोक मे किये हुए शुभ कर्म इस लोक मे सुखमय फल देने वाले होते हैं।

(४) परलोक मे किये हुए शुभ कर्म परलोक मे सुखमय फल देने वाले होते हैं।

पवयण सरूवं—

६९८ इमं च ण सव्वजगजीव-रक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहियं, अत्तहियं, पेच्चा भावियं, आगमेसिभद्दं, सुद्ध, णेयाउय, अकुडिलं, अणुत्तर सव्वदुक्खपावाण, विउसमणं। —प सु. २, अ. १, सु ६

प०—पवयण भंते! पवयणं, पावयणी पवयणं?

उ०—गोयमा! अरहा ताव नियम पावयणी, पवयण पुण दुवालसगे गणिपिडगे, त जहा—आयारो-जाव-दिट्ठिवाओ। —विया. स. २०, उ. ८, सु १५

प्रवचन का स्वरूप—

६९८. यह प्रवचन श्रमण भगवान महावीर ने जगत के समस्त जीवो की रक्षा दया के लिए समीचीन रूप मे कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोकगामी है, भविष्यत् काल में भी कल्याणकर है, शुद्ध है, न्याययुक्त है, मुक्ति प्राप्ति का सरल सीधा मार्ग है, सर्वोत्तम है, तथा समस्त दु खो और पापो को उपशान्त करने वाला है।

प्र०—भगवन! प्रवचन को ही प्रवचन कहते हैं, अथवा प्रवचनी को प्रवचन कहते हैं?

उ०—गौतम! अरिहन्त तो निश्चित रूप से प्रवचनी है और द्वादशाग गणिपिटक प्रवचन हैं। यथा आचाराग—यावत्—दृष्टिवाद।

धम्मकहाए विही णिसेहो—

६९९ से भिक्खू धम्म किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउ धम्म आइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउ धम्मं आइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउ धम्म आइक्खेज्जा, णो लेणस्स हेउं धम्म आइखेज्जा, णो सयणस्स हेउ धम्मं आइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूव-रूवाणं काम-भोगाण हेउ धम्ममाइक्खेज्जा,

अगिलाए धम्ममाइक्खिज्जा,

णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्ठयाए धम्म आइक्खेज्जा। —सूय. सु २, अ १, सु. ६९०

धर्मकथा के विधि-निषेध—

६९९ धर्मोपदेश करता हुआ भिक्षु आहार के लिए, पानी के लिए, वस्त्र-प्राप्ति के लिए, आवास स्थान के लिए, शयनीय पदार्थों की प्राप्ति के लिए तथा दूसरे विविध प्रकार के काम-भोगो (भोग्य पदार्थों) के लिए धर्म कथा न करे।

अग्लान भाव से (प्रसन्नता पूर्वक) धर्मोपदेश करे।

कर्मों की निर्जरा (आत्मशुद्धि) के उद्देश्य के सिवाय अन्य किसी भी फलाकाक्षा से धर्मोपदेश न करे।

धम्मकहाविवेगो—

७०० जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति।

जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति।

धर्म-कथा विवेक—

७०० साधक जैसे सम्पन्न व्यक्ति को धर्म-उपदेश करता है, वैसे ही दरिद्र को भी धर्म उपदेश करता है।

जैसे दरिद्र को धर्मोपदेश करता है, वैसे ही सम्पन्न को भी धर्मोपदेश करता है।

अवि य हणे अणादीयमाणे । एत्थं पि जाण सेयं ति णत्थि ।

कदाचित् तत्व को सम्यक् ग्रहण न करते हुए श्रोता भिक्षु को मारने भी लग सकता है । अत भिक्षु को यह जाने विना धर्मकथा करना श्रेयस्कर नही होता है कि—

केऽयं पुरिसे कं च णए ।
—आ सु. १, अ. २, उ. ६, सु. १०२

'श्रोता कौन है और किस सिद्धान्त को मानने वाला है ?'

दयं लोगस्स जाणित्ता पाईण पडीणं दाहिण उदीण आइक्खे विभए किट्टए वेदवी ।

आगमज्ञ मुनि प्राणी जगत पर दया अनुकम्पा भावपूर्वक पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण आदि दिशाओ मे विचरता हुआ धर्म का आख्यान करे, उसका विभेद करके समझावे तथा धर्माचरण से सुफल का प्रतिपादन करे ।

से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए-संतिं, विरतिं, उवसमं, णिव्वाणं, सोयवियं, अज्जवियं, मद्दवियं, लाघवियं, अणतिवत्तियं ।

वह मुनि धर्माचरण युक्त या धर्माचरण रहित जो भी पुरुष धर्म श्रवण के लिए उपस्थित हो उन्हे शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, पवित्रता, सरलता, कोमलता, अपरिग्रह एव अहिंसा आदि धर्मों का प्रतिपादन करे ।

सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताण अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खेज्जा ।

वह भिक्षु समस्त प्राणियो, सभी भूतो, सभी जीवो और समस्त सत्वो का हित चिन्तन करके धर्म का व्याख्यान करे ।

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाएज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा ।

भिक्षु विवेक पूर्वक धर्म का व्याख्यान करता हुआ अपने आपको बाधा न पहुँचाए, न दूसरो को बाधा पहुँचाए और न ही अन्य प्राणो, भूतो, जीवो और सत्वो को बाधा पहुँचाए ।

से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणाणं भूताणं जीवाणं सत्ताण जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवति सरणं महामुणी ।
—आ सु. १, अ. ६, उ ५, सु. १९६-१९७

किसी भी प्राणी को बाधा न पहुँचाते हुए धर्म कहने वाला वह महामुनि ससार-प्रवाह मे डूबते हुए प्राणो, भूतो, जीवो और सत्वो के लिए असंदीन (नही डूबने वाले) द्वीप की तरह शरणभूत होता है ।

आघाति णाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाण संबुज्झमाणाणं विण्णाणं पत्ताणं ।

ज्ञानी पुरुष इस ससार मे स्थित, सम्यक् बोध पाने के लिए उत्सुक एवं विज्ञान प्राप्त मनुष्यो को उपदेश करते हैं ।

अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता ।

जो आर्त अथवा प्रमत्त होते हैं, वे भी धर्म का आचरण कर सकते है ।

अहासच्चमिणं त्ति बेमि ।

यह यथातथ्य सत्य है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

णाऽणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छापणीता वंकाणिकेया, कालग्गहीता णिचये णिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पेंति ।

'जीव मृत्यु के मुख मे नही जायेंगे, ऐसा सम्भव नही है । फिर भी कुछ लोग इच्छाओं के द्वारा प्रेरित होकर असयम मे संलग्न रहते हैं । वे मृत्यु की पकड मे आ जाने पर भी कर्म-सचय करने या धन सग्रह मे लगे रहते हैं । ऐसे लोग विभिन्न योनियो मे बारम्बार जन्म ग्रहण करते रहते हैं ।

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवति । अहोववातिए फासे पडिसंवेदयंति ।
—आ सु. १, अ. ४, उ २, सु. १३४-१३५[1]

ऐसे मनुष्यो का इस लोक मे उन-उन जन्म-मरण के स्थानो का अति सम्पर्क होता है । वे वहाँ जन्म-मरण के अनेक दु खो का अनुभव करते हैं ।

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भाव,
खुड्ड पि गच्छेज्जा असद्दहाणे ।
आयुस्स कालातियारं वघातं,
लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥

तत्व चर्चा करने पर कोई अश्रद्धालु मनुष्य भावो को न समझकर क्रोध को प्राप्त हो सकता है और वक्ता को मार सकता है या कष्ट दे सकता है इसलिए मुनि अनुमान के द्वारा दूसरो के भावो को जानकर धर्म कहे ।

---

१ इस सूत्र का शेष अंश चारित्राचार पृ. २०७ पर देखें ।

२ मणुण्णसपयोगसंपउत्ते, तस्स अविप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति,

३. आयंकसपयोगसंपउत्ते, तस्स विप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति,

४. परिझुसियकामभोगसंपउत्ते तस्स अविप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति[1]। —वि. स. २५ उ. ७, सु २३८

(२) मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके अवियोग की चिन्ता करना।

(३) आतंक (रोग) होने पर उसके वियोग की चिन्ता करना।

(४) प्रीति उत्पन्न करने वाले काम भोग आदि की प्राप्ति होने पर उनके अवियोग की चिन्ता करना।

अट्ट झाण लक्खणा—

७०७ अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—

१ कंदणया,

२ सोयणया,

३ तिप्पणया,

४ परिदेवणया[2]। —वि. स. २५, उ ७, सु २३९

आर्तध्यान के लक्षण—

७०७ आर्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं, यथा--

(१) क्रन्दनता—आक्रन्द करना,

(२) शोचनता—शोक करना।

(३) तेपनता—आसू गिराना।

(४) परिदेवनता—वार-वार विलाप करना।

रुद्द झाण भेया—

७०८. रोद्दे झाणे चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा—

१ हिंसाणुबंधी,

२ मोसाणुबंधी,

३ तेयाणुबंधी,

४ सारक्खणाणुबंधी[3]। —वि स २५, उ ७, सु २४०

रौद्रध्यान के भेद—

७०८. रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) हिंसानुबन्धी – हिंसा को उद्दिष्ट कर एकाग्र चिन्तन करना।

(२) मृषानुबन्धी—असत्य को उद्दिष्ट कर निरन्तर चिन्तन करना।

(३) स्तेयानुबन्धी—चोरी से सम्बद्ध एकाग्र चिन्तन करना।

(४) सरक्षणानुबन्धी—धन आदि के सरक्षण हेतु अनिष्ट चिन्तन करना।

रुद्द झाण लक्खणा—

७०९ रोद्दस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, त जहा—

१ उस्सन्न दोसे,

२. बहुदोसे,

३. अण्णाणदोसे,

४. आमरणतदोसे[4]।

—वि स २५, उ. ७, सु २४१

रौद्रध्यान के लक्षण—

७०९ रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा—

(१) ओसन्न दोष—हिंसादि किसी एक दोष मे लीन रहना।

(२) बहुल दोष—हिंसादि बहुत दोषों मे प्रवृत्त रहना।

(३) अज्ञान दोष—अज्ञान के कारण हिंसादि मे धर्म-बुद्धि से प्रवृत्ति करना।

(४) आमरणान्त दोष—हिंसादि कार्यों का मरण पर्यन्त पश्चात्ताप न करना एव उसमे प्रवृत्त रहना।

धम्मझाण भेया—

७१० धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते, त जहा—

१ आणाविजये,

धर्मध्यान के भेद—

७१० धर्मध्यान चार प्रकार के चार पदों मे अवतरित होता है, यथा—

(१) आज्ञाविचय—वीतराग की आज्ञा का या उनके द्वारा प्ररूपित तत्वों का चिन्तन करना।

---

१ ठाणं अ ४, उ. १, सु २४७

२ (क) उव. सु ३० मे चौथा लक्षण "विलवणया" है। (ख) ठाणं. अ ४, उ. १, सु. २४७

३ ठाणं. अ. ४, उ १, सु २४७

४ ठाणं अ ४, उ. १, सु २४७

२. अवायविजये,

(२) अपायविचय – राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवो का चिन्तन करना ।

३. विवागविजये,

(३) विपाकविचय—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से उत्पन्न आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ का चिन्तन करना ।

४ संठाणविजये ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु २४२

(४) संस्थानविचय—ऊर्ध्व-अधोलोक, द्वीप समुद्र आदि के विषय मे चिन्तन करना ।

धम्मझाण लक्खणा—

७११. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—

१ आणारुई,

२. निसग्गरुई,

३. सुत्तरुई,

४ ओगाढरुई[1] ।

—वि. स. २५, उ. ७, सु २४३

धर्मध्यान के लक्षण—

७११. धर्मध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा—

(१) आज्ञारुचि—वीतराग की आज्ञा मे रुचि होना,

(२) निसर्ग रुचि—किसी के उपदेश के विना स्वभाव से ही जिनभाषित तत्वो पर श्रद्धा होना ।

(३) सूत्र रुचि—आगमो के अध्ययन व श्रवण मे रुचि होना ।

(४) अवगाढ रुचि—(उपदेश रुचि) धर्मोपदेश श्रवण मे उत्पन्न रुचि होना ।

धम्मझाणस्स आलंवणा—

७१२. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलवणा पन्नत्ता, तं जहा—

१ वायणा,

२ पडिपुच्छणा[2],

३. परियट्टणा,

४ धम्मकहा । —वि स २५, उ. ७, सु. २४४

धर्मध्यान के आलम्बन—

७१२. धर्मध्यान के चार अवलम्वन कहे गये हैं, यथा—

(१) वाचना,

(२) पृच्छना,

(३) परिवर्तना,

(४) धर्म कथा ।

धम्मझाणस्स अणुप्पेहाओ—

७१३ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—

१ एगत्ताणुप्पेहा,

२. अणिच्चाणुप्पेहा,

३. असरणाणुप्पेहा,

४. संसाराणुप्पेहा । —वि. स २५, उ. ७, सु. २४५

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ—

७१३. धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गयी हैं । यथा—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा—आत्मा के एकत्व भाव का चिन्तन करना ।

(२) अनित्यानुप्रेक्षा—शरीर, जीवन आदि की अनित्यता का चिन्तन करना ।

(३) अशरणानुप्रेक्षा—आत्मा की अशरणदशा का चिन्तन करना ।

(४) ससारानुप्रेक्षा—संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना ।

सुक्कज्झाण भेया—

७१४. सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—

१ पुहत्तवियक्के सवियारी,

शुक्लध्यान के भेद—

७१४ शुक्लध्यान के चार प्रकार और चतुष्प्रत्यावतार कहे हैं, यथा—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी—एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायो का पृथक् पृथक् चिन्तन करना ।

---

१ उव सु ३० मे चौथा लक्षण "उवएसुरुई है"

२ उव सु. ३०, दूसरा आलम्वन (पुच्छणा) है ।

२ मणुण्णसपयोगसंपउत्ते, तस्स अविप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति,

३. आयंकसपयोगसंपउत्ते, तस्स विप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति,

४ परिझुसियकामभोगसंपउत्ते तस्स अविप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति[1]। —वि. स. २५ उ. ७, सु २३८

(२) मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके अवियोग की चिन्ता करना।

(३) आतंक (रोग) होने पर उसके वियोग की चिन्ता करना।

(४) प्रीति उत्पन्न करने वाले काम भोग आदि की प्राप्ति होने पर उनके अवियोग की चिन्ता करना।

अट्ट झाण लक्खणा—

७०७ अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—

१ कदणया,
२ सोयणया,
३ तिप्पणया,
४ परिदेवणया[2]। —वि. स. २५, उ. ७, सु २३९

आर्तध्यान के लक्षण—

७०७ आर्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं, यथा—

(१) क्रन्दनता—आक्रन्द करना,
(२) शोचनता—शोक करना।
(३) तेपनता—आसू गिराना।
(४) परिदेवनता—वार-वार विलाप करना।

रुद्द झाण भेया—

७०८. रोद्दे झाणे चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा—

१ हिंसाणुवधी,
२ मोसाणुवधी,
३ तेयाणुवधी,
४ सारक्खणाणुवधी[3]। —वि स २५, उ ७, सु २४०

रौद्रध्यान के भेद—

७०८. रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है, यथा—

(१) हिंसानुवन्धी—हिंसा को उद्दिष्ट कर एकाग्र चिन्तन करना।

(२) मृषानुवन्धी—असत्य को उद्दिष्ट कर निरन्तर चिन्तन करना।

(३) स्तेयानुवन्धी—चोरी से सम्बद्ध एकाग्र चिन्तन करना।

(४) सरक्षणानुवन्धी—धन आदि के सरक्षण हेतु अनिष्ट चिन्तन करना।

रुद्द झाण लक्खणा—

७०९ रोद्दस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नता, त जहा—

१ उस्सन्न दोसे,
२. वहुदोसे,
३ अण्णाणदोसे,
४ आमरणतदोसे[4]। —वि स २५, उ. ७, सु २४१

रौद्रध्यान के लक्षण—

७०९ रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा—

(१) ओसन्न दोष—हिंसादि किसी एक दोष मे लीन रहना।

(२) वहुल दोष—हिंसादि वहुत दोषों मे प्रवृत्त रहना।

(३) अज्ञान दोष—अज्ञान के कारण हिंसादि मे धर्म-बुद्धि से प्रवृत्ति करना।

(४) आमरणान्त दोष—हिंसादि कार्यों का मरण पर्यन्त पश्चात्ताप न करना एव उसमे प्रवृत्त रहना।

धम्मझाण भेया—

७१० धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—

१ आणाविजये,

धर्मध्यान के भेद—

७१० धर्मध्यान चार प्रकार के चार पदो मे अवतरित होता है, यथा—

(१) आज्ञाविचय—वीतराग की आज्ञा का या उनके द्वारा प्ररूपित तत्वो का चिन्तन करना।

---

१ ठाणं अ. ४, उ. १, सु २४७

२ (क) उव. सु ३० मे चौथा लक्षण "विलवणया" है। (ख) ठाणं अ ४, उ. १, सु. २४७

३ ठाणं. अ ४, उ १, सु २४७

४ ठाणं अ ४, उ. १, सु २४७

२. अवायविजये,

(२) अपायविचय – राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवो का चिन्तन करना।

३ विवागविजये,

(३) विपाकविचय—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से उत्पन्न आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ का चिन्तन करना।

४ संठाणविजये।

—वि. स. २५, उ. ७, सु. २४२

(४) सस्थानविचय—ऊर्ध्व-अधोलोक, द्वीप समुद्र आदि के विषय मे चिन्तन करना।

धम्मझाण लक्खणा—

७११. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—

१ आणारुई,

२. निसग्गरुई,

३. सुत्तरुई,

४ ओगाढरुई[1]।

—वि. स. २५, उ. ७, सु २४३

धर्मध्यान के लक्षण—

७११. धर्मध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा—

(१) आज्ञारुचि—वीतराग की आज्ञा मे रुचि होना,

(२) निसर्ग रुचि—किसी के उपदेश के विना स्वभाव से ही जिनभाषित तत्वों पर श्रद्धा होना।

(३) सूत्र रुचि—आगमो के अध्ययन व श्रवण मे रुचि होना।

(४) अवगाढ रुचि—(उपदेश रुचि) धर्मोपदेश श्रवण मे उत्पन्न रुचि होना।

धम्मझाणस्स आलंबणा—

७१२. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलबणा पन्नत्ता, तं जहा—

१ वायणा,

२ पडिपुच्छणा[2],

३. परियट्टणा,

४. धम्मकहा। —वि स २५, उ. ७, सु. २४४

धर्मध्यान के आलम्बन—

७१२. धर्मध्यान के चार अवलम्बन कहे गये हैं, यथा—

(१) वाचना,

(२) पृच्छना,

(३) परिवर्तना,

(४) धर्म कथा।

धम्मझाणस्स अणुप्पेहाओ—

७१३ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—

१ एगत्ताणुप्पेहा,

२. अणिच्चाणुप्पेहा,

३. असरणाणुप्पेहा,

४. संसाराणुप्पेहा। —वि. स २५, उ. ७, सु २४५

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ—

७१३. धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गयी हैं। यथा—

(१) एकत्वानुप्रेक्षा—आत्मा के एकत्व भाव का चिन्तन करना।

(२) अनित्यानुप्रेक्षा—शरीर, जीवन आदि की अनित्यता का चिन्तन करना।

(३) अशरणानुप्रेक्षा—आत्मा की अशरणदशा का चिन्तन करना।

(४) ससारानुप्रेक्षा—संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना।

सुक्कज्झाण भेया—

७१४. सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—

१. पुहत्तवियक्के सवियारी,

शुक्लध्यान के भेद—

७१४ शुक्लध्यान के चार प्रकार और चतुष्प्रत्यावतार कहे हैं, यथा—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी—एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायो का पृथक् पृथक् चिन्तन करना।

---

१ उव सु ३० मे चौथा लक्षण "उवएसुरुई है"

२ उव सु. ३०, दूसरा आलम्बन (पूच्छणा) है।

२ मणुण्णसपयोगसंपउत्ते, तस्स अविप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति,
३ आयंकसपयोगसंपउत्ते, तस्स विप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति,
४. परिझुसियकामभोगसंपउत्ते तस्स अविप्पयोग सतिसमन्नागते यावि भवति[1]। —वि. स. २५ उ. ७, सु २३८

(२) मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके अवियोग की चिन्ता करना।
(३) आतंक (रोग) होने पर उसके वियोग की चिन्ता करना।
(४) प्रीति उत्पन्न करने वाले काम भोग आदि की प्राप्ति होने पर उनके अवियोग की चिन्ता करना।

अट्ट झाण लक्खणा—

७०७ अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—
१ कंदणया,
२ सोयणया,
३ तिप्पणया,
४ परिदेवणया[2]। —वि. स. २५, उ ७, सु २३९

आर्तध्यान के लक्षण—

७०७ आर्तध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं, यथा—
(१) क्रन्दनता—आक्रन्द करना,
(२) शोचनता—शोक करना।
(३) तेपनता—आसू गिराना।
(४) परिदेवनता—बार-बार विलाप करना।

रुद्द झाण भेया—

७०८ रोद्दे झाणे चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा—
१ हिंसाणुबंधी,
२ मोसाणुबंधी,
३ तेयाणुबंधी,
४ सारक्खणाणुबंधी[3]। —वि स २५, उ ७, सु २४०

रौद्रध्यान के भेद—

७०८ रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा गया है, यथा—
(१) हिंसानुबन्धी - हिंसा को उद्दिष्ट कर एकाग्र चिन्तन करना।
(२) मृषानुबन्धी—असत्य को उद्दिष्ट कर निरन्तर चिन्तन करना।
(३) स्तेयानुबन्धी—चोरी से सम्बद्ध एकाग्र चिन्तन करना।
(४) संरक्षणानुबन्धी—धन आदि के संरक्षण हेतु अनिष्ट चिन्तन करना।

रुद्द झाण लक्खणा—

७०९ रोद्दस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—
१ उस्सन्न दोसे,
२. बहुदोसे,
३. अण्णाणदोसे,
४ आमरणंतदोसे[4]। —वि स २५, उ. ७, सु २४१

रौद्रध्यान के लक्षण—

७०९ रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा—
(१) ओसन्न दोष—हिंसादि किसी एक दोष मे लीन रहना।
(२) बहुल दोष—हिंसादि बहुत दोषों मे प्रवृत्त रहना।
(३) अज्ञान दोष—अज्ञान के कारण हिंसादि मे धर्म-बुद्धि से प्रवृत्ति करना।
(४) आमरणान्त दोष—हिंसादि कार्यों का मरण पर्यन्त पश्चात्ताप न करना एव उसमे प्रवृत्त रहना।

धम्मझाण भेया—

७१० धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—
१. आणाविजये,

धर्मध्यान के भेद—

७१०. धर्मध्यान चार प्रकार के चार पदों मे अवतरित होता है, यथा—
(१) आज्ञाविचय—वीतराग की आज्ञा का या उनके द्वारा प्ररूपित तत्वो का चिन्तन करना।

---

१ ठाणं अ. ४, उ. १, सु २४७
२ (क) उव. सु ३० मे चौथा लक्षण "विलवणया" है। (ख) ठाणं अ ४, उ १, सु. २४७
३ ठाणं. अ ४, उ १, सु २४७
४ ठाणं. अ ४, उ. १, सु २४७

२. अवायविजये,

(२) अपायविचय – राग-द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवो का चिन्तन करना।

३. विवागविजये,

(३) विपाकविचय—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से उत्पन्न आत्मा की विभिन्न अवस्थाओ का चिन्तन करना।

४. संठाणविजये। —वि. स. २५, उ. ७, सु २४२

(४) सस्थानविचय—ऊर्ध्व-अधोलोक, द्वीप समुद्र आदि के विषय मे चिन्तन करना।

धम्मझाण लक्खणा—

धर्मध्यान के लक्षण—

७११. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—
१ आणारुई,
२. निसग्गरुई,
३. सुत्तरुई,
४. ओगाढरुई[1]। —वि. स. २५, उ. ७, सु. २४३

७११. धर्मध्यान के चार लक्षण कहे गये हैं। यथा—
(१) आज्ञारुचि—वीतराग की आज्ञा मे रुचि होना,
(२) निसर्ग रुचि—किसी के उपदेश के विना स्वभाव से ही जिनभाषित तत्वों पर श्रद्धा होना।
(३) सूत्र रुचि—आगमो के अध्ययन व श्रवण मे रुचि होना।
(४) अवगाढ रुचि—(उपदेश रुचि) धर्मोपदेश श्रवण मे उत्पन्न रुचि होना।

धम्मझाणस्स आलंबणा—

धर्मध्यान के आलम्बन—

७१२. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलवणा पन्नत्ता, तं जहा—
१ वायणा,
२ पडिपुच्छणा[2],
३. परियट्टणा,
४. धम्मकहा। —वि स २५, उ. ७, सु. २४४

७१२. धर्मध्यान के चार अवलम्वन कहे गये हैं, यथा—
(१) वाचना,
(२) पृच्छना,
(३) परिवर्तना,
(४) धर्म कथा।

धम्मझाणस्स अणुप्पेहाओ—

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ—

७१३ धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—
१. एगत्ताणुप्पेहा,
२. अणिच्चाणुप्पेहा,
३. असरणाणुप्पेहा,
४. संसाराणुप्पेहा। —वि. स २५, उ. ७, सु. २४५

७१३ धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही गयी है। यथा—
(१) एकत्वानुप्रेक्षा—आत्मा के एकत्व भाव का चिन्तन करना।
(२) अनित्यानुप्रेक्षा—शरीर, जीवन आदि की अनित्यता का चिन्तन करना।
(३) अशरणानुप्रेक्षा—आत्मा की अशरणदशा का चिन्तन करना।
(४) ससारानुप्रेक्षा—संसार परिभ्रमण का चिन्तन करना।

सुक्कज्झाण भेया—

शुक्लध्यान के भेद—

७१४. सुक्के झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—
१ पुहत्तवियक्के सवियारी,

७१४. शुक्लध्यान के चार प्रकार और चतुष्प्रत्यावतार कहे हैं, यथा—
(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी—एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायो का पृथक् पृथक् चिन्तन करना।

---

१ उव सु ३० मे चौथा लक्षण "उवएसुरुई है"
२ उव सु. ३०, दूसरा आलम्वन (पृच्छणा) है।

१ णेरइय ससारविओसग्गे,

२. तिरिय ससारविओसग्गे,

३. मणुय ससारविओसग्गे,

४. देव संसारविओसग्गे,
से त्त संसारविओसग्गे।

प०—से किं त कम्मविओसग्गे ?

उ०—कम्मविओसग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा—

१ णाणावरणिज्जकम्मविओसग्गे,

२ दरिसणावरणिज्जकम्मविओसग्गे,

३ वेयणिज्जकम्मविओसग्गे,

४. मोहणिज्जकम्मविओसग्गे,

५. आउयकम्मविओसग्गे,

६. णामकम्मविओसग्गे,

७. गोयकम्मविओसग्गे,

८. अतरायकम्मविओसग्गे।

से त्तं कम्मविओसग्गे,
से तं भावविओसग्गे।[1]

—वि. स २५, उ. ७, सु २५०-२५५

(१) नैरयिक-संसारव्युत्सर्ग—नरक गति बंधने के कारणो का त्याग।

(२) तिर्यक्-ससारव्युत्सर्ग—तिर्यंच गति बंधने के कारणो का त्याग।

(३) मनुज-संसारव्युत्सर्ग—मनुष्य गति बधने के कारणो का त्याग।

(४) देवससार-व्युत्सर्ग—देव गति बधने कारणों का त्याग।
यह ससार व्युत्सर्ग का वर्णन है।

प्र०—कर्म व्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

उ०—कर्म व्युत्सर्ग आठ प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—

(१) ज्ञानावरणीयकर्ण व्युत्सर्ग—(आत्मा के ज्ञान गुण के आवरक कर्म पुद्गलो के बंधने के कारणो का त्याग)

(२) दर्शनावरणीय कर्म व्युत्सर्ग—(आत्मा के दर्शन (सामान्य ज्ञान गुण) के आवरक कर्म पुद्गलो के बँधने के कारणो का त्याग।)

(३) वेदनीय कर्म व्युत्सर्ग—(साता असाता दु खरूप वेदना के हेतुभूत पुद्गलो के बधने के कारणो का त्याग। सुख दु खात्मक अनुकूल-प्रतिकूल वेदन मे आत्म को तद्-अभिन्न मानने का उत्सर्जन।)

(४) मोहनीय कर्म व्युत्सर्ग—(आत्मा के स्वप्रतीति-स्वानुभूति स्वभाव रमणरूप गुण के आवरक कर्म पुद्गलो के बधने के कारणो का त्याग।)

(५) आयुष्य कर्म व्युत्सर्ग—(किसी भव मे—पर्याय मे रोक रखने वाले आयुष्यकर्म के पुद्गलो के बधने के कारणो का त्याग।)

(६) नाम-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के अमूर्तत्व गुण के आवरक कर्म पुद्गलो के बधने के कारणो का त्याग।)

(७) गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के अगुरुलघुत्व (न भारीपन न हलकापन) रूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलो के बधने के कारणो का त्याग।)

(८) अन्तराय-कर्म-व्युत्सर्ग—(आत्मा के शक्ति रूप गुण के आवरक (अवरोध) कर्म पुद्गलो के बधने के कारणो का त्याग।)
यह कर्म व्युत्सर्ग है।
इस प्रकार भाव व्युत्सर्ग का विवेचन है।

काउसग्ग फलं—

७२०. प०—काउस्सग्गेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कायोत्सर्ग का फल—

७२०. प्र०—भन्ते ! कायोत्सर्ग (ध्यान की मुद्रा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

---

१ उव. सु. ३०

उ०—काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व" भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेण विहरइ॥
—उत्त अ. २९, सु १४

उ०—कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्त योग्य कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भांति स्वस्थ हृदय वाला हो जाता है और प्रशस्त ध्यान मे लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।



तप समाधि एवं फल—६

तवाचरण उद्देसो—

७२१ चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, त जहा—
१. नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
२. नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
३. नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा,
४. नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।

चउत्थं पय भवइ। भवय य इत्थ सिलोगो—
विविहगुणतवोरए य निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए॥
—दस. अ. ९, उ ४, सु. ९-१०

तपाचरण का उद्देश्य—

७२१ तप समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—
(१) इहलौकिक सुख के निमित्त तप नही करना चाहिए।
(२) पारलौकिक सुख के निमित्त तप नही करना चाहिए।
(३) कीर्ति यश प्रसिद्धि और प्रशंसा के लिए तप नहीं करना चाहिए।
(४) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नही करना चाहिए।

यह चतुर्थ पद है और यहाँ एक श्लोक है।
सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का इच्छुक होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि मे सदा युक्त हो जाता है।

तव-चरण फलं—

७२२. अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउलहियसुहावहं पुणो, कुव्वइ सो पयखेममप्पणो॥

जाइमरणाओ मुच्चई, इत्थथ च चयइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ सासए, देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥
—दस अ ९, उ. ४, सु १३-१४, गा. ६-७

पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य, खन्ती य बम्भचेरं च॥
—दस. अ ४, गा. २७

अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्ह अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्ख-प्पहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए॥

उत्तराइं विमोहाइं, जुइमन्ताणुपुव्वसो।
समाइण्णाइं जक्खेहिं, आवासाइं जसंसिणो॥

तप आचरण का फल—

७२२. जो चारो समाधियो को जानकर सुविशुद्ध और सुसमाहित चित्त वाला होता है वह अपने लिए हितकर और सुखकर मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है।

वह जन्म-मरण से मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओ को पूर्णत त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध हो जाता है अथवा अल्प कर्म वाला महर्धिक देव होता है।

जो पिछली अवस्था मे प्रव्रजित हुए हो किन्तु उन्हे तप, सयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है तो वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते हैं।

जो सवृत भिक्षु होता है, वह दोनो मे से एक अवस्था को प्राप्त होता है, यथा—(१) सव दु.खो से मुक्त (२) महान् ऋद्धि वाला देव।

देवताओ के आवास क्रमश. उत्तरोत्तर मोह रहित द्युतिमान् और यशस्वी देवो से आकीर्ण होते हैं।

दीहाउया इड्ढिमत्ता, समिद्धा काम-रूविणो ।
अहुणोववन्नो - संकासा, भुज्जो अच्चिमालि-प्पभा ॥

वे देव दीर्घायु, ऋद्धिमान, दीप्तिमान, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हो, ऐसी कान्ति वाले सूर्य के समान अति-तेजस्वी होते हैं।

ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तव ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा ॥
—उत्त अ ५, गा २५-२८

जो भिक्षु या गृहस्थ उपशान्त होते हैं वे संयम और तप का आराधन कर इन उपरोक्त देव-आवास स्थानो मे जाते हैं।

खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो ॥
—उत्त. अ २८, गा ३६

सर्व दु खो से मुक्ति पाने के लिए महर्षि संयम और तप के द्वारा पूर्व कर्मों को क्षय कर सिद्धि को प्राप्त होते हैं।

एय तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी ।
सो खिप्प सव्वससारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥
—उत्त अ ३०, गा ३७

इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनो प्रकार के तपो का सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

तवाइ-तेणाणं दुग्गइ—

तपादि के चोरो की दुर्गति—

७२३ तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे ।
आयारभावतेणे य, कुव्वई देवकिब्बिस ॥

७२३ जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर होता है, वह किल्विपिक देव योग्य कर्म वन्ध करता है।

लद्धूण वि देवत्त, उववन्नो देवकिब्बिसे ।
तत्था वि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फल ॥
तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्भिही एलमूयगं ।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

किल्विपिक देव के रूप मे उत्पन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहाँ वह नही जानता कि यह मेरे किस कार्य का फल है।

वहाँ से च्युत होकर वह ऐसे मूक वकरे आदि योनि को प्राप्त करता है अथवा नरक या तिर्यंचयोनि को प्राप्त करता है जहाँ जिन धर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ होती है।

एय च दोस दट्ठूण, नायपुत्तेण भासिय ।
अणुमाय पि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥
—दस अ ५, उ २, गा ४६-४६

ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने कहा कि इन पूर्वोक्त दोषों को जानकर मेधावी मुनि सयम पालन मे अणु-मात्र भी माया-मृषा न करे।

तवस्सियाणं णेरइयाणं कम्मणिज्जरणयाए तुलणा—

तपस्वियो और नैरयिको के कर्म निर्जरा की तुलना—

७२४ प०—जावइयं णं भंते ! अन्नगिलायए समणे निग्गथे कम्मं निज्जरेइ, एवइयं कम्म नरएसु नेरइया वासेण वा, वासेहिं वा, वाससएहिं खवयति ?

७२४ प्र०—भन्ते ! पर्युषित (शीतल अमनोज्ञ) आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मो का नैरयिक जीव नरक मे एक वर्ष, अनेक वर्ष या सौ वर्ष मे क्षय करता है ?

उ०—नो तिणट्ठे समट्ठे ।

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

प०—जावइयं णं भते ! चउत्थभत्तिए समणे निग्गथे कम्म निज्जरेइ, एवइयं कम्म नरएसु नेरइया वास-सएण वा, वास-सएहिं वा, वास-सहस्सेण वा खवयंति ?

प्र०—भन्ते ! चतुर्थ भक्त (एक उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मो का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का नैरयिक जीव नरक मे सौ वर्ष, अनेक सौ वर्ष या हजार वर्ष मे क्षय करता है ?

उ०—नो तिणट्ठे समट्ठे ।

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

प०—जावइय णं भंते ! छट्ठभत्तिए समणे निग्गथे कम्मं निज्जरेइ, एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वासहस्सेण वा, वास-सहस्सेहिं वा, वास-सय-सहस्सेण वा, खवयति ?

प्र०—भन्ते ! छट्ठ भक्त (दो उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मो का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का नैरयिक जीव नरक मे हजार वर्ष, अनेक हजार वर्ष या एक लाख वर्ष मे क्षय करता है ?

उ०—नो तिणट्ठे समट्ठे ।

प०—जावइयं णं भंते ! अट्ठमभत्तिए समणे निग्गथे कम्म निज्जरेइ, एवइयं कम्मं नरएसु नेरइया वास सय-सहस्सेण वा, वास-सय-सहस्सेहिं वा, वासकोडीए वा खवयन्ति ?

उ०—नो तिणट्ठे समट्ठे ।

प०—जावइयं ण भंते ! दसमभत्तिए समणे निग्गथे कम्म निज्जरेइ, एवइय कम्म नरएसु नेरइया वास-कोडीए वा वास कोडीहिं वा, वास-कोडाकोडीए वा खवयंति ?

उ०—नो तिणट्ठे समट्ठे ।

प०—से केणट्ठे ण भंते ! एव वुच्चइ—जावइयं अन्नगिलायए समणे निग्गंथे कम्मं निज्जरेइ एवइय कम्मं नरएसु नेरइया वासेणं वा, वासेहिं वा, वास सएण वा, नो खवयन्ति-जाव वास कोडाकोडीए वा नो खवयन्ति ?

उ०—गोयमा ! से जहानामए केइ-पुरिसे जुन्ने, जराजज्जरियदेहे, सिढिलतयावलि तरग-संपणिद्धगत्ते, पविरल-परिसडिय-दत सेढी, उण्हाभिहए, तण्हाभिहए, आउरे, झुझिए, पिवासिए, दुब्बले, किलते, एग मह कोसव-गडिय सुक्क जडिलं गठिल्ल चिक्कण वाइद्ध अपत्तिय मुडेण परसुणा अवक्कमेज्जा, तए ण से महताइ महंताइ सद्दाइ करेइ, नो महंताइं महताइ दलाइं अवद्दालेइ ।

एवामेव गोयमा ! नेरइयाणं पावाइं कम्माइ गाढी-कयाइ चिक्कणी-कयाइं सिलिट्ठी कयाइं खिलीभूताइ भवति, सपगाढ पि य ण ते वेदण वेदेमाणा नो महा-निज्जरा णो महापज्जवसाणा भवंति ।

२ से जहानामए केइ-पुरिसे अहिकरणिं आउडेमाणे महया महया सद्देण, महया-महया घोसेणं, महया महया परपराघाएणं, नो सचाएइ तीसे अहिगरणिए केइ अहावायरे पोग्गले परिसाडित्तए,

एवामेव गोयमा ! नेरइयाण पावाइ कम्माइ गाढी-कियाइ-जाव-नो महापज्जवसाणाइं भवति ।

३ से जहानामए केइ-पुरिसे तरुणे वलवं-जाव-मेहावी निउणसिप्पोवगए एग महं सामलिगडिय उल्ल, अजडिल, अगठिल्लं, अचिक्कण, अवाइद्ध, सपत्तिय तिक्खेण परसुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे नो महंताइ महताइं सद्दाइ करेइ महताइ महंताइं दलाइ अवद्दालेइ ।

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

प्र०—भन्ते ! अष्टम भक्त (तीन उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का नैरयिक जीव नरक मे एक लाख वर्ष, अनेक लाख वर्ष या एक करोड वर्ष मे क्षय करता है ?

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

प्र०—भन्ते ! दशम भक्त (चार उपवास) करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है क्या उतने ही कर्मों का क्षय नैरयिक जीव नरक मे एक करोड वर्ष, अनेक करोड वर्ष या कोटा-कोटी वर्ष मे क्षय करता है ?

उ०—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

प्र०—भन्ते ! यह किस कारण से कहते हैं कि अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मों का क्षय करता है उतने ही कर्मों को नैरयिक जीव नरक मे एक वर्ष, अनेक वर्ष, या सौ वर्ष मे भी क्षय नही कर सकता—यावत्—कोटा कोटी वर्ष पर्यन्त क्षय नही कर सकता ?

उ०—हे गौतम ! जिस प्रकार कोई वृद्ध, जरा जर्जरित शरीर वाला, शिथिल त्वचा से सलवटें युक्त शरीर वाला, कतिपय गिरे हुए दातो वाला, गरमी से व्याकुल, तृषा से पीडित, दुखी, बुभुक्षित-तृषित, दुर्बल और मानसिक क्लेश वाला पुरुष हो और वह एक बडी कौशव नाम के वृक्ष की सूखी हुई, वक्र ग्रन्थियो वाली चिकनी और निराधार रही हुई लकडी पर एक मोटे कुल्हाडे द्वारा प्रहार करे तो वह पुरुष बहुत जोर-जोर से शब्द करता है किन्तु अनेक टुकडे नही कर सकता ।

इसी प्रकार हे गौतम ! नैरयिको के अपने कर्म गाढ़ बंधे हुए चिकने किये हुए निधत्त हुए एव निकाचित किए हुए होते हैं इसलिए वे सम्प्रगाढ वेदना को भोगते हुए भी महानिर्जरा वाले तथा महापर्यवसान वाले नही होते हैं ।

(२) जिस प्रकार कोई एक पुरुष जोरदार शब्दो के साथ, महाघोष के साथ एरण पर घन की चोट मारता है, बहुत जोर-जोर से आघात करता है किन्तु एरण के स्थूल पुद्गलो को तोडने मे समर्थ नही होता है ।

इसी प्रकार हे गौतम ! नैरयिको के अपने पापकर्म गाढ बंधे हुए होते हैं—यावत्—वे महापर्यवसान वाले नही होते ।

(३) जिस प्रकार कोई तरुण पुरुष बलवान—यावत्—मेधावी और निपुण शिल्पकार एक बहुत बडे शाल्मली वृक्ष की गिली, अजटिल, अगठिल, (गाठ रहित) चिकनाई से रहित सीधी और आधार सहित लकडी पर तीक्ष्ण परशु से प्रहार करता हुआ वह पुरुष बहुत जोर-जोर से शब्द नही करता है किन्तु अनेक टुकडे कर देता है ।

एवामेव गोयमा ! समणाणं निग्गंथाणं अहाबायराइ कम्माइं सिढिलीकयाइ निट्ठियाइकयाइ विप्परिणामियाइ खिप्पामेव परिविद्धत्थाइं भवंति। जावइयं ताइय पि ते वेदण वेदेमाणा महानिज्जरा महापज्जवसाणा भवति।

इसी प्रकार हे गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थो के स्थूल कर्म शिथिल, प्रभावहीन और विपरिणाम को प्राप्त शीघ्र ही ध्वस्त होते हैं। इसलिए सामान्य वेदना का वेदन करते हुए भी श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा एव महापर्यवसान को प्राप्त होते हैं।

४. प०—से जहा वा केइ पुरिसे सुक्कतणहत्थगं जायतेयसि पक्खिवेज्जा से नूण गोयमा ! से सुक्के तणहत्थए जायतेयसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ ?

उ०—हता मसमसाविज्जइ।

एवामेव गोयमा ! समणाण निग्गथाणं अहाबायराइ कम्माइ सिढिलीकयाइ-जाव-महापज्जवसाणा भवति।

(४) प्र०—हे गौतम ! जिस प्रकार कोई पुरुष शुष्क तृण हाथ मे लेकर अग्नि मे डाले, डालते ही वे शुष्क तृण शीघ्र ही जल जाते हैं ?

उ०—हाँ भन्ते ! जल जाते हैं।

इसी प्रकार हे गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थो के स्थूलकर्म शिथिल होते हैं—यावत्—वे महापर्यवसान को प्राप्त होते हैं।

५ प०—से जहानामए केइ पुरिसे तत्तसि अयकल्लसि उदगबिंदु पक्खिवेज्जा से नूण गोयमा ! से उदगबिंदु तत्तसि अयकवल्लसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव विद्धंसं आगच्छइ ?

उ०—हता विद्धंस आगच्छइ।

एवामेव गोयमा ! समणाण निग्गथाण अहाबायराइ कम्माइ सिढिलीकयाइं-जाव-महापज्जवसाणा भवति। से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ-जावइय अन्नगिलायए समणे निग्गथे कम्म निज्जरेइ एवइय कम्म नरएसु नेरइया-जाव-वास-कोडाकोडीए वा नो खवयंति।

—वि. स. १६, उ ४, सु २-७

(५) प्र०—जिस प्रकार कोई पुरुष तप्त तवे पर पानी का विन्दु डाले, डालते ही वह उदक विन्दु तप्त तवे पर शीघ्र ही ध्वस्त हो जाता है ?

उ०—हाँ भन्ते ! वह विन्दु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार हे गौतम ! श्रमण निर्ग्रन्थो के स्थूलकर्म शिथिल होते हैं—यावत्—महापर्यवसान को प्राप्त होते हैं।

हे गौतम ! इसी कारण ऐसा कहा जाता है कि अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ जितने कर्मो का क्षय करता है उतने कर्मो का क्षय नैरयिक जीव नरक मे—यावत्—कोटा कोटी वर्ष मे भी नही करते।

तवेणपत्त चारण लद्धिस्स वण्णओ—

७२५. प०—कतिविहा णं भते ! चारणा पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! दुविहा चारणा पण्णत्ता, तं जहा—

१ विज्जाचारणा य, २. जंघाचारणा य।

प०—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-विज्जाचारणे-विज्जाचारणे ?

उ०—गोयमा ! तस्स ण छट्ठंछट्ठेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण विज्जाए लद्धि खममाणस्स विज्जाचारणलद्धी नाम लद्धी समुप्पज्जइ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ विज्जाचारणे-विज्जाचारणे।

प०—विज्जाचारणस्स ण भते ! कह सीहा गती, कहं सीहे गतिविसए पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! अयण्ण जबुद्दीवे दीवे-जाव-किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेण। देवे णं महिड्ढीए-जाव-महेसक्खे-जाव-'इणामेव-इणामेव त्ति कट्टु' केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीव

तप से प्राप्त चारण लब्धि का वर्णन—

७२५ प्र०—भगवन् ! चारण कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

उ०—गौतम ! चारण दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—

(१) विद्याचारण और (२) जघाचारण।

प्र०—भगवन् ! विद्याचारण मुनि को "विद्याचारण" क्यो कहते हैं ?

उ०—गौतम ! निरन्तर वेले-वेले के तपश्चरणपूर्वक पूर्वश्रुतरूप विद्या द्वारा उत्तरगुणलब्धि अर्थात् तपोलब्धि को प्राप्त मुनि को विद्याचारणलब्धि नाम की लब्धि उत्पन्न होती है।

इस कारण मे गौतम ! वे विद्याचारण कहलाते हैं।

प्र०—भगवन ! विद्याचारण की शीघ्र गति कैसी होती है ? और उसका गति विषय कितना शीघ्र होता है ?

उ०—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप, जो सर्वद्वीपो मे (आभ्यन्तर है)—यावत्—जिसकी परिधि (तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन से) कुछ विशेषाधिक है, उस

तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तहा सीहा गती, तहा सीहे गतिविसए पण्णत्ते।

सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के चारो ओर कोई महर्द्धिक– **यावत्**—महा-सौख्य-सम्पन्न देव—**यावत्**—"यह चक्कर लगा कर आता हूँ।" यो कहकर तीन चुटकी बजाए उतने समय मे, तीन बार चक्कर लगाकर आ जाये, ऐसी शीघ्र गति विद्याचारण की है और उसका इस प्रकार का शीघ्रगति का विषय कहा है।

प०—विज्जाचारणस्स ण भते ! तिरिय केवतियं गतिविसए पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! से णं इओ एगेण उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरण करेति, करेत्ता, तहिं चेइयाइ वंदति वंदित्ता बितिएणं उप्पाउण नंदीसरवरे दीवे समोसरण करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइ वदति, वदित्ता तओ पडिनियत्तति, पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इह चेइयाइं वंदति। विज्जाचारणस्स ण गोयमा ! तिरिय एवतिए गतिविसए पण्णत्ते।

प्र०—भगवन ! विद्याचारण की तिरछी गति का विषय कितना कहा है ?

उ०—गौतम ! वह (विद्याचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात (उडान) से मानुषोत्तर पर्वत पर समवसरण करता है (अर्थात् वहाँ जाकर ठहरता है) फिर वहाँ चैत्यो (ज्ञानियो) की स्तुति करता है। तत्पश्चात वहाँ से दूसरे उत्पात मे नन्दीश्वरद्वीप मे समवसरण करता है, फिर वहाँ पर भी चैत्यो (ज्ञानियो) की वन्दना (स्तुति) करता है, तत्पश्चात वहाँ से (एक ही उत्पात मे) वापस लौटता है और यहाँ आ जाता है। यहाँ आकर चैत्य (ज्ञानियो) की वन्दना करता है। गौतम ! विद्याचारण मुनि की तिरछी गति का विषय ऐसा कहा गया है।

प०—विज्जाचारणस्स णं भते ! उड्ढ केवतिए गतिविसए पण्णत्ते ?

उ०—गोयमा ! से ण इओ एगेण उप्पाएण नंदणवणे समोसरण करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइं वदति, वदित्ता बितिएणं उप्पाएण पडगवणे समोसरण करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइं वदति, वदित्ता तओ पडिनियत्तति, पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इह चेइयाइ वंदति। विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढ एवतिए गतिविसए पण्णत्ते।

प्र०—भगवन ! विद्याचारण की ऊर्ध्वगति का विषय कितना कहा है ?

उ०—गौतम ! वह (विद्याचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात से नन्दनवन मे समवसरण करता है। वहाँ ठहर कर वह चैत्यो (ज्ञानियो) की वन्दना करता है। फिर वहाँ से दूसरे उत्पात से पण्डकवन मे समवसरण करता है वहाँ भी वह चैत्य (ज्ञानियो) की स्तुति (वन्दना) करता है। फिर वहाँ से वह लौटता है और वापस यहाँ आ जाता है। यहाँ आकर वह चैत्यो (ज्ञानियो) की स्तुति वन्दना करता है। हे गौतम ! विद्याचारण मुनि की ऊर्ध्वगति का विषय ऐसा कहा गया है।

से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कते काल करेति नत्थि तस्स आराहणा। से ण तस्स ठाणस्स आलोइय-पडिक्कते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा।

यदि वह विद्याचरण मुनि उस स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाये तो उसकी चारित्र आराधना नही होती और यदि वह विद्याचारण मुनि उस (प्रमाद) स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसकी (चारित्र) आराधना होती है।

प०—से केणट्ठेणं भते ! एव वुच्चइ-जघाचरणे-जघाचरणे ?

उ०—गोयमा ! तस्स णं अट्ठमंअट्ठमेण अणिक्खित्तेणं तवो-कम्मेण अप्पाणं भावेमाणस्स जघाचारणलद्धी नामं लद्धी समुप्पज्जति। से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ जघाचारणे-जंघाचारणे।

प्र०—भगवन ! जंघाचारण को जघाचारण क्यो कहते हैं ?

उ०—गौतम ! निरन्तर तेले-तेले तपश्चरण-पूर्वक आत्मा को भावित करते हुए मुनि को जघाचारण नामक लब्धि उत्पन्न होती है, इस कारण से गौतम ! उसे "जंघाचारण" कहते हैं।

प० – जघाचारणस्स ण भंते ! कहं सीहा गति, कहं सीहे गतिविसए पण्णत्ते ?

प्र०—भगवन ! जघाचारण की शीघ्र गति कैसी होती है ? और उसकी शीघ्रगति का विषय कितना होता है ?

उ०—गोयमा ! अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे एव जहेव विज्जा-चारणस्स नवर तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्व-मागच्छेज्जा, जंघाचारणस्स ण गोयमा ! तहा सीहा गति तहा सीहे गतिविसए पण्णत्ते ।

उ०—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप—यावत्—(जिसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन से कुछ) विशेषाधिक है, इत्यादि समग्र वर्णन विद्याचारण के समान जानना चाहिए। विशेष यह है कि कोई महर्द्धिक—यावत्—चुटकी बजाए, उतने समय मे इस समग्र जम्बूद्वीप की (इक्कीस वार परिक्रमा करके शीघ्र वापस लौटकर आ जाता है, हे गौतम ! जघाचारण की इतनी शीघ्रगति और इतना शीघ्रगति विषय कहा है। शेष कथन सब पूर्ववत है।

प०—जंघाचारणस्स ण भते ! तिरियं केवतिए गतिविसए पण्णत्ते ?

प्र०—भगवन ! जघाचारण की तिरछी गति का विषय कितना कहा है ?

उ०—गोयमा ! से ण इओ एगेण उप्पाएण रूयगवरे दीवे समोसरण करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति वदित्ता तओ पडिनियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएण नदीसरवर-दीवे समोसरण करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइ वदति, वदित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इह चेइयाइं वदति ! जंघाचारणस्स ण गोयमा ! तिरिय एवतिए गतिविसए पण्णत्ते ।

उ०—गौतम ! वह (जंघाचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात से रुचकवरद्वीप मे समवसरण करता है फिर वहाँ ठहरकर वह चैत्य (ज्ञानियो) की स्तुति वन्दना करता है। चैत्य (ज्ञानियों) की स्तुति करके लौटते समय दूसरे उत्पात से नन्दीश्वर द्वीप मे समवसरण करता है तथा वहाँ स्थित होकर चैत्य (ज्ञानियो) की स्तुति करता है। तत्पश्चात वहाँ से लौटकर यहाँ आता है। यहाँ आकर वह चैत्य (ज्ञानियो) की स्तुति करता है। हे गौतम ! जंघाचारण की तिरछी गति का ऐसा (शीघ्र) गतिविषय कहा है।

प०—जंघाचारणस्स णं भते ! उड्ढं केवतिए गतिविसए पण्णत्ते ?

प्र०—भगवन ! जघाचारण की ऊर्ध्व-गति का विषय कितना कहा गया है ?

उ०—गोयमा ! से ण इओ एगेण उप्पाएणं पडगवणे समो-सरणं करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइ वदति वदित्ता तओ पडिनियत्तमाणे बितिएण उप्पाएण नदणवणे समोसरण करेति, करेत्ता तहिं चेइयाइ वदति, वदित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इह चेइयाइ वदति, जघा-चारणस्स ण गोयमा ! उड्ढं एवतिए गतिविसए पण्णत्ते ।

उ०—गौतम ! वह (जघाचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात मे पण्डकवन मे समवसरण करता है। फिर वहाँ ठहर कर चैत्य (ज्ञानियो) की स्तुति करता है। फिर वहाँ से लौटते हुए दूसरे उत्पात से नन्दनवन मे समवसरण करता है। फिर वहाँ चैत्य (ज्ञानियो) की स्तुति करता है। तत्पश्चात वहाँ से वापस यहाँ आ जाता है। इतना ऊर्ध्वगति का विषय कहा गया है।

से ण तस्स ठाणस्स अणालोइय-पडिक्कखते काल करेति नत्थि तस्स आराहणा। से ण तस्स ठाणस्स आलोइय-पडिक्कते काल करेति अत्थि तस्स आराहणा। —विया स. २०, उ ९

वह जघाचारण उस (लब्धि-प्रयोग-सम्बन्धी प्रमाद) स्थान की आलोचना तथा प्रतिक्रमण किये बिना यदि काल कर जावे तो उसकी (चारित्र) आराधना नही होती। (इसके विपरीत) यदि वह जंघाचारण उस प्रमाद स्थान की आलोचना और प्रति-क्रमण करके काल करता है तो उसकी आराधना होती है।



५

॥ वीरियायारो ॥

अणिगूहियबलवीरिओ
परक्कमती जो जहुत्तमाउत्तो ।
जुंजइ य जहत्थामं,
णायव्वो वीरियायारो ॥

—निशीथभाष्य; भाग १, गा० ४८

चरणानुयोग

[वीर्याचार]

५

वीर्याचार

वीर्य का स्वरूप—१

वीरिय सरूवं—

७२६. दुहा चेय सुयक्खाय, वीरिय ति पवुच्चति।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, केण वीरो ति वुच्चति॥

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वा वि सुव्वता।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दिस्सांति मच्चिया॥

पमायं कम्ममाहसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावादेसतो वा वि, बाल पंडितमेव वा॥

—सूय सु १, अ. ८, गा १३

वीर्य का स्वरूप—

७२६ तीर्थंकर भगवान् के द्वारा प्ररूपित जिन मार्ग मे वीर्य दो प्रकार का कहा गया है। वीर पुरुष की वीरता क्या है और उसका वर्णन किस प्रकार है?

तीर्थंकर भगवान् दो प्रकार के वीर्य का प्रतिपादन करते है—कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य। सभी मनुष्य इन दो स्थानो मे विद्यमान है।

तीर्थंकरो ने प्रमाद को कर्मवीर्य (कर्मों की वृद्धि कराने वाला) और अप्रमाद को अकर्मवीर्य (कर्म रहित बनाने वाला) कहा है। कर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से मनुष्य 'बाल' और अकर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से वह 'पंडित' कहलाता है।

बालवीरियाईण विवक्खा—

७२७. प०—अण्णउत्थिया ण भंते! एवमाइक्खति, एव भासति, एवं पण्णवेंति, एव परूवेंति "समणा पंडिया, समणोवासया बालपंडिया"? जस्स णं एगपाणाए वि दंडे अणिक्खित्ते से ण "एगतबाले" त्ति वत्तव्व सिया। से कहमेय भंते! एवं?

उ०—गोयमा! जं णं ते अण्णउत्थिया एव आइक्खंति-जाव-एगंतबाले त्ति वत्तव सिया, जे ते एवमाहसु मिच्छं ते एवमाहसु।
अहं पुण गोयमा! एवं आइक्खामि जाव-परूवेमि "एव खलु समणा 'पंडिया', समणोवासगा 'बालपंडिया' जस्स ण एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते से णं णो एगतबाले त्ति वत्तव्व सिया"।

—वि स १७, उ. २, सु १०

बालवीर्य आदि की विवक्षा—

७२७. प्र०—भन्ते! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार विशेष रूप से कहते हैं, इस प्रकार बताते हैं और इस प्रकार प्ररूपित करते हैं कि—"श्रमण पण्डित कहलाते हैं और श्रमणोपासक बाल-पण्डित कहलाते हैं तथा जिस के एक जीव के वध की भी अविरति है वह "एकान्त बाल" कहलाता है, भन्ते! क्या अन्यतीर्थियो का यह कथन सत्य है?

उ०—हे गौतम! अन्यतीर्थिको ने जो इस प्रकार कहा है कि—"श्रमण पण्डित" है—यावत्—"एकान्त बाल" कहलाता है, उनका यह कथन मिथ्या है।

हे गौतम! मैं इस प्रकार कहता हूँ—यावत् प्ररूपित करता हूँ कि "श्रमण पण्डित है और श्रमणोपासक बाल-पण्डित है और जिस जीव ने एक भी प्राणी के वध की विरति की है, वह जीव एकान्त बाल नही कहलाता है" (किन्तु वह बाल पण्डित कहलाता है।)

बालवीरियसरूव—

७२८. जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो।
असुद्ध तेसि परक्कत, सफल होइ सव्वसो॥

—सूय सु १, अ. ८, गा २२

चुते हु बाले गब्भातिसु रज्जति! अस्सि चेत पवुच्चति रूवंसि वा छणसि वा।

—आ. सु १, अ. ५, उ. ३, सु १५६

बालवीर्य का स्वरूप—

७२८ जो महाभाग वीर पुरुष अबुद्ध और असम्यक्त्वदर्शी है, उनका पराक्रम अशुद्ध और सर्वथा कर्मबन्धयुक्त होता है।

मोक्ष-साधना से भ्रष्ट होने वाला अज्ञानी साधक गर्भ आदि मे फँस कर दुख पाता है। इस आर्हत शासन मे यह कहा गया है कि—'रूप मे एवं हिंसा मे आसक्त होने वाला गर्भादि मे जाता है।'

उम्मुं च पास इह मच्चिएहिं,
आरंभजीवी उभयाणुपस्सी ।
कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति,
संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं ॥

इस संसार मे मनुष्यो के साथ रागादि बन्धनो को तोड़ डाल, क्योकि वे आरम्भजीवी हैं, शारीरिक मानसिक उभय सुखो के या काम-भोगो के अभिलाषी हैं, वे काम-भोगो मे आसक्त होकर कर्मों का संचय करते रहते हैं और कर्मों का संचय कर वे पुन पुन जन्म धारण करते हैं।

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मण्णति ।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढेति अप्पणो ॥
—आ सु १, अ. ३, उ २, सु ११३-११४

वह अज्ञानी मनुष्य अज्ञान के कारण हास्य विनोद द्वारा प्राणियो का वध करके खुशी मनाता है ऐसे अज्ञानी पुरुषो का संसर्ग भी नही करना चाहिए। जिससे अपनी आत्मा के साथ वैर भाव की वृद्धि होती है।

बालो ही उवएस जोग्गो—

७२९ उद्देसो पासगस्स णत्थि ।

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट । अणुपरियट्टति ।
—आ. सु १, अ. २, उ. ३, सु ८०

अज्ञ ही उपदेश योग्य है—

७२९ जो द्रष्टा (सत्यदर्शी) है उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नही होती।

अज्ञानी पुरुष जो स्नेह के बन्धन मे बँधा है, काम-सेवन मे अनुरक्त है, वह कभी दु ख का शमन नही कर पाता। वह दु खी होकर दु खो के आवर्त मे बार-बार भटकता रहता है।

सकम्मवीरिय सरूव—

७३० सत्थमेगे सुसिक्खंति, अतिवायाय पाणिणं ।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥

माइणो कट्टु मायाओ, कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पकत्तित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।
आरतो परतो यावि, दुहा वि य असंजता ॥

वेराइं कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥

संपरागं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो ।
राग-दोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं ॥

एवं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेदितं ।
एत्तो अकम्मवीरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥
—सूय सु १, अ ८, गा ४-९

सकर्मवीर्य का स्वरूप—

७३० कुछ लोग प्राणियो को मारने के लिए शस्त्र चलाने की अथवा धनुर्वेद आदि की शिक्षा प्राप्त करते हैं और कुछ लोग प्राणियो और भूतो के विघातक मन्त्रो का अध्ययन करते हैं।

मायावी मनुष्य छल कपट करके काम भोगो को प्राप्त करते हैं। वे अपने सुख के अनुगामी होकर प्राणियो को मारते काटते और चीरते हैं।

असंयमी मनुष्य मन से, वचन से और काया से अशक्त होने पर भी इस लोक के लिए या परलोक के लिए जीवों की हिंसा करते हैं, करवाते हैं।

हिंसा करने वाला पुरुष अनेक जीवो के साथ वैर का अनुबन्ध करता है। जिससे वह नये वैर में संलग्न हो जाता है। (वास्तव मे) हिंसा की प्रवृत्तियाँ मनुष्य को पाप की ओर ले जाती हैं अन्त मे उनका परिणाम दु खदायी होता है।

स्वयं हिंसा आदि दुष्कृत करने वाले मनुष्य संसार (जन्म-मरण) को प्राप्त होते हैं। फिर राग-द्वेष के वशीभूत होकर बहुत पाप करते हैं।

यह बाल मनुष्यो का सकर्मवीर्य बतलाया गया है। अब पण्डित मनुष्यो के अकर्मवीर्य को मुझसे सुनो।

अकम्मवीरिय सरूवं—

७३१. दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वतो छिण्णबंधणे ।
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्लं कतति, अंतसो ॥

अकर्मवीर्य का स्वरूप—

७३१ संयमी पुरुष बन्धन से मुक्त होकर प्रमाद या हिंसा मे सर्वत प्रवृत्त नही होता है वह पाप-कर्म को दूर कर सम्पूर्ण शल्य रूप कर्मो को काट देता है।

णेयाउय सुयक्खात, उवादाय समीहते।
भुज्जो भुज्जो दुहावास, असुमत्त तहा तहा ॥

वह मोक्ष की ओर ले जाने वाले सु-आख्यात धर्म को पाकर चिन्तन करता है कि—"प्राणी वार-बार दु खमय आवासो को प्राप्त होता है और उसके जैसा जैसा अशुभ कर्म होता है वैसा-वैसा अशुभ फल प्राप्त होता है।"

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्सति न ससओ।
अणितिए अय वासे, णायएहि य सुहीहि य ॥

विविध स्थानो मे रहे हुए जीव अपने स्थानो को अवश्य छोडेंगे इसमे कोई संशय नही है। ज्ञानिजनो और मित्रो के साथ यह सवास (सयोग) नित्य नही है।

एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसपज्जे सव्वधम्ममकोवियं ॥

अनित्यता का विचार कर मेधावी मनुष्य अपनी आसक्ति को छोड दे और सब दूषणो से रहित निर्मल आर्य धर्म को स्वीकार करे।

सहसम्मुइए णच्चा, धम्मसार सुणेत्तु वा।
समुवट्ठिते अणगारे, पच्चक्खाय पावए ॥

धर्म के सार को अपनी मति से जानकर अथवा दूसरो से सुनकर उसके आचरण के लिए उपस्थित अणगार सम्पूर्ण पापो का त्याग कर दे।

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अतरा खिप्पं, सिक्ख सिक्खेज्ज पडिते ॥

पण्डित अणगार अपनी आयु के क्षीण होने का कारण जान कर उस के अन्तराल (शेष वचे काल) मे भी शीघ्र ही संलेखना ग्रहण करे।

जहा कुम्मे सअंगाइ, सए देहे समाहरे।
एव पावाइ मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥

जैसे कछुआ अपने अंगो को अपने शरीर मे समेट लेता है, इसी प्रकार पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को पापो से वचाकर अध्यात्म मैं ले जाए।

साहरे हत्थ-पादे य, मणं सव्विदियाणि य।
पावग च परीणाम, भासादोस च तारिसं ॥

वह हाथ, पैर, मन और पाँचो इन्द्रियो का, बुरे परिणामो का और भाषा के दोषो का सयम करे।

अणु माणं च माय च, तं परिण्णाय पंडिए।
सातागार व णिहुते, उवसंते णिहे चरे ॥[1]

पण्डित पुरुष कषाय के परिणामो को जानकर अणुमात्र भी मान और माया का आचरण न करे। विवेकी साधक सुख सुविधा तथा प्रतिष्ठा आदि में उद्यत न हो तथा उपशात व निस्पृह होकर विचरण करे।

पाणे य णाइवातेज्जा, अदिण्ण पि य णादिए।
सादिय ण मुस बूया, एस धम्मे वुसीमतो ॥

कभी भी प्राणियो का अतिपात न करे, अदत्त भी न ले, कपट-सहित झूठ न वोले यह मुनि का धर्म है।

अतिक्कम ति वायाए, मणसा वि ण पत्थए।
सव्वतो सवुडे दते, आयाणं सुसमाहरे ॥

प्राणियो के प्राणो का अतिपात (पीडन) वाणी से भी न करे, तथा मन से भी प्राणो का अतिपात न चाहे। सब ओर से सवृत होकर रहे और इन्द्रियो का दमन करता हुआ मोक्ष मार्ग का सम्यक् आराधन करे।

कडं च कज्जमाण च, आगमेस्स च पावगं।
सव्व तं णाणुजाणति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥

—सूय. सु. १, अ. ८, गा. १०-२१

आत्म गुप्त और जितेन्द्रिय मुनि किये हुए, किये जाते हुए और भविष्य मे किए जाने वाले इन समग्र पापो का अनुमोदन भी नही करते हैं।

पण्डियवीरिय सरूवं—

७३२. जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्ध तेसि परक्कत, अफलं होइ सव्वसो ॥

—सूय. सु. १, अ ८, गा २३

पण्डित वीर्य का स्वरूप—

७३२ जो महाभाग वीर पुरुष बुद्ध और सम्यक्त्वदर्शी हैं उनका पराक्रम शुद्ध और सर्वथा कर्म बन्ध से मुक्त होता है।

---

१ पाठान्तर—अणुमाणं च मायं च, त परिण्णाय पंडिए।
सुयं मे इहमेगेसिं, एय वीरस्स वीरिय ॥

उम्मु च पास इह मच्चिएहिं,
आरम्भजीवी उभयाणुपस्सी ।
कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति,
संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं ॥

इस ससार मे मनुष्यो के साथ रागादि बन्धनो को तोड डाल, क्योकि वे आरम्भजीवी हैं, शारीरिक मानसिक उभय सुखो के या काम-भोगो के अभिलाषी हैं, वे काम-भोगो मे आसक्त होकर कर्मों का सचय करते रहते हैं और कर्मों का सचय कर वे पुन पुन जन्म धारण करते हैं।

अवि से हासमासज्ज, हंता णदीति णण्णति ।
अलं वालस्स संगेणं, वेर वड्ढेति अप्पणो ॥
—आ सु. १, अ. ३, उ २, सु ११३-११४

वह अज्ञानी मनुष्य अज्ञान के कारण हास्य विनोद द्वारा प्राणियो का वध करके खुशी मनाता है ऐसे अज्ञानी पुरुषो का ससर्ग भी नही करना चाहिए। जिससे अपनी आत्मा के साथ वैर भाव की वृद्धि होती है।

वालो ही उवएस जोग्गो—

७२९. उद्देसो पासगस्स णत्थि ।

वाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ट । अणुपरियट्टति ।
—आ. सु. १, अ. २, उ. ३, सु ८०

अज्ञ ही उपदेश योग्य हैं—

७२९ जो द्रष्टा (सत्यदर्शी) है उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नही होती।

अज्ञानी पुरुष जो स्नेह के बन्धन मे बँधा है, काम-सेवन मे अनुरक्त है, वह कभी दु ख का शमन नही कर पाता। वह दु खी होकर दु खो के आवर्त मे बार-बार भटकता रहता है।

सकम्मवीरिय सरूव—

७३० सत्थमेगे सुसिक्खति, अतिवायाय पाणिणं ।
एगे मते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥

माइणो कट्टु मायाओ, कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पकत्तित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अतसो ।
आरतो परतो यावि, दुहा वि य असजता ॥

वेराइं कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती ।
पावोवगा य आरभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥

संपराग णियच्छति, अत्तदुक्कडकारिणो ।
राग-दोसस्सिया वाला, पाव कुव्वंति ते बहुं ॥

एव सकम्मवीरियं, वालाण तु पवेदित ।
एत्तो अकम्मवीरिय, पडियाण सुणेह मे ॥
—सूय सु १, अ. ८, गा ४-९

सकर्मवीर्य का स्वरूप—

७३० कुछ लोग प्राणियो को मारने के लिए शस्त्र चलाने की अथवा धनुर्वेद आदि की शिक्षा प्राप्त करते हैं और कुछ लोग प्राणियो और भूतो के विघातक मन्त्रों का अध्ययन करते हैं।

मायावी मनुष्य छल कपट करके काम भोगो को प्राप्त करते हैं। वे अपने सुख के अनुगामी होकर प्राणियो को मारते काटते और चीरते हैं।

असंयमी मनुष्य मन से, वचन से और काया से अशक्त होने पर भी इस लोक के लिए या परलोक के लिए जीवो की हिंसा करते हैं, करवाते हैं।

हिंसा करने वाला पुरुष अनेक जीवो के साथ वैर का अनुवन्ध करता है। जिससे वह नये वैर मे सलग्न हो जाता है। (वास्तव मे) हिंसा की प्रवृत्तियाँ मनुष्य को पाप की ओर ले जाती हैं अन्त मे उनका परिणाम दु खदायी होता है।

स्वयं हिंसा आदि दुष्कृत करने वाले मनुष्य संसार (जन्म-मरण) को प्राप्त होते हैं। फिर राग-द्वेष के वशीभूत होकर बहुत पाप करते हैं।

यह वाल मनुष्यो का सकर्मवीर्य वतलाया गया है। अब पण्डित मनुष्यो के अकर्मवीर्य को मुझसे सुनो।

अकम्मवीरिय सरूवं—

७३१. दविए वंधणुम्मुक्के, सव्वतो छिण्णवंधणे ।
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्ल कतति, अतसो ॥

अकर्मवीर्य का स्वरूप—

७३१ संयमी पुरुष वन्धन से मुक्त होकर प्रमाद या हिंसा मे सर्वत प्रवृत्त नही होता है वह पाप-कर्म को दूर कर सम्पूर्ण शल्य रूप कर्मो को काट देता है।

णेयाउय सुयक्खात, उवादाय समीहते ।
भुज्जो भुज्जो दुहावास, असुभत्त तहा तहा ॥

वह मोक्ष की ओर ले जाने वाले सु-आख्यात धर्म को पाकर चिन्तन करता है कि—"प्राणी वार-वार दु खमय आवासो को प्राप्त होता है और उसके जैसा जैसा अशुभ कर्म होता है वैसा-वैसा अशुभ फल प्राप्त होता है।"

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्सति न संसओ ।
अणितिए अय वासे, णायएहिं य सुहीहि य ॥

विविध स्थानो मे रहे हुए जीव अपने स्थानो को अवश्य छोडेंगे इसमे कोई संशय नही है। ज्ञानिजनो और मित्रो के साथ यह सवास (सयोग) नित्य नही है।

एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे सव्वधम्ममकोवियं ॥

अनित्यता का विचार कर मेधावी मनुष्य अपनी आसक्ति को छोड दे और सव दूपणो से रहित निर्मल आर्य धर्म को स्वीकार करे।

सहसम्मुइए णच्चा, धम्मसार सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिते अणगारे, पच्चक्खाय पावए ॥

धर्म के सार को अपनी मति से जानकर अथवा दूसरो से सुनकर उसके आचरण के लिए उपस्थित अणगार सम्पूर्ण पापो का त्याग कर दे।

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अतरा खिप्पं, सिक्ख सिक्खेज्ज पडिते ॥

पण्डित अणगार अपनी आयु के क्षीण होने का कारण जान कर उस के अन्तराल (शेष बचे काल) मे भी शीघ्र ही संलेखना ग्रहण करे।

जहा कुम्मे सअंगाइ, सए देहे समाहरे ।
एव पावाइ मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥

जैसे कछुआ अपने अंगो को अपने शरीर मे समेट लेता है, इसी प्रकार पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को पापो से बचाकर अध्यात्म मैं ले जाए।

साहरे हत्थ-पादे य, मणं सव्विंदियाणि य ।
पावग च परीणाम, भासादोस च तारिसं ॥

वह हाथ, पैर, मन और पाँचो इन्द्रियो का, बुरे परिणामो का और भाषा के दोषो का सयम करे।

अणु माणं च माय च, तं परिण्णाय पंडिए ।
सातागार व णिहुते, उवसंते णिहे चरे ॥[1]

पण्डित पुरुष कषाय के परिणामो को जानकर अणुमात्र भी मान और माया का आचरण न करे। विवेकी साधक सुख सुविधा तथा प्रतिष्ठा आदि मे उद्यत न हो तथा उपशात व निस्पृह होकर विचरण करे।

पाणे य णाइवातेज्जा, अदिण्ण पि य णादिए ।
सादिय ण मुस वूया, एस धम्मे वुसीमतो ॥

कभी भी प्राणियो का अतिपात न करे, अदत्त भी न ले, कपट-सहित झूठ न वोले यह मुनि का धर्म है।

अतिक्कम ति वायाए, मणसा वि ण पत्थए ।
सव्वतो सवुडे दते, आयाणं सुसमाहरे ॥

प्राणियो के प्राणो का अतिपात (पीडन) वाणी से भी न करे, तथा मन से भी प्राणो का अतिपात न चाहे। सब ओर से सवृत होकर रहे और इन्द्रियो का दमन करता हुआ मोक्ष मार्ग का सम्यक् आराधन करे।

कडं च कज्जमाण च, आगमेस्स च पावग ।
सव्व त णाणुजाणति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥
—सूय. सु. १, अ ८, गा १०-२१

आत्म गुप्त और जितेन्द्रिय मुनि किये हुए, किये जाते हुए और भविष्य मे किए जाने वाले इन समग्र पापो का अनुमोदन भी नही करते हैं।

पण्डियवीरिय सरूव—

७३२ जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो ।
सुद्ध तेसिं परक्कतं, अफल होइ सव्वसो ॥
—सूय सु. १, अ ८, गा २३

पण्डित वीर्य का स्वरूप—

७३२ जो महाभाग वीर पुरुष बुद्ध और सम्यक्त्वदर्शी हैं उनका पराक्रम शुद्ध और सर्वथा कर्म बन्ध से मुक्त होता है।

---

१ पाठान्तर—अणुमाणं च मायं च, त परिण्णाय पंडिए ।
सुयं मे इहमेगेसिं, एय वीरस्स वीरियं ॥

तितिक्खया मोक्खं—

७३३ अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वते।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगेही सदा जये॥

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि॥

—सूय. सु १, अ ८, गा. २५-२६

तितिक्षा से मोक्ष—

७३३. सुव्रत पुरुष थोडा भोजन करे, थोडा जल पीए, थोडा बोले, सदा क्षमाशील, शांत, दांत और अनासक्त होकर सदा संयम में पुरुषार्थ करे।

ध्यानयोग को सम्यग् स्वीकार कर सभी प्रकार से काया का व्युत्सर्ग करे, परीषहोपसर्ग सहन रूप तितिक्षा मोक्ष का परम साधन है—यह जानकर जीवन पर्यन्त संयम की साधना में पराक्रम करे।

समाहिजुत्तस्स सिद्धगई—

७३४. ओय चित्तं समादाय, झाणं समणुपज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमणो, निव्वाणमभिगच्छइ॥

ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सण्णि-णाणेण जाणइ॥

अहातच्चं तु सुमिणं, खिप्पं पासेइ संवुडे।
सव्वं वा ओहं तरति, दुक्खाओ य विमुच्चइ॥

पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेति ताइणो॥

सव्वकाम-विरत्तस्स, खमतो भय-भेरवं।
तओ से ओही भवइ, संजयस्स तवस्सिणो॥

तवसा अवहड लेस्सस्स, दंसणं परिसुज्झइ।
उड्ढं अहे तिरियं च, सव्वं समणुपस्सति॥

सुसमाहियलेस्सस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणइ पज्जवे॥

जया से णाणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली॥

जया से दंसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तया लोगमलोगं च, जिणो पासति केवली॥

समाधि युक्त की सिद्धगति—

७३४ राग-द्वेष से रहित निर्मल चित्त को धारण करने पर एकाग्रतारूप ध्यान उत्पन्न होता है और शंका-रहित धर्म में स्थित आत्मा निर्वाण को प्राप्त करता है।

इस प्रकार चित्त-समाधि को धारण कर आत्मा पुनः पुनः लोक में उत्पन्न नहीं होता और अपने उत्तम स्थान को जाति-स्मरण ज्ञान से जान लेता है।

संवृत-आत्मा यथातथ्य स्वप्न को देखकर शीघ्र ही सर्व संसार रूपी समुद्र से पार हो जाता है, तथा शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

अल्प आहार करने वाले, अन्त-प्रान्तभोजी, विविक्त शयन-आसनसेवी, इन्द्रियों का निग्रह करने वाले और षट्कायिक जीवों के रक्षक संयत साधु को देव-दर्शन होते हैं।

सर्वकाम-भोगों से विरक्त, भीम-भैरव परीषह-उपसर्गों के सहन करने वाले तपस्वी संयत को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

जिसने तप के द्वारा अशुभ लेश्याओं को दूर कर दिया है उसका अवधिदर्शन अतिविशुद्ध हो जाता है और उसके द्वारा वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक में रहे हुए जीवादि सभी पदार्थों को देखने लगता है।

सुसमाधियुक्त प्रशस्त लेश्या वाले, विकल्प से रहित भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करने वाले और सर्वप्रकार के बन्धनों से विप्रमुक्त आत्मा मन के पर्यवों को जानता है अर्थात् मनःपर्यवज्ञानी हो जाता है।

जब समस्त ज्ञानावरण कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुनि केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को जानता है।

जब समस्त दर्शनावरण कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुनि केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को देखता है।

पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जे खयं गए।
असेस लोगमलोग च, पासेति सुसमाहिए॥

भिक्षु प्रतिमाओ के विशुद्ध रूप से आराधन करने पर और मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर सुसमाहित आत्मा सम्पूर्ण लोक और अलोक को देखता है।

जहा मत्थय सूइए, हताए हम्मइ तले।
एव कम्माणि हम्मति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जिस प्रकार ताल वृक्ष के अग्र भाग को तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन किये जाने पर वह सम्पूर्ण वृक्ष नीचे गिर जाता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं।

सेणावइम्मि निहए, जहा सेणा पणस्सति।
एव कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जैसे सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना अस्त-व्यस्त हो जाती है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे।
एवं कम्माणि णस्सति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जैसे धूम-रहित अग्नि ईन्धन के अभाव से स्वत. शान्त हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सभी कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

सुक्क-मूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति।
एव कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जैसे शुष्क जड वाला वृक्ष जल-सिंचन किये जाने पर भी पुन अंकुरित नही होता है इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष कर्म भी उत्पन्न नही होते हैं।

जहा दड्ढाणं बीयाण, न जायंति पुणकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढेसु न जायति भवकुरा॥

जैसे जले हुए बीजो मे पुन' अकुर उत्पन्न नही होते हैं, इसी प्रकार कर्म बीजो के जल जाने पर भवरूप अकुर उत्पन्न नही होते हैं।

चिच्चा ओरालियं बोंदि, नाम-गोयं च केवली।
आउय वेयणिज्ज च, छित्ता भवति नीरए॥

औदारिक शरीर का त्याग कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म का छेदन कर केवली भगवान कर्म रज से सर्वथा रहित हो जाते हैं।

एव अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो!।
सेणि - सुद्धिमुवागम्म, आया सोधिमुवेहइ॥
—दसा. द. ५, सु ६, गा १-१७

हे आयुष्मान् शिष्य इस प्रकार समाधि के भेदो को जानकर राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण कर क्षपक-श्रेणी को प्राप्त कर आत्मा शुद्धि को प्राप्त करता है, अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

विब्भत चित्ताणं वीरियहाणी—

७३५. किमणेण णो जणेण करिस्सामि ? त्ति मण्णमाणा एव पेगे वदित्ता, मातर पितर हेच्चा णातओ य परिग्गहं, वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वता दता।

पस्स दीणे उप्पइय पडिवयमाणे। वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति।

अहमेगेसिं सिलोए पावए भवति—"से समणविब्भंते, से समणविब्भंते।"

भ्रान्त चित्त वालो की वीर्यहानि—

७३५ "ओ आत्मन्! इन स्वार्थी स्वजनो से मैं क्या लाभ प्राप्त करूँगा ?" यह मानते और कहते हुए कुछ लोग माता-पिता, ज्ञातिजन और परिग्रह को छोडकर वीर वृत्ति से मुनि धर्म मे सम्यक् प्रकार से प्रव्रजित होते हैं और पूर्णरूप से अहिंसक, सुव्रती और दात बन जाते हैं।

सयम मे उत्थित होकर दीन बनकर गिरते हुए कुछ मुनियो को तू देख, वे विषयो से पीडित कायरजन संयम को नष्ट करने वाले हो जाते हैं।

इस कारण से कुछ साधको की अपकीर्ति हो जाती है कि "यह श्रमण धर्म मे च्युत हो गया है, यह श्रमणधर्म से च्युत हो गया है।"

तितिक्खया मोक्खं—

७३३ अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्ज सुव्वते।
खतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगेही सदा जये॥

झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि॥
—सूय. सु १, अ ८, गा. २५-२६

तितिक्षा से मोक्ष—

७३३. सुव्रत पुरुष थोडा भोजन करे, थोडा जल पीए, थोडा बोले, सदा क्षमाशील, शात, दात और अनासक्त होकर सदा सयम मे पुरुषार्थ करे।

ध्यानयोग को सम्यग् स्वीकार कर सभी प्रकार से काया का व्युत्सर्ग करे, परीषहोपसर्ग सहन रूप तितिक्षा मोक्ष का परम साधन है—यह जानकर जीवन पर्यन्त सयम की साधना मे पराक्रम करे।

समाहिजुत्तस्स सिद्धगई—

७३४. ओय चित्तं समादाय, झाणं समणुपज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमणो, निव्वाणमभिगच्छइ॥

ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सण्णि-णाणेण जाणइ॥

अहातच्चं तु सुमिणं, खिप्पं पासेइ संवुडे।
सव्वं वा ओहं तरति, दुक्खाओ य विमुच्चइ॥

पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति ताइणो॥

सव्वकाम-विरत्तस्स, खमतो भय-भेरवं।
तओ से ओही भवइ, संजयस्स तवस्सिणो॥

तवसा अवहड लेस्सस्स, दंसणं परिसुज्झइ।
उड्ढं अहे तिरियं च, सव्वं समणुपस्सति॥

सुसमाहियलेस्सस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणइ पज्जवे॥

जया से णाणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली॥

जया से दंसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तया लोगमलोगं च, जिणो पासति केवली॥

समाधि युक्त की सिद्धगति—

७३४ राग-द्वेष से रहित निर्मल चित्त को धारण करने पर एकाग्रतारूप ध्यान उत्पन्न होता है और शका-रहित धर्म मे स्थित आत्मा निर्वाण को प्राप्त करता है।

इस प्रकार चित्त-समाधि को धारण कर आत्मा पुन. पुन. लोक मे उत्पन्न नही होता और अपने उत्तम स्थान को जाति-स्मरण ज्ञान से जान लेता है।

संवृत-आत्मा यथातथ्य स्वप्न को देखकर शीघ्र ही सर्व संसार रूपी समुद्र से पार हो जाता है, तथा शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के दुःखो से छूट जाता है।

अल्प आहार करने वाले, अन्त-प्रान्तभोजी, विविक्त शयन-आसनसेवी, इन्द्रियो का निग्रह करने वाले और षट्कायिक जीवो के रक्षक संयत साधु को देव-दर्शन होते है।

सर्वकाम-भोगो से विरक्त, भीम-भैरव परीषह-उपसर्गों के सहन करने वाले तपस्वी सयत को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

जिसने तप के द्वारा अशुभ लेश्याओ को दूर कर दिया है उसका अवधिदर्शन अतिविशुद्ध हो जाता है और उसके द्वारा वह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक मे रहे हुए जीवादि सभी पदार्थों को देखने लगता है।

सुसमाधियुक्त प्रशस्त लेश्या वाले, विकल्प से रहित भिक्षा-वृत्ति से निर्वाह करने वाले और सर्वप्रकार के बन्धनो से विप्र-मुक्त आत्मा मन के पर्यवो को जानता है अर्थात् मन पर्यवज्ञानी हो जाता है।

जब समस्त ज्ञानावरण कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुनि केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को जानता है।

जब समस्त दर्शनावरण कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुनि केवली जिन होकर समस्त लोक और अलोक को देखता है।

पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जे खयं गए।
असेस लोगमलोग च, पासेति सुसमाहिए॥

भिक्षु प्रतिमाओ के विशुद्ध रूप से आराधन करने पर और मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर सुसमाहित आत्मा सम्पूर्ण लोक और अलोक को देखता है।

जहा मत्थय सूइए, हताए हम्मइ तले।
एव कम्माणि हम्मति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जिस प्रकार ताल वृक्ष के अग्र भाग को तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन किये जाने पर वह सम्पूर्ण वृक्ष नीचे गिर जाता है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं।

सेणावइम्मि निहए, जहा सेणा पणस्सति।
एव कम्माणि णस्सति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जैसे सेनापति के मारे जाने पर सारी सेना अस्त-व्यस्त हो जाती है इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सर्व कर्म विनष्ट हो जाते हैं।

धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे।
एव कम्माणि णस्सति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जैसे धूम-रहित अग्नि ईन्धन के अभाव से स्वत शान्त हो जाती है, इसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर शेष सभी कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

सुक्क-मूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति।
एव कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए॥

जैसे शुष्क जड वाला वृक्ष जल-सिंचन किये जाने पर भी पुन अंकुरित नही होता है इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय हो जाने पर शेष कर्म भी उत्पन्न नही होते हैं।

जहा दड्ढाणं बीयाण, न जायंति पुणंकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढेसु न जायति भवकुरा॥

जैसे जले हुए बीजो मे पुनः अकुर उत्पन्न नही होते हैं, इसी प्रकार कर्म बीजो के जल जाने पर भवरूप अकुर उत्पन्न नही होते हैं।

चिच्चा ओरालिय बोंदि, नाम गोयं च केवली।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति नीरए॥

औदारिक शरीर का त्याग कर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्म का छेदन कर केवली भगवान कर्म रज से सर्वथा रहित हो जाते हैं।

एव अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो!।
सेणि - सुद्धिमुवागम्म, आया सोधिमुवेहइ॥
—दसा. द. ५, सु ६, गा १-१७

हे आयुष्मान् शिष्य इस प्रकार समाधि के भेदो को जानकर राग और द्वेष से रहित चित्त को धारण कर क्षपक-श्रेणी को प्राप्त कर आतमा शुद्धि को प्राप्त करता है, अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

विब्भत चित्ताणं वीरियहाणी—

भ्रान्त चित्त वालो की वीर्यहानि—

७३५. किमणेण णो जणेण करिस्सामि? त्ति मण्णमाणा एव पेगे वदित्ता, मातर पितर हेच्चा णातओ य परिग्गहं, वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वता दता।

७३५ "ओ आत्मन्! इन स्वार्थी स्वजनो से मैं क्या लाभ प्राप्त करूँगा?" यह मानते और कहते हुए कुछ लोग माता-पिता, ज्ञातिजन और परिग्रह को छोडकर वीर वृत्ति से मुनि धर्म मे सम्यक् प्रकार से प्रव्रजित होते हैं और पूर्णरूप से अहिंसक, सुव्रती और दात बन जाते हैं।

पस्स दीणे उप्पइय पडिवयमाणे। वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति।

सयम मे उत्थित होकर दीन बनकर गिरते हुए कुछ मुनियो को तू देख, वे विषयो से पीडित कायरजन संयम को नष्ट करने वाले हो जाते हैं।

अहमेगेसिं सिलोए पावए भवति—"से समणविब्भंते, से समणविब्भंते।"

इस कारण से कुछ साधको की अपकीर्ति हो जाती है कि "यह श्रमण धर्म मे च्युत हो गया है, यह श्रमणधर्म से च्युत हो गया है।"

पासहेगे समण्णागतेहिं सह असमण्णागए, णममाणेहिं अणममाणे, विरतेहिं अविरते, दवितेहिं अदविते ।

यह भी देख ! सयम से च्युत होने वाले कई मुनि उत्कृष्ट आचार वालो के बीच शिथिलाचारी समर्पित मुनियो के बीच असमर्पित, विरत मुनियो के बीच अविरत तथा साधुओ के बीच चारित्रहीन होते हैं ।

अभिसमेच्चा पंडिते मेधावी णिट्ठियट्ठी वीरे आगमेण सदा परिक्कमेज्जासि ।

—आ सु. १, अ. ६, उ ४, सु. १९३-१९५

इस प्रकार सयम-भ्रष्ट साधको को तथा सयम-भ्रष्टता के परिणामो को भली भाँति जानकर पण्डित बुद्धिमान और मोक्षार्थी वीर मुनि सदा सयम मे पराक्रम करे ।



परीषह-जय—२

परीसहेहिं कम्मखओ—

७३६. ण वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोगंसि पाणिणो ।
एव स हिएऽधिपासते, अणिहे से पुट्ठोऽधियासए ॥
—सूय. सु. १, अ २, उ १, गा १३

न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणे पगब्भती ।
बाले पावेहिं मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥

छदेण पलेतिमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलेंति माहणे, सीउण्ह वयसा हियासए ॥
—सूय सु १, अ. २, उ २, गा २१-२२

परीषह सहने से कर्मों का क्षय—

७३६. "इस ससार में मैं ही केवल दु खो से पीडित नही हूँ, परन्तु लोक मे दूसरे प्राणी भी पीडित है"—इस प्रकार ज्ञान सम्पन्न पुरुष अन्तर्दृष्टि से देखे और वह परीषहो से स्पृष्ट होने पर राग द्वेष रहित होकर उन्हे सहन करे ।

टूटे हुए जीवन-सूत्र को जोडा नही जा सकता । फिर भी अज्ञानी मनुष्य (हिंसा आदि करने मे) धृष्ट होता है । वह अज्ञ जीव अपने पाप-कर्मों से मरता जाता है—यह जानकर मुनि मद नही करता ।

अत्यन्त माया और मोह से घिरे हुए ये प्राणी अपनी इच्छानुसार आचरण कर विभिन्न गतियो मे पर्यटन करते हैं किन्तु मुनि सरल भाव से सयम मे लीन रहकर मन वचन और काया से शीत और उष्ण आदि परीषहो को सहन करता है ।

परीसहप्पगारा—

७३७. बावीस परीसहा पण्णत्ता, त जहा—

१ दिगिंच्छा-परीसहे,	२ पिवासा परीसहे,
३. सीय-परीसहे,	४ उसिण-परीसहे,
५ दस-मसय-परीसहे,	६. अचेल-परीसहे,
७ अरइ-परीसहे,	८ इत्थी-परीसहे,
९. चरिया-परीसहे,	१० निसीहिया-परीसहे,
११ सेज्जा-परीसहे,	१२. अक्कोस-परीसहे,
१३. वह-परीसहे,	१४. जायणा-परीसहे,
१५ अलाभ-परीसहे,	१६. रोग-परीसहे,
१७ तणफास-परीसहे,	१८. जल-परीसहे,
१९ सक्कारपुरक्कार-परीसहे,	२०. पन्ना-परीसहे,

परीषह के प्रकार—

७३७. बावीस परीषह कहे गये हैं, यथा—

(१) क्षुधा-परीषह,	(२) पिपासा-परीषह,
(३) शीत-परीषह,	(४) उष्ण-परीषह
(५) दश-मशक-परीषह,	(६) अचेल-परीषह,
(७) अरति-परीषह,	(८) स्त्री-परीषह,
(९) चर्या-परीषह,	(१०) निषद्या-परीषह,
(११) शय्या-परीषह,	(१२) आक्रोश-परीषह,
(१३) वध-परीषह,	(१४) याचना-परीषह,
(१५) अलाभ-परीषह,	(१६) रोग-परीषह,
(१७) तृण-स्पर्श-परीषह,	(१८) जल-परीषह,
(१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह,	(२०) प्रज्ञा-परीषह,

२१. अन्नाण-परीसहे, २२ दसण-परीसहे।[1]

—सम. सम. २२, सु. १

(२१) अज्ञान-परीषह, (२२) दर्शन-परीषह,

परीसह परूवणा—

७३८. परीसहाणं पविभत्ती, कासवेण पवेइया।
त मे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्वि सुणेह मे ॥

—उत्त अ. २, गा ३

परीषह प्ररूपणा—

७३८. परीषहो का जो विभाग काश्यप गोत्रीय भगवान के द्वारा प्रवेदित या प्ररूपित है उसे मैं क्रमश कहता हूँ। तुम मुझसे सुनो।

१. खुहा परीसहे—

७३९ दिगिंछा परिगए देहे, तवस्सी भिक्खु थामव।
न छिन्दे न छिन्दावए, न पए न पयावए॥

काली पव्वगसंकासे, किसे धमणि संतए।
मायन्ने असण-पाणस्स, अदीण-मणसो चरे॥

—उत्त अ २, गा ४-५

(१) क्षुधा-परीषह—

७३९ देह मे क्षुधा व्याप्त होने पर भी तपस्वी और धैर्यवान भिक्षु फल आदि का सेवन न करे, न कराए तथा अन्न आदि न पकाए और न पकवाए।

शरीर के अंग भूख से सूखकर काकजंघा के समान दुर्बल हो जायें, शरीर कृश होकर नसें दीख जायें तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु अदीनभाव से विचरण करे।

२ पिवासा परीसहे—

७४० तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुछी लज्ज-संजए।
सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे॥

छिन्नावाएसु पथेसु, आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहे दीणे, तं तितिक्खे परीसह॥

—उत्त अ. २, गा. ६-७

(२) पिपासा-परीषह—

७४० असंयम से घृणा करने वाला लज्जावान सयमी साधु प्यास से पीडित होने पर भी सचित्त पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे।

निर्जन मार्ग मे जाते समय प्यास से अत्यन्त आकुल हो जाने पर मुँह सूख जाने पर भी साधु अदीनभाव से उस प्यास के परीषह को सहन करे।

३. सीय परीसहे—

७४१. चरन्त विरयं लूह, सीय फुसइ एगया।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चा ण जिणसासणं॥

न मे निवारणं अत्थि, छवित्ताण न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू न चिन्तए॥

—उत्त अ २, गा ८-९

जया हेमतमासम्मि, सीत फुसति सवातगं।
तत्थ मदा विसीयन्ति, रज्जहीणा व खत्तिया॥

—सूय सु. १, अ. ३, उ. १, गा ४

(३) शीत-परीषह—

७४१ विरत होकर रुक्ष वृत्ति से सयम मे विचरते हुए कभी शीत का स्पर्श हो तो जिनागम को सुनने वाला मुनि संयम की किसी भी मर्यादा का उल्लघन न करे।

शीत से प्रताडित होने पर मुनि ऐसा न सोचे कि—मेरे पास शीत निवारक घर आदि नही है और शरीर की सुरक्षा के लिए वस्त्रादि भी नही है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ।

जब जाडे के महीनो मे बर्फीली हवा और सर्दी लगती है तब मन्द पराक्रमी साधक वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कि राज्य से च्युत राजा।

---

१ (क) उत्त. अ २, सु २

(ख) समवायाग और उत्तराध्ययन मे १९ परीषहो के नामो का क्रम समान है केवल २०वें, २१वें और २२वें परीषहो के नामो मे व्युत्क्रम है।

समवायांग	उत्तराध्ययन
(२०) अण्णाण परीसह	(२०) पण्णापरीसह,
(२१) दसण परीसह,	(२१) अण्णाण परीसह,
(२२) पण्णापरीसह,	(२२) दंसण परीसह।

विभिन्न प्रकाशनो मे इन नामो का विभिन्न क्रम भी मिलता है।

४. उसिणपरीसहे—

७४२. उसिण - परियावेण, परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेण, सायं नो परिदेवए॥

उण्हाहितत्ते मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए।
गाय नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं॥
—उत्त. अ २, गा. १०-११

पुट्ठे गिम्हाभितावेणं, विमणे सुप्पिवासिए।
तत्थ मदा विसीयति, मच्छा अप्पोदए जहा॥
—सूय सु १, अ ३, उ. १, गा ५

(४) उष्ण परीषह—

७४२. गरमी के परिताप से तथा दाह से पीडित होकर अथवा ग्रीष्म कालीन सूर्य के परिताप से परितप्त होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे।

गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पखे से शरीर पर हवा भी न करे।

गर्मी मे धूप से स्पृष्ट होकर तथा प्यास से व्याकुल बने साधक वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कि थोड़े पानी मे मछली।

५ दसमसयपरीसहे—

७४३ पुट्ठो य दसमसएहिं, समरे व महामुणी।
नागो संगाम सीसे वा, सूरो अभिहणे पर॥

न सतसे न वारेज्जा, मण पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे, भुजंत्ते मस-सोणियं॥
—उत्त अ २, गा १२-१३

पुट्ठो य दंस-मसएहिं, तणफासमचाइया।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ पर मरणं सिया॥
—सूय. सु १, अ ३, उ १, गा. १२

(५) दश मशक परीषह—

७४३ डास और मच्छरो का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव मे रहे। जैसे युद्ध के अग्रभाग मे रहा हुआ शूरवीर हाथी वाणो को नही गिनता हुआ शत्रुओ का हनन करता है, उसी प्रकार मुनि परीषहो पर विजय प्राप्त करे।

भिक्षु उन डास और मच्छरो को न त्रास देवे और न हटाए तथा मन मे भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मास और रक्त खाने पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे, किन्तु हनन न करे।

मुनि डास और मच्छरो के काटने पर तथा तृण स्पर्श को न सह सकने के कारण ऐसा सोचने लगता है कि—"परलोक तो मैंने देखा ही नही है परन्तु इस कष्टमय जीवन से मरण तो साक्षात् ही दीखता है।"

६. अचेलपरीसहे—

७४४ परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्ख, इइ भिक्खू न चिंतए॥
एगया अचेलइ होइ, सचेले यावि एगया।
एय धम्म हिय नच्चा, नाणी नो परिदेवए॥
—उत्त. अ २, गा १४-१५

जे भिक्खू अचेले परिवुसिते तस्स ण एव भवति—

"चाएमि अहं तण फास अहियासित्तए, सीतफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दस मसगफास अहियासित्तए एगतरे अण्णतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरियपडिच्छादण च ह णो सचाएमि अहियासित्तए" एव से कप्पति कडिबधण धारित्तए।

(६) अचेल-परीषह --

७४४ "वस्त्रो के जीर्ण हो जाने पर मैं अचेल हो जाऊँगा अथवा वस्त्र मिलने पर मैं सचेल हो जाऊँगा" मुनि ऐसा न सोचे।

वस्त्र न मिलने पर मुनि कभी अचेलक भी होता है और वस्त्र मिलने पर कभी सचेलक भी होता है। सचेलत्व और अचेलत्व धर्म को हितकर जानकर ज्ञानी मुनि किसी प्रकार का खेद न करे।

जो भिक्षु वस्त्र रहित रहता है उसे इस प्रकार का सकल्प हो कि—

मैं घास के तीखे स्पर्श को सहन कर सकता हूँ, सर्दी का स्पर्श सहन कर सकता हूँ, गर्मी का स्पर्श सहन कर सकता हूँ, डास और मच्छरो के काटने को सहन कर सकता हूँ और भी अनेक प्रकार के कष्टो को सहन करने मे समर्थ हूँ, किन्तु मैं लज्जा निवारणार्थ वस्त्र को छोडने मे समर्थ नही हूँ।" ऐसी स्थिति मे वह भिक्षु कटिबन्धन (चोलपट्टा) धारण कर सकता है।

अहवा तत्थ परक्कमत भुज्जो अचेल तणफासा फुसति, सीत-फासा फुसति, तेउफासा फुसति, दंस मसगफासा फुसति, एगतरे अण्णतरे विरूवरूवे फासे अहियासेति।

अचेले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागते भवति।

जहेयं भगवया पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

—आ. सु. १, अ ८, उ. ७, सु २२५-२२६

इस चर्या मे पराक्रम करते हुए कभी अचेल भिक्षु को अनेक बार घास के तीखे स्पर्श चुभते हैं, शीत का स्पर्श होता है, गर्मी का स्पर्श होता है, डास और मच्छर काटते हैं फिर भी वह उन अनेक प्रकार के स्पर्शों को सहन करता है।

इस प्रकार वह अचेल भिक्षु कर्म लाघव को प्राप्त होता हुआ कायक्लेश आदि तप लाभ को प्राप्त करता है।

अत साधक जैसा भगवान ने प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना समत्व को ही भली भाँति आचरण मे लाये।

एवं खु मुणी आदाणं सुयक्खातधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता।

जे अचेले परिवुसिते तस्स णं भिक्खुस्स णो एव भवति—

"परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्त जाइस्सामि, सुइ जाइस्सामि, सधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहि सामि, पाउणिस्सामि।"

मुनि तीर्थंकर भगवान् द्वारा सयम मे सदा स्थिर रहकर कर्मक्षय करने मे आत्म शक्ति लगा देता है।

इसलिए जो अचेलक रहता है, उस साधु को वस्त्र सम्बन्धी इस प्रकार के सकल्प उत्पन्न ही नही होते कि—

"मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र की याचना करूँगा, डोरे की याचना करूँगा, सूई की याचना करूँगा, उससे वस्त्र को साँधूंगा, सीऊँगा, छोटे वस्त्र को जोडकर वडा वनाऊँगा, वडे वस्त्र को फाडकर छोटा बनाऊँगा फिर उसे पहनूंगा और शरीर को ढकूंगा।"

अदुवा तत्थ परक्कमंत भुज्जो अचेल तणफासा फुसति, सीत-फासा फुसति, तेउफासा फुसति, दस-मसगफासा फुसंति एगतरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति।

अचेले लाघव आगममाणे तवे से अभिसमण्णागए भवति।

जहेय भगवया पवेदितं। तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

—आ सु १, अ. ६, उ ३, सु १८७

किन्तु अचेलत्व-साधना मे पराक्रम करते हुए निर्वस्त्र मुनि को अनेक वार घास के तृणो का स्पर्श, सर्दी और गर्मी का स्पर्श तथा डास और मच्छरो का स्पर्श पीडित करता है। अन्य भी अनेक प्रकार के कष्ट आते हैं। उन्हें वह सहन करता है।

इस प्रकार यह अचेलक भिक्षु कर्मलाघव को प्राप्त होता हुआ कायक्लेश आदि तप के लाभ को प्राप्त करता है।

अत साधक जैसा भगवान् ने प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना समत्व को भलीभांति जानकर आचरण मे लाये।

अचेलस्स पसत्थ परिणामो—

७४५ पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं जहा—

१ अप्पा पडिलेहा,
२. लाघविए पसत्थे,
३. रूवे वेसासिए,
४ तवे अणुण्णाते,
५. विउले इदियणिग्गहे।

—ठाणं अ. ५, उ. ३, सु ४५५

अचेलत्व का प्रशस्त परिणाम—

७४५ पाँच स्थानो से अचेलक प्रशस्त होता है, यथा—

(१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है,
(२) उसका लाघव प्रशस्त होता है,
(३) उसका रूप विश्वास-योग्य होता है,
(४) उसका तप जिनानुमत होता है,
(५) उसके विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।

अरइ परीसहे—

७४६ गामाणुगामं रीयंत, अणगारं अकिंचण।
अरई अणुप्पविसे, त तितिक्खे परीसह॥

अरति-परीषह—

७४६. एक गाँव से दूसरे गाँव मे विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त मे सयम के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाय तो उस परीषह को सहन करे।

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसन्ते मुणी चरे॥
—उत्त अ २, गा. १६-१७

हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म मे रमण करने वाला, असत् प्रवृत्ति से दूर रहने वाला उपशान्त मुनि अरति को दूर कर सयम मे विचरण करे।

इत्थी परीसहे—

स्त्री-परीषह—

७४७ संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगंसि इत्थिओ।
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण्णं॥

७४७. लोक मे जो स्त्रियाँ हैं, वे मनुष्यो के लिए आसक्ति का कारण हैं। जिसने इनका सग ज्ञानपूर्वक त्याग दिया है उसका श्रामण्य सफल है।

एवमादाय मेहावी, पकभूया उ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए॥
—उत्त. अ. २, गा १८-१६

"स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए दल-दल के समान हैं" यह जानकर मेधावी मुनि उनमें न फँसे किन्तु आत्म गवेषणा करता हुआ विचरण करे।

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥

जैसे वैतरणी नदी को पार करना अत्यन्त दुष्कर माना गया है वैसे ही मन्द बुद्धि वाले पुरुष के लिए इस लोक मे स्त्रियाँ दुस्तर होती हैं।

जेहिं नारीण सजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता।
सव्वमेय निराकिच्चा, ते ठित्ता सुसमाहिए॥
—सूय. सु. १, अ ३, उ. ४, गा १६-१७

जिन्होंने विकृति पैदा करने वाले स्त्रियो के सयोगों से पीठ फेर ली है। वे इन समग्र परीषहो को निरस्त करके समाधि मे स्थित रहते हैं।

जे मातर च पितर च, विप्पजहाय पुव्वसयोग।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणे विवित्तेसी॥

जो भिक्षु माता-पिता और पूर्व-संयोगो को छोडकर सकल्प करता है कि—"मैं अकेला आत्मस्थ और मैथुन से विरत होकर एकान्त स्थान मे विचरण करूँगा।"

सुहुमेण त परक्कम्म, छन्नपदेण इत्थिओ मदा।
उवाय पि ताओ जाणिसु, जह लिस्सति भिक्खुणो एगे॥

कई मन्द स्त्रियाँ निपुण और गूढार्थ वाले पदो का प्रयोग करती हुई उस मुनि के पास आती हैं। वे उस उपाय को भी जानती हैं जिससे कोई भिक्षु उनका सग कर लेता है।

पासे भिस निसीयति, अभिक्खणं पोसवत्थ परिहिंति।
काय अहे वि दंसेंति, बाहुमुद्धट्टु कक्खमणुव्वज्जे॥

वे उस भिक्षु के समीप बारम्बार बैठती हैं, अधोवस्त्र को बार-बार ढीला कर उसे बाधती हैं, शरीर के अधोभाग को दिखलाती हैं और भुजाओ को ऊपर उठाकर काख को दिखाती हुई साधु के सामने से जाती हैं।

सयणाऽऽसणेहिं जोग्गेहिं, इत्थीओ एगया निमंतेंति।
एताणि चेव से जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि॥

वे स्त्रिया कालोचित शयन और आसन के लिए कभी उसे निमन्त्रित करती हैं। मुनि इन नाना प्रकार के उपक्रमो को काम-जाल मे फँसाने वाले बन्धन समझे।

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहस समभिजाणे।
नो सद्धियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ॥

मुनि उन स्त्रियो से आँख न मिलाए, उनकी मैथुन भावना के साहस को स्वीकार न करे, उनके साथ विचरण भी न करे, इस प्रकार से आत्मा सुरक्षित रहती है।

आमतिय ओसवियं वा, भिक्खुं आयसा निमंतेंति।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि॥

स्त्रिया भिक्षु को आमन्त्रित कर तथा विश्वास पैदा कर स्वय सहवास का निमन्त्रण देती हैं। अत भिक्षु नाना प्रकार के निमन्त्रण रूप शब्दो को बन्धन समझे।

मणबंधणेहिं णेगेहिं, कलुणविणीयमुवगसित्ताण।
अदु मजुलाइं भासति, आणवयंति भिन्नकहाहिं॥

वे मन को बाधने वाले अनेक उपायो के द्वारा दीन भाव प्रदर्शित करती हुई विनयपूर्वक भिक्षु के समीप जाकर मीठी बोली बोलती हैं और सयम से विमुख करने वाली कथाओं के द्वारा उसे वश मे करती हैं।

सीहं जहा व कुणिमेण, णिब्भयमेगचरं पासेणं।
एवित्थिया उ बधति, संवुड एगतियमणगारं॥

जैसे निर्भय और अकेले रहने वाले सिंह को मास का प्रलोभन देकर पिंजडे मे बाध दिया जाता है वैसे ही स्त्रियां सवृत और अकेले भिक्षु को शब्द आदि विषयो का प्रलोभन देकर बाध लेती है।

अह तत्थ पुणो नमयंति, रहकारुव्व णेमिं आणुपुव्वीए।
वद्धे मिए व पासेण, फदते वि ण मुच्चती ताहे॥
—सूय. सु. १, अ. ४, उ १, गा. १-९

वे स्त्रियां उस भिक्षु को वैसे ही झुका देती है जैसे बढई क्रमश चक्के की पुट्टी को झुका देता है। उस समय वह पाश से बँधे हुए मृग की भाँति स्पंदित होता हुआ भी बन्धन से छूट नही पाता।

सुतमेयमेवमेगेसिं, इत्थीवेदे त्ति हु सुअक्खाय।
एव पि ता वदित्ताण, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति॥

लोकश्रुति मे सुना गया है और स्त्री वेद (कामशास्त्र) मे भी कहा गया है कि "स्त्री किसी बात को वाणी से स्वीकार करती है किन्तु कर्म से उसका पालन नही करती है यह उसका स्वभाव है।"

अन्न मणेण चिंतेंति, अन्नं वायाइ कम्मुणा अन्न।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खु, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा॥

वह मन से कुछ और ही सोचती है, वचन से कुछ और ही कहती है तथा कर्म से कुछ और ही करती है। इसलिए भिक्षु स्त्रियो को बहुमायाविनी जानकर उन पर विश्वास न करे।

जुवती समण बूया, चित्तलकारवत्थगाणि परिहेत्ता।
विरता चरिस्सह लूहं धम्ममाइक्खणे भयतारो।

कोई युवती विचित्र वस्त्र और आभूषण से विभूषित होकर श्रमण से कहे कि—"हे भदन्त! मुझे धर्म का उपदेश दें। मैं विरत होकर सयम का पालन करूँगी।"

अदु साविया पवादेण, अहगं साधम्मिणी य समणाण।
जतुकुम्भे जहा उवज्जोती, सवासे विदू विसीएज्जा॥

अथवा श्राविका होने के बहाने वह कहती है—"मैं तुम्हारी साधर्मिणी हूँ, (किन्तु मुनि इन बातो मे न फँसे) जैसे आग के पास रखा हुआ लाख का घडा पिघल जाता है वैसे ही स्त्री के सवास से विद्वान् पुरुष भी संयम से शिथिल हो जाते हैं।

जतुकुम्भे जोतिमुवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुपयाति।
एवित्थियाहिं अणगारा, सवासेण णासमुवयन्ति॥

जैसे अग्नि से छूता हुआ लाख का घडा शीघ्र ही तप्त होकर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अनगार पुरुष भी स्त्रियों के ससर्ग से सयम भ्रष्ट हो जाते हैं।

कुव्वति पावगं कम्म, पुट्ठा वेगे एवमाहसु।
नाह करेमि पावं ति, अंकेसाइणी ममेस त्ति॥

कुछ भिक्षु अब्रह्मचर्य-सेवन करके भी किसी के पूछने पर कहते हैं कि—"मैंने अब्रह्मचर्य-सेवन नही किया है। यह स्त्री तो बचपन से ही मेरी गोद मे सोती रही है।"

बालस्स मदयं वितिय, जं च कडं अवजाणई भुज्जो।
दुगुण करेइ से पावं, पूयणकामए विसण्णेसी॥

उस मूर्ख साधक की यह दूसरी मूढता है कि वह किए हुए पाप को पुन छिपाता है। वह पूजा का इच्छुक और असंयम का आकाक्षी होकर दुना पाप करता है।

संलोकणिज्जमणगारं, आयगतं णिमंतणेणाऽऽहसु।
वत्थ व ताइ! पाय वा, अन्न पाणग पडिग्गाहे॥

दिखने मे सुन्दर और आत्म ज्ञानी अनगार को स्त्रियाँ निमन्त्रण देती हुई कहती हैं—"हे भवसागरत्राता! आप वस्त्र, पात्र, अन्न या पान को मेरे घर से स्वीकार करें।"

णीवारमेय बुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागतु।
बद्धे ये विसयपासेहिं, मोहमागच्छती पुणो मदे॥
—सूय. सु. १, अ. ४, उ. १, गा. २३-३१

भिक्षु उपरोक्त प्रलोभनो को सूअर फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे और उनके घर जाने की इच्छा भी न करे। किन्तु कोई मन्द साधक इन विषय-बन्धनो मे फँसकर पुन मोह को प्राप्त हो जाते हैं।

एयं खु तासु विण्णप्प, संथवं संवासं च चएज्जा ।
तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाता ॥

इन उपरोक्त दोषों को जानकर स्त्रियों के साथ परिचय और सहवास का परित्याग करे, क्योंकि ये काम-भोग सेवन करने से बढ़ते हैं और तीर्थंकरों ने उन्हें कर्म-बन्धन का कारण बतलाया है।

एवं भयं ण सेयाए, इति से अप्पगं निरुम्भित्ता ।
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू, णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥

ये कामभोग भय उत्पन्न करने वाले हैं किन्तु कल्याणकारी नहीं है। इसलिये भिक्षु अपने आप को स्त्री संसर्ग से रोक कर स्त्री और पशु का अपने हाथ से स्पर्श भी न करे।

सुविसुद्धलेस्से मेधावी, परकिरियं वज्जए णाणी ।
मणसा वयसा कायेण, सव्वफाससहे अणगारे ॥

विशुद्ध अन्तःकरण वाला मेधावी ज्ञानी भिक्षु मन, वचन और काया से स्त्री सम्पर्क सम्बन्धी क्रियाएँ न करे वास्तव में जो स्त्री सम्बन्धी परीषहों को सहन करता है वही अनगार है।

इच्चेवमाहु से वीरे,
धूतरए धूयमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे,
सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥

—सूय. सु. १, अ ४, उ. २, गा. १९-२२

भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—जो राग और मोह को धुन डालता है, वह भिक्षु होता है। इसलिए शुद्ध अन्तःकरण वाला भिक्षु काम वांछा से मुक्त होकर मोक्ष पर्यन्त संयमानुष्ठान में प्रवृत्ति करे।

९. चरिया परीसहे—

७४८. एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥

असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए ॥

—उत्त अ. २, गा. २०-२१

(९) चर्या-परीषह—

७४८. संयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहों को जीतकर गाँव में या नगर में, निगम में या राजधानी में अकेला आसक्ति रहित होकर विचरण करे।

भिक्षु अप्रतिबद्ध होकर विहार करे। कहीं भी ममत्वभाव न करे। गृहस्थों से निर्लिप्त रहे। स्थायी निवास न करता हुआ संयम में विचरण करे।

१०. णिसीहिया परीसहे—

७४९ सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्ख-मूले व एगओ ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं ॥

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, उवसग्गभि धारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठेत्ता अन्नमासणं ॥

—उत्त. अ २, गा २२-२३

(१०) निषीधिका परीषह—

७४९ राग-द्वेष रहित मुनि चपलताओं का वर्जन करता हुआ कभी श्मशान, शून्यगृह अथवा वृक्ष के नीचे बैठे, दूसरों को त्रास न दे।

वहाँ बैठे हुए साधु को कोई उपसर्ग आ जावे तो उसे सहन करे, किन्तु किसी प्रकार की शंका से भयभीत होकर वहाँ से उठ कर दूसरे स्थान पर न जाए।

११. सेज्जा परीसहे—

७५०. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं ।
नाइवेलं विहन्नेज्जा, पावदिट्ठी विहन्नई ॥

पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं ।
किमेगरायं करिस्सइ, एवं तत्थ हियासए ॥

—उत्त. अ २, गा. २४-२५

(११) शय्या परीषह—

७५०. तपस्वी और धैर्यवान् भिक्षु अनुकूल या प्रतिकूल शय्या को पाकर मर्यादा का अतिक्रमण न करे अर्थात् हर्ष या शोक न लाए। 'यह अच्छा है यह बुरा है' इस प्रकार की पाप दृष्टि रखने वाला साधु संयम की मर्यादा का हनन कर देता है।

स्त्री पशु आदि से रहित अच्छी या बुरी शय्या के प्राप्त होने पर "एक रात में क्या होना जाना है" ऐसा सोचकर शय्या सम्बन्धी जो भी सुख दुःख हो, उसे सहन करे।

१२. अक्कोस परीसहे—

७५१. अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाण, तम्हा भिक्खू न संजले॥

सोच्चाण फरुसा भासा, दारुणा गाम-कण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे॥
—उत्त अ २, गा. २६-२७

(१२) आक्रोश परीषह—

७५१ कोई मनुष्य भिक्षु को गाली आदि आक्रोश वचन कहे तो भिक्षु उसके प्रति क्रोध न करे, क्योकि क्रोध करने से भिक्षु अज्ञानियो के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु क्रोध न करे।

मुनि कटक के समान चुभने वाली, दारुण कठोर भाषा को सुनकर मौन रहता हुआ उसकी उपेक्षा करे, उसे मन में न लाए।

अप्पेगे पडिभासन्ति, पाडिपंथियमागता।
पडियारगया एते, जे एते एवजीविणो॥

साधु-चर्या से द्वेष रखने वाले कुछ लोग सामने आकर कहते हैं कि—"इस प्रकार का जीवन जीने वाले ये अपने किये हुए कर्मों का फल भोग रहे हैं।"

अप्पेगे वइ जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाहमा।
मुंडा कडूविणट्ठगा, उज्जल्ला असमाहिया॥

कुछ लोग कहते हैं—"ये नग्न हैं, पिंड माँग कर खाने वाले हैं, अधम हैं, मुंडित हैं, खुजली के कारण विकृत शरीर वाले हैं, मैले हैं और असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं।"

एवं विप्पडिवण्णेगे, अप्पणा तु अजाणगा।
तमाओ ते तम जंति, मदा मोहेण पाउडा॥
—सूय सु. १, अ. ३, उ १, गा ९-११

इस प्रकार धर्म मार्ग से द्वेष रखने वाले स्वय ही अज्ञानी हैं। वे विवेकशून्य मनुष्य मिथ्यात्व से आवृत होकर स्वय ही अन्धकार से अन्धकार की ओर अर्थात् दुर्गति मे जाते हैं यह विचार कर भिक्षु उन पर द्वेष न करे, समभाव रखे।

तमेगे परिभासंति, भिक्खुय साहुजीविण।
जे ते उ परिभासंति, अन्तए ते समाहिए॥

साधु का आचार पालन करने वाले के विषय मे कई लोग इस प्रकार के आक्षेपात्मक वचन कहते हैं किन्तु वे आक्षेप करने वाले स्वयं ही समाधि से कोसो दूर है।

संबद्ध-समकप्पा हु, अन्नमन्नेसु मुच्छिता।
पिंडवाय गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य॥

वे कहते हैं कि "आप लोग एक दूसरे में मूर्च्छित होकर परस्पर गृहस्थो के समान आचरण करते हैं क्योकि आप रोगी के लिए स्वय आहार लाकर उन्हे देते हैं।"

एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा।
नट्ठ-सप्पह-सब्भावा, ससारस्स अपारगा॥
—सूय. सु. १, अ. ३, उ. ३, गा ८-१०

इस प्रकार आप लोग सरागी हैं, परस्पर एक दूसरे के वश-वर्ती रहते हैं, अत सत्पथ की उपलब्धि से रहित हैं तथा ससार को पार नही कर सकते हैं।

एते सद्दे अचायन्ता, गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मदा विसीयन्ति, सगामसि व भीरुणो॥
—सूय सु. १, अ ३, उ. १, गा. ७

जन साधारण द्वारा कहे गये इन शब्दो को सहन न करते हुए कई मन्द साधक ग्राम नगर आदि मे विचरते हुए वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे संग्राम मे गया हुआ डरपोक सैनिक।

सक्का सहेउं आसाए कटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥

धन आदि की आशा से मनुष्य लोहमय काटो को सहन कर सकता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे बिना कानो मे तीर के समान चुभते हुए वचन रूपी काटो को सहन करता है, वह पूज्य है।

मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

लोहमय काटे अल्पकाल तक दु खदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं किन्तु दुर्वचनरूपी काटे सहजतया नही निकाले जा सकते, वे वैर की परम्परा को बढाने वाले और महाभयानक होते हैं।

समावयता वयणाभिधाया,
कण्णगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइदिए जो सहई स पुज्जो॥
—दस. अ. ६, उ ३, गा ६-८

सम्मुख आते हुए वचन के प्रहार कानो तक पहुँचकर मन के परिणामो को दूषित कर देते हैं। जो शूरवीरो मे अग्रणी जितेन्द्रिय मुनि उन वचन प्रहारो को "सम्यक् सहन करना मेरा धर्म है"—ऐसा मानकर उन्हे सहन करता है, वह पूज्य है।

१३. वहपरोसहे -

(१३) वध परीषह—

७५२. हओ न सजले भिक्खू, मण पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खू धम्म विचिंतए॥

७५२ मारे जाने पर भी मुनि क्रोध न करे। मन को भी दूषित न करे। क्षमा को परम साधन जानकर मुनि धर्म का चिन्तन करे।

समण सजय दन्त, हणेज्जा कोइ कत्थई।
नत्थि जीवस्स नासु त्ति, एव पेहेज्ज संजए॥
—उत्त अ २, गा २८-२९

सयत और दान्त श्रमण को कोई कही पीटे तो वह 'आत्मा का नाश नही होता" ऐसा चिन्तन करे। (परन्तु प्रतिशोध की भावना न लाये)

अप्पेगे क्षुधिय भिक्खुं, सुणी दसति लूसए।
तत्थ मदा विसीयन्ति, तेउपुट्ठा व पाणिणो॥
सूय सु १, अ ३, उ. १, गा ८

भिक्षा के लिए पर्यटन क ते हुए किसी क्षुधित भिक्षु को क्रूर कुत्ता काटने लगता है तो उस समय मन्द साधक वैसे ही विषाद को प्राप्त होता है जैसे कि अग्नि के स्पर्श से प्राणी।

आयदण्डसमायारा, मिच्छासठिय भावणा।
हरिसप्पदोससमावण्णा, केइय लूसंतिऽणारिया॥

आत्मा को दण्डित करने के आचरण वाले, मिथ्यात्व से ग्रस्त भावना वाले तथा हर्ष शोक या राग द्वेप से युक्त कुछ अनार्य मनुष्य मुनियों को कष्ट देते हैं।

अप्पेगे पलियतसि, चारो चोरोत्ति सुव्वय।
बंधति भिक्खुय वाला, कसायवयणेहि य॥

सीमान्त प्रदेश मे रहने वाले कुछ अज्ञानी मनुष्य सुव्रती भिक्षु को 'यह गुप्तचर है, यह चोर है' ऐसा समझकर बाँध देते हैं और कटु वचन कहकर हैरान करते हैं।

तत्थ दडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
णातीणं सरती वाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी॥
सूय सु १, अ ३, उ. १, गा १४-१६

वहाँ डडे, मुक्के या थप्पड से पीटे जाने पर असमर्थ साधक वैसे ही अपने ज्ञातिजनो को याद करता है जैसे क्रोधित होकर घर से भाग जाने वाली स्त्री कष्ट आने पर अपने ज्ञातीजनो को याद करती है।

हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न सजले।
सुमणो अहियासेज्जा, ण य कोलाहल करे॥
—सूय. सु. १, अ. ९, गा. ३१

साधु किसी के द्वारा पीटे जाने पर क्रोध न करे, दुर्वचन कहने पर मन मे जले नही किन्तु प्रसन्नचित्त से उन्हें सहन करे और किसी प्रकार का कोलाहल न करे।

१४. जायणा परीसहे—

(१४) याचना परीषह—

७५३. दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्व से जाइय होइ, नत्थि किंचि अजाइयं॥

७५३ अहो! अनगार भिक्षु की यह चर्या वास्तव मे दुष्कर है कि—'उसे सब कुछ याचना से ही प्राप्त होता है, बिना याचना के उसे कुछ भी ग्रहण करना नही होता है।'

गोयरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगार-वासु त्ति, इइ भिक्खु न चिन्तए॥
—उत्त अ २, गा. ३०-३१

"गोचराग्र मे प्रविष्ट मुनि के लिए गृहस्थो के सामने हाथ पसारना आसान नही है। अत गृहवास ही श्रेष्ठ है" मुनि ऐसा चिन्तन न करे।

सया दत्तेसणा दुक्ख, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढो जणा॥
—सूय. सु १, अ ३, उ १, गा ६

"सदा दत्त भोजन की एषणा करना कष्टकर है, प्रत्येक वस्तु की याचना करना भी दुष्कर है। साधारण अज्ञानी जन भी भिक्षा के लिये घूमते हुए भिक्षु को यह कहते हैं कि—'ये अभागे हैं और पूर्वकृत कर्मों के फल से दुःखी हो रहे हैं।'

१५ अलाभपरीसहे—

७५४. परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिणिट्ठिय।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा, नाणुतप्पेज्ज संजए॥

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए॥

—उत्त. अ. २, गा ३२-३३

(१५) अलाभ परीषह—

७५४ गृहस्थो के घर भोजन तैयार हो जाने पर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोडा मिलने या न मिलने पर संयमी मुनि पश्चात्ताप न करे।

"आज मुझे भिक्षा नही मिली है परन्तु सभव है कल मिल जायेगी" जो इस प्रकार से सोचता है उसे अलाभ का दुख नही होता है।

१६. रोग परीसहे—

७५५ नच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो ठावए पन्नं, पुट्ठो तत्थहियासए॥

तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा, संचिक्खऽत्तगवेसए।
एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे॥

—उत्त. अ. २, गा ३४-३५

(१६) रोग-परीषह—

७५५ रोग को उत्पन्न हुआ जानकर तथा वेदना से पीडित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाये रखे और प्राप्त दुख को समभाव से सहन करे।

आत्म गवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जाने पर समाधि पूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।

१७ तणफास परीसहे—

७५६. अचेलगस्स लूहस्स, संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स, होज्जा-गाय-विराहणा॥
आयवस्स निवाएण, अउला हवइ वेयणा।
एवं नच्चा न सेवन्ति, तन्तुजं तण-तज्जिया॥

—उत्त अ. २, गा. ३६-३७

(१७) तृण-स्पर्श परीषह—

७५६. अचेलक और रूक्ष शरीर वाले सयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर मे चुभन होती है।

गर्मी पडने से अतुल वेदना होती है—यह जानकर भी तृण से पीडित मुनि वस्त्र का सेवन नही करते।

१८. जल्ल परीसहे—

७५७. किलिन्नगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण, सायं नो परिदेवए॥

वेएज्ज निज्जरा-पेही, आरियं धम्मऽणुत्तरं।
-जाव-सरीरभेदो त्ति, जल्लं काएण धारए॥

—उत्त. अ. २, गा ३८-३९

(१८) जल-परीषह—

७५७. मैल, कीचड, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के क्लिन्न (गीला) हो जाने पर मेधावी मुनि सुख के लिए विलाप न करे।

निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य धर्म को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर खेद जनित मैल को धारण करे और तज्जनित परीषह को सहन करे।

१९. सक्कार पुरक्कार परीसहे—

७५८ अभिवायणमब्भुट्ठाणं, सामी कुज्जा निमन्तणं।
जे ताइं पडिसेवन्ति, न तेसिं पीहए मुणी॥

अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं॥

—उत्त अ २, गा. ४०-४१

(१९) सत्कार पुरस्कार परीषह—

७५८. जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमन्त्रण का सेवन करते है, उनकी मुनि इच्छा भी न करे।

अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात स्थल से भिक्षा लेने वाला अलोलुप भिक्षु रसो मे गृद्ध न हो। प्रज्ञावान् मुनि दूसरो को सम्मानित देख मन मे खेद न करे।

२०. पण्णा परीसहे—

७५९ से नूणं मए पुव्विं कम्माऽणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई॥

(२०) प्रज्ञा-परीषह—

७५९. निश्चय ही मैंने पूर्वकाल मे अज्ञानरूप फल देने वाले कर्म किये हैं। उन्ही के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जाने पर भी उत्तर देना नही जानता।

अह पच्छा उइज्जन्ति, कम्मा णाणफला कडा ।
एवमस्सासि अप्पाण, नच्चा कम्म-विवागयं ॥
—उत्त अ २, गा ४२-४३

"अज्ञान रूप फल देने वाले ये कर्म उदय मे आकर इसके वाद क्षीण हो जायेंगे ।" कर्म के विपाक को जानकर मुनि इस प्रकार आत्मा को आश्वासन दे (किन्तु प्रज्ञा (वुद्धि) की कमी का खेद न करे ।)

२१ अन्नाण परीसहे—

(२१) अज्ञान-परीषह—

७६० निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो ।
जो सक्ख नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावग ॥

७६० मैने व्यर्थ ही मैथुनादि से निवृत्ति और इन्द्रियो के दमन का प्रयत्न किया जब कि मैं अभी तक "धर्म कल्याणकारी है या दुखकर है" यह प्रत्यक्ष ज्ञान से नही जान पाया (अर्थात् अभी तक मुझे कोई अवधिज्ञानादि प्रत्यक्ष ज्ञान नही हुआ ।)

तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्जओ ।
एव पि विहरओ मे, छउमं न नियट्टई ॥
—उत्त अ. २, गा ४४-४५

"तपस्या और उपधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा का पालन करता हूँ । इस प्रकार विशेष चर्या से विचरण करने पर भी मेरा छद्मस्थ भाव दूर नही हो रहा है ।" ऐसा खेद युक्त चिन्तन न करे ।

२२ दसण परीसहे—

(२२) दर्शन-परीषह —

७६१. नत्थि नूण परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो ।
अदुवा वचिओ मि त्ति, इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

७६१ "निश्चय ही परलोक नही है, तपस्वी की ऋद्धि भी नही है इसलिए सयम लेकर मैं ठगा गया हूँ" भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवा वि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहसु, इइ भिक्खू न चिन्तए ॥
—उत्त. अ २, गा ४६-४७

"जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे - ऐसा जो भी कहते हैं वे असत्य वोलते हैं" इस प्रकार भी भिक्षु चिन्तन न करे ।

सव्व परीसहजय निद्देसो —

सभी परीषह जीतने का निर्देश—

७६२ एए परीसहा सव्वे, कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥
—उत्त. अ २, गा. ४८

७६२. इन सभी परीषहो का काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर ने प्ररूपण किया है, इन्हे जानकर, इनमे से किसी परीषह के द्वारा कहीं भी स्पृष्ट होने पर मुनि इनसे पराजित न हो ।

परीसह अपराजिओ मुणी—

परीषहो से अपराजित मुनि—

७६३ उट्ठियमणगारमेसण समणं ठाणठियं तवस्सिण ।
डहरा वुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य त लभे जणा ॥

७६३ मोक्ष की एषणा के लिए उत्थित, चारित्र आराधना आदि मे स्थित तपस्वी अणगार को यदि उसके पुत्र अथवा वृद्ध माता पिता पुन घर मे आने की प्रार्थना करें और वे प्रार्थना करते-करते थक जायें तो भी भिक्षु को अधीन नही कर सकते ।

जइ कालुणियाणि कासिया,
जइ रोवति व पुत्तकारणा ।
दवियं भिक्खु समुट्ठित,
णो लब्भति ण सठवित्तए ॥

यदि कौटुम्बिक उस श्रमण के पास आकर करुणाजनक शब्द वोले, पुत्र प्राप्ति के लिए रुदन करे फिर भी वे राग-द्वेष रहित सयम मे तत्पर उस श्रमण को पुन गृहवास मे स्थापित नही कर सकते ।

जइ वि य कामेहि लाविया,
जइ णेज्जाहि ण बंधिउं घर ।
जइ जीविय नावकखए,
णो लब्भति ण सठवित्तए ॥
—सूय. सु. १, अ. २, उ. १, गा. १६-१८

यदि वे कौटुम्बिक उस श्रमण को काम-भोग के लिए निमंत्रित करे अथवा उसे वाध कर घर ले आवे, परन्तु यदि वह असयम जीवन की आकाक्षा नही करे तो उसे वे पुन. गृहवास में स्थापित नही कर सकते ।

परीसहपराजिओ मुणी—

परीषहो से पराजित मुनि—

७६४ सेहंति य णं ममाइणो,
माया पिया य सुता य भारिया।
पोसाहि णे पासओ तुम,
लोयं परं पि जहाहि पोसणे॥

अन्ने अन्नेहिं मुच्छित्ता,
मोह जंति नरा असंवुडा।
विसम विसमेहिं गाहिया,
ते पावेहिं पुणो पगब्भिता॥
—सूय. सु १, अ. २, उ. १, गा १९-२०

७६४. ममत्व रखने वाले माता, पिता, पुत्री और पत्नी आदि उस श्रमण को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि —"तू समझदार है हमारी सेवा कर। क्योकि हमारी सेवा से वंचित रहकर तू परलोक को सफल नही कर पायेगा। इसलिए तू हमारा पोषण कर।"

संयम भाव रहित कुछ मुनि (माता, पिता, पत्नी या पुत्री आदि) मे मूर्च्छित होकर मोह को प्राप्त होते है तथा असयमी पारिवारिक जनो के द्वारा सयम रहित किये जाते है और वे पुन. पाप करने मे प्रवृत्त हो जाते हैं।

सतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराजिया।
तत्थ मंदा विसीयन्ति, मच्छा पविट्ठा व केयणे॥
—सूय. सु. १, अ. ३, उ १, गा. १३

केशलोच से संतप्त और ब्रह्मचर्य पालन मे पराजित असमर्थ साधक सयम मे वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं, जैसे जाल मे फँसी हुई मछलियाँ तडफती हैं।

परीसहसहगो भिक्खू—

परीषह सहन करने वाला भिक्षु—

७६५ से गिहेसु वा, गिहतरेसु वा, गामेसु वा, गामतरेसु वा, णगरेसु वा, णगरंतरेसु वा, जणवएसु वा, जणवयतरेसु वा, संतेगतिया जणा लूसगा भवति अदुवा फासा फुसति। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए ओए समितदसणे।
—आ सु १, अ. ६, उ ५, सु. १९६

७६५. घरो मे, गृहान्तरो मे, ग्रामो मे, ग्रामान्तरो मे, नगरो में, नगरान्तरो मे, जनपदो मे या जनपदातरो मे कुछ विद्वेषीजन हिंसक (उपद्रवी) होते हैं, वे उपसर्ग देते हैं अथवा सर्दी, गर्मी, डास मच्छर आदि के कष्ट प्राप्त होते हैं, उनसे स्पृष्ट होने पर धीर समदर्शी मुनि उन सबको राग द्वेष रहित होकर सहन करे।

जो सहइ हु गामकटए,
अक्कोस पहार-तज्जणाओ य।
भय - भेरवसद्दसप्पहासे,
समसुह दुक्खसहे य जे स भिक्खू॥

जो इन्द्रियो को काटे के समान चुभने वाले—(१) आक्रोश वचनो को, (२) प्रहारो को, (३) तर्जनाओ को और (४) वैताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को सहन करता है तथा सुख और दुःख को समभावपूर्वक सहन करता हैं—वह भिक्षु है।

पडिम पडिवज्जिया मसाणे,
नो भीयए भयभेरवाइ दिस्स।
विविहगुणतवोरए य निच्चं,
न सरीरं चाभिकखए जे स भिक्खू॥

जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहण करके अत्यन्त भयजनक दृश्यो को देखकर भी नही डरता, जो विविध गुणो और तपो मे रत रहता है और जो शरीर पर भी ममत्व नही रखता, वह भिक्षु है।

असइं वोसट्ठचत्तदेहे,
अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढवि समे मुणी हवेज्जा,
अनियाणे अकोउहल्ले य जे स भिक्खू॥

जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, किसी के द्वारा आक्रोश वचन कहने पर, पीटने पर अथवा कष्ट देने पर पृथ्वी के समान सहनशील होता है, निदान नही करता है, कुतूहलवृत्ति नही करता है, वह भिक्षु है।

अभिभूय काएण परीसहाइ,
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पय।
विइत्तु जाइमरण महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू॥
—दस. अ. १०, गा. ११-१४

जो शरीर से परीषहो को जीतकर संसार समुद्र से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महाभयकारी अर्थात् दुःखो का कारण जानकर सयम और तप मे रत रहता है— वह भिक्षु है।

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए॥
—सूय सु १, अ ६, गा ३०

ऐते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसवीता, कीवाऽवसगता गिहं॥
—सूय सु. १, अ ३, उ. १, गा १७

भिक्षु सुन्दर पदार्थों के प्रति उत्सुक न होता हुआ संयम मे यतनापूर्वक प्रवृत्ति करे। संयम चर्या मे अप्रमत्त होकर रहे तथा परीषहो और उपसर्गो के होने पर उन्हे सहन करे।

हे वत्स! ये पूर्वोक्त सारे परीषह कठोर और दुःसह है इनसे विवश होकर पौरुषहीन भिक्षु वैसे ही घर लौट आता है, जैसे संग्राम मे बाणो से बीधा हुआ हाथी।

परीसहजयफल—

७६६. खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं॥
—दस. अ ८, गा. २७

परीषहजय का फल—

७६६. क्षुधा, प्यास, दुःशय्या, शीत, उष्ण, अरति और भय को मुनि अदीन भाव से सहन करे। क्योकि शारीरिक कष्टो को सहन करना मोक्ष महाफल का हेतु है।



उपसर्ग-जय—२

अणेगविहा उवसग्गा—

७६७ चउव्विहा उवसग्गा पण्णत्ता, तं जहा—
१. दिव्वा,
२ माणुसा,
३. तिरिक्खजोणिया,
४. आयसंचेयणिज्जा।
—ठाणं. अ ४, उ ४, सु ३६१(१)

अनेक प्रकार के उपसर्ग—

७६७ उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—
(१) देव के द्वारा किया जाने वाला उपसर्ग।
(२) मनुष्यो के द्वारा किया जाने वाला उपसर्ग।
(३) तिर्यंचयोनि के जीवो के द्वारा किया जाने वाला उपसर्ग।
(४) स्वयं अपने द्वारा होने वाला उपसर्ग।

दिव्वा उवसग्गा—

७६८ दिव्वा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—
१. हासा,
२. पओसा,
३. वीमसा,
४. पुढोवेमाया।
—ठाण. अ. ४, उ. ४, सु. ३६१(२)

देवकृत उपसर्ग—

७६८. दिव्य उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं, जैसे—
(१) कुतूहल-वश किया गया उपसर्ग।
(२) पूर्वभव के वैर से किया गया उपसर्ग।
(३) परीक्षा लेने के लिए किया गया उपसर्ग।
(४) हास्य प्रद्वेषादि अनेक मिले-जुले कारणो से किया गया उपसर्ग।

माणुसा उवसग्गा—

७६९ माणुसा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—
१. हासा,
२. पओसा,
३. वीमंसा,
४. कुसील पडिसेवणया।
—ठाण अ. ४, उ. ४, सु. ३६१(३)

मानवकृत उपसर्ग—

७६९ मानुष उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—
(१) हास्य से किया गया उपसर्ग।
(२) द्वेष से किया गया उपसर्ग।
(३) परीक्षार्थ किया गया उपसर्ग।
(४) कुशील सेवन के लिए किया गया उपसर्ग।

तिरिक्खजोणिया उवसग्गा--

७७०. तिरिक्खजोणिया उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा —

१ भया,

२ पदोसा,

३ आहारहेउं,

४. अवच्च-लेण सारक्खणया।

—ठाणं अ ४, उ. ४, सु ३६१(४)

तिर्यंचकृत उपसर्ग—

७७० तिर्यंचयोनिक उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे —

(१) भय से किया गया उपसर्ग।

(२) द्वेष से किया गया उपसर्ग।

(३) आहार के लिए किया गया उपसर्ग।

(४) अपने बच्चो के एव आवास-स्थान की सुरक्षा के लिए किया गया उपसर्ग।

अविवेगुब्भुया उवसग्गा—

७७१ आयसचेयणिज्जा उवसग्गा चउव्विहा पण्णत्ता, त जहा—

१ घट्टणता,

२. पवडणता,

३ थभणता,

४. लेसणता। —ठाण अ ४, उ. ४, सु. ३६१(५)

अविवेकोद्‌भूत उपसर्ग—

७७१. अपने द्वारा होने वाले उपसर्ग चार प्रकार के कहे गये हैं। जैसे—

(१) आँख में रज-कण चले जाने पर उसे मलने से होने वाला कष्ट।

(२) मार्ग मे चलते हुए असावधानी से गिर पडने का कष्ट।

(३) हस्त-पाद आदि के शून्य हो जाने से उत्पन्न हुआ कष्ट।

(४) सन्धि स्थलो के जुड जाने से होने वाला कष्ट।

पडिकूलोवसग्गा—

७७२. सूरं मन्नति अप्पाणं, जाव जेतं न पस्सति।
जुज्झतं दढधम्माण, सिसुपाले व महारहं॥

पयाता सूरा रणसीसे, सगामम्मि उवट्ठिते।
माता पुत्त ण याणाइ, जेतेण परिविच्छए॥

एव सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खाचरिया अकोविए।
सूर मन्नति अप्पाण, जाव लूह न सेवई॥

—सूय. सु १, अ. ३, उ. १, सु. १-३

प्रतिकूल उपसर्ग—

७७२. जब तक जूझते हुए दृढ सामर्थ्य वाले विजेता को नही देखता तब तक कायर मनुष्य भी अपने आपको शूर मानता है, जैसे कि कृष्ण को देखने से पूर्व शिशुपाल।

अपने आपको शूर मानने वाले वे युद्ध के उपस्थित होने पर उसके अग्र भाग मे जाते हैं। किन्तु भयंकर दुःख से घबराकर माताएँ भी अपने पुत्र को भुल जाती है और उन्हे छोड़कर भाग जाती हैं वैसे ही भयंकर युद्ध मे विजेता पुरुष के द्वारा घायल कर दिये जाने पर वे भान भूल कर दीन वन जाते हैं।

इसी प्रकार भिक्षु की चर्या मे अनिपुण तथा परीषहो और उपसर्गों को अप्राप्त नव दीक्षित भी तब तक अपने आपको शूर-वीर मानता है जब तक वह संयम की कठिनाइयो का सेवन नही करता।

मोहजासगा उवसग्गा—

७७३ अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खूणं जे दुरुत्तरा।
जत्थ एगे विसीयति, ण चयति जावित्तए॥

—सूय सु १, अ ३, उ २, सु १

अप्पेगे णायओ दिस्स, रोयति परिवारिया।
पोसणे तात पुट्ठोऽसि, कस्स तात चयासि णे॥

पिता ते थेरओ तात, ससा ते खुड्डिया इमा।
भायरा ते सगा तात, सोयरा किं चयासि णे॥

मोह सग सम्बन्धी उपसर्ग—

७७३ ये सूक्ष्म ज्ञातिजन सम्वन्धी सग भिक्षुओ के लिये दुस्तर होते हैं। वहाँ कुछ साधक विषाद को प्राप्त होते हैं, वे संयम-जीवनयापन करने मे समर्थ नही होते।

साधु के ज्ञातिजन उसे देखकर रोते हुए कहते हैं "हे तात! हमने तुम्हारा पालन पोषण किया है, अव तुम हमारा पोषण करो। फिर तुम हमे क्यो छोड रहे हो?

हे तात! ये तुम्हारे पिता वृद्ध हो रहे है, तुम्हारी यह बहिन छोटी है। ये तुम्हारे सहोदर सगे भाई हैं, फिर तुम हमें क्यो छोड रहे हो?

मातरं पितर पोस, एवं लोगो भविस्सइ।
एयं खु लोइय ताय, जे पोसे पिउ-मातरं॥

हे तात! तुम माता-पिता का पोषण करो, इस प्रकार तुम्हारा यह लोक और परलोक सफल हो जायेगा। लौकिक आचार भी यही है कि पुत्र माता-पिता का पालन करे।

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात खुड्डगा।
भारिया ते णवा तात, मा सा अण्णं जणं गमे॥

हे तात! तुम्हारे उत्तम और मधुरभाषी ये छोटे छोटे पुत्र हैं। तुम्हारी पत्नी भी नवयौवना है। वह कही दूसरे मनुष्य के पास न चली जाये।

एहि ताय घरं जामो, मा त कम्म-सहा वय।
बीय पि तात पासामो, जामु ताव सयं गिहं॥

आओ तात! घर चलें। तुम काम मत करना। हम काम करने मे समर्थ हैं, हम पुन तुम्हें घर मे देखना चाहते हैं। आओ अपने घर चलें।

गंतु तात पुणाऽऽगच्छे, ण तेणऽसमणो सिया।
अकामगं परक्कम्मं, को ते वारेउमरहति॥

हे तात! घर जाकर तुम पुन आ जाना। इतने मात्र से तुम अश्रमण नही हो जाओगे। घर के काम मे इच्छा रहित रह कर अपनी रुचि अनुसार करने मे तुमको कौन रोक सकेगा।

जं किंचि अणग तात, त पि सव्वं समीकत।
हिरण्ण ववहारादी, तं पि दासामु ते वयं॥

हे तात! तुम्हारा जो कुछ ऋण था उस सबको हमने चुका दिया है। आवश्यक कार्य के लिए तुम्हे जो धन की आवश्यकता होगी, वह भी हम तुम्हे देंगे।

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणिय समुट्ठिया।
विबद्धो नातिसंगेहिं, ततोऽगारं पधावति॥

इस प्रकार वे करुण क्रन्दन करते हुए उपरोक्त प्रकार से शिक्षा देते हैं। तब ज्ञातिजनो के सम्बन्धों से बंधा हुआ वह घर लौट आता है।

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधति।
एवं ण पडिबंधति णायओ असमाहिणा॥
विबद्धो णातिसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे।
पिट्ठतो परिसप्पंति, सूतीगो व्व अदूरगा॥

जिस प्रकार वन मे उत्पन्न वृक्ष को लता वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार ज्ञातिजन उसको असमाधि मे जकड देते हैं।

जैसे नया पकड़ा हुआ हाथी बाधा जाता है वैसे ही वह ज्ञातियो के संग से बंध जाता है तथा ज्ञातिजन उसके पीछे वैसे ही चलते हैं जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछड़े के पीछे।

एते संगा मणुस्साण, पाताला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य कीसंति, नातिसंगेहिं मुच्छिता॥
तं च भिक्खू परिण्णाय, सव्वे संगा महासवा।
जीवितं नाभिकंखेज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं॥
अहिमे संति आवट्टा, कासवेण पवेदिता।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं॥
—सूय सु १, अ. ३, उ. २, सु २-१४

मनुष्यो के लिए ये ज्ञाति-सम्बन्ध समुद्र की भाँति दुस्तर हैं। उनमे मूर्च्छित होकर असमर्थ साधक क्लेश पाते हैं।

सभी संग महान कर्म बंध के हेतु हैं इसे जानकर तथा अनुत्तर धर्म को सुनकर भिक्षु गृहवासी-जीवन की आकाक्षा न करे।

काश्यप गोत्रिय भगवान् महावीर ने और भी ये आवर्त कहे हैं। जिनसे ज्ञानी दूर रहते हैं और अज्ञानी उनमे फँस जाते हैं।

रायाणो रायमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खुयं साहुजीविणं॥
हत्थऽस्स रह जाणेहिं, विहारगमणेहि य।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी पूजयामु तं॥

राजा, राजमन्त्री, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय संयमजीवी भिक्षु को भोगो के लिए निमन्त्रित करते हैं।

"हे महर्षि! तुम हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आदि में बैठकर उद्यान क्रीडा के द्वारा इन श्लाघनीय भोगो को भोगो। महर्षि! हम आपका आदर सत्कार करते हैं।

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो पूजयामु त॥

हे आयुष्मन्! वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियां, पलग और शयन सामग्री आदि इन भोगो को भोगो, हम आपका आदर सत्कार करते हैं।

जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावम्मि सुव्वता ।
अगारमावसतस्स, सव्वो सवज्जिए तहा ॥

हे सुव्रत ! तुमने भिक्षु जीवन मे जिस नियम का आचरण किया है, वह सब घर मे बस जाने पर भी वैसे ही विद्यमान रहेगा ।

चिर दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणि कुतो तव ।
इच्चेव ण निमंतेति, नीवारेण व सूयर ॥

तुम चिरकाल से मुनिचर्या मे विहार कर रहे हो, अब तुम्हे भोगो के सेवन से दोष कैसे आयेगा ? वे भिक्षु को इस प्रकार निमन्त्रित करते हैं जैसे चावल डालकर सूअर को ।

चोइया भिक्खुचरियाए, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मदा विसीयन्ति, उज्जाणसि व दुब्बला ॥

भिक्षु चर्या मे चलने वाले किन्तु उसका निर्वाह करने मे असमर्थ मन्द पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे ऊँची चढाई मे दुर्बल बैल ।

अचयता व लूहेण, उवहाणेण तज्जिता ।
तत्थ मंदा विसीयति, उज्जाणसि जरग्गवा ॥

संयम-पालन मे असमर्थ तथा तपस्या से कष्ट पाने वाले मन्द पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कीचड मे बूढा बैल ।

एव निमतण लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु ।
अज्झोवेवण्णा कामेहिं, चोइज्जता गिह गया ॥
—सूय. सु. १, अ ३, उ २, गा १५-२२

विषयो मे मूर्च्छित, स्त्रियो मे गृद्ध और कामो मे आसक्त भिक्षु इस प्रकार का निमन्त्रण पाकर समझाने बुझाने पर घर चले जाते हैं ।

उवसग्ग अणाहओ मुणी—

उपसर्गों से अपीडित मुनि—

७७४ जहा सगामकालम्मि, पिट्ठतो भीरु पेहति ।
वलय गहण नूमं, को जाणेइ पराजयं ॥

७७४ जैसे युद्ध के समय डरपोक सैनिक पीछे की ओर गड्ढे, खाई और गुफा को देखता है, इस विचार से कि—'कौन जाने पराजय हो जाये ?'

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होति तारिसो ।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरु उवेहति ॥

घडी और घडियो मे कोई एक घडी जय या पराजय की होती है, पराजित होने पर हम भागकर छिप सकें ऐसे स्थान को डरपोक सैनिक देखकर रखता है ।

एव तु समणा एगे, अबल नच्चाण अप्पगं ।
अणागतं भयं दिस्स, अवकप्पतिमं सुयं ॥

इसी प्रकार कुछ श्रमण अपने को जीवन पर्यन्त सयम पालन करने मे असमर्थ जानकर भविष्य के भय को देखकर ज्योतिष आदि शास्त्रो का अध्ययन जीवन निर्वाह के लिए करते हैं ।

को जाणति विओवातं, इत्थीओ उदगाओ वा ।
चोइज्जता पवक्खामो, न णे अत्थि पकप्पितं ॥

कौन जाने स्त्री या जल के परीषह न सह सकने के कारण संयम से पतन हो जाये ऐसी स्थिति मे हमारे पास पूर्वोपार्जित धन भी नही हैं इसलिए किसी के कुछ पूछने पर निमित्त आदि बताकर जीवन निर्वाह कर सकेंगे ।

इच्चेव पडिलेहति, वलाइ पडिलेहिणो ।
वितिगिच्छ समावण्णा, पथाणं व अकोविया ॥

छिपने के स्थान देखने वाले उपरोक्त प्रकार से सोचा करते हैं । इस प्रकार सदेह से युक्त बने हुए वे वास्तव मे मोक्ष मार्ग को नही समझते हैं ।

जे उ सगामकालम्मि, नाता सूरपुरगमा ।
ण ते पिट्ठमुवेहति, किं परं मरणं सिया ॥

जो पुरुष जगत् प्रसिद्ध व शूरवीरो मे अग्रणी हैं वे संग्राम काल मे पीछे मुडकर नही देखते । वे यह सोचते हैं कि --'मरने से अधिक क्या होगा ?'

एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जा गारबंधणं ।
आरभ तिरिय कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥
—सूय. सु. १, अ. ३, उ ३, गा १-७

इसी प्रकार घर के बन्धन को छोडकर व आरम्भ का त्याग कर उपस्थित भिक्षु आत्म-हित के लिए संयम मे पराक्रम करे ।

पुव्व पुरिसदिट्ठतेण मंदोमुणी—

७७५ आहंसु महापुरिसा, पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावण्णा, तत्थ मंदे विसीयती॥

अभुंजिया णमी वेदेही, रामउत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारागणे रिसी॥

आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥

एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुतं॥

तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पीढसप्पी व संभमे॥
—सूय सु. १, अ ३, उ ४, गा १-५

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं॥

मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुम्पहा बहुं।
एतस्स अमोक्खाए, अयहारिव्व जूरहा॥

पाणाइवाए वट्टन्ता, मुसावाए असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टन्ता, मेहुणे य परिग्गहे॥
—सूय. सु १, अ ३, उ. २, गा ६-८

एवमेगे तु पासत्था, पण्णवेंति अणारिया।
इत्थीवसं गता बाला, जिणसासणपरम्मुहा॥
जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया॥

जहा मंधादए नाम, थिमितं भुंजती दगं।
एवं विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया॥

जहा विहंगमा पिंगा, थिमितं भुंजती दगं।
एवं विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया॥

पूर्व पुरुषो के दृष्टान्त से सयम शिथिल मुनि—

७७५ कई अज्ञानी पुरुष कहते हैं कि—'अतीत काल मे तप्त तपोधनी महापुरुष सचित्त जल का सेवन आदि करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।' यह सोचकर मन्द भिक्षु अस्नान आदि व्रतो मे शिथिल हो जाता है।

विदेह जनपद के राजा नमि ने भोजन छोडकर, रामपुत्र ने भोजन करते हुए तथा बाहुक और तारागण ऋषि ने केवल जल पीते हुए सिद्धि प्राप्त की।

आसिल, देविल, द्वैपायन और पाराशर आदि महर्षियो ने सचित्त जल, बीज और हरित का सेवन करते हुए सिद्धि प्राप्त की।

कई अन्यतीर्थिक कहते है कि—'अतीत मे हुए ये महापुरुष जगत् प्रसिद्ध थे जो अभी भी लोक सम्मत हैं, इन्होंने सचित्त बीज और जल का सेवन कर सिद्धि प्राप्त की ऐसा हमने परम्परा से सुना है।'

इस प्रकार के भ्रांतिजनक वचनो को सुनकर मन्द भिक्षु विषाद को प्राप्त होते है। वे भार मे दुखी होने वाले गधे की भाति सयम मे दुख का अनुभव करते हैं तथा लकडी के सहारे चलने वाले पगु की भाति सयम मे पीछे रह जाते हैं।

कुछ दार्शनिक कहते हैं—'सुख से ही सुख प्राप्त होता है' किन्तु वास्तव मे जो तीर्थंकरो का प्रतिपादित मार्ग है उससे ही परम समाधि प्राप्त होती है।

तुम वीतराग मार्ग को छोडकर अल्प सुखो के लिए मोक्ष के सुखो को बिगाडने वाले न बनो, क्योंकि अल्प सुखो को नही छोडने से लोह वणिक् की तरह पश्चात्ताप करना पडेगा।

शाश्वत सुखो के लिए विषय सुख न त्यागने वाले ही प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त न होकर उनमें ही प्रवृत्त रहते हैं।

स्त्रियो के वशवर्ती, अज्ञानी और जिनशासन से पराङ्मुख सन्मार्ग से भ्रष्ट कुछ अनार्य लोग इस प्रकार कहते हैं—

"जिस प्रकार गाठ या फोडे को दबाकर मवाद को निकाल देने से पीडा शात हो जाती है उसी प्रकार सहवास के बाद काम पीडा शात हो जाती है अत इसमे क्या दोष है?

"जैसे भेड जल को हिलाये बिना धीमे से उसे पी लेती है, वैसे ही प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सहवास कर लिया जाय तो उसमें दोष क्या है?

"जैसे पिंग नामक पक्षिणी आकाश मे रही हुई ही जल को क्षुब्ध किये बिना उसे पी लेती है, वैसे ही प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सहवास कर लिया जाये तो उसमे दोष क्या है?"

एवमेगे उ पासत्था, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूतणा इव तरुणए ।
—सूय सु १, अ. ३, उ ४, गा ९-१३

इस प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य पार्श्वस्थ काम-भोगो मे वैसे ही आसक्त होते हैं 'जैसे भेड अपने बच्चे मे' ।

उवसग्गसहण निद्देसो—

७७६. सखाय पेसल धम्मं, दिट्ठिम परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियमित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥[1]
—सूय. सु १, अ. ३, उ. ४, गा. २२

परीषह सहने का निर्देश—

७७६ सम्यग्दृष्टि सम्पन्न और प्रशात भिक्षु पवित्र धर्म को जानकर मोक्षप्राप्ति तक उपसर्गों को सहता हुआ सयम में पराक्रम करे ।

उवसग्गसहण फलं—

७७७. दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे ।
जे भिक्खू सहई निच्च, से न अच्छइ मण्डले ॥
—उत्त. अ. ३१, गा ५

परीषह सहने का फल—

७७७. जो भिक्षु देव, तिर्यंच और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को सदा सहता है, वह संसार मे भ्रमण नही करता ।



पंचेन्द्रिय विरतिकरण—४

सद्दासत्तिणिसेहो—

७७८ सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति,
तं रागहेउ तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउ अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥
सद्दस्स सोय गहणं वयन्ति,
सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥
सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व,
अकालियं पावइ से विणास ।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चु ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्व,
तस्सिक्खणे से उ उवेइ दुक्ख ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू,
न किंचि सद्द अवरज्झई से ॥
एगन्तरत्ते रुइरंसि सद्दे,
अतालिसे से कुणई पओस ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

शब्द की आसक्ति का निषेध—

७७८. श्रोत्रेन्द्रिय के विषय को शब्द कहते हैं, जो शब्द राग का हेतु है उसे 'मनोज्ञ' कहा है । जो शब्द द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है । इन दोनो मे जो समभाव रखता है वह वीतराग है ।

शब्द के ग्रहण करने वाले को श्रोत्र कहते हैं, श्रोत्र से ग्रहण होने वाले को शब्द कहते हैं । राग के हेतु को समनोज्ञ शब्द कहा है । द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ शब्द कहा है ।

जिस प्रकार शब्दो मे अतृप्त रागातुर मुग्ध हरिण मृत्यु को प्राप्त होता है उसी प्रकार मनोज्ञ शब्दो मे जो तीव्र आसक्ति रखता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो अमनोज्ञ शब्दो से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है । इस प्रकार स्वय के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दु खी होता है किन्तु उसके दु खी होने मे शब्द का कोई अपराध नही है ।

जो मनोहर शब्द मे सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर शब्द से द्वेष करता हैं, वह अज्ञानी दु खो की पीडा को प्राप्त होता है । किन्तु विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता ।

---

१ सूय. सु. १, अ. ३, उ. ३, गा २१

सद्दाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहिं ते परियावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

मनोहर शब्दो मे आसक्त जीव अनेक प्रकार के त्रस स्थावर जीवो की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवो को परिताप पहुँचाता है।

सद्दाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुहं से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

शब्द मे अनुराग और ममत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन मे, रक्षण करने मे, व्यवस्थित रखने मे और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग करने के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

जो शब्द मे अतृप्त और उसके परिग्रहण मे अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी सतुष्टि नही हो सकती। वह असतुष्टि के दोष से दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरे की शब्द वाली वस्तुएँ चुरा लेता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण मे अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नही होता।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो,
सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

असत्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है इसी प्रकार शब्द मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी वह आश्रय हीन होकर दुःखी ही होता है।

सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

इस प्रकार शब्द मे अनुरक्त पुरुष को अल्प सुख भी कब और कैसे हो सकता है ? क्योंकि मनोज्ञ शब्दों को पाने के लिए भी वह दुःख उठाता है और उनके उपभोग मे भी अतृप्ति का क्लेश और दुःख बना ही रहता है।

एमेव सद्दम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

इसी प्रकार जो शब्द से द्वेष रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है वे कर्म भी उदयकाल मे उसके लिए दुःख रूप होते हैं।

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥
—उत्त. अ ३२, गा ३५-४७

किन्तु जो पुरुष शब्द से विरक्त होता है वह शोक रहित रहता है। जिस प्रकार जल मे रहते हुए भी कमल जल से अलिप्त रहता है उसी प्रकार वह भी संसार मे रहते हुए इन दुःख की परम्पराओ से अलिप्त रहता है।

रूवासत्ति णिसेहो—

७७९. चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

रूप की आसक्ति का निषेध—

७७९. चक्षुरिन्द्रिय के विषय को रूप कहते हैं। जो रूप राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है, जो रूप द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है। इन दोनों मे जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है।

रूवस्स चक्खुं गहणं वयन्ति, चक्खुस्स रूवं गहण वयन्ति ।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥

रूप के ग्रहण करने वाले को चक्षु कहते हैं, चक्षु से ग्रहण होने वाले को रूप कहते हैं। राग के हेतु को समनोज्ञ रूप कहा है, द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ रूप कहा है।

रुवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणास ।
रागाउरे से जह वा पयगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चु ॥

जिस प्रकार प्रकाश लोलुप पतंगा रूप मे आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो पुरुष रूप मे तीव्र आसक्ति रखता है वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

जे यावि दोस समुवेइ तिव्व, तंसिक्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तु, न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ रूपो से तीव्र द्वेष करता है वह उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दु खी होता है किन्तु उसके दु खी होने मे रूप का कोई अपराध नही है।

एगन्तरत्ते रुइरसि रूवे, अतालिसे से कुणई पओस ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

जो मनोहर रूप मे सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर रूप मे द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु खो की पीडा को प्राप्त होता है। किन्तु विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

रूवाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥

मनोज्ञ रूप मे आसक्त जीव अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवो को परिताप पहुचाता है।

रूवाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुह से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

रूप मे अनुराग और ममत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन मे, रक्षण करने मे, व्यवस्थित रखने मे और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग करने के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुःख ही होता है।

रूवे अतित्ते य परिग्गहंमि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्त ॥

जो रूप मे अतृप्त है और उसके परिग्रहण मे अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी सन्तुष्टि नही हो सकती, वह असंतुष्टि के दोष से अत्यन्त दु खी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरो की रूपवान वस्तुए चुरा लेता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुस वड्ढइ लोभदोसा, तत्था वि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रहण मे अतृप्त होता है। अतृप्ति दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दु ख से मुक्त नही होता।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो, रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

असत्य बोलने के पहल और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दु खी होता है इसी प्रकार रूप मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी वह आश्रयहीन होकर दु खी ही होता है।

रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुह होज्ज कयाइ किंचि ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्ख, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्ख ॥

इस प्रकार रूप मे अनुरक्त पुरुष को किंचित् सुख भी कब और कैसे हो सकता है ? क्योकि मनोज्ञ रूपो को पाने के लिए भी वह दु ख उठाता है और उनके उपभोग मे भी अतृप्ति का क्लेश और दु ख बना ही रहता है।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म, ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥

इसी प्रकार जो रूप से द्वेष रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेष-युक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है, वे कर्म भी उदय काल मे उसके लिए दु ख रूप होते हैं।

रूवे विरत्तो मणओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो, जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥
—उत्त अ. ३२, गा २२-३४

किन्तु जो पुरुष रूप से विरक्त होता है वह शोक-मुक्त बन जाता है । जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह भी ससार में रहते हुए इन दु खो की परम्परा से लिप्त नही होता ।

गंधासत्ति णिसेहो—

७८० घाणस्स गन्ध गहणं वयन्ति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥
गन्धस्स घाणं गहणं वयन्ति,
घाणस्स गन्धं गहण वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥
गन्धेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणास ।
रागाउरे ओसहि-गन्ध-गिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमते ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसिक्खणे से उ उवेइ दुक्ख ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू,
न किंचि गन्धं अवरज्झई से ॥
एगन्तरत्ते रुइरसि गन्धे,
अतालिसे से कुणई पओस ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥
गन्धाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहिं ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥
गन्धाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहं सुह से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥
गन्धे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठि ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
गन्धे अतित्तस्स परिग्गहे य ।

गन्ध की आसक्ति का निषेध—

७८० घ्राणेन्द्रिय के विषय को गन्ध कहते है । जो गन्ध राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है जो गन्ध द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है । इन दोनो मे जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है ।

गन्ध के ग्रहण करने वाले को घ्राण कहते हैं, घ्राण से ग्रहण होने वाले को गंध कहते हैं । राग के हेतु को समनोज्ञ गध कहा है, द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ गध कहा है ।

जिस प्रकार नाग-दमनी आदि औषधियो के गध मे गृद्ध होकर बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प दु खी होता है उसी प्रकार जो मनोज्ञ गध मे तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो अमनोज्ञ गध से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है । इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दु खी होता है किन्तु उसके दु खी होने मे गन्ध का कोई अपराध नही है ।

जो मनोहर गन्ध मे सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर गन्ध से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु खो की पीडा को प्राप्त होता है । किंतु विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता ।

मनोज्ञ गन्ध मे आसक्त जीव अनेक प्रकार के त्रस स्थावर जीवो की हिंसा करता है वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी नाना प्रकार के उन चराचर जीवो को परिताप पहुँचाता है ।

गन्ध मे अनुराग और ममत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन मे, रक्षण करने मे, व्यवस्थित रखने मे और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण दु ख ही होता है ।

जो गन्ध मे अतृप्त है, उसके परिग्रहण मे अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी सन्तुष्टि नही हो सकती है । वह असतुष्टि के दोष से दु खी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरो की गन्धवान वस्तुएँ चुरा लेता है ।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और गन्ध-परिग्रहण मे अतृप्त होता है । अतृप्ति दोष के कारण उसके

मायामुस वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।।
मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एव अदत्ताणि समाययन्तो,
गन्धे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।।
गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एव,
कत्तो सुह होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्योवभोगे वि किलेसदुक्ख,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।।
एमेव गन्धम्मि गओ पओस,
उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्म,
जं से पुणो होइ दुह विवागे ।।
गन्धे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरम्परेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलास ।।
—उत्त अ ३२, गा ४८-६०

माया-मृपा की वृद्धि होती है तथा माया-मृपा का प्रयोग करने पर भी पर भी वह दु.ख से मुक्त नही होता ।

असत्य बोलने के पहले और पीछे तया बोलते समय भी जीव दु खी होता है । इसी प्रकार वह गन्ध से अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होकर दु खी ही होता है ।

इस प्रकार गन्ध मे अनुरक्त पुरुप को किंचित् सुख भी कब और कैसे हो सकता है ? क्योकि मनोज्ञ गन्धो को पाने के लिए वह दु ख उठाता है तथा उनके उपभोग मे भी अतृप्ति का क्लेश और दु ख बना ही रहता है ।

इसी प्रकार जो गन्ध से द्वेष रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखो की परम्परा को प्राप्त होता है । द्वेष युक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है वे कर्म भी उदय काल मे उसके लिए दु ख रूप होते हैं ।

किन्तु जो पुरुप गन्ध से विरक्त होता है वह शोक-मुक्त बन जाता है । जिस प्रकार जल मे रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नही होता, उसी प्रकार वह भी ससार मे रहते हुए इन दु खो की परम्परा से लिप्त नही होता ।

रसासत्तिणिसेहो—

७८१. जिब्भाए रस गहणं वयन्ति, त रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ।।

रसस्स जिब्भं गहण वयन्ति, जिब्भाए रस गहण वयन्ति ।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ।।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व, अकालियं पावइ से विणास ।
रागाउरे बडिस विभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिस-भोगगिद्धे ।।

जे यावि दोस समुवेइ तिव्व, तंसिक्खणे स उ उवेइ दुक्ख ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू, रसं न किंचि अवरज्झई से ।।

एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि, अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले, न लिप्पई तेण मुणी विरागो ।।

रसाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे ।
चित्तेहिं ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ।।

रस की आसक्ति का निषेध—

७८१. रसनेन्द्रिय के विषय को रस कहते हैं । जो रस राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है, जो द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है । इन दोनो मे जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है ।

रस के ग्रहण करने वाली को जिह्वा कहते हैं, जिह्वा से ग्रहण होने वाले को रस कहते हैं । राग के हेतु को समनोज्ञ रस कहा है, द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ रस कहा है ।

जिस प्रकार मास खाने मे गृद्ध बना हुआ रागातुर मत्स्य काटे से बीधा जाता है उसी प्रकार मनोज्ञ रसो मे तीव्र आसक्ति करने वाला अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है ।

जो अमनोज्ञ रस से तीव्र द्वेप करता है वह उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है, इस प्रकार स्वय के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दु खी होता है किन्तु उसके दु खी होने मे रस का कोई अपराध नही है ।

जो मनोहर रस मे सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर रस मे द्वेप करता है, वह अज्ञानी दु खो की पीडा को प्राप्त होता है । किन्तु विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता ।

मनोहर रस मे आसक्त जीव अनेक प्रकार के त्रस स्थावर जीवो की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेशयुक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवो को परिताप पहुँचाता है !

रसाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कह सुहं से,
सम्भोगकाले य अतित्तिलाभे॥

रस मे अनुराग और ममत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन मे, रक्षण करने मे व्यवस्थित रखने मे और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण दु ख ही होता है।

रसे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं॥

जो रस मे अतृप्त है और उसके परिग्रहण मे अत्यन्त आसक्त होता है। उसे कभी सन्तुष्टि नही हो सकती। वह असतुष्टि के दोप से दु खी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरो की रसवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चइ से॥

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रहण मे अतृप्त होता है। अतृप्ति दोप के कारण उसके माया-मृपा की वृद्धि होती है तथा माया-मृपा का प्रयोग करने पर भी वह दु ख से मुक्त नही होता।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो,
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

असत्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दु खी होता है। इसी प्रकार वह रस मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होकर दु खी ही होता है।

रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

इस प्रकार रस मे अनुरक्त पुरुप को किंचित् सुख भी कब और कैसे हो सकता? क्योंकि मनोज्ञ रसो को पाने के लिए वह दु ख उठाता है और उनके उपभोग मे भी अतृप्ति का क्लेश और दु ख बना ही रहता है।

एमेव रसम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

इसी प्रकार जो रस से द्वेप रखता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दु खो की परम्परा को प्राप्त होता है, द्वेप युक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है वे कर्म भी उदय काल मे उसके लिए दु ख रूप होते हैं।

रसे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरम्परेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

किन्तु जो पुरुप रस से विरक्त होता है वह शोक-मुक्त बन जाता है। जिस प्रकार जल मे रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार वह ससार मे रहते हुए भी इन दु खो की परम्परा से लिप्त नही होता।

—उत्त. अ. ३२, गा. ६१-७३

फरिसासत्ति णिसेहो—

७८२. कायस्स फासं गहणं वयन्ति,
तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो॥
फासस्स कायं गहणं वयन्ति,
कायस्स फासं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

स्पर्श की आसक्ति का निषेध—

७८२. स्पर्शेन्द्रिय के विषय को काया कहते हैं, जो स्पर्श राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है, जो द्वेप का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है। इन दोनों मे जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है।

स्पर्श के ग्रहण करने वाले को काया कहते है, काया से ग्रहण होने वाले को स्पर्श कहते है। राग के हेतु को समनोज्ञ स्पर्श कहा है, द्वेप के हेतु को अमनोज्ञ स्पर्श कहा है।

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीय-जलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रन्ने ॥

जिस प्रकार घडियाल के द्वारा पकडा हुआ अरण्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श मे मग्न बना रागातुर भैंसा विनाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार मनोज्ञ स्पर्शो मे तीव्र आसक्ति करने वाला वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं,
तंसिक्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू,
न किंचि फासं अवरज्झई से ॥

जो अमनोज्ञ स्पर्श से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण दुख को प्राप्त होता है इस प्रकार स्वयं के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दुखी होता है किन्तु उसके दुखी होने मे स्पर्श का कोई अपराध नही है।

एगन्तरत्ते रुइरंसि फासे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

जो मनोहर स्पर्श मे सर्वथा अनुरक्त होता है और अमनोहर स्पर्श से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुखो की पीडा को प्राप्त होता है। किन्तु विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

फासाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहिं ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥

मनोहर स्पर्श मे आसक्त जीव अनेक प्रकार के त्रस स्थावर जीवो की हिंसा करता है वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेश युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवो को परिताप पहुँचाता है।

फासाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से,
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

स्पर्श मे अनुराग और ममत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन मे, रक्षण करने मे, व्यवस्थित रखने मे और उसके विनाश या वियोग होने पर कैसे सुखी हो सकता है? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण दुख ही होता है।

फासे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

जो स्पर्श मे अतृप्त है और उसके परिग्रहण मे अत्यन्त आसक्त होता है, उसे कभी सन्तुष्टि नही हो सकती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुखी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरो की स्पर्शवान वस्तुएँ चुरा लेता है।

तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और स्पर्श परिग्रहण मे अतृप्त होता है, अतृप्ति दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुख से मुक्त नही होता।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो,
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

असत्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुखी होता है। इसी प्रकार वह स्पर्श मे अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होता हुआ दुखी ही होता है।

फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

इस प्रकार स्पर्श मे अनुरक्त पुरुष को किंचित् भी सुख कब और कैसे हो सकता है? अल्प सुख भी कहाँ से होगा क्योकि मनोज्ञ रसो को पाने के लिए वह दुख उठाता है और उनके उपभोग मे भी अतृप्ति का क्लेश और दुख बना ही रहता है।

एमेव फासम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

इसी प्रकार जो स्पर्श से द्वेष रखता है वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुखो की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है। वे कर्म भी उदय काल मे उसके लिए दुख रूप होते है।

एतं कुसलस्स दंसणं तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे, तस्सण्णी, तण्णिवेसणं।

अभिभूय अदक्खू अणभिभूते पभू णिरालंवणताए।

—आ सु १, अ. ५, उ ६, सु. १७२

मुनि उसी में अपनी दृष्टि नियोजित करे, उसी में तन्मय हो, उसे ही प्रमुख बनाए, उसी के स्मरण में संलग्न रहे, उसी में दत्तचित्त होकर उसका अनुसरण करे।

जिसने परीषह-उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर तत्त्वों का साक्षात्कार किया है वह परीषहों से अभिभूत नहीं होता और वही निरालम्बी होकर संयम पालन में समर्थ होता है।

पमाय परिच्चाग उवएसो—

७८९ समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसादए।
अणण्णपरमं णाणी, णो पमाए कयाइ वि॥
आयगुत्ते सदा वीरे, जायामायाए जावए।
विरागं रूवेहिं गच्छेज्जा, महता खुड्डएहिं वा॥

—आ सु १, अ ३, उ. ३, सु १२३

प्रमाद परित्याग का उपदेश—

७८९ साधना काल में मुनि समत्व का विचार करके आत्मा को सदा प्रसन्न रखे, ज्ञानी मुनि संयम में कदापि प्रमाद न करे।

सदा आत्मगुप्त और पराक्रमी साधक परिमित भोजन से संयम यात्रा चलावे, अल्प या अधिक रूप आदि विषयों से पूर्ण विरक्त रहे।

तिविहा धम्म जागरणा—

७९० 'भन्ते ! त्ति' भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

प०—कइविधा णं भंते ! जागरिया पन्नत्ता ?

उ०—गोयमा तिविहा जागरिया पन्नत्ता, तं जहा—

१. बुद्धजागरिया, २ अबुद्धजागरिया,
३. सुदक्खुजागरिया।

प०—से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चति 'तिविहा जागरिया पन्नत्ता', तं जहा—

१ बुद्धजागरिया, २ अबुद्धजागरिया,
३. सुदक्खुजागरिया ?

उ०—गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो उप्पन्ननाण-दंसण-धरा जहा खंदए-जाव-सव्वण्णू सव्वदरिसी एए णं बुद्धा बुद्धजागरियं जागरंति।

जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया-जाव-गुत्तबंभयारी, एए णं अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति।

जे इमे समणोवासगा अभिगय जीवाजीवा-जाव-विहरंति एते णं सुदक्खुजागरियं जागरंति।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति तिविहा जागरिया-जाव-सुदक्खुजागरिया।

—वि. स १२, उ १, सु २५

तीन प्रकार की धर्म जागरणा—

७९०. 'हे भगवन !' इस प्रकार सम्बोधित करते हुए भगवान गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार किया और वंदना नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—

प्र०—भगवन ! जागरिका कितने प्रकार की कही गई है ?

उ०—गौतम ! जागरिका तीन प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) बुद्धजागरिका, (२) अबुद्धजागरिका,
(३) सुदर्शनजागरिका।

प्र०—भगवन ! किस हेतु से कहा जाता है कि जागरिका तीन प्रकार की है, जैसे—

(१) बुद्ध-जागरिका, (२) अबुद्ध-जागरिका
(३) सुदर्शन-जागरिका ?

उ०—हे गौतम ! जो उत्पन्न हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक अरिहन्त भगवान हैं—*यावत्*—स्कन्दक प्रकरण के अनुसार जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, वे बुद्ध हैं, वे बुद्ध जागरिका करते हैं।

जो ये अनगार भगवन्त ईर्यासमिति युक्त—*यावत्*—गुप्त ब्रह्मचारी हैं, वे अबुद्ध छद्मस्थ हैं। वे अबुद्धजागरिका करते हैं।

जो ये श्रमणोपासक जीव अजीव आदि तत्वों के ज्ञाता हैं —*यावत्*—पौषधादि करते हैं वे सुदर्शन जागरिका करते हैं।

इसी कारण से हे गौतम ! तीन प्रकार की जागरिका —*यावत्*—सुदर्शन जागरिया कही गई है।

एगत्त अण्णत्त भावणा—

७९१. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—"एगो अहमंसि, ण मे अत्थि कोइ, ण याहमवि कस्सइ एवं से एगागिणमेव अप्पाणं

एकत्व अन्यत्व भावना—

७९१ जिस भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो जाय कि "मैं अकेला हूँ मेरा कोई नहीं है और न मैं किसी का हूँ" वह अपनी

समभिजाणेज्जा। लाघविय आगममाणे तवे से अभिसमण्णागते भवति।

जहेय भगवता पवेदित तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

—आ सु १, अ ८, उ. ६, सु. २२२

समाए पेहाए परिव्वयन्तो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा मह नोवि अह पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज राग॥

—दस. अ. २, गा. ४

अहेगे धम्ममादाय आदाणप्पभिति सुप्पणिहिए चरे अप्पलीयवढे।

सव्वं गेहिं परिण्णाय एस पणए महामुणी।

अतियच्च सव्वओ सग, "ण महं अत्थि त्ति एगो अहमंसि" जयमाणे।

एत्थ विरते अणगारे सव्वतो मुंडे रीयते जे अचेले परिवुसिते सचिक्खति ओमायरियाए।

से अकुट्ठे वा, हते वा, लूसिते वा, पलियं पगंथ, अदुवा पगथ, अतहेहिं सद्दफासेहिं।

इति सखाए एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए।

जे य हिरी जे य अहिरीमणा चेच्चा सव्व विसोत्तिय सफासे फासे समितदंसणे।

एते भो! णगिणा वुत्ता जे लोगसि अणागमण धम्मिणो।

—आ. सु. १, अ ६, उ. २, सु १८४-१८५

आत्मा को एकाकी भाव मे ही रखे इस प्रकार वह लाघवता को प्राप्त करता हुआ तप के लाभ को प्राप्त करता है।

भगवान ने जिस रूप मे प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप मे जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना सम्यक् प्रकार से क्रियान्वित करे।

सम्यक्तया सावधानीपूर्वक सयम पालन करते हुए यदि कदाचित् मन संयम से बाहर निकल जाए तो साधु यह विचार करके राग भाव को दूर करे कि "वह मेरा नही है और न मैं ही उसका हूँ।"

कई साधक मुनि धर्म को ग्रहण करके धर्माचरण मे इन्द्रिय और मन को समाहित करके चचलतारहित हो स्थिरतापूर्वक विचरण करते हैं।

वे महामुनि समग्र आसक्ति को छोडकर सयम में पुरुषार्थ करते हैं।

फिर सर्वथा सग का त्याग करके "मेरा कोई नही है इसलिए मैं अकेला हूँ" ऐसा चिन्तन कर सयम मे यत्न करते हैं।

वह संयम मे स्थित विरत अनगार सब प्रकार से मुण्डित होकर विचरण करता हुआ अवमोदरिका के हेतु अल्प वस्त्र या निर्वस्त्र रहता है।

उसे कोई आक्रोश वचन कहे, मारे, पीटे, केश आदि खीचे, पहले किए हुए किसी घृणित दुष्कर्म की याद दिलाकर अथवा तथ्यहीन शब्दो द्वारा दोषारोपण करे।

ऐसी स्थिति मे मुनि उन अनेक उपसर्गों को अपने कर्मोदय का फल जानकर सम्यक् चिन्तन द्वारा समभाव से सहन करता हुआ सयम मे विचरण करे।

वे उपसर्ग लज्जाकारी हो या अलज्जाकारी हो सम्यग्दर्शी मुनि सभी बाधाओ को दूर करता हुआ उन कष्टों को सम्यक् प्रकार से सहन करे।

हे मानवो! धर्म क्षेत्र मे उन्हे ही भावनग्न निर्ग्रन्थ कहा गया है जो मुनिधर्म मे दीक्षित होकर पुनः गृहवास मे नही आते।

अणिच्चा भावणा—

७९२. आहारोवया देहा परीसह पभगुरा। पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं। ओए दयं दयति।

—आ. सु १, अ. ८, उ. ३, सु. २१०(क)

अनित्य-भावना—

७९२ यह शरीर आहार से परिपुष्ट होता है और भूख प्यास आदि परीषहो के आने से यह क्षीण हो जाता है। ऐसी स्थिति मे कायर साधक सभी इन्द्रियो से दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं, किन्तु राग द्वेष रहित समभावी मुनि इस अवस्था मे भी संयम का पूर्णरूपेण पालन करते हैं।

असरण भावणा—

७९३. वित्तं पसवो य नाइओ, त बाले सरणं ति मन्नई।
एते मम तेसुवी अह, नो ताण सरण न विज्जई॥

अशरण भावना—

७९३. अज्ञानी जीव धन, पशु और ज्ञातिजनो को अपना शरणभूत समझता है। ये मेरे हैं मैं इनका स्वामी हूँ, किन्तु वास्तव मे ये उसके लिए न त्राणरूप हैं और न शरणरूप हैं।

अब्भागमितमि वा दुहे, अहवा उवकमिते भवतिए ।
एगस्स गई य आगई, विदुमता सरण ण मन्नई ॥
—सूय सु. १, अ २, उ. ३, सु १६-१७

जब प्राणी के ऊपर किसी प्रकार का दु ख आ पड़ता है तब वह उसे अकेला ही भोगता है तथा उपक्रम के कारणो से आयु नष्ट होने पर या मृत्यु उपस्थित होने पर वह अकेला ही परलोक मे जाता है तथा वहाँ से मरकर पुन. अकेला ही आता है । इस-लिए विद्वान पुरुष किसी को अपना शरण नही मानते ।

मेत्ती भावणा—

७६४ पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?
—आ. सु. १, अ ३, उ. ३, सु. १२५

जावन्तऽविज्जपुरिसा, सव्वे ते दुक्खसभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, ससारमि अणन्तए ॥

समिक्ख पडिए तम्हा, पासजाईपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्ति भूएसु कप्पए ॥
—उत्त. अ ६, गा. १-२

मैत्री भावना—

७६४ हे पुरुष ! तुम ही तुम्हारे मित्र हो फिर बाहर अपने से भिन्न मित्र क्यो ढूंढ रहे हो ?

जितने भी अविद्यावान अज्ञानी पुरुष हैं, वे सब अपने लिए दु ख उत्पन्न करने वाले हैं । वे मूढ बने हुए इस अनन्त ससार मे बार-बार दु खो से पीडित होते हैं ।

इसलिए पण्डित पुरुष अनेक बन्धनो और जन्म मरण के स्थानो की समीक्षा कर स्वय सत्य धर्म की गवेषणा करे और सब जीवो के प्रति मैत्री का आचरण करे ।

संवर भावणा—

७६५ तम्हाऽतिविज्जो परम ति णच्चा,
आयकदसी ण करेइ पावं ।
अग्ग च मूलं च विगिंच धीरे,
पलिछिंदियाण णिकम्मदसी ॥

एस मरणा पमुच्चति, से हु दिट्ठभये मुणी ।

लोगसि परमदसी विवित्तजीवी उवसन्ते, समिते सदा-जते कालकंखी परिव्वए ।
—आ. सु १, अ. ३, उ. २, सु ११५-११६

सवर भावना—

७६५. हिंसादि पाप के फल का ज्ञाता विद्वान मुनि परम-मोक्ष पद को जानकर कभी भी पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होता ।

हे धीर ! तू अग्र अघाति कर्म (और मूल) घाति कर्म को दूर कर, उन कर्मो को उन्मूलन करने से निष्कर्मदर्शी हो जाता है ।

वह आत्मदर्शी मुनि मरण से मुक्त हो जाता है, वही वास्तव मे कर्म और ससार भय का द्रष्टा है । अथवा मोक्ष मार्ग का ज्ञाता है ।

लोक मे जो परमदर्शी है, राग-द्वेष रहित शुद्ध जीवन जीता है, उपशान्त है, पाँच समितियो से समित है, ज्ञानादि से सहित है और सदा सयमशील होकर पण्डित मरण की आकांक्षा करता हुआ विचरण करता है ।



संयम में पराक्रम—६

पण्णावताण परक्कमं—

७६६. एवं तेसिं महावीराणं चिरराय पुव्वाइ वासाइं रीयमाणाणं दवियाण पास अहियासियं ।

आगतपण्णाणाण किसा बाहा भवति, पयणुए य मंससोणिए ।

प्रज्ञावानो का पराक्रम—

७६६ चिरकाल तक पूर्वो या वर्षो पर्यन्त सयम मे विचरण करने वाले, चारित्र सपन्न तथा संयम मे प्रगति करने वाले महान वीर साधुओ ने जो परीषहादि सहन किये हैं । उसे तू देख ।

उन प्रज्ञावान मुनियो की भुजाएँ कृश होती हैं, उनके शरीर में रक्त मांस बहुत कम हो जाते हैं ।

विस्सेणिं कट्टु परिण्णाय एस तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते।
—आ. सु १, अ ६, उ ३, सु १८७-१८८(घ)

ससार-वृद्धि कराने वाली राग-द्वेष कषायरूप श्रेणी संतति को प्रज्ञा से जानकर उसे छिन्न-भिन्न करता है। वही मुनि तीर्ण, मुक्त एवं विरत कहलाता है।

पडियस्स परक्कम —

पण्डित का पराक्रम—

७९७ एवं जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं। अणभिक्कतं च खलु वयं सपेहाए खणं जाणाहि पंडिते।

७९७ 'प्रत्येक प्राणी का सुख और दु ख अपना-अपना अलग है', यह जानकर तथा 'यौवन एव शक्ति अभी समाप्त नही हुई है' पण्डित पुरुष ऐसा विचार कर अवसर को जानकर धर्म का आचरण करे।

-जाव-सोयपण्णाणा अपरिहीणा,-जाव-णेत्तपण्णाणा अपरिहीणा,-जाव-घाणपण्णाणा अपरिहीणा, -जाव-जीहपण्णाणा अपरिहीणा, -जाव-फासपण्णाणा अपरिहीणा इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि। —आ. सु १, अ. २, उ. २, सु. ६८

जब तक श्रोत्र-प्रज्ञान, नेत्र-प्रज्ञान, घ्राण-प्रज्ञान, रसना-प्रज्ञान और स्पर्श-प्रज्ञान परिपूर्ण है, इन अनेक प्रकार की शारीरिक शक्तियो के परिपूर्ण रहते हुए आत्महित के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील बने।

समत्तदंसिस्स परक्कमं—

समत्वदर्शी का पराक्रम—

७९८ मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्म-सरीरग।
पंतं लूहं सेवति, वीरा समत्तदसिणो॥

७९८ मुनि संयम स्वीकार कर कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे अर्थात् कर्म क्षय करने में पुरुषार्थ करे। यह जानकर समत्वदर्शी वीर नीरस और रूक्ष आहार आदि का सेवन करते हैं।

एस ओघतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि।
—आ सु १, अ. २, उ. ६, सु. ९९ (ख-ग)

ससार समुद्र को पार करने वाला मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है।

जातिं च वुड्ढिं च इहऽज्ज ! पासे,
भूतेहिं जाण पडिलेह सात।
तम्हा तिविज्जो परम त्ति णच्चा,
समत्तदंसी ण करेति पावं॥
—आ. सु १, अ. ३, उ. २, सु ११२

हे आर्य ! तू इस ससार मे जन्म और जरा के दुःखो को देख ! तथा सभी जीवो के विषय में जान कि वे सभी सुख ही चाहते हैं। अत मोक्ष मार्ग को जानकर समत्वदर्शी विद्वान मुनि किसी भी पाप कार्य मे प्रवृत्त नही होता है।

का अरइ के आणदे ? एत्थपि अग्गहे चरे।
सव्व हास परिच्चज्ज अल्लीणगुत्तो परिव्वए॥
—आ सु १, अ. ३, उ ३, सु. १२४

योगी के लिए भला क्या अरति (शोक) है और क्या आनन्द है ? इन दोनो अवस्थाओ से रहित होकर विचरण करे। वह सभी प्रकार के हास्य आदि का त्याग करके इन्द्रियनिग्रह तथा मन-वचन-काया को गुप्त करते हुए विचरण करे।

मुत्तत्त सरूवं—

मुक्तात्मा का स्वरूप—

७९९. ज जाणेज्जा उच्चालइयं त जाणेज्जा दूरालइय, जं जाणेज्जा दूरालइय तं जाणेज्जा उच्चालइयं।
—आ सु. १, अ. १, उ ३, सु. १२५

७९९ जिसे तुम परम तत्व मे स्थित जानते हो, उसे मोक्ष मार्ग मे स्थित जानो। जिसे तुम मोक्ष मार्ग में स्थित जानते हो उसे ही परम तत्व मे स्थित जानो।

वीरस्स परक्कमं—

वीर पुरुष का पराक्रम—

८००. एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए।

८०० वह वीर प्रशसा के योग्य है, जो कर्मों से बँधे हुए मनुष्यो को मुक्त करता है।

उड्ढं अहं तिरियं दिसासु से सव्वतो सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पति छणपदेण वीरे।
—आ. सु. १, अ. २, उ. ६, सु. १०३

वह कुशल साधक ऊँची दिशा, नीची दिशा और तिरछी दिशाओ मे सब प्रकार के समग्र विवेक के साथ चलता है। वह वीर हिंसा आदि पाप स्थान से लिप्त नही होता।

जे खलु भो ! वीरा समिया सदा जया संघडदंसिणो आतोवरता अहा तहा लोगं उवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं इय सच्चंसि परिचिट्ठिंसु। साहिस्सामो णाणं वीराणं समियाणं सहियाणं सदा जयाणं संघडदंसीणं आतोवरताणं अहा तहा लोगमुवेहमाणाणं।

"हे आर्यो ! जो साधक वीर है पाँच समितियों से सम्पन्न हैं, ज्ञानादि से सहित हैं, सदा संयत हैं, सतत जागरूक हैं, पापों से उपरत हैं, यथावस्थित लोक के स्वरूप को देखते हैं, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर सभी दिशाओं में सर्वत्र सत्य (संयम) में स्थित हैं, उन वीर समित, सहित, सदा यतनाशील, सतत जागरूक, पापों से उपरत, लोक के यथार्थ द्रष्टा ज्ञानियों के सम्यक् ज्ञान की हम भी आराधना करेंगे" ऐसा साधक विचार करे।

प०—किमत्थि उवाही पासगस्स ण विज्जति ?

उ० णत्थि। —आ सु. १, अ. ४, उ. ४, सु. १४६

प्र०—सत्यद्रष्टा वीर के कोई उपाधि होती है या नहीं ?

उ०—उसके कोई उपाधि नहीं होती है।

आवीलए पवीलए णिप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं।

मुनि पूर्व संयोग का त्याग कर संयम स्वीकार करके पहले कर्म व शरीर का आपीडन करे, फिर प्रपीडन करे और तदनन्तर निष्पीडन करे अर्थात् उत्तरोत्तर तप वृद्धि करे।

तम्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिए सदा जए।

इसलिए वीर मुनि सदा विषयों के प्रति रति और शोक से मुक्त आत्मरत समितियों से युक्त और ज्ञानादि से सहित होकर सदा संयम में यत्न करे।

दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं, विगिंच मंस सोणितं।

मोक्षगामी वीर पुरुषों के मार्ग पर चलना कठिन होता है। अतः हे शिष्य ! तू तपश्चर्या के द्वारा मांस और खून को सुखा दे।

एस पुरिसे दविए वीरे आयाणिज्जे वियाहिते जे धुणाति समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि।

—आ सु १, अ. ४, उ ४, सु. १४३

जो साधक संयम स्वीकार कर कर्म क्षय करने में पुरुषार्थ करता है वही पुरुष मोक्षार्थी वीर और संयमवान् कहा जाता है।

कोहाइमाणं हणिया य वीरे,
लोभस्स पासे णिरयं महंतं।
तम्हा य वीरे विरते वहाओ,
छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी॥
गंथं परिण्णाय इहज्ज वीरे,
सोयं परिण्णाय चरेज्ज दन्ते।
उम्मुग्ग लद्धुं इह माणवेहिं,
णो पाणिणं पाणे समारंभेज्जासि॥

—आ. सु. १, अ. ३, उ. २, गा. १२०-१२१

वीर पुरुष कषाय के आदिभूत अंग क्रोध और मान को नष्ट करे। लोभ को महान नरक के रूप में देखे। अतः लघुभूत मोक्षगामी वीर हिंसा से विरत होकर विषय-वासना रूप आश्रव स्थानों को छिन्न-भिन्न कर डाले।

वीर पुरुष इस लोक में राग-द्वेष आदि कर्म बन्ध के कारणों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से तत्काल ही छोड़ दे, इसी प्रकार इन्द्रिय विषयों को भी जानकर दमितेन्द्रिय बन कर संयम में विचरण करे। इस मनुष्य जन्म में ही जीव को कर्मों से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है। अतः प्राणियों के प्राणों का संहार आदि सावद्य कार्य न करे।

तम्हा दवि इक्ख पडिए,
पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।
पणया वीरा महावीहिं,
सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं॥
वेतालियमग्गमागओ, मण वयसा काएण संवुडो।
चेच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि॥

—सूय. सु. १, अ २, उ १, गा. २१-२२

इसलिए राग-द्वेष रहित पण्डित मुनि गुण दोषों का विचार कर पाप से विरत और कषायों से उपशान्त हो जाए। वीर पुरुष लक्ष्य तक ले जाने वाले उस शाश्वत महापथ के प्रति उद्यमशील होते हैं जो कि सिद्धि का मार्ग है।

कर्मों का नाश करने वाले संयम मार्ग को प्राप्त कर मुनि मन, वचन और काया से संवृत होकर धन स्वजन और आरम्भ का सम्पूर्ण त्याग कर संयम में ही विचरण करे।

सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पण्ण सुतवस्सियं।
वीरा जे अत्तपण्णेसी, धितिमंता जिंतिदिया॥
गिहे दीवमपस्संता, पुरिसादाणिया नरा।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखति जीवित॥

—सूय सु १, अ ९, गा ३३-३४

जो आत्मप्रज्ञा के अन्वेषी, धृतिमान और जितेन्द्रिय वीरमुनि हैं वे प्रज्ञावान तपस्वी गुरु की सेवा भक्ति युक्त उपासना करें।

गृहवास मे प्रकाश न देखने वाले मनुष्य प्रव्रजित होकर पुरुषादानीय (आदरणीय पुरुष) हो जाते हैं। वे वीर मनुष्य बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और कभी असंयमी जीवन की इच्छा नही करते।

दुक्ख लोगस्स जाणित्ता, वंता लोगस्स सजोगं, जंति वीरा महाजाण। परेण परं जंति, णावकखंनि जीवित।

—आ सु. १, अ. ३, उ ४, सु १२९

लोक के दुखो को जानकर वीर साधक लोक सयोगो का परित्याग कर मोक्षपथ को प्राप्त करते हैं। वे आगे से आगे बढ़ते जाते हैं, किन्तु असयम जीवन की आकाक्षा नही करते।

भिक्खुस्स परक्कमं—

८०१. भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा,
कखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमातिएज्जा,
संगामसीसे व पर दमेज्जा॥

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी,
समागम कखति अंतगस्स।
णिद्धूय कम्मं ण पवचुवेति,
अक्खक्खए वा सगडं त्ति बेमि॥

—सूय. सु. १, अ.७, गा. २९-३०

भिक्षु का पराक्रम—

८०१ मुनि सयम-भार को वहन करने के लिए भोजन करे। पाप से सदा दूर रहने की इच्छा करे। दुख से स्पृष्ट होने पर शाति रखते हुए सयम का आचरण करे, युद्ध भूमि मे जैसे सुभट पुरुष शत्रु के योद्धा का दमन करता है, उसी तरह साधु कर्म रूपी शत्रु का दमन करे।

किसी के द्वारा मारे जाने पर भी काष्ट पलक की भांति रहकर मुनि पण्डित मरण की आकाक्षा करता है। वह कर्म को क्षीण कर जन्म-मरण के प्रपंच से छूट जाता है। जैसे कि धुरा के टूट जाने पर गाडी का गमनागमन रुक जाता है।

आयगुत्त भिक्खुस्स परक्कमं—

८०२ भिक्खु च खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा फुसति से हता हणह, खणह, छिंदह, दहह, पचह, आलुपह, विलुपह, सहसक्कारेह, विप्परामुसह। ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए।

आत्मगुप्त भिक्षु का पराक्रम—

८०२ भिक्षु से पूछकर या बिना पूछे ही बनाए हुए आधाकर्मी आहार के न लेने पर कोई गृहस्थ भिक्षु को कदाचित् रस्सी आदि से बाध दे और आक्रोश मे आकर नौकर आदि से कहे कि—'इस को पीटो, घायल कर दो, हाथ पैर आदि अंग काट डालो, इसे जला दो, इसका मास पकाओ, इसके वस्त्रादि छीन लो, इसका सब कुछ लूट लो, जल्दी ही इसे मारो, इसे अनेक प्रकार से पीडित करो'', उन दुख रूप कष्टों के आ पडने पर धैर्यवान मुनि उन्हें समभाव से सहन करे।

अदुवा आयारगोयरमाइक्खें तक्कियाणमणेलिस। अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्म पडिलेहाए आयगुत्ते बुद्धेहिं एय पवेदित।

—आ. सु १, अ ८, उ २, सु. २०९

आत्मगुप्त मुनि उस पुरुष की योग्यता का विचार कर उसे साध्वाचार समझावे अथवा अनुपम धर्म का स्वरूप समझावे। योग्य न हो तो मौन पूर्वक रहे। इस प्रकार अनुक्रम से पर्यालोचना करते हुए एषणा समिति का सम्यक् रूप से पालन करे। ऐसा तीर्थंकरो ने प्रतिपादन किया है।

अप्पमत्तो कामेहिं उवरतो पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयण्णे,

जो काम भोगो के प्रति अप्रमत्त है और पापकर्मों से उपरत है वह पुरुष वीर आत्मगुप्त और खेदज्ञ होता है।

जे पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे। जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे।

—आ सु १, अ ३, उ. १, सु १०९

जो शब्दादि विषयो की विभिन्न पर्यायो से होने वाले असयम को जानता है वह संयम स्वरूप को जानता है जो सयम के स्वरूप को जानता है वह विषयो की विभिन्न पर्यायो से होने वाले असयम को जानता है।

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।
—आ. सु १, अ. ३, उ ३, सु. १२६

हे पुरुष ! तू अपनी आत्मा का ही निग्रह कर ऐसा करने से तू दुःख से मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

इमेव सेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झतो ?

इस कर्म-शरीर के साथ ही युद्ध कर, दूसरो के साथ युद्ध करने में तुझे क्या मिलेगा ?

जुद्धारिहं खलु दुल्लभ। जहेत्थ कुसलेहिं परिण्णाविवेगे भासिते। —आ. सु. १, अ. ५, उ ३, सु १५६

भाव युद्ध के योग्य मनुष्य शरीर प्राप्त होना अवश्य ही दुर्लभ है। इस जिन शासन में तीर्थंकरो ने जिस प्रकार से परिज्ञा और विवेक बताये हैं।

सव्वत्थ समत पावं ! तमेव उवातिकम्म एस मह विवेगे वियाहिते। —आ. सु. १, अ ८, उ १, सु २०२ (क-ख)

पाप सर्वत्र सम्मत है मैं उसी पाप का निकट से अतिक्रमण करके स्थित हूँ यह मेरा विवेक कहा गया है।

से हु एगे सविद्धपहे मुणी अण्णहा लोगमुवेहमाणे।

वास्तव मे वही मुनि मोक्षपथ पर प्रगतिशील होता है जो वीतराग मार्ग से विपरीत आचरण करने वाले लोगो की उपेक्षा करता रहता है।

इति कम्म परिण्णाय सव्वसो ! से ण हिंसति, सजमति, णो पगब्भति, उवेहमाणे पत्तेय सात, वण्णाएसी णारभे कचण सव्वलोए।

इसी प्रकार कर्म और कारणो को सम्यक् प्रकार से जान कर भिक्षु किसी प्रकार की हिंसा नही करता और सयम का आचरण करता है पाप कार्य मे धृष्टता नहीं करता, प्रत्येक प्राणी के सुख का विचार करते हुए संयम का इच्छुक मुनि समस्त लोक मे कुछ भी आरम्भ न करे।

एगप्पमुहे विदिसप्पतिण्णे णिव्विण्णचारी अरते पयासु।

वह एक मात्र मोक्ष को चाहने वाला ससार मार्ग से प्रतीर्ण और विरक्त होकर विचरने वाला मुनि स्त्रियो के प्रति अनासक्त रहे।

से वसुम सव्वसमण्णागत पण्णाणेण अप्पाणेण अकरणिज्जं पाव कम्म त णो अण्णेसी।
—आ सु. १, अ. ५, उ. ३, सु. १५६-१६०

विशिष्ट प्रज्ञावान सयमधारी मुनि के लिए अन्तःकरण से पाप कर्म अकरणीय है, अत साधक उनका अन्वेपण न करे।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य॥

आत्मा का ही दमन करना चाहिए क्योंकि आत्मा का दमन करना बडा कठिन है आत्म दमन करने वाला ही इहलोक और परलोक मे सुखी होता है।

वरं मे अप्पा दन्तो, सजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मतो बन्धणेहि वहेहि य॥
—उत्त. अ. १, सु १५-१६

अच्छा यही है कि मैं संयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नही है।

मेहावी मुणिस्स परक्कमं—

मेधावी मुनि का पराक्रम—

८०३. सद्धी आणाए मेधावी।
लोग च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभय।

८०३ वीतराग की आज्ञा मे श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है। वह जिनवाणी के अनुसार षट्जीवनिकाय रूप लोक को जानकर पूर्ण अभयदाता हो जाता है।

अत्थि सत्थं परेण पर, णत्थि असत्थ परेण परं।

शस्त्र (असंयम) एक से एक बढ़कर तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता है किन्तु अशस्त्र (संयम) एक से एक बढ़कर नहीं होता अर्थात् वह एक रूप होता है।

जे कोहदंसी से माणदंसी,
जे माणदंसी से मायादंसी।
जे मायादंसी से लोभदंसी।

जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है,
जो मानदर्शी होता है, वह मायादर्शी होता है,
जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है।

जे लोभदंसी से पेज्जदंसी,
जे पेज्जदंसी से दोसदंसी,
जे दोसदंसी से मोहदंसी,
जे मोहदंसी से गब्भदंसी,
जे गब्भदंसी से जम्मदंसी,
से जम्मदंसी से मारदंसी,
जे मारदंसी से णिरयदंसी,
जे णिरयदंसी से तिरियदंसी,
जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी ।

जो लोभदर्शी होता है वह रागदर्शी होता है,
जो रागदर्शी होता है, वह द्वेषदर्शी होता है,
जो द्वेषदर्शी होता है, वह मोहदर्शी होता है
जो मोहदर्शी होता है, वह गर्भदर्शी होता है,
जो गर्भदर्शी होता है, वह जन्मदर्शी होता है,
जो जन्मदर्शी होता है, वह मृत्युदर्शी होता है,
जो मृत्युदर्शी होता है वह नरकदर्शी होता है,
जो नरकदर्शी होता है, वह तिर्यंचदर्शी होता है,
जो तिर्यंचदर्शी होता है, वह दुःखदर्शी होता है ।

से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं च, पेज्जं च, दोसं च, मोहं च, गब्भं च, जम्मं च, मारं च, णरगं च, तिरियं च, दुक्खं च ।

वह मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यंच और दुःख को छोड दे ।

एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स,

यह समस्त कर्मों का अन्त करने वाले, हिंसा आदि असंयम से उपरत एवं निरावरण द्रष्टा तीर्थंकर भगवान का उपदेश है ।

आयाणं निसिद्धा सगडब्भि,

जो पुरुष कर्म बन्ध के कारणों को रोक देता है, वही स्व-कृत कर्मों का भेदन कर पाता है ।

प०—किमत्थि उवाही पासगस्स, ण विज्जति,
उ०—णत्थि ।—आ. सु १, अ ३, उ ४, सु १२९-१३१

प्र०—क्या सर्व-द्रष्टा को कोई उपाधि होती है या नहीं ?
उ०—नहीं होती है ।

बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ।

इस जीव ने भूतकाल में अनेक प्रकार के पापकर्मों का बन्ध किया है ।

सच्चंसि धितिं कुव्वह । एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेति । —आ. सु १, अ ३, उ २, सु ११६ ११७

अतः धैर्य रखते हुए संयम पालन करते रहना चाहिए । संयम में लीन रहने वाला मेधावी समस्त पापकर्मों का क्षय कर डालता है ।

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि । सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरति ।
—आ. सु. १, अ. ३, उ ४, सु १२७

हे पुरुष ! तू सत्य को ही भलीभाँति समझ । सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहने वाला मेधावी संसार को पार कर लेता है ।

जे महं अबहिमणे ।

जो महान होता है, उसका मन बाहर नहीं होता ।

पवाएण पवायं जाणेज्जा सहसम्मुइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा ।

पूर्वजन्म की स्मृति से, तीर्थंकर से प्रश्न का उत्तर पाकर या किसी अतिशय ज्ञानी से सुनकर तीर्थंकरों के वचन से विभिन्न दार्शनिकों के वाद को जानना चाहिए ।

णिद्देसं णातिवत्तेज्ज मेहावी,
सुपडिलेहिय सव्वओ सव्वताए सम्ममेव समभिजाणिया ।

मेधावी भगवदाज्ञा का अतिक्रमण न करे ।
किन्तु सब प्रकार से भली भांति विचार करके सम्पूर्ण रूप से सम्यक् पालन करे ।

इह आरामं परिण्णाय अल्लीणगुत्तो परिव्वए निट्ठियट्ठी वीरे आगमेणं सदा परक्कमेज्जासि ।
—आ सु. १, अ ५, उ ६, सु १७२-१७३

इस जिनशासन में संयम को स्वीकार कर सर्व प्रकार से आत्मगुप्त होकर विचरण करे, तथा मोक्षाभिलाषी वीर मुनि सदा आगम निर्दिष्ट आदेश के अनुसार ही पराक्रम करे ।

अकम्मस्स ववहारो ण विज्जति ।

कर्मों से मुक्त आत्मा के लिए कोई व्यवहार अर्थात् संसार भ्रमण नहीं होता ।

कम्मुणा उवाही जायति ।

संसार भ्रमण रूप उपाधि (दुःख) कर्म से ही होती है ।

कम्मं च पडिलेहाए कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्व समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे।

अतः कर्म का भली भांति पर्यालोचन करे तथा कर्म का मूल हिंसा आदि है, उनका भी भली भांति निरीक्षण करके संयम ग्रहण करे तथा राग और द्वेष दोनो से दूर होकर रहे।

तं परिण्णाय मेहावी विदित्ता लोगं वंता लोगसण्णं से मतिमं परक्कमेज्जासि।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. १, सु. ११०-१११

इस प्रकार सम्यग् परिज्ञान कर मतिमान साधक लोक को जानकर लोकसंज्ञा का त्याग करके संयम तप में सम्यक् पराक्रम करे।

महेसिस्स परक्कमं—

८०४. अवरेण पुव्वं ण सरंति एगे,

किमस्स तीतं किं वाऽऽगमिस्सं ?

भासंति एगे इह माणवा तु,

जमस्स तीतं तं आगमिस्सं॥

णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं,

अट्ठं णियच्छंति तथागता उ।

विधूतकप्पे एताणुपस्सी,

णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२४

महर्षि का पराक्रम—

८०४ कुछ अज्ञानी पूर्व या पश्चात् काल का स्मरण नही करते। वे इसकी चिन्ता नही करते कि—'इसका अतीत क्या था, भविष्य क्या होगा ?' अर्थात् भूत भविष्य मे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते।

कुछ अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि—"जो अतीत मे जैसा होता है भविष्य मे भी वैसा ही बनता है" किन्तु सर्वज्ञो का सिद्धांत यह है कि "अतीत की अवस्था वर्तमान मे होने का और वर्तमान की अवस्था ही भविष्य में होने का नियम नही है अर्थात् कर्मानुसार अवस्था परिवर्तित होती है।' इस सिद्धांत का विचार कर विधूत कल्प (संयम) मे उपस्थित महर्षि सम्पूर्ण कर्म क्षय कर मोक्ष प्राप्त करता है।

परिग्गह परिच्चाए अपमत्तस्स परक्कमं—

८०५ से सुपडिबुद्धं सुवणीयं ति णच्चा पुरिसा! परमचक्खू! विपरिक्कम। एतेसु चेव बंभचेरं।

परिग्रह के परित्याग मे अप्रमत्त का पराक्रम—

८०५ वह परिग्रह से विमुक्त मुनि सम्यक् प्रकार से प्रतिबुद्ध है उसी का संयम परिपुष्ट है यह जानकर, हे परम चक्षुष्मान पुरुष! तूं परिग्रह त्याग मे सम्यक् पराक्रम कर, ऐसा पराक्रम करने वाले मे ही ब्रह्मचर्य (संयम) स्थित रहता है।

से सुतं च मे अज्झत्थियं च मे—"बंधपमोक्खो अज्झत्थेव।"

मैंने सुना है और अनुभूत किया है कि "बन्धन से मुक्ति संयमी आत्मा द्वारा ही सम्भव है।"

एत्थ विरते अणगारे दीहरायं तितिक्खए।

इस परिग्रह से विरत अनगार परीषहो को जीवन पर्यन्त सहन करे।

पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए।

जो प्रमत्त है, उन्हे निर्ग्रन्थ धर्म से बाहर समझ। अतएव मुनि अप्रमत्त होकर संयम मे विचरण करे।

एयं मोणं सम्मं अणुवासेज्जासि।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. २, सु. १५५-१५६

इस प्रकार पराक्रम द्वारा मुनि धर्म का सम्यक् पालन करे।

कम्म भेयणे परक्कमं—

८०६ से वंता कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं उवरतसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ४, सु. १२८

कर्म भेदन मे पराक्रम—

८०६ संयमनिष्ठ मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करे, हिंसा से उपरत तथा समस्त कर्मों का अन्त करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर प्रभु का यह कथन है कि—'जो कर्म बन्ध के कारणों का निरोध करता है, वही स्वकृत कर्मों का नाश करने वाला है।'

कसाय पयणुकरणे परक्कमो—

८०७ इह आणाकंखी पंडिते अणिहे, एगमप्पाणं सपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं। जहा जुन्नाइ कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थति एवं अत्तसमाहिते, अणिहे।

विगिंच कोहं अविकंपमाणे, इमं निरुद्धाउयं सपेहाए। दुक्खं च जाण अदुवा गमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे। लोयं च पास विप्फंदमाणं।

जे णिव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं, अणिदाणा ते वियाहिता। तम्हाऽतिविज्जो णो पडिसंजलेज्जासि।

—आ सु १, अ. ४, उ ३, सु १४१-१४२

कषायो को कृश करने का पराक्रम—

८०७ इस वीतराग आज्ञा का आकांक्षी पण्डित मुनि अनासक्त होकर एकमात्र आत्मा को देखता हुआ कार्मण शरीर को प्रकम्पित कर डाले। अपने कषाय-आत्मा को कृश करे, जीर्ण कर डाले। जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला डालती है, वैसे ही समाहित आत्मा स्नेह रहित होकर तप रूप अग्नि से कर्म-शरीर को जला कर नष्ट कर डाले।

मनुष्य जीवन अल्पायु है यह विचार करता हुआ साधक स्थिर चित्त होकर क्रोध का त्याग करे। वर्तमान मे अथवा भविष्य मे क्रोध से उत्पन्न होने वाले दु खो को जाने। क्रोधी पुरुष भिन्न-भिन्न नरकादि मे विभिन्न दु खो का अनुभव करता है। ससार के प्राणी दु खो से संत्रस्त होकर इधर-उधर भटक रहे हैं उन्हे तू देख!

जो पुरुष पापकर्मो से निवृत्त हैं, वे अनिदान (दु ख रहित) कहे गये हैं। इसलिए विद्वान पुरुष! विषय-कषाय की अग्नि से प्रज्वलित न होवे।

बंधण विमुत्तिए परक्कम—

८०८ बुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया।
किमाह बंधणं वीरे? किं वा जाणं तिउट्टई॥

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवी।
अन्नं वा अणुजाणाति, एवं दुक्खा ण मुच्चई॥

सयं तिवायए पाणे, अदुवा अण्णेहिं घायए।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढेति अप्पणो॥

जस्सि कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे णरे।
ममाति लुप्पती बाले, अन्नमन्नेहिं मुच्छिए॥

वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेतं न ताणए।
संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टति॥

एए गंथे विउक्कम्म, एगे समण-माहणा।
अयाणंता विउस्सिता, सत्ता कामेहिं माणवा॥

—सूय सु १, अ. १, उ १, गा १-६

बन्धन से मुक्त होने का पराक्रम—

८०८ बोधि को प्राप्त करो और बन्धन को जानकर उसे तोड डालो। शिष्य पूछता है कि—'महावीर स्वामी ने बन्धन किसे कहा है? किस तत्व को जान लेने पर उसे तोडा जा सकता है?'

जो मनुष्य चेतन या अचेतन पदार्थों मे तनिक भी परिग्रह-बुद्धि रखता है और दूसरो के परिग्रह का अनुमोदन करता है वह दु ख से मुक्त नही हो सकता।

जो परिग्रही मनुष्य प्राणियो का स्वय हनन करता है, दूसरो से हनन करवाता है अथवा हनन करने वाले का अनुमोदन करता है वह अपने वैर को बढाता है।

जो मनुष्य जिस कुल मे उत्पन्न होता है और जिनके साथ निवास करता है वह उनमे ममत्व रखता है। इस प्रकार परस्पर होने वाली मूर्च्छा से मूर्च्छित होकर वह अज्ञानी नष्ट होता रहता है।

धन और भाई-बहन ये सब रक्षा करने मे समर्थ नही हैं तथा जीवन भी क्षणभगुर है यह जानकर मनुष्य कर्म के बन्धन को तोड डालता है।

कुछ श्रमण ब्राह्मण इन उक्त धन-परिवार का परित्याग कर देते हैं किन्तु विरति और अविरति के स्वरूप को नही जानते हुए भी गर्व करते हैं। वे अज्ञानी पुरुश कामभोगो मे आसक्त हो जाते हैं।

लोगण्णू एव अत्तण्णू—

८०९ लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं ।

से बेमि-णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा ।

जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति, जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति ।[1]

—आ. सु. १, अ. १, उ. ३, सु. २२

लोकज्ञ ही आत्मज्ञ—

८०९ मुनि अप्काय रूप लोक को भगवान की आज्ञा से जानकर उन्हें किसी भी प्रकार का भय उत्पन्न न करे ।

मैं कहता हूँ—'मुनि स्वयं अप्कायिक जीवों के अस्तित्व का निषेध न करे । न अपनी आत्मा का अपलाप करे ।'

जो अप्काय रूप लोक का अपलाप करता है, वह वास्तव में अपना ही अपलाप करता है । जो अपना अपलाप करता है, वह अप्काय रूप लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ।

आयावाइस्स सम्मं परक्कमं—

८१० जे आया से विण्णाता, जे विण्णाता से आया ।
जेण विजाणंति से आया ।
तं पडुच्च पडिसंखाए ।

एस आयावादी समियाए परियाए वियाहिते ।

—आ. सु. १, अ. ५, उ. ५, सु. १७१

आत्मवादी का सम्यक् पराक्रम—

८१०. जो आत्मा है वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वही आत्मा है, क्योंकि स्व-पर को जानता है इसलिए वह आत्मा है ।

उस ज्ञान की विभिन्न परिणतियों की अपेक्षा से आत्मा की पहचान होती है ।

इस प्रकार जो आत्म स्वरूप का ज्ञाता है उसी का संयम पर्याय सम्यक् कहा गया है ।

णाणाइ सहियस्स परक्कमं—

८११ सहिते धम्ममादाय सेयं समणुपस्सति ।

दुहतो जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जंसि एगे पमायति ।

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए ।

पासिमं दविए लोगालोगपवंचातो मुच्चति ।

—आ. सु. १, अ. ३, उ. ३, सु. १२७

ज्ञानादि से युक्त मुनि का पराक्रम—

८११ ज्ञानादि से युक्त साधक धर्म को ग्रहण करके आत्म हित का सम्यक् प्रकार से अवलोकन करता है ।

राग और द्वेष से कलुषित कई एक प्राणी जीवन निर्वाह के लिये वन्दना सम्मान और पूजा के लिए हिंसादि प्रमाद कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं ।

ज्ञानादि से युक्त साधक दुःख के अनेक प्रसंग उपस्थित होने पर व्याकुल नहीं होता ।

अतः हे शिष्य ! तू देख कि—'ऐसा संयमी साधक इस भव और परभव के समस्त प्रपंचों से मुक्त हो जाता है ।'

समाही कामी समणस्स परक्कमं—

८१२. जहा य अण्डप्पभवा बलागा, अण्डं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हं, मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयन्ति ।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाई ॥

समाधि के इच्छुक श्रमण का पराक्रम—

८१२ जैसे बगुली अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बगुली से उत्पन्न होता है उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है' ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं ।

राग और द्वेष ये दोनों ही कर्म के बीज हैं । कर्म मोह से उत्पन्न होता है और कर्म ही जन्म मरण का मूल है । जन्म-मरण ही दुःख का मूल है ऐसा ज्ञानी पुरुष कहते हैं ।

जिसके मोह नहीं है उसने दुःख का नाश कर दिया । जिसके तृष्णा नहीं है उसने मोह का नाश कर दिया । जिसके लोभ नहीं है उसने तृष्णा का नाश कर दिया । जिसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है उसने लोभ का नाश कर दिया ।

---

1 आ. सु. १, अ. १, उ. ४, सु. ३२ ।

राग च दोस च तहेव मोह, उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा, ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं ॥
—उत्त अ ३२, गा ६-९

राग-द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन-जिन उपायो को स्वीकार करना चाहिए उन्हे मैं क्रमश कहूगा ।

जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना,
न तेसु भाव निसिरे कयाइ।
न या मणुन्नेसु मण पि कुज्जा,
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥
—उत्त. अ. ३२, गा. २१

समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियो के जो मनोज्ञ विषय हैं उनमे कभी भी राग न करे और अमनोज्ञ विषयो मे मन से भी द्वेष न करे।

संजमे परक्कंतस्स विमुत्ति—

८१३. एव ससकप्प-विकप्पणासुं,
संजायई समयमुवट्ठियस्स।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से,
पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥
स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरण खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ ज चन्तरायं पकरेइ कम्मं ॥

सव्व तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरन्तराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥
सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को,
ज वाहइ सयय जन्तुमेयं।
दीहामयविप्पमुक्को पसत्थो,
तो होइ अच्चतसुही कयत्थो ॥
अणाइकालप्पभवस्स एसो,
सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
वियाहिओ ज समुविच्च सत्ता,
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥
—उत्त. अ. ३२, गा. १०७-१११

संयम मे पराक्रम करने वाले की मुक्ति—

८१३. इस प्रकार राग-द्वेषात्मक संकल्प-विकल्पो से निवृत्त होने पर मन मे समता उत्पन्न होती है तथा इन्द्रिय विषयो के प्रति सकल्प-विकल्प के न रहने से काम गुणो मे होने वाली तृष्णा भी नष्ट हो जाती है।

फिर वह वीतराग बना हुआ जीव पूर्ण कृतकृत्य होकर क्षण भर मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय कर देता है।

तत्पश्चात् वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है तथा मोह और अन्तराय से रहित हो जाता है। अन्त मे वह सम्पूर्ण आश्रव रहित होकर ध्यान के द्वारा समाधि मे लीन बन कर कर्म मल से शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

वह मुक्त जीव संसार मे प्राणियो को सतत पीडित करने वाले सम्पूर्ण दु खो से रहित हो जाता है तथा दीर्घकालीन कर्म-रोग से वह मुक्त हो जाता हैं। वह प्रशस्त और कृतार्थ बना हुआ जीव अत्यन्त सुखी हो जाता है।

अनादिकालीन समस्त दु खो से मुक्त होने का यह मार्ग बताया गया है उसे स्वीकार कर जीव क्रमश पुरुषार्थ कर शाश्वत सुखी हो जाते हैं।

णिम्ममो निरहकारो, वीतरागो अणासवो।
सपत्तो केवल णाण, सासयं परिणिव्वुडे ॥
—उत्त अ ३५, गा. २१

मुनि ममत्व और अहकार से रहित बन कर आश्रव रहित हो जाता है, फिर वीतराग बनकर केवलज्ञान को प्राप्त कर शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है।

तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसजमरयस्स।
परीसहे जिणतस्स, सुलहा सुगइ तारिसगस्स ॥
—दस. अ. ४, गा. २७

जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति, शाति तथा संयम मे रत और परीषहो को जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ है।

अणुत्तरे य ठाणे से,
कासवेण पवेदिते।
ज किच्चा णिव्वुडा एगे,
णिट्ठं पावेंति पंडिया ॥

काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित सयम स्थान सबमे प्रधान हैं। जिस सयम की आराधना करके अनेक महापुरुष अपनी कषायाग्नि बुझाकर शीतल बने हैं और वे पापभीरु मुनि ससार के अन्त को प्राप्त करते हैं।

पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं चावि ण कुव्वइ॥

ण कुव्वई महावीरे,
अणुपुव्वकडं रयं।
रयसा सम्मुहीभूते,
कम्मं हेच्चाण जं मतं॥

जं मतं सव्वसाहूणं,
तं मतं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा,
देवा वा अभविंसु ते॥

अभविंसु पुरा वीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया।
दुण्णिबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिण्णे॥

—सूय. सु. १, अ. १५, गा. २१-२५

धर्म को विदारण करने मे समर्थ वीर्य को प्राप्त करके पण्डितसाधक पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करे और नवीन कर्मबन्ध न करे।

कर्म विदारण करने मे समर्थ धर्मवीर अनादि काल से किये जाने वाले पापकर्म को नही करता है, वह पापकर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किया जाता है। परन्तु वह पुरुष अपने पूर्वकृत पापकर्मों को रोक कर मोक्ष के सम्मुख हो जाता है।

समस्त साधुओ को मान्य जो सयम है, वह कर्मरूप शल्य को काटने वाला है। इसलिए अनेक साधक उस सयम की आराधना करके ससार सागर से पार हुए हैं अथवा वे देव हुए हैं।

प्राचीनकाल मे वहुत से वीर पुरुष हुए हैं और भविष्य मे भी होंगे वे दुर्लभ सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग के अन्त को पाकर तथा दूसरो के सामने उस मार्ग को प्रकाशित करके संसार से पार हुए है।

धम्मस्स परक्कमट्ठा एलग दिट्ठन्तो—

८१४ जहाऽएसं समुद्दिस्स, कोइ पोसेज्ज एलयं।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्ज वि सयंगणे॥

तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए॥
जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही।
अह पत्तंमि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई॥
जहा से खलु उरब्भे, आएसाए समीहिए।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं॥

हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कण्हुहरे सढे॥

इत्थीविसयगिद्धे य, महारम्भपरिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मसं, परिवूढे परंदमे॥

अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे, जहाएसं व एलए॥

आसणं सयणं जाणं, वित्ते कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं॥

धर्म मे पराक्रम के लिए एलक का दृष्टांत—

८१४. जैसे मेहमान के उद्देश्य से कोई बकरे का पोषण करता है। उसे चावल, मूंग, उडद आदि खिलाता है और अपने घर के आगन मे ही उसका पालन करता है।

इस प्रकार वह पुष्ट, बलवान, मोटा, बडे पेट वाला, तृप्त और विपुल देह वाला होकर पाहुने की आकाक्षा करता है।

जब तक पाहुना नही आता है तब तक ही वह बेचारा जीता है। पाहुने के आने पर वह मस्तक छेदन करके खाया जाता है।

जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह बकरा यथार्थ मे उसकी आकाक्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव वास्तव मे नरक के आयुष्य की इच्छा करता है।

हिंसक, अज्ञानी, मृषावादी, मार्ग मे लूटने वाला, दूसरो की वस्तु को हरण करने वाला चोर, मायावी, किसका धन हरण करूँ—ऐसे विचार करने वाला धूर्त—

स्त्री और विषयो मे गृद्ध महाआरम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मास का उपभोग करने वाला, बलवान, दूसरो का दमन करने वाला।

बकरे की भाँति कर्कर शब्द करते हुए मास को खाने वाला, बडे पेट वाला और उपचित लोही वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकाक्षा करता है जिस प्रकार मेमना पाहुने की।

आसन, शयन, यान, धन और विषयो को भोगकर दुःख से एकत्रित किये हुए धन का परित्याग कर बहुत कर्मों को सचित करता है।

तओ कम्मगुरु जन्तू, पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे, मरणतम्मि सोयई ॥

तओ आउपरिक्खीणे, चुया देहा विहिंसगा ।
आसुरिय दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तम ॥
—उत्त अ. ७, गा १-१०

कर्मों से भारी बना हुआ एव वर्तमान सुखो मे तल्लीन वह जीव मरणान्त काल मे उसी प्रकार शोक करता है जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना ।

फिर आयु क्षीण होने पर वे नाना प्रकार की हिंसा करने वाले अज्ञानी जीव देह छूटने पर परवश होकर अन्धकारपूर्ण नरक मे जाते हैं ।

धम्मस्स परक्कमट्ठा अबकागिणी दिट्ठन्तो—

८१५ जहा कागिणिए हेउं, सहस्स हारए नरो ।
अपत्थ अम्बग भोच्चा, राया रज्ज तु हारए ॥

एव माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए ।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥

अणेगवासानउया जा सा पन्नवओ ठिई ।
जाइ जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए ॥
—उत्त अ ७, गा ११-१३

धर्म मे पराक्रम के लिए काकिणी और आम्र का दृष्टात—

८१५. जैसे कोई मनुष्य काकिणी के लिए हजार मोहरो को गंवा देता है और जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खाकर राज्य से हाथ धो बैठता है ।

इसी प्रकार देव सम्बन्धी कामभोगो के सामने मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग भी काकिणी और आम के समान तुच्छ हैं । दिव्य आयु और दिव्य-काम-भोग मनुष्य की आयु और काम-भोगो से हजार गुणा अधिक हैं ।

प्रज्ञावान पुरुष को देवलोक मे अनेक वर्षों की स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्षो से कम जीवन के लिए उन दीर्घकालीन सुखो को हार जाता है ।

धम्मस्स परक्कमट्ठा वणिग-दिट्ठन्तो—

८१६ जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाह, एगो मूलेण आगओ ॥
एगो मूल पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा, एव धम्मे वियाणह ॥
माणुसत्त भवे मूल, लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तण धुवं ॥

दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया ।
देवत्त माणुसत्त च, ज जिए लोलयासढे ॥

तओ जिए सइ होइ, दुविहं दोग्गइं गए ।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि ॥
एवं जिय सपेहाए, तुलिया बालं च पण्डियं ।
मूलिय ते पवेसन्ति, माणुसं जोणिमेन्ति जे ॥

वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥

जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलिय ते अइच्छिया ।
सीलवन्ता सविसेसा, अदीणा जन्ति देवय ॥

धर्म में पराक्रम के लिये वणिक का दृष्टात—

८१६. जैसे तीन वणिक् पूजी को लेकर निकले । उनमे से एक लाभ प्राप्त करता है, एक मूल धन लेकर लौटता है ।

और एक मूल को भी गवाकर वापस आता है, यह व्यापार की उपमा है । इसी प्रकार धर्म के विषय मे भी जानना चाहिए ।

मनुष्यत्व यह मूलधन है और देवगति लाभ रूप है अत. मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यंच गति मे जाते हैं ।

अज्ञानी जीव की ये दो प्रकार की गति होती हैं, वहाँ उसे वध बन्धन आदि कष्ट प्राप्त होते हैं । वह लोलुप और वंचक पुरुष देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार जाता है ।

द्विविध दुर्गति मे गया हुआ जीव सदा हारा हुआ होता है । उसका उनसे बाहर निकलना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है ।

इस प्रकार हारे हुए को देखकर तथा बाल पण्डित की तुलनाकर जो मानुषी योनि मे आते हैं वे मूलधन के साथ प्रवेश करते हैं ।

जो मनुष्य विविध परिणाम वाली शिक्षाओ द्वारा घर मे रहते हुए भी सुव्रती हैं, वे मानुषी योनि मे उत्पन्न होते हैं, क्योकि प्राणी अपने किये हुए कर्म का फल अवश्य पाते हैं ।

जिनके पास विपुल शिक्षा है, वे शील-सम्पन्न और उत्तरोत्तर गुणो को प्राप्त करने वाले पराक्रमी अदीन पुरुष मनुष्यत्व का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त होते हैं ।

एवमदीणवं भिक्खुं अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं, जिच्चमाणे न संविदे॥
—उत्त. अ ७, गा. १४-२२

इस प्रकार भिक्षु और गृहस्थ के पराक्रम-फल को जानकर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोएगा? वह कषायो के द्वारा पराजित होता हुआ क्या यह नही जानता कि मैं पराजित हो रहा हूँ। यह जानते हुए उसे पराजित नही होना चाहिए।

धम्मस्स परक्कमट्ठा दिव्व मणस्स भोग तुलणा —

धर्म मे पराक्रम के लिये दिव्य मानुषिक भोग की तुलना—

८१७ जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए॥

८१७. मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग देव सम्बन्धी काम-भोगो की तुलना मे वैसे ही हैं, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-विन्दु की समुद्र से तुलना करता है।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे॥

इस अति-संक्षिप्त आयु मे वे काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-विन्दु जितने हैं फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योग-क्षेम को नही समझता?

इह कामाऽणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई॥

इस मनुष्य भव मे काम-भोगो से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। वह पार ले जाने वाले वीतराग मार्ग को सुनकर भी बार बार भ्रष्ट होता है अर्थात् जन्म मरण करता है।

इह कामणियट्टस्स, अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेणं भवे देवे त्ति मे सुयं॥

इस मनुष्य भव मे काम-भोगो से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म प्रयोजन नष्ट नही होता है। वह औदारिक शरीर का निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है।

इड्ढी जुई जसो वण्णो, आउं सुहमणुत्तरं।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु, तत्थ से उववज्जई॥
—उत्त. अ. ७, गा. २३-२७

(देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, यश, वर्ण, आयु और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य—कुलो मे उत्पन्न होता है।

धम्मस्स परक्कमट्ठा उवएसो—

धर्म मे पराक्रम के लिए उपदेश -

८१८. बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जइ॥

८१८ तू अज्ञानी जीव की मूर्खता को देख कि वह अधर्म को ग्रहण करता है। और धर्म को छोडकर अधर्मिष्ठ बन कर नरक मे उत्पन्न होता है।

धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई॥

सब धर्मों का पालन करने वाले धीर पुरुष की धीरता को देख कि वह अधर्म को छोडकर धर्मिष्ठ बनकर देवो मे उत्पन्न होता है।

तुलियाण बालभावं, अबालं चेव पण्डिए।
चइऊण बालभावं, अबालं सेवए मुणि॥
—उत्त. अ ७, गा. २८-३०

पण्डित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलना करके बाल-भाव को छोडकर अबाल-भाव का सेवन करता है।

धम्मस्स परक्कम कालो—

धर्म मे पराक्रम का समय—

८१६ जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविन्दिया न हायन्ति, ताव धम्मं समायरे॥
—दस, अ. ८, गा. ३५

८१६ जब तक बुढापा पीडित न करे, व्याधि न बढे और इन्द्रियाँ क्षीण न हो तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।



वीतराग-भाव—७

वीयरागभाव परूवण—

८२०. मणस्स भाव गहण वयन्ति,
तं रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउ अमणुन्नमाहु,
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥
भावस्स मण गहण वयन्ति,
मणस्स भावं गहण वयन्ति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु,
दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥
भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणास।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे,
करेणुमग्गाऽवहिए व नागे ॥
जे यावि दोसं समुवेइ तिव्व,
तसिक्खणे से उ उवेइ दुक्ख।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू,
न किंचि भावं अवरज्झई से ॥
एगन्तरत्ते रुइरसि भावे,
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले,
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥
भावाणुगासाणुगए य जीवे,
चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले,
पीलेइ अत्तट्ठगुरु किलिट्ठे ॥
भावाणुवाएण परिग्गहेण,
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुह से ?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥
भावे अतित्ते य परिग्गहे य,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स,
लोभाविले आइयई अदत्त ॥
तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो,
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुस वड्ढइ लोभदोसा,
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

वीतराग भाव की प्ररूपणा—

८२०. मन के विषय को भाव (अभिप्राय) कहते हैं। जो भाव राग का हेतु है उसे मनोज्ञ कहा है जो द्वेष का हेतु है उसे अमनोज्ञ कहा है। इन दोनो में जो समभाव रखता है वह वीतराग होता है।

भाव के ग्रहण करने वाले को मन कहते हैं, मन से ग्रहण होने वालो को भाव कहते हैं। राग के हेतु को समनोज्ञ कहा है, द्वेष के हेतु को अमनोज्ञ भाव कहा है।

जिस प्रकार हथिनी के पथ मे आकृष्ट काम-गुणो मे गृद्ध बना हुआ हाथी दुःखी होता है। उसी प्रकार जो मनोज्ञ भावो मे तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल मे ही विनाश को प्राप्त होता है।

जो अमनोज्ञ भाव से तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है इस प्रकार स्वय के ही तीव्र द्वेष से प्राणी दुःखी होता है किन्तु उसके दुःखी होने में भाव का कोई अपराध नही है।

जो मनोहर भाव मे सर्वथा अनुरक्त रहता है और अमनोहर भाव में द्वेष करता है वह अज्ञानी दुःखो की पीडा को प्राप्त होता है। किन्तु विरक्त मुनि उनमे लिप्त नही होता।

मनोहर भाव मे आसक्त जीव अनेक प्रकार के त्रस स्थावर जीवो की हिंसा करता है, वह अपने ही स्वार्थ को प्रमुख मानने वाला क्लेश युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवो को परिताप पहुँचाता है।

भाव मे अनुराग और ममत्व बुद्धि होने से उसके उत्पादन मे, रक्षण करने मे, व्यवस्थित रखने मे और उसके विनाश या वियोग होने पर वह कैसे सुखी हो सकता है ? उसके उपयोग के समय भी तृप्ति न होने के कारण उसे दुःख ही होता हैं।

जो भाव मे अतृप्त है और उसके परिग्रहण मे अत्यन्त आसक्त है, उसे कभी सन्तुष्टि नही हो सकती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी बना हुआ मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर दूसरो की वस्तुएँ चुरा लेता है।

वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण मे अतृप्त होता है। अतृप्ति दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है तथा माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नही होता।

मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य,
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो,
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

असत्य बोलने के पहले और पीछे तथा बोलते समय भी जीव दुःखी होता है। इसी प्रकार वह भाव में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ भी आश्रयहीन होकर दुःखी होता है।

भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं,
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं,
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

इस प्रकार भाव में अनुरक्त पुरुष को किंचित् भी सुख कब और कैसे हो सकता है? मनोज्ञ भावों को पाने के लिए वह दुःख उठाता है, उनके उपभोग में भी उसे अतृप्ति का क्लेश और दुःख बना ही रहता है।

एमेव भावम्मि गओ पओसं,
उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

इसी प्रकार जो भाव से द्वेष रखता है वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेष युक्त चित्त से वह जिन कर्मों का बन्ध करता है, वे कर्म भी उदय काल में उसके लिए दुःख रूप होते हैं।

भावे विरत्तो मणुओ विसोगो,
एएण दुक्खोहपरम्परेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥
—उत्त. अ. ३२, गा. ८७-९९

किन्तु जो पुरुष भाव से विरक्त होता है वह शोक-मुक्त हो जाता है जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह संसार में रहते हुए भी इन दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

एविन्दियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥

इस प्रकार इन्द्रिय और मन के विषय, रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किंचित् भी दुःखदायी नहीं होते।

न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और वे विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगं पुमित्थिवेयं,
नपुंसवेयं विविहे य भावे॥
आवज्जई एवमणेगरूवे,
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे,
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से॥

जो काम-गुणों में आसक्त होता है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद तथा हर्ष विषाद आदि विविध भावों और इसी प्रकार के अनेक रूपों को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त और भी उनसे उत्पन्न अन्य परिणामों को प्राप्त होता है जिससे वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।

कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू,
पच्छाणुतावेय तवप्पभावं।
एवं वियारे अमियप्पयारे
आवज्जई इन्दियचोरवस्से॥

यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा—इस लिप्सा से कल्पयोग्य शिष्य की भी इच्छा न करे। संयम तप का कोई प्रभाव न देख कर पश्चात्ताप न करे। क्योंकि इस प्रकार के विकल्प करने वाला इन्द्रिय रूपी चोरों का वशवर्ती बना हुआ अनेक प्रकार के विकारों को प्राप्त होता है।

तओ से जायन्ति पओयणाइ,
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्खविमोयणट्ठा,
तप्पच्चय उज्जमए य रागी ॥
विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था,
सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा,
निव्वत्तयती अमणुन्नयं वा ॥
—उत्त. अ. ३२, गा. १००-१०६

विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह रूपी सागर मे डुबोने वाले विषय-सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते हैं। फिर वह सुख की प्राप्ति और दुःख के विनाश के लिए अनुरक्त बनकर उन विषयो सयोगो की पूर्ति के लिए उद्यम करता है।

जितने शब्द आदि इन्द्रिय-विषय है, वे सब मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ हो, विरक्त मनुष्य के मन मे कुछ भी विकार उत्पन्न नही करते ।

कम्मणिज्जरा फल —

८२१. प०—वोदाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वोदाणेण अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।
—उत्त. अ २९, सु ३०

कर्म निर्जरा का फल—

८२१. प्र०—भन्ते ! व्यवदान (पूर्व सचित कर्म विनाश) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उ०—पूर्वकृत कर्म के क्षय से जीव अक्रिय हो जाता है, अक्रिय होने के पश्चात् जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखो का अन्त करता है।

वीयरागया-फल—

८२२. प०—वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उ०—वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि, तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिन्दइ, मणुण्णा मणुन्नेसु सद्दफरिसरसरूवगंधेसु चेव विरज्जइ। —उत्त. अ. २९, सु ४७

वीतरागता का फल—

८२२. भन्ते ! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वीतरागता से वह स्नेह के अनुबन्धनो और तृष्णा के अनुबन्धनो का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त हो जाता है।

उवसंहारो—

८२३. एवं उदाहु निग्गथे, महावीरे महामुणी ।
अणतणाणदंसी से, धम्मं देसितव सुतं ॥
—सूय. सु. १, अ ६, उ. ४, गा २४

उपसंहार—

८२३ अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर ने श्रुतधर्म का उपदेश दिया।



॥ चरणानुयोग समाप्त ॥

सर्व सूत्र सख्या १८२३ पर समाप्त

परिशिष्ट

- संकलन में प्रयुक्त आगमों के सन्दर्भ स्थल
- शब्द सूची
- सहायक ग्रन्थ सूची

संकलन में प्रयुक्त आगमों के सन्दर्भ स्थल

चरणानुयोग : भाग १

मंगलाचरण

सूत्रकृतांग सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	गा
४-७	१	६	१-२९

भगवती सूत्र

पृष्ठ	स	उ	सु
१	१	१	१
९	१	१	१
९	१	१	३
९	१७	१	१
९	२६	१	१
७	४१	१९६	२
९	अंतिम सूत्र- १		
९	अतिम सूत्र- १-२		
९	अतिम सूत्र-		
७	अंतिम सूत्र-		

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र

१	टि	व १	१

सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र

पृष्ठ	पा		सु
१	१		१
४	२०	१०७	गा ६

चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र

पृष्ठ	पा	गा
४	१	१
१	१	१
१	१	२

प्रज्ञापना सूत्र

पृष्ठ	पद	गा
४	१	१

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ	सु
१०	२९	११
१०	२९	१२
१०	२९	१६

नंदी सूत्र

पृष्ठ	गा
४	१-३
७-८	४-१७
३	१८-१९
७	२०-२१
७	२२

आवश्यक-सूत्र

पृष्ठ	अ	सु
१	१	१
१	१	१
३	२	३-९
१-२	४	१२-१४

धर्म प्रज्ञापना

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सु
३६	१	२	३	७७
३६	१	३	१	१०८
३३	१	४	१	१३२-१३३
३४	१	४	१	ख १३३
परि. (७३९)				
३०	१	५	३१५७	
(ख-ग)				
३५	१	६	२	१८४ (क)
३१	१	६		१८५
(ख)				
३७	१	६	३	१८९ (क)
३५	१	६	४	१९१
४०	१	८	१२०२	
(ग-घ)				
परि. (७३९) ३० टि. १८			३	२०९ (ख)
३५	१	८	८	२३०
परि. ७३९ १५	२	१५ ,	-	७७५

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	गा
४१	१	२	२	२३-२४
३६	१	२	२	२५-२८
३५	१	२	२	२६
३५	१	२	२	२८
३५	१	२	२	२९-३०
३६	१	२	२	३१-३२
३७	१	३	३	२१ (क)
३५	१	३	४	१५
३५	१	८	-	१३-१४
१५	१	९	-	१
३०	१	१५	-	४-५
४२	१	१५	-	१५-१७
४२	१	१५	-	१९-२०
४५	२	५	-	१४

ठाणांग-सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सु
३७	२	१	५४
३७	२	१	५५
३०	२	१	६१
परि (७३९) ३०	२	१	७८
४८-४९	३	१	१४३
१५	३	२	१६१
४०	३	२	१६३ (१)
४०	३	२	१६३ (२)
४६	३	३	१९१ (१—७)
४५	३	३	१९४ (२)
३१	३	३	१९४(१)
परि (७३९) ३१	३	४	१९८ (२-३)
४५	३	४	२१६
३१	३	४	२१७
४९-५०	४	३	३१९(५१-५३)
टि ३१	४	४	३७२
टि ३१	५	१	३९६ (३-४)
टि ३१	५	१	४००
४५	५	३	४४७
४२	६		४८५
१६	६		५३७
३१	१०		७१२ (२)
३१	१०		७६०

समवायांग सूत्र

टि पृ ३१	सम १०	सु १

२

भगवती सूत्र (विवाह प्रज्ञप्ति)

पृष्ठ	स	उ	सु
१५-१६	१	१	१०
टि ३९	१	४	१२-१५
४०	१	४	१६-१८
टि ३९	५	५	१
टि ४०	७	८	१
३७	९	३१	२
टि ३८	९	३१	१३
३८-३९	९	३१	३२
४६-४८	१७	२	१-९
३५	२०	८	१६

उपासकदसा-सूत्र

पृष्ठ	
१५ टि	सु ९

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	सु
३१	२	५	९

उववाइय-सूत्र

पृष्ठ	उ	सु
११-१५		१६
१५		५६

रायप्रश्नीय-सूत्र

पृष्ठ	
४३	सु २३४

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ		
३४	अ १	गा १

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
४९	१	४२
टि ४२	३	१
४२-४३	३	२-७
४३	३	८
४४	३	९-१०
३३-३४	३	१२-२०
४१	५	१४-१५
४४	१०	४-२०
४१	१४	२४
४१	१४	२५
३४	१६	१७
३४	१६	१९
४१-४२	१९	१९-२४
टि ३७	२३	६५-६८
३०	२९	५
३३	२९	२८-२९
३२	२९	४४
३२	२९	४८-५१
३२	२९	५२-५४
टि ३१	३१	१०

अनुयोगद्वार-सूत्र

पृष्ठ	सु
१६	२०७
१७	४२७
१८	४३५
१८	४३६-४३९
१८	४२०-४५७
२१	४५८-४६६
२२	४६७-४६८
२३	४७१
२३-२४	४७२
२४	४७३
२४-२५	४७४
२५-२६	४७५
२७-२९	४७६

व्यवहार-सूत्र

पृष्ठ	उ	सु
टि ५०	१०	११-१३

निशीथ-सूत्र

पृष्ठ	उ	सु
५०	११	९
५०	११	१०

आचार प्रज्ञप्ति

ठाणांग-सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सु
टि ५१	२	३	७६ (१-४)
टि ५३	२	४	११५ (१)
टि ५३	२	४	११५ (२)
टि ५३	२	४	११५ (३)
टि ५३	२	४	११५ (४)
५३	३	२	१६४ (१)
५३	३	२	१६४ (२)
५३	३	२	१६४ (३)
५३	३	२	१६४ (४)
५१	३	४	
	१९८-(८-११)		
५१	५	१	४१० (९)
५१	५	२	४३२

भगवती सूत्र

५२-५३ स.८ उ १० सु १०-१८

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	गा
परि (७४०) ५१	६		१-६
५१	८	-	१
५३	९	४	११-१२

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
५१	२८	१-३
५१	२८	३५

बृहत्कल्प-सूत्र

पृष्ठ	उ	सु
५४	६	२०

ज्ञानाचार

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु	अ.	उ	सु
८७	१	६	३	१९०-१९१
८८	१	६	३	१८९
टि १११	निर्युक्ति			गा २८३
१११	टि १	९		
५५	१	१	१	गा ७ टीका
६४	२	९	२	१२

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	गा
१११	१	२	१	१५
१११	१	११		३५
१११	१	१३		२-४
९२-९३	१	१३		६-७
१०३-१०५	१	१४		१-१३
७७	१	१४		७
१०६	१	१४		१५-१७
१०६-१०८	१	१४		१८-२४
१०८	१	१४		२५-२७
११२	१	१४		२६
११२	१	१४		२७

ठाणांग-सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सु
६१	२	१	५३
परि (७४०)			
५६	२	१	५४-५५ (७)
टि १११	२	३	८४
५५-५६	३	२	१६३ (१-८)
५५	३	२	१६३
(१३-१४)			
१२२	३	३	१७७
१०९	३	३	१७७
८७	३	३	१९३ (६)
टि १०२	३	३	१९५
टि ८९	३	४	२०८
१२३	३	४	२१८ (१)
१२३	३	४	२१८ (२)
१२३	३	४	२१८ (३)
१२३	३	४	२१९
टि ६०	३	४	२२०
टि १११	४	१	२३५
११८	४	१	२३६ (६)
११८	४	१	२३६ (१६)
१२२	४	१	२३६ (२)
११९	४	१	२३९
११९	४	१	२४१ (६)
११९	४	१	२४१(१६)
टि १११	४	१	२५१
८०-८१	४	१	२५६ (५,९)
परि (७४१) ८०	४	१	२५६ (६-८)
१२०	४	१	२५६ (१०)
१२०	४	१	२५६ (११)
१२०	४	१	२५६ (१२)
१२०	४	१	२५६ (१३)
१२२	४	१	२५६ (१४)
११९	४	२	२७९ (१)
११९	४	२	२८० (२)
११४	४	२	२८३ (१)
११४	४	२	२८४ (१)
११५	४	२	२८४ (२)
६३	४	२	२८५ (१)
६३	४	२	२८५ (२)
६३	४	२	२८५(३)
१०१	४	३	३१९ (४३)
११७	४	३	३१९ (८)
११७	४	३	३१९ (४)
११८	४	३	३१९ (५)
११८	४	३	३१९ (९)
१२२	४	३	३१९ (२५)
१२२	४	३	३१९ (३०)
१२२	४	३	३१९ (३७)
१२२	४	३	३१८ (३४)
टि ७०	४	३	३२०
११४	४	३	३२७ (२)
११४	४	३	३२७ (७)
११५	४	३	३२७ (१४)
११७	४	२	३२७ (८-९
११३	४	४	३४४ (३-६)
१०१	४	४	३४८
१०१	४	४	३४९
११६	४	४	३५२ (४-५)
१२१	४	४	३६० (१)

१२१	४	४	३६० (२)
१२१	४	४	३६० (३)
१२१	४	४	३६० (४)
१२१	४	४	३६० (५)
११६	५	१	३९४ (१)
११६	५	१	३९४ (२)
११८	५	२	४२०
१२३	६		४९९ (१-३)
टि ८०	७		५८५
टि १११	७		५८७
६५	१०		७१४ (२)
६७-६८	१०		७१४ (१)
६६	१०		७१८
टि ६०	१०		७४६
१२३	१०		७८१

समवायांग-सूत्र

पृष्ठ	सम	सु
टि ९६	३३	१
१२३	१०	१२

भगवती-सूत्र

पृष्ठ	स	उ	सु
१०२	२	५	२६
१०२	५	६	१९
८९	८	८	१-७
५६	९	३१	८
५६	९	३१	१३
५८	९	३१	१४
५६	९	३१	३२
६६	९	३३	-
टि ६१	१७	३	१
टि ८०	२५	७	२१९-२३४

ज्ञाताधर्म कथा-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ
६१	१	६

उववाइय-सूत्र

पृष्ठ	सु
७५-८०	३०(२३-३४)

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	गा
५८	४		३३-३४
५९	४		३५-३६
५९-६१	४		३७-४८
८१	८		३३
७०	८		४०
८३	८		४३
८४	८		४६
७१	९	१	१
९८	९	१	२-१०
१०२	९	१	११
१०२	९	१	१२-१३
१००	९	१	१४-१६

१००	९	१	१७
७२	९	२	१-२
८९	९	२	३-४
१११	९	२	३
९१	९	२	५-१२
९२	९	२	१३-१८
९०	९	२	१९
९२	९	२	१९
८१	९	२	२०
९२	९	२	(२०)
९२	९	२	२१
९१	९	२	२२-२३
८२	९	३	१-२
८४	९	३	१३
८४	९	३	१४-१५
८५-८६	९	४	सु १६
५५	९	४	७-८

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
७०	१	१
८१	१	२
८६	१	३
८९	१	४-६
८६	१	७
८२	१	८-१०
८३	१	११
८९	१	१२
८२	१	२१
९२	१	१३
८४	१	१४
८३	१	१७
८३	१	१८-१९
८३	१	२०
८२	१	२१
८३	१	२२
८४	१	२३
८४	१	२५
८४	१	२७-२९
८३	१	३०
८५	१	३७
९३	१	३८-३९
८३	१	४०
८५	१	४१
८१	१	४३
८६	१	४५-४८
११०	११	२
९३	११	३
८२	११	४-५
८७	११	६-९
८२	११	१०-१३
१११	११	१४
१०९-११०	११	१५-३२
८६	१७	४-५
६२	२६	११
६२	२६	१२
६२	२६	१९-२०
६२	२६	४४
९०-९१	२७	३-१६
५८	२८	३०

१०३	२९	
६२	२९	[illegible]
५९	२९	[illegible]
५९	२९	[illegible]
टि ६१	२९	[illegible]
७५	३०	[illegible]

दशाश्रुतस्कंध-सूत्र

पृनठ	द	[illegible]
९३-९५	३	१-
७२-७३	४	१५-१
७३-७५	४	२०-२

व्यवहार-सूत्र

पृष्ठ	उ	[illegible]
६२	७	[illegible]
६३	७	[illegible]
६३	७	[illegible]
६३	७	[illegible]
६६	७	[illegible]

वृहत्कल्प-सूत्र

पृष्ठ	उ	स
९३	४	

निशीथ-सूत्र

पृष्ठ	उ	स
९९	१०	१-
९९	१५	[illegible]
९९	१६	[illegible]
६८-६९	१९	८-१
टि ६४	१९	[illegible]
टि ६४	१९	[illegible]

आवश्यक-सूत्र

पृष्ठ	अ	स
टि ६२	४	
टि ६९	४	[illegible]
टि ६८	४	[illegible]
टि ६९	४	[illegible]
९६-९८	४	[illegible]

दर्शनाचार

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सु
१२५	१	२	३	७८
१३५	१	३	२	११२
१३७	१	५	१	१४९

१३५	१	५	३	१६१ (१)
१३५	१	५	३	१६१ (२)
१३८	१	५	५	१६७
टि १२५	१	५	५	१६८
१३१	१	५	५	१६९
१९९	१	५	६	१७६
१३५-१३६	१	६	१	१७८ (क)
१६५	१	६	१	१७८-१८०
परि (७४१)				
१६५	१	८	१	२००-क
परि. (७४१)				
१६५	१	८	१	२००-ग
परि. (७४१)				
१६५	१	८	१	२०१-क

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	गा
१९८	१	१५		१-५
टि १५४	१	१	१	७-८
१६०	१	१	१	९-१०
टि १५०	१	१	१	११-१२
१६०	१	१	१	१३-१४
१६१	१	१	१	१५-१६
१६२	१	१	१	१७-१८
१६३	१	१	१	१९-२७
टि १५९	१	१	२	१-५
१७८-१८०	१	१	२	६-२३
१६८	१	१	२	२४-२९
१६३	१	१	२	३०-३२
१६०	१	१	३	५-१०
टि १५७	१	१	३	६
१६१	१	१	३	११-१२
१६२	१	१	३	१३-१६
१६१	१	१	४	५-८
टि १६५	१	२	३	११-१२
१३०	१	२	३	१९
१९२-१९४	१	३	३	११-२०
१९१-१९२	१	७		१२-२०
१३८	१	९		२८
परि (७४१)				
१७८	१	१०		१६-१७
१९६-१९७	१	११		१-६
१९७	१	११		११-१२
१९४	१	११		२२
१२५	१	११		२३
१९२	१	११		२५-२८
१९५	१	११		२९-३१
१९५-१९६	१	११		३२-३८
१६७	१	१२		१
१८०	१	१२		२
१८१	१	१२		३-४/१
१७०	१	१२		४-१०
१६७	१	१२		११-१७
१७०	१	१२		१८-२२
१९७	१	१५		१-२
१९७	१	१५		३-५
१३०	१	१५		१८
१८२	२	१		६३८
१८२-१८४	२	१		६३९-६४२
१८५	२	१		६४३
१८६-१८७	२	१		६४४-६४५
१४८	२	१		६४६-६४७
१४९-१५३	२	१		६४७-६५३
१५३	२	१		६५४-६५८
१५५-१५७	२	१		६५९-६६२
१५७-१५९	२	१		६६३-६६६
१३८	२	१		६६७-६७१
१४०	२	१		६७२-६७६
१८६	२	१		६९२-६९३
१८७-१९०	२	५		२-२८
१७८	२	५		२९-३२

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
१३१	२	१	५४-५५
१२७	२	१	५९-(२-४)
टि १२७	२	१	५९ (१)
१६४	२	१	५९ (५-क)
१२९	३	२	१६३ (३)
१२९	३	२	१६३ (१५)
टि १२७	३	३	१९० (३)
१२७	३	३	१९०/१
१६३	३	३	१९३
१३०	३	४	२०४ (९)
१३०	३	४	२०४ (१०)
१३२	३	४	२२३ (२)
१३२	३	४	२२३ (१)
२०१	४	१	२३६(७)
२०१	४	१	२३६ (१७)
२००	४	१	२३९
२००	४	१	२४१ (७)
२००	४	१	२४१ (१७)
२०१	४	१	२७१
२०१	४	२	२८०
१२९	५	२	४२६ (१)
१२९	५	२	४२६ (२)
१२९	६	-	४९९ (१-२)
१६७	६		५१२
टि १२७	७		५६५
टि १२७	८		६१९
१६५	१०	-	७३४
टि १२६	१०	-	७५१

भगवती-सूत्र

पृ	स	अ	सु
१२५	१	३	६
टि १२५	१	३	१५ (३)
१३७	१	३	१५
१२९	९	३१	३२
१२८	९	३१	३
१२९	९	३१	१३
१३४	१७	३	२२

दशवैकालिक-सूत्र

पृ	अ	चू.	गा
१४२	२		१
१४२	१०	१०	१-४
१४६	१०	१	१
१४३	१०	१	१-९
१४५	१०	१	१०-११
१४२	१०	१	१२-१४
१४५	१०	१	१५-१८
१४२	१०	२	१-४

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
१७८	६	९-१०
१३०	८	१४-१५
१९४	१०	३१-३४
टि १४१	१३	२३
१३८	१७	१७
१९८-१९९	१८	३२-५४
१४३-१४५	२०	३९-५२
१४२	२२	४४-४५
१९६	२३	६०-६३
१२५	२८	१४-१५
१२६	२८	१६-२७
१३६	२८	२८
१९४	२८	२९-३०
१२६	२८	३१
१३२-१३४	२९	१-२
१३४	२९	३
१३५	२९	४
१२७	२९	६२
१४७	२९	७३-७५
१९५	३२	१-३
१३०	३६	२५७-२५९

दशाश्रुतस्कंध-सूत्र

पृ	द	सु
१७०	६	३-५
१७३	६	६
१७५	६	७-८
१७६	६	-९-११
१७८	६	१२-१४
१६७-१६८	६	१५-१६

वृहत्कल्प-सूत्र

१३० टि..	कप्प	उ४	सु	१२
१३० टि	"	४		१३

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
१६७	११	६८-६९
१९०-१९१	१३	४६-६३

आवश्यक-सूत्र

१३७	६	६५

चारित्राचार

आचारांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
२०७	१	४	२	१३४-१३५

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	गा
टि २१०	१	१		३१
२०६	१	१	३	१०
२०७	१	१२	-	२१
टि २११	१	१६	-	४
२०५	२	५	-	१७
२०५	२	६	-	६

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
२०५	२	१	५१
परि (७४२) २०५	२	१	५४-५५
२०५ टि	२	१	६१
२०५ (१७)	३	२	१६१
परि (७४१) २०५ (२१)	३	२	१६३
२१० टि	५	१	३८९
२११ टि	५	२	४१८
२१२ टि	५	२	४२७
२१२ टि	६	-	४८७
२१३ टि	५	२	४२७
२१३ टि	६	-	४८७
२१२	१०	-	७०९
२१३	१०	-	७०९
२१३	१०	-	७११
२१३	१०	-	७११

समवायांग-सूत्र

पृ	सम	सु
२१३	५	१
२११ टि	५	१

विवाह-प्रज्ञप्ति

पृ	सु	उ	सु
२१४	१	१	११
२१५	१	१	११
२१० टि	१	६	२६
२१२	१	९	१
२१२	१	९	२-३
२०७ टि	१	९	२१-२४
२१०	३	३	१२-१४
२०६	९	३१	७
२०६	९	३१	१३
२०६	९	३१	३२
२१२ टि	१२	२	१४

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ	सु	अ	सु
२११	२	१	१
२११	२	१	१ टि
२११	२	५	१८-टि

दशवैकालिक-सूत्र

पृ	अ	गा
२११ टि	६	८-२१
२११ टि	१३	११

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
२१५	६	८
२१०	२३ टि	७०-७३
टि २१३	१२	४२
२११	२३ टि	८७
२१५	२९	६३
२०५	३१	१
टि २१०	३५	३

आवश्यक-सूत्र

पृ	अ	सु
२११	४	२४ (३)

अहिंसा महाव्रत का स्वरूप एवं प्रतिज्ञा

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सु
२३०	१	१	२	१०-१८
२३३	१	१	३	२३-३१
२३५	१	१	४	३२-३९
२३९	१	१	५	४२-४४
२४०	१	१	५	४५
२४०	१	१	५	४६-४८
२४१	१	१	६	४९
२४३	१	१	६	५०-५५
२२४	१	१	७	५६
२३७	१	१	७	५७-६१
२२७	१	१	७	६२
२२४	१	२	३	७८ (ख)
२२७	१	२	६	१०४
२५२	१	२	५	९४
२५२	१	२	६	९५-९७
टि २१६	१	४	१	१३२
२४५	१	४	२	१३६-१३९
२२६	१	४	३	१४०
२४६	१	५	१	१४७-१४८
२२४	१	५	५	१७०
२३६	१	८	३	२११-२१२
२५३	२	१३		७०८-७१३
२५४	२	१३		७००
२५४	२	१३		६९९
२५४	२	१३		७२४
२५३	२	१३		७१५-७१९
२५४	२	१३		७२०
२५४	२	१३		७२८
परि (७४२) २२५	२	१५		७७६
२१८	२	१५		७७७-७७९

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	गा
२१६	१	१	४	९-१०
२४६	१	७	-	१-४
२३६	१	७	-	५-७
२४०	१	७	-	[illegible]
२४८	१	७	-	[illegible]
२२६	१	९	-	[illegible]
२२६	१	११		[illegible]
२१६ टि	१	११		[illegible]
२२७	१	१४		[illegible]
२४४	२	१		[illegible]
२१६	२	१		[illegible]
२१६	२	१		[illegible]

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ
२८२	७
२८३	७
२८६	७ टि
२८७	७ टि
२३९	८ टि
२८६	८ टि
२८७	८ टि
२८६	८ टि
२८७	१० ७०९
२८६	१० ७०९
२८६	१० ७१५
२८७	१० ७१५
२३९	१० ७७३

समवायांग-सूत्र

पृ	सम
२७९	२५
२१८	२५ टि

विवाह-प्रज्ञप्ति-सूत्र

पृ	
२८८	स ८ उ ७ स.

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ	सु	अ	सु
२२१	२	१	२
२२२	२	१	३
२२४	२	१	४
२१८	२	१	[illegible]
२८२	२	१	[illegible]
२८२	२	१	[illegible]

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ	अ	सु
२२५	४	१-३
२२७	४	४
२३१	४	५
२३३	४	६
२३६	४	७
२३८	४	८
२४२	४	९
२२५	४	१०

२१६	४	११
२२८	४	१८
२३१	४	१९
२३४	४	२०
२३६	४	२१
२३८	४	२२
२४२	४	२३
२४७	४	गा २४-३२
२२६	४	गा ५१
२१७	६	गा ९-१०
२२६	८ टि	गा २-३
२२८	८	गा ४
२२८	८	गा ५
२३१	८ टि	गा ७
२३३	८ टि	गा ८
२३७	८	गा ९
२३९	८	गा १०-११
२४३	८	गा १२
२८३	८	गा १३-१६

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
२४४	६	६
२८७	१७	६
२१७ टि	१९	२६
२३४	३५	१२

दशाश्रुतस्कन्ध

पृ	द	सु
२८३टि	८	५०
२८३	८	५१
२८४	८	५२
२८४	८	५३
२८४	८	५४
२८४	८	५५
२८५	८	५६
२८५	८	५७
२८५	८	५८

निशीथ-सूत्र

पृष्ठ	उ	सु
२७४	१	११-१४
२७६	१	१५-१८
२७७	१	१९-२२
२७७	१	२३-२६
२७७	१	२७-३०
२७८	१	३१-३४
२७८	१	५७
२७४	२	१०
२७४	२	११
२७४	२	१२
२७६	२	१४-१७
२७५	२	२६
२५५	३	२८-३३
२५६	३	३४-३९
२६०	३	४०
२५५	४	६१-६६
२५८	४	६७-७२
२६०	४	७३

२४८	५	१-११
२७५	५	२५-३३
२७१	११	२३-२८
२७२	११	२९-३४
२७४	११	३५
२४९	१२	१-२
२५०	१२	८
२४९	१२	९
२६०	१२	१३
२५०	१३	१-७
२५०	१३	८
२५१	१३	९-११
२६०	१३	४२-४५
२६८	१५	२५-३०
२७०	१५	३१-३६
२७०	१५	३७
२६१	१७	१५-६७
२६१	१७	६८-१२० (१८०-२३४)
२६२	१७	२७-३२
२६४	१७	३३-३८
२६४	१७	३९
२६५	१७	८०-८५
२६७	१७	८६-९१
२६७	१७	९२
२५१	१८	६४-७०

द्वितीय महाव्रत

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ २८९ सु २ अ १५सु७८०-७८२

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	सु
२९९ टि	६	५२७
२९१ टि	१०	७४१
२९३ टि	१०	७४१

समवायांग-सूत्र

पृष्ठ		
२९६	सम २५	सु १
२९१ टि	सम २५	सु १

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ	सु	अ	सु
२९१	२	२	१-३
२९१ टि	२	२	१-३
२९१	२	२	४
२९२	२	२	५-६
२९३	२	२	७-८
२९३	२	२	९
२९३	२	२	१०
२९१ टि	२	२	११-१५
२९६	२	२	११-१५
२९८	२	२	१६-१८

प्रज्ञापना-सूत्र

पृष्ठ	पद	सु
२९३ टि	११	८६२
२९३ टि	११	८६६
२९३ टि	११	८९६

दशवैकालिक-सूत्र

पृ	अ	सु
२८९	४	१२
२८९ टि	६	गा १२

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
२९९	२४	९-१०
२८९ टि	१९	२७

कप्प-सूत्र (बृहत्कल्प-सूत्र)

पृ	उ	सु
२९८	६	१

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
२९४	२	१९
२९४	१६	१३-१४
२९४	५	६३
२९४	१०	१५-३०

तृतीय-महाव्रत

आचारांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
३००	२	७	१	६०७ (क-ख)
३०६	२	७	१	६०७ (ग)
३०१	२	१५	-	७८३-७८५

समवायांग-सूत्र

पृ	सम	सु
३०७	२५	१
३०२ टि	२५	१

विवाह-प्रज्ञप्ति

३१० स ८ उ, ७ सु १-१५

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ	सु	अ	सु
३०३	२	३	१
३०३	२	३	२-७
३०४	२	३	८
३०५	२	३	९
३०२ टि	२	३	१०-१५
३०९	२	३	१०-१५
३०९	२	३	१६

दशवैकालिक-सूत्र

पृ	अ	सु.
३००	४	१३
३०० टि	६	गा १३

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
३०३	६	७
३०० टि	१९	२८

व्यवहार-सूत्र

३०६	उ ७ सु २६-२७

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
३०६	२	२०
३०६	१०	९-१०
३०६	१०	११-१२

चतुर्थ महाव्रत

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सु
३३४	१	५	१	१४९
३३२	१	५	४	१६४-१६५
३३७	२	१३		६९०
३३८	२	१३		६९१-६९८
३३८	२	१३	-	७०१-७०७
३४०	२	१३	-	७२१-७२२
३४०	२	१३	-	७२३
३३९	२	१३	-	७२५-७२६
३३९	२	१३		७२७
३४०	२	१४		७३०
३४०	२	१४		७३१
३१४	२	१५		७८६-७८८

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	गा
३३४	१	४	१	१०-२२
३२६	१	४	१	१६
३२७	१	४	१	२७
३३५	१	४	२	१-२२
३३४	१	१५	-	८-९

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
परि. (७४२)			
३२२	२	१	५४-५५
३२२	३	२	१६३
३२२	३	२	१६३
३२८	९	-	६६३
४२८	९	-	६६३

समवायांग-सूत्र

पृ	सम	सु
४२८ टि	९	१
३१६ टि	२५	१
३१३	१८	१
४२४	५	१

भगवती-सूत्र

पृ	स.	उ	सु
सु ३२२	९	३१	५
३२२ टि	९	३१	१३
३२३	९	३१	३२

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ	सु	अ	सु
३१६	२	४	१
३१९	२	४	२
३१९	२	४	२-३
३१९	२	४	३-४
३२१	२	४	५
३२१	२	४	६
३२१	२	४	७
३१६ टि	२	४	८-१२
४२४	२	४	८-१२ (क)
४२७	२	४	१२ (ख)

दशवैकालिक-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
३१४	४	-	१४
३३२	५	१	गा ९-११
३३३	६	-	सु १५-१६
३२५	८	-	गा ५१
३३१	८	-	गा ५२
३२६	८	-	गा ५३
३२५ टि	८	-	गा ५४
३२७	८	-	गा ५५
३३१	८	-	गा ५६
३२७	८ टि	-	गा ५७

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
३२७	१	२६
३३४	८	१८-१९
३२३	१६	सु १
३२४	१६	२
३२६	१६	३
३२६	१६	सु ३
३२६	१६	सु४
३२७	१६	सु. ५
३२८	१६	सु ६
३२८	१६	सु ७
३२९	१६	सु ८
३२९	१६	सु ९
३३०	१६	सु १०
३३०	१६	सु ११
३२६	१६	गा ४-५
३२७	१६	६
३२८	१६	७
३२९	१६	८
३२९	१६	९
३३०	१६	१०
३३०	१६	११
३३१	१६	१२
३२४	१६	१३-१५
३३१	१६	१६
३२३	१६	१७
३१७	१६	१८
टि ३१४	१९	२९
३२५	२९	३३
टि ३३३	३१	१४
३२९	३२	१०-११
३२५	३२	१२-१३
३२७	३२	१४-१५
३२५	३२	१६-१७
३३१	३२	१९-२०
३२५	३५	४-५

व्यवहार-सूत्र

पृ	उ	सु
४२३	२	२४-२५
४१९	६	१६-१७

कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु
४१३	४	१४-१५
४१४	५	१-४
४१९	५	१३-१४

निशीथ-सूत्र

उद्देशक-१

पृ	उ	सु
४१८	१	१
४१६	१	२-९

उद्देशक-३

३५२	३	१६-२१
३५१	३	२२-२७
३५३	३	४१
३५३	३	४२-४६
३५५	३	४७-४९
३५४	३	५०-५५
३५५	३	५६
३५६	३	५७
३५५	३	५८-६३
३५६	३	६४-६५
३५६	३	६६
३५२	३	६७-६८
३५७	३	६९
४२३	३	७०

उद्देशक-४

३५८	४	४९-५४
३५७	४	५५-६०
३५९	४	७४
३५९	४	७५-७९
३६१	४	८०-८२

३६०	४	८३-८८
३६१	४	८९
३६२	४	९०
३६१	४	९१-९६
३६२	४	९७-९८
३६३	४	९८
३५८	४	९९-१००
३६३	४	१०१

उद्देशक-६

४१६	६	१
४१९	६	२
४१७	६	३-१०
४१६	६	११
४१६	६	(११)
४२२	६	१२
४२२	६	१३
४१४	६	१४-१८
४१९	६	१९-२३
३९९	६	२४-२९
३९८	६	३०-३५
३४४	६	३६-४१
३४५	६	४२-४७
३४७	६	४८
४००	६	४९
४००	६	५०-५४
४०३	६	५५-५७
४०१	६	५८-६३
४०२	६	६४
४०४	६	६५
४०३	६	६६-७१
४०४	६	७२-७३
४०५	६	(७३)
३९९	६	७४-७५
४०५	६	७६
४२३	६	७७

उद्देशक-७

४२१	७	१-३
४२२	७	४-६
४२०	७	७-९
परि (७४५) ४२०	७	१०-१२
परि (७४५) ४१८	७	१३
४०७	७	१४-१९
४०५	७	२०-२५
३४७	७	२६-३१
३४८	७	३२-३७
३५०	७	३८
४०८	७	३९
४०८	७	४०-४४
४१०	७	४५-४७
४०९	७	४८-५३
४१०	७	५४
४१२	७	५५
४११	७	५६-६१
४१२	७	६२-६३
४१३	७	(६३)
४०६	७	६४-६५
४१३	७	६६
परि(७४३) ४१४-१	७	६७-७४
परि (७४३) ४१४-२	७	७५-७६
परि(७४३) ४१४-३	७	७७-७८
परि (७४५) ४१६-४	७	७९
(७४४) ४१४-५	७	८०-८१
परि(७४४) ४१४-६	७	८२-८४
परि(७४५) ४१४-७	७	८५-८८
परि (७४५) ४१४-८	७	८९-९०
परि (७४५) ४१४-९	७	९१

उद्देशक-८

परि (७४८) ४२३	८	१-९

उद्देशक-११

३८६	११	११-१६
३८४	११	१७-२२
३८७	११	३६
३८७	११	३७-४१
३८९	११	४२-४४
३८८	११	४५-५०
३८८	११	५१
३९०	११	५२
३९१	११	(५३)
३८९	११	५३-५८
३९०	११	५९-६०
३८५	११	६१-६२
३९१	११	६३

उद्देशक-१५

पृ	उ	सू
३६४	१५	१३-१८
३६४	१५	१९-२४
३६५	१५	३८
३६५	१५	३९-४३
३६७	१५	४४-४६
३६६	१५	४७-५२
३६७	१५	५३
३६८	१५	५४
३६८	१५	५५-६०
३६९	१५	६१-६२
३६९	१५	६२
३६४	१५	६३-६४
३६९	१५	६५
३९२	१५	१००-१०५
३९१	१५	१०६-१११
३४१	१५	११२-११७
३४२	१५	११८-१२३
३४३	१५	१२४
३९३	१५	१२५
३९३	१५	१२६-१३०
३९५	१५	१३१-१३३
३९४	१५	१३४-१३९
३९५	१५	१४०
३९७	१५	१४१
३९६	१५	१४२-१४७
३९७	१५	१४८-१४९
३९७	१५	(१४९)
३९२	१५	१५०-१५१
३९७	१५	१५२
४२०	१५	१५३
४२०	१५	१५४

उद्देशक-१७

पृ	उ	सू
३७१	१७	१५-२०
३७०	१७	२१-२६
३७२		४०
३७२	१७	४१-४५
३७६	१७	४६-४८
३७३	१७	४९-५४
३७४	१७	५५
३७६	१७	५६
३७५	१७	५७-६२
३७६	१७	६३-६४
३७६	१७	(६४)
३७६	१७	६५
३७१	१७	६५-६६
३७७	१७	६७
३७८	१७	६८-७३
३७७	१७	७४-७९
३७९	१७	९३
३८०	१७	९४-९८
३८२	१७	९९-१०१
३८०	१७	१०२-१०७
३८०	१७	१०८
३८३	१७	१०९
३८२	१७	११०-११५
३८३	१७	११६-११७
३८४	१७	(११७)
३७८	१७	११८-११९
३८४	१७	१२०

अपरिग्रह महाव्रत

आचारांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सू
४४८	१	१	५	४१
४५३	१	२	१	६३-६४
४५४	१	२	१	६६-क ६७
४४४	१	२	२	६९
४४१	१	२	२	७२-७४
४४५	१	२	३	७५-७६
४५१	१	२	३	७७(क)
४३८	१	२	३	७९
४४२	१	२	४	८१-८२
४३६	१	२	४	८३
४४२	१	२	४	८४-८५
४३९	१	२	५	८९ (घ)
४४७	१	२	५	९०-९१
४३४	१	२	५	९२
४५२	१	२	५	९३
४४४	१	२	६	९७ख-९९-क
४५१	१	२	६	१०५-ख
४३५	१	३	१	१०८ (ख)
४३५	१	३	२	११९
४४८	१	५	१	१४९-ग
४५१	१	५	१	१४९ (घ)
४३८	१	५	२	१५४
४३९	१	५	२	१५५
४३४	१	५	३	१५७
४४३	१	५	६	१७४-१७५ (क)
४३६	१	६	१	१८१-१८२
४५२	१	६	२	१८३
४४३	१	६	३	१८९
परि (७४८)				
४३५	१	८	३	२०९ (ख)
४४८	२	११	-	६६१-६८७
४५१	२	१२	-	६८९
९	२	१५		७८९-७९१
(७४८)				
	२	१५	-	७९२

सूयगडांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	गा
४५४	१	१	४	१-३
४३९	१	२	२	९-१०
४३६	१	२	२	११
४४६-४७	१	२	३	२-८
४३७	१	७	-	२१-२६
४३५	१	७	-	२७-२८
४४८	१	९	-	३२
४४८	१	९	-	३५
परि. (७४९)				
४७४	१	९	-	१०
४७३	१	१०	-	५-६
४३४	१	१०	-	८-१०
४३९	१	१०	-	१०-१९
४७३	१	१०		२०-२४
४४४	१	१३	-	१८-१९
४७४	२	१	-	६७७-६७८
४४६	२	१	-	६८५
टि ४२९	२	१	-	६८५

समवायांग

पृ	सम	सु
४३७	५	१
टि ४३१	२५	१
४६७	२५	१

प्रश्नव्याकरण

पृ	सु	अ	सु
४३२	२	५	२
४३२	२	५	३-४
४४१	२	५	७
४५५	२	५	१२
४६७	२	५	१२-१६
४३१टि	२	५	१३-१६
४७३	२	५	१७

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
४४५	२	४
४४०	२	५
४२९	४	१५
४४६	८	३४
४४३	८	५८-५९
४४१	१०	८

उत्तराध्ययन

पृ	अ	गा
४५५	४	२-५
४५३	६	३-४
४३६	६	५
४३९	६	(५)
४४१	६	१५
४४१	८	१६-१७
४३४	१०	२८
४३६	१०	२९-३०
४४७	१३	१६-१७
४२९टि	१९	३०
४४०	२३	४५-४८
४४५	२३	४०-४३
४४६	२५	४०-४१
४५५	२९	३१
४५६	२९	३४

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
४६३	२	९
४६३	२	२१
४६५	४	१, ७, १३
४६५	४	२, ८, १४
४६५	४	३,९,१५
४६५	४	४,१०,१६
४६६	४	५,११,१७
४६६	४	६,१२,१८
परि. (७४९)		
४६६	४	४०-४२
४६६	४	४३,४४,४५
परि. (७४९)		
४६६	४	४६-४८
४५९	५	३६, ४७
४६०	५	४८-५९
४६४	७	१०-१३
परि. (७४८)		
४६२	९	८-९
४६१	१२	१६-२८
४६२	१२	२९
४६२	१३	३१-४१
४६३	१७	१-१४
४५९	१७	१३४
४५६	१७	१३५-१३८
४५७	१७	१३९-१४०
४५८	१७	१४१

रात्रि-भोजन

प्रश्नव्याकरण

पृ	सु	अ	सु
४७६ टि	२	५	७

दशवैकालिक

पृ	अ	सु
४७५	४	१६-१७
४७६	६	२३-२५
४७६	८	२८

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
४७५टि	१९	३१

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु
४७५	१	४४
टि ४८३	४	१
४७७	५	६-९
४८३टि	५	१०
४७६	५	४७
४७६	५	४८
४७७	५	४९
४७७	५	५०

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
४७९	१०	३१-३४
४८३	१०	३५
४८१	११	७२-७३
४८०	११	७४-७७
४८१	११	७८-७९
४८१	११	९१
४८१	१२	३२-३५
४८२	१२	३६-३९

अष्टप्रवचन माता

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
४८५टि	५	३	४५७
४८५	८		६०३
४८५	८		६०३

समवायांग-सूत्र

पृ	सम	सु
४८५ टि	५	१
४८५	८	१

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
४८५	२४	१-२
४८५	२४	३
४८५	२४	२६-२७
४८५ टि	३१	२

आवश्यक-सूत्र

पृ	अ	सु
४८५ टि	४	२४

(१) ईर्या समिति

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सु
४८६	१	५	४	१६२-१६३
४९३	२	१	१	३२८
४९३	२	१	१	३२९
४९५	२	१	५	३५३
४९५	२	१	५	३५५
४९५	२	३	१	४६९
५०१	२	३	१	४७०
४८९	२	३	१	४७१
४९९	२	३	१	४७२
४९९	२	३	१	४७३

५०२	२	३	१	४७४-४८०
५०४	२	३	२	४८१-४८२
५०४	२	३	२	४८३-४९१
४९१	२	३	२	४९२
५०५	२	३	२	४९३-४९७
४९६	२	३	२	४९८-४९९
५००	२	३	२	५००-५०१
४९१	२	३	२	५०२
४९२	२	३	३	५०४
४९२	२	३	३	५०५
४९६	२	३	३	५०६
४९६	२	३	३	५०७
४९७	२	३	३	५०८
४९७	२	३	३	५०९
४८९	२	३	३	५१५
४९०	२	३	३	५१६
४९०	२	३	३	५१७
४९१	२	३	३	५१८

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
परि (७४९)				
४८७	१	२	१	११

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
टि ४८६	५	३	४६५
५०१	५	२	४१२(१-२)

भगवती-सूत्र

पृ	अ	उ	सु.
४८८	७	७	१
४८७	१८	८	२
४८७	१८	१०	२३

ज्ञाताधर्मकथांग-सूत्र

पृ	सु	अ	सु
४८७टि	१	५	४६

दशवैकालिक-सूत्र

पृ	अ	उ	गा
४९४	५	१	४-६
४८९	५	१	७
४९४	५	१	१३-१४
४८९	५	१	९६-९७
४९२ टि	७	-	२९

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
४९४टि	१७	८
४८६	२४	४-८

व्यवहार-सूत्र

पृष्ठ	उ	सु
४९७	१	२०-२२

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु
५००	१	३९
४८९	१	४६
५०१	३	३३
५०१ टि	४	३४
५०२	४	३५

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
४९३	२	४०-४१
४९३	२	४२
४९९	९	१८-१९
५००	११	७१
४९१	१२	४०
५०२	१२	४२
४९४	१६	१-३
४९०	१६	२५-२६
५०६	१८	१-२३

(२) भाषा समिति

आचारांग-सूत्र

पृ	सु	ग	उ	सु
५२५	२	३	३	५१०-५१४
५२२	२	४	१	५२०
५१८	२	४	१	५२१
५१०	२	४	१	५२२
५२४	२	४	१	५२४
५१८	२	४	१	५२५
५२६	२	४	१	५२६
५१९	२	४	१	५२७
५२७	२	४	१	५२८
५१९	२	४	१	५२९
५२३	२	४	१	५३०
५१९	२	४	१	५३१
५२७	२	४	२	५३३
५१९	२	४	२	५३४
५२८	२	४	२	५३५
५२०	२	४	२	५३६
५२८	२	४	२	५३७
५२०	२	४	२	५३८
५२८	२	४	२	५३९
५२०	२	४	२	५४०
५२९	२	४	२	५४१
५२१	२	४	२	५४२
५२९	२	४	२	५४३
५२१	२	४	२	५४४
५२९	२	४	२	५४५
५२१	२	४	२	५४६
५३०	२	४	२	५४७
५२१	२	४	२	५४८
५३०	२	४	२	५४९
५२२	२	४	२	५५०
५१९	२	४	२	५५१

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ	सु	ग	गा
५२४	१	९	२५-२६
५२६ टि	१	९	२७
५३०	१	११	१७-२१

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
५१०टि	४	२	२३८
५११टि	१०	-	७४१(१)
५११टि	१०	-	७४१(२)
५११टि	१०	-	७४१(३)

पन्नवणा-सूत्र

पृ	पद	सु
५१४	११	८३०-८३१
५१५	११	५३२-८३८
५१७	११	८३९-८४८
५१२	११	८४९
५१३	११	८५०
५१३	११	८५१
५१३	११	८५२
५१३	११	८५३
५१३	११	८५४-८५७
५११	११	८६०-८६६
५१०टि	११	८७०
५१८	११	८९६-८९७
५१०टि	११	८९८
५११	११	८९९

दशवैकालिक-सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
५३०	७	१-२
५१८टि	७	३
५२५	७	४-५
५२३	७	६-१०
५२४	७	११
५२८	७	१२-१३
५२७	७	१४
५२७टि	७	१५
५२७	७	१६
५१९	७	१७
५२७	७	१८
५२७टि	७	१९
५१९टि	७	२०
५१८ टि	७	२१-२२
५२९टि	७	२२
५२०	७	२३
५२९टि	७	२४
५२१	७	२५
५२९टि	७	२६-२९
५२१	७	३०-३१
५२९टि	७	३२
५२१	७	३३
५३०टि	७	३४
५२१	७	३५
५३१	७	३६-३७
५३२	७	३८-३९
५२५	७	४०
५२८टि	७	४१
५२०	७	४२
५३२	७	४३-४६
५२५	७	४७
५३१	७	४८-४९
५२३	७	५०

५२३	७	५१-५२
५१९	७	५३
५२३	७	५४
५१०	७	५५-५७
५१९	७	५५
५१८टि	८	४६-४८
५३१	८	४७-४९
५२५	९	उ ३ गा ९

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
५२४	१	२४-२५
५२४	२४	९-१०

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु
५२४	६	१

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
५३२	२	१८
५३२	१५	१-३

(३)एषणा-समिति

आचारांग-सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सु
५६४	१	२	४	८६
५४१	१	२	५	८७-८८
टि ५४४	१	२	५	८७
टि ५३९	१	२	५	८८(४)
टि ५४१	१	२	५	८८(५)
५४१	१	२	५	८९-क
६०२	१	२	५	८९-ख
५९७	१	८	२	२०४-२०५
टि ५५६	१	८	-	२०४-२०५
५४१	१	८	३	२१०
५६०	१	८	५	२१८
६०२	१	८	६	२२३
५७४	२	१	१	३२४
५७९	२	१	१	३२५
५७९	२	१	१	३२६
५९६	२	१	१	३३१
टि५५८	२	१	१	३३१
५९६	२	१	१	३३२
५८९	२	१	१	३३३
६१६	२	१	१	३३५
५४८	२	१	२	३३६
६१६	२	१	२	३३७
६१४	२	१	२	३३८-क
६१४	२	१	२	३३८-ख
६१५	२	१	३	३४०
६१८	२	१	३	३४१
६१५	२	१	३	३४२
५६८	२	१	३	३४३
५४९	२	१	३	३४६
६१७	२	१	४	३४८
५४७	२	१	४	३४९
५५०	२	१	४	३५०
५८८	२	१	५	३५२
५४८	२	१	५	३५४
५४८	२	१	५	३५५
५५०	२	१	५	३५६
६०४	२	१	५	३५७-क
५४५	२	१	५	३५७-ख
५४७	२	१	६	३५९
५४६	२	१	६	३६०-क
५७२	२	१	६	३६०-ख
५८५	२	१	५	३६०-ग
५७२	२	१	६	३६१
५७१	२	१	६	३६२
५६९	२	१	६	३६३
५६१	२	१	७	३६५
५६२	२	१	७	३६६
५६१	२	१	७	३६७
५६८	२	१	७	३६८-क
५६८	२	१	७	३६८-ख
५६९	२	१	७	३६८-ग
५७३	९	१	७	३६८-घ
५७०	२	१	७	३६८-च
५७१	२	१	७	३६८-छ
५३४	२	१	८	३७४
५७५	२	१	८	३७५
५७५	२	१	८	३७६
५७६	२	१	८	३७७
५७६	२	१	८	३७८
५७६	२	१	८	३७९
५७८	२	१	८	३८०
५७८	२	१	८	३८१
५७६	२	१	८	३८२
५७७	२	१	८	३८३
५७७	२	१	८	३८४
५७७	२	१	८	३८५
५७७	२	१	८	३८६
५७८	२	१	८	३८७
५७८	२	१	८	३८८
५५५	२	१	९	३९०
५४३	२	१	९	३९१
५५५	२	१	९	३९२
६०७	२	१	९	३९४
६०६	२	१	९	३९६
५६३	२	१	९	३९७(१)
५५८	२	१	१०	३९७(२)
६०४	२	१	१०	३९९
६०६	२	१	१०	४००
टि६०७	२	१	१०	४०१
५८८	२	१	१०	४०२
६०७	२	१	१०	४०५
६१९	२	३	३	४४६
५४६	२	६	२	६०२
६०२	२	७	१	६०८-६०९
५८०	२	७	२	६२३-६२८
५८२	२	७	२	६२९-६३१
५८३	२	७	२	६३२

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	गा
५५९	१	१	३	१-४
५४०	१	१	४	४
५६५	१	७	-	२४-२६
टि५९६	१	९	-	१४
५५४	१	१०	-	११
५४०	१	११	-	१३
५५८	१	११		१४
५५९	१	११		१५
५६५	१	१३	-	१०
५६५	१	१३	-	१२
५४०	१	१३	-	१७
५९९	१	१	-	६८७
५३४	२	१	सु	६८८
टि५५८	२	१	सु	६८७-६८८
टि५४४	२	१	सु	६८८
५५५	२	५	गा	८-९
टि५५६	२	५	गा	८-९
५५६टि	२	५	गा	८-९

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
५३७	३	३	१८८
टि५३७	३	३	१८८
टि५३३	३	४	१९८
५३५	४	१	२४३
५३८	४	१	२७४
५३७	४	२	२९५
टि ५३७	४	४	३४०
५३६	४	४	३५०
५३६	४	४	३५२
६१२	६	-	५००(१)
६१२	६	-	५००(२)
५३९	६	-	५१४ (२०)
५३९	९	-	६८१
टि५३३	९	-	६८१
५३८	९	-	६७४
टि५९६	९	-	६९३

भगवतीसूत्र (विवाह प्रज्ञप्ति)

पृ	स	उ	सु
५५७	१	९	२६
५९९	१	९	२७
६१०	७	१	१७
६१०	७	१	१८
टि ५३३	७	१	१८
६११	७	१	१९
५३३	७	१	२०
६०५	८	६	४
टि५५७	७	८	९
टि५९६	९	३३	४३
६१२	२५	७	२०६

प्रश्नव्याकरण-सूत्र

पृ	सु	अ	सु
५६६	१	१	५ (ग)
टि ५३३	२	१	५ (ख)
टि५४९	२	३	५ (क)
टि ५६५	२	५	५
५९८	२	५	५
५३३	२	५	६
५६५	२	५	२९

औपपातिक-सूत्र

पृ ६१२ उव सु ३०

दशवैकालिक-सूत्र

पृ	अ	उ	गा
५३४	१		२-५
टि ५९६	३		२
टि ५७३	४		२२
५४४	५	१	१-३
५४८	५	१	४,६
५४८	५	१	९-११
५४८	५	१	१२
५४६	५	१	१५
५४६	५	१	१६
५४९	५	१	१७
५४९	५	१	१८
५४९	५	१	१९
५८७	५	१	२०
५८८	५	१	२१
५८८	५	१	२२
५४५	५	१	२३-२७
टि ५४६	५	१	२५
५८७	५	१	२८
५७४	५	१	२९-३१
टि ५७३	५	१	३२
टि ५८५	५	१	३३-५१
टि ५९८	५	१	५०
५६३	५	१	५२-५३
५८७	५	१	५४
५७१	५	१	५५-५६
५७१	५	१	५७-५८
टि ५६८	५	१	५९
५६१	५	१	६०-६१
५५८	५	१	६२-६३
५५८	५	१	६४-६५
५५८	५	१	६६-६७
टि ५९६	५	१	६६-६७
५५८	५	१	६८-६९
टि ५९६	५	१	६८-६९
टि ५९६	५	१	७०
५४२	५	१	७१
टि ५७४	५	१	७२-७३
टि ५६८	५	१	७४-७५
५७०	५	१	७६-९५
टि ५६२	५	१	९८-१००
टि ५७५	५	१	१०१
५८७	५	१	१०२-१०३
५८८	५	१	१०४-१०५
६००	५	१	११३
	११७		
६०२	५	१	११८-१३०
६००	५	१	१३१
६०२	५	२	१
६०३	५	२	२-३
५४४	५	२	४-६
टि ५४८	५	२	७
टि ५४६	५	२	९
टि ५४५	५	२	१०-१२
टि ५४६	५	२	१३
५७४	५	२	१४-१७
५७५	५	२	१८
टि ५७१	५	२	१९
टि ५७९	५	२	२०
टि ५७८	५	२	२१ (२)
टि ५७८	५	२	२१ (१)
टि ५७८	५	२	२२
टि ५७६	५	२	२३
टि ५७८	५	२	२४
५४१	५	२	२५
५३५	५	२	२६
५६४	५	२	२७-२८
५६५	५	२	३१-३२
६०७	५	२	३३-३५
५४०	५	२	५०
६०७	६	-	१७
५३३	६	-	४७
५९८	६	-	४८
५९६	६	-	४८-४९
५७३	८	-	९
५४४	८	-	१९-२१
६१३	८	-	२२
टि ५९६	८	-	२३
५९८	८	-	२३
५९९	८	-	२४
५६४	८	-	२५
५४४	८	-	२६
५४४	८	-	२९
५४१	९	३	४
५६५	९	३	५
टि ६००	१०	-	९
टि ५९६	१०	-	१६
५९९	१०	चू २	६

उत्तराध्ययन-सूत्र

पृ	अ	गा
५४०	१	३२
टि ५४५	१	३३
५६२	१	३४
६००	१	३५
६००	६	१४
५४०	६	१६
५४०	८	११-१२
५९८	८	२३
टि ५६४	१५	११
६०३	१७	१५
५३५	१९	३४
५३५	१९	८४
५३८	२४	११-१२
टि ५४४	२६	३२
टि ६१२	२६	३३-३४
५४७	२६	३५
टि ५४०	३०	२५
५३९	३५	१०-११
५६०	३५	१४-१५
५४१	३५	१६
६०२	३५	१७

दशाश्रुतस्कन्ध,

पृ	दसा	सु
५५४टि	२	२
५६० टि	२	२
५६३ टि	२	२
५०६ टि	२	२
५९८ टि	२	२
५४०	७	६
५४३	६	२८
६१३	८	१०-११
५४३ टि	८	४१-४३

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु
५७६ टि	१	१
५८०	१	१-५
६१८	१	४७
६१९	२	१३
६२०	२	१४-१६
६२०	२	१७-१८
६२०	२	१९-२०
६२०	२	२१-२२
६२१	२	२३-२४
६२१	२	२५-२८
६१२	४	१६
६१३	४	१७
६०८	४	१८
५५६	४	१९
६०८	५	११
६०८	५	१२
६०८	५	५२

व्यवहार-सूत्र

पृ	उ	सु १९
५५१	४	१९
५५१	४	२०-२१
५५१	४	२२-२३
५४२	६	१-३
५४२	६	४-९
६१९	७	२२-२३
टि ६१२	८	१७
६२२	९	१-४
६२२	९	५-८
६२२	९	९-१६
६२३	९	१७-३०
६२५	९	३३-३४

व्यवहार

पृ	अ	सु
५७९	९	३३-३४
६२५	९	३५-३६
टि ५३८	९	४५
५३८	९.	४६

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
५५९	१	५८
५८९	२	३२-३६
५६५	२	३८
५४३	२	३९
६०७	२	४४
६०६	२	४५
६२५	२	४६
६२५	२	४७
६२५	२	४८
६२५	२	४९
५४९	३	१३
६१८	३	१४
५६०	३	१५
५७९	४	१९

६०९	४	२०
६०३	४	२१
५५९	४	२२
५८६	४	३८-३९
६०९	५	१४
५५२	५	३४
५५२	५	३५
५९५	८	१४-१७
५९१	८	१८
५९०	९	१-२
५९०	९	३-५
५९१	९	६
५९१	९	७
परि. (७५०) ५९२	९	१०
५९२	९	१२-१७
५९२	९	२०-२८
५७५	१०	५
५५८	१०	६
६१८	११	८०
५९०	११	८१
५७५	१२	४
६०९	१२	१०

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
५७३	१२	१४
५८६	१२	१५
६१३	१२	३०
६१३	१२	३१
५६६	१३	६४-७८
५८१	१५	५-१२
५८३	१६	४-११
५९०	१६	१२-१३
५४९	१६	२७
६०९	१६	३४-३६
५६२	१७	१२३
५६२	१७	१२४
५६१	१७	१२५
५७१	१७	१२६-१२९
५७३	१७	१३०
५९०	१७	१३१
परि. (७५०)		
५६०	१९	१-७

आवश्यक-सूत्र

पृ	अ	सु
टि ५९६	४	१८

(३) एषणा समिति

पाणैषणा

आचारांग-सूत्र

पृ	श्रु सु	अ	उ
टि ६३१	२ ३६९	१	७
६२७	२ ३७०	१	७
६२९	२ ३७१	१	७
६२९	२ ३७३	१	८
६३०	२ ३९५	१	९
६२९	२	६	२
६०३-६०४			

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
६२८	३	३	१८०
टि ६३१	३	३	१८२
टि ६३१	३	३	१८२
टि ६२८	३	३	१८८
टि ६२८	३	३	१८८
टि ६३१	३	३	१८८

दशवैकालिकसूत्र

पृ	अ	उ	गा
६३०	८		६
६३०	५	१	१०६-११२
टि ६३१	५	१	१०६

दशाश्रुतस्कन्ध-सूत्र

पृ	द	सु
टि ६३१	८	३०
टि ६३१	८	३०
टि ६३१	८	३०
टि ६२८	८	३१
टि ६२८	८	३२

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
६३२	२	४३
६३१	१७	१३२
टि ६३२	१७	१३२

शय्यैषणा

आचारांग-सूत्र

पृ	श्रु	अ	उ	सु
६४८	२	२	१	४१२
६३७	२	२	१	४१३
६३८	२	२	१	४१४
६४८	२	२	१	४१४
६४८	२	२	१	४१५
६४८	२	२	१	४१६
६४९	२	२	१	४१७
टि ६५२	२	२	१	४१२-४१७
६४९	२	२	१	४१८
६४७	२	२	१	४१९
६३८	२	२	१	४२०
६३८	२	२	१	४२१
६३९	२	२	१	४२२
६४०	२	२	१	४२३
६४०	२	२	१	४२४
६४०	२	२	१	४२५
६४१	२	२	२	४२७
६४१	२	२	२	४२८
६३९	२	२	२	४२९
६४३	२	२	२	४३०
६४९	२	२	२	४३१
६४४	२	२	२	४३२
६४४	२	२	२	४३३
६४४	२	२	२	४३४
६३५	२	२	२	४३५
६४४	२	२	२	४३६
६४५	२	२	२	४३७
६४५	२	२	२	४३८
६४५	२	२	२	४३९
६४५	२	२	२	४४०
६३६	२	२	२	४४१
६४३	२	२	३	४४३
६३३	२	२	३	४४४
६३२	२	२	३	४४५
६४२	२	२	३	४४७
६४२	२	२	३	४४८
६३९	२	२	३	४४९
६४१	२	२	३	४५०
६४२	२	२	३	४५१
६४२	२	२	३	४५२
पृ	श्रु	अ	उ	सु
६४२	२	२	३	४५३
६४२	२	२	३	४५४
६६०	२	२	३	४५५ (५)
६६०	२	२	३	४५८
६५७	२	२	३	४६० (१)
६५८	२	२	३	४६०-४६१
६५९	२	२	३	४६२
६५१	२	३	१	४६५-४६६
टि ६५४	२	७	१	६०८
६५८	२	७	१	६१०
६५५	२	७	१	६१२
६५५	२	७	१	६१३-६१५
६५५	२	७	१	६१६
६५६	२	७	१	६१७
६५६	२	७	१	६१७
६५६	२	७	१	६१८
६५६	२	७	१	६१९
६५४	२	७	२	६२१-६२२
६५३	२	७	२	६३५
६५२	२	८	१	६३७
६५२	२	९	-	६४१-६४२
६४७	२	९	-	६४३

सूत्रकृतांग-सूत्र

पृ	सु	अ	गा
६३६	१	११	१६

भगवती-सूत्र

पृ	सु	उ	सु
टि ६५३	१६	२	१०

दशवैकालिक सूत्र

पृ	चू	गा
६४४	२	११

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ	अ	गा
६५९	१७	१४

६३२	३५	६-७
६३६	३५	८-९

बृहत्कल्प सूत्र

पृ	उ	सु
६३४	१	६-७
६३४	१	८-९
६४६	१	१०
६३५	१	११
६३७	१	१२
६३४	१	१३
६५०	१	१४-१५
६३४	१	१६
६४६	१	२०
६३७	१	२१
६३५	१	२२
६३७	१	२३
६३५	१	२४
६३४	१	२५
६३७	१	२६
६३५	१	२७
६३७	१	२८
६३४	१	२९
६३७	१	३०
६३५	१	३१
६३७	१	३२
६३५	१	३३
६३७	१	३४
६३५	१	३५
६५०	२	१-३
६६३	२	४
६६३	२	५
६६३	२	६
६६३	२	७
६५१	२	८-१०
६३७	२	११
६३४	२	१२
६४६	३	१
६४७	३	२
टि ६५७	३	१९
६५३	३	२१
६६१	३	२४-२५
६५८	३	२६
६५८	३	२७
६५६	३	२८
६५४	३	२९—३२
६५४	३	३४
६४९	४	३६—३८

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु
६६१	५	३६-३८
६५७	५	३७-३९

व्यवहार सूत्र

पृ	उ	सु
६६४	६	१२-१३
६५२	६	१४-१५
६५३	७	२४-२५
६५६	८	१
६५७	८	२-४

६६१	८	६,८
६५७	८	७, ९
६६०	८	१०-१२

निशीथ सूत्र

पृ	उ	सु
६६४	२	३७
६६२	२	५०-५८
६६५	४	२३
६६५	४	२४
६६२	५	२३
६६४	५	६०-६२
६६५	८	१२-१३
६६६	९	११
६६५	१६	२९
६६५	१७	१२१
६६५	१७	१२२

वस्त्रैषणा

आचारांग-सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
६६६	१	२	५	८९ (क)
६७७	१	८	४	२१३-२१४
६७६	१	८	५	२१६-२१७
६७६	१	८	६	२२०-२२१
६७४	२	५	१	५५३ (क)
६७७	२	५	१	५५३ (ख)
६६९	२	५	१	५५४
६६९	२	५	१	५५५ (क)
६६९	२	५	१	५५५ (ख)
६७३	२	५	१	५५५ (ग)
६७३	२	५	१	५५६
६७०	२	५	१	५५७
६७०	२	५	१	५५८
६७१	२	५	१	५६१-५६२
६७१	२	५	१	५६३
६७१	२	५	१	५६४
६७२	२	५	१	५६५
६७२	२	५	१	५६६-५६७
६६६	२	५	१	५६८
६७८	२	५	१	५६९-५७१
६८०	२	५	१	५७२-५७४
६८२	२	५	१	५७५-५७८
६८२	२	५	१	५७९
६७५	२	५	२	५८१
६८४	२	५	२	५८३
६८४	२	५	२	५८४
६८५	२	५	२	५८५
६८५	२	५	२	५८६

ठाणांग-सूत्र

पृ	अ	उ	सु
टि ६७५	३	३	१७८
६७४	३	३	१७९
६७७	४	१	२४६
टि ६७५	५	३	४४६

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु.
६८६	१	१९
६६७	१	४०-४१
६६८	१	४२-४३
६७३	१	४५
टि ६७५	२	२९
६८६	३	३-४
६८६	३	५-६
६७९	३	७-८
६७९	३	९-१०
६७९	३	११-१२
६६८	३	१३
६७२	३	१६
६६७	३	१७
६६७	३	१८
६७९	५	३४-३६

निशीथ सूत्र

पृ	उ	सु
६८९	१	४७-५६
६८७	१	१४
६८७	२	१३
६८६	२	२२
६७९	२	२३
६७९	२	२४
६८९	५	१२
६८८	५	१३
६८९	५	२४
६७८	५	६५
६८८	११	८७-९०
६८६	१२	५
६७७	१२	७
६८८	१२	११
६८७	१५	८७
६८७	१५	९९
६८७	१६	३८
६७३	१८	२४-२७
६७४	१८	२८-३०
६७८	१८	३१-३२
६८५	१८	३३-३४
६८०	१८	३६-३७
६८०	१८	३९-४०
६८१	१८	४२-४३
६८१	१८	४५-४६
टि ६८१	१८	४८-४९
टि ६८१	१८	५१-५२
६८२	१८	५३-६३
६८८	१८	७१-७२
६८८	१८	७३-७४

आचारांग सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
६९०	२	६	१	५८८
६९२	२	६	१	५८९
६९२	२	६	१	५९० (क)
६९२	२	६	१	५९० (ख)
६९७	२	६	१	५९१ (क)
६९७	२	६	१	५९१ (ख)
६९२	२	६	१	५९२-५९३
६९४	२	६	१	५९६ (क-ख)
६९४	२	६	१	५९६ (ग)
६९५	२	६	१	५९७ (क)
६९५	२	६	१	५९७ (ख)
६९६	२	६	१	५९७ (ग)

६९६	२	६	१	५९८
६९०	२	६	१	५९९
६९८	२	६	१	६०० (क)
७०३	२	६	१	६०० (ख)
७००	२	६	१	६०० (ग)
७००	२	६	१	६०० (घ)
७०१	२	६	१	६०५ (ग)
७०२	२	६	२	६०५ (घ)
७०३	२	६	२	६०५ (ङ)
७०३	२	६	२	६०५ (च)

ठाणांग सूत्र

पृ	अ	उ	सु
टि ६९०	३	३	१७८

भगवती सूत्र

पृ	स	उ	सु
६९०	८	६	५-६

व्यवहार सूत्र

पृ	उ	सु
६९९	८	१६

बृहत्कल्प सूत्र

पृ	उ	सु
६९९	१	१७
६९९	१	१८
६९९	५	३०
६९९	५	४०-४२
६९९	५	४१-४३

निशीथ सूत्र

पृ	उ	सु
७०५	१	३९
७०६	१	४१-४६
७०५	२	२५
७०७	२	२७-३१
६०८	५	६४
६९३	११	१-२, ४-५
६९२	११	७-८
६९७	१४	१-४
६९१	१४	५-७
६९८	१४	८-९
७०२	१४	१०-११
७०४	१४	१२-२३
७००	१४	२४-३४
७०६	१४	३५-४०
७०५	१४	४१
७०७	१४	४२-४३
७०७	१४	४४-४५

पायपुंछण एषणा

बृहत्कल्प-सूत्र

पृ	उ	सु
७०८	५	४४-४५

निशीथ सूत्र

पृ	उ सु	
७०९	२	१-८
७०९	५	१५-१८
टि ७०८	५	१५-१८

रजोहरण एषणा

ठाणांग सूत्र

पृ	अ	उ	सु
७१०	५	४	४४६

भगवती सूत्र

पृ	स	उ	सु
७११	८	६	५
७११	८	६	६

दशवैकालिक सूत्र

पृ	अ	सु
७१०	४	५४

बृहत्कल्प

पृ	उ	सु
७१०	२	३०

निशीथ सूत्र

पृ	उ	सु
७१०	५	६७-७७

आदान-निक्षेपणा-समिति

आचारांग सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
७१२	२	१	३	३४४-३४५
टि ७१३	२	५	२	५८२
टि ७१३	२	६	२	६०५ (क-ख)
७१३	२	७	१	६०७ (ग)
७१७	२	७	१	६११

ठाणांग सूत्र

पृ	अ	सु
७१५	६	५०३

प्रश्नव्याकरण सूत्र

पृ	सु	अ	सु
७१२	२	५	८

दशवैकालिक सूत्र

पृ	अ	उ	गा
टि ७१३	५	१	८
७१२	६	-	१९
७१५	८	-	१७

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ	अ	गा
७१६	१७	७
७१६	१७	९-१०
७१५	२४	१३-१४
७१६टि	२६	२५-२६
७१८	२९	३६

व्यवहार सूत्र

पृ	उ	सु
७१४	८	५
७१८	८	१३-१५

निशीथ-सूत्र

पृ	उ	सु
७१७	१	३५-३८
७१४	१	४०
७१६	२	५९
७१७	५	१९-२२
७१४	५	६६
७१४	१६	३९

परिष्ठापनिका समिति

आचारांग सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
७२१	२	२	३	४५९
७२१	२	१०	-	६४५
७२५	२	१०	-	६४६-६४७
७२२	२	१०	-	६४८
७२५	२	१०	-	६४९
७२२	२	१०	-	६५०-(क)
७२३	२	१०	-	६५१-६६६
७२१	२	१०	-	६६७

दशवैकालिक सूत्र

पृ	अ	गा
७२०	८	१८

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ	अ	गा
७२०	२४	१५
७२०	२४	१६
७२०	२४	१७-१८

बृहत्कल्प सूत्र

पृ	उ	सु.
७२१	४	२९

व्यवहार सूत्र

पृ	उ	सु
७२२	७	२१

निशीथ सूत्र

पृ	उ	सु
७२८	२	४१
७२६	३	७१-७९
७२८	३	८०
७२७	४	१०४
७२९	४	१०२-१०३
७२९	४	१०५
७२९	४	१०६-१११
७२७	१५	६६-७४
७२७	१६	४०-५०

गुप्ति

आचारांग सूत्र

पृ	सु	अ	उ	सु
७३२	१	३	२	११८
७३५	१	४	४	१४४-१४५
७३७	१	५	२	१५२-१५३
७३४	१	८	१	२०१
७३८	१	८	१	२०१

सूत्रकृतांग सूत्र

पृ	सु	अ	गा
७३४	१	१०	१५

ठाणांग सूत्र

पृ	अ	उ	सु
७३०	३	१	१३४
टि ७३१	१०	-	७५५
७३३	१०	-	७११ (क)
७३३	१०	-	७११ (ख)

समवायांग सूत्र

पृ	सम	सु
७३२ टि	१०	१

दशवैकालिक सूत्र

पृ	अ	गा
७३०	१०	१५

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ	अ	गा
७३८	१७	१३
७३१	२३	५५-५८
७३०	२४	१९
७३१	२४	२०
७३०	२४	२१
७३४	२४	२२
७३४	२४	२३
७३४टि	२४	२३
७३५	२४	२४
७३५	२४	२५
७३०	२४	२६(२)
७३४	२९	२७
७३३	२९	५५
७३४	२९	५६
७३६	२९	५७
७३४	२९	५८
७३५	२९	५९
७३६	२९	६०
७३७	२९	६४-६८

दशाश्रुतस्कन्ध

पृ	द	सु
७३१	५	१-२
७३१	५	६

आवश्यक सूत्र

पृ	अ	सु
७३०टि	४	२२

चरणानुयोग : भाग २

दीक्षा

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सू.
२/३	१	५	३	१५८
२/३	१	८	१ टि	२०२(ङ)
२/३	१	८	३ टि	२०९(क)

ठाणांगसूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सूत्र
२/३	२	१	५४-५५
२/४	२	१	६६(क)
२/३	३	२	१६३(२)
२/६	३	२ टि	१६५(१-४)
२/८	३	२ टि	१६७ (१)
२/५	३	४	२०४
२/२	४	३	३२९
२/६	४	४	३५५(१-५)
२/७	४	४	३५५(६-७)
२/७	४	४	३५५(८)
२/७	५	३	४४३(२,३)
२/७	१०		७१२

भगवती सूत्र

पृष्ठ	श	उ	सू.
२/१	९	३१	४
२/१	९	३१	१३
२/१	९	३१	३२

दशवैकालिक सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
२/१०	४	१-६
२/९	४	७-१२

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	उ	सू.
२/८	३५	१-२

व्यवहार सूत्र

पृष्ठ	उ	सू.
२/८	४	१५-१७
२/४	७	६-९
२/८	१०	१९
२/४	१०	२०-२१

बृहत्कल्प सूत्र

पृष्ठ	उ	सू.
२/५	३	१४-१५
२/५	४ टि	४-९

निशीथ सूत्र

पृष्ठ	उ	सू.
२/५	११	८४
२/१०	११	८५

संयमी जीवन

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सु
२/२६	१	१	१	४-९
२/२०	१	१	३	१९-२१
२/१९	१	१	५	४०
२/१९	१	२	२	७०-७१
२/२८	१	२	६	१००-१०१
२/२७	१	३	१	१०६
२/२७	१	३	१	१०७
२/५४	१	३	१	१०७(ख)
२/२७	१	३	३	१२२
२/२६	१	४	३	१८४-१८९
२/३८	१	६	२	१८५(ग)
२/२६	१	६	५	१९७(ख) १९८
२/१९	१	८	३	२०९(ग)

सूत्रकृतांग सूत्र

पृष्ठ	श्रु	अ	उ	गा
२/४१	१	१	४	११-१३
२/२६	१	२	१	१२

२/४१	१	२	२	४-८
२/२६	१	२	२	२०
२/२६टि	१	२	२	२०
२/५४	१	२	३	१
२/३७	१	२	१	१
२/४०	१	२	३	१४-१५
२/४०	१	२	३	२०-२२
२/५३	१	३	४	१४-१५
२/५२	१	३	४	१८-२०
२/३७	१	२	१	१
२/३७	१	२	१	३
२/३७	१	२	१	१०
२/३७	१	९		२-७
२/३९	१	१०		१
२/४६	१	१०		२
२/४०	१	१०		३
२/३९	१	१०		४
२/४२	१	१०		७
२/३९	१	१०		१३
२/४२	१	१०		१४
२/४०	१	१०		१५
२/५५	१	१३		२-११
२/३९	१	१३		२३
२/३८	१	१५		६-७
२/३९	१	१५		१०-१५
२/२१	१	१६		सु ६३२-६३७
२/३२टि	२	२		सु ७१४
२/४५	२	५		गा ३३

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सु
२/१७	२	१	५४-५५
७/१३	२	१	६२
२/५३	३	१	१४४
२/१७	३	२	१६३
२/१७	३	२	१६३
२/११टि	३	४	२०६
२/४४	३	४	२१०
२/१३	४	२	३१० (१-३)
२/३५	४	३	३२५
२/३६	४	३	३२५
२/१५	४	४	३६८
२/२८	५	२	४२२
२/१४	५	२	४२८
२/१४	५	२	४२९
२/१६	५	२	४३०
२/२८	६		४९६
२/१५		६	५२१
२/११ टि		६	५३०
२/१५		८	६१५
२/१३		८	६४७

समवायांग सूत्र

पृष्ठ	सम	सू.
२/१४	१७	१(१)
२/१४	१७	१(२)
२/४५	१८	१
२/२९	२७	१
२/४५	३२	१

भगवती सूत्र

पृष्ठ	श	उ	सू.
२/३०	१	९	१७-१९
२/३०	२	१	८-९
२/१७	९	३१	६
२/१८ टि	९	३१	१३
२/१८	९	३१	३२
२/५३	१४	९	१७

प्रश्नव्याकरण -सूत्र

पृष्ठ	श्रु	अ	सु
२/२२	२	५	१
२/२१	२	५	९
२/३२	२	५	१०
२/२२	२	५	११

औपपातिक सूत्र

पृष्ठ		सु
२/३२	टि	२७
२/३२	टि	१२६

दशवैकालिक सूत्र

पृष्ठ न	अ	उ	गा
२/२१	२		२-३
२/१८	३		११
२/२०	३		१२
२/२६	३		१३
२/५२	३		१४-१५
२/५६	४		२६
२/५०	५	२	८
२/४२	५	२	२९-३०
२/५७	५	२	३६-४५
२/४५	६		७
२/४५टि	६		७
२/४५	६		८-१०
२/४६	६		११-१२
२/४६	६		१३-१४
२/४६	६		१५-१६
२/४७	६		१७-२१
२/४७	६		२२-२५
२/४७	६		२६-२८
२/४७	६		२९-३१
२/४७	६		३२-३५
२/४८	६		३६-३९
२/४८	६		४०-४२
२/४८	६		४३-४५
२/४९	६		४६-४९
२/४९	६		५०-५२
२/४९	६		५३-५५
२/५०	६		५६-५८
२/५८ टि	६		५९
२/५१	६		६०-६३
२/५१	६		६४-६६
२/५२	६		६७-६८
२/३८	८		४१-४२
२/३८	८		४४-४५
२/४०	८		६०
२/३८	९	३	३
२/२८	९	३	१०-१२

२/२२	१०	१-७
२/२३	१०	१६-१८
२/२३	१०	१०
२/२४	१०	२०-२१
२/४१चु	२	५
२/५७ चु	२	७
२/४२ चु	२	७-८
२/४२ चु	२	९
२/४३, चु	२	१२-१६

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
२/५६	५	२१-२२
२/३९	६	१३
२/३८	८	१-४
२/५५	८	५
२/५५	८	६
२/५५	८	७
२/५५	८	८
२/५५	८	९
२/४६	८	१०
२/११	९	४४
२/३४	११	४४
२/२५	१५	१-१६
२/४२	१७	१२
२/५६	१७	२०
२/५६	१७	२१
२/३४	२०	६०
२/४१	२१	११-१४
२/४३	२१	१५-१६
२/४३	२१	२०--२२
२/३४	२१	१७
२/४३	२१	१८
२/३४	२१	१९
२/३४	२१	२३
२/३४	२७	२
२/११	२८	३२-३३
२/५२	२९	सु १०
२/५१	२९	सु ४६
२/११	३१	२
२/३९	३२	४
२/२५	३५	१३
२/४२	३५	१८
२/४१	३५	१९

बृहत्कल्प सूत्र

	उ	सू.
२/५०	३	२१-२३
२/११	६	२०

निशीथ सूत्र

२/४९	१२	१०
२/५०	१२	१२

समाचारी

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	श्रु	अ	उ	सू
२/६३	२	३	१	४६४

२/६३	२	३	१	४६५
२/६४	२	३	१	४६६
२/६४	२	३	१	४६७
२/६४	२	३	१	४६८

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सू.
२/६८ टि	४	१	२७४
२/६५	५	२	४१३(१-२)
२/६५ टि	५	२	४१३
२/५९	६		५२४(क)
२/५९	६		५२४(ख)
२/६८ टि	९		६७४
२/५७ टि	१०		७४९

भगवती सूत्र

पृष्ठ	श	उ	सू.
२/५७ टि	२५	७	१९४

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
२/६२	१७	३
२/६८ टि	१७	१५
२/५७	२६	१
२/५७	२६	२-४
२/५८	२६	५-७
२/५९	२६	८-१२
२/५९	२६	१३-१४
२/५९ टि	२६	१५
२/५९	२६	१६
२/६२	२६	१७-१८
२/६२	२६	१९-२०
२/६०	२६	२१-२२
२/६०	२६	२३-२५
२/६०	२६	२६-२७
२/६१	२६	२८
२/६१	२६	२९-३०
२/६१	२६	(३०)
२/६१	२६	३१
२/६१	२६	३६-३८
२/६१	२६	३९-४२
२/६२ टि	२६	४३
२/६२	२६	४४-४६
२/६२	२६	४७-५१
२/६३	२६	५२

दशाश्रुतस्कन्ध

२/६४	८	८
२/६६	८	९
२/६८	८	१२-१५
२/६८	८	१६
२/६९	८	१७
२/६७	८	१८
२/६७	८	१९-२४
२/६७	८	२९
२/७१	८	३०
२/७१	८	३१
२/७२	८	३२
२/७२	८	३३
२/७२	८	३४
२/७२	८	३५
२/६९ टि	८	४०
२/६९	८	४४
२/७०	८	४५-४७
२/६८	८	४८
२/७१	८	४९
२/७७	८	५०
२/६६	८	५९-६१
२/६८	८	६२
२/७६	८	६३
२/७१	८	६४
२/७३	८	६५
२/७५	८	६६
२/७४	८	६७
२/७५	८	६८
२/७४	८	६९
२/७६	८	७०
२/७६	८	७१
२/७७	८	७२
२/७३	८	७३
२/६६	८	७४
२/६५	८	७५
२/७८	८	७६

बृहत्कल्प सूत्र

पृष्ठ	अ	सू.
२/६५ टि	१	३५
२/६३ टि	१	३७

निशीथ सूत्र

	उ	सू.
२/६८ टि	४	२१
२/६५	१०	४०-४१
२/७७	१०	४२,४३,४६
२/७६	१०	४४
२/७२	१०	४५
२/७५	१०	४७

प्रतिक्रमण

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सू.
२/९९ टि	२	१	५२(१-२)
२/८८ टि	३	१	१३४(१)
२/८८ टि	३	१	१३४(५)
२/९९	३	१	१३६
२/८८ टि	३	३	१८८(१०)
२/८४	३	४	१९८(१४-१७)
२/८४	३	४	१९८(१८-२१)
२/८८ टि	३	४	२१५
२/८९ टि	४	१	२४७ (१)
२/८८ टि	४	१	२४९(१)
२/८९ टि	४	२	२८२ (१)
२/१०२	४	३	३२७ (१०-१२)
२/८९ टि	५	१	३८९ (१)
२/८९ टि	५	१	३९० (३)
२/८९ टि	५	३	४५७
२/९९	५	३	४६६(१)
२/८३	५	३	४६६(२)
२/८९ टि	६		४८०
२/९० टि	६		५०४(१)
२/८३	६		५३८
२/९० टि	७		५४९
२/९० टि	८		६०६
२/९० टि	९		६६३(१)
२/९० टि	१०		७१२(२)
२/१००टि	१०		७४८
२/९० टि	१०		७५५(६-१)
२/९१ टि	१०		७५५(६-२)
२/९० टि	१०		७५५ (६-३)
२/९० टि	१०		७५५ (६-६)
२/९० टि	१०		७५५(६-७)
२/९१ टि	१०		७५५ (६-९)

समवायांग सूत्र

पृष्ठ		सम	सू
२/८८	टि	२	१ (१)
२/८८	टि	३	१ (१)
२/८८	टि	३	१ (२)
२/८८	टि	३	१ (३)
२/८८	टि	३	१ (४)
२/८८	टि	३	१ (५)
२/८८	टि	४	१ (१)
२/८९	टि	४	१ (२)
२/८९	टि	४	१ (३)
२/८९	टि	४	१ (४)
२/८९	टि	५	१ (१)
२/८९	टि	५	१ (२)
२/८९	टि	५	१ (३)
२/८९	टि	५	१ (७)
२/९०	टि	६	१ (१)
२/८९	टि	६	१ (२)
२/९०	टि	७	१ (१)
२/९०	टि	८	१ (१)
२/९०	टि	९	१ (१)
२/९०	टि	१०	१ (१)
२/९०	टि	११	१ (१)
२/९०		१२	१ (१)
२/८६	टि	१२	१ (गा ७)
२/९०	टि	१३	१ (१)
२/९०	टि	१४	१ (१)
२/९०	टि	१५	१ (१)
२/९०	टि	१६	१ (१)
२/९०	टि	१७	१ (१)
२/९०	टि	१८	१ (१)
२/९०	टि	१९	१ (१)
२/९०	टि	२०	१ (१)
२/९१	टि	२१	१ (१)
२/९१	टि	२२	१ (१)
२/९१	टि	२३	१ (१)
२/९१	टि	२४	१ (१)
२/९१	टि	२५	१ (१)
२/९१	टि	२६	१ (१)
२/९१	टि	२७	१ (१)
२/९१	टि	२८	१ (१)
२/९१	टि	२९	१ (१)
२/९१	टि	३०	१ (१)
२/९१	टि	३१	१ (१)
२/९१	टि	३२	१ (१)
२/९१	टि	३३	१ (१)

भगवती सूत्र

पृष्ठ	श	उ	सू.
२/१०१	७	२	१
२/१०१	७	२	२-८

उपासकदशा सूत्र

पृष्ठ	अ	सू.
२/९३	१	५७

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ नं		अ	सू.
२/९१	टि	२	गा १-४४
२/१०२		२९	१३
२/१०३		२९	१५
२/१०३		२९	३५
२/१०३		२९	३६
२/१०३		२९	३७
२/१०३		२९	३८
२/१०४		२९	३९
२/१०४		२९	४०
२/१०४		२९	४१
२/१०४		२९	४२
२/१०४		२९	४३

अनुयोगद्वार सूत्र

पृष्ठनं	सू.
२/८२	९-२९
२/८२	७३
२/८२	७४

निशीथ सूत्र

पृष्ठ नं	उ	सू
२/१०५	१२	३

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र

पृष्ठनं	दसा		सू.
२/९० टि	द	६	१-३०
२/९० टि	द	७	१-३९
२/८९ टि	द	३	३ (१)

आवश्यक सूत्र

पृष्ठ		अ	सू.
२/८४	सुत्ता	१	१
२/८५		१	२
२/८५		३	१०
२/८५		४	१
२/८५	टि	४	११
२/८६		४	१५
२/८६		४	१६
२/८६		४	१७
२/८६		४	१८
२/८८		४	१९
२/९१		४	२०-२६(१)
२/९३	सुत्ता	४	३२
२/९३		४	३३
२/९४		५	३६-३७
२/९४		६	९६
२/९४		६	९७
२/९५		६	९८
२/९५		६	९९
२/९५		६	१००
२/९५		६	१०१
२/९६		६	१०२
२/९६		६	१०३(१)
२/९६		६	१०३(२)
२/९७		६	१०४
२/९७		६	१०५
२/९८	सुत्ता	६	000

गृहस्थ धर्म

सूत्रकृतांग सूत्र

पृष्ठ नं	श्रु	अ	उ	सू.
२/१२६	१	२	३	गा १३

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ नं	अ	उ	सू.
२/१०६	३	१	१३३(१)
२/१०६	३	१	१३३ (२)
२/१०७	३	१	१३३ (३)
२/१०७	३	१	१३३ (४)
	३	२	१९४
२/१२१	३	४	२१०
२/१०५	४	३	३२२
२/१०६	४	३	३१४
२/१०८ टि	५	१	३८९

समवायांग सूत्र

पृष्ठ नं	सम	सू.
२/११७	११	१

भगवती सूत्र

पृष्ठ नं	श	उ	सू.
२/१२६	१	१	१२
२/१०७	५	६	१-४
२/११२	७	१	६
२/१२१	७	१	७-८
२/११५	७	१	९-१०
२/११३	८	५	२-३
२/११३	८	५	४-५
२/१२५	८	५	६-८
२/१२७	८	५	९-१४
२/११५	८	६	१-२
२/११६	८	६	३

उपासकदशा सूत्र

पृष्ठ नं		अ	सू.
२/१०८		१	११
२/१०७	टि	१	४४
२/१०८	टि	१	४५
२/१०९	टि	१	४६
२/१०९	टि	१	४७
२/११०	टि	१	४८
२/११०	टि	१	४९
२/११०	टि	१	५०
२/१११	टि	१	५१
२/१११	टि	१	५२
२/११२	टि	१	५३
२/११४	टि	१	५४
२/११४	टि	१	५५
२/११४	टि	१	५६
२/११५	टि	१	५६

औपपातिक सूत्र

पृष्ठ नं		सूत्र
२/१०८	टि	५७

उत्तराध्ययन

पृष्ठ नं	अ	सू.
२/१२५	५	गा २३-२४

दशाश्रुतस्कन्ध

पृष्ठ नं		दशा		सू.
२/११६	टि	द	६	१-२
२/१२०	टि	द	६	१७-३०

आवश्यक सूत्र

पृष्ठ नं	अ	सू.
२/१०६	४	000
२/१०७	६	६४-६५
२/१०८	६	६६-६७
२/१०९	६	६८-६९
२/१०८	६	९३
२/१०७	६	९४
२/१०९	६	७०-७१
२/११०	६	७२-७३
२/११०	६	७४-७५
२/११०	६	७६-७७
२/१११	६	७८-७९(१)
२/१११	६	७९ (२)
२/१११	६	८०-८१
२/११२	६	८२-८३
२/११४	६	८७-८८
२/११४	६	८९-९०
२/११५	६	९१-९२

आराधना-विराधना

आचारांग सूत्र

पृ नं	श्रु	अ	उ	सू.
२/१२७टि	१	५	५	१६८
२/१२८	१	६	४	१९२
२/१७३	१	८	४	२१५
२/१५९	२	१	२	३३८

सुयगडांग सूत्र

पृ न	श्रु	अ	उ	सू
२/१७७	१	२		१२९ गा
२/१७२टि	१	३	३	९-१०
२/१६८	२	१		६८२
२/१५७टि	२	२		५८-६१ (अंगसुत्ताणि)
२/१६२टि	२	२		४० (अंगसुत्ताणि)

स्थानांग सूत्र

पृ न	अ	उ	सू.
२/१५०	२	४	११३
२/१३५	२	४	११८
२/१७०	३	४	२२२ (१)
२/१३४	४	३	३२१ (१-४)
२/१५४	४	४	३४४
२/१२७ टि	८		५९७
२/१५६ टि	८		५९७
२/१५६ टि	८		५९७

समवायांग

पृ न	सम	सू
२/१३६	३	१(४)
२/१६९	१७	१(९)

भगवती सूत्र

पृ न	श	उ	सू.
२/१२८	१	३	६
२/१६९ टि	२	१	२६
२/१६४ टि	२	५	११
२/१६५ टि	२	५	११
२/१६५ टि	२	५	११
२/१६५ टि	२	१	२६
२/१३०	३	४	१९ (३)
२/१३४	५	६	१५-१८
२/१३०	८	६	७-११
२/१३३	८	१०	१-२
२/१३५	८	१०	३-६
२/१३६	८	१०	७-९
२/१३०	१०	२	७-९
२/१६९	१३	७	४१

ज्ञाताधर्मकथा

पृ न	अ	सू
२/१५५ टि	१	४७
२/१३२	११	३-१३

उपासकदशा सूत्र

पृ न	अ	सू.
२/१३९	१	११

उववाई सूत्र

पृ न	सू.
२/१४०	६७
२/१४१	६८-६९
२/१४३	७०
२/१४४	७१
२/१४५	७२
२/१४५	७३
२/१४७	७४
२/१४७	७५
	७६-८१
२/१५१	११७
२/१४०	११८-११९
२/१५१	१२०
२/१५२	१२१
२/१५२	१२२
२/१४०	१२३-१२४
२/१३८	१२४-१२९

प्रज्ञापना

२/१२७ टि पद ११ सू. ८९९

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ न	अ	सू.
२/१७०	५	१-३
२/१७२	५	४-१६
२/१७२	५	१७-२०
२/१७२	५	२९-३०
टि	१७	१२-२१
२/१७२	३६	२५६-२६०
२/१७१	३६	२६१
२/१५४	३६	२६३-२६७

दशाश्रुत स्कंध

पृ न	दशा	सू.
२/१६७	५	६
२/१२७ टि	७	१-३५
२/१२८ टि	१०	५
२/१५७	१०	२२-२५
२/१५८	१०	२६-२९
२/१५९	१०	३०-३२
२/१६७	१०	३३
२/१६०	१०	३३-३४
२/१६१	१०	३४-३७
२/१६३	१०	३८
२/१६४	१०	३९-४१
२/१६६	१०	४२-४६
२/१६७	१०	४७-४९
२/१६८	१०	५०-५३

बृहत्कल्प सूत्र

पृ न	उ	सू.
२/१२७ टि	१	३६

निशीथ सूत्र

पृ न.	उ	सू.
२/१७४	११	९२

आवश्यक सूत्र

पृ न	अ	सू
२/१३६ टि	४	२४(४)

अनाचार

आचारांग सूत्र

पृ न	श्रु	अ	उ	सू
२/१७८	१	२	१	६५-६६
२/१७८	१	३	४	१२९(ख)
२/१७७	१	५	१	१५०
२/१७७	१	५	१	१५१(ख)

सूत्रकृतांग सूत्र

पृ न	श्रु	अ	उ	सू
२/१७९	१	२	१	२
२/१७९	१	२	१	५-६
२/१९१	१	२	२	७-९
२/१९२	१	२	२	१-२
२/१९२	१	२	२	३
२/१९०	१	९		११
२/१७६	१	९		१२ २३
२/१७६	१	९		२९
२/१९२	१	९		३६
२/१९३	१	१३		१२-१४
२/१९२	१	१३		१५-१६
२/१८२ टि	२	१		६८१
२/१७४	२	१		६८३
२/१९३	२	१		६८६
२/१८९ टि	२	२		६९४
२/१७४	२	५		१

ठाणांग सूत्र

पृ न	अ	उ	सू
२/१८० टि	३	४	१९८
२/१८१ टि	३	४	१९८
२/१८१ टि	५	२	४२५
२/१७६	६		५०१
२/१८०	६		५०२
२/१८० टि	६		५२९
२/१९१	८		६०६
२/१९०	८		६०८
२/१८१	१०		७३८ (१)
२/१८१	१०		७३८ (२)

समवायांग सूत्र

पृ न	सम	सू.
२/१८९	१३	१
२/१८५ टि	२०	१
२/१८४ टि	२१	१
२/१९० टि	२९	११
२/१८९ टि	३०	१

भगवती सूत्र

पृ न	श	उ	सू.
२/१८१	१	६	११
२/१८१ टि	२	१	५०
२/१८१ टि	७	१०	१६
२/१८१ टि	१७	२	१७
२/१८१ टि	१८	४	२

दशवैकालिक सूत्र

पृ नं	अ	गा
२/१८३	३	१-१०
२/१९२	८	३०
२/१७४	८	३१-३२
२/१९१	८	५०
२/१९२	१०	१९

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ नं	अ	गा
२/१७७	४	१
२/१७९	४	६-१०
२/१९२	६	११-१२
२/१९०	८	१३
२/१७७	१०	१-३
२/१७८	१०	२१-२६
२/१७९	१०	२७
२/१७८	१०	३५-३७
२/१९०	१५	७
२/१७६	१७	१
२/१७७	१७	२
२/१७६	१७	१०
२/१७७	१७	११
२/१७७	१७	१६
२/१९०	१७	१८
२/१७६	१७	१९
२/१९०	२०	४५
२/१९१	२३	५०-५३
२/१९३	२९	सू. ६९
२/१९३	२९	सू. ७०
२/१९३	२९	सू.७१
२/१९४	२९	सू.७२

दशाश्रुतस्कन्ध

पृ नं	दशा	सू.
२/१८५	१	३-४
२/१८४	२	२
२/१८९	९	१-३९

बृहत्कल्प सूत्र

पृ नं	उ	सू.
२/१८०	६	१९

निशीथ सूत्र

पृ नं	उ	सू.
२/१९५	१	१०
२/१९४	४	२७
२/१९७	१०	७-८
२/१९७	११	६४-६५
२/१९७	११	६६-६७
२/१९७	११	६८-६९
२/१९८	११	७०
२/१९८	११	८२-८३
२/१९४	१३	१२
२/१९४	१३	१३-१५
२/१९४	१३	१६
२/१९५	१३	१७
२/१९५	१३	१८
२/१९७	१३	१९-२०
२/१९७	१३	२१
२/१९६	१३	२२-२४
२/१९६	१३	२४-२७
२/१९६	१३	२८
२/१९६	१३	२९-३०
२/१९६	१७	१३३

संघ व्यवस्था

आचारांग सूत्र

पृ नं	श्रु	अ	उ	सू
२/२४६	१	५	१	१५१
२/२४५	१	५	५	१६२ (क)
२/२०२	१	५	४	१६६
२/२४५	१	६	२	१८६
२/२३३	१	८	१	१९९
२/२३३	१	८	२	२०७-२०८
२/२३४	२	१	१	३२७
२/२३४	२	१	१	३३०

सूयगडांग सूत्र

पृ नं	श्रु	अ	उ	सू
२/२४६	१	२	२	१२२-१२८ (१२-१८)
२/२४६	१	१०		१२
२/२७१	२	२		७१४
२/२००टि	२	७		८७२

समवायांग सूत्र

पृ नं	सम	सू
२/२३१	१२	१ (२)

स्थानांग सूत्र

पृ नं	अ	उ	सू
२/१९९	३	१	१२७ (२)
२/१९९	३	१	१३७ (४)
२/२०१	३	३	१८० (१)
२/२३१	३	३	१८० (३)
२/२०१	३	३	१८० (४)
२/२०२	३	३	१८० (५)
२/२०२	३	३	१८० (६)
२/२०२	३	३	१८० (७)
२/२५३	३	३	१८८ (८)
२/२५३	३	३	१८८ (९)
२/२५२ टि	३	४	१९८ (१९)
२/२५३ टि	३	४	१९८ (१०)
२/२०६	३	४	२१४ (६-७)
२/१९९	३	४	२२० (१)
२/१९९	३	४	२२० (२)
२/१९९	३	४	२२० (३)
२/२२७	४	२	२९०
२/२०३ टि	४	३	३२० (१-२)
२/२०३ टि	४	३	३२०(३-४)
२/१९८ टि	४	४	३६३
२/२००	५	१	३९६ १-२
२/२३१	५	१	३९८ (१)
२/२५३	५	१	३९९ (१)
२/२५४	५	१	३९९ (२)
२/२२७	५	२	४१
२/२२८	५	२	४१७ (१)
२/२२९	५	२	४१७ (२)
२/२०१ टि	५	२	४२१
२/२२९	५	२	४३-
२/२०५ टि	५	२	४३
२/२३७	५	२	४३९
२/२१६	६		४७५
२/२२९ टि	६		४७६
२/२२९	६		
२/२३७	७		५४१
२/२०९	७		५४४
२/२०५	७		५७०
२/२४४	८		५९
२/२०६	८		६०१
२/२३२	९		६६१
२/२५२	१०		७३९ (१)
२/२५३	१०		७३९ (२)
२/२००	१०		७६१

भगवती सूत्र

पृ नं	अ	उ	सू
२/२०१	८	८	८-
२/१९८टि	१६	६	२१ (५
२/२००	२०	८	
२/१९९	२०	८	१२-१
२/१९८	२०	८	१

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ नं	उ	स
२/२५५	२९	१
२/२३४	२९	३
२/२४५	३२	गा

दशवैकालिक सूत्र

पृ नं	अ	चु	गा
२/२४४टि	१०	२	१

दशाश्रुतस्कन्ध

पृ नं	दशा	
२/२०६ टि	४	१-
२/२०६	४	
२/२०६	४	
२/२०६	४	
२/२०७	४	
२/२०७	४	
२/२०८	४	८-१
२/२०८	४	१
२/२०८	४	

बृहत्कल्प सूत्र

पृ नं.	उ	
२/२५४	१	३

२/२२६	१	३७-३८
२/२२६	१	४८-५१
२/२२६	१	५२
२ २२१	३	२०
२/२३०	४	२०-२२
२/२४०	४	२३-२५
२ २४२	४	२६-२८
२/२५६	४	३०
२/२५५	५	५
२/२२५	५	१६ १८
२/२३०	५	४६
२/२३०	६	३-६
२/२२०टि	६	७-१८

व्यवहार सूत्र

पृ न	उ	सु
२/२२६	१	२३-२५
२/२२१	१	२६
२/२५१	१	२७
२/२५१	१	२८
२/२' १	१	२९
२/२०२	१	३०
२/२५२	१	३१
२/२१६	२	१८-२२
२/२११	२	२६
२/२१७	३	१-२
२/२१६	३	३-४
२/२१०	३	५,७,९,
२/२११	३	६,८,१०
२/२१६	३	११
२/२२०	३	१२
२/२१४	३	१३-१७
२/२१'	३	१८-२२
२/२१	३	२३-२९
२/२२	४	१-१०
२/२१८	४	११-१२
२/२११	४	१३
२/२१२	४	१४
२/२३९	४	१८
२/२२१	४	२४-२५
२/२२२	४	२६-३२
२/२२५	५	१-१०
२/२२१	५	११-१२
२/२१८	५	१३
२/२१९	५	१४
२/२१३	५	१५
२/२२०	५	१६
२/२१४	५	१७-१८
२/२३०	५	१९
२/२३०	५	२०
२/२३४	५	२१
२/२०५टि	६	१०
२/२०५	६	११
२/२४४	६	१४-१५
२/२४३	६	१८-२१
२/२४४	७	१-३
२/२३२	७	४-५
२/२२६	७	१०-११
२/२ ,४	७	१२-१३
२/२१९	७	१९-२०
२/२०१टि	१०	५
२०४	१०	६-१०
२/२०३	१०	१४-१५
२/२०३	१०	१६-१७
२/१९९	१०	१८
२/२२४	१०	२२-२३
२/२२३	१०	२४-३८

निशीथ सूत्र

पृ नं	उ	सू.
२/२३४	२	४०
२/२३६	३	१-१२
२/२५५	४	२५-२६
२/२४७	४	२८-२९
२/२४८	४	३०-३१
२/२४८	४	३२-३३
२/२४९	४	३४-३५
२ /२४९	४	३६-३७
२/२४७	४	११२
२ /२२७	८	११
२/२५५	१०	१३
२/२५५	१०	१४
२/२३६	१२	४०-४१
२/२३६	१५	७५
२/२४७	१५	७७-७८
२/२४८	१५	७९-८०
२/२४८	१५	८१-८२
२/२४९	१५	८३-८४
२/२४९	१५	८५-८६
२/२४७	१५	८९-९०
२/२४८	१५	९१-९२
२/२४८	१५	९३-९४
२/२५०	१५	९५-९६
२/२४९	१५	९७-९८
२/२४१	१६	१६
२/२५६	१६	१७-२५
२/२३६	१६	३६-३७
२/२३३	१७	१२१-१२२

तपाचार (वाह्यतप)

आचारांग

पृ नं	श्रु	स	उ	सु
२/२६४	१	८	६	२२४
२/२६४	१	८	७	२२८
२/२६०	१	८	८	१ (१६)
२/२६१	१	८	८	२-११
२/२६३	१	८	८	१२-१८
२/२६५	१	८	८	१९-२५
२/२६५टि	२	१	६	३६०
२/२६५टि	२	१	११	४०९
२/२९०	२	१	११	४०९
२/२९०	२	१	११	५०९
२/२९०	२	१	११	४१०
२/२९०	२	२	३	४५६-४५७
२/२९४	२	५	१	५५९-५६०
२/२९४	२	६	१	५९४-५९५
२/२९४	२	७	२	६३३-६३४
२/२९५	२	८	१	६३८-६३९

सूयगडांग सूत्र

पृ नं	श्रु	अ	उ	गा.
२/२५७	१	२	१	१४-१५
२/२५७	१	८		२४
२/२५७	१	१०		११(ख)
२/२७१ टि	२	२		७१४

स्थानांग सूत्र

पृ नं	अ	उ	सू
२/२६५	२	१	६६ (ख)
२/२७९ टि	२	३	७७ (१-२)
२/२७९ टि	२	३	७७ (३-४)
२/२७९ टि	२	३	७७ (५-६)
२/२९७ टि	२	३	७७ (६)
२/२६१	२	४	११३
२/३१८	३	३	१७६
२/२६०	३	३	११८ (१-३)
२/२६६ टि	३	३	१८८ (क) (७)
२/२६६ टि	२	३	१८८ (६)
२/२८५ टि	३	३	१८८ (१२)
२/२८८ टि	३	३	१८८ (१३-१४)
२/२८२ टि	३	४	१९६ (१)
२/२८२ टि	३	४	१९६ (२)
२/२८२ टि	४	१	२३७
२/२७९ टि	४	१	२५१ (१)
२/२७९	४	१	२५१ (२-३)
२/२७७ टि	४	२	२७८ (१-२)
३/२७७	४	२	२७८ (३ ४)
२/२५८	४	२	३०९
२/२९२ टि	४	३	३३१ (६)
२/२९३ टि	४	३	३३१ (७)
२/२९४ टि	४	३	३३१ (८)
२/२९४ टि	४	३	३३१ (९)
२/२७५	५	१	३९२
२/२७२	५	१	३९६ (५-८)
२/२७३	५	१	३९६ (९-१०)
२/२७३ टि	५	१	३९६ (११)
२/२७४	५	१	३९६
२/२७३ टि	५	१	३९६ (१२)
२/२७४	५	१	४००
२/२८५ टि	५	२	४२४
२/२७६ टि	५	२	४२७ (१)
२/२७९	५	२	४२७ (२)
२/२५८ टि	६		५११ (१)
२/२६७ टि	६		५१४
२/२८२ टि	६		५१४
२/२८८ टि	७		५४५ (१)
२/२९० टि	७		५४५ (२)
२/२९५ टि	७		५४५ (३)
२/२९६	७		५४५ (६)
२/२७४ टि	७		५५४
२/२९७	८		६४५
२/२९७	९		६८७
२/२९७	१०		७३०
२/३१८	१०		७३२

समवायांग

पृ नं	सम	सू.
२/२५८ टि	६	१७
२/८०	१२	१

२/२९४ टि	४९	१
२/२९७ टि	६४	१
२/२९७ टि	८१	१
२/३०८	९१	१
२/३०७ टि	९२	१
२/२९७ टि	१००	१

भगवती सूत्र

पृ नं	श	उ	सू.
२/२६१	२	१	२७-२९
२/२६७	७	१	१९
२/२८०	१०	२	६
२/२६१ टि	१३	७	४२-४४
२/२६३	१४	७	११
२/२५८	२५	७	१९६
२/२५८	२५	७	१९७
२/२५८	२५	७	१९८
२/२५९ टि	२५	७	१९९
२/२६१ टि	२५	७	२००
२/२०२ टि	२५	७	२०१-२०२
२/२६६	२५	७	२०३
२/२६७	२५	७	२०४-२०६
२/२६८	२५	७	२०७
२/२७१	२५	७	२०८
२/२७२	२५	७	२०९
२/२७४	२५	७	२१०
२/२७६	२५	७	२११
२/२१२	२५	७	२१२
२/२७७	२५	७	२१३
२/२७७	२५	७	२१४-२१५
२/२७८	२५	७	२१६

उववाई सूत्र

पृ न	सू.
२/२५८ टि	३० (१)
२/२५८ टि	३० (२)
२/२५८ टि	३० (३)
२/२५९	३० (४)
२/२६१ टि	३० (५)
२/२६२	३० (६)
२/६६ टि	३० (८-९)
२/२६७ टि	३० (१०-११)
२/२६८ टि	३० (१२)
२/२७१ टि	३० (१३)
२/२७३ टि	३० (१४)
२/२७४ टि	३० (१५)
२/२७६ टि	३० (१६)
२/२७७ टि	३० (१७-१९ ख)
२/२७८ टि	३० (१९क)
२/२७८ टि	३० (२०)

दशवैकालिक सूत्र

पृ नं	अ	उ	सू.
२/२०९ टि	५	१	३२

उत्तराध्ययन सूत्र

पृ नं	अ	सू.
२/२६१	५	३१-३२
२/२५८ टि	२८	३४

	२९	३३
२/२५७	३०	१-६
२/२५८ टि	३०	७
२/२५८ टि	३०	८
२/२५८	३०	९
२/२५९	३०	१०-११
२/२६०	३०	१२-१३
२/२६६	३०	१४
२/२६६	३०	१५
२/२६७	३०	१६-१९
२/२६८ टि	३०	१९
२/२६८	३०	२०-२१
२/२६८	३०	२२-२३
२/२६८	३०	२४
२/२६८	३०	२५
२/२७२	३०	२६
२/२७३	३०	२७
२/२७८	३०	२८
२/२८८	३१	९
२/२८८	३१	११
२/२६५	३५	२०
२/२६०	३६	२५०-२५५

दशाश्रुतस्कंध

पृ न	द.	सू.
२/२८० टि	७	१-२
२/२५१	७	३
२/२५१	७	४
२/२८१	७	५
२/२८२	७	६
२/२६६ टि	७	६
२/२६८ टि	७	६
२/२८२	७	७
२/२८२	७	८
२/२८२	७	९-११
२/२८२	७	१२-१४
२/२८३	७	१५
२/२८३	७	१६
२/२८३	७	१७
२/२८२	७	१८
२/२८३	७	१०
२/२८४	७	२०
२/२८४	७	२०
२/२८४	७	२१
२/२८४	७	२२
२/२८४	७	२३
२/२८५	७	२४
२/२८५	७	२५
२/२८५	७	२६
२/२८५	७	२७
२/२८५	७	२८
२/२८५	७	२९
२/२८६	७	३०
२/२८६	७	३१
२/२८६	७	३२
२/२८६	७	३४
२/२८७	७	३५
२/२८८	७	३६-३९

कल्पसूत्र

पृ न	उ	सू.
२/२७५	५	१९-२१
२/२७५	५	२२
२/२७५	५	२३-३

व्यवहार सूत्र

पृ न	उ	म
२/३१९	१	३
२/२६७ टि	८	१
२/२९४ टि	९	३'
२/२९७ टि	९	३
२/२९७ टि	९	३
२/२९७ टि	९	४
२/३०६	९	४१-४
२/३०५	९	४३-४
२/२९७	१०	१
२/३०१	१०	१-
२/३०५	१०	३-

तपाचार (आभ्यंतरतप)

आचारांग सूत्र

पृ नं	सु	अ	उ	सू.
२/३४९	१	२	६	१०२
२/३४९	१	४	२	१३४-१३५
२/३५०	१	६	१	१७७ (क)-१७८
२/३४९ (क)	१	६	५१९६	(ख)-१९७
२/३४०	१	८	५	२१९
२/३४०	१	८	७	२..
२/३३९	२	१	११	४०७-४०८

सूयगडांग सूत्र

पृ नं	सु	अ	उ	सू.
२/३३८	१	३	३	२०
२/३३८	१	३	४	टि २१
२/३५०	१	११		२४
२/३५०	१	१३		२०-२२
२/३५०	२	१		६८९
२/३४८	२	१		६९०
२/३५०	२	१		६९१

ठाणांग सूत्र

पृ. नं	अ	उ	स
२/३३४	३	१	१३५ (१-२
	३	३	१७६ (१-३
२/३३२	३	३	१७६ (४
२/३१८	३	३	१७६ (४-६
२/३४६	३	३	१९४ (१
२/३३८	३	३	१९४ (४
२/३४६	३	३	१९४ (९
	३	४	टि १९८ (२२
२/३३०	३	४	टि २०३ (२
२/३११	३	४	टि २०
२/३३१	३	४	२०३ (३
२/३३२	३	४	२०३ (
२/३४३	३	४ टि	२०४ (
२/३४४	३	४ टि	२०४ (
२/३५१ -३५४	४	१ टि	२४७ (१-१३
२/३११	४	१	२६

२/३१०	४	१	२७२
२/३४८	४	२	२८२
२/३३४	४	२	२८८
२/३१०	५	२	२९२ (१)
२/३३७	४	३	३१९
२/३४३	४	३	३२६
२/३४४	४	३	३२६
२/३०९	४	४	३६०
२/३३८	५	१	टि ३९७ (१)
२/३४१	५	१	३९७ (२)
२/३३१	५	१	३९८ (२)
२/३३०	५	२	४१४
२/३११	५	२	४३३ (१)
२/३१२	५	२	४३३ (२)
२/३४२	५	३	टि ४६५
२/३४३	५	३	४६७ (१)
२/३४२	५	३	४६७ (२)
	६		टि४८९
२/३०९	६		
टि५११			
२/३३०	६		
टि५२८			
२/३१७	६		टि ६८८
२/३२२	८		टि५९७(२)
२/३१०	८		५९७(२-क)
२/३२२	८		५९७ (२ ख)
२/३२१	८		५९७ (२ ग)
२/३२३	८		५९७ (२ घ)
२/३२४	८		५९७ (ङ)
२/३१८	८		टि५९७
(१-ख)			
२/३२०	८		टि ६०४ (१)
२/३१०	८		टि ६०४ (२)
२/३१०	८		६०५
२/३१०	९		६८८
२/३३८	१०		टि ७१२ (३)
२/३१८	१०		७३२ (१)
२/३२०	१०		७३२ (२)
२/३१०	१०		७३२ (३)
२/३१०	१०		७३२ (४)
२/३१०	१०		७३३

समवायांग सूत्र

पृष्ठ	सम		सु
२/३५१	४		१(२)
२/३०९	६	टि	१
२/३१२	२८		१(१)
२/३३८	९१		१(१)

भगवती सूत्र

पृष्ठ	श	उ		सू.
२/३६०	१६	४		२-७
२/३४८	२०	८		१५
२/३६२	२०	९		-
२/३१०	२५	७		१९०
	२५	७		१९१
	२५	७	टि	१९२
	२५	७		१९३
२/३१०	२५	७		१९५
२/३०९	२५	७		२१७
२/३१०	२५	७		२१८
२/३३८	२५	७		२३५
२/३३८	२५	७	टि	२३५
२/३४२	२५	७		२३६
२/३५१	२५	७		२३७
२/३५२	२५	७		२३८
२/३५२	२५	७		२३९
२/३५२	२५	७		२४०
२/३५२	२५	७		२४१
२/३५३	२५	७		२४२
२/३५३	२५	७		२४३
२/३५३	२५	७		२४४
२/३५३	२५	७		२४५
२/३५४	२५	७		२४६
२/३५४	२५	७		२४७
२/३५४	२५	७		२४८
२/३५४	२५	७		२४९
२/३५६	२५	७		२५०-२५५

प्रश्नव्याकरण

पृष्ठ	सु	अ	सू.
३४८	२	१	६

उववाई सूत्र

पृष्ठ	सु
२/३०९	टि ३० (२१)
२/३०९	टि ३० (२२)
२/३३८	टि ३० (३५)
२/३५२	टि ३० (३६)
२/३५४	टि ३० (३७-४९)
२/३५४	टि ३० (३७-४९)
२/३५४	टि ३० (३७-४९)
२/३५४	टि ३० (३७-४९)
२/३५४	टि ३० (३७-४९)
२/३५६	टि ३० (५०-५५)

दशवैकालिक सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	गा
२/३५७	४	-	२७
२/३५८	५	२	४६-४९
२/३४३	८		६१-६३
२/३५७	९	४	१३-१४
२/३५७	९	४	९-१०

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ		गा
२/३३८	१		४४
२/३५८	४		२५-२८
२/३५८	२८		३६
२/३२४	२९		७
२/३३३	२९		८
२/३३४	२९		९
२/३५७	२९		१४
२/३३३	२९		१८
२/३४२	२९		२०
२/३४४	२९		२१
२/३४६	२९		२२
२/३४६	२९		२३
२/३४६	२९		२४
२/३५१	२९		२५
२/३४१	२९		४५
	३०		२९
	३०	टि	३०
	३०		३१
२/३३७	३०		३३
२/३४२	३०	टि	३४
२/३५१	३०		३५
२/३५५	३०		३६
२/३४८	३०		३७
२/३४१	३४	टि	३१
	३६		२६२

कल्पसूत्र

पृष्ठ	अ		सु
२/३३०	४	टि	१
२/३३१	४	टि	२
२/३३१	४		३
२/३४४	४		१०
२/३४३	४		११
२/३३७	४		३१-३२
२/३३६	५		५१
२/३३०	६		२

व्यवहारसूत्र

पृष्ठ	उ	सु
२/३२७	१	१-१४
२/३३०	१	१५-१८
२/३३५	१	१९
२/३३१	१	३२
	१	३३
२/३२१	२	१-४
२/३३६	२	५-६
२/३३१	२	७
२/३३२	२	८
२/३३३	२	९-१७
२/३३६	२	२७-३०
२/३३८	१०	टि ३९
२/३४१	१०	टि ४०-४१

निशीथ सूत्र

२/३४३	२	४१
२/३५१	८	१०
२/३४१	१०	३६-३९
२/३४१	११	८६
२/३४३	१६	३०
२/३४४	१६	३१-३२
२/३४५	१९	१७-३०
२/३४६	१९	३१-४०
२/३२७	२०	टि १-१६
२/३३०	२०	टि१७-२०
	२०	२१-२६
	२०	२७-३१
	२०	३२-३७
	२०	३८-४६
	२०	४७-५३

वीर्याचार

आचारांग सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	सू.
२/४०४	१	१	३	२२
२/४०४	१	१	४	टि ३२(क)
२/३९७	१	२	१	६-८
२/३६४	१	२	३	८०
२/३९७	१	२	६	९९(ख)(ग)
२/३९७	१	२	६	१०३
२/३९९	१	३	१	१०९
२/४०२	१	३	१	११०-१११
२/३९७	१	३	२	११२
२/३६४	१	३	२	११३-११४
२/३९६	१	३	२	११४-११६(क,ख)
२/४०१	१	३	२	११६ (ग)-११७
२/३९५	१	३	२	१२०-१२१
२/३९४	१	३	३	१२३ (क)
२/४०२	१	३	३	१२४ (क)
२/३९७	१	३	३	१२४ (ख)
२/३९६	१	३	३	१२५(क)
२/३९७	१	३	३	१२५(ख)
२/४००	१	३	३	१२६
२/४०४	१	३	३	१२७ (क)
२/४०१	१	३	४	१२७ (ख)
२/४०२	१	३	४	१२८
२/३९९	१	३	४	१२९ (घ)
२/४०१	१	३	४	१२९-१३१
२/४०३	१	४	३	१४१-१४२
२/३९८	१	४	४	१४३
२/३९८	१	४	४	१४६
२/४०२	१	५	२	१५५-१५६
२/३९२	१	५	३	१५७ (घ)
२/४००	१	५	३	१५९ (घ)
२/३६३	१	५	३	१५९ (क, ग)
२/४००	१	५	३	१५९ (ङ)-१६०
२/३९३	१	५	३	१६१
२/४०४	१	५	५	१७१
२/३९४	१	५	६	१७२ (क)
२/४०१	१	५	६	१७२-१७३
२/३९५	१	६	२	१८४ (क)-१८५
२/३७१	१	६	३	१८७ (क, ख, ग)
२/३९७	१	६	३	१८७ (घ)-१८८
२/३६८	१	६	४	१९३-१९५
२/३७९	१	६	५	१९६ (क)
२/४००	१	८	१	२०२ (क-ख)
२/४०३	१	८	१ टि	२०२ (च)
२/३९९	१	८	२	२०६
२/३९५	१	८	३	२१० (क) (ख)
२/३९५	१	८	६	२२२
२/३७१	१	८	७	२२५-२२६

सूयगडांग सूत्र

पृष्ठ	सु	अ	उ	गा.
२/४०३	१	१	१	१-६
२/३६८	१	२	१	११
२/३७८	१	२	१	१६-१८
२/३७९	१	२	१	१९-२०
२/३९८	१	२	१	२१-२२
२/३६८	१	२	२	२१-२२
२/३९६	१	२	३	१६-१७
२/३८१	१	३	१	१-३
२/३६९	१	३	१	४
२/३७०	१	३	१	५
२/३७६	१	३	१	६
२/३७५	१	३	१	७
२/३७६	१	३	१	८
२/३७५	१	३	१	९-११
२/३७०	१	३	१	१२
२/३७९	१	३	१	१३
२/३७६	१	३	१	१४-१६
२/३८०	१	३	१	१७
२/३८१	१	३	२	१
२/३८२	१	३	२	२-१४
२/३८३	१	३	२	१५-२२
२/३८३	१	३	३	१-७
२/३७५	१	३	३	८-१०
२/३८५	१	३	३	
टि	२१			
२/३८४	१	३	४	१-५
२/३८४	१	३	४	६-८
२/३८५	१	३	४	९-१३
२/३७२	१	३	४	१६-१७
२/३८५	१	३	४	२२
२/३७३	१	४	१	१-९
२/३७३	१	४	१	२३-३१
२/३७४	१	४	२	१९-२२
२/३९९	१	७		२९-३०
२/३६३	१	८		१-३
२/३६४	१	८		४-९
२/३६५	१	८		१०-२१
२/३६३	१	८		२२
२/३६५	१	८		२३
२/३६६	१	८		२५-२६
२/४११	१	९		२४
२/३८०	१	९		३०
२/३७६	१	९		३१
२/३९९	१	९		३३-३४
२/४०६	१	१४		२१-२५

ठाणांग सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	सु
२/३८०	४	४	३६१ (१)
२/३८०	४	४	३६१ (२)
२/३८०	४	४	३६१ (३)
२/३८१	४	४	३६१ (४)
२/३८१	४	४	३६१ (५)
२/३७२	५	३	४४४
२/३९१	८		६४९

समवायांग सूत्र

पृष्ठ	सम	सु
२/३६९	२२	१ (१)

भगवती सूत्र

पृष्ठ	श	उ	सु
२/३९४	१२	१	२४
२/३६३	१७	२	१०

दशवैकालिक सूत्र

पृष्ठ	अ	उ	गाथा
२/३९५	२		४
२/४०५	४		२७
२/३८०	८		२७
२/४०८	८		३४
२/३७६	९	३	६-८
२/३७९	१०		११-१४

दशाश्रुतस्कंध

पृष्ठ २/३६७ दसा ४, सु ६, गा १-१७

उत्तराध्ययन सूत्र

पृष्ठ	अ	गा
२/४००	१	१५-१६
२/३६९	२	टि २
२/३६९	२	३
२/३६९	२	४-५
२/३६९	२	६-७
२/३६९	२	८-९
२/३७०	२	१०-११
२/३७०	२	१२-१३
२/३७०	२	१४-१५
२/३७१	२	१६-१७
२/३७२	२	१८-१९
२/३७४	२	२०-२१
२/३७४	२	२२-२३
२/३७४	२	२४-२५
२/३७५	२	२६-२७
२/३७६	२	२८-२९
२/३७६	२	३०-३१
२/३७७	२	३२-३३
२/३७७	२	३४-३५
२/३७७	२	३६-३७
२/३७७	२	३८-३९
२/३७७	२	४०-४१
२/३७८	२	४२-४३
२/३७८	२	४४-४५
२/३७८	२	४६-४७
२/३७८	२	४८
२/३९२	३	१
२/३९२	३	११
२/३९२	४	११-१३
२/३९६	६	१-२
२/४०७	७	१-१०
२/४०७	७	११-१३
२/४०८	७	१४-२२
२/४०८	७	२३-२७
२/४०८	७	२८-३०
२/४११	२९	३०
२/४११	२९	४७
२/३८५	३१	५
२/४०५	३२	६-९
२/४०५	३२	२१
२/८८	३२	२२-३४
२/३८६	३२	३५-४७
२/३८९	३२	४८-६०
२/३९०	३२	६१-७३
२/३९२	३२	७४-८६
२/४१०	३२	८७-९९
२/४११	३२	१००-१०६
२/४०५	३२	१०७-१११
२/४०५	३५	२१

परिशिष्ट : २ चरणानुयोग-शब्द सूची

नोट प्रथम अंक चरणानुयोग भाग का सूचक है, तथा द्वितीय अंक पृष्ठ का जैसे प्रथम शब्द अइक्कन्त- २/१००- अर्थात् भाग २ के पृष्ठ १०० में यह शब्द आया है ।

चरणानुयोग के संकलन में प्रयुक्त सहायक ग्रन्थ सूची

1 **प्रकाशक-श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई—**

आचारांग सूत्र मूल (संपादक मुनि श्री जम्बूविजय जी)
सूयगडांग सूत्र " "
ठाणांग सूत्र " "
समवायांग सूत्र " "
व्याख्याप्रज्ञप्ति " (संपादक प बेचरदास जीवराजदोशी)
(भगवती सूत्र) " "
उत्तराध्ययनसूत्र " (संपादक मुनि श्री पुण्य विजयजी)
दशवैकालिक सूत्र " "
नंदी सूत्र " "
अनुयोगद्वार सूत्र " "
प्रज्ञापना सूत्र " "

2 **प्रकाशक- जैन विश्व भारती, लाडनूं—**

अंगसुत्ताणि भाग 1-2-3 (संपादक मुनि श्रीनथमल जी)
उवगसुत्ताणि भाग 1-2 "
नव सुत्ताणि "
आयारो (सानुवाद) "
सूयगडांग सूत्र भाग 1-2 " टिप्पण युक्त अनुवाद
ठाणांग सूत्र " " "
समवायांग सूत्र " " "
उत्तराध्ययन सूत्र " " "
दशवैकालिक सूत्र " " "

3 **प्रकाशक- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर—**

आचारांग सूत्र भाग 1-2
प्रधान संपादक युवाचार्य मधुकर मुनि जी
ठाणाग सूत्र "
समवायांग सूत्र "
भगवती सूत्र भाग 1-2-3 "
ज्ञाता सूत्र "
उपासक दशा सूत्र "
अतगड दशा सूत्र "
प्रश्नव्याकरण सूत्र "
विपाक सूत्र "
प्रधान संपादक युवाचार्य मधुकर मुनि जी
औपपातिक सूत्र "
प्रज्ञापनासूत्र भाग 1, 2 "
उत्तराध्ययन सूत्र "
दशवैकालिक सूत्र "
नंदी सूत्र "
अनुयोगद्वार सूत्र "
आवश्यक सूत्र "
छेद सूत्र (प्रेस कापी-मुद्रणाधीन) "

4 **प्रकाशक-आत्म ज्ञान पीठ, मानसामंडी—**

सूयगडांग सूत्र संपादक श्री अमर मुनि जी
प्रश्नव्याकरण सूत्र भाग 1-2 "

5 **प्रकाशक-आगमोदय समिति, सूरत, बम्बई, इत्यादि—**

आचारांग सूत्र टीका
सूयगडाग सूत्र टीका
ठाणांग सूत्र टीका
समवायांग सूत्र टीका
भगवती सूत्र टीका
ज्ञाता सूत्र टीका
उपासकदशा सूत्र टीका
प्रश्नव्याकरण सूत्र टीका
औपपातिक सूत्र टीका
दशवैकालिक सूत्र
अनुयोगद्वार सूत्र

6 **प्रकाशक-अखिल भारतीय संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना-**

सूयगडांग सूत्र संपादक मोतीलाल जी मांडोत
भगवती सूत्र भाग 1 से 7" पं श्री घेवरचन्दजी "वीरपुत्र'
प्रश्नव्याकरण सूत्र " श्री रतनलालजी डोसी
उपासकदशा सूत्र " श्री घीसुलाल जी पीतलिया
औपपातिक सूत्र " मुनि श्री उमेशमुनि जी "अणु"
उत्तराध्ययन सूत्र " पं श्री घेवरचन्दजी "वीरपुत्र"
दशवैकालिक सूत्र " " "
अंगपविट्ठ सुत्ताणि " श्री रतनलाल जी डोसी
अनंगपविट्ठ सुत्ताणि " "

7 **सुयगडांग सूत्र भाग 1 से 4**

संपादक पूज्य आचार्य जवाहरलालजी म सा

8 प्रकाशक-आगम अनुयोग प्रकाशन समिति, सांडेराव-

स्थानांग सूत्र संपादक-मुनि श्री कन्हैयालाल जी "कमल"

समवायाग सूत्र " "

9 **प्रकाशक-आचार्य आत्माराम प्रकाशन समिति, लुधियाना-**

उत्तराध्ययन सूत्र भाग 1 से 3

सपादक पूज्य आचार्य श्री आत्मारामजी म सा

दशवैकालिक सूत्र "

आचारांग सूत्र भाग 1-2 " "

ठाणाग सूत्र भाग 1-2 " "

10 **प्रकाशक-लाला ज्वालाप्रसाद सुखदेव सहाय, सिकन्दराबाद-**

कतिपय प्रति संपादक-पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी म सा

11 **प्रकाशक-जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट-**

कतिपय सूत्र सपादक-पूज्य श्री घासीलालजी म सा

12 **प्रकाशक-सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुडगांव-**

सुत्तागमे भाग 1-2 संपादक- पुप्फ भिक्खू

13 **प्रकाशक-श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम-**

अभिधान राजेन्द्र कोश भाग 1 से 7

संपादक-आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि

14 **प्रकाशक-प्राकृत जैन विद्याविकाश फण्ड, अहमदाबाद-**

प्राकृत हिन्दी कोश संपादक- डा के आर चन्द्र

15 **न्यू इम्पीरियल बुक डिपो, देहली-**

नालंदा अध्ययन कोश सपादक-पुरुषोत्तम नारायण अग्रवाल

16 **प्रकाशक-भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, सन्मतिज्ञान पीठ, आगरा,**

निशीथसूत्र (भाष्य चूर्णि युक्त) भाग 1 से 4

संपादक-उपाध्याय कवि अमर मुनिजी महाराज तथा

मुनि श्री कन्हैयालालजी म सा "कमल"

17 **प्रकाशक-श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर-**

वृहत्कल्प सूत्र (भाष्य टीका युक्त) भाग 1 से 6

संपादक-मुनि चतुरविजय पुण्यविजय जी म सा

नोट

चरणानुयोग के मूलपाठ एवं सूत्रांक के लिए महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित आगम ग्रन्थों का, तथा जो आगम वहां से उपलब्ध नहीं हुए उनके लिए आगम समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित आगमों का मूल पाठ, सूत्रांक, व अनुवाद के लिए उपयोग किया है । अन्य विविध संस्थाओं के प्रकाशनों का भी सहायक ग्रन्थ के रूप में उपयोग किया है । अत हम उन सभी संस्थाओं के प्रति कृतज्ञ हैं ।

— संपादक गण



पचमीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, छ पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

पाचम के दिन भोजन और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

छट्ठीए से कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, सत्त पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

छठ के दिन भोजन और पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

सत्तमीए से कप्पइ अट्ठ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, अट्ठ पाणस्स-जाव एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

सातम के दिन भोजन और पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

अट्ठमीए से कप्पइ नव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए नव पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

आठम के दिन भोजन और पानी की नव-नव दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

नवमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

नवमी के दिन भोजन और पानी की दस दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत् इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

दसमीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, एगारस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

दसमी के दिन भोजन और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

एगारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, बारस पाणस्स-जाव एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

ग्यारस के दिन भोजन और पानी की बारह-बारह दत्तिया ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

बारसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, तेरस पाणस्स-जाव एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

बारस के दिन भोजन और पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—यावत्—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

तेरसमीए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, चउद्दस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

चउद्दसमीए से कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पन्नरस पाणस्स-जाव-एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा।

पुण्णिमाए से य अब्भत्तट्ठे भवइ।

एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं-जाव-आणाए अणुपालिया भवइ। —वव उ. १०, सु ३-४

तेरस के दिन भोजन और पानी की चौदह-चौदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—*यावत्*—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

शुक्ल पक्ष की चौदस के दिन भोजन और पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है—*यावत्*—इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त हो तो ग्रहण करे, यदि इस प्रकार के अभिग्रह से एषणा करते हुए आहार प्राप्त न हो तो ग्रहण न करे।

पूर्णिमा के दिन वह उपवास करता है।

इस प्रकार यह वज्र-मध्य चन्द्र प्रतिमा सूत्रानुसार—*यावत्*—जिनाज्ञानुसार पालन की जाती है।

दत्तिपरिमाण निरूवणं—

६२६ संखादत्तियस्स भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुपविट्ठस्स,

जावइयं जावइयं केइ अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्व सिया।

तत्थ से केइ छब्बएण वा, दूसएण वा, वालएणं वा, अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्व सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय अन्तो पडिग्गहंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ति वत्तव्वं सिया।

संखादत्तियस्स ण भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहियस्स गाहावइकुल पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठस्स,

जावइय जावइय केइ अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा, तावइयाओ ताओ दत्तीओ वत्तव्व सिया।

तत्थ से केइ छब्बएण वा, दूसएण वा, वालएण वा अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्व सिया।

तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिण्डं साहणिय अन्तो पाणिंसि उवइत्ता दलएज्जा सव्वा वि णं एगा दत्ती वत्तव्व सिया। —वव उ. ९, सु ४३-४४

दत्ति प्रमाण निरूपण—

६२६ दत्तियो की संख्या का अभिग्रह करने वाला पात्रधारी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रवेश करे उस समय—

(१) आहार देने वाला गृहस्थ पात्र मे जितनी बार झुकाकर (नमाकर) आहार दे उतनी ही "दत्तिया" कहनी चाहिये।

(२) आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबडी से, वस्त्र से या चलनी से बिना रुके पात्र मे झुकाकर दे वह सब एक दत्ती कहनी चाहिए।

(३) आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हो और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके पात्र मे झुकाकर दें वह सब "एक दत्ती" कहनी चाहिए।

दत्तियो की संख्या का अभिग्रह करने वाला कर-पात्रभोजी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर मे आहार के लिए प्रवेश करे उस समय—

(१) आहार देने वाला गृहस्थ जितनी बार झुकाकर भिक्षु के हाथ मे आहार दे उतनी ही "दत्तियाँ" कहनी चाहिए।

(२) आहार देने वाला गृहस्थ यदि छबडी से, वस्त्र से या चलनी से बिना रुके भिक्षु के हाथ मे जितना आहार दे वह सब "एक दत्ती" कहनी चाहिए।

(३) आहार देने वाले गृहस्थ जहाँ अनेक हो और वे सब अपना-अपना आहार सम्मिलित कर बिना रुके भिक्षु के हाथ मे झुकाकर दे वह सब "एक दत्ती" कहनी चाहिए।

मोयपडिमा विहाणं—

६२७. दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—

१ खुड्डिया वा मोयपडिमा, २. महल्लिया वा मोयपडिमा।

खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढम-सरय-काल समयंसि वा चरम-निदाह-काल समयंसि वा, बहिया गामस्स वा-जाव-सन्निवेसस्स वा वणंसि वा, वणदुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयदुग्गंसि वा।

मोक-प्रतिमा-विधान—

६२७ दो प्रतिमाएँ कही गई हैं, यथा—

(१) छोटी प्रस्रवण प्रतिमा, (२) बडी प्रस्रवण प्रतिमा।

छोटी प्रस्रवण प्रतिमा शरद्काल के प्रारम्भ मे अथवा ग्रीष्मकाल के अन्त मे ग्राम के बाहर—*यावत्*—सन्निवेश के बाहर, वन मे या वन दुर्ग मे, पर्वत पर या पर्वत दुर्ग मे अणगार को धारण करना कल्पता है।